

महावीर—जिन दीक्षा

पीडित, पतित, मार्गच्युत जग को लख श्रीवीर महान्, उद्यत हुए लोकसेवा को, करने को कल्याण।
राज्य तजा, सुख-सम्पत् त्यागी, छोड़ा सब सामान, जिनदीक्षा ले रहे, इसीमें, इसही को हित जान॥

'युगवीर'

समन्तभद्राश्रम-विज्ञप्ति नं० ३

लुप्तप्राय जैनग्रंथोंकी खोज

समन्तभद्राश्रममें 'साहित्यिक पारितोषिक फंड' नामका एक विभाग खोला गया है जिसका पहला कार्य होगा 'लुप्तप्राय जैनग्रन्थोंकी खोज'। बहुतसे महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके नामादिकका पता तो चलता है—कितनोंके वाक्य भी उद्धृत मिलते हैं—परन्तु वे ग्रन्थ मिलते नहीं। मालूम नहीं कौनसे भण्डारकी कालकोठरीमें पड़े हुए अपना जीवन शेष कर रहे हैं अथवा कर चुके हैं। जिनवाणी माता के भक्तों अथवा जैनी कहलाने वालोंके लिये यह एक बड़े ही कलंक तथा लज्जा का विषय है जो अभी तक उनकी खोजके लिये कोई संगठित प्रयत्न नहीं किया गया है। यदि ऐसे ग्रंथोंकी खोजके लिये पारितोषिक निकाला जाय तो उससे बहुतोंको शास्त्र भंडारोंको अच्छी तरहसे टटोलनेकी प्रेरणा हो सकती है। और इस तरह कितने ही ग्रंथोंका पता चलकर उनका उद्धार होनेकी अभी पूरी संभावना है। यदि कुछ दिन और इसी लापर्वाहीमें बीत गये तो यह संभावना भी मिट जायगी और फिर किसी भी मूल्य अथवा व्यय पर उनका दर्शन नहीं हो सकेगा—केवल पछतावा ही पछतावा अवशिष्ट रह जायगा; क्योंकि अधिकांश भंडारों की हालत बड़ी ही शोचनीय है और उनमेंसे ग्रंथ दिन पर दिन नष्ट भ्रष्ट तथा लुप्त होते चले जाते हैं।

अतः इस विषयमें अब ज़रा भी लापर्वाही नहीं होनी चाहिए। इसी लिए आज समाजके सामने ऐसेही कुछ ग्रन्थरत्नोंके नाम रक्खे जाते हैं जिनकी खोजकी सख्त ज़रूरत है और जिनकी खोजके लिये पारितोषिक नियत किया जाना चाहिये। साथही, प्रत्येक ग्रन्थ पर जो पारितोषिक दिया जाना चाहिये उसे भी सूचित किया जाता है। और जिनवाणी माताके भक्तों, तथा पुरातन जैनाचार्योंकी कीर्तियोंसे प्रेम रखने वाले सज्जनोंसे प्रार्थना की जाती है कि वे जिस ग्रन्थके उद्धारार्थ अपनी ओरसे पारितोषिक देना स्वीकार करें उससे शीघ्र सूचित करें, जिससे खोज करने वालोंके लिये कुछ शर्तोंके साथ पारितोषिककी घोषणा निकाली जाय और खोजका काम शीघ्र प्रारंभ होजाय। एक साथ बहुतसे ग्रंथोंकी पारितोषिक घोषणा निकलने पर खोजके काममें लोगोंकी अधिक प्रवृत्ति होगी, वे समझेंगे कि इतने ग्रंथोंमेंसे कोई तो उस भंडारमें मिलेगा और इसलिये उनका परिश्रम व्यर्थ नहीं जायगा।

अतः इन सभी ग्रन्थों पर शीघ्र ही पारितोषिक भरा जाना चाहिए। जो भाई जिस ग्रन्थ पर पारितोषिक देना स्वीकार करेंगे ग्रन्थकी प्राप्ति होनेपर वह उन्हींके नामसे दिया जायगा। आशा है इस महान पुन्यकार्यमें सभी धर्मप्रेमी सज्जन और खासकर वे महानुभाव ज़रूर भाग लेंगे जिनके हृदयमें प्राचीन कीर्तियोंके लोपको सुनकर एक प्रकारका दर्द पैदा होता है। जो भाई किसी एक ग्रन्थ पर पूरा पारितोषिक देनेके लिये समर्थ न हों वे वैसे ही अपनी शक्ति के अनुसार इस फंडको सहायता दे सकते हैं, जिससे आश्रम उनकी सहायतानुसार पारितोषिककी व्यवस्था कर सके। आश्रमको इस फंडके लिये रुपयेकी पूरी ज़रूरत है। यहां पर यह प्रकट कर देना भी उचित जान पड़ता है कि इन पंक्तियोंके लेखकने पहले दो ग्रन्थों पर १००) १००) रु० पारितोषिक देना स्वीकार किया है। दूसरे ग्रंथों पर पारितोषिककी स्वीकारता आने पर पारितोषिककी घोषणा वाली विज्ञप्ति शीघ्र ही प्रकट की जायगी। उदारहृदय व्यक्तियोंको अपनी स्वीकारता भेजकर इस विषयमें अपने कर्तव्यका शीघ्र पालन करना चाहिये:—

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।
सकलनयविलसितानां ोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

—श्रीअमृतचन्द्र सूरिः ।

वर्ष १

समन्तभद्राश्रम, करोलबाग, देहली ।
मार्गशिर, संवत १९८६ वि०, वीरनिर्वाण सं० २४५६

किरण १

कामना

परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण ।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत्-कल्याण ॥ १ ॥
'अनेकान्त'-रवि-किरणसे तम-अज्ञान-विनाश ।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश ॥ २ ॥
कुनय-कदाग्रह ना रहे, रहे न मिथ्याचार ।
तेज देख भागें सभी दंभी-शठ-बटमार ॥ ३ ॥
सूख जायँ दुर्गुण सकल, पोषण मिले अपार—
सद्भावों को लोक में, हो विकसित संसार ॥ ४ ॥
शोधन-मथन विरोध का हुआ करे अविराम ।
प्रेमपगे रल मिल सभी करें कर्म निष्काम ॥ ५ ॥

— 'युगवीर'

लुप्तप्राय जैनग्रन्थ	ग्रंथकर्ता	कहाँ उल्लेख है ?	पारितोषिक
१ जीवसिद्धि, संस्कृत	स्वामिसमन्तभद्र	जिनसेनकृत हरिवंशपुराणमें	१००)
२ तत्वार्थसूत्र, टीका, सं०	शिवकोटि आचार्य	श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं० १०५में	१००)
३ नव स्तोत्र, सं०	वज्रनन्दी आचार्य	,, ,, नं० ५४में	१००)
४ सुमतिसप्तक, सं०	सुमतिदेवाचार्य	,, ,, ,,	५०)
५ शब्दवाच्य, सं०	वक्रग्रीव महामुनि	,, ,, ,,	५०)
६ चूडामणि, सं०	श्रीवर्धदेवाचार्य	,, ,, ,,	५०)
७ तत्वानुशासन, सं०	स्वामिसमन्तभद्र	उल्लेख-परिचयके लिये देखो, जैनहितैषी भाग १४ पृ० ३१२	१००)
८ जल्पनिर्णय, सं०	श्रीदत्ताचार्य	विद्यानंदकृत श्लोकवार्तिकमें	५०)
९ वादन्याय, सं०	कुमारनंद्याचार्य	,, पत्रपरीक्षामें	५०)
१० प्रमाणसंग्रह-भाष्य, सं०	अनंतवीर्याचार्य	सिद्धिविनिश्चय टीकामें	५०)
११ प्रमाणसंग्रह, स्वोपज्ञभाष्य	अकलंकदेव	,, अनन्तवीर्यके भाष्यमें	५०)
१२ सिद्धिविनिश्चय, मूल तथा स्वोपज्ञ भाष्य, सं०	,,	,,	५०)
१३ न्यायविनिश्चय, मूल तथा स्वोपज्ञ भाष्य, सं०	,,	,, तथा न्यायवि० टीकामें	५०)
१४ त्रिलक्षणकदर्थन, सं०	पात्रकेसरी स्वामी	,, ,,	२५)
१५ स्याद्वादमहार्णव, सं०	०	न्यायविनिश्चयालंकारमें	२५)
१६ विद्यानंदमहोदय, सं०	विद्यानंदाचार्य	विद्यानंदादिकी अनेक कृतियोंमें	५०)
१७ कर्मप्राभृत, टीका, सं०	स्वामिसमन्तभद्र	इन्द्रनंदिकृत श्रुतावतारमें	१००)
१८ सन्मतितर्क, टीका, सं०	सन्मत्याचार्य	वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें	१००)
१९ जीवसिद्धि, सं०	अनन्तकीर्ति आचार्य	वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें	२५)
२० सिद्धिभूपद्धति टीका, सं०	वीरसेनाचार्य	गुणभद्रके उत्तर पुराणमें	२५)
२१ सुलोचना, सं०	महासेनाचार्य	जिनसेनके हरिवंशपुराणमें	२५)
२२ वरांगचरित, सं०	रविषेणाचार्य	,,	२५)
२३ मार्गप्रकाश, सं०	०	नियमसारकी टीकामें	२५)
२४ श्रुतबन्धु, सं०	०	,,	२५)
२५ राद्धान्तवाचार्य, सं०	आर्यदेवाचार्य	मल्लिषेणप्रशस्ति (श्र० शि० ५४) तथा वीरनंदिकृत आचारसारमें	५०)
२६ सिद्धान्तसार (तर्क ग्रंथ) सं०	०	जयशेखर के षड्दर्शनसमुच्चयमें	५०
२७ वागर्थसंग्रह पुराण	कविपरमेष्ठी	जिनसेनके आदिपुराणमें	१००)

संपूर्ण पत्रव्यवहारका पता :— **जुगलकिशोर मुख्तार**
अधिष्ठाता "समन्तभद्राश्रम," करोलबाग, देहली।

मुद्रक और प्रकाशक, अयोध्याप्रसाद गोयलीय। गयादत्त प्रेस, क्लॉथ मारकेट देहली में छपा।

भगवान महावीर और उनका समय

शुद्धिशक्त्योः परां काष्ठां योऽवाप्य शान्तिमन्दिरः ।
देशयामास सद्धर्मं महावीरं नमामि तम् ॥

महावीर-परिचय

जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर विदेह-(विहार-) देशस्थ कुण्डपुर* के राजा 'सिद्धार्थ' के पुत्र थे और माता 'प्रियकारिणी' के गर्भसे उत्पन्न हुए थे, जिसका दूसरा नाम 'त्रिशला' भी था और जो वैशालीके राजा 'चेटक' की सुपुत्री × थी। आपके शुभ जन्मसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी तिथि पवित्र हुई और उसे महान् उत्सवोंके लिये पर्वका सा गौरव प्राप्त हुआ। इस तिथिको जन्मसमय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, जिसे कहीं कहीं 'हस्तोत्तरा' (हस्त नक्षत्र है उत्तरमें—अनन्तर—जिसके) इस नामसे भी उल्लेखित किया गया है, और सौम्य ग्रह अपने उच्चस्थानपर स्थित थे; जैसा कि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

चैत्र-सितपक्ष फाल्गुनि
शशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम् ।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु
ग्रहेषु सौम्येषुशुभलग्ने ॥
—निर्वाणभक्ति ।

तेजःपुंज भगवान्के गर्भमें आते ही सिद्धार्थ राजा तथा अन्य कुटुम्बीजनोंकी श्रीवृद्धि हुई—उनका यश, तेज, पराक्रम और वैभव बढ़ा—माताकी प्रतिभा चमक उठी, वह सहज हीमें अनेक गूढ प्रश्नोंका उत्तर देने लगी, और प्रजाजन भी उत्तरोत्तर सुख शान्तिका अधिक अनुभव करने लगे। इससे जन्मकालमें आपका सार्थक नाम 'श्रीवर्द्धमान' या 'वर्द्धमान' रक्खा गया। साथ ही, वीर, महावीर, और सन्मति जैसे नामोंकी भी क्रमशः सृष्टि हुई, जो सब आपके उस समय प्रस्फुटित तथा उच्छलित होनेवाले गुणों पर ही एक आधार रखते हैं*।

महावीरके पिता 'णात' वंशके क्षत्रिय थे। 'णात' यह प्राकृत भाषाका शब्द है और 'नात' ऐसा दन्त्य नकारसे भी लिखा जाता है। संस्कृतमें इसका पर्याय रूप होता है 'ज्ञात'। इसीसे 'चारित्रभक्ति' में श्रीपूज्यपादाचार्य ने "श्रीमज्ज्ञातकुलेन्दुना" पद के द्वारा महावीर भगवान को 'ज्ञात' वंशका चन्द्रमा लिखा है, और इसीसे महावीर 'णातपुत्त' अथवा 'ज्ञातपुत्र' भी कहलाते थे, जिसका बौद्धादि ग्रन्थोंमें भी उल्लेख

* श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कुछ ग्रन्थों में 'क्षत्रियकुण्ड' ऐसा नामोल्लेख भी मिलता है जो संभवतः कुण्डपुर का एक मोहल्ला जान पड़ता है। अन्यथा, उसी सम्प्रदाय के दूसरे ग्रन्थों में कुण्डग्रामादि रूप से कुंडपुर का साफ़ उल्लेख पाया जाता है। यथा:—

"हत्थुत्तराहि जाओ कुंडग्गामे महावीरो।" आ०नि०भा०

यह कुण्डपुर ही आजकल कुण्डलपुर कहा जाता है।

× कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में 'बहन' लिखा है।

* देखो, गुणभद्राचार्यकृत महापुराण का ७४ वां पर्व।

पाया जाता है। इस प्रकार वंशके ऊपर नामोंका उस समय चलन था—बुद्धदेव भी अपने वंश पर से 'शाक्य-पुत्र' कहे जाते थे। अस्तु; इस 'नात' का ही बिगड़ कर अथवा लेखकों या पाठकोंकी नासमझी की वजह से बादको 'नाथ' रूप हुआ जान पड़ता है। और इसीसे कुछ ग्रन्थोंमें महावीर को नाथवंशी लिखा हुआ मिलता है, जो ठीक नहीं है।

महावीरके बाल्यकालकी घटनाओंमें से दो घटनाएँ खास तौर से उल्लेख योग्य हैं—एक यह कि, संजय और विजय नामके दो चारण मुनियोंको तत्वार्थ-विषयक कोई भारी संदेह उत्पन्न हो गया था, जन्मके कुछ दिन बाद ही जब उन्होंने आपको देखा तो आपके दर्शनमात्र से उनका वह सब संदेह तत्काल दूर हो गया और इस लिये उन्होंने बड़ी भक्ति-से आपका नाम 'सन्मति' रक्खा *। दूसरी यह कि, एक दिन आप बहुतसे राजकुमारोंके साथ बनमें वृक्ष-क्रीड़ा कर रहे थे, इतने में वहाँ पर एक महाभयंकर और विशालकाय सर्प आ निकला और उस वृक्षको ही मूलसे लेकर स्कंध पर्यन्त बेढ़कर स्थित हो गया जिसपर आप चढ़े हुए थे। उसके विकराल रूपको देखकर दूसरे राजकुमार भयविह्वल हो गये और उसी दशामें वृक्षोंपरसे गिर कर अथवा कूद कर अपने अपने घरको भाग गये। परन्तु आपके हृदयमें ज़रा भी भयका संचार नहीं हुआ—आप बिलकुल निर्भयचित्त होकर उस काले नागसे ही क्रीड़ा करने लगे और आपने उसपर सवार होकर अपने बल तथा पराक्रमसे उसे खूब ही घुमाया, फिराया तथा निर्मद कर दिया। उसी वक्तसे आप लोकमें 'महावीर' नामसे प्रसिद्ध हुए। इन दोनों * घटनाओंसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि महावीरमें बाल्यकालसे ही बुद्धि और शक्ति का असाधारण विकाश हो रहा था और इस प्रकार की घटनाएँ उनके भावी असाधारण व्यक्तित्वको सूचित करती थीं। सो ठीक ही है—

"होनहार बिरवानके होत चीकनेपात"।

तीस वर्षकी अवस्था हो जाने पर महावीर संसार-देह-भोगोंसे पूर्णतया विरक्त हो गये, उन्हें अपने आत्मोत्कर्षको साधने और अपना अन्तिम ध्येय प्राप्त करनेकी ही नहीं किन्तु संसारके जीवोंको सन्मार्गमें लगाने अथवा उनकी सच्ची सेवा बजानेकी एक विशेष लगन लगी—दीन दुखियोंकी पुकार उनके हृदयमें घर कर गई—और इसलिये उन्होंने, अब और अधिक समय तक गृहवासको उचित न समझ कर जंगल का रास्ता लिया, संपूर्ण राज्य वैभवको ठुकरा दिया और इन्द्रिय-सुखोंसे मुख मोड़कर मंगसिरवदि १० मी को 'ज्ञात खंड' नामक वनमें जिनदीक्षा धारण कर ली। दीक्षाके समय आपने संपूर्ण परिग्रहका त्याग करके आकिंचन्य (अपरिग्रह) व्रत ग्रहण किया, अपने शरीरपरसे वस्त्राभूषणोंको उतार कर फेंक दिया ×

* संजयस्यार्थसंदेहे संजाते विजयस्य च ।
जन्मानन्तरमेवैनमभ्येत्यालोकमात्रतः ॥
तत्संदेहगते ताभ्यां चारणाभ्यां स्वभक्तितः ।
अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः ॥
—महापुराण, पर्व ७४ वां।

* इनमें से पहली घटना का उल्लेख प्रायः दिगम्बर ग्रन्थों में और दूसरी का दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के ग्रन्थों में बहुलता से पाया जाता है।

× कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में इतना विशेष कथन पाया जाता है और वह सम्भवतः साम्प्रदायिक जान पड़ता है कि वस्त्राभूषणों को उतार डालने के बाद इन्द्र ने 'देवदूष्य' नामका एक बहुमूल्य वस्त्र भगवान के कन्धे पर डाल दिया था, जो १३ महीने तक पड़ा रहा। बाद को महावीर ने उसे भी त्याग दिया और वे पूर्ण रूप से नग्न-दिगम्बर अथवा जिनकल्पी ही रहे।

और केशोंको क्लेशसमान समझते हुए उनका भी लौंच कर डाला। अब आप देहसे भी निर्ममत्व होकर नग्न रहते थे, सिंहकी तरह निर्भय होकर जंगल-पहाड़ों में विचरते थे और रात दिन तपश्चरण ही तपश्चरण किया करते थे।

विशेष सिद्धि और विशेष लोकसेवा के लिये विशेष ही तपश्चरणकी जरूरत होती है—तपश्चरण ही रोम रोममें रमे हुए आन्तरिक मलको छाँट कर आत्माको शुद्ध, साफ़, समर्थ और कार्यक्षम बनाता है। इसी लिये महावीरको बारह वर्षतक घोर तपश्चरण करना पड़ा—खूब कड़ा योग साधना पड़ा—तब कहीं जाकर आपकी शक्तियोंका पूर्ण विकास हुआ। इस दुर्द्धर तपश्चरणकी कुछ घटनाओंको मालूम करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। परन्तु साथ ही आपके असाधारण धैर्य, अटल निश्चय, सुदृढ आत्मविश्वास अनुपम साहस और लोकोत्तर क्षमाशीलताको देखकर हृदय भक्तिसे भर आता है और खुद बखुद (स्वयमेव) स्तुति करनेमें प्रवृत्त हो जाता है। अस्तु; मनःपर्ययज्ञानकी प्राप्ति तो आपको दीक्षा लेनेके बाद ही हो गई थी परन्तु केवलज्ञान-ज्योतिका उदय बारह वर्षके उग्र तपश्चरण के बाद वैशाख सुदि १० मीको तीसरे पहरके समय उस वक्त हुआ जब कि आप जृम्भका ग्रामके निकट ऋजुकूला नदीके किनारे, शाल वृक्षके नीचे एक शिला पर, षष्ठोपवाससे युक्त हुए, क्षपक श्रेणि पर आरूढ थे—आपने शुक्ल ध्यान लगा रक्खा था—और चन्द्रमा हस्तोत्तर नक्षत्रके मध्यमें स्थित था। जैसा कि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

ग्राम-पुर-खेट-कर्वट-मटम्ब-घोषाकरान् प्रविजहार।
उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्यः ॥१०॥
ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे।
अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृम्भकाग्रामे ॥११॥
वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चंद्रे।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥१२॥
—निर्वाणभक्ति।

इस तरह घोर तपश्चरण तथा ध्यानाग्नि द्वारा, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामके घातिकर्म मलको दग्ध करके, महावीर भगवानने जब अपने आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख, और वीर्य नाम के स्वाभाविक गुणोंका पूरा विकास अथवा उनका पूर्ण रूपसे आविर्भाव कर लिया और आप अनुपम शुद्धि, शक्ति तथा शान्तिकी पराकाष्ठाको पहुंच गये, अथवा यों कहिये कि आपको स्वात्मोपलब्धि रूपी सिद्धि की प्राप्ति हो गई, तब आपने सब प्रकारसे समर्थ हो कर ब्रह्मपथका नेतृत्व ग्रहण किया और संसारी जीवों को सन्मार्ग का उपदेश देनेके लिये—उन्हें उनकी भूल सुझाने, बन्धनमुक्त करने, ऊपर उठाने और उनके दुःख मिटानेके लिये—अपना विहार प्रारम्भ किया। अथवा यों कहिये कि लोकहित-साधनका जो असाधारण विचार आपका वर्षोंसे चल रहा था और जिसका गहरा संस्कार जन्मजन्मान्तरोंसे आपके आत्मामें पड़ा हुआ था वह अब संपूर्ण रुकावटोंके दूर हो जाने पर स्वतः कार्यमें परिणत हो गया। अस्तु।

विहार करते हुए आप जिस स्थानपर पहुँचते थे और वहाँ आपके उपदेशकेलिये जो महती सभा जुड़ती थी और जिसे जैनसाहित्यमें 'समवसरण' नाम से उल्लेखित किया गया है उसकी एक खास विशेषता यह होती थी कि उसका द्वार सबके लिये मुक्त रहता था, कोई किसीके प्रवेशमें बाधक नहीं होता था—

पशुपक्षी तक भी आकृष्ट होकर वहाँ पहुँच जाते थे, जाति-पाँति छूआछूत और ऊँचनीचका उसमें कोई भेद नहीं था, सब मनुष्य एक ही मनुष्यजातिमें परिगणित होते थे, और उक्त प्रकारके भेदभावको भुलाकर आपसमें प्रेमके साथ रल मिलकर बैठते और धर्मश्रवण करते थे—मानों सब एक ही पिताकी संतान हों। इस आदर्शसे समवसरणमें भगवान् महावीरकी समता और उदारता मूर्तिमती नज़र आती थी और वे लोग तो उसमें प्रवेश पाकर बेहद संतुष्ट होते थे जो समाजके अत्याचारोंसे पीड़ित थे, जिन्हें कभी धर्मश्रवणका, अपने विकासका और उच्च संस्कृतिको प्राप्त करनेका अवसर ही नहीं मिलता था अथवा जो उसके अधिकारी ही नहीं समझे जाते थे। इसके सिवाय, समवसरणकी भूमिमें प्रवेश करते ही भगवान महावीरके सामीप्यसे जीवोंका वैरभाव दूर हो जाता था, क्रूर जन्तु भी सौम्य बन जाते थे और उनका जाति-विरोध तक मिट जाता था। इसीसे सर्प को नकुल या मयूरके पास बैठनेमें कोई भय नहीं होता था, चूहा बिना किसी सकोचके बिल्लीका आलिंगन करता था, गौ और सिंही मिलकर एक ही नादमें जल पीती थीं और मृग-शावक खुशीसे सिंह-शावकके साथ खेलता था। यह सब महावीरके योग-बलका माहात्म्य था। उनके आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, इस लिये उनके संनिकट अथवा उनकी उपस्थितिमें किसीका वैर स्थिर नहीं रह सकता था। पतंजलि ऋषिने भी, अपने योगदर्शनमें, योगके इस माहात्म्यको स्वीकार किया है; जैसा कि उसके निम्न सूत्र से प्रकट है:—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।३५॥

जैनशास्त्रों में महावीरके विहार-समयादिक की कितनी ही विभूतियोंका—अतिशयोंका—वर्णन किया गया है परन्तु उन्हें यहाँ पर छोड़ा जाता है। क्योंकि स्वामी समन्तभद्रने लिखा है:—

देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान॥१॥

—आप्तमीमांसा।

अर्थात—देवोंका आगमन, आकाशमें गमन और चामरादिक (दिव्य चमर, छत्र, सिंहासन, भामंडलादिक) विभूतियोंका अस्तित्व तो मायावियोंमें—इन्द्रजालियोंमें—भी पाया जाता है, इनके कारण हम आपको महान नहीं मानते और न इनकी वजहसे आपकी कोई खास महत्ता या बड़ाई ही है।

भगवान महावीरकी महत्ता और बड़ाई तो उनके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक कर्मोंका नाश करके परम शान्तिको लिये हुए शुद्धि[1] तथा शक्तिकी पराकाष्ठाको पहुँचने और ब्रह्मपथका—अहिंसात्मक मोक्षमार्गका—नेतृत्व ग्रहण करनेमें है—अथवा यों कहिये कि आत्मोद्धारके साथ साथ लोककी सच्ची सेवा बजानेमें है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है:—

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुलाव्यतीतां जिन शांतिरूपाम्।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः॥४॥

—युक्त्यनुशासन।

महावीर भगवानने लगातार तीस वर्षतक अनेक देश-देशान्तरोंमें विहार करके सन्मार्गका उपदेश दिया,

१ ज्ञानावरण-दर्शनावरणके अभावसे निर्मल ज्ञान दर्शनकी आविर्भूतिका नाम 'शुद्धि' और अन्तराय कर्मके नाशसे वीर्यलब्धि का होना 'शक्ति' है।

असंख्य प्राणियोंके अज्ञानान्धकारको दूर करके उन्हें यथार्थ वस्तु-स्थितिका बोध कराया, तत्त्वार्थको समझाया, भूलें दूर कीं, भ्रम मिटाए, कमज़ोरियाँ हटाईं, भय भगाया, आत्म विश्वास बढ़ाया, कदाग्रह दूर किया, पाखण्डबल घटाया, मिथ्यात्व छुड़ाया, पतितों को उठाया, अन्याय-अत्याचारको रोका, हिंसाका विरोध किया, साम्यवादको फैलाया और लोगोंको स्वावलम्बन तथा संयमकी शिक्षा दे कर उन्हें आत्मोत्कर्षके मार्ग पर लगाया। इस तरहपर आपने लोकका अनन्त उपकार किया है।

भगवानका यह विहार काल ही उनका तीर्थ-प्रवर्तनकाल है, और इस तीर्थ-प्रवर्तनकी वजहसे ही वे 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। आपके विहारका पहला स्टेशन राजगृहीके निकट विपुलाचल तथा वैभार पर्वतादि पंच पहाड़ियोंका प्रदेश जान पड़ता है* और अन्तिम स्टेशन पावापुरका सुन्दर उद्यान है। राजगृही में उस वक्त राजा श्रेणिक राज्य करता था, जिसे बिम्बसार भी कहते हैं। उसने भगवानकी परिषदोंमें— समवसरण सभाओं में— प्रधान भाग लिया है और उसके प्रश्नोंपर बहुतसे रहस्योंका उद्घाटन हुआ है। श्रेणिक की रानी चेलना भी राजा चेटक की पुत्री थी और इस लिये वह रिश्तेमें महावीरकी मातृस्वसा (मावसी) × होती थी। इस तरह महावीरका अनेक राज्योंके साथमें शारीरिक सम्बन्ध भी था। उनमें आप के धर्मका बहुत कुछ प्रचार हुआ और उसे अच्छा राजाश्रय मिला है।

विहारके समय महावीरके साथ कितने ही मुनि-आर्यिकाओं तथा श्रावक-श्राविकाओं का संघ रहता था। इस संघके गणधरोंकी संख्या ग्यारह तक पहुँच गई थी और उनमें सबसे प्रधान गौतम स्वामी थे, जो 'इन्द्रभूति' नामसे भी प्रसिद्ध हैं और समवसरणमें मुख्य गणधर का कार्य करते थे। ये एक बहुत बड़े ब्राह्मण विद्वान थे जो महावीरको केवलज्ञानकी संप्राप्ति होनेके पश्चात उनसे अपने जीवादिकविषयोंका संतोषजनक उत्तर पाकर उनके शिष्य बन गये थे और जिन्होंने अपने बहुतसे शिष्योंके साथ भगवानसे जिनदीक्षा लेली थी। अस्तु।

तीस वर्षके लम्बे विहारको समाप्त करते और कृतकृत्य होते हुए, भगवान महावीर जब पावापुरके एक सुन्दर उद्यानमें पहुँचे, जो अनेक पद्मसरोवरों तथा नाना प्रकारके वृक्षसमूहों से मंडित था, तब आप वहाँ कायोत्सर्गसे स्थित हो गये और आपने परम शुक्लध्यान के द्वारा योगनिरोध करके दग्धरज्जु-समान अवशिष्ट रहे कर्म रजको—अघातिचतुष्टय को—भी अपने आत्मासे पृथक कर डाला, और इस तरह कार्तिक वदि अमावस्याके अन्तमें, स्वाति नक्षत्रके समय, निर्वाण पदको प्राप्त करके आप सदाके लिये अजर,

* आप जृम्भका ग्रामके ऋजुकूल। तटसे चलकर पहले इसी प्रदेशमें आए हैं। इसीसे श्रीपूज्यपादाचार्यने आपकी केवल ज्ञानोत्पत्तिके उस कथनके अनन्तर जो ऊपर दिया गया है आपके वैभार पर्वतपर आनेकी बात कही है और तभीसे आपके तीस वर्षके विहारकी गणना की है। यथा:—

"अथ भगवान्सम्प्रापद्दिव्यं वैभारपर्वतं रम्यं।
चातुर्वर्ण्य-सुसंघस्तत्राभूद् गौतमप्रभृति ॥१३॥

"दशविधमनगाराणामेकादशधोत्तरं तथा धर्मं।
देशयमानो व्यहरत् त्रिंशद्वर्षाण्यथ जिनेंद्रः ॥१५॥

—निर्वाणभक्ति।

× कुछ श्वेताम्बरीय ग्रंथानुसार 'मातुलजा'—मामूजाद बहन।

अमर तथा अक्षय सौख्यको प्राप्त हो गये *। इसीका नाम विदेहमुक्ति, आत्यन्तिक स्वात्मस्थिति, परिपूर्ण सिद्धावस्था अथवा निष्कल परमात्मपदकी प्राप्ति है। भगवान महावीर ७२ वर्ष की अवस्था में अपने इस अन्तिम ध्येयको प्राप्त करके लोकाग्रवासी हुए। और आज उन्हींका तीर्थ प्रवर्त रहा है।

इस प्रकार भगवान महावीरका यह संक्षेपमें सामान्य परिचय है, जिसमें प्रायः किसीको भी कोई खास विवाद नहीं है। भगवज्जीवनीकी उभय सम्प्रदाय-सम्बन्धी कुछ विवादग्रस्त अथवा मतभेद वाली बातों को मैंने पहले से ही छोड़ दिया है। उनके लिये इस छोटेसे निबन्धमें स्थान भी कहाँ हो सकता है? वे तो गहरे अनुसंधानको लिये हुए एक विस्तृत आलोचना-निबन्धमें अच्छे ऊहापोह अथवा विवेचनके साथ ही दिखलाई जानेके योग्य हैं। अस्तु।

देशकालकी परिस्थिति

देश-कालकी जिस परिस्थिति ने महावीर भगवान को उत्पन्न किया उसके सम्बन्धमें भी दो शब्द कहदेना यहाँ पर उचित जान पड़ता है। महावीर भगवान के अवतारसे पहले देशका वातावरण बहुत ही क्षुब्ध, पीड़ित तथा संत्रस्त हो रहा था; दीन-दुर्बल खूब सताए जाते थे; ऊँच-नीचकी भावनाएँ जोरों पर थीं; शूद्रोंसे पशुओं जैसा व्यवहार होता था, उन्हें कोई सम्मान या अधिकार प्राप्त नहीं था, वे शिक्षा दीक्षा और उच्च संस्कृतिके अधिकारी ही नहीं माने जाते थे और उनके विषयमें बहुत ही निर्दय तथा घातक नियम प्रचलित थे; स्त्रियाँ भी काफी तौर पर सताई जाती थीं, उच्च शिक्षासे वंचित रक्खी जाती थीं, उनके विषयमें "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" जैसी कठोर आज्ञाएँ जारी थीं और उन्हें यथेष्ट मानवी अधिकार प्राप्त नहीं थे—बहुतोंकी दृष्टिमें तो वे केवल भोगकी वस्तु, विलासकी चीज़, पुरुषकी सम्पत्ति अथवा बच्चा जननेकी मशीन मात्र रह गई थीं; ब्राह्मणोंने धर्मानुष्ठान आदिके सब ऊँचे ऊँचे अधिकार अपने लिए रिजर्व रख छोड़े थे—दूसरे लोगोंको वे उनका पात्र ही नहीं समझते थे—सर्वत्र उन्हींकी तूती बोलती थी, शासन विभागमें भी उन्होंने अपने लिए खास रियायतें प्राप्त कर रक्खी थीं—घोरसे घोर पाप और बड़ेसे बड़ा अपराध कर लेनेपर भी उन्हें प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था, जब कि दूसरोंको एक साधारणसे अपराध पर भी फाँसी पर चढ़ा दिया जाता था; ब्राह्मणोंके बिगड़े हुए जाति-भेदकी दुर्गंधसे देशका प्राण घुट रहा था और उसका विकास रुक रहा था, खुद उनके अभिमान तथा जाति मदने उन्हें पतित कर दिया था और उनमें लोभ-लालच, दंभ, अज्ञानता, अकर्मण्यता, क्रूरता तथा धूर्ततादि दुर्गुणोंका निवास हो गया था; वे रिश्वतें अथवा दक्षिणाएँ लेकर परलोकके लिए सर्टिफिकेट और परवाने तक देने लगे थे; धर्मकी असली भावनाएँ प्रायः लुप्त हो गई थीं और उनका स्थान अर्थ-हीन क्रियाकाण्डों तथा थोथे विधिविधानोंने ले लिया था; बहुतसे देवी-देवताओंकी कल्पना प्रबल हो उठी थी, उनके संतुष्ट करनेमें ही सारा समय चला जाता था और उन्हें पशुओंकी बलियाँ तक चढ़ाई जाती थीं; धर्मके नाम पर सर्वत्र यज्ञ-यागादिक कर्म होते थे और उनमें असंख्य पशुओंको होमा जाता था—जीवित

---

* जैसा कि श्रीपूज्यपादके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है:
"पद्मवनदीर्घिकाकुलविविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः॥ १६॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः।
अवशेषं संप्रापद् व्यजरामरमक्षयं सौख्यम्॥ १७॥"
निर्वाणभक्ति।

प्राणी धधकती हुई आगमें डाल दिये जाते थे—और उनका स्वर्ग जाना बतलाकर अथवा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर लोगोंको भुलावेमें डाला जाता था और उन्हें ऐसे क्रूर कर्मों के लिये उत्तेजित किया जाता था। साथ ही, बलि तथा यज्ञके बहाने लोग मांस खाते थे। इस तरह देशमें चहुँ ओर अन्याय-अत्याचारका साम्राज्य था— बड़ा ही बीभत्स तथा करुण दृश्य उपस्थित था— सत्य कुचला जाता था, धर्म अपमानित हो रहा था, पीड़ितोंकी आहोंके धुएँ से आकाश व्याप्त था और सर्वत्र असन्तोष ही असन्तोष फैला हुआ था।

यह सब देख कर सज्जनोंका हृदय तलमला उठा था, धार्मिकोंको रातदिन चैन नहीं पड़ता था और पीड़ित व्यक्ति अत्याचारों से ऊब कर त्राहि त्राहि कर रहे थे। सबोंकी हृदय तंत्रियोंमे 'हो कोई अवतार नया' की एक ही ध्वनि निकल रही थी और सबोंकी दृष्टि एक ऐसे असाधारण महात्माकी ओर लगी हुई थी जो उन्हें हस्तावलम्बन देकर इस घोर विपत्तिसे निकाले। ठीक इसी समय प्राची दिशामें भगवान महावीर भास्कर का उदय हुआ, दिशाएँ प्रसन्न हो उठीं, स्वास्थ्यकर मंद सुगंध पवन बहने लगा, सज्जन धर्मात्माओं तथा पीडितों के मुखमंडल पर आशाकी रेखा दीख पड़ी, उनके हृदयकमल खिल गये और उनकी नसनाड़ियोंमें ऋतुराजके आगमनकाल जैसा नवरसका संचार होने लगा।

महावीरका उद्धारकार्य

महावीरने लोक स्थितिका अनुभव किया, लोगों की अज्ञानता, स्वार्थपरता, उनके वहम, उनका अन्ध-विश्वास, और उनके कुत्सित विचार एवं दुर्व्यवहार को देखकर उन्हें भारी दुःख तथा खेद हुआ। साथ ही, पीड़ितोंकी करुण पुकारको सुन कर उनके हृदयसे दयाका अखंड स्रोत बह निकला। उन्होंने लोकोद्धार का संकल्प किया, लोकोद्धारका संपूर्ण भार उठानेके लिये अपनी सामर्थ्यको तोला और उसमें जो त्रुटि थी उसे बारह वर्षके उस घोर तपश्चरणके द्वारा पूरा किया जिसका अभी उल्लेख किया जा चुका है।

इसके बाद सब प्रकारसे शक्तिसम्पन्न होकर महावीर ने लोकोद्धार का सिंहनाद किया—लोकमें प्रचलित सभी अन्याय-अत्याचारों, कुविचारों तथा दुराचारोंके विरुद्ध आवाज़ उठाई— और अपना प्रभाव सबसे पहले ब्राह्मण विद्वानों पर डाला, जो उस वक्त देशके 'सर्वे सर्वाः' बने हुए थे और जिनके सुधरने पर देशका सुधरना बहुत कुछ सुखसाध्य हो सकता था। आपके इस पटु सिंहनादको सुनकर, जो एकान्तका निरसन करने वाले स्याद्वादकी विचार-पद्धतिको लिये हुए था, लोगोंका तत्त्वज्ञान-विषयक भ्रम दूर हुआ, उन्हें अपनी भूलें मालूम पड़ीं, धर्म-अधर्मके यथार्थ स्वरूपका परिचय मिला, आत्मा-अनात्माका भेद स्पष्ट हुआ और बन्ध-मोक्षका सारा रहस्य जान पड़ा; साथ ही, झूठे देवी-देवताओं तथा हिंसक यज्ञादिकों परसे उनकी श्रद्धा हटी और उन्हें यह बात साफ़ जँच गई कि हमारा उत्थान और पतन हमारे ही हाथमें है, उसके लिये किसी गुप्त शक्तिकी कल्पना करके उसीके भरोसे बैठ रहना अथवा उसको दोष देना अनुचित और मिथ्या है। इसके सिवाय, जातिभेदकी कट्टरता मिटी, उदारता प्रकटी, लोगोंके हृदयमें साम्यवादकी भावनाएँ दृढ हुईं और उन्हें अपने आत्मोत्कर्ष का मार्ग सूझ पड़ा। साथ ही, ब्राह्मण गुरुओं का आसन डोल गया, उनमें से इन्द्रभूति गौतम जैसे कितने ही दिग्गज विद्वानों ने भगवान के प्रभाव से प्रभावित हो कर उनकी

समीचीन धर्मदेशना को स्वीकार किया और वे सब प्रकार से उनके पूरे अनुयायी बन गये। भगवान ने उन्हें 'गणधर' के पद पर नियुक्त किया और अपने संघ का भार सौंपा। उनके साथ उनका बहुत बड़ा शिष्य-समुदाय तथा दूसरे ब्राह्मण और अन्य धर्मानुयायी भी जैनधर्म में दीक्षित हो गये। इस भारी विजय से क्षत्रिय गुरुओं और जैनधर्म की प्रभाववृद्धि के साथ साथ तत्कालीन (क्रियाकाण्डी) ब्राह्मण धर्म की प्रभा क्षीण हुई, ब्राह्मणों की शक्ति घटी, उनके अत्याचारोंमें रोक हुई, यज्ञ-यागादिक कर्म मंद पड़ गये—उनमें पशुओंके प्रतिनिधियों की भी कल्पना होने लगी—और ब्राह्मणों के लौकिक स्वार्थ तथा जाति-पांति के भेद को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। परन्तु निरंकुशता के कारण उनका पतन जिस तेजी से हो रहा था वह रुक गया और उन्हें सोचने विचारनेका अथवा अपने धर्म तथा परिणतिमें फेरफार करनेका अवसर मिला।

महावीरकी इस धर्मदेशना और विजयके सम्बन्ध में कवि सम्राट् डा० रवीन्द्रनाथ टागौरने जो दो शब्द कहे हैं वे इस प्रकार हैं:—

Mahavira proclaimed in India the message of Salvation that religion is a reality and not a mere social convention, that salvation comes from taking refuge in that true religion, and not from observing the external ceremonies of the community, that religion can not regard any barrier between man and man as an eternal verity. Wondrous to relate, this teaching rapidly overtopped the barriers of the races' abiding instinct and conquered the whole country. For a long period now the influence of Kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power.

अर्थात्– महावीरने डंकेकी चोट भारतमें मुक्तिका ऐसा संदेश घोषित किया कि—धर्म यह कोई महज़ सामाजिक रूढि नहीं बल्कि वास्तविक सत्य है—वस्तु स्वभाव है,– और मुक्ति उस धर्ममें आश्रय लेनेसे ही मिल सकती है, न कि समाजके बाह्य आचारोंका—विधिविधानों अथवा क्रियाकांडोंका—पालन करनेसे, और यह कि धर्मकी दृष्टिमें मनुष्य मनुष्यके बीच कोई भेद स्थायी नहीं रह सकता। कहते आश्चर्य होता है कि इस शिक्षणने बद्धमूल हुई जातिकी हद बन्दियोंको शीघ्र ही तोड़ डाला और संपूर्ण देश पर विजय प्राप्त किया। इस वक्त क्षत्रिय गुरुओंके प्रभावने बहुत समयके लिये ब्राह्मणोंकी सत्ताको पूरी तौरसे दबा दिया था।

इसी तरह लोकमान्य तिलक आदि देशके दूसरे भी कितने ही प्रसिद्ध हिन्दू विद्वानोंने, अहिंसादिकके विषयमें, महावीर भगवान अथवा उनके धर्मकी ब्राह्मण धर्मपर गहरी छापका होना स्वीकार किया है, जिनके वाक्योंको यहाँ पर उद्धृत करनेकी ज़रूरत नहीं है। विदेशी विद्वानोंके भी बहुतसे वाक्य महावीरकी योग्यता, उनके प्रभाव और उनके शासनकी महिमा-संबंध में उद्धृत किये जा सकते हैं परन्तु उन्हें भी छोड़ा जाता है। अस्तु।

वीर-शासनकी विशेषता

भगवान महावीरने संसारमें सुख-शान्ति स्थिर रखने और जनताका विकास सिद्ध करनेके लिये चार महासिद्धान्तोंकी — १ अहिंसावाद, २ साम्यवाद, ३ अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) और ४ कर्मवाद नामक महासत्योंकी— घोषणा की है और इनके द्वारा जन-

ताको निम्न बातोंकी शिक्षा दी है:—

१ निर्भय-निर्वैर रहकर शांति के साथ जीना तथा दूसरोंको जीने देना,

२ राग-द्वेष-अहंकार तथा अन्याय पर विजय प्राप्त करना और अनुचित भेद-भावको त्यागना,

३ सर्वतोमुखी विशाल दृष्टि प्राप्त करके अथवा नय-प्रमाणका सहारा लेकर सत्यका निर्णय तथा विरोधका परिहार करना,

४ 'अपना उत्थान और पतन अपने हाथमें है' ऐसा समझते हुए, स्वावलम्बी बनकर अपना हित और उत्कर्ष साधना तथा दूसरोंके हित साधनमें मदद करना।

साथ ही, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको— तीनोंके समुच्चयको—मोक्षकी प्राप्तिका एक उपाय अथवा मार्ग बतलाया है। ये सब सिद्धांत इतने गहन, विशाल तथा महान हैं और इनकी विस्तृत व्याख्याओं तथा गम्भीर विवेचनाओंसे इतने जैन ग्रन्थ भरे हुए हैं कि इनके स्वरूपादि-विषयमें यहाँ कोई चलतीसी बात कहना इनके गौरवको घटाने अथवा इनके प्रति कुछ अन्याय करने जैसा होगा। और इस लिये इस छोटेसे निबन्धमें इनके स्वरूपादि का न लिखा जाना क्षमा किये जानेके योग्य है। इन पर तो अलग ही विस्तृत निबन्धोंके लिये जानेकी जरूरत है। हां, स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यानुसार इतना जरूर बतलाना होगा कि महावीर भगवान का शासन नय-प्रमाणके द्वारा वस्तुतत्वको बिलकुल स्पष्ट करने वाला और संपूर्ण प्रवादियोंके द्वारा अबाध्य होनेके साथ साथ दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग और समाधि (प्रशस्त ध्यान) इन चारोंकी तत्परताको लिये हुए है, और यही सब उसकी विशेषता है अथवा इसी लिये वह अद्वितीय है:—

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं,
नय-प्रमाण-प्रकृतांजसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

—युक्त्यनुशासन।

इस वाक्यमें 'दया'को सबसे पहला स्थान दिया गया है और वह ठीक ही है। जब तक दया अथवा अहिंसाकी भावना नहीं तब तक संयममें प्रवृत्ति नहीं होती, जब तक संयममें प्रवृत्ति नहीं तबतक त्याग नहीं बनता और जब तक त्याग नहीं तब तक समाधि नहीं बनती। पूर्व पूर्व धर्म उत्तरोत्तर धर्मका निमित्त कारण है। इस लिये धर्ममें दयाको पहला स्थान प्राप्त है। और इसीसे 'धर्मस्य मूलं दया' आदि वाक्यों द्वारा दयाको धर्मका मूल कहा गया है। अहिंसाको परम धर्म कहनेकी भी यही वजह है। और उसे परम धर्म ही नहीं किन्तु 'परम ब्रह्म' भी कहा गया है; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।"

— स्वयंभूस्तोत्र।

और इस लिये जो परम ब्रह्मकी आराधना करना चाहता है उसे अहिंसाकी उपासना करनी चाहिये— राग-द्वेषकी निवृत्ति, दया, परोपकार अथवा लोक-सेवाके कामोंमें लगना चाहिये। मनुष्यमें जबतक हिंसक वृत्ति बनी रहती है तबतक आत्मगुणोंका घात होनेके साथ साथ 'पापाः सर्वत्र शंकिताः' की नीतिके अनुसार उसमें भयका या प्रतिहिंसाकी आशंकाका सद्भाव बना रहता है। जहाँ भयका सद्भाव वहाँ वीरत्व नहीं—सम्यक्त्व नहीं * और जहां वीरत्व नहीं—

* इसीसे सम्यग्दृष्टिको सप्त प्रकारके भयोंसे रहित बतलाया है और भयको मिथ्यात्वका चिन्ह तथा स्वानुभवकी क्षतिका परिणाम सूचित किया है। यथाः—

"नापि स्पृष्टो सुदृष्टिर्यः सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥"
"ततो भीत्याऽनुमेयोऽस्ति मिथ्याभावो जिनागमात्।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतोः स्वानुभवक्षतेः ॥"

—पंचाध्यायी।

सम्यत्तव नहीं वहां आत्मोद्धारका नाम नहीं। अथवा यों कहिये कि भयमें संकोच होता है और संकोच विकासको रोकने वाला है। इस लिये आत्मोद्धार अथवा आत्मविकासके लिये अहिंसाकी बहुत बड़ी जरूरत है और वह वीरता का चिन्ह है—कायरताका नहीं। कायरताका आधार प्रायः भय होता है, इस लिये कायर मनुष्य अहिंसा धर्मका पात्र नहीं—उसमें अहिंसा ठहर नहीं सकती। वह वीरोंके ही योग्य है और इसी लिये महावीरके धर्ममें उसको प्रधान स्थान प्राप्त है। जो लोग अहिंसा पर कायरताका कलंक लगाते हैं उन्होंने वास्तवमें अहिंसाके रहस्यको समझा ही नहीं। वे अपनी निर्बलता और आत्म-विस्मृतिके कारण कषायोंसे अभिभूत हुए कायरताको वीरता और आत्माके क्रोधादिक रूप पतनको ही उसका उत्थान समझ बैठे हैं! ऐसे लोगोंकी स्थिति, निःसन्देह बड़ी ही करुणाजनक है। अस्तु।

स्वामी समन्तभद्रने भगवान महावीर और उनके शासनके सम्बन्धमें और भी कितने ही बहुमूल्य वाक्य कहे हैं जिनमेंसे एक सुन्दर वाक्य मैं यहां पर और उद्धृत कर देना चाहता हूं और वह इस प्रकार है:—

> सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं,
> सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
> सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
> सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ ६१॥
>
> —युक्त्यनुशासन।

इसमें भगवान महावीरके शासन अथवा उनके परमागम लक्षण रूप वाक्यका स्वरूप बतलाते हुए जो उसे ही संपूर्ण आपदाओंका अंत करने वाला और सबोंके अभ्युदयका कारण तथा संपूर्ण अभ्युदयका हेतु ऐसा 'सर्वोदय तीर्थ' बतलाया है वह बिलकुल ठीक है। महावीर भगवानका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों तथा मिथ्यादर्शनोंका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय तथा मिथ्यादर्शन ही संसारमें अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःख-रूपी आपदाओंके कारण होते हैं। इस लिये जो लोग भगवान महावीरके शासनका—उनके धर्मका—आश्रय लेते हैं—उसे पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्यादर्शनादिक दूर हो कर समस्त दुःख मिट जाते हैं। और वे इस धर्मके प्रसादसे अपना पूर्ण अभ्युदय सिद्ध कर सकते हैं। महावीरकी ओरसे इस धर्मका द्वार सब के लिये खुला हुआ है *, नीचसे नीच कहा जाने वाला मनुष्य भी इसे धारण करके इसी लोकमें अति उच्च बन सकता है +; इसकी दृष्टिमें कोई जाति गर्हित नहीं—तिरस्कार किये जानेके योग्य नहीं—एक चांडाल को भी व्रतसे युक्त होने पर 'ब्राह्मण' तथा सम्यग्दर्शन से युक्त होनेपर 'देव' माना गया है × ; यह धर्म इन

* जैसा कि जैनग्रन्थों के निम्न वाक्यों से ध्वनित है।

> "दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचित।
> मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः"
> "उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनां।
> नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥"
>
> —यशस्तिलके, सोमदेवः।

> "शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुध्यास्तु तादृशः।
> जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्तिधर्मभाक्"
>
> —सागारधर्मामृते, आशाधरः।

> + यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः।
> बालोऽपि त्वाश्रितं नौति को नो नीतिपुरुः कुतः॥
>
> —जिनशतके, समन्तभद्रः।

> × "न जातिर्गर्हिता काचिद्गुणाः कल्याणकारणं।
> व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
>
> —पद्मचरिते, रविषेणः।

> सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजं।
> देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्"
>
> —रत्नाकरण्डके, समन्तभद्रः।

ब्राह्मणादिक जाति भेदोंको वास्तविक ही नहीं मानता किन्तु वृत्ति अथवा आचारभेदके आधार पर कल्पित एवं परिवर्तन शील जानता है—इनका कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्य शरीर में नहीं पाया जाता †; इसी तरह जारजका भी कोई चिन्ह शरीरमें नहीं होता, जिससे उसकी कोई जुदी जाति कल्पित की जाय, और न महज़ व्यभिचारजात होनेकी वजहसे ही कोई मनुष्य नीच कहा जा सकता है—नीचताका कारण इस धर्ममें 'अनार्य आचरण' माना गया है ‡; वस्तुतः सब मनुष्योंकी एक ही मनुष्य जाति इस धर्मको अभीष्ट है जो मनुष्य जाति नामक नाम कर्मके उदयसे होती है, और इस दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं— आपसमें भाई भाई हैं—और उन्हें इस धर्मके द्वारा अपने विकासका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है §। इसके सिवाय, किसीके कुलमें कभी कोई दोष लग गया हो उसकी शुद्धि की और म्लेच्छों तक की कुलशुद्धि करके उन्हें अपने में मिला लेने तथा मुनि-दीक्षा आदिके द्वारा ऊपर उठानेकी स्पष्ट आज्ञाएँ भी इस शासनमें पाई जाती हैं *। और इस लिये यह शासन सचमुच ही 'सर्वोदय तीर्थ' के पदको प्राप्त है— इस पदके योग्य इसमें सारी ही योग्यताएँ मौजूद हैं—हर कोई भव्य जीव इसका सम्यक् आश्रय लेकर संसारसमुद्रसे पार उतर सकता है।

परन्तु यह समाजका और देशका दुर्भाग्य है जो आज हमने— जिनके हाथों दैवयोगसे यह तीर्थ पड़ा है इस महान् तीर्थको महिमा तथा उपयोगिताको भुला दिया है, इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या सर्वोदय तीर्थ-कासा रूप देकर इसके चारों तरफ ऊँची ऊँची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटकमें ताला डाल दिया है। हम लोग न तो खुद ही इससे ठीक लाभ उठाते हैं और न दूसरोंको लाभ उठाने देते हैं—महज़ अपने

† "चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणं।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतं" ॥
—पद्मचरिते, रविषेणः।

"आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनं।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥
गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते।..."
—धर्मपरीक्षायां, अमितगतिः।

"वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥"
—महापुराणे, गुणभद्रः।

‡ चिन्हानि विटजातस्य सन्ति नांगेषु कानिचित्।
अनार्यमाचरन् किंचिज्जायते नीचगोचरः ॥
—रविषेणः।

§ मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥
—आदिपुराणे, जिनसेनः।

"विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥"
—धर्मरसिके, सोमसेनोद्धृतः ॥

* जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

१ कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणं।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसन्ततौ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥
२ स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥
—आदिपुराणे, जिनसेनः।

३ म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथा जातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ॥
—लब्धिसारटीका (गाथा १९३ वीं)

थोड़ेसे विनोद अथवा क्रीड़ाके स्थल रूपमें ही हमने इसे रख छोड़ा है और उसीका यह परिणाम है कि जिस 'सर्वोदय' तीर्थपर रात दिन उपासकोंकी भीड़ और यात्रियोंका मेला सा लगा रहना चाहिये था वहाँ आज सन्नाटा सा छाया हुआ है, जैनियोंकी संख्या भी अंगुलियों पर गिनने लायक रह गई है और जो जैनी कहे जाते हैं उनमें भी जैनत्वका प्रायः कोई स्पष्ट लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता—कहीं भी दया, दम, त्याग और समाधिकी तत्परता नज़र नहीं आती—लोगोंको महावीरके संदेशकी ही खबर नहीं, और इसीसे संसारमें सर्वत्र दुःख ही दुःख फैला हुआ है। ऐसी हालतमें अब खास ज़रूरत है कि इस तीर्थका उद्धार किया जाय, इसकी सब रुकावटोंको दूर कर दिया जाय, इस पर खुले प्रकाश तथा खुली हवाकी व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबोंके लिये हरवक्त खुला रहे, सबोंके लिये इस तीर्थ तक पहुँचनेका मार्ग सुगम किया जाय, इसके तटों तथा घाटोंकी मरम्मत कराई जाय, बन्द रहने तथा अर्से तक यथेष्ट व्यवहारमें न आनेके कारण तीर्थजल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा उसमें कहीं कहीं शैवाल उत्पन्न हो गया है उसे निकाल कर दूर किया जाय और सर्वसाधारणको इस तीर्थके माहात्म्यका पूरा पूरा परिचय कराया जाय। ऐसा होने पर अथवा इस रूपमें इस तीर्थका उद्धार किया जाने पर आप देखेंगे कि देश-देशान्तरके कितने बेशुमार यात्रियोंकी इस पर भीड़ रहती है, कितने विद्वान इस पर मुग्ध होते हैं, कितने असंख्य प्राणी इसका आश्रय पाकर और इसमें अवगाहन करके अपने दुःख-संतापोंसे छुटकारा पाते हैं और संसारमें कैसी सुख-शांतिकी लहर व्याप्त होती है। स्वामी समन्तभद्रने अपने समयमें, जिसे आज डेढ़ हज़ार वर्षसे भी ऊपर हो गये हैं, ऐसा ही किया है; और इसीसे कनडी भाषाके एक प्राचीन शिलालेख * में यह उल्लेख मिलता है कि 'स्वामी समन्तभद्र भ० महावीरके तीर्थ की हजारगुनी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए'—अर्थात्, उन्होंने उसके प्रभावको सारे देश-देशान्तरोंमें व्याप्त कर दिया था। आज भी वैसा ही होना चाहिये। यही भगवान महावीरकी सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा।

महावीर-सन्देश

हमारा इस वक्त यह खास कर्तव्य है कि हम भगवान महावीरके सन्देशको—उनके शिक्षासमूह-को—मालूम करें, उस पर खुद अमल करें और दूसरों से अमल करानेके लिये उसका घर घरमें प्रचार करें। बहुतसे जैनशास्त्रोंका अध्ययन, मनन और मथन करने पर मुझे भगवान महावीरका जो सन्देश मालूम हुआ है उसे मैंने एक छोटी सी कवितामें निबद्ध कर दिया है। यहाँ पर उसका दे दिया जाना भी कुछ अनुचित न होगा। उससे थोड़ेमें ही—सूत्र रूपसे—महावीर भगवान की बहुत सी शिक्षाओंका अनुभव हो सकेगा और उन पर चलकर—उन्हें अपने जीवनमें उतारकर—हम अपना तथा दूसरोंका बहुत कुछ हित साधन कर सकेंगे। वह संदेश इस प्रकार है:—

यही है महावीर-सन्देश।
विपुलाचल पर दिया गया जो प्रथम धर्मउपदेश ॥१॥

---

* यह शिलालेख बेलूर ताल्लुकेका शिलालेख नम्बर १७ है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मन्दिर-की छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और शक संवत् १०५९ का लिखा हुआ है। देखो, एपिग्रेफिका कर्णाटिकाकी जिल्द पाँचवीं, अथवा स्वामी समन्तभद्र (इतिहास) पृष्ठ ४६ वा।

"मनुजमात्रको तुम अपनाओ, हर सबके दुख-क्लेश ।
असद्भाव रक्खो न किसीसे, हो अरि क्यों न विशेष ॥२॥
वैरीका उद्धार श्रेष्ठ है, कीजे सविधि-विशेष ।
वैर छुटे, उपजे मति जिससे, वही यत्न यत्नेश ॥३॥
घृणा पापसे हो, पापीसे नहीं कभी लव-लेश ।
भूल सुझा कर प्रेममार्गसे, करो उसे पुण्येश ॥४॥
तज एकान्त-कदाग्रह-दुर्गुण, बनो उदार विशेष ।
रह प्रसन्नचित सदा, करो तुम मनन तत्व-उपदेश ॥५॥
जीतो राग-द्वेष-भय-इन्द्रिय-मोह-कषाय अशेष ।
धरो धैर्य, समचित्त रहो, औ' सुख-दुखमें सविशेष ॥६॥
'वीर' उपासक बनो सत्यके, तज मिथ्याऽभिनिवेश ।
विपदाओंसे मत घबराओ, धरो न कोपावेश ॥७॥
संज्ञानी-संदृष्टि बनो, औ' तजो भाव संक्लेश ।
सदाचार पालो दृढ होकर, रहे प्रमाद न लेश ॥८॥
सादा रहनसहन-भोजन हो, सादा भूषावेष ।
विश्व-प्रेम जागृत कर उरमें, करो कर्म निःशेष ॥९॥
हो सबका कल्याण, भावना ऐसी रहे हमेश ।
दया-लोकसेवा-रत चित हो, और न कुछ आदेश ॥"१०
यही है महावीर सन्देश ॥

महावीरका समय

अब देखना यह है कि भगवान महावीरको अवतार लिये कितने वर्ष हुए हैं। महावीरकी आयु कुछ कम ७२ वर्षकी—७१ वर्ष, ६ मास, २८ दिनकी—थी । यदि महावीरका निर्वाण-समय ठीक मालूम हो तो उनके अवतार समयको अथवा जयन्तीके अवसरोंपर उनकी वर्षगांठ-संख्याको सूचित करनेमें कुछ भी देर न लगे। परन्तु निर्वाण-समय अर्सेसे विवादग्रस्त चल रहा है—प्रचलित वीरनिर्वाण संवत् पर आपत्ति की जाती है—कितने ही देशी विदेशी विद्वानोंका उसके विषयमें मतभेद है; और उसका कारण साहित्यकी कुछ पुरानी गड़बड़, अर्थ समझनेकी ग़लती अथवा कालगणनाकी भूल जान पड़ती है। यदि इस गड़बड़, ग़लती अथवा भूलका ठीक पता चल जाय तो समय का निर्णय सहज हीमें हो सकता है और उससे बहुत काम निकल सकता है; क्योंकि महावीरके समयका प्रश्न जैन इतिहासके लिये ही नहीं किन्तु भारतके इतिहासके लिये भी एक बड़े ही महत्वका प्रश्न है । इसीसे अनेक विद्वानोंने उसको हल करनेके लिये बहुत परिश्रम किया है और उससे कितनी ही नई नई बातें प्रकाशमें आई हैं। परन्तु फिर भी, इस विषयमें, उन्हें जैसी चाहिये वैसी सफलता नहीं मिली—बल्कि कुछ नई उलझनें भी पैदा हो गई हैं और इस लिये यह प्रश्न अभीतक बराबर विचारके लिये चला ही जाता है। मेरी इच्छा थी कि मैं इस विषयमें कुछ गहरा उतरकर पूरी तफ़सीलके साथ एक विस्तृत लेख लिखूं परन्तु समयकी कमी आदिके कारण वैसा न करके संक्षेपमें ही, अपनी खोजका एक सार भाग पाठकोंके सामने रखता हूँ। आशा है कि सहृदय पाठक इस परसे ही, उस गड़बड़, ग़लती अथवा भूलको मालूम करके, समयका ठीक निर्णय करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

आजकल जो वीर-निर्वाण-संवत् प्रचलित है और कार्तिक शुक्ला प्रतिपदासे प्रारम्भ होता है वह २४५६ वर्तमान है। इस संवत्का एक आधार 'त्रिलोकसार' की निम्न गाथा है, जो श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का बनाया हुआ है:—

६०५ ५
पणछस्सयवस्सं पण—
मासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो ।
सगराजो तो ककी
३९४ ७
चदुणवतियमहियसगमास ॥ ८५० ॥

इसमें बतलाया गया है कि 'महावीरके निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजा हुआ, और शक राजासे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्की राजा हुआ।' शक राजाके इस समयका समर्थन 'हरिवंशपुराण' नामके एक दूसरे प्राचीन ग्रन्थसे भी होता है जो त्रिलोकसारसे प्रायः दो सौ वर्ष पहलेका बना हुआ है और जिसे श्रीजिनसेनाचार्यने शक सं० ७०५ में बना कर समाप्त किया है। यथा :—

वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥
६०-५४९ ॥

इतना ही नहीं, बल्कि और भी प्राचीन ग्रन्थोंमें इस समयका उल्लेख पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' का निम्न वाक्य है—

णिव्वाणे वीर जणे छव्वाससदेसु पचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा[१]॥

शकका यह समय ही शक संवतकी प्रवृत्तिका काल है, और इसका समर्थन एक पुरातन श्लोकसे भी होता है, जिसे श्वेताम्बराचार्य श्रीमेरुतुंगने अपनी 'विचारश्रेणिक' में निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है:—

श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ॥

इसमें, स्थूल रूपसे वर्षोंकी ही गणना करते हुए, साफ़ लिखा है कि 'महावीरके निर्वाणसे ६०५ वर्ष बाद इस भारतवर्षमें शक संवत्सरकी प्रवृत्ति हुई।' शक संवतके इस पूर्ववर्ती समयको वर्तमान शक संवत १८५१ में जोड़ देनेसे २४५६ की उपलब्धि होती है, और यही इस वक्त प्रचलित वीर निर्वाण संवत् की वर्षसंख्या है। शक संवत् और विक्रम संवत्में १३५ वर्षका प्रसिद्ध अन्तर है। यह १३५ वर्षका अन्तर यदि उक्त ६०५ वर्षमेंसे घटा दिया जाय तो अवशिष्ट ४७० वर्षका काल रहता है, और यही वीरनिर्वाणके बाद विक्रम संवत्की प्रवृत्तिका काल है, जो ईस्वी सन्से ५२७ वर्ष पहले वीरनिर्वाणका होना बतलाता है। और जिसे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय मानते हैं।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें शकराजाके समयका—वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पहलेका—जो उल्लेख है उसमें उसका राज्यकाल भी शामिल है; क्योंकि एक तो यहाँ 'सगराजो' के बाद 'तो' शब्दका प्रयोग किया गया है जो 'ततः' (तत्पश्चात्) का वाचक है और उससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि शकराजा की सत्ता न रहने पर अथवा उसकी मृत्युसे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्की राजा हुआ। दूसरे, इस गाथामें कल्कीका जो समय वीरनिर्वाणसे एक हज़ार वर्ष तक (६०५ वर्ष ५ मास + ३९४ व० ७ मा०) बतलाया गया है उसमें नियमानुसार कल्की का राज्य काल भी आजाता है, जो एक हज़ार वर्षके भीतर सीमित रहता है। और तभी हर हज़ार वर्ष पीछे एक कल्की के होने का वह नियम बन सकता है जो त्रिलोकसारादि ग्रंथों के निम्न वाक्यों में पाया जाता है:—

इदि पडिसहस्सवस्सं वीसे
कक्कीणदिक्कमे चरिमो।
जलमंथणो भविस्सदि
कक्की सम्मग्गमत्थणओ ॥ ८५७॥
—त्रिलोकसार।

१ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें शककालका कुछ और भी उल्लेख पाया जाता है और इसीसे यहाँ 'अथवा' शब्दका प्रयोग किया गया है। परन्तु उस उल्लेख का किसी दूसरी जगह से समर्थन नहीं होता।

मुक्तिं गते महावीरे प्रतिवर्षसहस्रकम्।
एकैको जायते कल्की जिनधर्मविरोधकः ॥
—हरिवंशपुराण।

एवं वस्ससहस्से पुह कक्की हवेइ इक्केको।
—त्रिलोकप्रज्ञप्ति।

इसके सिवाय, हरिवंशपुराण तथा त्रिलोकप्रज्ञप्ति में महावीरके पश्चात् एक हज़ार वर्षके भीतर होनेवाले राज्यों के समय की जो गणना की गई है उसमें साफ़ तौर पर कल्किराज्य के ४२ वर्ष शामिल किये गये हैं*। ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि त्रिलोकसार की उक्त गाथा में शक और कल्की का जो समय दिया है वह अलग अलग उनके राज्य कालकी समाप्ति का सूचक है। और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि शक राजा का राज्यकाल वीरनिर्वाण से ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रारंभ हुआ और उसकी—उसके कतिपय वर्षात्मक स्थितिकाल की—समाप्ति के बाद ३९४ वर्ष ७ महीने और बीतने पर कल्किका राज्यारंभ हुआ। ऐसा कहने पर कल्किका अस्तित्वसमय वीरनिर्वाण से एक हज़ार वर्ष के भीतर न रहकर ११०० वर्ष के करीब होजाता है और उससे एक हज़ार की नियत संख्या में तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थोंके कथन में भी बाधा आती है और एक प्रकारसे सारी ही कालगणना बिगड़ जाती है।

* श्रीयुत के.पी. जायसवाल बैरिस्टर पटना ने, जुलाई सन् १९१७की इन्डियन ऐंटिक्वेरी में प्रकाशित अपने एक लेख में, हरिवंशपुराणके 'द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्यराजता' वाक्य के सामने मौजूद होते हुए भी जो यह लिख दिया है कि इस पुराणमें कल्किराज्य के वर्ष नहीं दिये, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है। आपका इस पुराण के आधार पर गुप्तराज्य और कल्किराज्य के बीच ४२ वर्ष का अन्तर बतलाना और कल्कि के अस्तकाल को उसका उदयकाल (rise of Kalki) सूचित कर देना बहुत बड़ी ग़लती तथा भूल है।

इसी तरह पर यह भी स्पष्ट है कि हरिवंशपुराण और त्रिलोकप्रज्ञप्ति के उक्त शक-काल-सूचक पद्यों में जो क्रमशः 'अभवत्' और 'संजादो' (संजातः) पदों का प्रयोग किया गया है उनका 'हुआ'—शकराजा हुआ—अर्थ शक कालकी समाप्ति का सूचक है, आरंभसूचक नहीं। और त्रिलोकसार की गाथा में इन्हीं जैसा कोई क्रियापद अध्याहृत (uuderstood) है।

यहाँ पर एक उदाहरण द्वारा मैं इस विषय को और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। कहा जाता है और आम तौर पर लिखने में भी आता है कि भगवान पार्श्वनाथ से भगवान महावीर ढाई सौ (२५०) वर्ष के बाद हुए। परंतु इस ढाई सौ वर्ष बाद होने का क्या अर्थ? क्या पार्श्वनाथ के जन्म से महावीर का जन्म ढाई सौ वर्ष बाद हुआ? या पार्श्वनाथ के निर्वाण से महावीर का जन्म ढाई सौ वर्ष बाद हुआ? अथवा पार्श्वनाथ के निर्वाण से महावीर को केवलज्ञान ढाईसौ वर्ष बाद उत्पन्न हुआ? तीनों में से एक भी बात सत्य नहीं है। तब सत्य क्या है? इसका उत्तर श्रीगुणभद्राचार्य के निम्न वाक्य में मिलता है:—

पार्श्वेश-तीर्थ-सन्ताने
पंचाशद्द्विशताब्दके।
तदभ्यन्तरवर्त्यायु-
र्महावीरोऽत्रजातवान् ॥ २७९ ॥
—महापुराण, ७४वाँ पर्व।

इसमें बतलाया है कि 'श्रीपार्श्वनाथ तीर्थंकर से ढाई सौ वर्षके बाद, इसी समय के भीतर अपनी आयु को लिये हुए, महावीर भगवान हुए' अर्थात् पार्श्वनाथ के निर्वाण से महावीर का निर्वाण ढाई सौ वर्ष के बाद हुआ। इस वाक्य में 'तदभ्यन्तरवर्त्यायुः' (इसी समय के भीतर अपनी आयु को लिये हुए) यह पद

महावीरका विशेषण है। इस विशेषण-पदके निकाल देनेसे इस वाक्यकी जैसी स्थिति रहती है और जिस स्थितिमें आम तौर पर महावीरके समयका उल्लेख किया जाता है ठीक वही स्थिति त्रिलोकसारकी उक्त गाथा तथा हरिवंशपुराणादिकके उन शककालसूचक पद्यों-की है। उनमें शकराजाके विशेषण रूपसे 'तदभ्यन्तर वर्त्यायुः' इस आशयका पद अध्याहृत है, जिसे अर्थका स्पष्टीकरण करते हुए ऊपरसे लगाना चाहिये। बहुत सी कालगणनाका यह विशेषण-पद अध्याहृत रूपमें ही प्राण जान पड़ता है। और इसलिये जहाँ कोई बात स्पष्टतया अथवा प्रकरणसे इसके विरुद्ध न हो वहाँ ऐसे अवसरोंपर इस पदका आशय जरूर लिया जाना चाहिये। अस्तु।

जब यह स्पष्ट हो जाता है कि वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पर शकराजाके राज्यकालकी समाप्ति हुई और यह काल ही शक संवत्की प्रवृत्तिका काल है—जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है—तब यह स्वतः मानना पड़ता है कि विक्रम राजाका राज्यकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्षके अनन्तर समाप्त हो गया था और यही विक्रम संवत्की प्रवृत्तिका काल है—तभी दोनों संवतोंमें १३५ वर्षका प्रसिद्ध अन्तर बनता है। और इसलिये विक्रम संवतको भी विक्रमके जन्म या राज्यारोहणका संवत् न कहकर, वीरनिर्वाण या बुद्धनिर्वाण संवतादिककी तरह, उसकी स्मृति या यादगारमें क़ायम किया हुआ मृत्यु-संवत् कहना चाहिये। विक्रम संवत् विक्रमकी मृत्युका संवत् है, यह बात कुछ दूसरे प्राचीन प्रमाणोंसे भी जानी जाती है, जिसका एक नमूना श्रीअमितगति आचार्यका यह वाक्य है:—

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।
समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुंजनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥

इसमें, 'सुभाषितरत्नसंदोह' नामक ग्रन्थको समाप्त करते हुए, स्पष्ट लिखा है कि विक्रम राजाके स्वर्गारोहणके बाद जब १०५० वाँ वर्ष (संवत्) बीत रहा था और राजा मुंज पृथ्वीका पालन कर रहा था उस समय पौष शुक्ला पंचमीके दिन यह पवित्र तथा हितकारी शास्त्र समाप्त किया गया है।' इन्हीं अमितगति आचार्यने अपने दूसरे ग्रन्थ 'धर्मपरीक्षा' की समाप्तिका समय इस प्रकार दिया है:—

संवत्सराणां विगते सहस्रे
ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं
जैनेन्द्रधर्मामृतयुक्तिशास्त्रम्॥

इस पद्यमें, यद्यपि, विक्रम संवत् १०७० में ग्रन्थकी समाप्तिका उल्लेख है और उसे स्वर्गारोहण अथवा मृत्युका संवत् ऐसा कुछ नाम नहीं दिया; फिर भी इस पद्यको पहले पद्यकी रोशनीमें पढ़नेसे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि अमितगति आचार्यने प्रचलित विक्रम संवत् का ही अपने ग्रंथोंमें प्रयोग किया है और वह उस वक्त विक्रमकी मृत्युका संवत् माना जाता था। संवत्के साथमें विक्रमकी मृत्युका उल्लेख किया जाना अथवा न किया जाना एक ही बात थी—उससे कोई भेद नहीं पड़ता था—इसीलिये इस पद्यमें उसका उल्लेख नहीं किया गया। पहले पद्य में मुंज के राज्यकालका उल्लेख इस विषयका और भी खास तौर से समर्थक है; क्योंकि इतिहास से प्रचलित वि०संवत् १०५० में मुंजका राज्यासीन होना पाया जाता है। और

इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि अमितगति ने प्रचलित विक्रम संवत् से भिन्न किसी दूसरे ही विक्रम संवत् का उल्लेख अपने उक्त पद्यों में किया है। ऐसा कहने पर मृत्युसंवत् १०५० के समय जन्मसंवत् ११३० अथवा राज्यसंवत् १११२ का प्रचलित होना ठहरता है और उस वक्त तक मुंज के जीवित रहने का कोई प्रमाण इतिहास में नहीं मिलता। मुंजके उत्तराधिकारी राजा भोज का भी वि० सं० १११२ से पूर्व ही देहावसान होना पाया जाता है।

अमितगति आचार्यके समय में, जिसे आज साढ़े नौ सौ वर्ष के करीब होगये हैं, विक्रम संवत् विक्रमकी मृत्यु का संवत् माना जाता था यह बात उनसे कुछ समय पहले के बने हुए देवसेनाचार्य के ग्रन्थों से भी प्रमाणित होती है। देवसेनाचार्यने अपना 'दर्शनसार' ग्रंथ विक्रम संवत् ९९० में बनाकर समाप्त किया है। इसमें कितने ही स्थानोंपर विक्रम संवत् का उल्लेख करते हुए उसे विक्रम की मृत्यूका संवत् सूचित किया है; जैसा कि इसकी निम्न गाथाओं से प्रकट है :—

छत्तीसे वरिससये विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥ ११॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो॥ २८॥
सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो॥ ३८॥

विक्रम संवत्के उल्लेख को लिये हुए जितने ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं उनमें, जहाँ तक मुझे मालूम है, सबसे प्राचीन ग्रंथ यही है। इससे पहले धनपालकी 'पाइअलच्छी नाममाला' (वि०सं०१०२९) और उससे भी पहले अमितगति का 'सुभाषितरत्नसंदोह' ग्रंथ पुरातत्त्वज्ञों द्वारा प्राचीन माना जाता था। हाँ, शिलालेखों में एक शिलालेख इससे भी पहिले विक्रम संवत् के उल्लेख को लिये हुए है और वह चाहमान चण्ड महासेनका शिलालेख है, जो धौलपुरसे मिला है और जिसमें उसके लिखे जानेका संवत् ८९८ दिया है; जैसा कि उसके निम्न अंश से प्रकट है:—

वसु नव अष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य।

यह अंश विक्रम संवत् को विक्रमकी मृत्युका संवत् बतलाने में कोई बाधक नहीं है और न 'पाइअलच्छी नाम माला' का 'विक्कम कालस्स गए अउणत्ती [णवी] सुत्तरे सहस्सम्मि' अंश ही इसमें कोई बाधक प्रतीत होता है, बल्कि ये दोनों ही अंश एक प्रकार से साधक जान पड़ते हैं; क्योंकि इनमें जिस विक्रम कालके बीतने की बात कही गई है और उसके बादके बीते हुए वर्षों की गणना की गई है वह विक्रम का अस्तित्व काल—उसकी मृत्यु पर्यंतका समय—ही जान पड़ता है। उसी का मृत्युके बाद बीतना प्रारंभ हुआ है। इसके सिवाय, दर्शनसारमें एक यह भी उल्लेख मिलता है कि उसकी गाथाएँ पूर्वाचार्योंकी रची हुई हैं और उन्हें एकत्र संचय करके ही यह ग्रंथ बनाया गया है। यथा:

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण॥ ४९॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए॥ ५०

इससे उक्त गाथाओं के और भी अधिक प्राचीन होने की संभावना है और उनकी प्राचीनता से विक्रम संवत् को विक्रमकी मृत्युका संवत् मानने की बात और भी ज्यादा प्राचीन हो जाती है। विक्रम संवत् की यह मान्यता अमितगतिके बाद भी अर्से तक चली गई मालूम होती है। इसीसे १६वीं शताब्दी तथा उसके

करीब के बने हुए ग्रन्थोमें भी उसका उल्लेख पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं:—

"मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपंचशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ॥१५७
लुङ्कामतमभदेकं .... ॥ १५८ ॥

—रत्ननन्दिकृत, भद्रबाहुचरित्र ।

"सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥१८८

—वामदेवकृत, भावसंग्रह ।

इस संपूर्ण विवेचन परसे यह बात भले प्रकार स्पष्ट होजाती है कि प्रचलित विक्रम संवत् विक्रमकी मृत्युका संवत है, जो वीरनिर्वाणसे ४७० वर्षके बाद प्रारंभ होता है। और इसलिये वीरनिर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम राजाका जन्म होने की जो बात कही जाती है और उसके आधार पर प्रचलित वीरनिर्वाण संवत् पर आपत्ति की जाती है वह ठीक नहीं है। और न यह बात ही ठीक बैठती है कि इस विक्रम ने १८ वर्ष की अवस्था में राज्य प्राप्त करके उसी वक्त से अपना संवत प्रचलित किया है। ऐसा माननेके लिये इतिहास में कोई भी समर्थ कारण नहीं है। हो सकता है कि यह एक विक्रमकी बातको दूसरे विक्रमके साथ जोड़ देनेका ही नतीजा हो। इसके सिवाय, नन्दिसंघकी एक पट्टावली में—विक्रमप्रबन्धमें भी—जो यह वाक्य दिया है कि—

सत्तरिचदुसदजुत्तो
जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।"

अर्थात्—' जिनकालसे (महावीरके निर्वाणसे) [१]विक्रमजन्म ४७० वर्षके अन्तरको लिये हुए है '। और दूसरी पट्टावली में जो आचार्यों के समय की गणना विक्रमके राज्यारोहण कालसे—उक्त जन्म कालमें १८ की वृद्धि करके की गई है वह सब उक्त शककालको और उसके आधार पर बने हुए विक्रमकालको ठीक न समझनेका परिणाम है, अथवा यों कहिये कि पार्श्व-नाथके निर्वाणसे ढाईसौ वर्ष बाद महावीरका जन्म या केवलज्ञानको प्राप्त होना मान लेने जैसी गलती है। ऐसी हालतमें कुछ जैन, अजैन तथा पश्चिमीय और पूर्वीय विद्वानोंने पट्टावलियोंको लेकर जो प्रचलित वीर निर्वाण संवत् पर यह आपत्ति की है कि 'उसकी वर्ष संख्यामें १८ वर्ष की कमी है जिसे पूरा किया जाना चाहिये' वह समीचीन मालूम नहीं होती, और इसलिये मान्य किये जानेके योग्य नहीं। उसके अनुसार वीर निर्वाणसे ४८८ वर्ष बाद विक्रम संवत्का प्रचलित होना माननेसे विक्रम और शक संवतोंके बीच जो १३५ वर्ष का प्रसिद्ध अन्तर है वहभी बिगड़ जाता है—सदोष ठहरता है—अथवा शककाल पर भी आपत्ति लाज़िमी आती है, जिस पर कोई आपत्ति नहीं की गई और न यह सिद्ध किया गया कि शकराजाने भी वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीनेके बाद जन्म लेकर १८ वर्षकी अवस्थामें राज्याभिषेकके समय अपना संवत प्रचलित किया है—प्रत्युत इसके, यह बात ऊपरके प्रमाणोंसे सिद्ध है कि यह समय शकराजाके राज्यकालकी समाप्ति का समय है। साथ ही, श्वेताम्बर भाइयोंने जो वीर-निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका राज्याभिषेक माना है * और जिसकी वजहसे प्रचलित वीरनिर्वाण संवत् में १८ वर्षके बढ़ानेकी भी कोई ज़रूरत नहीं रहती उसे क्यों ठीक न मान लिया जाय, इसका कोई समाधान

[१] विक्रमजन्मका आशय यदि विक्रमकाल अथवा विक्रमसंवत्की उत्पत्तिसे लिया जाय तो यह कथन ठीक हो सकता है। क्योंकि विक्रम संवत् की उत्पत्ति विक्रमकी मृत्यु पर हुई पाई जाती है।

* यथा:—विक्कमरज्जारंभा प(पु?)रओ सिरिवीर निव्वुई भणिया ।
सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो ॥
—विचारश्रेणि ।

नहीं होता। इसके सिवाय, जार्लचार्पेंटियरकी यह आपत्ति बराबर बनी ही रहती है कि वीरनिर्वाणसे ४७० वर्षके बाद जिस विक्रमराजा का होना बतलाया जाता है उसका इतिहास में कहीं भी कोई अस्तित्व नहीं है *। परन्तु विक्रमसंवत्‌को विक्रमकी मृत्युका संवत् मान लेने पर यह आपत्ति क़ायम नहीं रहती; क्योंकि जार्लचार्पेंटियरने वीरनिर्वाणसे ४१० वर्षके बाद विक्रम राजाका राज्यारंभ होना इतिहाससे सिद्ध माना है ×। और यही समय उसके राज्यारंभ का मत्य संवत माननेमे आता है; क्योंकि उसका राज्यकाल ६० वर्ष तक रहा है। मालूम होता है जार्लचार्पेंटियर के सामने विक्रम संवत्‌के विषय में विक्रमकी मृत्यु का संवत् होनेकी कल्पना ही उपस्थित नहीं हुई और इसी लिये आपने वीरनिर्वाण से ४१० वर्षके बाद ही विक्रम संवत का प्रचलित होना मान लिया है और इस भूल तथा ग़लतीके आधार पर ही प्रचलित वीरनिर्वाण संवत पर यह आपत्ति कर डाली है कि उसमें ६० वर्ष बढ़े हुए हैं। इस लिये उसे ६० वर्ष पीछे हटाना चाहिये—अर्थात इस समय जो २४५६ संवत् प्रचलित है उसमें ६० वर्ष घटाकर उसे २३९६ बनाना चाहिये। अतः आपकी यह आपत्ति भी निःसार है और वह किसी तरह भी मान्य किये जानेके योग्य नहीं।

अब मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि जॉर्लचार्पेंटियरने, विक्रम संवत् को विक्रम की मृत्युका संवत् न समझते हुए और यह जानते हुए भी कि श्वेताम्बर भाइयोंने वीरनिर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम का राज्यारंभ माना है, वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष बाद जो विक्रमका राज्यारंभ होना बतलाया है वह केवल उनकी निजी कल्पना अथवा खोज है या कोई शास्त्राधार भी उन्हें इसके लिये प्राप्त हुआ है। शास्त्राधार जरूर मिला है और उससे उन श्वेताम्बर विद्वानोंकी ग़लतीका भी पता चल जाता है जिन्होंने जिनकाल और विक्रमकाल के ४७०वर्षके अन्तर की गणना विक्रमके राज्याभिषेक से की है और इस तरह विक्रम संवत् को विक्रम के राज्यारोहण का ही संवत बतला दिया है। इस विषय का खुलासा इस प्रकार है:—

श्वेताम्बराचार्य श्रीमेरुतुंगने, अपनी 'विचारश्रेणि' में—जिसे 'स्थविरावली' भी कहते हैं,'जं रयणिं कालगओ' आदि कुछ प्राकृत गाथाओं के आधार पर यह प्रतिपादन किया है कि—'जिस रात्रिको भगवान महावीर पावापुर में निर्वाणको प्राप्त हुए उसी रात्रि को उज्जयिनीमें चंडप्रद्योतका पुत्र 'पालक' राजा राज्याभिषिक्त हुआ, इसका राज्य ६० वर्ष तक रहा, इसके बाद क्रमशः नन्दों का राज्य १५५ वर्ष, मौर्योंका १०८, पुष्पमित्रका ३०, बलमित्र-भानुमित्रका ६०, नभोवाहन (नरवाहन) का ४०; गर्दभिल्लका १३ और शकका ४ वर्ष राज्य रहा। इस तरह यह काल ४७० वर्षका हुआ। इसके बाद गर्दभिल्लके पुत्र विक्रमादित्यका राज्य ६० वर्ष, धर्मादित्यका ४०, भाइल्लका ११, नाइल्लका १४ और नाहडका १० वर्ष मिलकर १३५ वर्षका दूसरा काल-

* इस पर बैरिष्टर के.पी. जायसवाल ने जो यह कल्पना की है कि सातकीर्णि द्वितीय का पुत्र 'पुलमायि' ही जैनियों का विक्रम है—जैनियोंने उसके दूसरे नाम 'विलवय' को लेकर और यह समझकर कि इसमें 'क' को 'ल' होगया है उसे 'विक्रम' बना डाला है—वह कोरी कल्पना ही कल्पना जान पड़ती है। कहीं से भी उसका समर्थन नहीं होता। (बैरिष्टर सा० की इस कल्पनाके लिये देखो जैनसाहित्यसंशोधक के प्रथम खंड का चौथा अंक)।

× देखो, जार्लचार्पेंटियरका वह प्रसिद्ध लेख जो इन्डियन एण्टिक्वेरी (जिल्द ४३वीं, सन १९१४) की जून, जुलाई और अगस्त की संख्याओं में प्रकाशित हुआ है और जिसका गुजराती अनुवाद जैनसाहित्यसंशोधक के दूसरे खंड के द्वितीय अंक में निकला है।

हुआ। और दोनों मिलकर ६०५ वर्षका समय महावीर के निर्वाण बाद हुआ। इसके बाद शकोंका राज्य और शकसंवत् की प्रवृत्ति हुई, ऐसा बतलाया है।' यही वह परम्परा और कालगणना है जो श्वेताम्बरों में प्रायः करके मानी जाती है।

परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के बहुमान्य प्रसिद्ध विद्वान् श्रीहेमचन्द्राचार्यके 'परिशिष्टपर्व' से यह मालूम होता है कि उज्जयिनीके राजा पालकका जो समय (६० वर्ष) ऊपर दिया है उसी समय मगधके सिंहासन पर श्रेणिकके पुत्र कूणिक(अजातशत्रु) और कूणिकके पुत्र उदायीका क्रमशः राज्य रहा है। उदायीके निःसन्तान मारे जाने पर उसका राज्य नन्दको मिला। इसीसे परिशिष्ट पर्वमें श्रीवर्द्धमान महावीरके निर्वाणसे ६०वर्ष के बाद प्रथम नन्दराजाका राज्याभिषिक्त होना लिखा है। यथा:—

अनन्तरं वर्द्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात् ।
गतायां षष्ठिवत्सर्यामेषनन्दोऽभवन्नृपः॥६–२४३

इसके बाद नन्दोंका वर्णन देकर, मौर्यवंशके प्रथम राजा सम्राट् चंद्रगुप्तके राज्यारंभका समय बतलाते हुए, श्रीहेमचन्द्राचार्यने जो महत्वका श्लोक दिया है वह इस प्रकार है:—

एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते ।
पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥ ८–३३९

इस श्लोक पर जार्ल चार्पेंटियरने अपने निर्णयका खास आधार रक्खा है और डा० हर्मन जैकोबी के कथनानुसार इसे महावीर-निर्वाणके सम्बन्धमें अधिक संगत परम्परा का सूचक बतलाया है। साथही, इसकी रचना परसे यह अनुमान किया है कि या तो यह श्लोक किसी अधिक प्राचीन ग्रन्थ परसे ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है अथवा किसी प्राचीन गाथा परसे अनुवादित किया गया है। अस्तु; इस श्लोकमें बतलाया है कि 'महावीरके निर्वाणसे १५५ वर्ष बाद चंद्रगुप्त राज्यारूढ हुआ'। और यह समय इतिहास के बहुत ही अनुकूल जान पड़ता है। विचारश्रेणि की उक्त कालगणनामें १५५ वर्षका समय सिर्फ़ नन्दोंका और उससे पहले ६० वर्षका समय पालकका दिया है। उसके अनुसार चंद्रगुप्तका राज्यारोहण-काल वीर-निर्वाणसे २१५ वर्ष बाद होता था परंतु यहाँ १५५ वर्ष बाद बतलाया है, जिससे ६० वर्ष की कमी पड़ती है। मेरुतुंगाचार्यने भी इस कमीको महसूस किया है। परन्तु वे हेमचन्द्राचार्यके इस कथनको गलत साबित नहीं कर सकते थे और दूसरे ग्रन्थोंके साथ उन्हें साफ़ विरोध नजर आता था, इसलिये उन्हों ने 'तच्चिन्त्यम' कहकर ही इस विषयको छोड़ दिया है। परंतु मामला बहुत कुछ स्पष्ट जान पड़ता है। हेमचंद्रने ६० वर्षकी यह कमी नन्दोंके राज्यकालमें की है—उनका राज्य-काल ९५ वर्षका बतलाया है—क्योंकि नन्दोंसे पहले उनके और वीरनिर्वाणके बीचमें ६० वर्षका समय कूणिक आदि राजाओंका उन्होंने माना ही है। ऐसा मालूम होता है कि पहलेसे वीरनिर्वाण के बाद १५५ वर्षके भीतर नन्दोंका होना माना जाता था परन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं था कि वीरनिर्वाणके ठीक बाद नन्दोंका राज्य प्रारंभ हुआ, बल्कि उनसे पहिले उदायी तथा कूणिकका राज्य भी उसमें शामिल था। परन्तु इन राज्योंकी अलग अलग वर्ष गणना साथमें न रहने आदिके कारण बादको गलतीसे १५५ वर्ष की संख्या अकेले नन्दराज्यके लिये रूढ होगई। और उधर पालक राजाके उसी निर्वाण रात्रिको अभिषिक्त होने की जो महज एक दूसरे राज्यकी विशिष्ट घटना थी उसके साथमें राज्यकालके ६० वर्ष जुड़कर वह गलती

इधर मगधकी कालगणनामें शामिल हो गई। इस तरह दो भूलोंके कारण कालगणनामें ६० वर्षकी वृद्धि हुई और उसके फल स्वरूप वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका राज्याभिषेक माना जाने लगा। हेमचन्द्राचार्यने इन भूलोंको मालूम किया और उनका उक्तप्रकारसे दो श्लोकोंमें ही सुधार कर दिया है। बैरिष्टर काशीप्रसाद (के.पी.) जी जायसवालने, जार्लचार्पेंटियरके लेखका विरोध करते हुए, हेमचन्द्राचार्य पर जो यह आपत्ति की है कि उन्होंने महावीरके निर्वाणके बाद तुरत ही नन्द वंशका राज्य बतला दिया है, और इस कल्पित आधार पर उनके कथनको 'भूलभरा तथा अप्रामाणिक' तक कह डाला है * उसे देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। हमें तो बैरिष्टर साहबकी ही साफ़ भूल नज़र आती है। मालूम होता है उन्होंने न तो हेमचंद्रके परिशिष्ट पर्व को ही देखा है और न उसके छठे पर्वके उक्त श्लोक नं० २४३ के अर्थ पर ही ध्यान दिया है, जिसमें साफ़ तौर पर वीरनिर्वाणमे ६० वर्षके बाद नन्द राजा का होना लिखा है। अस्तु; चन्द्रगुप्तके राज्यारोहण-समयकी १५५ वर्षसंख्यामें आगेके २५५ वर्ष जोड़देने से ४१० होजाते हैं, और यही वीरनिर्वाण से विक्रमका राज्यारोहणकाल है। परंतु महावीरकाल और विक्रम-कालमें ४७० वर्ष का प्रसिद्ध अन्तर माना जाता है और वह तभी बन सकता है जबकि इस राज्यारोहण-काल ४१० में राज्यकालके ६० वर्ष भी शामिल किये जावें। ऐसा किया जाने पर विक्रमसंवत् विक्रमकी मृत्युका संवत् होजाता है और फिर सारा ही झगड़ा मिट जाता है। वास्तव में, विक्रमसंवत्को विक्रमके राज्याभिषेकका संवत् मान लेनेकी ग़लतीसे यह सारी गड़बड़ फैली है। यदि वह मृत्युका संवत् माना जाता तो पालकके ६० वर्षों को भी इधर शामिल होनेका अवसर न मिलता और यदि कोई शामिल भी करलेता तो उसकी भूल शीघ्र ही पकड़ ली जाती। परन्तु राज्याभिषेकके संवत् की मान्यताने उस भूल को चिरकाल तक बना रहने दिया। उसीका यह नतीजा है जो बहुत से ग्रन्थोंमें राज्याभिषेक संवत्के रूपमें ही विक्रम संवत् का उल्लेख पाया जाता है और कालगणनामें कितनी ही गड़बड़ उपस्थित होगई है, जिसे अब अच्छे परिश्रम तथा प्रयत्नके साथ दूर करनेकी ज़रूरत है।

इसी ग़लती तथा गड़बड़को लेकर और शककाल-विषयक त्रिलोकासारादिकके वाक्यों का परिचय न पाकर श्रीयुत एम. वी. वेंकटेश्वरने, अपने महावीर-समय-सम्बन्धी—The date of Vardhamana नामक—लेख * में यह कल्पना की है कि महावीर-निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद जिस विक्रमकालका उल्लेख जैन ग्रन्थोंमें पाया जाता है वह प्रचलित सनन्द-विक्रम संवत् न होकर अनन्द विक्रम संवत् होना चाहिये, जिसका उपयोग १२वीं शताब्दीके प्रसिद्ध कवि चन्द-वरदाईने अपने काव्यमें किया है और जिसका प्रारंभ ईसवी सन ३३ के लग भग अथवा यों कहिये कि पहले (प्रचलित) विक्रम संवत्के ९० या ९१ वर्ष बाद हुआ है। और इस तरह पर यह सुझाया है कि प्रचलित वीर-निर्वाण संवत् मेंसे ९० वर्ष कम होने चाहियें—अर्थात् महावीरका निर्वाण ईसवी सन्से ५२७ वर्ष पहले न

* देखो, बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीके जरनलका सितम्बर सन् १९१५ का अङ्क तथा जैनसाहित्यसंशोधकके प्रथम खंडका ४ था अंक।

*यह लेख सन् १९१७ के 'जनरल आफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी' में पृ० १२२--३० पर, प्रकाशित हुआ है और इसका गुजराती अनुवाद जैनसाहित्यसंशोधकके द्वितीय खंडके दूसरे अङ्क में निकला है।

मानकर ४३७ वर्ष पहले मानना चाहिये, जो किसी तरह भी मान्य किये जानेके योग्य नहीं। आपने यह तो स्वीकार किया है कि प्रचलित विक्रमसंवत्‌की गणनानुसार वीरनिर्वाण ई० सन्‌से ५२७ वर्ष पहले ही बैठता है परंतु इसे महज़ इस बुनियाद पर असंभवित क़रार दे दिया है कि इससे महावीरका निर्वाण बुद्ध-निर्वाणसे पहले ठहरता है, जो आपको इष्ट नहीं। परंतु इस तरह पर उसे असंभवित क़रार नहीं दिया जासकता; क्योंकि बुद्धनिर्वाण ई० सन्‌से ५४४ वर्ष पहले भी माना जाता है, जिसका आपने कोई निराकरण नहीं किया। और इसलिये बुद्धका निर्वाण महावीरके निर्वाणसे पहले होने पर भी आपके इस कथनका मुख्य आधार आपकी यह मान्यता ही रह जाती है कि बुद्ध-निर्वाण ई० सनसे पूर्व ४८५ और ४५३ के मध्यवर्ती किसी समयमें हुआ है, जिसके समर्थनमें आपने कोई भी सबल प्रमाण उपस्थित नहीं किया और इस लिये वह मान्य किये जानेके योग्य नहीं। इसके सिवाय, अनंद-विक्रम संवत्‌की जिस कल्पनाको आपने अपनाया है वह कल्पना ही निर्मूल है—अनन्दविक्रम नामका कोई संवत् भी प्रचलित नहीं हुआ और न चन्दबरदाईके नाम से प्रसिद्ध होने वाले 'पृथ्वीराजरासे'में ही उसका उल्लेख है—और इस बातको जाननेके लिये रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझाका 'अनन्द विक्रमसंवत की कल्पना' नामका वह लेख पर्याप्त है जो नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके प्रथम भागमें, पृ० ३७७ से ४५४ तक मुद्रित हुआ है।

अब मैं एक बात यहाँ पर और भी बतला देना चाहता हूँ और वह यह कि बुद्धदेव भगवान् महावीरके समकालीन थे। कुछ विद्वानोंने बौद्धग्रन्थकी एक घटना को लेकर, जो बहुत कुछ अप्राकृतिक तथा द्वेष-मूलक जान पड़ती है और महावीर भगवानके साथ जिसका संबंध ठीक नहीं बैठता, यह प्रतिपादन किया है कि महावीरका निर्वाण बुद्धके निर्वाणसे पहले हुआ है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं जान पड़ती। 'भगवती सूत्र' आदि श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि महावीर-निर्वाणसे १६ वर्ष पहले गोशालक (मंखलि-पुत्त गोशाल) का स्वर्गवास हुआ, गोशालकके स्वर्गवास के अनन्तर निकट समयमें ही अजातशत्रुका राज्यारोहण हुआ, उसके राज्यके आठवें वर्षमें बुद्धका निर्वाण हुआ और बुद्धके निर्वाणसे आठ वर्ष बाद अथवा अजातशत्रु के राज्यके १६वें वर्षमें महावीरका निर्वाण हुआ। इस तरह बुद्धका निर्वाण पहले और महावीरका निर्वाण उसके बाद आठ वर्ष के भीतर पाया जाता है। इसके सिवाय, हेमचन्द्राचार्यने चंद्रगुप्तका राज्यारोहण-समय वीरनिर्वाण से १५५ वर्ष बाद बतलाया है और 'दीप-वंश' 'महावंश' नामके बौद्ध ग्रन्थोंमें वही समय बुद्ध निर्वाणसे १६२ वर्ष बाद बतलाया गया है। इससे भी प्रकृत विषयका समर्थन होता है और यह स्पष्ट जाना जाता है कि वीरनिर्वाणसे बुद्ध निर्वाण ७–८ वर्ष के क़रीब पहले हुआ है *।

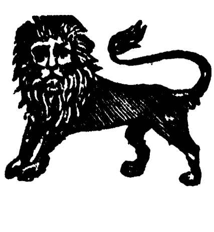
बुद्धनिर्वाणके समय-सम्बन्धमें भी विद्वानोंका मतभेद है और वह महावीर-निर्वाणके समयसे भी अधिक विवादग्रस्त चल रहा है। परंतु लंकामें जो बुद्ध-निर्वाण संवत् प्रचलित है वह सबसे अधिक मान्य किया जाता है। उसके अनुसार बुद्धनिर्वाण ई०सनसे ५४४ वर्ष पहले हुआ है। हो सकता है कि इसमें दश

* देखो, 'जैनयुग' अङ्क ८में श्रीहीरालाल अमृतलाल शाहका 'निर्वाणसमयनी चर्चा' नामक लेख, तथा जार्ल चार्पेटियरका वह प्रसिद्ध लेख जिसका अनुवाद जैनसाहित्यसंशोधकके द्वितीय खण्डके दूसरे अङ्क में प्रकाशित हुआ है और जिसमें बौद्धग्रन्थकी उस घटना पर खासी आपत्ति की गई है।

वर्ष की कोई भूल हो और बुद्धनिर्वाण ई०सन्से ५३४ वर्षके करीब पहले हुआ हो। ऐसा होनेपर वीरनिर्वाण के साथ उसका ८-७ वर्ष का अन्तर ठीक बैठ जाता है; क्योंकि वीरनिर्वाणका समय, विक्रम संवत्से ४७० वर्ष पहले होनेके कारण ईसवी सन् से ५२७ वर्ष पूर्व पाया जाता है। इस ५२७ में १८ वर्षकी वृद्धि कर देने से वह ५४५ वर्ष पूर्व होजाता है—अर्थात्, बुद्धनिर्वाण के उक्त लंकामान्य समयसे एक वर्ष पहले। अतः जिन विद्वानों ने महावीरके निर्वाणको बुद्धनिर्वाणसे पहले मान लेनेकी वजहसे प्रचलित वीरनिर्वाण संवत् में १८ वर्षकी वृद्धिका विधान किया है वहभी ठीक नहीं है। अस्तु।

यहाँ तकके इस संपूर्ण विवेचनपरसे यह बात भले प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि आज कल जो वीरनिर्वाण संवत् २४५६ प्रचलित और वर्तमान है वही ठीक है—उसमें न तो बैरिष्टर के.पी. जायसवाल जैसे विद्वानोंके कथनानुसार १८ वर्षकी वृद्धि की जानी चाहिए और न जार्ल चार्पेंटियर जैसे विद्वानोंकी धारणानुसार ६० वर्ष की अथवा एस.वी. वेंकटेश्वरकी सूचनानुसार ९० वर्ष की कमी ही की जानी उचित है। वह अपने स्वरूपमें यथार्थ है। और इस लिये उसके अनुसार महावीरको जन्म लिये हुए २५२६ वर्ष बीत चुके हैं और इस समय, गत चैत्र शुक्ला त्रयोदशी से, आपकी वर्षगाँठका २५२७वाँ वर्ष चल रहा है। इत्यलम्।

जुगलकिशोर मुख्तार



नीच और अछूत

(ले०—भगवन्त गणपति गोइलीय)

नालीके मैले पानीसे मैं बोला हहराय;
हौले बह रे नीच कहीं तू मुझपर उचट न जाय।
'भला महाशय!' कह पानीने भरी एक मुसकान;
बहता चला गया गानासा एक मनोहर गान॥ १

एक दिवस मैं गया नहाने किसी नदीके तीर
ज्यों ही जल अञ्जलिमें लेकर मलने लगा शरीर।
त्योंही जल बोला मैं ही हूँ उस नालीका नीर;
लज्जित हुआ, काठ मारासा मेरा सकल शरीर॥२

दँतुअन तोड़ी मुँहमें डाली वह बोली मुसुकाय;
आह महाशय! बड़ी हुई मैं नालीका जल पाय।
फिर क्यों मुझ अछूतको मुँहमें देते, हो महाराज!
सुनकर उसके बोल हुई हा! मुझको भारी लाज॥३

खानेको बैठा भोजनमें ज्योंही डाला हाथ;
त्योंही भोजन बोल उठा चट विकट हँसीके साथ।
नालीका जल हम सबने था किया एक दिन पान;
अतः नीच हम सभी हुए फिर क्यों खाते श्रीमान?४

एक दिवस नभमें अभ्रोंकी देखी खूब जमात;
जिसमें फड़क उठा हर्षित हो मेरा सारा गात।
मैं यों गाने लगा कि, आओ अहो! सुहृद् घनवृन्द,
बरसो, शस्य बढ़ाओ, जिससे हो हमको आनन्द॥५

वे बोले, हे बन्धु, सभी हम हैं अछूत औ नीच;
क्यों कि पनालीके जलकण भी हैं हम सबके बीच।
कहीं अछूतोंमें ही जाकर बरसेंगे जी खोल,
उनके शस्य बढ़ेंगे, होगा उनको हर्ष अतोल॥६

मैं बोला, मैं भूला था, तब नहीं मुझे था ज्ञान;
नीच ऊँच भाई भाई हैं भारतकी सन्तान।
होगा दोनों बिना न दोनोंका कुछ भी निस्तार;
अब न करूँगा उनसे कोई कभी बुरा व्यवहार॥७

वे बोले यह सुमति आपकी करे हिन्दका त्राण;
उनके हिन्दू रहनेमें है भारतका कल्याण।
उनका अब न निरादर करना, बनना भ्रात, उदार,
भेदभाव मत रखना उनसे करना मनसे प्यार॥ ८

अनेकान्तके इतिहास पर एक दृष्टि

[ले०—श्रीयुत बा० कामताप्रसादजी, सं० 'वीर']

लोकमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें एकसे अधिक गुण न हों। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि अनेक गुणोंके समुदायका नाम ही वस्तु है। और यह प्रकट सत्य है। इतना ही सत्य यहभी है कि कोई भी मनुष्य वस्तु के संपूर्ण गुणों को एक साथ नहीं कह सकता। इसी कारण भाषाविज्ञानमें 'सापेक्षवाद'को स्थान मिलना स्वाभाविक है। वास्तवमें, एक गुणको ही व्यक्त करके वस्तुकी पूर्ण परिभाषा हुई मान लेना और उसीका आग्रह करना सत्यसे दूर जा पड़ना है। यही एकान्तहै और इसका मोह धार्मिक संसारमें अपना महान् कटुफल दिखला चुका है। इसके विपरीत, वस्तुके अनेक गुणोंको ध्यानमें रखते हुए, एक समयमें एक अपेक्षाको लेकर किसी एक गुणका प्रतिपादन करना और उस दृष्टिसे उसे ठीक मानना सत्यका पा लेना है। इसीको विद्वान लोग 'अनेकान्त' के नामसे पुकारते हैं। अनेकान्त का महत्व एकान्तके अंधपक्षको नाश करके सत्यका निरूपण करने में है। धार्मिक सिद्धान्त हों और चाहे लौकिक अनेकान्तकी तुला में तोलने से उसका ठीक ठीक अन्दाजा होजाता है और आपसमें ग़लत फ़हमी तथा अप्रेम फैलनेका कोई अवसर ही शेष नहीं रहता। कोई कोई महाशय एकान्त को ग्रहण करके इस लोकके बिगाड़–बनाव की सारी जिम्मेवरी एक शुद्ध–बुद्ध निरंजन परमात्मा पर लाद कर छुट्टी पा लेते हैं और उसको बुरी निगाहसे देखते हैं जो ऐसे ईश्वरके अस्तित्वसे इनकार करता है। किन्तु एक अनेकान्तवादी इन दोनोंके विपरीत

प्रसिद्ध देशभक्त महात्मा भगवानदीनजीका शुभ सन्देश

"जैनधर्म की बुनियाद अनेकान्त पर है यह हम सबका दावा है। किन्तु हमारा व्यवहार हमारे इस दावेको झुठलाता है। जैनसमाजकी असहिष्णुता अत्यंत प्रगटहै, सहिष्णुता उसमें नामको नहीं। 'अनेकान्त' पत्रके निकलनेकी सार्थकता इसीमें है कि–वह न केवल जैनोंके भिन्न भिन्न दलोंको मिला दे, किन्तु जगतके सब धर्मोंको एक प्लेट फार्म पर ला दे; जिस जिस सचाई को लेकर जो जो धर्म खड़ा हुआ है उसके प्रकटीकरण में पूरा भाग ले; मनुष्यके अनुसार प्रचलित अनेकों रीतियोंकी जड़में कोनसा उत्तम सिद्धान्त निहित है, जनताके सामने उसे खोल कर रखदे; बड़े बड़े विद्वान् साधारण बातके विचार करनेमें कहाँ भूलकर जाते हैं, जिससे एक ही धर्ममें शाखामें शाखा पैदा होती चली जाती हैं, इस बातको बिलकुल साफ़ कर दे; विचार-स्वाधीनता आरम्भ कर दे और सहिष्णुताकी आदत डाल दे। तो, समझना चाहिये कि अनेकान्तने वह काम कर दिया जिसके लिये उसका जन्म हुआ था।"

—भगवानदीन

सत्यकी तहमें पहुँच जाता है—वह अपेक्षादृष्टिसे काम लेता है और जानता है कि मूलमें इस लोकके अभिनय का उत्तरदायित्व संसारी आत्मा पर ही है; किन्तु इतनेसे ही वह कर्तृत्ववादी पड़ोसीसे लड़ता नहीं। वह सोचता है कि आखिर यह ससारी आत्मा ही तो शुद्ध-बुद्ध निरंजन परमात्मा होता है, जो आज इस संसार रूपी खेलका कर्ता-हर्ता है। आज व्यवहारमें फँसकर वह इस सच्ची बातको भूलगया है—निश्चयको पहचान ले तो वह अपने सिद्धान्तको व्यक्त करनेकी (?) ग़लती को समझ ले। इसमें सन्देह नहीं कि अनेकान्त साम्प्रदायिकता तथा कट्टरता को नष्ट करनेमें महत्वका भाग लेने वाला है। लोग यदि बोलचालके इस विज्ञान को समझलें, तो उनमें अशान्तिको जन्म पाने के लिये शायद ही अवसर मिले।

अब बताइये इस वैज्ञानिक वार्ताका इतिहास क्या हो? यह तो प्राकृत नियम और निखिल सत्य है, जिसका न आदि है और न अन्त। किन्तु इतने पर भी विचार इस बातको माननेके लिये हमें बाध्य करता है कि इस प्राकृत नियमका प्रकृतिके अदृश्य अंचलसे निकालकर जनसमूहके समक्ष कभी न कभी किसी महापुरुष द्वारा सैद्धान्तिक रूपमें अवश्य विकाश हुआ होगा। इस विकाशक्रमको प्रकट कर देना ही अनेकान्त का इतिहास है।

भारतीय दर्शनोंमें केवल जैनदर्शन को ही यह विशेषता प्राप्त है कि उसमें अनेकान्त-सिद्धान्तका एक पूर्ण वैज्ञानिक विवेचन हुआ मिलता है। जैनशास्त्रोंका कथन है कि इस युगमें सर्वप्रथम भगवान ऋषभदेवने अनेकान्त धर्मका उपदेश दिया था। इन्हीं ऋषभदेवजी को हिन्दू पुराणोंमें आठवाँ अवतार बताया गया है। और चूंकि बारहवें वामन अवतारका उल्लेख वेदों में है, इसलिये श्रीऋषभदेवजी का समय वेदोंसे भी प्राचीन ठहरता है[१]। इस अपेक्षासे अनेकान्तका प्रथम प्रकाश वेदोंसे भी पहले एक अज्ञात कालमें हुआ कहा जा सकता है। किन्तु अधिकांश विद्वानोंका मत है कि अनेकान्त सिद्धान्तका प्रतिपादन सर्वप्रथम भगवान महावीरने ईस्वी सन्से पूर्व छठी शदाब्दीमें किया था। हम उनके इस कथनसे सहमत होने में असमर्थ हैं। उनका यह कथन जैन शास्त्रोंके विरुद्ध तो है ही, साथ ही ऐतिहासिक दृष्टिसे भी तथ्यहीन है। सच पूछिये तो इस मतकी पुष्टिमें कोई भी उपयुक्त प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत भगवान महावीर से पहले इस सिद्धान्तका प्रादुर्भाव हुआ प्रकट करनेवाले उल्लेख वैदिक एवं बौद्ध साहित्यमें भी मिलते हैं। पहले ही हिन्दुओंके 'महाभारत' में जो निम्न उल्लेख मिलता है, वह जैनोंके अनेकान्त अथवा स्याद्वाद सिद्धांत का द्योतक है:—[२]

'एतदेवं न चैवं च न चोभये नानुभे तथा।
कर्मस्था (?) विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥'

इसके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य पर दृष्टि दौड़ानेसे, उन छह मत प्रवर्तकोंके नाम सम्मुख आते हैं, जो म० बुद्धके पहलेसे विद्यमान थे[३]। इनमें संजय वैरत्थीपुत्र की जो शिक्षा बतलाई गई है, वह जैनोंके अनेकान्त अथवा स्याद्वाद सिद्धान्तका विकृत रूप है[४]। यह बात सर्व मान्य है कि भ० महावीरके पहलेसे जैनधर्म विद्यमान था। इस दशामें यह आवश्यक है कि भ०बुद्ध के समयके मतप्रवर्तकोंमें उस प्राचीन जैनधर्मके मुख्य

१. भगवान महावीर, पृ०१५...
२. शांतिपर्व—मोक्षधर्म, अ० २७८ श्लोक ६
३. दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त-
४. सामञ्ञफलसुत्त—Dial: of Buddha (S.B.B.II)

आचार्यका भी उल्लेख मिले। संजय वैरत्थीपुत्र सचमुच उस ही प्राचीन जैनधर्मके उपासक थे। पहली बात तो यह है कि बौद्ध शास्त्रोंमें इन संजयके शिष्य मौद्गलायन और सारीपुत्त लिखे हैं । ये दोनों महानुभाव बादको बौद्ध धर्ममें दीक्षित हो गये थे । परंतु इसके बाद संजयका क्या हुआ ? यह बौद्ध शास्त्रोंसे कुछ प्रकट नहीं होता। इधर जैनोंकी 'धर्मपरीक्षा' (अ०१८ श्लो०६८–६९) से प्रकट है कि मौद्गलायन जैन मुनि था, जो मुनि पदसे भ्रष्ट होकर बौद्ध होगया था। यह मौद्गलायन बौद्ध शास्त्रोंके मौद्गलायनके अतिरिक्त अन्य कोई प्रकट नहीं होता; क्योंकि जैनशास्त्रमें भी इसको बौद्धशास्त्रकी तरह बौद्धमतका एक खास प्रवर्तक लिखा है [२]। इस अवस्थामें मौद्गलायनके गुरु संजयका जैन मुनि होना उचित ही है। जैनों के 'महावीरचरित्'में एक संजय नामक जैनमुनिका उल्लेख भी है, जिसको कुछ शङ्काएँ थीं और जो भ० महावीरके दर्शनसे दूर हो गई थीं। बौद्धशास्त्रमें संजय की जो शिक्षाएँ दी हैं वे स्याद्वाद सिद्धान्तसे मिलती जुलती हैं। जान पड़ता है, इस सिद्धान्तको संजयने तेईसवें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथजी की शिष्य-परंपराके किसी आचार्यसे सीखा था; किन्तु ठीक तौर से न समझ सकने के कारण वह उसका विकृत रूपमें प्रतिपादन करता रहा। उसकी इस शङ्काका समाधान भी भ० महावीरके निकटसे हो गया था। इस दशामें बौद्ध शास्त्रोंमें उनका पीछे का कुछ हाल न मिलना प्रकृत सङ्गत है—तब वह फिरसे जैन मुनि होगया था। संजयकी शिक्षाका सादृश्य यूनानी तत्ववेत्ता पैरहो (Pyrrho) के सिद्धान्तों से है; जिसने जैन मुनियों (Gymnosophists) के निकटसे शिक्षा ग्रहण की थी [१]। अतः संजयको जैनमुनि मानना अनुचित नहीं है। और जब संजयका जैनमुनि होना स्पष्ट है तब अनेकान्त अथवा स्याद्वाद सिद्धान्तका भ० महावीरसे पहले प्रादुर्भाव होना स्वतः सिद्ध है।

इस प्रकार अनेकांत सिद्धान्तका प्रकाश भ० महावीरसे बहुत पहले जैनों द्वारा हुआ था और बादको श्रीसमन्तभद्र आदि मुख्य मुख्य जैनाचार्योंने उसका पूर्ण प्रकाश चहुँओर फैला दिया था। किन्तु हतभाग्य से मध्यकालके पश्चात् जैनोंके निकटसे इस सिद्धान्त का प्रकाश छुपने लगा और इसका दुःखद परिणाम वही हुआ जो होना था। जैनोंमेंसे वस्तुके सर्वगुणोंपर समुचित विचार करनेकी शक्ति जाती रही, वे एकांतमें जा पड़े और आपसमें ही लड़-झगड़ कर दुनियाँ की नजरमें अपना मूल्य खो बैठे ! किन्तु ये भी दिन सदा नहीं रह सकते थे—फलतः आज हम जैनोंमें 'अनेकांत' का अरुण प्रकाश फिरसे देख रहे हैं—हमारा हृदय इस ऊषावेलामें आशाकी मधुर समीरके झोकों से उल्लसित हो रहा है और यह भास रहा है कि 'अनेकांतका प्रदीप्त प्रकाश और जैनोंका अभ्युदय अब दूर नहीं है।' आओ, पाठको, इसका स्वागत करें और अनेकांत रसको पी-पिला कर समाजको स्वस्थ बनाएँ।

अनेकान्त

'अनेकान्त' गुण दोष वस्तु के दिखलाता है !
'अनेकान्त' सत्यार्थ रूप सन्मुख लाता है !
'अनेकान्त' सिद्धान्त बिम्बवत् दर्शाता है !
'अनेकान्त' जिन वैन सुधारस वर्षाता है !

× × ×

'एक पक्ष एकान्तमय' दोषपूर्ण होता सदा !
'अनेकान्त' निर्दोष नय जय पाता है सर्वदा !

—कल्याणकुमार जैन, "शशि"

---

१ महावग्ग १।२३-२४
२. भगवान् पार्श्वनाथ पृ० ३३०-३३२

१ हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स पृ० ४५

❀ धनिक-सम्बोधन ❀

(१)

भारतके धनिको ! किस धुनमें
पड़े हुए हो तुम बेकार ?
अपने हित की खबर नहीं,
या नहीं समझते जग-व्यवहार ?
अन्धकार कितना स्वदेशमें
छाया देखो आँख उघार,
बिलबिलाट करते हैं कितने
सहते निशदिन कष्ट अपार ?

(२)

कितने वस्त्रहीन फिरते हैं,
क्षुत्पीड़ित हैं कितने हाय !
धर्म-कर्म सब बेच दिया है
कितनों ने होकर असहाय !!
जो भारत था गुरु देशों का,
महामान्य, सत्कर्म-प्रधान,
गौरवहीन हुआ वह, बनकर
पराधीन, सहता अपमान।

(३)

क्या यह दशा देख भारत की,
तुम्हें न आता सोच विचार ?
देखा करो इसी विध क्या तुम
पड़े पड़े दुख-पारावार !
धनिक हुए जिसके धनसे क्या
योग्य न पूछो उसकी बात !
गोद पले जिसकी क्या उस पर
देखोगे होते उत्पात !!

(४)

भारतवर्ष तुम्हारा, तुम हो
भारत के सत्पुत्र उदार,
फिर क्यों देश-विपत्ति न हरते
करते इसका बेड़ा पार ?
पश्चिम के धनिकोंको देखो
करते हैं वे क्या दिन रात,
और करो जापान देशके
धनिकोंपर कुछ दृष्टि-निपात ।।

(५)

लेकर उनसे सबक स्वधनका
करो देश-उन्नति-हित त्याग,
दो प्रोत्साहन उन्हें जिन्हें है
देशोन्नतिसे कुछ अनुराग ।
शिल्पकला-विज्ञान सीखने
युवकोंको भेजो परदेश,
कला-सुशिक्षालय खुलवाकर,
मेटो सब जनताके क्लेश ।।

(६)

कार्यकुशल विद्वानोंसे रख
प्रेम, समझ उनका व्यवहार,
उनके द्वारा करो देशमें
बहु-उपयोगी कार्य-प्रसार ।
भारत-हित संस्थाएँ खोलो
ग्राम-ग्राममें कर सुविचार,
करो सुलभ साधन वे जिनसे
उन्नत हो अपना व्यापार ।।

(७)

चक्करमें विलासप्रियताके
फँस मत भूलो अपना देश,
प्रचुर विदेशी व्यवहारोंसे
करो न अपना देश विदेश ।
लोक दिखावेके कामोंमें
होने दो नहिं शक्ति-विनाश,
व्यर्थ व्ययोंको छोड़, लगो तुम
भारतका करने सुविकाश ।।

(८)

वैर-विरोध, पक्षपातादिक,
ईर्षा, घृणा सकल दुष्कार
रह न सकें भारतमें ऐसा
यत्न करो तुम बन समुदार ।
शिक्षाका विस्तार करो यों
रहे न अनपढ़ कोई शेष,
सब पढ़ लिखकर चतुर बनें औ'
समझें हित-अनहित सविशेष ।।

(९)

करें देश उत्थान सभी मिल,
फिर स्वराज्य मिलना क्या दूर ?
पैदा हों 'युगवीर' देशमें,
तब क्यों रहे दशा दुख-पूर ?
प्रबल उठे उन्नति-तरंग तब,
देखें सब भारत-उत्कर्ष,
धुल जावे सब दोष-कालिमा
सुख-पूर्वक दिन कटें सहर्ष ।।

—'युगवीर'

अनेकान्तवादकी मर्यादा

[लेखक—श्रीमान् पं० सुखलालजी]

इस लेखके लेखक पं० सुखलालजी श्वेताम्बर जैनसमाजके एक प्रसिद्ध बहुश्रुत विद्वान हैं। आपने दर्शन शास्त्रों तथा जैनसिद्धान्तोंका अच्छा अभ्यास किया है और कितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। गत वर्ष कुछ मासके लिये मुझे आपके सत्संगमें रहनेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आप साम्प्रदायिक कट्टरता से रहित बड़े ही मिलनसार तथा उदारहृदय सज्जन हैं और ब्रह्मचर्यके साथ सादा जीवन व्यतीत करते हैं। न्याय तथा व्याकरणकी अनेक ऊँची उपाधियोंसे विभूषित होने पर भी आप कभी अपने नामके साथ उनका उपयोग नहीं करते। कई वर्षसे महात्मा गांधीजीके गुजरात-पुरातत्व-मंदिरमें आप एक ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित हैं और 'सम्मतितर्क' जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथका बड़ी योग्यताके साथ संपादन कर रहे हैं। यह मार्मिक लेख आपने मेरी प्रार्थनाको मान देते हुए लिख भेजा है, जिसके लिये मैं आपका विशेष आभारी हूँ। लेख कितना गवेषणापूर्ण है उसे यहाँ न बतलाकर पाठकों के विचार पर ही छोड़ा जाता है। आशा है पाठक इसे ग़ौरसे पढ़नेकी कृपा करेंगे।

—सम्पादक

जैनधर्मका मूल

कोई भी विशिष्ट दर्शन हो या धर्मपन्थ हो उसकी आधारभूत उसके मूल प्रवर्तक पुरुषकी एक खास दृष्टि होती है। जैसे शंकराचार्यकी अपने मतनिरूपणमें 'अद्वैत-दृष्टि' और भगवान बुद्धकी अपने धर्म पन्थ-प्रवर्तनमें 'मध्यम-प्रतिपदा—मार्ग-दृष्टि' खास दृष्टि है। जैन-दर्शन भारतीय दर्शनों में एक विशिष्ट दर्शन है और साथ ही एक विशिष्ट धर्म-पन्थ भी है इसलिये उसके प्रवर्तक और प्रचारक मुख्य पुरुषोंकी एक खास दृष्टि उसके मूलमें होनी चाहिये और वह है भी। वही दृष्टि 'अनेकांतवाद' कहलाती है। तात्त्विक जैन-विचारणा अथवा आचार व्यवहार कुछ भी हो वह सब अनेकान्तदृष्टि के आधार पर किया जाता है और उसीके आधार पर सारी विचार धारा चलती है। अथवा यों कहिये कि अनेक प्रकारके विचारों तथा आचारोंमेंसे जैन विचार और जैनाचार क्या हैं? कैसे हो सकते हैं? इसे निश्चित करने या कसनेकी एक मात्र कसोटी अनेकांतदृष्टि है।

अनेकान्तका विकास और उसका श्रेय

जैनदर्शनका आधुनिक मूल रूप भगवान महावीरकी तपस्याका फल है। इसलिये सामान्य रूपसे यही समझा जा सकता है कि जैन-दर्शनकी आधारभूत अनेकान्तदृष्टि भी भ० महावीरके द्वारा ही पहले पहल स्थिर की गई या उद्भावित की गई होगी। परन्तु विचारके विकास-क्रमका और पुरातन इतिहासका चिंतन करनेसे साफ़ मालूम पड़जाता है कि अनेकांतदृष्टिका मूल भगवान महावीरसे भी पुराना है। यह ठीक है कि जैनसाहित्यमें अनेकांतदृष्टिका जो स्वरूप आजकल व्यवस्थित रूपसे और विकसित रूपसे मिलता है वह स्वरूप भ० महावीरके पूर्ववर्ती किसी जैन या जैनेतर

साहित्यमें नहीं पाया जाता । तो भी भ० महावीर के पूर्ववर्ती वैदिक साहित्यमें और उनके समकालीन बौद्ध साहित्यमें अनेकांतदृष्टि-गर्भित बिखरे हुए विचार थोड़े बहुत मिल ही जाते हैं । इसके सिवाय, भ० महावीरके पूर्ववर्ती भ० पार्श्वनाथ हुए हैं जिनका विचार, यद्यपि, आज उन्हींके शब्दोंमें—असल रूपमें—नहीं पाया जाता फिर भी उन्होंने अनेकांत-दृष्टिका स्वरूप स्थिर करनेमें अथवा उसके विकासमें कुछ न कुछ भाग जरूर लिया है, ऐसा पाया जाता है । यह सब होते हुए भी उपलब्ध साहित्यका इतिहास स्पष्ट रूपसे यही कहता है कि २५०० वर्षके भारतीय साहित्यमें जो अनेकांतदृष्टिका थोड़ा बहुत असर है या खास तौरसे जैन वाङ्मयमें अनेकांत-दृष्टिका उत्थान होकर क्रमशः विकास होता गया है और जिसे दूसरे समकालीन दार्शनिक विद्वानोंने अपने अपने ग्रंथोंमें किसी न किसी रूपमें अपनाया है उसका मुख्य श्रेय तो भ० महावीरको ही है । क्योंकि हम आज देखते हैं तो उपलब्ध जैन प्राचीनतम ग्रंथोंमें अनेकांतदृष्टिकी विचारधारा जिस स्पष्ट रूपमें पाते हैं उस स्पष्ट रूपमें उसे और किसी प्राचीन ग्रंथमेंसे नहीं पाते ।

नालंदाके प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठका आचार्य शांत-रक्षित अपने 'तत्त्वसंग्रह' ग्रंथमें अनेकांतवादका परीक्षण करते हुए कहता है कि 'विप्र-मीमांसक, निर्ग्रंथ-जैन और कापिल-सांख्य इन तीनोंका अनेकांत-वाद समान रूपसे खंडित हो जाता है' । इस कथनसे यह पाया जाता है कि सातवीं आठवीं सदीके बौद्ध आदि विद्वान अनेकांतवादको केवल जैनदर्शनका ही वाद न समझते थे किन्तु यह मानते थे कि मीमांसक, जैन और सांख्य तीनों दर्शनोंमें अनेकांतवादका आश्रयण है, और ऐसा मान कर ही वे अनेकांतवाद का खंडन करते थे । हम जब मीमांसक दर्शनके श्लोक-वार्तिक आदि और सांख्य-योगदर्शनके परिणाम-वादस्थापक प्राचीन ग्रन्थ देखते हैं तो निःसंदेह यह जान पड़ता है कि उन ग्रन्थोंमें भी जैन ग्रन्थोंकी तरह, अनेकांतदृष्टि-मूलक विचारणा है । अतएव शांत-रक्षित जैसे विविध दर्शनाभ्यासी विद्वानके इस कथनमें हमें तनिक भी संदेह नहीं रहता कि मीमांसक, जैन और कापिल तीनों दर्शनोंमें अनेकांतवादका अवलम्बन है । परन्तु शांतरक्षितके कथनको मानकर और मीमांसक तथा सांख्य-योगदर्शनके ग्रन्थोंको देखकर भी एक बात तो कहनी ही पड़ती है और वह यह कि यद्यपि अनेकांतदृष्टि मीमांसक और सांख्य-योगदर्शन में भी है तथापि वह जैनदर्शनके ग्रन्थोंकी तरह अति स्पष्ट रूपमें और अति व्यापक रूपमें उन दर्शनोंके ग्रंथों में नहीं पाई जाती । जैन विचारकोंने जितना जोर और जितना पुरुषार्थ अनेकांतदृष्टिके निरूपणमें लगाया है । उसका शतांश भी जैनेतर किसी भी दर्शनके विद्वानोंने नहीं लगाया है । यही कारण है कि आज जब 'अनेकांतवाद' या 'स्याद्वाद' शब्दका उच्चारण कोई करता है तब सुनने वाला विद्वान उससे सहसा जैन-दर्शनका ही भाव ग्रहण करता है । आजकलके बड़े बड़े विद्वान तक बहुधा यही समझते हैं कि 'स्याद्वाद' यह तो जैनोंका ही एक वाद है । इस समझका कारण यह है कि जैनविद्वानोंने स्याद्वादके निरूपण और समर्थनमें बहुत बड़े बड़े ग्रंथ लिख डाले हैं, अनेक युक्तियोंका आविर्भाव किया है और अनेकान्तवादके शस्त्रके बलसे ही उन्होंने दूसरे दार्शनिक विद्वानोंके साथ कुश्ती की है ।

इस चर्चासे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि भगवान महावीरने अपने उपदेशमें अनेकान्तवादका जैसा स्पष्ट आश्रय लिया है वैसा उनके समकालीन और पूर्ववर्ती दर्शनप्रवर्तकों में से किसीने भी नहीं लिया है । दूसरी बात यह कि, भ० महावीरके अनुयायी जैन आचार्योंने अनेकान्तदृष्टिका निरूपण और समर्थन करनेमें जितनी शक्ति लगाई है उतनी और किसी भी दर्शनके अनुगामी आचार्योंने नहीं लगाई है।

अनेकान्तदृष्टिके मूल तत्त्व

जब सारे जैन विचार और आचारकी नींव अनेकान्तदृष्टि ही है तब यह पहले देखना चाहिये कि अनेकान्तदृष्टि किन तत्त्वोंके आधार पर खड़ी की गई

है ? विचार करनेसे और अनेकान्तदृष्टिके साहित्यका अवलोकन करनेसे मालूम होता है कि अनेकान्तदृष्टि सत्य पर खड़ी है। यद्यपि, सभी महान् पुरुष सत्यको पसन्द करते हैं और सत्यकी ही खोज तथा सत्यके ही निरूपणमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं। तथापि सत्यनिरूपणकी पद्धति और सत्यकी खोज सबकी एकसी नहीं होती। बुद्धदेव जिस शैलीसे सत्यका निरूपण करते हैं या शंकराचार्य उपनिषदोंके आधार पर जिस ढंगसे सत्यका प्रकाशन करते हैं उससे भ० महावीरके सत्य-प्रकाशन की शैली जुदा है। भ० महावीरकी सत्य-प्रकाशनकी शैलीका ही दूसरा नाम 'अनेकान्तवाद' है। उसके मूल्यमें दो तत्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और जो पूर्ण हो कर भी यथार्थ रूपसे प्रतीत होता है वही सत्य कहलाता है।

अनेकान्तकी खोजका उद्देश और उसके प्रकाशनकी शर्तें

वस्तुका पूर्णरूपमें त्रिकालाबाधित-यथार्थ दर्शन होना कठिन है, किसीको वह हो भी जाय तथापि उसका उसी रूपमें शब्दोंके द्वारा ठीक ठीक कथन करना उस सत्य द्रष्टा और सत्यवादीके लिये भी बड़ा कठिन है। कोई उस कठिन कामको किसी अंशमें करनेवाले निकल भी आएँ तो भी देश, काल, परिस्थिति, भाषा और शैली आदिके अनिवार्य भेदके कारण उन सबके कथनमें कुछ न कुछ विरोध या भेदका दिखाई देना अनिवार्य है। यह तो हुई उन पूर्णदर्शी और सत्यवादी इनेगिने मनुष्योंकी बात, जिन्हें हम सिर्फ कल्पना या अनुमानसे समझ सकते और मान सकते हैं—साक्षात् अनुभवसे नहीं। हमारा अनुभव तो साधारण मनुष्यों तक परिमित है और वह कहता है कि साधारण मनुष्योंमें भी बहुतसे यथार्थवादी होकर भी अपूर्णदर्शी होते हैं। ऐसी स्थितिमें यथार्थवादिता होने पर भी अपूर्ण दर्शनके कारण और उसे प्रकाशित करनेकी अपूर्ण सामग्रीके कारण सत्यप्रिय मनुष्योंकी भी समझमें कभी कभी फेर आजाता है और संस्कारभेद उनमें और भी पारस्परिक टक्कर पैदा कर देता है। इस तरह पूर्णदर्शी और अपूर्णदर्शी सभी सत्यवादियोंके द्वारा अन्तमें भेद और विरोधकी ही सामग्री आप ही आप प्रस्तुत हो जाती है या दूसरे लोक उनसे ऐसी सामग्री पैदा कर लेते हैं।

ऐसी वस्तुस्थिति देखकर भ० महावीरने सोचा कि ऐसा कौन सा रास्ता निकाला जाय जिससे वस्तुका पूर्ण या अपूर्ण सत्यदर्शन करने वालेके साथ अन्याय न हो। अपूर्ण और अपनेसे विरोधी होकर भी यदि दूसरेका दर्शन सत्य है इसी तरह अपूर्ण और दूसरेसे विरोधी होकर भी यदि अपना दर्शन सत्य है तो दोनोंको ही न्याय मिले, इसका भी क्या उपाय है ? इस चिंतनप्रधान तपस्याने भगवानको अनेकान्तदृष्टि सुझाई, उनका सत्यशोधनका संकल्प सिद्ध हुआ, उन्होंने उस मिली हुई अनेकांतदृष्टिकी चाबीसे वैयक्तिक और सामष्टिक जीवनकी व्यावहारिक और पारमार्थिक समस्याओंके ताले खोल दिये और समाधान प्राप्त किया। तब उन्होंने जीवनोपयोगी विचार और आचारका निर्माण करते समय उस अनेकान्तदृष्टिको निम्नलिखित मुख्य शर्तों पर प्रकाशित किया और उसके अनुसरणका अपने जीवनद्वारा उन्हीं शर्तों पर उपदेश दिया। वे शर्तें इस प्रकार हैं :—

१ राग और द्वेषजन्य संस्कारोंके वशीभूत न होना—अर्थात् तेजस्वी मध्यस्थभाव रखना।

२ जब तक मध्यस्थभावका पूर्ण विकास न हो तब तक उस लक्ष्यकी ओर ध्यान रख कर केवल सत्य-की जिज्ञासा रखना।

३ कैसे भी विरोधी भासमान पक्षसे न घबराना और अपने पक्षकी तरह उस पक्ष पर भी आदरपूर्वक विचार करना तथा अपने पक्ष पर भी विरोधी पक्षकी तरह तीव्र समालोचक दृष्टि रखना।

४ अपने तथा दूसरोंके अनुभवोंमेंसे जो जो अंश ठीक जँचें—चाहे वे विरोधी ही क्यों न प्रतीत हों—उन सबका विवेकप्रज्ञासे समन्वय करनेकी उदारताका अभ्यास करना और अनुभव बढ़ने पर पूर्वके समन्वयमें जहाँ गलती मालूम हो वहीं मिथ्याभिमान छोड़ कर सुधार करना और इसी क्रमसे आगे बढ़ना।

अनेकान्त-साहित्यका विकास

भगवान महावीरने अनेकान्त दृष्टिको पहले अपने जीवनमें उतारा था और इसके बाद ही दूसरोंको उसका उपदेश दिया था। इसलिये अनेकान्तदृष्टिकी स्थापना और प्रचारके निमित्त उनके पास काफ़ी अनुभवबल और तपोबल था। अतएव उनके मूल उपदेशमेंसे जो कुछ प्राचीन अवशेष आजकल पाये जाते हैं उन आगम-ग्रंथोंमें हम अनेकान्त दृष्टिको स्पष्ट रूपसे पाते हैं सही, पर उसमें तर्कवाद या खंडनमंडनका वह जटिल जाल नहीं पाते जो कि पिछले साहित्यमें देख पड़ता है। हमें उन आगमग्रन्थोंमें अनेकान्तदृष्टिका सरल स्वरूप और संक्षिप्त विभाग ही नज़र पड़ता है। परन्तु भगवान के बाद जब उनकी दृष्टि पर संप्रदाय क़ायम हुआ और उसका अनुगामी समाज स्थिर हुआ तथा बढ़ने लगा, तब चारों ओरसे अनेकान्तदृष्टि पर हमले होने लगे। महावीरके अनुगामी आचार्योंमें, त्याग और प्रज्ञा होने परभी, महावीर जैसा स्पष्ट जीवनका अनुभव और तप न था। इसलिए उन्होंने उन हमलोंसे बचनेके लिए नैयायिक गौतम और वात्स्यायनके कथनकी तरह वाद-कथाके उपरान्त जल्प और कहीं कहीं वितण्डाका भी आश्रय लिया है। अनेकान्तदृष्टिका जो तत्त्व उनको विरासतमें मिला था उसके संरक्षणके लिये उन्होंने जैसे बन पड़ा वैसे कभी वाद किया, कभी जल्प और कभी वितण्डा। परन्तु इसके साथही साथ उन्होंने अनेकान्तदृष्टिको निर्दोष स्थापित करके उसका विद्वानोंमें प्रचार भी करना चाहा और इस चाहजनित प्रयत्नसे उन्होंने अनेकान्तदृष्टिके अनेक मर्मोंको प्रकट किया और उनकी उपयोगिता स्थापित की। इस खंडन-मंडन, स्थापन और प्रचारके करीब दो हज़ार वर्षोंमें महावीरके शिष्योंने सिर्फ़ अनेकान्तदृष्टि-विषयक इतना बड़ा ग्रन्थसमूह बना डाला है कि उसका एक खासा पुस्तकालय बन सकता है। पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर हिन्दुस्थानके सब भागोंमें सब समयों पर उत्पन्न होनेवाले अनेक छोटे बड़े और प्रचंड आचार्योंने अनेक भाषाओंमें केवल अनेकान्तदृष्टि तथा उसमेंसे फलित होनेवाले वादों पर दंडकारण्यसे भी कहीं विस्तृत सूक्ष्म और जटिल चर्चा की है। शुरूमें जो साहित्य अनेकान्तदृष्टिके अवलंबनसे निर्मित हुआ था उसके स्थान पर पिछला साहित्य, खास कर तार्किक साहित्य, मुख्यतया अनेकान्तदृष्टिका निरूपण तथा उसके ऊपर अन्य वादियोंके द्वारा किये गये आक्षेपोंका निराकरण करनेके लिये रचा गया। इस तरह संप्रदायकी रक्षा और प्रचारकी भावनामेंसे जो केवल अनेकांत-विषयक साहित्यका विकास हुआ है उसका वर्णन करनेके लिये एक खासी जुदी पुस्तिकाकी जरूरत है, तथापि इतना तो यहाँ निर्देश कर देना ही चाहिए कि समन्तभद्र और सिद्धसेन, हरिभद्र और अकलंक विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र, अभयदेव और वादिदेवसूरि, तथा हेमचंद्र और यशोविजयजी जैसे प्रकाण्ड विचारकोंने जो जो अनेकांतदृष्टिके बारेमें लिखा है वह भारतीय दर्शनसाहित्यमें बड़ा महत्व रखता है और विचारकों को उनके ग्रंथोंमेंसे मनन करने योग्य बहुत कुछ सामग्री मिल सकती है।

फलित वाद

अनेकान्तदृष्टि तो एक मूल है उसके ऊपरसे और उसके आश्रय पर विविध वादों तथा चर्चाओंका शाखा-प्रशाखाओंकी तरह बहुत बड़ा विस्तार हुआ है। उसमें से मुख्य दो वाद यहाँ नोट किये जानेके योग्य हैं— एक 'नयवाद' और दूसरा 'सप्तभंगीवाद'। अनेकान्तदृष्टिका आविर्भाव आध्यात्मिक साधना और दार्शनिक प्रदेशमें हुआ, इसलिए उसका उपयोग भी पहले पहल वहीं होना अनिवार्य था। भगवानके इर्दगिर्द और उनके अनुयायी आचार्योंके समीप जोजो विचार-धाराएँ चल रही थीं उनका समन्वय करना अनेकान्तदृष्टिके लिए लाज़िमी था। इसी प्राप्त कार्यमें से 'नयवाद' की सृष्टि हुई। यद्यपि किसी किसी नयके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उदाहरणोंमें भारतीय दर्शनके विकासके अनुसार विकास होता गया है तथापि दर्शन-प्रदेशमें से उत्पन्न होनेवाले नयवादकी उदाहरणमाला आज तक दार्शनिक ही रही है। प्रत्येक नयकी व्याख्या और चर्चाका विकास हुआ है पर उसकी उदाहरणमाला तो दार्शनिक क्षेत्रके बाहर आई ही

नहीं है। यही एक बात यह समझनेके लिये पर्याप्त है कि सब क्षेत्रोंको व्याप्त करनेकी ताक़त रखनेवाले अनेकान्तका प्रथम आविर्भाव किस क्षेत्रमें हुआ और हजारों वर्षोंके बाद तक उसकी चर्चा किस क्षेत्र तक परिमित रही ?

भारतीय दर्शनोंमें, जैनदर्शनके अतिरिक्त, उस समय जो दर्शन अतिप्रसिद्ध थे और पीछेसे भी जो अतिप्रसिद्ध हुए उनमें वैशेषिक, न्याय, सांख्य, औपनिषद्-वेदान्त, बौद्ध और शाब्दिक ये ही दर्शन मुख्य हैं। न प्रसिद्ध दर्शनोंको पूर्ण सत्य माननेमें तात्त्विक और व्यावहारिक दोनों आपत्तियाँ थीं। उन्हें बिलकुल असत्य कह देनेमें सत्यका घात था और उनके बीचमें रह कर उन्हींमें से सत्यगवेषणका मार्ग सरलरूपमें लोगोंके सामने प्रदर्शित करना था। इसलिए हम उपलब्ध समग्र जैन वाङ्मयमें नयवादके भेद प्रभेद और उनके उदाहरण उक्त दर्शनोंके रूपमें तथा उनकी विकसित शाखाओंके रूपमें ही पाते हैं। विचारकी जितनी पद्धतियाँ उस समय मौजूद थीं उनका समन्वय करने का आदेश अनेकान्तदृष्टिने किया और उसमेंसे नयवाद फलित हुआ जिससे कि दार्शनिक मारामारी कम हो; पर दूसरी तरफ़ एक एक वाक्य पर अधैर्य और नासमझीके कारण पंडितगण लड़ा करते थे। एक पंडित आत्मा या किसी दूसरी चीज़को नित्य कहता तो दूसरा उसके सामने खड़ा होकर यह कहता कि वह तो अनित्य है—नित्य नहीं। इसी तरह फिर पहला पंडित दूसरेके विरुद्ध बोल उठता था। सिर्फ़ नित्यत्वके विषयमें ही नहीं किन्तु प्रत्येक अंशमें यह झगड़ा जहाँ तहाँ वादविवादमें होता ही रहता था। यह स्थिति देख कर अनेकान्तदृष्टिवाले तत्कालीन आचार्योंने उस झगड़ेका अन्त अनेकान्तदृष्टिके द्वारा करना चाहा और उस प्रयत्नके परिणामस्वरूप 'सप्तभंगीवाद' फलित हुआ। अनेकान्तदृष्टिके प्रथम फलस्वरूप नयवादमें दर्शनोंको स्थान मिला है और दूसरे फलस्वरूप सप्तभंगीवादमें किसी एक ही वस्तुके विषयमें प्रचलित विरोधी कथनोंको या विचारोंको स्थान मिला है। पहले वादमें समूचे सब दर्शन संगृहीत हैं और दूसरेमें दर्शन के विशकलित मंतव्योंका समन्वय है। प्रत्येक फलित वादकी सूक्ष्म चर्चा और उसके इतिहासके लिये यहाँ स्थान नहीं है और न उतना अवकाश ही है तथापि इतना कह देना जरूरी है कि अनेकान्तदृष्टि ही महावीरकी मूल दृष्टि है और वही स्वतन्त्रदृष्टि है—नयवाद तथा सप्तभंगीवाद आदि उस दृष्टिके ऐतिहासिक परिस्थिति-अनुसारी प्रासंगिक फलमात्र हैं। अतएव नय तथा सप्तभंगी आदि वादोंका स्वरूप तथा उनके उदाहरण बदले भी जा सकते हैं पर अनेकान्तदृष्टिका स्वरूप तो एक ही प्रकारका रह सकता है—चाहे उस के उदाहरण बदल जायँ।

अनेकान्तदृष्टिका असर

जब दूसरे विद्वानोंने अनेकान्तदृष्टिको तत्त्वरूपमें ग्रहण करनेकी जगह सांप्रदायिक वादरूपमें ग्रहण किया तब उसके ऊपर चारों ओरसे आक्षेपोंके प्रहार होने लगे। बादरायण जैसे सूत्रकारोंने उसके खंडनके लिये सूत्र रच डाले और उन सूत्रोंके भाष्यकारोंने उसी विषयमें अपने भाष्योंकी रचनाएँ कीं। वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति और शांतरक्षित जैसे बड़े बड़े प्रभावशाली बौद्ध विद्वानोंने भी अनेकान्तवादकी पूरी खबर ली। इधरसे जैन विचारक विद्वानोंने भी उनका सामना किया। इस प्रचंड संघर्षका अनिवार्य परिणाम यह आया कि एक ओरसे अनेकान्तदृष्टिका तर्कबद्ध विकास हुआ और दूसरी ओरसे उसका प्रभाव दूसरे विरोधी सांप्रदायिक विद्वानों पर भी पड़ा। दक्षिण हिन्दुस्तानमें प्रचंड दिगम्बराचार्यों और प्रकाण्ड मीमांसक तथा वेदान्त विद्वानोंके बीच जो शास्त्रार्थकी कुश्ती हुई उससे अंतमें अनेकान्तदृष्टिका ही असर अधिक फैला। यहाँ तक कि रामानुज जैसे बिलकुल जैनत्वविरोधी प्रखर आचार्यने शंकराचार्यके मायावादके विरुद्ध अपना मत स्थापित करते समय आश्रय तो सामान्य उपनिषदोंका लिया पर उनमेंसे विशिष्टाद्वैतका निरूपण करते समय अनेकान्तदृष्टिका उपयोग किया; अथवा यों कहिये कि रामानुजने अपने ढंगसे अनेकान्तदृष्टिको विशिष्टाद्वैतकी घटनामें परिणत

किया और औपनिषद तत्त्वोंका जामा पहनाकर अनेकान्तदृष्टिमेंसे विशिष्टाद्वैतवाद खड़ा करके अनेकान्त-दृष्टिकी ओर आकर्षित जनताको वेदान्तमार्ग पर स्थिर रक्खा। पुष्टिमार्गके पुरस्कर्ता वल्लभ जो दक्षिण हिंदुस्तान में हुए उनके शुद्धाद्वैत-विषयक सब तत्त्व हैं तो औपनिषदिक पर उनकी सारी विचारसरणी अनेकान्तदृष्टिका नया वेदान्तीय स्वांग है। इधर उत्तर और पश्चिम हिंदुस्तानमें जो दूसरे विद्वानोंके साथ श्वेतांबरीय महान विद्वानोंका खंडनमंडन-विषयक द्वन्द्व हुआ उसके फलस्वरूप अनेकान्तवादका असर जनतामें फैला और सांप्रदायिक ढंगसे अनेकान्तवादका विरोध करनेवालेभी जानते अनजानते अनेकान्तदृष्टिको अपनाने लगे। इस तरह वादरूपमें अनेकान्तदृष्टि आज तक जैनोंकी ही बनी हुई है, तथापि उसका असर किसी न किसी रूपमें—अहिंसाकी तरह विकृत या अर्धविकृत रूपमें—हिन्दुस्तानके हर एक भागमें फैला हुआ है। इसका सबूत सब भागोंके साहित्यमेंसे मिल सकता है।

व्यवहार में अनेकान्तका उपयोग न होने का नतीजा

जिस समय राजकीय उलट फेरका अनिष्ट परिणाम स्थायी रूपसे ध्यानमें आया न था, सामाजिक बुराइयाँ आजकी तरह असह्यरूपमें खटकती न थीं, औद्योगिक और खेतीकी स्थिति आजके जैसी अस्त-व्यस्त हुई न थी, समझपूर्वक या बिना समझे लोग एक तरहसे अपनी स्थितिमें सन्तुष्टप्राय थे और असंतोषका दावानल आजकी तरह व्याप्त न था, उस समय आध्यात्मिकसाधनामेंसे आविर्भूत अनेकान्तदृष्टि केवल दार्शनिक प्रदेशमें रही और सिर्फ चर्चा तथा वादविवादका विषय बनकर जीवनसे अलग रह कर भी उसने अपना अस्तित्व कायम रक्खा तथा कुछ प्रतिष्ठा भी पाई, वह सब उस समयके योग्य था। परन्तु आज स्थिति बिलकुल बदल गई है; दुनियाके किसी भी धर्मका तत्त्व कैसा ही गंभीर क्यों न हो पर अब वह यदि उस धर्मकी संस्थाओं तक या उसके पंडितों तथा धर्मगुरुओंके प्रवचनों तक ही परिमित रहेगा तो इस वैज्ञानिक प्रभाववाले जगतमें उसकी क़द्र पुरानी क़ब्रसे अधिक नहीं होगी। अनेकान्तदृष्टि और उसकी आधारभूत अहिंसा ये दोनों तत्त्व महान्से महान् हैं, उनका प्रभाव तथा प्रतिष्ठा जमानेमें जैनसंप्रदायका बड़ा भारी हिस्सा भी है; पर इस बीसवीं सदीके विषम राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवनमें उन तत्त्वोंसे यदि कोई खास फ़ायदा न पहुँचे तो मंदिर-मठ और उपाश्रयोंमें हजारों पंडितोंके द्वारा चिल्लाहट मचाये जाने पर भी उन्हें कोई पूछेगा नहीं, यह निःसंशय बात है। जैन लिंगधारी सैकड़ों धर्मगुरु और सैकड़ों पंडित अनेकान्तके बालकी खाल दिनरात निकालते रहते हैं और अहिंसाकी सूक्ष्म चर्चामें खून सुखाते तथा सिर तक फोड़ा करते हैं। तथापि लोग अपनी स्थितिके समाधानके लिए उनके पास नहीं फटकते। कोई जवान उनके पास पहुँच भी जाता है तो वह तुरन्त उनसे पूछ बैठता है कि 'आपके पास जब समाधानकारी अनेकान्तदृष्टि और अहिंसा तत्त्व मौजूद हैं तब आप लोग आपसमें ही ग़ैरोंकी तरह बात बातमें क्यों टकराते हैं? मंदिरके लिए, तीर्थके लिए, धार्मिक प्रथाओंके लिए, सामाजिक रीतिरिवाजोंके लिए—यहाँ तक कि वेश रखना, कैसा रखना, हाथमें क्या पकड़ना, कैसे पकड़ना इत्यादि बालसुलभ बातोंके लिए—आप लोग क्यों आपसमें लड़ते हैं? क्या आपका अनेकान्तवाद ऐसे विषयोंमें कोई मार्ग निकाल नहीं सकता? क्या आपके अनेकान्तवादमें और अहिंसातत्त्वमें प्रिविकाउन्सिल, हाईकोर्ट अथवा मामूली अदालत जितनी भी समाधानकारक शक्ति नहीं है? क्या आपकी हिंसा अपनी सूक्ष्मचर्चाके लिए मारामारी करने और अहिंसाकी अपेक्षा रखनेको अनुचित नहीं समझती? क्या हमारी राजकीय तथा सामाजिक उलझनोंको सुलझाने का सामर्थ्य आपके इन दोनों तत्त्वोंमें नहीं है? यदि इन सब प्रश्नोंका अच्छा समाधानकारक उत्तर आप अमली तौरसे 'हाँ' में नहीं देसकते तो आपके पास आकर हम क्या करेंगे? हमारे जीवनमें तो पद पद पर अनेक कठिनाइयाँ आती रहती हैं उन्हें हल किये बिना यदि हम हाथमें पोथियाँ लेकर कथंचित् एकानेक, कथंचित् भेदाभेद और कथंचित् नित्यानित्यके खाली नारे लगाया

करें तो इससे हमें क्या लाभ पहुँचेगा अथवा हमारे व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक जीवनमें क्या फ़र्क पड़ेगा ? और यह सब पूछना है भी ठीक, जिसका उत्तर देना उनके लिये असंभव हो जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि अहिंसा और अनेकान्तकी चर्चावाली पोथियोंकी, उन पोथीवाले भंडारोंकी, उनके रचनेवालोंके नामोंकी तथा उनके रचनेके स्थानोंकी इतनी अधिक पूजा होती है कि उसमें सिर्फ़ फूलोंका ही नहीं, किन्तु सोने चांदी तथा जवाहरात तकका ढेर लग जाता है, तो भी उस पूजाके करने तथा करानेवालोंका जीवन दूसरों जैसा प्रायः पामरही नज़र आता है, और दूसरी तरफ हम देखते हैं तो यह स्पष्ट नज़र आता है कि हिंसाकी सापेक्ष सूचना करनेवाले गांधीजीके अहिंसा तत्त्वकी ओर सारी दुनिया देख रही है और उनके समन्वयशील व्यवहारके क़ायल उनके प्रतिपक्षी तक हो रहे हैं। महावीरकी अहिंसा और अनेकांत दृष्टिकी डौंडी पीटनेवालोंकी ओर कोई धीमान् आंख उठाकर देखता तक नहीं और गांधीजीकी ओर सारा विचारकवर्ग ध्यान दे रहा है। इस अंतरका कारण क्या है ? इस सवालके उत्तरमें ही सब कुछ आजाता है।

अब कैसा उपयोग होना चाहिए ?

अनेकान्तदृष्टि यदि आध्यात्मिक मार्गमें सफल हो सकती है और अहिंसाका सिद्धान्त यदि आध्यात्मिक कल्याणसाधक हो सकता है तो यह भी मानना चाहिए कि ये दोनों तत्त्व व्यावहारिक जीवनका श्रेय अवश्य कर सकते हैं; क्योंकि जीवन व्यावहारिक हो या आध्यात्मिक पर उसकी शुद्धिके स्वरूपमें भिन्नता हो ही नहीं सकती और यह हम मानते ही हैं कि जीवनकी शुद्धि अनेकान्तदृष्टि और अहिंसाके सिवाय अन्य प्रकारसे हो ही नहीं सकती। इसलिए हमें जीवन व्यावहारिक या आध्यात्मिक कैसा ही पसंद क्यों न हो पर यदि उसे उन्नत बनाना इष्ट है तो उस जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अनेकान्तदृष्टिको तथा अहिंसा तत्त्वको प्रज्ञापूर्वक लागू करना ही चाहिए। जो लोग व्यावहारिक जीवनमें इन दो तत्त्वोंका प्रयोग करना शक्य नहीं समझते उन्हें या तो आध्यात्मिक कहलानेवाले जीवनको धारण करना चाहिए और या अपना नाम पशुसंख्यामें गिना देना चाहिए। इस दलीलके फलस्वरूप अंतिम प्रश्न यही होता है कि तब इस समय इन दोनों तत्त्वोंका उपयोग व्यावहारिक जीवनमें कैसे किया जाय? इसका उत्तर देना यही अनेकान्तवादकी मर्यादा है।

जैन समाजके व्यावहारिक जीवनकी कुछ समस्याएँ ये हैं:—

१ समग्र विश्वके साथ जैनधर्मका अमली मेल कितना और किस प्रकारका हो सकता है ?

२ राष्ट्रीय आपत्ति और संपत्तिके समय जैनधर्म कैसा व्यवहार रखनेकी इजाज़त देता है ?

३ सामाजिक और सांप्रदायिक भेदों तथा फूटोंको मिटानेकी कितनी शक्ति जैनधर्ममें है ?

यदि इन समस्याओंको हल करनेके लिए अनेकांतदृष्टि तथा अहिंसाका उपयोग हो सकता है तो वही उपयोग इन दोनों तत्त्वोंकी प्राणपूजा है और यदि ऐसा उपयोग न किया जा सके तो इन दो तत्त्वोंकी पूजा सिर्फ पाषाणपूजा या मात्र शब्दपूजा होगी। परन्तु मैंने जहाँ तक गहरा विचार किया है उससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उक्त तीनों ही नहीं किन्तु दूसरी भी वैसी सब समस्याओंका व्यावहारिक खुलासा, यदि प्रज्ञा है तो, अनेकान्तदृष्टिके द्वारा तथा अहिंसाके सिद्धान्तके द्वारा पूरे तौरसे किया जा सकता है। उदाहरणके तौर पर जैनधर्म प्रवृत्ति मार्ग है या निवृत्तिमार्ग ? इस प्रश्नका उत्तर, अनेकान्तदृष्टिकी योजना करके, राष्ट्रीय कार्यमें यों दिया जा सकता है कि, जैनधर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति उभय मार्गावलम्बी है। प्रत्येक क्षेत्रमें जहाँ सेवाका प्रसंग हो वहाँ अर्पणकी प्रवृत्तिका आदेश करनेके कारण जैनधर्म प्रवृत्तिगामी है और जहाँ भोगवृत्तिका प्रसंग हो वहाँ निवृत्तिका आदेश करनेके कारण वह निवृत्तिगामी भी है। परन्तु जैसा आजकल देखा जाता है भोगमें—अर्थात् दूसरोंसे सुविधा ग्रहण करनेमें—प्रवृत्ति करना और योगमें—अर्थात् दूसरोंको अपनी सुविधा देनेमें—नि-

जो धर्म का तत्त्व और अंश उस शास्त्र-विद्या में से भी इन्हें प्राप्त होगया था, उसका मेल, इन्होंने देखा, उस राजत्वसे समीचीन रूप में नहीं होता जिसकी उनसे आशा की जाती है। और इसलिये, समझा, वह धर्म इष्ट नहीं है। जब सारी ही शिक्षाओं की दिशा राजत्व है, तब शास्त्र-विद्याके जिस थोड़ेसे अंश की दिशा वह नहीं जान पड़ती वह अंश अवश्य अनुपयुक्त और अनुपादेय है। वह व्यर्थ है। गुरु, पिता, समवयस्क साथी, सम्मान्य बुज़ुर्ग, सलाहकार, और समस्त पुरजन,— सब उसे सामने रक्खे 'राजत्व' की ओर ही ठेलते दीख पड़े। मानों सब उसमें ही प्रसन्न हैं। मानों वही उसके लिये एक मार्ग है वही धर्म है। जो उसके राजत्व के मार्गसे तनिक भी अलहदा है, थोड़ा भी विरुद्ध और भिन्न है,— वह मानों उसके लिये है ही नहीं। उस ओर की चिंता उसे करनी ही नहीं चाहिये। इस प्रकार सारी शिक्षा, और कुमारके चारों ओर फैली हुई सारी समाज ने, कुमारके लिये जीवन की राह-रूप एक रेखा ही रह जाने दी, जिसके अन्त में और आरंभ में प्रतिष्ठित था —'राजत्व'।

कुमार ने इस 'राजत्व'का विश्लेषण किया तो और ही पाया। देखा—वह एक ऐश्वर्य और प्रतिष्ठाका पद है, जहाँ विलासका हर तरहका सुभीता है, और स्वार्थ की हर प्रकारकी सिद्धि है। यही पद और यही वैभवका आयोजन उसके लिये निर्णीत (Reserved) है। यहीं उसके कर्तव्य की इति और आरंभ है। और इस पर रीतिकी, औचित्यकी, उपादेयता की और आवश्यक्ता की मोहर भी लगी हुई है।

तो यह तो ठीक होगया कि विलासशोध और स्वार्थसिद्धि ही उसके लिये एक इष्ट तत्त्व है। क्यों कि सारा संसार उससे इस ही की आशा और आकांक्षा रखता दीख पड़ता है। और वैसे खुद भी संसार उसी को अपना उद्देश्य बना कर व्यस्त रहता और उन्नति करता है। किन्तु संसारके औचित्य और न्याय्यता की मोहर लगा हुआ जो मार्ग उसके सामने पेश है, और जिसको तन्मय होकर अपना लेनेके लिये उसके गुरु, सम्बन्धी, सब लोग, उसकी सारी शिक्षाएँ और सारी प्रवृतियाँ भी उसे उकसा रही हैं—उसी 'राजत्व' में कुमार को कुछ खटकता भी है।

वह 'राजत्व' उसकी कमाई हुई चीज़ नहीं है, वह मानों उसे मुफ्त मिली जा रही है। केवल एक कुल-संयोग पर निर्भर रहकर इतनी बड़ी चीज़ अपना लेना उसे अनुचित जँचता है। वह राजा का पुत्र है, इस घटना को वह आकस्मिक सी मानता है। और इस आकस्मिकता को वह इतने बड़े ऐश्वर्य का उचित मूल्य नहीं स्वीकार कर सकता। अपने राज-पुत्रत्व को वह ज्यादे श्रेय देना नहीं चाहता। और इसलिये चुपचाप राजमुकुट उसे पहना दिया जाय, यह वह नहीं सह सकेगा।

किन्तु जब वैभव ही लक्ष्य है, तो दूसरा मार्ग क्या—?

बहुत ऊहापोहके बाद समझ पड़ा—जो मार्ग सीधेसे सीधा उस लक्ष्य तक पहुँचे, जिस में अधिकाधिक सिद्धि हो, और तुरन्त अर्थ प्राप्ति हो, वही मार्ग उसका मार्ग है।

इसके विरोध में दुनिया का औचित्य अनौचित्य का प्रश्न उसके सामने खड़ा हुआ, पर टिक न सका। उसने उसे खोलते खोलते देखा यह औचित्यानौचित्य की व्याख्या बहुत आपेक्षिक क्षणस्थायी और निराधार है। सबल का सफल कृत्य अभिवन्दनीय है, वही निर्बलके हाथ असफल रह जाने पर निन्दनीय है।

यह भी दीख पड़ा कि जो एक ही अंत को स्वीकार करते हुए दो मार्ग हैं—एक 'राजत्व' दूसरा 'डकैती'— जिनमें से एक दुनिया उसे अधिकारतः सौंपना चाहती है, और दूसरे को उसने हेय मान रक्खा है,—उसके निज की ओर से यदि उनमें कुछ अंतर है तो यह कि एक की सिद्धि उसे मानों उपहार में दे दी जायगी, दूसरे की सिद्धि उसे अपने रूप अपने चातुर्य्य और सक्षमता के बल पर कमानी होगी।

एक बात कुमार को और भी दृढ़तासे इस पक्ष में करने लगी। शस्त्र-अस्त्रोंके परिचालन, सैन्य-संचालन,

युद्धविद्या, राजनीति-विद्या और चातुर्य की अन्य कलाओं में जो उसने प्रवीणता प्राप्त की है, उसकी उपयोगिता पहले मार्ग में उतनी नहीं है जितनी दूसरे में। प्राप्त राजत्व में उसकी दक्षता, निपुणता शौर्य और होशियारी इतनी काम नहीं आयेगी, जितनी 'अप्राप्त सेनापतित्व' बनाने और निभाने में। और अपनी शस्त्रास्त्रों की कुशलता सीखने और सिखाये जाने का वह आवश्यक रूप में यह उद्देश्य समझता है कि उस दक्षता का अधिकाधिक उपयोग हो—वह अधिकाधिक कृतकार्यता पाए।

जब स्वार्थ सिद्धि लक्ष्य है, तो उसका मार्ग भी यही है इस संबंध में वह नितांत निश्शंक है। और इस राहसे मिलने वाले ऐश्वर्यकी सीमा नहीं, गणना नहीं परिभाग नहीं, बंधन नहीं; और इस राह में निरंतर चातुर्य और शौर्य की आवश्यक्ता है। जब कि राजत्व का ऐश्वर्य परिमित है, राज्यके विस्तार की सीमा है, और राज्यके कर की गणना है और राजत्व पर दस तरह के विधि विधान (Constitution) के बंधन हैं, और उसमें कभी कभी ही शौर्य और चातुर्यप्रदर्शन की आवश्यक्ता पड़ती है।

इस प्रकार उस एकनिष्ठ कुमारने मानो संसारकी प्रगतिमें छिपे तत्वको पहचान कर उसके अनुरूप, निश्चय कर लिया —वह चोर बनेगा।

(३)

तो वह चोर बन उठा। इस मार्ग पर पग रखना ही है तो आगे कहीं ममता और मोह बाधक न हों, इससे पहले पिताके यहाँ ही चोरी करना आवश्यक समझा गया। शुभ काम घरसे ही शुरू हों, Charity begins at home अर्थात पहिली चोरीका लक्ष्य अपने घरका ही राजमहल और अपने पिताका ही राजकोष न हो तो क्या हो ?

किन्तु राजपुत्रत्वसे मिलनेवाले किसी भी सुभीते और अधिकारसे लाभ उठाना विद्युच्चर स्वीकार नहीं कर सकता था। यह करना मानों अपनी कार्यकुशलता पर अविश्वास करना था। इस प्रकार यदि चोर-कार्य सफल हुआ तो क्या हुआ ? उसने वह सब बाधाएँ और आपत्तियाँ उठाना आवश्यक समझा जो एक साधारण चोरको उठानी पड़तीं। अर्थात्, उसने अपने परिधानमें, आकृतिमें, व्यवहारमें, अपने दिमाग और दिलमें भी—यानी भीतरी-बाहरी, अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्वमें—युवराजत्वका कोई चिन्ह अवशेष न रहने दिया। —और एक दिन सुना गया, राजकोषसे कई सहस्र दीनार गुम हो गये हैं।

चोरी असाधारण थी,—परिमाणमें, साहसिकतामें और कौशलमें भी। क्योंकि इस भारी दुस्साहसिक चोरकी गंध भी न लग पाई। कोई ज़रासा भी आधार नहीं छोड़ा गया था जिससे संदेह और खोजका सिलसिला शुरू हो सकता। राज्यका तमाम परिकर-परिचर और गुप्तचर विभाग चोरकी हवा पानेकी टोहमें लगा। पर महीनों बीत गये। खोज बहुत ही फैली और फैलाई गई, पर आगे एक इंच भी नहीं आ पाई। आखिर, हार कर, यह शोध छोड़ दी गई। घटना भुला दी गई। चर्चा पुरानी होगई, बस स्मृति की चीज़ रह गई— तब कुमार विद्युच्चरको अपने पर विश्वास हुआ। सोचा, अब वह अपने चातुर्य पर अवलंबित रह कर इस व्यवसायमें पूर्ण योगसे पड़ जायगा।

दोपहरका समय था। पिताजी विश्राम कक्षमें थे। कुमार सीधा पहुँचा,—पूर्ण निर्णय उसके मनमें था, वही उसकी चालमें और बातमें—उनके चरण छुए और बोला-

"पिताजी, वह......

पिताजी चौंके। यह समय, यह स्थान ! और कुमार, और यह उसकी मुद्रा !!—कुछ समझ न पड़ा; बोले—

"कुमार, क्या है ?..."

"पिताजी, वे दीनारें...!"

"कहां मिलीं" ?

"मैंने चुराई थीं।"

पिता जैसे सचमुच सुन पाये ही नहीं—

"क्या ?"

"वे दीनारें मैंने ही चुराई थीं। ये रहीं।"

कानोंने सुना, आँखोंने देखा,—ये शब्द उतने ही सत्य हैं और ठोस हैं जितनी सोनेकी ये दीनारें। चाहने और कोशिश करने पर भी अविश्वास नहीं हो सकता। किन्तु ऐसे दुर्घट, भयंकर सत्यके सामने पिताको बोल क्या सूझे ? वह तो सामने खड़े उद्धत और निश्चिंत कुमारको सुन्न देखते रहनेके सिवा बाकी सबकी मानों शक्ति ही खो बैठे।

और कुमार कैसा हृदयहीन है कि अपनी कम्बख्ती पर भी मानों गर्व कर रहा है ! पिताको क्षुब्ध लांछित, गतबुद्धि, हतचेत और सुन्न तो किया, पर फिर भी मानों उन पर तरस खाना नहीं चाहता। बोला:—

"अब यही काम करना चाहता हूँ।"

पिताका क्षोभ शब्द न पा सका।

"मैं अब यही काम करूँगा। आपका राज्य छोड़ दूँगा, राज्यका सब अधिकार छोड़ दूँगा। यही वृत्ति लूँगा। निश्चय मेरा बन चुका है...।

पिताका क्षोभ दुर्द्धर्षता पार कर गया। अब तो मानों वह आँसू बहा कर ही ठंडा होगा। अब उसमें तेजी नहीं रह गई, रोष नहीं रह गया, इन अवस्थाओंमेंसे पार हो कर मानों, वह क्षोभ अब दया बन उठा है। दया जिसमें कृपाका भाव है, प्रेमका भाव है, जिसमें व्यथा है और लांछना है। जो जलती नहीं बहती है। तब पिता ये ही दो शब्द कह सके—"जाओ—।" और कुमारके लिये तर्जनी उठा कर द्वारकी ओर निर्देश कर दिया।

कुमारको चला जाना ही पड़ा। उसके निश्चयमें ढील नहीं आई। किन्तु देखा अभी एक दम महल छोड़ कर अपने मनोनीत व्यवसायको अपनानेके लिये वह नहीं जा सकता। पिताको सब बातें समझानी होंगी, जिससे फिर उनके बीच कड़वापन न रहे, मैल न रहे, भ्रम न रहे। अभी तो पिताको सब समझा कर बताना संभवनीय न था।

पिताको उस सुन्नावस्थासे बोध जल्दी नहीं मिला। बहुतसे आंसू निकालने पड़े फिर भी भीतर उमड़ती हुई वेदना और ग्लानि खतम नहीं हुई। कुमारके इस आकस्मिक-अशुभ परिवर्तनको वह सहानुभूतिके साथ देख ही नहीं सकते, समझ ही नहीं सकते।—मूर्खको क्या सूझा है, कुलाँगार ! रह-रह कर गुस्सा छूटता है, जितना ही मोह उठता है, उतना ही लेश्यामें कालापन आता है, और उतनी ही वितृष्णा, वैराग्य और क्रोधके भावोंमें प्रबलता हो आती है।

अंतमें भावनाओंका धुआँ बैठने लगा, विचारोंने तनिक स्पष्टता पाई, और सामने मार्गसा नज़र आया। सोचा— उसे समझेंगे, डाटेंगे, समझायेंगे। फिर जरूर उसकी कुबुद्धि दूर हो जायगी। कुमारको बुलाया।

"कुमार, यह क्या बात है ? यह मैंने क्या सुना ?—क्या यह ठीक है कि दीनारें राज कोषसे तुमने ही ली थीं ?—ली थीं, तो बताया क्यों नहीं ? या यह सब कुछ सच्चे अपराधीको ढँकनेके लिये है ?"

'नहीं, पिताजी। खर्चके लिये नहीं लिये थे, चोरीके लिये चुराये थे। खर्चकी क्या मुझे कमी है ? और मैंने ही चुराये थे। बताये इसलिये नहीं कि मेरी चोरीकी होशियारी की जाँच हो जाय। और अब बताया इसलिये कि यह चोरी तो आजमानेके लिये की थी। पर अब, पिताजी, मैं यही काम करूंगा।"

तीखे प्रश्नवाचकमें पिताने कहा:—

"कुमार···?

कुमारने कहा—

"मैंने सब सोच लिया है पिताजी। मुझे युवराजत्वसे और राजत्वसे संतोष नहीं है। पहले तो वह मुझे अपने हक़की चीज़ नहीं मालूम होती। फिर उसका ऐश्वर्य परिमित है। इस मार्गसे जिसे चोरी कहते हैं मैं अपरिमेय ऐश्वर्य तक पहुँच सकता हूँ। इससे इसी मार्ग पर क्यों न चलूँ ?

कुमार, तुम्हारी मति विभ्रममें पड़ गई है। ऐश्वर्य ही तो ध्येय नहीं है दुनियाँमें औचित्य भी तो कुछ वस्तु है। हेयोपादेय भी कुछ होता है। लोगोंका धन अपहरण करना, उन पर आतंककी तरह छाया रहना, उनको चूस कर खुद फूलना - धिक्, कुमार, तुम्हें लज्जा नहीं आती?"

"पिताजी, हेयोपादेय हो भी तो भी आपके कर्तव्य और अपने मार्गमें उस दृष्टिसे कुछ अंतर नहीं जान पड़ता। आपकी क्या इतनी एकांत निश्चिंतता, इतना विपुल सुख सम्पत्ति-सम्मान और अधिकार-ऐश्वर्य का इतना ढेर, क्या दूसरेके भागको बिना छीने बन सकता है? आप क्या समझते हैं, आप कुछ दूसरेका अपहरण नहीं करते? आपका 'राजापन' क्या और सबके 'प्रजापन' पर ही स्थापित नहीं है? आपकी प्रभुता औरोंकी गुलामी पर ही नहीं खड़ी? आपकी संपन्नता औरोंकी गरीबी पर, सुख-दुःख पर, आपका विलास उनकी रोटीकी चीख पर, कोष उनके टैक्स पर, और आपका सब कुछ क्या उनके सब कुछको कुचल कर, उस पर ही नहीं खड़ा लहलहा रहा? फिर मैं उस मार्ग पर चलता हूँ तो क्या हर्ज है? हाँ, अंतर है तो इतना है कि आपके क्षेत्र का विस्तार सीमित है, मेरे कार्यके लिये क्षेत्रकी कोई सीमा नहीं; और मेरे कार्य के शिकार कुछ छँट लोग होते हैं, जब कि आपका राजत्व छोटे बड़े, हीन-सम्पन्न, स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े— सबको एकसा पीसता है। इसीलिये मुझे अपना मार्ग ज्यादा ठीक मालूम होता है।"

"कुमार, बहस न करो। कुकर्ममें ऐसी हठ भयावह है। राजा समाजतंत्र के सुरक्षण और स्थायित्वके लिये आवश्यक है, चोर उस तंत्र के लिये शाप है, घुन है, जो उसमें से ही असावधानता से उग उठता है और उसी तंत्र को खाने लगता है।"

"राजा उस तंत्र के लिये आवश्यक है! क्यों आवश्यक है? इसलिये कि राजाओं द्वारा परिपालित-परिपुष्ट विद्वानोंकी किताबों का ज्ञान यही बतलाता है?—नहीं तो बताइये, क्यों आवश्यक है? क्या राजाका महल न रहे तो सब मर जाँय, उसका मुकुट टूटे तो सब टूट जायँ, और सिंहासन न रहे तो क्या कुछ रहे ही नहीं? बताइये फिर क्यों आवश्यक है?

"कुमार, बतानेसे कुछ न होगा। तुम्हें अभी अपने नये-बने उद्देश्यका बुखार आरहा है। धीरे धीरे तुम ही खुद समझोगे।"

"समझूँगा तो समझूँगा। किंतु अभी तो निश्चित है आप नहीं समझा सकते। और खुद समझनेकी बात पर निर्भर रहकर चुप पड़ जाना पक्ष-प्रबलताका लक्षण नहीं है?"

"न हो। मैं मानता हूँ, अनुभव आवेशसे प्रबल नहीं होता; और सत्य सदा ही भ्रम से कम आकर्षक और इसलिये कम जटिल होता है। सत्य शब्दोंसे बँधता ही नहीं, जब कि सत्य पर उलझन बुनती हुई भ्रांति शब्दबहुल और तर्क-तंतु-गुम्फित होती है।"

"पिताजी, मुझे तो सत्य भ्रांति, और तर्क सत्य दीखता है। तर्कसे निरपेक्ष भी सत्य कोई हो सकता है, यह उपहास्य है।"

"ज्यादा विवाद मैं नहीं करना चाहता, कुमार। तुम अपने मन पर दृढ हो, तो मेरे राज्यमें न रह सकोगे। मुझे तुम्हें अपना पुत्र मानते रहनेमें भी लज्जित होने को बाध्य होना पड़ेगा। तुम्हारी याद भी मुझे दुःख पहुँचाएगी। मुझे बड़ा दुःख है कि तुम समझदार होकर भी नहीं समझना चाहते।"

"यही कहनेकी आज्ञा चाहता था, पिताजी अपनी बातसे हटना जरूरी और इसलिये संभव मुझे नहीं दीखता, और पास रहकर आपके जीको क्लेश पहुँचाते रहना मेरे लिये और भी असंभव है। इसलिये मेरी इच्छा थी कि राज्यसे बाहर जानेकी आप मुझे आज्ञा दें। आज ही चला जाऊँगा। फिर कष्ट न दूँगा।"

पिताने कहा:—

"जाओगे तो जाओ। हाँ, जरूर जाओ। इसीमें मालूम होता है, तुम्हारा भला है। दुःखित होनेका भी काम नहीं, और यही मानकर संतोष मान लेना अच्छा है कि इस मार्ग से जो ठोकरें तुम्हें मिलेंगी उनमें एक

ठोकर होगी, जो तुम्हारी आँखें खोल देगी, ऐसे जैसे आत्माके झरोखे खोल दिये हों। यह सुनूँगा, तो इस दुर्भाग्यको भी सौभाग्य मानूँगा। —जाओ।"

कुमारने चरण छुए और चला गया।

× × ×

दूर-दूर तक एक डाकूका आतंक फैल गया। धनिक दहशतसे घबराये रहते थे। लोहेके सीखचों और संगीनोंके पहरेमें भी बंद उनकी सम्पत्ति सुरक्षित है, पल भर भी उनको इस आश्वासन का चैन नहीं मिलता था। शंका, आशंकासे सदा उन्निद्र, सशंक, व्यथित और सतर्क रहते थे।

उस डाकूके दलोंके संघटनकी जड़में क्या जादू था, समझ नहीं पड़ता। वह संघटन अजेय, अमोघ और अभेद्य था। भेद उसमें जरा कोई न डाल सका, और बिना भेद डाले जीतनेकी संभावना हो ही कैसे सकती थी।

किंतु फिर भी डाकू और डाकूका दल व्यर्थ हिंसा से यथाशक्य बचता है—यह बात सर्व-परिचित थी।

अब कुछ दिनोंसे डाकूका डेरा राजगृहीमें जमा है। राजगृही जन-धन-धान्य-सम्पन्न सुंदर सुविशाल नगरी है। मनुष्य-कृत गृह-निर्माण और पुर-निर्माणकी दृष्टि में उतनी ही सुंदर है जितनी प्रकृतिगत नैसर्गिक छटाके लिहाज़ से। चारों ओर पाँच पहाड़ियाँ हैं, जो परिक्रमा देती हुई नगरीको कोटकी तरह घेरे हैं। यह पार्वत्य माला नगरकी रक्षा-प्राचीरका काम भी देती है, और अब डाकू-सैन्यकी रक्षा दुर्गका भी।

यह डाकू सर्दार और कोई नहीं, कुमार विद्युच्चर है। राजगृही की सुप्रसिद्ध वारवनिता वसंततिलकाके यहाँ विद्युच्चरका ज्यादा आना जाना और रहना होता है। (अगले अंकमें समाप्य)

महामना पूज्य मालवीयजी का

शुभ सन्देश

" आप के आश्रम के उद्देश्य ऊँचे हैं और उन के साथ मेरी सहानुभूति है। आपका एक मासिक-पत्र निकालने का विचार भी सराहनीय है। मैं हृदय से चाहता हूँ कि उस पत्रके द्वारा आप अपने आश्रमके उद्देश्योंको पूरा कर सकें और ऐसे सच्चे सेवक उत्पन्न करें जो वीर के उपासक, वीरगुणविशिष्ट और लोकसेवार्थ दीक्षित हों तथा महावीर स्वामी तथा अन्य जैनआचार्यों के सत्-उपदेशोंका ज्ञान प्राप्त कर धर्ममें दृढ सदाचारवान, देशभक्त हों।"

बनारस हिन्दयूनिवर्सिटी ता० ८-१०-२९

आपका हितचिन्तक
मदनमोहन मालवीय

अहिंसा और अनेकान्त

[ले० श्रीमान् पं० बेचरदासजी, न्याय-व्याकरणतीर्थ]

'अहिंसा' और 'अनेकान्त' ये दोनों शब्द एक तरहसे पर्यायवाचक हैं। यद्यपि व्याकरण, व्युत्पत्ति और शब्दकोशकी दृष्टिसे इनका पर्याय वाचक होना लग भग अप्रसिद्ध जैसा है, फिर भी तत्त्वदृष्टिसे विचारा जाय तो ये दोनों शब्द बिलकुल पर्याय-वाचक हैं, ऐसा कहनेमें कोई बाधा नहीं है। जो मनुष्य अहिंसा धर्मका पालन करेगा उसकी दृष्टि, उसका आचार-विचार यदि अनेकान्तकी जड़ पर न होगा तो वह शख्स कभी अहिंसाका वास्तविक पालन नहीं कर सकता और जिस मनुष्यकी दृष्टि और उस का आचार-विचार अनेकान्तको लक्ष करके बना होगा वह अवश्य अहिंसाका वास्तविक पालन कर सकता है। अर्थात् जहाँ जहाँ अहिंसाका पालन होता है वहाँ उसके गर्भमें अनेकान्तका वास जरूर रहता है। और जहाँ जहाँ अनेकांतदृष्टि की प्रधानता है वहाँ सर्वत्र अहिंसाका अभ्रान्त रूपसे अवश्यंभाव है। इस आशयको लेकर ही यह कहा गया है कि 'अहिंसा और अनेकांत ये दोनों एक तरह से पर्याय वाचक शब्द हैं'। अनेकान्तका अर्थ यह है कि अपनेसे भिन्न विचार, भिन्न आचार, भिन्न दृष्टि और हर तरहकी भिन्नताको—जिसकी नीव सत्यशोधन है—देखकर चित्तमें लेश भी रंज न होने देना और तदुपरांत उसके साथ समभावको लिये हुए प्रेमपूर्वक वर्ताव करना। ऐसा करनेसे ही भगवान महावीर-द्वारा कही गई अहिंसाका पालन हो सकता है, अन्यथा नहीं। अनेकान्तदृष्टिमें सत्यशोधनको बाधन करने वाले रंगभेद, जातिभेद, संप्रदायभेद, गच्छभेद, क्रियाभेद, आचारभेद, और अनेक तरहके विधि-विधानोंके भेदको भी उचित स्थान प्राप्त है। जैसे एक पाठशालामें अधिकारानुसार अनेक तरहकी पढ़ाई होती है और वह पढ़ाई भिन्न भिन्न होने पर भी उसके पढ़ने वाले परस्परमें लड़ते झगड़ते नहीं हैं वैसे ही संसार में रहे हुए सब तरह के भेदको समन्वित करनेके लिए—एकता के सूत्रमें बाँधने के लिए—अनेकान्तदृष्टिका आविर्भाव है। अनेकान्तके विचारसे सर्वत्र प्रेमका संचार होता है और मैत्री, प्रमोद कारुण्य, माध्यस्थ्य जैसी उपयोगी भावनाओंकी वृद्धि होती है। इसीसे उत्तरोत्तर चित्तकी शुद्धि होती है। और चित्तशुद्धि होने पर निज और जिनका तादात्म्य हो जाता है।

यह 'अनेकान्त' पत्र ऐसे अहिंसात्मक अनेकान्त का प्रचार करनेके लिए ही उद्यत हुआ है। इसलिए इसका विजय, कल्याण, मंगल और प्रचार होनेमें शंकाका लेश भी अवकाश नहीं है।

> इस लेखके लेखक पं० बेचरदासजी श्वे० जैन समाजके गण्य-मान्य-उदारहृदय विद्वानोंमें से एक हैं। आप प्राकृत व्याकरणादि अनेक ग्रंथोंके लेखक, अनुवादक तथा संपादक हैं। साम्प्रदायिक कट्टरतासे दूर रहते हैं और अहमदाबादके गुजरात-पुरातत्त्व-मंदिरमें एक ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित हैं। 'अनेकान्त' के लिये आपने लेख देना स्वीकार किया था परंतु एकाएक आप भयंकर नेत्ररोगसे पीड़ित होगये और डेढ़ महीनेसे असह्य वेदना उठा रहे हैं। ऐसी हालतमें कोई आशा नहीं थी कि 'अनेकान्त' के प्रथमांकको आपके लेखका सौभाग्य प्राप्त होगा। फिर भी संदेशविषयक मेरे अनुरोधको पाकर आपने रोगशय्या पर पड़े पड़े ही यह छोटासा लेख लिखकर भेजा है, जो आकारमें छोटा होने पर भी बड़े महत्त्वका है। इस वीरोचित उत्साह तथा सत्कार्य-सहयोगके लिये आप विशेष धन्यवादके पात्र हैं। हार्दिक भावना है कि आप शीघ्र से शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करें और अनेकान्तके पाठकोंको आपके गवेषणापूर्ण लेखोंके पढ़नेका पूरा अवसर मिले।
>
> —संपादक

महाकवि रन्न

[ले०, श्रीयुत् पं० बी० शांतिराजजी शास्त्री]

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि, इस पृथ्वीमंडल में जो कुछ भी जैनधर्मका अस्तित्व है उसमें पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थरत्न ही मुख्य कारण हैं। हमारे पूज्य पूर्वजोंने जिस तरह संस्कृत तथा प्राकृत भाषाके ग्रन्थ रचकर जैनधर्मके प्रचारका परिश्रम उठाया है, उसी तरह उन्होंने प्रान्तीय भाषाओंमें भी अनेक ग्रन्थरत्न लिखकर जैनधर्मके प्रसारका महान् कार्य किया है। कर्णाटक तथा तामील भाषाकी आत्मा जैन विद्वानोंकी कृतियाँ ही हैं, और यह कूपमण्डूककी तरह मैं ही नहीं कह रहा हूँ; किन्तु उन भाषाओंके धुरन्धरोंकी भी यही सम्मति है।

कर्णाटकमें जैनधर्मका जो कुछ भी गौरव है उसमें मुख्य कारण कर्णाटकीय जैन विद्वानोंकी कृतियाँ ही हैं। जैन विद्वानोंने इस भाषामें असंख्य अमूल्य ग्रन्थ रचे हैं। यदि जैनसाहित्यको कर्णाटक भाषासे अलग कर दिया जाय तो कर्णाटक भाषाका स्वरूप ही न रहेगा, ऐसी ही सम्मति उस भाषाके जैनेतर विद्वानोंकी है, वास्तवमें कर्णाटक भाषाके कालिदास, तुलसीदास और सूर, जैन विद्वान् ही हैं। और इस बातका खास प्रमाण पम्प, पोन्न तथा रन्नकी जयन्तियाँ हैं,' जो कि जैनेतर विद्वानोंने समय समय पर मैसूर तथा धारवाड़ आदि स्थानों पर मनाई हैं। कर्णाटक भाषाके विषयमें ये तीनों कवि रत्नत्रय गिने जाते हैं। पम्पके आदि पराण, पोन्नके शान्तिनाथपुराण तथा रन्नके अजित-नाथपुराणके मर्मज्ञ ही कर्णाटक भाषाके प्रौढ विद्वान गिने जाते हैं। इसी लिये कर्णाटक भाषाकी उच्च कक्षाकी पढ़ाईमें जैनग्रन्थोंने ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है।

कर्णाटकके प्राचीन उद्भट विद्वानोंने प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका अतीव सुन्दर सुललित भाषामें वर्णन किया है। गोम्मटसार की टीका भी इस भाषामें उपलब्ध है और उसीके आधार पर संस्कृतटीका लिखी गई है। व्याकरण, छन्द और अलंकारादि की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ भी जैन विद्वानोंकी ही रचना हैं। मैसूर सरकार जैनकृतियोंको धीरे धीरे प्रकाशित करा रही है, जो कि एक सन्तोष की बात है।

कुछ समय पूर्व मैसूर यूनिवर्सिटीमें युनिवर्सिटीके रजिस्ट्रार श्रीयुत श्रीकण्ठय्याजी एम्० ए० बी० एल्० की अध्यक्षतामें श्री रन्नकविकी जयन्ती मनाई गई थी—कर्णाटकके महान् विद्वानोंने एकत्र होकर रन्न का गुण गान किया था। उसी समय रन्नकृत "गदा-युद्ध" नामकी कृतिके अभिनयके द्वारा युनिवर्सिटीके छात्रोंने, रंगभूमिमें दर्शकोंके मनोंको मुग्ध कर, आशातीत सफलता प्राप्त की थी, और विमर्शात्मक निबंधों-द्वारा कर्णाटक-जनता पर रन्नकी कृतिका महत्व प्रकट करनेके लिये एक प्रस्ताव भी पास हुआ था।

तदनुसार श्रीयुत श्रीकण्ठय्या एम्०ए०बी०एल०, रंगण्ण एम्० ए०, दोरे सामय्यंगार एम्० ए० बी०

एल्०, श्रीवेंकटरामय्या एम० ए०, एल्० एल्० बी०, सुब्रह्मण्य शास्त्री आदि पन्द्रह सोलह विद्वानोंके विवेचनात्मक निबन्धोंका एक संग्रह २७० पृष्ठोंमें पुस्तकाकार छपा है, जो कि श्रीमान् मैसूर-नरेशको अर्पण किया गया है। पुस्तकमें श्रीमान् मैसूरनरेश, भगवान् अजितनाथ, भगवान्का जन्मकल्याण यूनिवर्सिटीके छात्रोंका अभिनय चित्र, श्रवण बेल्गोलमें खुदी हुई रन्नकी प्रशस्ति आदि छह सात नयनाभिराम तथा हृदयग्राही चित्र हैं। आज इसी महाकविका कुछ परिचय मैं 'अनेकान्त' के पाठकोंकी भेट करता हूँ:—

इस कविकोविदका जन्म शक सं० ८६७ (सन ९४५) में अर्थात् आजसे ९८० वर्ष पूर्व बीजापुर जिलान्तर्गत मुद्धोल नगरमें हुवा था। जिन वल्लभ और अब्बालब्बे नामके जैन वैश्य दम्पति इसके माबाप थे। ये चूडी बेच कर जीवन-निर्वाह करने वाले गरीब गृहस्थी थे, इसीसे सन्तानकी विशेष शिक्षाकी व्यवस्था न कर पाते थे। परन्तु रन्न जन्मसे ही होनहार मालूम होता था, सुभग और सुस्वरादि उत्तम प्रकृतियोंने इसको अपनाया था, इसको देखते ही अनजान आगन्तुक भी अपनाने लगता था और पडोसियोंका तो यह नेत्राँजन तथा कर्णामृत ही बना हुआ था। तब अपने माबापका कितना प्यारा न होगा इसे पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। रन्नके प्राकृतिक गुणों पर मुग्ध होकर अक्सर लोग उसे घेरे ही रहा करते थे। बाल्यकालकी बोली वैसे ही सबको प्रिय लगती है फिर रन्नकी तो बात ही अलग थी। इसकी ग्रहणशक्ति, वर्णनशैली, और प्रतिभा बाल्यकालमें ही आश्चर्यकारिणी थी। इसीसे कुछ लोग कथा-कहानियाँ और कोई गाना आदिक उसे सिखला कर पुनः उसके मुखसे उन्हें सुननेके लिये उत्सुक रहा करते थे और उसके वचनामृतसे मिश्रित उन्हीं कथा-कहानियों आदि का आस्वादन कर आनन्द सागरमें मग्न हो जाते थे।

रन्नने अपना बाल्यकाल प्रायः अध्ययनमें ही बिताया था। जब कुमारावस्थामें प्रवेश किया तब इस की रुचि विशेष अध्ययनकी ओर बढ़ी। माबापकी परिस्थिति ठीक न होने तथा पासमें ही अपने योग्य किसी अच्छे गुरुके न मिलने पर भी उसने हिम्मत नहीं हारी; वह हर्ष-शोकादिसे अभिभूत न होकर अपने निश्चय पर अटल रहने वाला दृढव्रती, बातका पक्का और आनका पूरा था। इसलिये उसने अपनी उद्देश्य-सिद्धिके लिये देश छोडकर सुदूरवर्ती गंगराज्य के मंत्री श्रीचामुण्डरायके पास जाना स्थिर किया और वहाँ पहुँच भी गया। चामुण्डराय तो गुणीजनोंका आश्रयदाता था ही, फिर वह ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न तीक्ष्ण बुद्धि सज्जनको पाकर उसकी सहायतासे कब चूकने वाला था। रन्न भी उत्तम आश्रयको पाकर अल्पकालमें ही संस्कृत, प्राकृत तथा कर्णाटक भाषामें निपुण हो गया और जैनेन्द्रादि व्याकरण शास्त्रमें भी उसने पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त किया। साथ ही कर्णाटक भाषामें कवित्व करनेकी दैवी शक्ति भी उसे प्रकट हुई।

इस तरह महान विद्वान होकर रन्न जैनसिद्धान्त पढनेके लिये तत्कालमें प्रसिद्ध गंगराज तथा चामुण्डरायके गुरु श्री अजितसेनाचार्यकी चरण-सेवामें गया। उनके पास रह कर और जैनमतके रहस्यको अच्छी तरहसे जान कर वह वापिस गंगराजके दर्बार में आया और तब उसने अपनी अलौकिक विद्वत्तासे विद्वज्जनोंको मुग्ध कर दिया था। उस समयके विद्वानोंमें यही एक सर्वोत्कृष्ट विद्वान गिना जाता था, इसी

से हर एक राज-दर्बारसे यह निमंत्रित होकर जाता और महती प्रशंसा तथा सत्कारके साथ वापिस लौटता था।

इस कविकी चार प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—१ गदायुद्ध जिसे साहसभीमविजय भी कहते हैं। २ अजित-तीर्थंकर पुराणतिलक, ३ परशुरामचरित और ४ चक्रेश्वरीचरित। पहली रचना शैवमतानुयायी चालुक्यराज 'तैलप'को उद्देश करके लिखी गई थी। तैलपने रन्नकी इस रचनासे सन्तुष्ट होकर उसे "कविचक्रवर्ती" की उपाधि दी थी। साथ ही, हाथी, पालकी, गाँव आदि देकर उसका पूर्णसत्कार किया था। रन्नकी विद्वत्तासे मुग्ध होकर ही बादको होनेवाले प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानोंने अपनी अपनी रचनाओंमें रन्नकी रचनाको उदाहरण रूपसे उद्धृत किया है, जिसके लिये नागवर्म, केशीराज तथा भट्टाकलंक आदि वैयाकरणोंके ग्रंथ ही पर्याप्त हैं।

रन्नकी रचनामें शब्द-सुन्दरता, रस, अलंकार, ध्वनि, गुण आदि परिपूर्ण होनेसे पढ़ने वालोंके हृदय में जो परम आनन्द होता है उसमें केवल सहृदयोंका अनुभव ही प्रमाण है। फिर भी रन्नकी कविताके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं। विभिन्न भाषाकी कविताके अनुवादमें यद्यपि वह चमत्कार नहीं रहता जो मूलमें होता है—यों ही कुछ आभास मिला करता है—तो भी कविका पाण्डित्य-परिचय करानेके लिये उसकी रचनाके कुछ अंशका अनुवाद भी पाठकोंके सम्मुख रख देना उचित समझता हूँ:—

कर्णाटक रचना।

"ओन्दिदलि-निनद-दिन्दभि।
बन्दिसुतमगन्केयोल्पुनर्दर्शनम ॥
केन्दु दिनपंगे कैमुगि।
वन्ददे मुगिदिर्दु वलर्दतावरेयलर्गल् ॥"

इसमें बतलाया है कि, 'सूर्यास्त समयमें आपो आप मुकुलित होने वाले कमल अपने मित्र सूर्यका वियोग देख कर प्रत्यागमनके लिये ही मानों हाथ जोड़ कर भ्रमर ध्वनिसे प्रार्थना कर रहे हैं।' यह उत्प्रेक्षालंकार का एक नमूना मात्र है।

संस्कृतबाहुल्य रचना।

शिष्टजनाशिष्टं बहु
कष्टं बहु दुष्टमष्टकर्माग्निपरि।
प्लुष्टं हा हा धिक् चिः
कष्टमवश्यं निकृष्टमीसंसारम् ।।

इसमें "चउगति दुख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं। सब विधि संसार असारा, तामें सुख नाहिं लगारा ॥"

इस हिन्दी रचनाके विषयको कितने अच्छे ढंगसे रक्खा है उसका पता उभय भाषाके सहृदय विद्वान ही लगा सकते हैं।

इतिहासके पण्डितोंका कहना है कि रन्नकी कोई न कोई जुदी संस्कृत रचना भी होनी चाहिये; परन्तु वह अभी तक उपलब्ध नहीं हुई तथापि कर्णाटकी रचनाके बीच बीचमें पाई जाने वाली संस्कृत रचना भी कविके संस्कृत पांडित्यकी यथेष्ट परिचायक है। पाठकोंके विनोदार्थ उसीके कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं। भगवान् अजितनाथके जन्म कल्याण समय इन्द्रके द्वारा गीर्वाण वाणीसे स्तोत्र कराते हुए लिखा है:—

"जय जय जगत्त्रयपतिकिरीटकूटकोटिमसृणचारुचञ्चन्नखमयूखोदन्तमयूखमण्डल, मण्डलीभूतसकलदिक्पालमालामौलिमणिकिरणजालबाला-

ततच्छायारुणित-तरुणपारिजात-पल्लवायमानपादपल्लव, पल्लवित-कुसुमितानल्पकल्पलतायमान कल्पेश्वरप्राणेश्वरिसमुल्लसितकरतल पल्लव नखमयूखरुचिर-प्रचुर-काश्मीरांगराग द्विगुणीकृतकनककमनीयकाय कान्तिभ्रमद्भ्रमर कुलविनील कुटिल सञ्चलत्कुन्तल कलाप लग्नदुग्धोदबिन्दुसन्दोहसन्दिग्धमूर्ध भूषणव्यक्त मुक्ताजालप्रकरकरकमल मुकुलालंकृत रुन्द्रललाटपट्ट, द्वात्रिंशदिन्द्रमणिमयकिरीटकोटिघट्टितपाद पीठ, पीठीकृतमन्दराचलशिखर शेखरीभूततिलकायमान महनीय महिमोदय, महिमोदयोद्भासि भगवज्जिनेन्द्रवृन्दवृन्दारक, श्रीमदजितभट्टारकजिन नमस्ते नमस्ते नमस्ते।"

इसी तरह ज्ञानकल्याणके समय भगवानके सम्मुख इन्द्रके मुखसे गीर्वाण भाषामें जो पद्य स्तोत्र कराया गया है उसके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

"जय जय जिनाधीश कनकघनसंकाश ।
जय जय जगत्तिलक कृतभव्यजनपुलक ॥
जय जय गुणाभरण सकलजनहितकरण ।
जय जय तमोविलय विमलतेजोनिलय ॥
+ + +
जय जय मनोजहर सद्धर्मतीर्थकर ।
जय जय जनानन्द केवलांकुरकन्द॥
जय जय जनाधार निर्दलितसंसार ।
+ + +
जयोत्तुंगसिंहासनासीनमूर्ते ।
जगच्चक्रविख्याततीर्थेशकीर्ते ॥
जय द्रोहमोहाहितोत्पातकेतो ।
महाघोरकर्मारिसंहारहेतो ॥
+ + +
प्रशान्तान्तरंग प्रभाभास्वरांग ।
प्रसिद्धाभिधान प्रमोत्तप्रधान ॥
प्रणष्टप्रमाद प्रकृष्टप्रमोद ।
प्रभूष्यद्गुणभस्ते नमस्ते नमस्ते ॥
+ + +

इस तरह महाकवि रन्नका यह संक्षिप्त परिचय है। दूसरे इतर विद्वानोंने इस कविरत्नके विषयमें जो अपने उद्गार प्रकट किये हैं उन्हें इस छोटेसे लेखमें बतलाना अशक्य है, तो भी एक + जैनेतर विद्वानके विस्तृत लेखका कुछ अंश यहाँ दे देना उचित समझता हूँ:—

"कर्णाटक भाषारमणीका सौन्दर्य इस रन्न रत्नसे ही द्विगुणित हुआ है, यह कोई अतिशयोक्ति नहीं। इस रत्नकी प्रभा कर्णाटक महाप्रासादका मांगलिक दीप है। यही कर्णाटकियोंका सौभाग्य रत्न है" ×।

इस तरहसे जैनेतर विद्वान जैनसाहित्यको अपना रहे हैं, धीरे धीरे उसे प्रकाशित करा रहे हैं—शीघ्र ही के० वसराज० एम० ए०, एल० एल० बी० महोदय मंगरसकविकृत जैन हरिवंशपुराणको प्रकाशित कराने वाले हैं। ऐसी हालतमें सम्पूर्ण भारतीय जैनियोंका कर्तव्य है कि वे उस भाषाके लिहाजसे नहीं तो धार्मिक वात्सल्यसे ही उन ग्रंथोंके उद्धारमें सहायक

× यहाँ पर उन अजैन विद्वान तथा उनके लेखादिकका नाम भी दे दिया जाता तो और भी अच्छा रहता। —सम्पादक

+ 'कर्णाटक कविचरिते'के लेखक नरसिंहाचार्यजीने इस कविकी प्रशंसामें लिखा है—"रन्न कविके ग्रन्थ सरस और प्रौढ रचना युक्त हैं। उसकी पद सामग्री, रचना शक्ति और बन्ध गौरव—आश्चर्यजनक है। पद्यप्रवाह रूप और हृदयग्राही हैं। साहसभीमविजयको पढ़ना शुरू करके फिर छोड़नेको जी नहीं चाहता है" (देखो, 'कर्णाटक जैनकवि') —सम्पादक

बनें। उन ग्रन्थोंमें क्या क्या भरा है इस बातको यदि हिन्दी आदि प्रचलित भाषा भाषियोंके सम्मुख अनुवाद करा कर रक्खा जाय तो बहुत कुछ लाभ तथा गौरव होगा। साथ ही, कर्णाटक भाषाकी उन्नति भी होगी। जब हमें दुनियाँ भरमें जैनधर्मको फैलाना है तो दुनियाकी उन भाषाओंको भी अपनाना होगा। परन्तु इतना ठेका लेनेकी बात तो दूर है, प्रथम तो हमारे पूज्य पूर्वज जिस कल्पलताको बढ़ा कर रक्ख गये हैं उसको तो सींचलें फिर दुनियाभरकी फ़िकर करनेके कहीं योग्य हो सकेंगे।

संपादकीय नोट—इसमें संदेह नहीं कि कर्णाटक भाषाका साहित्य एक प्रौढ साहित्य है और वह प्रायः जैनग्रंथोंसे ही परिपुष्ट है। १२वीं शताब्दीके पर्वार्ध तकका कनडीसाहित्य तो अकेले जैन विद्वानोंकी ही रचनाका प्रतिफल है और उसके बाद भी उसमें कई शताब्दी तक जैन लेखकोंकी प्रधानता रही है, ऐसा पुरातत्त्वज्ञोंका मत है। इस साहित्यमें अन्य बातोंके सिवाय जैनियोंके इतिहासकी प्रचुर सामग्री पाई जाती है। और इसलिये इसका उद्धार करना जैनियोंका ख़ास कर्तव्य है। परन्तु यह देख कर बड़ा दुःख और खेद होता है कि जैन जनता अपने इस पवित्र कर्तव्य से बिलकुल ही विमुख हो रही है! उसे यह भी पता नहीं कि कर्णाटक भाषामें—और इसी तरह तामिल भाषामें भी—कौन कौन जैन ग्रंथ हैं और वे किन किन आचार्यों अथवा विद्वानोंके बनाए हुए हैं। फिर उनमें क्या वर्णित है और वे कितना महत्व रखते हैं इसका पता लगानेकी तो बात ही निराली है। और वह पता लगाया भी कैसे जा सकता है जब कि हमारी शक्ति दिन रात अनावश्यक कार्योंके सम्पादन तथा आपसमें लड़ने झगड़नेमें ही खर्च होती रहती है और दूसरे उपयोगी तथा सार कार्योंके लिये अवशिष्ट ही नहीं रहती। अथवा हमने समझ लिया है कि जिनवाणी माताको तो खाली हाथ जोड़ने अथवा चावलके दाने चढानेसे भी काम चल जायगा और वह हम पर प्रसन्न हो जायगी; फिर कौन उसके लिये इतनी मग़ज़पच्ची करे!! प्राचीन कीर्तियाँ यदि नष्ट होती हैं तो होने दो! उनसे हमारा बनता और बिगड़ता क्या है? हमारी इस परिणति, समझ और लापर्वाही का ही यह परिणाम है जो बेकद्रों (अगुणज्ञों) के हाथ पड़े हुए रत्नकी तरह जैन साहित्यकी मिट्टी खराब हो रही है। और वह दिन पर दिन नष्ट होता चला जाता है। जिनवाणी के प्रति जैनियोंके कर्तव्यका अजैन लोग पालन करें यह जैनियों और खास कर जिनवाणीके भक्त कहलाने वालोंके लिये बड़े ही कलंक तथा लज्जाका विषय है। यदि जैनियोंमें अपने कर्तव्यका कुछ भी बोध, कुछ भी स्वाभिमान और अपने पूर्वजोंके प्रति कुछ भी सच्चा भक्तिभाव अवशिष्ट है तो उन्हें अपने प्राचीन साहित्य के उद्धारका कार्य शीघ्र ही अपने हाथमें लेना चाहिये। कनडी भाषाके उत्तमोत्तम ग्रन्थोंका जरूर हिन्दीमें अनुवाद होना चाहिये और इस भाषाके ग्रंथोंमें इतिहासकी जो कुछ भी सामग्री संनिहित है उस सबका एकत्र संग्रह किया जाना चाहिये। यदि कोई धनाढ्य अथवा विद्वान भाई इस उपयोगी कामके लिये अपनी सेवाएँ अर्पण करना चाहें तो समन्तभद्राश्रम उन्हें सादर स्वीकार करके कार्यकी योजना-द्वारा उनका सदुपयोग करनेके लिये तय्यार है।

सुभाषित मणियाँ

प्राकृत—

जियभयजियउवसग्गे जियइंदियपरीसहे जियकसाए।
जियरायदोसमोहे जियसुहदुक्खे णमंसामि ॥

—कुन्दकुन्दाचार्य।

'जिन्होंने भयों को जीत लिया, उपसर्गों को जीत लिया, इन्द्रियों को जीत लिया, परीषहोंको जीत लिया, कषायों को जीत लिया, राग-द्वेष-मोह पर विजय प्राप्त किया, सुख और दुखको जीत लिया उन सबके आगे मैं सिर झुकाता हूँ'—ऐसे ही योगिजन नमस्कारके योग्य हैं।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेयसि रज्जदि।
जेण मेत्ती पभावेज्ज तण्णाणंजिणसासणे ॥

—वट्टकेराचार्य।

'जिसके कारण राग-द्वेष-काम-क्रोधादिकसे विरक्तता प्राप्त हो, जिसके प्रतापसे यह जीव अपने कल्याणके मार्ग में लग जाय और जिसके प्रभावसे सर्व प्राणियोंमें इसका मैत्रीभाव व्याप्त हो जाय वही ज्ञान जिनशासन-को मान्य अथवा उसके द्वारा अभिनंदनीय है।'

"णो लोगस्सेसणं चरे।"

—आचारांग सूत्र।

'लोकैषणाका अनुसरण करना—लोगोंकी इच्छानुसार वर्तना, दुनियाकी देखादेखी चलना अथवा लोक-प्रवाहमें बहना—नहीं चाहिये।'

संस्कृत—

स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः
शान्तेर्विधाता शरणं गतानां।
भूयाद्भव-क्लेश- भयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥

—स्वामिसमन्तभद्र।

'जिन्होंने अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि दोषोंको शान्त करके अपनी आत्मामें शान्ति प्राप्त की है और इसलिए जो शरणागतोंको शान्तिके विधाता हैं उन शान्त्यात्मा जिनेन्द्रभगवान की मैं शरणमें प्राप्त होता हूँ। मेरे सांसारिक दुःख, क्लेश और भय सब शान्त हो जायँ।'

(इसमें सुखशांति क्या वस्तु है? कैसे प्राप्त होती है? प्राप्त करने वाला उसे दूसरोंको कैसे दे सकता है? और उपासना का मूल क्या है? इन सब बातोंको सूत्ररूपमें बड़ी ही युक्तिसे सूचित किया है, और इसमें यह पद्य बड़े महत्वका है।)

बन्धुर्न नः स भगवान रिपवोऽपि नान्ये,
साक्षान्न दृष्टचर एकतमोऽपि चैषाम्।
श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषं,
वीरं गुणातिशयलोलतया श्रिताःस्मः ॥

—हरिभद्रसूरि।

'भगवान महावीर हमारा कोई सगा भाई नहीं और न दूसरे कपिल गोतमबुद्धादिक ऋषि हमारे कोई शत्रु ही हैं—हमने तो इनमेंसे किसी एकको भी साक्षात् देखा तक नहीं है। हाँ, इनके पृथक् पृथक् वचनविशेष तथा चरितविशेषको जो सुना है तो उससे महावीरमें गुणातिशय पाया गया, और उस गुणातिशय पर मुग्ध होकर अथवा उसकी प्राप्तिकी उत्कट इच्छासे ही हमने महावीरका आश्रय लिया है।'

(इसमें माध्यस्थ्य भाव और परीक्षाप्रधानता का अच्छा प्रदर्शन किया गया है।)

"स्याद्वादो वर्तते यस्मिन पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडनं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते ॥"

'जिसमें सर्वत्र स्याद्वाद का वर्तन—अनेकान्त का व्यवहार—होता है, पक्षपात नहीं पाया जाता और न दूसरोंके पीडनका—हिंसाका—ही कुछ विधान है उसे जैनधर्म कहते हैं।'

" नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे
न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।

न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः
कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥"

'मुक्ति न तो केवल दिगम्बर होने में है और न श्वेताम्बर बनने में; न वह कोरे तर्कवादमें रक्खी है और न तत्त्ववाद में ही पाई जाती है; पक्षसेवाका आश्रय लेनेसे भी मुक्ति नहीं मिलती; मुक्ति तो वास्तव में कषायमुक्ति का ही नाम है और इसलिए वह क्रोध-मान-माया-लोभादिकसे छुटकारा पाने पर ही मिलती है।'

"आपदां कथितः पन्थाः इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥"

'आपदाओंका—दुःखोंका—मार्ग है इन्द्रियोंका असंयम, और इन्द्रियोंको जीतना—उन्हें अपने वशमें रखना—यह संपदाओंका—सुखोंका—मार्ग है। तुम्हें इनमेंसे जो मार्ग इष्ट हो उसी पर चलो—अर्थात् दुःख और मुसीबतें चाहते हो तो इन्द्रियोंके गुलाम बने रहो और नहीं तो संयमसे रह कर उन पर विजय प्राप्त करो।'

हिन्दी—

जिसने राग-द्वेष-कामादिक जीते सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति-भावसे प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो ॥
—'युगवीर'

\+ + +

अपनी सुधि भूल आप आप दुख उपायो,
ज्यों शुक नभ चाल विसर नलिनी लटकायो।
\+ + —दौलतराम

"कन्था ! रणमें जायके किसकी देखै बाट ?
साथी तेरे तीन हैं हिया, कटारा, हाथ ॥"

\+ + +

"जो तू देखे अन्धके आगे है एक कूप।
तो तेरा चुप बैठना है निश्चय अघरूप ॥"

\+ + +

"मनके हारे हार है मनके जीते जीत।"

\+ + +

प्रबल धैर्य नहीं जिस पास हो, हृदयमें न विवेक निवास हो।
न श्रम हो, नहिं शक्तिविकाश हो, जगतमें वह क्यों न निराश हो ॥
—'युगवीर'

उर्दू—

जिनके दिलमें यह यक़ीं[१] है कि, ख़ुदा ख़ुद हम हैं।
यह यक़ीं जानो, वही यादेख़ुदा रखते हैं ॥
—मंगतराय

× × ×

"बहुत ढूँढा मगर उसको न पाया।
अगर पाया तो खोज अपना न पाया ॥"

\+ + +

सबको दुनियाँ की हविस[२] ख़्वार[३] किये फिरती है।
कौन फिरता है ? यह मुर्दार लिये फिरती है ॥
—मंगतराय

\+ + +

भागती फिरती थी दुनियाँ जब तलब[४] करते थे हम।
अब हमें नफ़रत हुई वह बेक़रार[५] आने को है ॥
—स्वामी रामतीर्थ

\+ + +

"पर्दे की आर कुछ वजह [६]अहलेजहाँ नहीं।
दुनियाँ को मुँह दिखाने के क़ाबिल[७] नहीं रहे ॥"

\+ + +

इतनी ही दुश्वार[८] अपने ऐब की पहचान है।
जिस क़दर करनी मलामत[९] और को आसान है ॥
—'हाली'

आबरू[१०] क्या है? तमन्नाएवफ़ा[११] में मरना।
दीन[१२] क्या है? किसी कामिल[१३] की परस्तिश[१४] करना
—'चकबस्त'

फ़रिश्तेसे[१५] बहतर है इन्सान बनना।
मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़ियादा ॥
—'हाली'

\+ + +

जब मिटाकर अपनी हस्ती[१६] सुर्मा बन जाएगा तू।
अहलेआलम[१७] की निगाहों में समा जाएगा तू ॥
—'दास'

\+ + +

आगाह[१८] अपनी मौतसे कोई बशर[१९] नहीं।
सामान सौ बरस के हैं पलकी ख़बर नहीं ॥

१ विश्वास, २ तृष्णा, ३ खराब, ४ चाह-इच्छा, ५ आतुर-अधीर, ६ संसारमें ७ योग्य, ८ कठिन, ९ निन्दा, १० इज्जत-प्रतिष्ठा, ११ भलाईकी अभिलाषा, कर्तव्य पालन, १२ धर्म, १३ आप्तपुरुष, १४ उपासना, १५ देवता, १६ वर्तमान पर्यायका अस्तित्व, १७ दुनिया, १८ जानकार, १९ व्यक्ति,

स्वास्थ्यरक्षाके मूलमन्त्र

[ले०— श्रीमान् राजवैद्य पं० शीतलप्रसादजी]

इस संसारमें हमारे अनेकों प्रधान कार्योंमेंसे प्रमुख कर्तव्य अपने स्वास्थ्यकी रक्षा करना है। मेरी कामना है कि 'सर्व संसार नीरोग रहे'।

संसारका प्रत्येक कार्य चाहे वह सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं पारमार्थिक तथा आर्थिक दृष्टिसे किसी भी अवस्थाका हो—उच्च तथा अधम किसी भी श्रेणीमें विभाजित किया गया हो—उसके निभाने, पूरा करने तथा सुचारु-उपभोग करनेके लिये शरीरका आरोग्य—स्वस्थ रहना—नितान्त आवश्यक है।

यदि हमारी शरीरप्रकृति, अच्छी नहीं है तो जान-लीजिए हम संसारमें किसी भी योग्य नहीं हैं; औरोंका उपकार तो क्या, हम स्वयं अपना लघुतम-कार्य करने में भी असमर्थ हैं। स्वस्थ, मनुष्य अत्यन्त हीनावस्था होने पर भी सुखका अनुभव कर सकता है, और जो रोगी है उसके सम्मुख चक्रवर्तीका ऐश्वर्य भी तुच्छाति तुच्छ है—आनन्ददायक नहीं। बड़े बड़े महारथी छत्रपति शिवा जैसे शूरवीर भी, जिनकी हुंकारसे पृथ्वी हिलजाती थी और जिनके सम्मुख बड़े बड़े योद्धा धैर्य त्याग देते थे, जब व्याधि-व्यथासे पीडित होकर शय्या-शायी हो गए तब अबोध शिशुकी तरह रोते और बिलखते थे; बड़े बड़े विज्ञान-विशारद, जिनके विज्ञान-चातुर्यसे अनेकों कार्य ऐसे हो रहे हैं जिनको देख कर लोग आश्चर्य चकित होते हैं, वे भी जब रोग-ग्रस्त होते हैं तब मूर्खोंके समान अधीर हो कर रोते देखे गये हैं।

रोगावस्थामें धनीको धन, बलीको बल, विद्वानको विद्या, एवं राजाको राज्य भी प्यारा नहीं लगता,—यहाँ तक कि, प्यारे पुत्र-कलत्र, दास, दासी, घर, दूकान, सब कुछ दुःखके ही हेतु प्रतीत होते हैं। और इसलिये कहना पड़ता है कि संसारमें स्वास्थ्य (आरोग्य) के समान दूसरा पदार्थ नहीं है।

प्राय: देखा जाता है कि वर्तमान भारतीय-परिस्थितिमें शिक्षित अशिक्षित सभी समान रूपसे स्वास्थ्योन्नति के सम्बन्धमें उदासीन हैं, सर्व-साधारण तो क्या, एक प्रतिशत व्यक्ति भी स्वास्थ्यकी बातोंको नहीं जानते। इसका कारण है हमारे छात्रोंकी पढाईके कोर्समें स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तकोंका न होना अथवा उनको यह न सिखाया जाना कि किस आहार विहार तथा रहन सहन पर चलते हुए मनुष्य जीवन पर्यन्त स्वस्थ, बलिष्ठ और सुखी रह सकता है। बड़े बड़े उच्च शिक्षा प्राप्त बी०ए०, एम० ए० तथा न्यायतीर्थादिक स्वास्थ्य रक्षाके सम्बन्धमें उतने ही अनभिज्ञ हैं जितने कि अशिक्षित।

इसमें संदेह नहीं कि हमारा व्यक्तिगत-जीवन, कुछ तो शास्त्रोंकी आज्ञा के अनुसार चलने, कुछ पड़ी हुई आदतके सबब, और कुछ दूसरोंको करते देखकर, औरोंकी अपेक्षा बहुत कुछ साफ़ और शुद्ध है। इसका श्रेय हमारे पूर्वाचार्यों और अनेक धर्मउपदेशकोंको है, जिन्होंने आरोग्यताके नियमों को सर्वसाधरणके हितके लिए धर्म के रूप में ही वर्णन कर दिया है, जिससे कि जन-साधारण भी जिनकी बुद्धि इनके मूल तत्त्व और उद्देश्यको नहीं पहुँचे, केवल धर्म-भयसे ही

उनका ग्रहण व पालन करते रहें और कोई भी रोगी न हो। वास्तव में—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों का मूल आरोग्य है, और रोग उस आरोग्यको तथा श्रेय और जीवन को हरने वाले हैं। भावार्थ—धर्म, धन, मनोकामना एवं मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान-मूल आरोग्य है। सांसारिक-दुखों से छूटने का एक मात्र उपाय मोक्ष है, और आयुर्वेदके सिद्धान्तानुसार मोक्ष प्राप्ति की कुञ्जी आरोग्य में ही संनिहित है। यह तो निश्चित बात है, और उपचारसे मानना पड़ेगा कि, दुःखका अत्यन्ताभाव तथा अनुपम-सुखकी प्राप्ति मोक्ष है, शारीरिक दुःख और मानसिक-विकारोंसे छुटकारा पाए बिना दुःखोंका अत्यन्ताभाव नहीं होसकता, और दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति बिना मोक्षकी प्राप्ति असम्भव है, और मोक्षकी प्राप्ति बिना मनुष्य भवकी यात्रा निष्फल तथा अपूर्ण ही रह जाती है, जिससे बार बार जन्म-मरणके दुःख उठाने पड़ते हैं। आशा है, अब पाठक समझ गए होंगे, कि ऐहिक तथा पारमार्थिक सब सुखोंका मूल आरोग्य है।

यदि आप इस आरोग्यरूपी अमूल्य-रत्नके पारखी बन कर इसके अनन्त गुणोंको दीर्घ-दृष्टि-द्वारा-परीक्षा करेंगे, तो आपको इसकी सदाशयता, महत्ता, एवं ग्राह्यता का भान होगा। इसका प्रकाश-आलोक करनेके लिए प्रत्येक पुस्तकालय, छात्रालय तथा सार्वजनिक-स्थानोंमें, जहाँ प्रत्येक व्यक्तिकी दृष्टि पड़ती हो, 'स्वास्थ्यरक्षा' इन चारों अक्षरोंको मोटी लेखनी द्वारा सोने के पानीसे अंकित करना चाहिए, ताकि सर्वसाधारण इसकी अनिवार्य-आवश्यकता को नहीं भूलें, और उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते, हर समय इस पर अमल करते रहें. जिससे व्याधियोंको स्वयं निमन्त्रित करके मन चाहा कष्ट न उठावें।

अब मैं 'स्वास्थ्यरक्षा' अर्थात् नित्य आरोग्य बने रहने के वे उपयोगी नियम, जो श्री वैद्यशिरोमणि वाग्भट्टने, जिनके 'अष्टांगहृदय' ग्रन्थमें मंगलाचरणके प्रारम्भिक श्लोक में जैनत्व कूट कूट कर भरा हुआ है और जो उनके जैन होने का ज्वलन्त उदाहरण है, सूत्ररूपमें ओतप्रोत किये हैं, सर्व साधारण की हित-दृष्टिसे प्रकाशित करता हूँ, और इसी तरह समय समय पर 'अनेकान्त' पत्र-द्वारा पाठकों की सेवा करता रहूँगा।

नित्यं हिताहार-विहार-सेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान्
आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

—अष्टांगहृदय।

अर्थात्—जो प्रति दिन हित आहार और हित विहार करते हैं, ऐहिक तथा पारमार्थिक कार्योंमें हेय-आदेयका विचार कर ठीक आचरण करते हैं, भोग-विलास में आसक्त नहीं रहते, दान देनेकी प्रकृति रखते हैं, समताभाव धारण करते हैं, सत्यवादी तथा क्षमाशील होते हैं और आप्तपुरुषों (सज्जनों) की सेवा किया करते हैं—उनके गुणोंका अनुसरण करते हैं—वे सर्वदा ही नीरोग रहते हैं।

(अपूर्ण)

सम्पादकीय

१ समन्तभद्राश्रमकी योजना

जैनसमाजमें अर्सेसे कोई ठोस काम नहीं हो रहा है। प्रमाद, उपेक्षा, शक्तिके दुरुपयोग और आपसकी 'तू तू मैं मैं' के कारण प्राचीन कीर्तियाँ अथवा पुण्य-स्मृतियाँ दिन पर दिन नष्ट होती चली जाती हैं और उनके साथ ही समाज तथा धर्मका गौरव भी नष्ट हो रहा है। समाजके पास उसका कोई सुसंकलित इतिहास नहीं, उसने अपने विशेषत्व तथा अपनी पोज़ीशनको भुला दिया है और वह अपने कर्तव्यसे गिरकर पतनकी ओर चला जा रहा है—संख्या भी उसकी दिन पर दिन घटती जाती है। और ये सब बातें उसके तथा देशके लिये बड़ी ही हानिकर हैं। कितने ही भाइयोंके हृदयमें यह सब देखकर, दुख दर्दके साथ सेवाका भाव उत्पन्न होता है परंतु समाजमें कोई व्यवस्थित कार्य-क्षेत्र अथवा ऐसी योग्य संस्था न होने से, जो ऐसे भाइयों से उनके योग्य सेवा कार्य ले सके, उनके विचार यातो "उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः" की नीतिके अनुसार हृदयके हृदय में विलीन होजाते हैं—कुछ भी कार्य करते नहीं बनता—और या किसी दूसरे ही क्षेत्र में कूद पड़ने के लिये उन्हें बाध्य करते हैं। और इस तरह पर समाज अपनी व्यक्तियों की कितनी ही बहु-मूल्य सेवाओं से वंचित रह जाता है। अतः समाज तथा धर्मके उत्थान और लोक हितकी साधनाके लिये यह मुनासिब समझा गया कि देहली जैसे केन्द्र स्थान में, जो राजधानी होने तथा व्यापारिक विशेषताओं के कारण देशके अच्छे अच्छे विद्वानों तथा प्रतिष्ठित पुरुषों की आवागमन भूमि बनी रहती है, एक ऐसे सेवाश्रमकी सुदृढ़ योजना की जाय जिससे समाजमें सुव्यवस्थित रूप से सेवा-कार्य होता रहे। तदनुसार उसकी एक स्कीम, जो समाजके पत्रों में प्रकाशित हो चुकी है, देहली-जैनमित्रमंडलके गत महावीर-जयंती अवसर पर समाजके कितने ही विचारकोंके सामने रक्खी गई, जिसको सबने पसन्द किया और इस बात की जरूरत जाहिर की कि वह जितना भी शीघ्र कार्यमें परिणत हो सके उतना ही अच्छा है। चुनाँचे इस स्कीम के अनुसार देहलीमें 'समन्तभद्राश्रम' नामके सेवाश्रमको खोलने और उसका संचालन करनेके लिये चैत्रशुक्ला त्रयोदशी सं०१९८६ ता०२१ अप्रैल सन्१९२९ को, महावीरभगवानके जन्म दिवस पर 'वीरसेवकसंघ' नामका एक समाज क़ायम किया गया, जिसने तीन महीनेके बाद, आषाढी पूर्णिमा के शुभमुहूर्तमें, ता०२१ जुलाई सन १९२९को क़रौलबागमें—संघके सभापति ला० मक्खनलालजी ठेकेदारके विशाल भवनमें—इस सेवाश्रमकी स्थापना की, जिसके उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

आश्रमके उद्देश्य

(क) ऐसे सच्चे सेवक उत्पन्न करना जो वीरके उपासक, वीरगुण-विशिष्ट और प्रायः लोक-सेवार्थ दीक्षित हों तथा भगवान महावीरके संदेशको घर घर में पहुँचा सकें।

(ख) ऐसी सेवा बजाना जिससे जैनधर्मका समीचीन रूप, उसके आचार-विचारोंकी महत्ता, तत्त्वों का रहस्य और सिद्धान्तोंकी उपयोगिता सर्वसाधारण को मालूम पड़े—उनके हृदय पर अंकित होजाय—और वे जैनधर्मकी मूल बातों, उसकी विशेषताओं तथा उदार नीति से भले प्रकार परिचित होकर अपनी भूलको सुधार सकें।

(ग) जैन समाजके प्राचीन गौरव और उसके इतिहास

को खोज खोज कर प्रकाशमें लाना और उसके द्वारा जैनियोंमें नवजीवनका संचार करना तथा भारतवर्षका सच्चा पूर्ण इतिहास तय्यार करनेमें मदद करना।

(घ) वर्तमान जैनसाहित्यसे अधिकसे अधिक लाभ कैसे उठाया जा सकता है, इसकी सुन्दर योजनाएँ तय्यार करके उन्हें कार्य में परिणत करना और कराना।

(ङ) सुरीतियोंके प्रचार और कुरीतियोंके बहिष्कारमें सहायक बनना तथा दूसरे प्रकारसे भी समाजके उत्थानमें मदद करना और उसे स्वावलम्बी, सुखी तथा वर्द्धमान बनाना।

इन उद्देश्योंकी पूर्ति और सिद्धिके लिये यह आश्रम जिन कार्यों को अपने हाथमें लेना चाहता है उनकी एक सूची आश्रमकी विज्ञप्ति नं० १ में दी जा चुकी है*। उस पर से पाठकों को मालूम होगा कि, धर्म तथा समाज का उत्थान करने, उनके लुप्तप्राय गौरवको फिर से उजालने, प्राचीन कीर्तियों को सुरक्षित रखने, इतिहासका उद्धार करने, समाजके व्यक्तियों की ज्ञान-वृद्धि करके उन्हें उनके कर्तव्य का सच्चा बोध कराने अथवा जैनजाति की जीवित जातियों में गणना करा कर उसका भविष्य सुधारने और जैनशासन को समुन्नत बनाने के लिये ये सब कार्य कितने अधिक जरूरी हैं। साथ ही, यह भी अनुभव में आएगा कि ये संपूर्ण कार्य समाजके सहयोगकी कितनी अधिक अपेक्षा रखते हैं, कितने अधिक जन-धनकी इनके लिये जरूरत है—कितने विद्वानों, धनवानों तथा दूसरे सज्जनों की सेवा इन्हें चाहिये—आश्रमके बाहर भी कितने व्यक्तियों की इनमें योजना की जा सकती है और उन्हें समुचित सेवाकार्य दिया जा सकता है। अस्तु; आश्रमकी योजना हो चुकी—वह खुल गया—अब उसको निबाहना, स्थिर रखना और सफल बनाना यह सब समाजके हाथ की बात है और वैसा करना उसका परम पवित्र कर्तव्य है। अतः समाजके प्रत्येक व्यक्ति को आश्रमके प्रति शीघ्र ही अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिये—जो जिसके योग्य है, अपनी शक्ति को न छिपाकर, उसे उसी सेवाका भार अपने ऊपर लेना चाहिये। और इस तरह पर अपने को एक जीवित समाज का अंग साबित करना चाहिये।

* जिन्हें यह विज्ञप्ति अभी तक देखने को न मिली हो वे आश्रम से उसे मँगवाकर देख सकते हैं।

२ आश्रम का नामकरण

इस सेवाश्रमका नाम 'समन्तभद्राश्रम' रक्खा गया है और उसकी वजह है। समन्तभद्रका अर्थ है 'समन्तात् भद्र'—'सब ओर से भद्ररूप' और 'भद्र' कहते हैं कल्याण, मंगल, शुभ, श्रेष्ठ, साधु, मनोज्ञ, क्षेम, प्रसन्न और सानुकम्प को। जो सेवाकार्य सब ओरसे भद्ररूप न हो उसका कोई खास महत्व नहीं। एक सेवाश्रम को सब ओर से भद्ररूप—मंगलमय—होना ही चाहिये। आश्रमके संस्थापकोंका लक्ष्य इस आश्रम को सब ओरसे भद्रता में परिणत करके इसे 'समन्तभद्र' बनाने का है, और इसलिये यह इस आश्रमके नामकरण में पहली दृष्टि है।

दूसरे, समन्तभद्र 'जिन' का अथवा 'जिनेंद्र' का पर्याय नाम है। इसीसे जिनसहस्रनाम में "समन्तभद्रः शान्तारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः" इस वाक्यके द्वारा जिनदेवका एक नाम 'समन्तभद्र' भी दिया है। अमर-कोश के निम्न वाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है:—

समन्तभद्रो भगवान् मार जिल्लोकजिज्जिनः।

इसमें, पूर्वापर सम्बन्ध से, समन्तभद्रको बुद्ध का पर्याय नाम भी सूचित किया गया है और इससे इस नाममें और भी महत्व आजाता है। इस दृष्टि से जैनों द्वारा स्थापित होनेके कारण यह आश्रम समन्तभद्रका—जिनेंद्र का—अथवा महावीर जिनका आश्रम है, और इसमें भगवान महावीरके आदर्शोंका पालन होगा अथवा उनके शिक्षासमूह पर विशेष लक्ष रक्खा जायगा, ऐसा आशय संनिहित है। इसीको ध्यानमें रखकर आश्रम के पहले उद्देश्य की सृष्टि की गई है। बुद्ध का भी पर्याय नाम समन्तभद्र होने से यदि इस

आश्रमको एक प्रकार से अथवा उस दृष्टिसे जिससे बुद्धको समन्तभद्र नाम दिया गया है—बुद्धाश्रम भी कहा जाय या समझा जाय तो इसमें कोई हानि नहीं है।

तीसरे, जैनसमाज में स्वामी समन्तभद्र * नामके एक सुप्रसिद्ध सातिशय विद्वान आचार्य होगये हैं, जो एक बहुत बड़े लोक-सेवक थे और जिन्होंने जैनशासन के उद्धार तथा प्रचारके कार्यमें असाधारण भाग लिया है। कनड़ी भाषाके एक प्राचीन शिला लेखमें तो यहाँ तक लिखा मिलता है कि 'समन्तभद्रस्वामी श्रीवर्द्धमान महावीरके बाद उनके तीर्थकी सहस्रगुणी वृद्धि करतेहुए उदयको प्राप्त हुए'। आप अनेकान्त अथवा स्याद्वाद के अनन्य उपासक तथा द्योतक थे और इसीलिये साम्प्रदायिक कट्टरता से रहित थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें आप समानरूपसे पूज्य माने जाते हैं—कितने ही प्राचीन श्वेताम्बराचार्योंने अपने ग्रन्थों में बड़े गौरवके साथ आपके वाक्योंको प्रमाणमें उद्धृत किया है। इसके सिवाय, श्वेताम्बरों की 'गुर्वावली' में भी १७वें गुरुके रूपमें 'समन्तभद्र' नामके एक महान आचार्यका उल्लेख पाया जाता है और उन्हें आगम-कथित शुद्ध तपश्चरणके अनुष्ठाता तथा पूर्वश्रुतके पाठी तक लिखा है। यथा:—

> अथो गुरुश्चन्द्रकुलेंदुदेव-
> कुलादिवासोदितनिर्ममत्वः।
> समन्तभद्रः १७ श्रुतदिष्टशुद्ध-
> तपस्क्रियः पूर्वगतश्रुतोऽभूत ॥२८॥
> —मुनि सुन्दरसूरिः।

इसके बाद गुर्वावलीमें, "वृद्धस्ततोऽभून् किल देवसूरिः १८ शरच्छते विक्रमतः सपादे" वाक्य के द्वारा, देवसूरिका उल्लेख करते हुए उनका समय वि०सं०१२५ दिया है और इस तरह पर समन्तभद्रका समय विक्रम सं० १२५ तक सूचित किया है। यह समय उस समय से मिलता जुलता है जो दिगम्बर सम्प्रदायमें आमतौर पर समन्तभद्रका समय माना जाता है। और इससे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनोंकी गुर्वावलियों अथवा पट्टावलियोंमें प्रसिद्ध समन्तभद्रका व्यक्तित्व बहुत करके एक ही जान पड़ता है। यदि एक न भी हो तो भी इस नामकरणमें उससे कोई भेद नहीं आता। अस्तु; इन आचार्य महोदयके नामकी दृष्टिसे यह आश्रम समन्तभद्र स्वामीका आश्रम है—अर्थात्, एक प्रकारसे अपने महान उपकारी आचार्य महोदयका स्मारक है और हमें उनके मार्गका अनुसरण करना अथवा उनके आदर्श पर चलनेकी याद दिलाता है। साथ ही, हमारी कृतज्ञताका भी एक सूचक है। इस तरह आश्रमका यह नामकरण अनेक दृष्टियोंको लिये हुए है—किसी एक ही दृष्टिका इसमें आग्रह नहीं है। जिन्हें जो दृष्टि इष्ट हो वे इसे उस दृष्टिसे देखें। सर्व साधारण जनता इसे 'समन्तानभद्र' नामकी पहली दृष्टिसे देखे, अविभक्त जैनसमाज इसको जिनेंद्राश्रम अथवा जैनाश्रमके रूपमें अवलोकन करे और विभक्त जैनसमाजके उपासक इसे अपनी अपनी गुर्वावलीमें कहे हुए समन्तभद्राचार्यके स्मारक रूपमें ग्रहण करें, इसमें कुछ भी आपत्ति नहीं है। इस नामकरणमें अनेकान्तका काफ़ी आश्रय लिया गया है और उस पर लक्ष रखते हुए यही नाम सबसे अच्छा जान पड़ा है। इसमें साम्प्रदायिकता का कोई ख़ास भाव नहीं है। अतः जिन भाइयोंका ऐसा ख़याल हो उन्हें उसको अपने हृदयसे निकाल देना चाहिये और सबको मिलकर इस आश्रमको सफल बनानेका पूरा उद्योग करना चाहिये। यह संस्था अपने व्यवहार से जैनसमाजके सभी सम्प्रदायों को मिलाने अथवा उनमें प्रेम प्रतिष्ठित करके व्यावहारिक तथा सामूहिक एकता स्थापित करनेके लिये एक पुलका काम करे, ऐसा हृदयसे चाहा जाता है।

* इनका विशेष परिचय पानेके लिये 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास देखना चाहिये।

३ पत्रका अवतार, रीति-नीति और सम्पादन

जबसे जैनहितैषी बन्द हुआ है तबसे जैनसमाजमें एक अच्छे साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पत्रकी जरूरत बराबर महसूस हो रही है, और सिद्धान्तविषयक पत्र-की जरूरत तो उससे भी पहलेसे चली आती है। इन दोनों जरूरतोंको ध्यानमें रखते हुए, समन्तभद्राश्रमने अपनी उद्देश्यसिद्धि और लोकहितकी साधनाके लिये सबसे पहले 'अनेकान्त' नामक पत्रको निकालनेका महत्वपूर्ण कार्य अपने हाथमें लिया है और यह निश्चय किया है कि इस पत्रकी मुख्य विचारपद्धति अपने नामानुकूल उस न्यायवाद (अनेकान्तवाद) का अनु-सरण करने वाली होवे जिसे 'स्याद्वाद' भी कहते हैं। और इस लिये इसमें सर्वथा एकान्तवादका—निरपेक्ष नयवादका—अथवा किसी सम्प्रदायविशेषके अनुचित पक्षपातको स्थान नहीं होगा, यह स्वाभाविक ही है। इसकी नीति सदा उदार और भाषा शिष्ट, सौम्य तथा गंभीर रहेगी।

परन्तु पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि ऐसे महत्वपूर्ण तथा जिम्मेदारीके पत्रका सम्पादनभार एक ऐसे शख्सके सिर पर रक्खा गया है जिसे न तो किसी बड़े विद्यालयमें ऊँची शिक्षा मिली है और न कोई डिगरी या उपाधि ही प्राप्त है। और जो अन्य प्रकार से भी इस भारको भले प्रकार उठानेके योग्य नहीं। यह ठीक है कि, मेरे द्वारा कुछ वर्षों तक जैनगजट और जैनहितैषी जैसे पत्रोंका संपादन होता रहा है। परंतु एक तो इस बातको युग बीत गये हैं—जैन-हितैषीका संपादन छोड़े भी ९ वर्ष हो चुके हैं—उस वक्त जो शक्ति थी वह आज अवशिष्ट नहीं है। अनु-भवकी वृद्धि होने पर भी शरीरकी जीर्णताके कारण काम करनेकी शक्ति दिन पर दिन कम होती जाती है। साथ ही, लोक-रुचि भी बहुत कुछ बदल गई है। दूसरे, उन पत्रोंके संपादन और इस पत्रके संपादनमें बहुत बड़ा अन्तर है। इस पत्रके संपादनके लिये जिस योग्यताकी जरूरत है उसकी मैं अपने में बहुत बड़ी कमी देखता हूँ, मुझे अपनी त्रुटियोंका बोध है और इस लिये इस गुरुतर भारको उठाने के लिये मैं अपनेको असमर्थ समझता हूँ। मेरी असमर्थता और भी बढ़ जाती है जब मैं देखता हूँ कि आश्रमके अधिष्ठातृत्वका भार भी मेरे ही कन्धों पर रक्खा हुआ है और मुझे प्रबन्ध-सम्बन्धी छोटी बड़ी सब चिन्ताओं में भाग लेना तथा दिन रात इधर उधर दौड़ना पड़ता है—दूसरे किसी भी सज्जनने अभी तक आश्रमको अपनी सेवाएँ अर्पण करके मेरे इस बोझ को हलका नहीं किया है और न धनवानोंने इतना धन ही दिया है जिसके बल पर योग्य व्यक्ति वेतन पर रक्खे जा सकें। ऐसी हालतमें मेरे सामने जो कठिनाई उपस्थित है उसे मैं ही जानता हूँ। फिर भी चूँकि आश्रमादिककी यह सारी योजना मेरी तहरीक पर हुई है इसलिये दूसरे किसी योग्य व्यक्ति अथवा सार्थी के मिलने तक, उपायान्तर न होने से, मुझे ही इन दोनों भारोंको उठानेके लिये विवश होना पड़ा है। मैं कहाँ तक इन्हें उठा सकूँगा, यह सब समाजके सहयोग पर उसमें सेवा भावकी जागृति और उदारताके उदय पर—अवलम्बित है। इस स्थितिमें, जिसे बदलते कुछ देर नहीं लगती, यद्यपि पत्रका सम्पादन जैसा चाहिये वैसा नहीं हो सकेगा तो भी मैं इतना विश्वास जरूर दिलाता हूँ कि, जहाँ तक मुझसे बन सकेगा, मैं अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार पाठकोंकी सेवा करने और इस पत्र को उन्नत तथा सार्थक बनाने में कोई बात उठा नहीं रक्खूँगा। आशा है मेरे इन संकल्पों तथा विचारोंको पूरा करानेके लिए पाठक हर प्रकारसे मेरी मदद करेंगे, मुझे मेरी त्रुटियाँ बतलाते रहेंगे और इस बातकी पूरी कोशिश रखेंगे कि अनेकान्तके विचार यथावत रूपमें अधिकसे अधिक जनताके पास पहुंचे और उसे बराबर पढ़नेको मिलते रहें। ऐसा होने पर वह दिन भी दूर नहीं रहेगा जब कि जैनसमाजकी मौजूदा स्थिति बदल जायगी, उसमें नवजीवनका संचार होगा और जैनधर्मका उसके असली रूपमें सबको दर्शन हुआ करेगा।

४ जैनी नीति

जिनेंद्रदेवकी अथवा जैन धर्मकी जो मुख्य नीति है और जिस पर जिनेन्द्रदेवके उपासकों तथा जैनधर्मके अनुयायियोंको—जैनियोंको—चलना चाहिये उसे 'जैनी नीति' कहते हैं। जैनियोंकी नीति भी इसीका नाम है। वह जैनी नीति क्या है? अथवा उसका क्या स्वरूप और व्यवहार है? इस बातको श्रीअमृतचंद्र सूरिने अपने एकवाक्यमें अच्छी तरहसे दर्शाया है, जो इस प्रकार है:—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयंती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिवगोपी॥

इसमें, जैनी नीतिको दूध-दही बिलोने वाली ग्वालिनीकी उपमा देते हुए, बतलाया है कि—जिस प्रकार ग्वालिनी बिलोते समय मथानीकी रस्सीको दोनों हाथोंसे पकड़ कर उसके एक सिरे (अन्त)को एक हाथसे अपनी ओर खींचती और दूसरे हाथसे पकड़े हुए सिरेको ढीला करती जाती है, फिर उस ढीला किए हुए सिरेको अपनी ओर खींचती और पहले खींचे हुए सिरेको ढीला करती जाती है; एकको खींचने पर दूसरेको बिलकुल छोड़ नहीं देती किन्तु पकड़े रहती है; और इस तरह बिलोनेकी क्रियाको ठीक संपादन करके मक्खन निकालने रूप अपना कार्य सिद्ध कर लेती है। ठीक उसी प्रकार जैनी नीतिका व्यवहार है। वह जिस समय अनेकान्तात्मक वस्तुके द्रव्य-पर्याय या सामान्य-विशेषादिरूप एक अन्तको—धर्म या अंशको—अपनी ओर खींचती है— अपनाती है —उसी समय उसके दूसरे अन्त (धर्म या अंश) को ढीला कर देती है—अर्थात्, उसके विषयमें उपेक्षा भाव धारण कर लेती है। फिर दूसरे समय उस उपेक्षित अन्तको अपनाती और पहलेसे अपनाए हुए अन्तके साथ उपेक्षाका व्यवहार करती है—एकको अपनाते हुए दूसरेका सर्वथा त्याग नहीं करती, उसे भी प्रकारान्तरसे ग्रहण किये रहती है। और इस तरह मुख्य-गौणकी व्यवस्था-रूप निर्णय-क्रियाको सम्यक् संचालित करके वस्तुतत्वको निकाल लेती है—उसे प्राप्त कर लेती है। किसी एक ही अन्त पर उसका एकान्त आग्रह अथवा कदाग्रह नहीं रहता—वैसा होने पर वस्तुकी स्वरूपसिद्धि ही नहीं बनती। वह वस्तुके प्रधान अप्रधान सब अन्तों पर समान दृष्टि रखती है—उनकी पारस्परिक अपेक्षाको जानती है—और इसलिये उसे पूर्ण रूपमें पहचानती है तथा उसके साथ पूरा न्याय करती है। उसकी दृष्टिमें एक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षासे यदि नित्य है तो पर्यायकी अपेक्षासे वही अनित्य भी है, एक गुणके कारण जो वस्तु बुरी है दूसरे गुणके कारण वही वस्तु अच्छी भी है, एक वक्तमें जो वस्तु लाभदायक है दूसरे वक्तमें वही हानिकारक भी है, एक स्थान पर जो वस्तु शुभरूप है दूसरे स्थान पर वही अशुभरूप भी है और एकके लिये जो हेय है दूसरेके लिये वही उपादेय भी है। वह विषको मारने वाला ही नहीं किन्तु जीवनप्रद भी जानती है, और इस लिये उसे सर्वथा हेय नहीं समझती।

इस जैनी नीतिका ही मुख्य नाम 'अनेकान्त' नीति अथवा 'अनेकान्तवाद' है, जो अपने स्वरूपसे ही सौम्य, उदार, शान्तिप्रिय, विरोधका मथन करने वाली, वस्तुतत्व की प्रकाशक और सिद्धिकी दाता है। खेद है, जैनियोंने अपने इस आराध्य देवता 'अनेकान्त' को बिल्कुल भुला दिया है और वे आज एकान्तके अनन्य उपासक बने हुए हैं उसीका परिणाम उनका मौजूदा सर्वतोमुखी पतन है, जिसने उनकी सारी विशेषताओं पर पानी फेर कर उन्हें संसारकी दृष्टिमें नगण्य बना दिया है। अस्तु; जैनियोंको फिरसे अनेकान्तका स्मरण कराते हुए उनमें अनेकांतकी प्राणप्रतिष्ठा कराने और संसारको अनेकान्तकी उपयोगिता बतलानेके लिये ही यह पत्र 'अनेकान्त' नामसे निकाला जा रहा है। और इसलिये इसे जैनी नीतिका द्योतक समझना चाहिये।

अभिनन्दन और प्रोत्साहन

'समन्तभद्राश्रम' की स्थापना और 'अनेकान्त' पत्रकी योजना पर समाजके जिन विद्वानों, प्रतिष्ठित पुरुषों, और पत्र-सम्पादकोंने अपने हार्दिक विचार प्रकट किये हैं और उनके द्वारा इन कार्योंका अभिनन्दन करते हुए संचालकोंको प्रोत्साहन दिया है उनमेंसे कुछ सज्जनोंके विचार, उनका आभार मानते हुए, नीचे दिये जाते हैं, जिससे पाठकोंको इन कार्यों की उपयोगिता और आवश्यक्ताका और भी ज्यादा अनुभव होने लगे और वे आश्रमके प्रति अपना कर्तव्य पालन करनेके लिये विशेष रूपसे सावधान होवें:—

१ रायबहादुर साहु जुगमन्दरदासजी, चेयरमेन डिस्ट्रिक्टबोर्ड, आनरेरीमजिष्ट्रेट, नजीबाबाद—

"मैं आश्रमकी प्रत्येक सेवा करनेको सदैव प्रस्तुत हूँ। वास्तवमें आश्रम खोल कर जैनसमाजकी एक बहुत बड़ी आवश्यक्ताको पूरा करनेका आपने सराहनीय प्रयत्न किया है। इसके लिये आप विशेष धन्यवादके पात्र हैं।"

२ साहु रघुनन्दनप्रसादजी जैन रईस अमरोहा—

"मेरा हृदय आपकी संस्थाके साथ है, अपनी शक्ति अनुसार इसकी सेवाका प्रयत्न करता रहूँगा।"

"मेरी यह अन्तरंग हार्दिक अभिलाषा है कि यह शुभ कार्य जैन समाजमें प्राण डाल कर उसको उन्नति पथ पर ले जावे।"

३ स्याद्वादवारिधि न्यायालंकार पं० वंशीधर जी, इन्दोर—

"आपने जो श्री भगवत्तीर्थकृत्कल्प स्वामी समन्तभद्राचार्यके नाम पर आश्रम खोल कार्य करने की स्कीम सोची है अगर तदनुसार कार्य होने लग जाय तो सचमुच ही एक नयी क्रान्ति पैदा हो जाय, समाजके लब्धप्रतिष्ठ मध्यस्थ विद्वानों की शक्तिका सदुपयोग होने लग जाय, वर्तमान गन्दा वातावरण हट कर एक नई सुगन्ध एवं स्फूर्ति देनेवाली हवा बहने लग जाय— गरज़ यह है कि जैन धर्मका सच्चा प्रचार होने लग जाय। इस स्कीमके तय्यार करने और तदनुसार कार्य होने लगनेकी आयोजनामें जो आप लगे हुए हैं उसके लिये आप धन्यवादार्ह हैं।"

४ पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई—

"आपकी स्कीमको मैं अच्छी तरह पढ़ गया हूँ। मुझे उसमें कोई त्रुटि नहीं मालूम होती है। यदि आपकी यह स्कीम सफल हो, तो सचमुच ही बहुत काम हो। एक तो सफल होनेके लिये अच्छी रक़म चाहिये और अच्छे आदमी मिलने चाहियें। अच्छे आदमियोंके मिलनेमें मुझे सन्देह है। मैं आपको क्या सहायता दे सकता हूँ, सो आप जानते हैं। मुझसे तो आप बलात् भी सहायता ले सकते हैं।"

५ दयासागर पं० बाबूरामजी, आगरा—

"मेरी हार्दिक इच्छा है कि श्रीमान्का लगाया हुआ यह पौदा हरा भरा हो और समाजका इससे कल्याण हो। मैं सभासद ही नहीं श्रीमान्के आश्रममें रह कर अपना जीवन सुधारूँगा। मुझे आपसे समाजहितकी बहुत बड़ी आशा थी जो प्रभुने पूर्ण की। बहुत शीघ्र मैं आपकी सेवामें हाज़िर हूँगा।"

६ वाणीभूषण पं० तुलसीरामजी, काव्यतीर्थ, बड़ौत—

"आश्रम-स्थापनसे पहले ही आपके प्रति मेरा श्रद्धाभाव है। इस आश्रमकी स्थापनासे उसमें और वृद्धि हुई है। वास्तवमें यदि कभी जैनसमाजके जैनसाहित्य-संशोधन, तत्परिमार्जन, तदुन्नयन, तदभिवर्धनका कोई इतिहास लिखा जायगा तो वर्तमानके ऐसे कृतप्रयत्नोंमें आपका नाम सर्व प्रथम सुवर्णाक्षरोंमें अंकित किया जायगा। वास्तवमें आपने अपने अनवरत परिश्रम एवं मनन अध्यवसायद्वारा जिस उच्च कोटिके स्थायी एवं आदर्श साहित्यका निर्माण किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा। इसमें उपर्युक्तको आप निरा अर्थवाद न समझें, यह तो वज्रसत्य वस्तुस्थिति है। मुझे आपके इस महान उद्देश्यके प्रति हार्दिक सहानुभूति है।"

७ पं० लोकनाथजी शास्त्री, मूडबिद्री —

"समन्तभद्राश्रमकी स्थापना और 'अनेकान्त' पत्रकी योजना वगैरह कार्योंको सुन कर मनमें अतीव उत्साह तथा आनन्द प्राप्त हो जाता है।······धर्म तथा समाजका उत्थान तथा पुनरुद्धार करनेके लिये ऐसे ठोस काम अत्यधिक जरूरी है। जैनसमाजमें काफी विद्वान तथा श्रीमान लोग भी हैं, किन्तु सच्चे हृदयसे धर्मोन्नति-सेवा करने योग्य व्यक्तियोंका अभाव है। अतएव आपके धर्म तथा समाजोद्धारके कामसे पूर्ण संतुष्ट हो कर सहानुभूतिके साथ श्रीजिनेन्द्र भगवानसे प्रार्थना करता हूँ कि आप युगवीरके मनवांच्छित-काम निर्विघ्नता से सफल साध्य हो जावें, तथा आप कीर्तिमान बनें। ऐसे कामोंसे मैं पूर्ण सहमत हूँ।"

८ पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ, बीकानेर

"मंगलमय समन्तभद्राश्रमकी स्थापनाके समाचार पत्रोंमें पढ़ कर अत्यन्त आनंद हुआ है। मुझे पूर्ण आशा है कि पूज्य आचार्यके परोक्ष आशीर्वाद तथा आप जैसे 'युगवीर' के अमूल्य परिश्रमसे आश्रमको अनुपम सफलता प्राप्त होगी। आश्रमको सफलता मिलना समाजको नवजीवन मिलना है। वास्तवमें ऐसे ठोस कार्यकी आवश्यक्ता थी। भविष्यकालीन प्रजा आपके इस विवेकपूर्ण परिश्रमके आगे अवश्य ही सिर झुकावेगी।"

९ पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, धर्माध्यापक स्याद्वादविद्यालय, काशी—

"आपने जिस महत्कार्यके करने का बीड़ा उठाया है वह सर्वथा सराहनीय एवं प्रशंसनीय है। जैनसाहित्य एवं सिद्धान्तके रहस्यपूर्ण तथ्यों का उद्भावन इस समय बहुत आवश्यक है। मैं मनसा वाचा कर्मणासे आपके इस अभिनन्द्रनीय प्रयास का स्वागत करता हूँ-और श्रीमज्जिनेंद देवसे प्रार्थना करता हूँ कि आश्रम दिनोंदिन उन्नतिशील होकर संसारके सन्मुख जैनधर्म की कीर्ति को दिगन्तव्यापिनी बनाये। आपने जो मुझे सेवाकार्य करनेके लिये आमंत्रित किया है इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।"

१० पं० कमलकुमारजी शास्त्री, गुना (ग्वालियर)—

"आपने सपरिश्रम अनेकानेक बाधाओंके आते हुए भी समन्तभद्राश्रम स्थापित करके जैनजनतामें बड़ी भारी त्रुटिकी पूर्ति करके वात्सल्यताका परम पवित्र परिचय दिया है।"

११ पं० धन्यकुमारजी 'सिंह', कलकत्ता—

"आश्रमके जरियेसे समाजमें समाजसेवक और यथार्थ धर्मरक्षक वीर पैदा होंगे यही आशा मुझे बार बार पुलकित कर रही है। आपको अन्तःकरणसे अनन्त धन्यवाद है। आप जीएँ, आपका आश्रम चिरंजीव हो, 'अनेकान्त' चिरंजीव हो जयवन्त हो। आश्रम और अनेकान्तकी कुछ भी सेवा कर सका तो मैं अपनेको धन्य

मानूंगा"। "मुझे आपके इस कार्यसे इतनी खुशी है जितनी आपको। क्या यह 'विश्वभारती' या 'शांतिनिकेतन' की तरह किसी तरह न चमकेगा? अवश्य चमकेगा। संगठन होना चाहिये। मैं हर समय आश्रमकी और अनेकान्तकी सेवा करनेको तय्यार हूँ। मैं युवक हूँ और युवक रहूँगा। मुझ से समय समय पर अवश्य सेवा लिया कीजिये। आपने जातिको जमानेका कार्य उठाया है समाज इसके महत्वको दश बर्ष बाद समझेगा। युवकोंको कार्य सिखाइये और रास्ता दिखा जाइये।"

१२ पं० दीपचन्दजी वर्णी, अधिष्ठाता 'ऋषभब्रह्मचर्याश्रम' मथुरा—

"आश्रम कल दिन शुभ मुहूर्त में खुल गया यह जान कर अत्यंत हर्ष हुआ। आपकी चिरकालकी शुभ भावनाओंका ही यह फल है और आशा है कि यह आश्रम वास्तविक धर्मप्रभावना का इस कालमें प्रधान कारण होगा।"

१३ पं० अर्हद्दासजी, रईस पानीपत—

"मैं हर किस्मकी मददके लिये तय्यार हूँ। आपके इस कामको कामयाब बनानेके लिये आषाढ सावनमें चंदा करनेका भी इरादा है।" "मैं आपकी स्कीम और ख्यालसे मुताबकत रखता हूँ। आप कोई फिकर न करना, अनक़रीब मैं भी हाज़िर खिदमत हूँगा।"

१४ मुनि न्यायविजयजी, बड़ौदा—

"आपका प्रयत्न महान् स्तुत्य है। सरस्वतीके ढंग की एक मासिक पत्रिका की जैनसमाजमें सख्त जरूरत है। आपने उसे पूरा करने का बीड़ा उठाया है सो बहुत आनन्द की बात है।"

१५ बाबू अजितप्रसादजी एम० ए० जज हाई कोर्ट, बीकानेर—

"अगर मेरे जज़बएदिलमें असर है और दुआमें कुछ ताक़त है और अलफ़ाजमें कुछ कुदरत है तो हमेशा इस तजवीज़कर्दा आश्रम और संघकी तरक्कीके लिये है।" "यदि अब भी जैनसमाज सचेत होजाय, और श्री समन्तभद्राश्रम की शरण लेकर अपने द्रव्य, समय और शक्तिका सदुपयोग करे, तो समाजका उत्थान, धर्मकी प्रभावना कष्ट-साध्य नहीं है। फिर भी जैनधर्म दिगन्तव्यापी सार्वधर्म हो कर संसार का कल्याणकर हो सकता है।"

१६ बाबू हीरालालजी एम० ए०, प्रोफेसर किंग एडवर्ड कालिज, अमरावती—

"आपकी समन्तभद्राश्रम वाली स्कीम बहुत अच्छी है आशा है जैन संसार उसे सच्चे हृदयसे अपनावेगा।"

१७ बाबू भगवानदासजी बी०ए० रिटायर्ड-हेडमास्टर इलाहाबाद—

"कार्य अति सराहनीय है जो चल जावे," "आप मुझे यहाँ रह कर उचित सेवाके विषयमें अवश्य लिखिये।"

१८ बाबू चेतनदासजी बी० ए० हेडमास्टर ग० हाई स्कूल मथुरा—

"मुझे बड़ा हर्ष है कि आपने धर्म तथा समाज के उत्थान का काम अपने हाथमें लिया। कार्यसूची बहुत अच्छी बनी है।..............

मैंने पहिली नवम्बरसे सर्विससे रिटायर होनेके लिये छुट्टी लेली है। इसलिये आपके आश्रमके नियमोंके अनुसार कुछ काम करने का अवसर अवश्य मिल सकेगा। और जहाँ तक हो सकेगा सभी कामोंमें कुछ न कुछ सहायता देने का प्रयत्न करूँगा।"

१९ बा० ऋषभदासजी बी०ए० वकील मेरठ,

"काम आपने यह बहुत अच्छा शुरू किया है और बड़े महत्व का है। लेकिन इसमें लाखों रुपये की जरूरत है। मेरे ख्यालमें जैनसमाजसे इस क़दर रुपया इकट्ठा होना नामुमकिन है—

खासकर आज कल जब कि जैनसमाज का वातावरण इस क़दर बिगड़ा हुआ है कि जैन-समाजके धनाढ्य हर एक सुधारक व हर समाज के कामसे चाहे वह काम समाजसुधार का हो चाहे तालीम का खिलाफ रहते हैं।"

२० बा०कन्हैयालालजी स्टेशनमास्टर, जेरठी—

"श्रीसमन्तभद्राश्रमके स्थापित होनेकी अतीव प्रसन्नता हुई है और आशा है कि उसके द्वारा जैनसमाज का सुधार होगा। चूँकि मैं भी जैन समाज का तुच्छ सेवक होकर सेवा करना चाहता हूँ इसलिये मेरा नाम भी सभासदोंमें कृपया दर्ज कर लीजिये। मैं यथाशक्ति तन मन धनसे सेवा बजानेकी कोशिश करूँगा।"

२१ महिलारत्न मगनबाई जे०पी०, बम्बई—

"आपका कार्य अच्छी तरह से उन्नति पर आवे ऐसी मेरी हार्दिक भावना है।"

२२ बा० कामताप्रसादजी, सम्पादक 'वीर'

"मुझे अपने साथ समझिये। मेरा स्वास्थ्य मुझे चाहता हूँ वैसी सेवा करने नहीं देता फिर भी जो बन पड़ेगा करने को तय्यार हूँ।" "मैं आश्रमकी उन्नति का ही इच्छुक हूँ" "सेवा करनेके लिये हर वक्त तय्यार हूँ।"

२३ बा० फतहचंदजी सेठी, अजमेर—

आशा है आपकी यह स्कीम दृढता पूर्वक संचालित की जावेगी तथा समाज की एक बड़ी भारी आवश्यक्ता की पूर्ति करेगी। मैं इसकी सफलता चाहता हूँ तथा यथाशक्ति सेवाके लिये तय्यार हूँ।"

२४ बा०ज्योतिप्रसादजी,स०'जैनप्रदीप'देवबन्द

"आश्रम खुल गया हर्ष हुआ, मेरी भावना है कि सफलता मिले।···के विवाहकी चिंता है इससे छुटकारा पाकर रिटायर होनेका निश्चय है फिर आश्रममें रह कर मैं भी निज-परका कार्य कर सकूँगा।"

लेखकोंको आह्वान।

'अनेकान्त' पत्र किसी आर्थिक उद्देश्यको लेकर नहीं निकाला जा रहा है, किन्तु आश्रमको उसके उद्देश्योंमें सफल बनाते हुए लोकहितको साधना अथवा लोक सेवा बजाना ही इस पत्रका एक मात्र ध्येय होगा, जिसमें भाग लेना सभी सज्जनोंका कर्तव्य है। अतः इस सेवायज्ञमें भाग लेनेके लिये देशके सभी सुलेखकोंको सादर आह्वान तथा आमंत्रण है और उनसे निवेदन किया जाता है कि वे प्रौढ़ विचारों तथा गहरे अनुसंधानको लिये हुए अपनी सुललित लेखनी द्वारा जनताको लाभ पहुँचानेका भरसक यत्न करें। और इस तरह इस पत्र तथा आश्रमको उसके उद्देश्योंमें सफल बनाएँ। जो लेख असाधारण महत्वके समझे जायँगे उनपर वर्षके अन्तमें पुरस्कार भी दिया जा सकेगा, ऐसी योजना की जा रही है।

लेखोंके कुछ विषय

लेखोंके कुछ विषय, स्तंभ अथवा शीर्षक नीचे दिये जाते हैं, जिन पर उत्तम लेखोंके लिखे जानेकी जरूरत है। लेखक महाशय चाहें तो इनमेंसे किसीको अपने लेखके लिये पसन्द कर सकते हैं:—

१—अनेकांत-तत्त्व (रहस्य या दृष्टि)
२—अनेकांतवादकी मर्यादा
३—अनेकांतवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगीवाद
४—जैनागमका प्राण, अथवा परमागमकी जान
५—अनेकांतवाद और लोक-व्यवहार(अथवा जैनप्रवृत्ति)
६—एकांतवादकी सदोषता, ७—परीक्षाकी प्रधानता
८—तत्त्वविवेक, अथवा जैनतत्त्वज्ञान
९—दर्शनशास्त्रोंका तुलनात्मक अध्ययन
१०—जैनधर्मकी उदारनीति, ११ जैनी अहिंसा
१२—भक्तिमार्ग और स्तुति-प्रार्थनादि-रहस्य
१३ सेवा-धर्म, १४ युग-धर्म
१५ देशकालानुसार वर्तनका रहस्य
१६ अहिंसा और दयाकी परिभाषा
१७ संयमकी मर्यादा, १८ सत्यासत्य-विवेक

१९ दानका अर्थशास्त्र, २० पात्रदान रहस्य
२१ खादीके व्यवहारमें त्यागका तत्त्व
२२ परोपकार और स्वोपकार
२३ जीवाजीव परिज्ञान, २४ बंध-मोक्ष-तत्त्व
२५ पुण्य-पाप-रहस्य, २६ आत्मतत्त्व-विनिश्चय
२७ आत्मा और परमात्मा
२८ इंद्रियजय-माहात्म्य, २९ प्रसन्नता रसायन
३० जीवन और मरण (अथवा मृत्युसमस्या)
३१ अकाल मृत्यु
३२ हमारी दु:खावस्था और उसका प्रतीकार
३३ हमारी संकीर्णता और हृदयहीनता
३४ हमारा उत्थान और पतन
३५ हमारा दारिद्र्य और उसका परिणाम
३६ हमारे दु:खोंका मूल, ३७ हमारी धर्मचिन्ता
३८ धर्मके आसनपर रूढ़ियाँ
३९ रूढ़ियोंका दासत्व और प्रतिफल
४० सुखका सच्चा उपाय
४१ हमारी धार्मिक संस्थाएँ
४२ हमारी पंचायतें और उनका बल
४३ हमारी शिक्षापद्धति, ४४ दौर्बल्य शासन
४५ हमारा साहित्य और उसमें विकारका प्रवेश
४६ साहित्यके विकारसे होनेवाली हानि
४७ हमारा सामाजिक संगठन और जीवन
४८ लुटे हुए जैनी, ४९ मरणोन्मुख जैनसमाज
५० समाजका क्षयरोग, ५१ हमारी नपुंसकता
५२ बलकी आराधना, ५३ विचार-स्वातंत्र्य और उसका महत्व (अथवा विचारसहिष्णुता)
५४ सत्संगति-कल्पलता, ५५ हमारा स्वार्थ
५६ शुद्धि-तत्त्व-मीमांसा ५७ पतितोद्धार
५८ छूत और अछूत, ५९ स्वाभिमान और अपमान
६० दैव और पुरुषार्थ (तक़दीर और तदबीर)
६१ समाजके उत्थानमें नवयुवकोंका स्थान,
६२ शक्तिका दुरुपयोग
६३ जिनवाणीके साथ जैनियोंकी बेवफ़ाई
६४ दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंकी प्रवचनभक्ति
६५ हमारी पतित पावनी गंगा
६६ श्रद्धा, अश्रद्धा और अन्धश्रद्धा
६७ धर्मके नामपर पाखण्ड (पापप्रचार)
६८ जैनधर्म व साम्यवाद, ६९ विश्वप्रेमी महावीर
७० महवीरकी समता और उदारता
७१ ऐतिहासिक अनुसंधान, अथवा पुरानी बातोंकी खोज
७२ दुष्प्राप्य और अलभ्य साहित्य
७३ महत्पुरुषोंकी ऐतिहासिक जीवनियाँ
७४ वीर माताएं, ७५ हमारेपराक्रमी पूर्वज
७६ विदेश और समुद्रयात्रा ७७ हमारी मिथ्यात्वसेवा
७८ स्त्री-जातिका अपमान, ७९ महिला-समुत्थान
८० अंतरंग शत्रु। ८१ शरीरका राजा।
८२ सदाचारका तत्व, ८३ जैनधर्मकी खूबियाँ (विशेषताएँ)
८४ गृहस्थ धर्मकी महत्ता
८५ जैनयोगविद्या ८६ कर्मसिद्धान्त रहस्य,
८७ हेयादेय-परिज्ञान ८८ जगतकर्तृत्व-मीमांसा,
८९ ईश्वर और अनीश्वरवाद,
९० युक्तिवाद और आगमवाद ९१ सुनय और दुर्नय
९२ सर्वज्ञकी परिभाषा अथवा सर्वज्ञसिद्धि
९३ ज्ञान और चारित्र ९४ धर्मादा खाता
९५ वैवाहिक सम्बंध, ९६ समाजशास्त्र-विज्ञान
९७ वैज्ञानिकजगत अथवा विज्ञानके नयेनये आविष्कार
९८ देशके प्रति जैनसमाजका कर्तव्य
९९ रोटीका प्रश्न
१०० समन्तभद्राश्रमके प्रति समाजका कर्तव्य
१०१ जीवनज्योति जगानेवाली सुभाषित मणियाँ

नोट—'अनेकान्त' को भेजे जानेवाले लेख गद्यमें हों या पद्यमें परन्तु वे सब कागजकी एक तरफ़ हाशिया छोड़कर, सुवाच्य अक्षरोंमें लिखे जाने चाहियें।

विनीत—
व्यवस्थापक "अनेकान्त"

चित्र-दर्शन

१ इस पत्रमें सबसे पहले मुख पृष्ठ पर जिस दुरंगे चित्रका दर्शन होता है वह 'अनेकान्त' सत्सूर्यका चित्र है। अनेकान्त सूर्य कितना देदीप्यमान है!! वह विश्वके संपूर्ण तत्त्वोंका—पदार्थोंका—ऊपरसे ही प्रकाशक नहीं किन्तु प्रत्येक वस्तुके भीतरी तत्त्वका—उसके रहस्य का—भी प्रकाशक है; उसकी किरणें एकान्त-अनेकांत, भाव-अभाव, लोक-अलोक, जीव-अजीव, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ, सुख-दुख, कर्म-अकर्म, हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, अपेक्षा-अनपेक्षा, युक्ति-आगम, अंतरंग-बहिरंग, दैव-पुरुषार्थ, शुद्धि-अशुद्धि, स्वभाव-विभाव, प्रमाण-अप्रमाण, साध्य-साधन, साधर्म्य-वैधर्म्य, सुनय-दुर्नय, द्रव्य-पर्याय, गुण-गुणी, स्वतत्त्व-परतत्त्व, सामान्य-विशेष, आत्मा-परमात्मा, विद्या-अविद्या, और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व जैसे गहन विषयों पर अपना कैसा प्रकाश डाल रही हैं। और साथ ही, साँख्य, वैशेषिक, योग, जैन, बौद्ध, मीमांसक, न्याय, वेदान्त, चार्वाक जैसे दर्शनोंकी तथा इतिहास, साहित्य, समाज, नीति, कला, व्यापार और विज्ञान जैसे विषयोंकी स्थितिको कितना स्पष्ट कर रही हैं, यह सब ही चित्रकारने इस चित्रमें चित्रित किया है। अथवा प्रकरान्तरसे यह दर्शाया है कि यह पत्र इन सब विषयों पर गहरा प्रकाश डालकर मिथ्यान्धकारको दूर करनेके लिये उद्यत हुआ है।

२ दूसरा तिरंगा चित्र जो इस पत्रके शुरूमें लगा है वह भगवान महावीरकी जिनदीक्षाका चित्र है। महावीर ३०वर्ष तक गृहवासमें रहें, उन्हें आज्ञा-ऐश्वर्य राज्यविभूति और सुखकी सब सामग्री प्राप्त थी। परंतु साथ ही उनके दिलमें एक दर्द भी था, जिसने उन्हें कभी इस मनोमुग्धकारी सम्पत्तिमें लीन नहीं होने दिया, और वह दर्द यही था कि संसारके प्राणी उन्हें दुःखित, पीडित, पतित और मार्गच्युत नज़र आते थे, और यह सब उनसे देखा नहीं जाता था। जब उनका यह दर्द अपनी सीमाको पार कर गया—असह्य हो उठा—और वर्षों तक लोकस्थितिका अनुभव करनेके बाद उन्हें उस दर्दको दूर करने अथवा लोक स्थितिको सुधारनेका सम्यक् उपाय सूझ पड़ा तब आपने और अधिक समय तक गृहवासमें रहना उचित नहीं समझा —उन्हें यह न्याय्य ही मालूम नहीं पड़ा कि प्रजाजनके दुखी रहते वे सुखका उपभोग करें—उन्हें अब भोगोंमें कुछ भी आनन्द नहीं आता था, वे एक प्रकारके रोग प्रतीत होते थे और संपूर्ण राज्य-वैभव निःसार जान पड़ता था। अतः उन्होंने लोकहितकी शुभ भावनाओं से प्रेरित होकर और लोकोद्धारका दृढ़ संकल्प करके एकाएक राज्यकी संपूर्ण लक्ष्मीको ठुकरा दिया और इन्द्रियसुखोंसे मुख मोड़कर मार्गशिर कृष्ण दशमीको तपस्याके लिए जंगलका रास्ता लिया। इस समाचारसे नगर भरमें खलबली मच गई और लोगोंके हृदयमें सविशेष रूपसे भक्तिका भाव उमड आया। झुंडकेझुंड नर नारी—अमीर और गरीब सब—जंगलकी ओर चल दिये और उन्होंने 'ज्ञातखंड' बनमें जाकर देखा कि, भगवानने अपने शरीर परसे वस्त्राभूषणोंको भी उतार कर फेंक दिया है और वे एक शिला पर प्रसन्न चित्त बैठे अपने केशोंका लौंच कर रहे हैं—मानों केश भी अब उन्हें क्लेश प्रतीत होरहे हैं और वे उन्हें बिना किसी झिझकके अपने हाथोंसे उपाड़ कर अपने शरीरसे भी निस्पृहताका परिचय दे रहे हैं। सामने कोई भव्य पुरुष बैठे उन केशोंका चयन कर रहे हैं और उन्हें रत्न जड़ित पिटारीमें रखते जाते हैं, जिनकी बाबत यह सुना गया कि वे स्वर्गके कोई इन्द्र हैं और इन केशोंको क्षीर सागरमें क्षेपनेके लिये ले जायँगे। इसी सब भावको चित्रकारने इस चित्रमें चित्रित किया है। वह कहाँ तक इसमें सफल हुआ है इसका निर्णय पाठक देखने पर स्वयँ कर सकेंगे। महावीरका विशेष परिचय पानेके लिये पत्रका पहला लेख देखना चाहिये।

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

एकान्तेऽघटमानत्वाद्‌ वस्तुतत्त्वस्य सर्वथा ।
अनेकान्तस्ततः कान्तः स्वीकार्यः कान्तमिच्छता ॥
—'अनेकान्ती' ।

वर्ष १ | समन्तभद्राश्रम, क़रौलबाग़, देहली । पौष, संवत् १९८६ वि०, वीरनिर्वाण सं० २४५६ | किरण २

❀ अनेकान्त-माहात्म्य ❀

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥
—सिद्धसेनाचार्य

'जिसके बिना—जिसकी शिक्षाके अभावमें—लोकका भी व्यवहार बन नहीं सकता—भले प्रकार चल नहीं सकता—उस भुवनैकगुरु—लोकके असाधारण गुरु—अनेकान्तवादको नमस्कार हो ।'

परमागमस्य बीजं[१] निषिद्धजात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥
—अमृतचंद्र सूरि

'जो परमागमका बीज है—जैनागमका प्राण है—, जिसने जन्मान्ध-पुरुषोंके हस्तिविधानका—एकान्तवादिदर्शनोंकी मिथ्याधारणारूप विवाद का—निषेध कर दिया है—हाथी (अनेकान्तात्मक पदार्थ) के एक एक अंगको ही टटोल कर उसीको समूचा हाथी (पदार्थ) प्रतिपादन करने रूप उनके भ्रमका संशोधन और समाधान कर दिया है—और जो संपूर्ण नयोंसे विभूषित—उनकी विवक्षा-उपेक्षाको लिये हुए—पदार्थोंके—प्रतिपाद्य विषयोंके—विरोधको दूर करने वाला है, उस 'अनेकान्त' को मैं नमस्कार करता हूँ ।'

१ 'जीवं' इत्यपि पाठः ।

❀ वीर-वाणी ❀

[ले०—श्री भगवन्त गणपति गोयलीय]

तीर्थङ्कर की सुता दुलारी,
जगजीवों की माता प्यारी,
वसुधा की सन्तत हितकारी,
उपकृत है तुझ से जग भारी,
बिहरी और सदा बिहरे तू है माँ! देश विदेश।

जननी तू है विश्व-तारिणी,
कर्म-कोष अघदल-सँहारिणी,
जन्म-मरण-सन्ताप-हारिणी,
भव्य जीव-मुनिमन-विहारिणी,
करदे नष्ट जगज्जीवों के करुणामयि! सब क्लेश।

धन-वैभव की हृदय-हीनता,
भोगों की आत्मिक मलीनता,
आशा की दयनीय दीनता,
सुख-दुख की स्थिरता-विहीनता—
समझाकर करदे त्रिलोकको, माता मोह विमुक्त।

उषा-काल के खिले सुमन पर,
जल-तरंग पर किशलयगण पर,
वृहत गगन पर तारागण पर,
तम पर द्युति पर त्रिविधि पवन पर
दर्शन ज्ञान चरित्र लिखे हों माँ! सम्यक् संयुक्त।

सरिता में, सरवर-सागर में,
गिरि-गह्वर में नगर नगर में।
डगर डगर में, वसुधा भर में,
जल-थल में, अनन्त अम्बर में,
एक बार हो उठे पुनः माँ! तेरा री जयघोष।

स्वार्थों पर समता जय पावे,
मिथ्या की माँ मारी जावे,
सुख की घटा घिरे घहरावे,
ताप-कषाय पीठ दिखलावे,
दोष दलिनि! प्राणी समूह को करदे अब निर्दोष।

अनुरोध

(ले०—श्री० भगवन्त गणपति गोयलीय)

जब प्रभात में रवि किरणें आकर मुझको विकसादें,
मेरी क्षुद्र आँख पर जलकण मायावरण गिरादें,
पवन-प्रवाह थिरकना हटना बढ़ना मुझे सिखादें,
भ्रमरावलियाँ गुण गा गा कर मानिनि मुझे बनादें;
तब होगा प्रारंभ पतन का मेरे यह निश्चय है;
उस यौवन में आत्मविस्मरण हो जानेका भय है;
तब हाँ तब, बनपाल! शीघ्र ही मुझको चुन लेजाना;
चढ़ा पार्श्व-अनुचर-चरणोंमें जीवन सफल बनाना।

स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द

एकताके भ्रमका प्रचार

सोलह सतरह वर्ष हुए जब सुहृद्वर पं०नाथूरामजी प्रेमीने 'स्याद्वाद विद्यापति विद्यानन्दि' नामका एक लेख लिखा था और उसे ९वें वर्षके जैनहितैषी अंक नं०९में प्रकाशित किया था। यह लेख प्रायः तात्या नेमिनाथ पाँगलके मराठी लेखके आधार पर, उसे कुछ संशोधित, परिवर्तित और परिवर्द्धित करके, लिखा गया था। और उसमें यह सिद्ध किया गया था कि 'पात्र-केसरी' और 'विद्यानंद' दोनों एक ही व्यक्ति हैं। जिन प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया गया था उनकी सत्यता पर विश्वास करते हुए, उस वक्तसे प्रायः सभी विद्वान् यह मानते आ रहे हैं कि ये दोनों एक ही व्यक्तिके नामान्तर हैं—भिन्न नाम हैं। चुनाँचे उस वक्तसे आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक, युक्त्यनुशासनटीका, पात्रकेसरिस्तोत्र, श्रीपुर-पार्श्वनाथस्तोत्र आदि जो भी ग्रंथ विद्यानन्द या पात्र-केसरीके नामसे प्रकाशित हुए हैं और जिनके साथमें विद्वानों द्वारा उनके कर्त्ताका परिचय दिया गया है उन सबमें पात्रकेसरी और विद्यानन्दको एक घोषित किया गया है—बहुतोंमें प्रेमीजीके लेखका सारांश अथवा संस्कृत अनुवाद तक दिया गया है। डा० शतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे अजैन विद्वानोंने भी, बिना किसी विशेष ऊहापोहके, अपने ग्रन्थोंमें दोनोंकी एकताको स्वीकार किया है। इस तरह पर यह विषय विद्वत्स-माजमें रूढ सा हो गया है और एक निश्चित विषय समझा जाता है। परंतु खोज करने पर मालूम हुआ कि, ऐसा समझना नितान्त भ्रम है। और इस लिये आज इस भ्रमको स्पष्ट करनेके लिये ही यह लेख लिखा जाता है।

प्रमाण-पंचक

सबसे पहले मैं अपने पाठकोंको उन प्रमाणों—अथवा हेतुओं—का परिचय करा देना चाहता हूँ जो प्रेमीजीने अपने उक्त लेखमें दिये हैं और वे इस प्रकार हैं:—

"विद्यानन्दका नाम पात्रकेसरी भी है। बहुतसे लोगोंका खयाल है कि पात्रकेसरी नामके कोई दूसरे विद्वान् होगये हैं; परन्तु नीचे लिखे प्रमाणोंसे विद्या-नन्दि और पात्रकेसरी एक ही मालूम होते हैं—

१ 'सम्यक्त्वप्रकाश' नामक ग्रन्थमें एक जगह लिखा है कि—

"तथा श्लोकवार्तिके विद्यानन्द्यपरनाम पात्रकेसरि स्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्य-ग्दर्शनं। न तु सम्यग्दर्शनशब्दनिर्वचनसामर्थ्यादेव सम्यग्दर्शनस्वरूपनिर्णयादशेषतद्विप्रतिपत्तिनिवृत्तेः सिद्ध त्वात्तदर्थं तल्लक्षणवचनं न युक्तिमदेवेति कस्यचिदारे-का नामपाकरोति'।"

इससे श्लोकवार्तिकके कर्ता विद्यानन्दिको ही पात्र-केसरी बतलाया है।

२ श्रवणबेल्गोलके पं० दौर्बलिजिनदास शास्त्रीके ग्रंथ-संग्रहमें जो आदिपुराणकी ताड़पत्रोंपर लिखित प्रति है उसकी टिप्पणीमें पात्रकेसरीका नामान्तर विद्यानन्दि लिखा है।

३ ब्रह्मनेमिदत्तकृत कथाकोषमें जो पात्रकेसरीकीकथा लिखी है उसके विषयमें परम्परागत यही खयाल चला आता है कि वह विद्यानन्दिकी ही कथा है।

४ वादिचन्द्रसूरिने अपने ज्ञानसूर्योदयनाटकके चौथे अंकमें 'अष्टशती' नामक स्त्री पात्रसे 'पुरुष' के प्रति कहलवाया है कि—

"देव, ततोऽहमुत्तालितहृदया श्रीमत्पात्रकेसरिमुखकमलं गता तेन साक्षात्कृतसकलस्याद्वादाभिप्रायेण लालिता पालिताष्टसहस्रीतया पुष्टिंनीता। देव, स यदि नापालयिष्यत तदा कथं त्वामद्राक्षम ?"

अर्थात्—(जब मैंने एकान्तवादियोंसे स्याद्वादका स्वरूप कहा, तब वे क्रुद्ध होकर कहने लगे—'इसे पकड़ो! मारो! जाने न पावे!') "तब हे देव, मैंने भयभीत हो कर श्रीमत्पात्रकेसरीके मुखकमलमें प्रवेश किया। वे संपूर्णस्याद्वादके अभिप्रायोंको अच्छी तरहसे जानने वाले थे, इस लिये उन्होंने मेरा अच्छी तरह लालन पालन किया और अष्टसहस्रीके द्वारा मुझे पुष्ट की। हे देव, वे (पात्रकेसरी) यदि मुझे न पालते तो आज मैं तुम्हें कैसे देखती ?" इसका अभिप्राय यह है कि अकलंकदेवका बनाया हुआ जो 'अष्टशती' नामक ग्रंथ है, उसे पढ़ कर जैनेतर विद्वान क्रुद्ध हो गये और वे उस पर आक्रमण करनेको तय्यार हुए। यह देखकर पात्रकेसरी स्वामीने 'अष्टसहस्री' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचकर उसके अभिप्रायोंकी पुष्टि की। इससे मालूम होता है कि अष्टसहस्रीके बनाने वाले विद्यानंदि ही पात्रकेसरी हैं।

'५ आगे जो हुमचाका शिलालेख उद्धृत किया गया है, उसके अन्तिम वाक्यसे भी स्पष्ट होता है कि विद्यानन्दि और पात्रकेसरी एक ही थे।

इन पाँच प्रमाणोंसे मेरी समझमें यह बात निस्सन्देह हो जाती है कि पात्रकेसरी और विद्यानन्दि दोनों एक ही हैं।"

प्रमाणोंकी जाँच

इनमेंसे तीसरे नम्बरका प्रमाण तो वास्तवमें कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि इसमें कथाकोशान्तर्गत पात्रकेसरीकी जिस कथाका उल्लेख किया गया है उसमें विद्यानन्दकी कहीं गन्ध तक भी नहीं पाई जाती—और तो क्या, विद्यानन्दके नामसे प्रसिद्ध होने वाले ढेरके ढेर ग्रन्थोंमेंसे किसी ग्रंथका नाम भी पात्रकेसरीकी कृति रूपसे उसमें उल्लेखित नहीं मिलता; बल्कि पात्रकेसरीकी कृतिरूपसे 'जिनेन्द्रगुणसंस्तुति' नामके एक ग्रंथका उल्लेख पाया जाता है *। और यह ग्रंथ ही 'पात्रकेसरिस्तोत्र' (पात्रकेसरीका रचा हुआ स्तोत्र) कहलाता है—विद्यानन्दस्तोत्र नहीं। इस स्तोत्रका प्रारंभ 'जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः' × पदसे होता है—जिनेन्द्रके गुणोंकी ही इसमें स्तुति भी है—और इसलिये भक्तामर तथा स्वयंभूस्तोत्रादिकी तरह यही इसका वास्तविक तथा सार्थक नाम जान पड़ता है +।

* यथा: —कृतोऽन्यमतविध्वंसो जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
सरस्वतः परमानन्दात्समस्तसुखदायकः ॥

× जिनेन्द्र गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता।
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम् ॥

+ यह ग्रंथ माणिकचन्द्रग्रंथमालामें एक साधारण टीकाके साथ प्रकाशित हुआ है, जिसके कर्ता आदिका कुछ पता नहीं। टीकाके शुरूमें मंगलाचरणके तौर पर एक श्लोक रक्खा हुआ है जिसमें 'वृहत्पंचनमस्कारस्य विव्रियतेऽधुना' यह एक प्रतिज्ञावाक्य है और इससे ऐसा ध्वनित होता है मानों मूल ग्रंथका नाम 'वृहत्पंचनमस्कार' है और इस टीकामें उसीके पद्योंकी विवृत्ति की गई है। चुनांचे पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ग्रंथपरिचयमें ऐसा लिख भी दिया है। परन्तु ग्रंथके सन्दर्भको देखते हुए यह नाम उसके लिये किसी तरह भी उपयुक्त मालूम नहीं होता। द्रव्यसंग्रहकी ब्रह्मदेवकृत टीकामें एक स्थान पर बारह हजार श्लोक संख्या वाले 'पंचनमस्कार' ग्रंथका उल्लेख मिलता है और उसमें लघु सिद्धचक्र, वृहत् सिद्धचक्र, जैसे कितने ही पाठोंका संग्रह बतलाया है। हो सकता है कि 'वृहत्पंचनमस्कार' नामका या तो वही संग्रह हो और या उससे भी बड़ा कोई दूसरा संग्रह तय्यार हुआ हो और उसमें पात्रकेसरिस्तोत्रको भी संग्रहीत किया हो। और उसीकी प्रति परसे पात्रकेसरी स्तोत्रको उतारते हुए उसकी प्रतिका मंगलाचरण इस स्तोत्रकी वृत्तिके ऊपर दे दिया गया हो। अथवा इसके दिये जानेमें कोई दूसरी ही गड़बड़ हुई हो। परन्तु कुछ भी हो, टीकाका यह मंगल पद्य 'क्षेपक' जान पड़ता है। और इसलिये इससे स्तोत्रके नाम पर कोई असर नहीं पड़ता। साथ ही, इस संस्करणके अन्तमें दिये हुए समाप्तिसूचक गद्यमें जो 'विद्यानन्दि' का नाम लगाया गया है वह संशोधक महाशय की कृति जान पड़ती है।

दूसरे प्रमाणमें जिस टिप्पणीका उल्लेख है वह आदिपुराणके निम्न वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'पात्रकेसरिणां' पद पर जान पड़ती है; क्योंकि अन्यत्र आदिपुराणमें पात्रकेसरीका कोई उल्लेख नहीं मिलता :—

भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः ।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥

[इसमें लिखा है कि, भट्टाकलंक, श्रीपाल और पात्रकेसरीके अति निर्मल गुण विद्वानोंके हृदय पर हारकी तरहसे आरूढ हैं ।]

परंतु इस टिप्पणीकी बावत यह नहीं बतलाया गया कि, वह कौनसे आचार्य अथवा विद्वान की की हुई है? कब की गई है? अन्यत्र भी आदिपुराणकी वह समूची टिप्पणी मिलती है या कि नहीं ? और यदि मिलती है तो उसमें भी प्रकृत पदकी वह टिप्पणी मौजूद है या कि नहीं ? अथवा जिस ग्रन्थप्रति पर वह टिप्पणी है वह कबकी लिखी हुई है? और वह टिप्पणी उसी ग्रन्थलिपिका अंग है या बादको की हुई मालूम होती है । बिना इन सब बातोंका स्पष्टीकरण किए और यह बतलाए कि वह टिप्पणी अधिक प्राचीन है—कम से कम 'सम्यक्त्वप्रकाश' और 'ज्ञानसूर्योदय नाटक'की रचनासे पहले की है—अथवा किसी मान्य अधिकारी पुरुष द्वारा की गई है, इस प्रमाणका कोई खास महत्व और वजन मालूम नहीं होता । हो सकता है कि टिप्पणी बहुत कुछ आधुनिक हो और वह किसी स्वाध्यायप्रेमीने दन्तकथा पर विश्वास करके या सम्यक्तप्रकाशादिकको देख कर ही लगा दी हो ।

पाँचवाँ प्रमाण एक शिलालेख पर आधार रखता है और उस लेखकी जाँचसे वह बिलकुल निर्मूल जान पड़ता है । मालूम होता है प्रेमीजीके (अथवा तात्या नेमिनाथ पांगलके भी) सामने यह पूरा शिलालेख कभी प्राप्त नहीं हुआ, उन्हें उसके कुछ खंडोंका सारांश मात्र मिला है और इसी लिये उन्हें इस प्रमाणको प्रस्तुत करने तथा शिलालेखके आधार पर अपने लेखमें विद्यानन्दका कुछ विशेष परिचय देनेमें भारी धोखा हुआ है । अस्तु; इस प्रमाणमें प्रेमीजीने शिलालेखके जिस अन्तिम वाक्यकी ओर इशारा किया है उसे यहाँ दे देने मात्रसे ही काम नहीं चलेगा, पाठकोंके समझने के लिये अनुवाद रूपमें प्रस्तुत किये हुए प्रेमीजीके उस पूरे शिलालेखको ही यहाँ दे देना उचित जान पड़ता है और वह इस प्रकार है—

"विद्यानन्दिस्वामीने नंजराज पट्टणके राजा नंज की सभामें जाकर नन्दनमल्लिभट्टसे विवाद करके उसका पराभव किया । ... शतवेन्द्र राजाकी सभामें एक काव्यके प्रभावसे समस्त श्रोताओंको चकित कर दिया ।......... शाल्वमल्लि राजाकी सभामें पराजित किये हुए वादियों पर विद्यानन्दिने क्षमा की ।... सलुवदेव राजाकी सभामें परवादियोंके मतोंको असत्य सिद्ध करके जैनमतकी प्रभावना की । ...... बिलगीके राजा नरसिंह की सभामें जैनमतका प्रभाव प्रकट किया । कारकल नगरीके भैरवाचार्यकी राज-सभामें विद्यानन्दिने जैनमतका प्रभाव दिखला कर उसका प्रसार किया । ...... बिदरीके भव्यजनोंको विद्यानन्दिने अपने धर्मज्ञानसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति कराई ......जिस नरसिंहराजके पुत्र कृष्णराजके दरबारमें हजारों राजा नम्र होते थे उस राजदरबारमें जाकर हे विद्यानन्द, तुमने जैनमतका उद्योत किया और पर-वादियोंका पराभव किया ।...... कोप्पन तथा अन्य तीर्थस्थलोंमें विपुल धन खर्च कराके तुमने धर्म-प्रभावना की । बेलगुलके जैनसंघको सुवर्णवृष्टि दिला कर मण्डित किया । ...... गैरसप्पाके समीप

के प्रदेशके मुनिसंघको अपना शिष्य बना कर उसे विभूषित किया। जैनशासनका तथा महावीर, गौतम, भद्रबाहु, विशाखाचार्य, उमास्वामी, समन्तभद्र अकलंकका विजय हो। अकलंकने समन्तभद्रके देवागम पर भाष्य लिखा। आप्तमीमांसा ग्रन्थको समझा कर बतलाने वाले विद्यानन्दिको नमोस्तु। श्लोकवार्तिकालंकारके कर्ता, कवि चूडामणि तार्किकसिंह, विद्वान् यति विद्यानन्द जयवन्त हों।...... गिरी निकट निवारण करने वाले मोक्षेच्छु ध्यानी मुनि पात्रकेसरी ही हो गये......"

[शिलालेख नं० ४६]

अनुवाद रूपमें प्रस्तुत इस शिलालेखके अन्तिम वाक्यसे भी, यद्यपि, यह नहीं पाया जाता कि विद्यानन्द और पात्रकेसरी दोनों एक ही व्यक्ति थे; क्योंकि न तो इसमें ऐसा लिखा है और न और सब कथन अकेले विद्यानन्दसे ही सम्बन्ध रखता है बल्कि गौतम, भद्रबाहु, समन्तभद्र और अकलंकादिक आचार्योंका भी इसमें उल्लेख है और तदनुसार पात्रकेसरीका भी एक उल्लेख है। गौतम, भद्रबाहु और समन्तभद्रादिक यदि विद्यानन्दके नामान्तर नहीं हैं तो पात्रकेसरीको ही उनका नामान्तर क्यों समझा जाय? फिर भी मैं इस लेख विषयको कुछ और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

यह शिलालेख कनडी और संस्कृत भाषाका एक बहुत बड़ा शिलालेख है—उक्त अनुवाद रूपमें पाठक जितना देख रहे हैं उतना ही नहीं है। इसका पूर्वभाग कनडी और उत्तरभाग संस्कृत है, और यह संस्कृत भाग ही इसमें बड़ा है। पहले कनडी भागमें वादिविद्यानन्द का उल्लेख है और उन राजसभाओं आदिका उल्लेख है जहाँ पर उनके द्वारा कोई कोई महत्वका कार्य हुआ है। यह भाग १७ पद्योंमें है। ऊपर जो अनुवाद दिया है उसमें 'जैनशासन' से प्रारंभ होनेवाले अन्तिम पाँच वाक्योंको छोड़ कर शेष भाग इसी कनडी भागसे सम्बंध रखता है और उसमें पहले तीन पद्यों तथा पाँचवें, आठवें और दसवें पद्यका कोई अनुवाद नहीं है, जिससे अन्य वृत्तान्तके अतिरिक्त श्रीरंगनगरकी राजसभा, गुरु नृपालकी राजसभा और नगरी राज्यकी राजसभाका भी हाल रह गया है। और शेष पद्योंका जो अनुवाद या आशय दिया गया है वह बहुत कुछ अधूरा ही नहीं किन्तु कहीं कहीं पर गलत भी है, जिसका एक उदाहरण गेरसोप्पे सम्बन्धी पद्यका अनुवाद है। इस पद्यमें कहा गया है कि 'हे विद्यानन्द, आपने गेरसोप्पेमें योगागम-विषयक वादमें प्रवृत्त मुनिगणकी पालना—अथवा सहायता—के कार्यको प्रेमके साथ, बतौर एक गुरुके अपने हाथमें लिया है और (इस तरह) अपनेको प्रतिष्ठित किया है।' इस परसे पाठक यह सहज ही में अनुभव कर सकते हैं कि ऊपरका गैरसप्पासे प्रारंभ होने वाला अनुवाद कितना गलत और भ्रामक है। अस्तु; शिलालेखके इस कनडीभागमें जिन राजाओंका उल्लेख है और संस्कृत भागमें भी सांगिराज, पद्मानन्दन कृष्णदेव, मालुव कृष्णदेव, विरूपाक्षराय, साल्वमल्लिराय, अच्युतराय, विद्यानगरी के विजयश्रीकृष्णराय आदि जिन राजाओंका विद्यानंद तथा उनके शिष्योंके सम्बन्धमें उल्लेख है वे सब शककी १५वीं अथवा विक्रम और ईसाकी प्रायः १६वीं शताब्दीमें हुए हैं और इस लिये उनकी सभाओंमें प्रसिद्ध होने वाले ये वादिविद्यानन्द महोदय वे विद्यानन्द स्वामी नहीं हैं जो कि श्लोकवार्तिकादि ग्रन्थोंके प्रसिद्ध रचयिता हैं। और यह बात इस शिलालेखके लेखक तथा विद्यानंदके प्रशिष्य और शिष्य मुनि वर्द्धमान-

द्वारा रचित *'देशभत्तयादिशास्त्र'से भी पाई जाती है जिसमें इन सब पद्योंका ही नहीं किन्तु संस्कृत भागके भी बहुतसे पद्योंका उल्लेख करते हुए विद्यानन्दकी मृत्यु का समय शक सं० १४६३ दिया है। यथा:—

शाके वन्हिखरा(रसा?)ब्धिचंद्रकलिते संवत्सरे शार्वरे
शुद्धश्रावणभाक्कृतान्तधरणीतुग्मैत्रमेषे रवौ।
कर्कस्थे सगुरौ जिनस्मरणतो वादीन्द्रवृन्दार्चितो
विद्यानन्दमुनीश्वरः स गतवान् स्वर्गं चिदानन्दकः॥

ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि एक विद्वानकी कीर्तियोंको दूसरे विद्वानके साथ जोड़ देनेमें प्रेमीजी आदिको भारी भ्रम तथा धोखा हुआ है और उन्हें अब उसे मालूम करके तथा यह देख कर कि गलतीका बहुत कुछ प्रचार हो गया है जरूर उसके लिये खेद होगा। अस्तु; अब शिलालेखके संस्कृत भागको लीजिये, जिसका प्रारम्भ निम्न पद्योंसे होता है:—

वीरश्रीवरदेवराजकृतसत्कल्याणपूजोत्सवो
विद्यानंदमहोदयैकनिलयः श्रीसंगिराजार्चितः।
पद्मानन्दन-कृष्णदेव-विनुतःश्रीवर्द्धमानो जिनः
पायात्सालुव-कृष्णदेव नृपतिं श्रीशोऽर्द्धनारीश्वरः॥
श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन शासनम्॥

इन पद्योंके बाद क्रमशः वर्द्धमान जिन, भद्रबाहु, उमास्वाति, सिद्धान्तकीर्ति, अकलंक, श्लोकवार्तिकआदि ग्रन्थोंके कर्ता विद्यानंदस्वामी, माणिक्यनंदी, प्रभाचंद्र, पूज्यपाद, होय्सलराजगुरु वर्द्धमान, वासुपूज्य और श्रीपाल नामक गुरुओंका स्तवन करते हुए 'पात्रकेसरी' का स्तोत्र निम्न प्रकारसे दिया है—

भूभृत्पादानुवर्तीसन् राजसेवापराङ्मुखः।
संयतोऽपि च मोक्षार्थी भात्यसौ पात्रकेसरी॥

[इससे मालूम होता है कि 'पात्रकेसरी' पहले किसी राजाकी सेवामें थे और उस राजसेवासे पराङ्मुख होकर उसे छोड़ कर ही वे मोक्षार्थी मुनि बने हैं और उन्होंने भूभृत्पादानुवर्ती होना—अथवा तपस्याके लिये गिरिचरणकी शरणमें रहना ही उत्तम समझा है, और इसीसे आप सुशोभित हुए हैं]

इस स्तोत्रके बाद चामुण्डराय द्वारा पूजित नेमिचंद्र, माधवचंद्र, अभयचंद्र, जयकीर्ति, जिनचंद्र, इंद्रनंदी वसन्तकीर्ति, विशालकीर्ति, शुभकीर्ति, पद्मनन्दी, माघनन्दी, सिंहनन्दी, चन्द्रप्रभ, वसुनन्दी, मेघचन्द्र, वीरनन्दी, धनंजय, वादिराज और धर्मभूषणका स्तवन देते अथवा इनमेंसे किसी किसीका उल्लेख मात्र करते हुए, फिर उन्हीं वादि विद्यानंदका शिष्य-प्रशिष्यादि-सहित वर्णन और स्तवन दिया है जिनका पहले कनडी भागमें तथा संस्कृत भागके पहले पद्यमें उल्लेख है—उन्हें ही 'बुधेशभवन-व्याख्यान' का कर्ता लिखा है—और अन्तमें निम्न पद्य द्वारा इस सब कथनको 'गुरुसंतति' का वर्णन सूचित किया है।

वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना।
देवेन्द्रकीर्तिमहिता लिखिता गुरुसन्तति॥

शिलालेखके इस परिचयसे पाठक सहज हीमें यह समझ सकते हैं कि, 'पात्रकेसरी' विद्यानंदस्वामीका कोई नामान्तर नहीं है, वे गुरु सन्ततिमें एक पृथक ही आचार्य हुए हैं—दोनों विद्यानन्दोंके मध्यमें उनका नाम कितने ही आचार्योंके अन्तरसे दिया हुआ है—और इस लिये इस शिलालेखके आधार पर प्रेमीजीका उन्हें तथा विद्यानंद स्वामीको एक ही व्यक्ति प्रतिपादन करना भ्रममात्र है—उन्हें जरूर इस विषयमें दूसरोंके अपरीक्षित कथन पर विश्वास कर लेनेके कारण धोखा हुआ है।

* यह ग्रन्थ आराके जैनसिद्धान्तभवनसे देखनेको मिला जिसके लिये अध्यक्ष महाशय विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

अब रहे दो प्रमाण, पहला और चौथा । चौथा प्रमाण विक्रमकी १७वीं शताब्दी (सं० १६४८) में बने हुए एक नाटक ग्रंथके कल्पित पात्रोंकी बात चीत पर आधार रखता है, जिसे, सब ओरसे सामंजस्यकी जाँच किये बिना, कोई खास ऐतिहासिक महत्व नहीं दिया जा सकता। नाटकों तथा उपन्यासोंमें प्रयोजनादि-वश कितनी ही बातें इधरकी उधर हो जाती हैं, उनका प्रधान लक्ष इतिहास नहीं होता किन्तु किसी बहानेसे—कितनी ही कल्पनाएँ करके—किसी विषयको प्रतिपादन करना अथवा उसे दूसरोंके गले उतारना होता है । और इस लिये उनकी ऐतिहासिकता पर सहसा कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। उनके पात्रों अथवा पात्र नामों की ऐतिहासिकता तो कभी कभी बहुत दूरकी बात हो जाती है, बहुतसे नाम तो उनमें यों ही कल्पित किये हुए (फ़र्ज़ी) होते हैं—वे कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं होते—और कितने ही व्यक्तियोंका काम उनके असली नामोंसे प्रकट न करके कल्पित नामोंसे ही प्रकट किया जाता है। इस ज्ञानसूर्योदय नाटकका भी ऐसा ही हाल है । इसमें 'अष्टशती' के मुखसे जो वाक्य कहलाये गये हैं उनमें निःयादि परपक्षोंके खंडनात्मक वाक्य 'अष्टशती' के नहीं किन्तु 'आप्तमीमांसा' के वाक्य हैं, जिसको 'देवागम' भी कहते हैं । और इस देवागम स्तोत्रकी बाबत ही यह कथा प्रसिद्ध है कि इसके प्रभाव से पात्रकेसरी विद्वान अजैनसे जैन हुए थे—समन्तभद्र भारतीस्तोत्र' में भी **'पात्रकेसरिप्रभावसिद्धकारिणीं स्तुवे'** वाक्यके द्वारा इसी बातको सूचित किया गया है । पात्रकेसरीको 'अष्टशती' की प्राप्ति हुई थी और वे उसकी प्राप्तिके पहलेसे ही संपूर्ण स्याद्वादके अभिप्रायोंको अच्छी तरहसे जानने वाले थे, नाटकके इस कथनकी कहींसे भी कोई सिद्धि तथा पुष्टि नहीं होती और न अष्टसहस्रीमें ही उसके कर्ताका नाम अथवा नामान्तर पात्रकेसरी दिया है । जान पड़ता है नाटकके कर्ता भट्टारक वादिचंद्रजीको अष्टशतीका अष्टसहस्री द्वारा पुष्ट होना दिखलाना था और उसके लिये उन्होंने वैसे ही उसके पुष्टकर्ता रूपमें 'पात्रकेसरी' नाम की कल्पना कर डाली है । और इस लिये उस पर कोई विशेष जोर नहीं दिया जा सकता और न इतने परसे ही उसे ऐतिहासिक सत्य माना जा सकता है ।

हाँ, पहले प्रमाणमें 'सम्यक्त्वप्रकाश' नामक ग्रंथकी जो पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं उनसे विद्यानन्द और पात्रकेसरीका एक होना ज़रूर प्रकट होता है। और इस लिये इस प्रमाणपंचकमें परीक्षा करने पर यही एक ग्रन्थ रह जाता है जिसके आधार पर प्रकृत विषयके सम्बन्धमें कुछ जोर दिया जा सकता है । यह ग्रन्थ मेरे सामने नहीं है—प्रेमीजीको लिखने पर भी वह मुझे प्राप्त नहीं हो सका और न यही मालूम हो सका है कि वह किसका बनाया हुआ है और कब बना है। प्रेमीजी लिखते हैं—"सम्यक्त्वप्रकाशके विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ। (मेरा) वह लेख मुख्यतः पांगलके मराठी लेखके आधारसे लिखा गया था और उन्होंने शायद के.बी. पाठकके अंग्रेज़ी लेखके आधारसे लिखा होगा, ऐसा मेरा अनुमान है ।" अस्तु; डाक्टर शतीशचंद्र विद्याभूषणने भी, अपनी इंडियन लॉजिक की हिस्टरी में, के० बी० पाठकके अंग्रेज़ी लेखके आधार पर 'सम्यक्त्वप्रकाश' * के इस प्रमाणका उल्लेख किया है और इससे ऐसा मालूम होता है कि शायद के० बी०

* 'जैनग्रन्थावली' से मालूम होता है कि इस नामका एक ग्रन्थ डक्कन कालेज पूनाकी लायब्रेरीमें मौजूद है । सम्भव है कि वह यही प्रकृत ग्रन्थ हो । और के०बी० पाठक महाशयने इसी ग्रन्थप्रति परसे उल्लेख किया हो ।

पाठक महाशयने ही इस प्रमाणको पहले उपस्थित किया है। परन्तु पहले चाहे जिसने उपस्थित किया हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ अपने उक्त वाक्यकी लेखन-शैली परसे बहुत कुछ आधुनिक जान पड़ता है—आश्चर्य नहीं जो वह उक्त 'ज्ञानसूर्योदय' नाटकसे भी अर्वाचीन हो—और मुझे इस कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि यदि इस ग्रंथके कर्ताने "श्लोकवार्तिके विद्यानन्द्यपरनामपात्रकेसरिस्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते" यह वाक्य इसी रूपमें दिया है तो उसे इसके द्वारा विद्यानन्द और पात्रकेसरी स्वामीको एक व्यक्ति प्रतिपादन करनेमें जरूर भ्रम हुआ है अथवा उसके समझनेकी किसी ग़लतीकाही यह परिणाम है; क्योंकि वास्तवमें पात्रकेसरी स्वामी और विद्यानन्द दोनोंका एक व्यक्तित्व सिद्ध नहीं होता—प्राचीन उल्लेखों अथवा घटनासमूह परसे वे दो भिन्न आचार्य जान पड़ते हैं। और यह बात, ऊपरके इस संपूर्ण परीक्षण तथा विवेचनको ध्यान में रखते हुए, नीचे दिये स्पष्टीकरणसे पाठकोंको और भी स्पष्ट हो जायगी:—

दोनोंकी भिन्नताका स्पष्टीकरण

(१) विद्यानन्द स्वामीने स्वरचित श्लोकवार्तिकादि किसी भी ग्रंथमें अपना नाम या नामान्तर 'पात्रकेसरी' नहीं दिया किन्तु जिस तिस प्रकारसे 'विद्यानन्द' काही उल्लेख किया है। 'विद्यानन्द' के अतिरिक्त यदि उन्होंने कहीं पर किसी तरहसे अपना कोई उपनाम, उपाधि या विशेषण सूचित किया है तो वह 'सत्यवाक्याधिप' या 'सत्यवाक्य' है; जैसा कि निम्न अवतरणों से जान पड़ता है—

विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः

—युक्त्यनुशासनटीका।

सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः

—प्रमाणपरीक्षा।

विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥

—आप्तपरीक्षा।

(२) विद्यानन्दके बाद होने वाले प्रभाचन्द्र और वादिराज जैसे प्राचीन आचार्योंने भी 'विद्यानन्द' नामसे ही आप का उल्लेख किया है। यथा:—

विद्यानन्द-समन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्

—प्रमेयकमलमार्तण्ड।

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
शृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रङ्गति ॥

—पार्श्वनाथ चरित।

(३) शिलालेखोंमें भी 'विद्यानन्द' नामसे ही आपका उल्लेख मिलता है और यह कहीं सूचित नहीं किया कि विद्यानन्द का ही नाम पात्रकेसरी है। प्रत्युत इसके, हुमचाके उक्त शिलालेख में जिसका परिचय ऊपर दिया जाचुका है दोनोंको अलग अलग गुरु सूचित किया है। उसमें भट्टाकलंक के बाद विद्यानन्दकी स्तुतिके तीन पद्य दिये हैं और उनमें आपकी कृतियों का—आप्तमीमांसालंकृति (अष्टसहस्री) प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, विद्यानन्दमहोदय और श्लोकवार्तिकालंकारका—उल्लेख करतेहुए सर्वत्र आपको विद्यानन्द नामसे ही उल्लेखित किया है। यथा:—

अलंचकार यस्सार्वमाप्तमीमांसितं मतं।
स्वामिविद्यादिनन्दाय नमस्तस्मै महात्मने ॥
यः प्रमाणाप्तपत्राणां परीक्षाः कृतवान्नमः।
विद्यानन्दस्वामिनं च विद्यानन्दमहोदयं॥
विद्यानन्दस्वामीविरचितवान्श्लोकवार्तिकालंकारं
जयतिकविविबुधतार्किकचूडामणिरमलगुणनिलयः

(४) विद्यानन्दकी कृतिरूपसे जो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं उनमें से किसीका भी उल्लेख पात्रकेसरीके नामके साथ प्राचीन साहित्यमें नहीं पाया जाता और न पात्रकेसरीकी कृतिरूपसे प्रसिद्ध होनेवाले ग्रंथोंका उल्लेख विद्यानन्दके नामके साथ ही पाया जाता है। यह दूसरी बात है कि आज कलके कुछ प्रकाशक अथवा संशोधक महाशय दोनोंकी एकताके भ्रमवश एकका नाम दूसरेके साथ जोड़ देवें। अस्तु; पात्रकेसरीकी कृतिरूपसे सिर्फ दो ग्रंथोंका उल्लेख मिलता है— एक 'जिनेंद्रगुणसंस्तुति' का जिसे 'पात्रकेसरिस्तोत्र' भी कहते हैं और जो छप चुका है, और दूसरा 'त्रिलक्षणकदर्थन' का, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। इस 'त्रिलक्षणकदर्थन' के साथ ही पात्रकेसरीकी खास प्रसिद्धि है। बौद्धों द्वारा प्रतिपादित अनुमान विषयक हेतुके त्रिरूपात्मक लक्षणका विस्तार के साथ खंडन करना ही इस ग्रंथका अभिप्रेत है। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेणप्रशस्ति नामक शिलालेख (नं० ५४/६७) में, जो कि शक सं० १०५० का लिखा हुआ है, 'त्रिलक्षणकदर्थन' के उल्लेखपूर्वक ही पात्रकेसरीकी स्तुतिकी गई है। यथा:—

महिमा सपात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीन
पद्मावती सहाया त्रिलक्षण-कदर्थनं कर्तुम् ॥

इसमें बतलाया है कि उन 'पात्रकेसरी गुरुका बड़ा माहात्म्य है जिनकी भक्तिके वश होकर पद्मावती देवीने 'त्रिलक्षणकदर्थन' की कृतिमें उनकी सहायता की थी'। कहा जाता है कि पद्मावतीके प्रसादसे आपको नीचे लिखे श्लोककी प्राप्ति हुई थी और उसको पाकर ही आप बौद्धोंके अनुमानविषयक हेतुलक्षणका खंडन करनेके लिये समर्थ हुए थे:—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥

कथाकोशवर्णित पात्रकेसरीकी कथामें भी यह श्लोक दिया है और बहुतसे न्याय-सिद्धान्तादि-विषयक ग्रन्थोंमें यह उद्धृत पाया जाता है। इस श्लोककी भी पात्रकेसरीके नामके साथ खास प्रसिद्धि है और यही आपके 'त्रिलक्षणकदर्थन' ग्रन्थका मूल मन्त्र जान पड़ता है।

यहाँ, पाठकोंको यह जान कर आश्चर्य होगा कि प्रेमीजी अपने उक्त लेखमें इस ग्रंथकी सत्तासे ही इनकार करते हैं और लिखते हैं कि "वास्तवमें 'त्रिलक्षणकदर्थन' कोई ग्रन्थ नहीं है। पद्मावतीने 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि श्लोक लिख कर पात्रकेसरीके जिस अनुमानादि त्रिलक्षणोंके भ्रमको निराकरण किया था, उसीका यहाँ (मल्लिषेणप्रशस्तिमें) उद्देश्य है।" परंतु आपका यह लिखना ठीक नहीं है; क्योंकि यह ग्रन्थ ११वीं शताब्दीके विद्वान वादिराजसूरि जैसे प्राचीन आचार्योंके सामने मौजूद था और उन्होंने 'न्यायविनिश्चयालंकार' में पात्रकेसरीके नामके साथ उसका स्पष्ट उल्लेख किया है और अमुक कथनका उसमें विस्तारके साथ प्रतिपादन होना बतलाकर उसके देखने की प्रेरणा की है। जैसा कि उनके निम्न वाक्य से प्रकट है:—

"त्रिलक्षणकदर्थने वा शास्त्रे विस्तरेण श्रीपात्रकेसरिस्वामिना प्रतिपादनादित्यलमभिनिवेशेन।"

(५) वादिराजसूरिने, 'न्यायविनिश्चयालंकार' नामक अपने भाष्यमें 'अन्यथानुपपन्नत्वं' नामके उक्त श्लोकको नीचे लिखे वाक्यके साथ उद्धृत किया है:—

" तदेवं पक्षधर्मत्वादिमन्तरेणाप्यन्यथानुपपत्तिबलेन हेतोर्गमकत्वं तत्र तत्र स्थाने प्रतिपाद्यभेदं स्वबुद्धिपरिकल्पितमपि तूपरागमसिद्धमि-

न्युपदर्शयितुकामः भगवत्सीमंधरस्वामितीर्थकर देव समवसरणाद्गणधरदेवप्रसादापादितं देव्या पद्मावत्या यदानीय पात्रकेसरिस्वामिने समर्पित मन्यथानुपपत्तिवार्तिकं तदाह—"

और इसके द्वारा इतना विशेष और सूचित किया है कि उक्त श्लोक पद्मावती देवीने सीमंधरस्वामी तीर्थंकरके समवसरणमें जाकर गणधरदेवके प्रसादसे प्राप्त किया था और वह 'अन्यथानुपपत्ति' नामक हेतुलक्षण का वार्तिक है। अस्तु; यह श्लोक पात्रकेसरीको पद्मावतीदेवीने खुद दिया हो या गणधरदेवके पाससे लाकर दिया हो अथवा अपने इष्ट देवताका ध्यान करने पर पात्रकेसरीजी को स्वतः ही सूझ पड़ा हो, किन्तु इस प्रकारके उल्लेखोंसे यह निःसन्देह जान पड़ता है कि लोकमें इस श्लोकके आद्य प्रकाशक पात्रकेसरी स्वामी हुए हैं। और इस लिये यह पद्य उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है।

विद्यानंद स्वामीने प्रमाणपरीक्षा और श्लोकवार्तिक नामक अपने दो ग्रंथोंमें 'तथोक्तं', 'तथाह च' शब्दोंके साथ पात्रकेसरीके उक्त श्लोकको उद्धृत किया है। और इससे यह जाना जाता है कि पात्रकेसरी स्वामी विद्यानंदसे भिन्न ही नहीं किन्तु उनसे पहले हुए हैं।

(६) 'तत्त्वसंग्रह' नामका एक प्राचीन बौद्धग्रंथ, पंजिका सहित, बड़ौदाकी 'गायकवाडओरियंटल सिरीज़' में प्रकाशित हुआ है। यह मूल ग्रंथ आचार्य 'शान्तरक्षित'का बनाया हुआ है और इसकी पंजिकाके कर्ता उनके शिष्य 'कमलशील' आचार्य हैं। इस ग्रंथमें पात्रकेसरी स्वामीके मतका उल्लेख उन्हींके वाक्यों द्वारा निम्न प्रकारसे किया गया है:—

"अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते—
अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता।
नासति त्र्यंशकस्यापि तस्मात्क्लीबास्त्रिलक्षणाः॥१३६४
अन्यथानुपपन्नत्वं यस्यासौ हेतुरिष्यते।
एकलक्षणकः सोऽर्थश्चतुर्लक्षणको न वा॥ १३६५
यथा लोके त्रिपुत्रः सन्नेकपुत्रक उच्यते।
तस्यैकस्य सुपुत्रत्वात्तथेहापि च दृश्यताम्॥ १३६६
अविनाभावसम्बन्धस्त्रिरूपेषु न जातुचित्।
अन्यथाऽसंभवैकाङ्गहेतुष्वेकोपलभ्यते॥ १३६७
अन्यथानुपपन्नत्वं यस्य तस्यैव हेतुता।
दृष्टान्तौ द्वावपि स्तां वा मा वा तौ हि न कारणम्१३६८
*अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥ १३६९
सश्यामस्तस्य पुत्रत्वाद्दृष्टाश्यामा यथेतरे।
इति त्रिलक्षणो हेतुर्न निश्चित्यै प्रवर्तते॥ १३७०
तत्रैकलक्षणो हेतुर्दृष्टान्तद्वयवर्जितः।
कथंचिदुपलभ्यत्वाद् भावाभावौ सदात्मकौ॥१३७१
चन्द्रत्वेनापदिष्टत्वाच्चाचन्द्रः शशलाञ्छनः।
इति द्विलक्षणो हेतुरयं चापर उच्यते॥१३७२॥
पतत्कीटकृतेयं मे वेदनेत्यवसीयते।
तत्कीटकसंस्पर्शप्रतिलब्धोदयत्वतः॥ १३७३॥
चक्षू रूपग्रहं कार्यं सदाऽतिशयशक्तिमत्।
तस्मिन्न्यापार्यमाणत्वाद्यदि वा तस्यदर्शनात्१३७४
कथंचिदसदात्मानो यदि वाऽऽत्मघटादयः।
कथंचिदुपलभ्यत्वात्खरसम्बंधिशृंगवत्॥१३७५॥
कथंचन सदात्मानः शशशृंगादयोऽपि च।
कथंचिदुपलभ्यत्वाद्यथैवात्मघटादयः॥ १३७६॥
त्वदीयो वापि तत्रास्ति वेश्मनीत्यवगम्यते।
भावत्कपितृशब्दस्य श्रवणादिह सद्मनि॥ १३७७

* यह पात्रकेसरीका वही प्रसिद्ध श्लोक है।

अन्यथानुपपत्त्यैव शब्ददीपादिवस्तुषु ।
अपक्षधर्मभावेऽपि दृष्टा ज्ञापकताऽपि च ॥१३७८॥
तेनैकलक्षणो हेतुः प्राधान्याद्गमकोऽस्तु नः ।
पक्षधर्मादिभिस्त्वन्यैः किं व्यर्थैः परिकल्पितैः॥१३७९

इन वाक्योंका विषय प्रायः त्रिरूपात्मक हेतुलक्षण का कदर्थन करना है और इससे ये पात्रकेसरीके 'त्रिलक्षणकदर्थन' ग्रन्थसे ही उद्धृत किये गये जान पड़ते हैं। अस्तु; शांतरक्षितका समय ई०सन् ७०५ से ७६२ तक और कमलशीलका ७१३ से ७६३ तक पाया जाता है *। ये दोनों आचार्य विद्यानंदसे पहले हुए हैं; क्योंकि विद्यानंद प्रायः ९वीं शताब्दीके विद्वान् हैं। और इस लिये इनके ग्रन्थमें पात्रकेसरी स्वामी और उनके वाक्योंका उल्लेख होनेसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पात्रकेसरी स्वामी विद्यानन्दसे बहुत पहले हो गये हैं।

(७) अकलंकदेवके ग्रन्थोंके प्रधान टीकाकार श्रीअनन्तवीर्य आचार्यने, जिनका आविर्भाव अकलंकदेवके अन्तिम जीवनमें अथवा उनसे कुछ ही वर्षों बाद हुआ जान पड़ता है और जिनकी उक्तियोंके प्रति प्रभाचंद्राचार्यने अपने 'न्यायकुमदचंद्रोदय' में बड़े ही महत्व तथा कृतज्ञताका भाव प्रकट किया है, अकलंकदेवकृत 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थकी टीका× के 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामक छठे प्रस्तावमें पात्रकेसरी स्वामी, उनके 'त्रिलक्षणकर्थन' ग्रन्थ और उनके 'अन्यथानुपपन्नत्वं' नामके उस प्रसिद्ध श्लोकका उल्लेख करते हुए, जो महत्वकी चर्चा तथा सूचना की है वह इस प्रकार है:—

"ननु सदोषं तदतस्तदुपरि ज्ञानमदोषायेति चेदत्राह—'अमलालीढं' अमलैर्गणधरप्रभृतिभिरालीढमास्वादितं न हि ते सदोषमालिहन्त्यमलत्वहानेः। कस्य तदित्यत्राह—'स्वामिनः' पात्रकेसरिणः इत्येके। कुत एतत्तेन तद्विषयत्रिलक्षणकदर्थनमुत्तरभाष्यं यतः कृतमिति चेत् नन्वेवं (तर्हि) सीमन्धरभट्टारकस्याशेषार्थसाक्षात्कारिणस्तीर्थंकरस्य स्यात्तेन हि प्रथमं 'अन्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किं। नान्यथानुपन्नत्वं तत्र यत्र त्रयेण किं, इत्येतत्कृतं। कथमिदमवगम्यत इति चेत् पात्रकेसरिणा त्रिलक्षणकदर्थनं कृतमितिकथमवगम्यत इति, समानमाचार्यप्रसिद्धेरित्यपिसमानमुभयत्र कथा च महतीसुप्रसिद्धा तस्य-तत्कृतत्वेपमाणप्रामाण्ये तत्प्रसिद्धौ कः

* देखो, श्रीयुत बी० भट्टाचार्यद्वारा लिखित ग्रन्थकी भूमिका (Foreword)। ये दोनों आचार्य नालन्दाके विश्वविद्यालयमें अध्यापक रहे हैं और वहींसे यथावसर तिब्बतके राजा द्वारा निमंत्रित होकर तिब्बत भी गये हैं। तिब्बतके राजा Khri-sron-deu tsan (खिस्रोन्देउत्सन्) ने शान्तरक्षितकी सहायतासे ई० सन् ७४९ में एक विहार (मठ) अपने यहां निर्माण किया था। और कमलशीलने 'महायानहोशंग' नामक चीनी साधुको परास्त तथा निर्वासित करके अपने गुरु पद्मसम्भव और शान्तरक्षितके धार्मिक विचारोंकी तिब्बतमें रक्षा की थी; ऐसा डा० शतीश्चन्द्र विद्याभूषणकी 'हिस्टरी आफ दि मिडियावल स्कूल आफ इन्डियन लॉजिक' से जान पड़ता है।

× 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रंथकी खोज होने पर हालमें यह उसकी सोलह सतरह हज़ार श्लोक परिमाण टीका गुजरात पुरातत्त्व-मन्दिर अहमदाबादको प्राप्त हुई है और मुझे गत वर्ष वहीं पर इसके पन्ने पलटनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह टीका बड़े महत्वकी है परन्तु यह जान कर खेद हुआ कि इसमें मूल सूत्र पूरे नहीं दिये—आचार्योंकी सूचना रूपसे पाये जाते हैं। मूल ग्रंथकी खोज होनेकी बहुत बड़ी जरूरत है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई समर्थ जिनवाणी भक्त इसका मूल सहित उद्धार करा कर अपनी जिनवाणी भक्तिका सच्चा परिचय देवें।

समाश्वासः।तदर्थंकरणात्तस्येति चेत्तर्हि सर्वशास्त्रं तदविधेयं चात एव शिष्याणामेव न तत्कृतमिति व्यपदिश्येत पात्रकेसरिणोऽपि वा न भवेत्तेनाप्यन्यार्थं तत्करणात्तेनाप्यन्यार्थमिति न कस्यचित्स्याद्येन तद्विषयप्रबंधकरणात्पात्रकेसरिणस्तदिति चिन्तितं मूलसूत्रकारेण कस्यचिद्व्यपदेशाभावप्रसंगात् । तस्मात्साकल्येनसाक्षात्कृत्योपदिशत एवायं भगवतस्तीर्थंकरस्य हेतुरिति निश्चीयते। एतच्चामलाली- ढत्वे कारणमुक्तं ।

यह सारी चर्चा वास्तवमें अकलंकदेव के मूलसूत्र (कारिका)मेंप्रयुक्तहुए‘अमलालीढं’और ‘स्वामिनः’ ऐसे दो पदों की टीका है। और इससे ऐसा जान पड़ता है कि, अकलंदेवने हेतुके ‘अन्यथानुपपत्येकलक्षण’ का ‘अमलालीढ’ विशेषण देकर उसे अमलों (निर्दोषों) —गणधरादिकों—द्वारा आस्वादित बतलाया है और साथ ही ‘स्वामिनः’ पदके द्वारा प्रतिपादित किया है कि वह ‘स्वामिकृत’ है । इस पर टीकाकारने यह चर्चा की है कि—यहां ‘स्वामी’ शब्दसे कुछ विद्वान लोग पात्रकेसरी स्वामीका अभिप्राय लेते हैं—उस हेतुलक्षणको पात्रकेसरिकृत बतलाते हैं—और उसका हेतु यह देते हैं कि पात्रकेसरी ने चूँकि हेतुविषयक ‘ त्रिलक्षणकदर्थन’ नामके उत्तरभाष्यकी रचना की है इसीसे यह हेतुलक्षण उन्हींका है । यदि ऐसा ही है—ऐसा ही हेतुप्रयोग है—तब तो वह अशेष विषयको साक्षात् करनेवाले सीमंधर स्वामी तीर्थंकर कृत होना चाहिये, क्योंकि उन्हीं ने ही पहले ‘अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं । नान्यथानुपपन्नत्वं यत्रतत्र त्रयेण किं’ इस वाक्यकी सृष्टि की है । यदि यह कहा जाय कि सीमंधर स्वामीने ऐसा किया इसके जाननेका क्या साधन है ? तो फिर पात्रकेसरीने त्रिलक्षणका कदर्थन किया इसके जानने का भी क्या साधन है ? यदि इसे आचार्य परमपरासे प्रसिद्ध माना जाय तो सीमंधर स्वामी का कर्तृत्व भी उक्त श्लोक के विषयमें आचार्यपरमपरा में प्रसिद्ध है । दोनों ओर कथा समान रूपसे इसके कर्तृत्वविषयमें सुप्रसिद्ध है । यदि यह कहा जाय कि सीमंधर स्वामीने चूंकि पात्रकेसरी के लिये इसकी सृष्टि की है इस लिये यह पात्रकेसरिकृत है तब तो सर्वशास्त्रसमूह तीर्थंकरके द्वारा अविधेय ठहरेगा और इसलिये यह कहना होगा कि वह शिष्योंका किया हुआ ही है, तीर्थंकरकृत नहीं है । ऐसी हालतमें पात्रकेसरीका कर्तृत्व भी नहीं रहेगा; क्योंकि उन्होंने दूसरोंके लिये इसकी रचना की। और इसी तरह दूसरोंने और दूसरोंके लिये रचना की तब किसीका भी कर्तृत्व इस विषयमें नहीं ठहरेगा। इससे तद्विषयक प्रबन्धकी रचना के कारण यह पात्रकेसरिकृत है, इस पर मूलसूत्रकारने —श्रीअकलंकदेवने—विचार किया है...और इसलिये (वास्तवमें तो) पूर्ण रूपसे साक्षात् करके उपदेश देने वाले तीर्थंकर भगवानका ही यह हेतु निश्चित होता है और यही अमलालीढत्व में कारण कहा गया है ।’*

इस पुरातन चर्चा परसे कई बातें स्पष्ट जानी जाती हैं—एक तो यह कि अनन्तवीर्य आचार्यके समय में पात्रकेसरी स्वामी एक बहुत प्राचीन आचार्य समझे जाते थे, इतने प्राचीन कि उनकी कथा आचार्यपरमपराकी कथा हो गई थी; दूसरे यह कि,‘त्रिलक्षणकदर्थन’ नामका उनका कोई ग्रन्थ जरूर था ; तीसरे यह कि, ‘ अन्यथानुपपन्नत्वं’ नामके उक्त श्लोक को पात्रकेसरी की कृति समझने वाले तथा सीमंधरस्वामी की कृति बतलाने वाले दोनों ही उस समय मौजूद थे और जो सीमंधरस्वामीकी कृति बतलाते थे वे भी उस का अवतार पात्रकेसरीके लिये समझते थे; चौथे यह

के मूलसूत्रकार श्रीअकलंकदेव के सामने भी पात्र-केसरिविषयक यह सब लोकस्थिति मौजूद थी और उन्होंने उस पर विचार किया था और उस विचारका ही यह परिणाम है जो उन्होंने सीमंधर या पात्रकेसरी दोनों में से किसी एक का नाम न देकर दोनों के लिये समानरूप से व्यवहृत होने वाले 'स्वामिन्' शब्दका प्रयोग किया है। ऐसी हालतमें पात्रकेसरी स्वामी विद्यानंद से भिन्न व्यक्ति थे और वे उनसे बहुत पहले हो गए हैं इस विषय में संदेहको कोई अवकाश नहीं रहता; बल्कि साथ ही यह भी मालूम हो जाता है कि पात्र-केसरी उन अकलंकदेव से भी पहले हुए हैं जिनकी अष्टशती को लेकर विद्यानन्दने अष्टसहस्री लिखी है।

(८) बेलूर ताल्लुकेके शिलालेख नं०१७में भी पात्र-केसरीका उल्लेख है। यह शिलालेख रामानुजाचार्य-मंदिर के अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मंदिर के छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और शकसंवत १०५९ का लिखा हुआ है*। इसमें समन्तभद्रस्वामीके बाद पात्रकेसरी का होना लिखा है और उन्हें समन्तभद्रके द्रमिलसंघ काअग्रेसर सूचित किया है। साथ ही,यह प्रकट कियाहै कि पात्रकेसरीके बाद क्रमशः वक्रग्रीव,वज्रनन्दी,सुमति भट्टारक (देव) और समयदीपक अकलंक नाम के प्रधान आचार्य हुए हैं। यथा—

...तत् . ... स्थयम सहस्रगुणं माडि समन्त-भद्रस्वामिगलु सन्दर् अवरिं बलिक तदीय श्रीमद्द्रमिलसंघाग्रेसरर् अप्पपात्रकेसरि-स्वामि गलिं वक्रग्रीवाभि ... ..रिन्द्र अनन्तरं।
यस्य दि......न् कीर्तिस्त्रैलोक्यमप्यगात्।
...येत्र भात्येको वज्रनंदी गुणाग्रणीः ॥
अवरिं बलिक सुमति-भट्टारकर् अवरिं बलिक... समयदीपक...रम् उन्मीलित-दोष-क...रजनीचर-बलं उद्बोधितं भव्यकमलम् आयत् ऊर्जितम् अकलंक-प्रमाण-तपन स्फु ...... ॥

* देखो, 'एपिग्रेफिका कर्णाटिका' जिल्द ५, भाग १ला

इससे पात्रकेसरीकी प्राचीनताका कितना ही पता चलता है और इस बातका और भी समर्थन होता है कि वे अकलंकदेवसे पहले ही नहीं किन्तु बहुत पहले हुए हैं। अकलंकदेव विक्रमकी ७ वीं ८ वीं शताब्दीके विद्वान हैं, वे बौद्धतार्किक 'धर्मकीर्ति' और मीमांसक विद्वान'कुमारिल'के प्रायः समकालीन थे और विक्रम संवत् ७०० में आपका बौद्धोंके साथ महान् वाद हुआ था, जिसका उल्लेख 'अकलंकचरित'के निम्न वाक्यसे पाया जाता है:—

विक्रमार्क-शकाब्दीय-शतसप्त-प्रमाजुषि।
कालेऽकलंक-यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

और वज्रनन्दी विक्रमकी छठी शताब्दीमें हुए हैं। उन्होंने वि० सं० ५२६में 'द्राविड' संघकी स्थापना की है, ऐसा देवसेनके 'दर्शनसार' ग्रन्थसे जाना जाता है। इससे पात्रकेसरीका समय छठी शताब्दीसे पहले पाँचवीं या चौथी शताब्दीके क़रीब जान पड़ता है; जब कि विद्यानन्दका समय प्रायः ९वीं शताब्दीका ही है।

अतः इस संपूर्ण परीक्षण,विवेचन और स्पष्टीकरण पर से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द दो भिन्न आचार्य हुए हैं— दोनोंका व्यक्तित्व भिन्न है, ग्रन्थसमूह भिन्न है और समय भी भिन्न है। और इस लिये 'सम्यक्त्वप्रकाश' के लेखकने यदि दोनोंको एक लिख दिया है तो वह उसकी स्पष्ट भूल है। पात्रकेसरीस्वामी विद्यानन्दसे कई शताब्दी पहले हुए हैं। वे ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुएथे*,

* पात्रकेसरीकी कथाके अतिरिक्त विद्यानन्दिकृत 'सुदर्शनचरित्र' के निम्न वाक्यसे भी यह मालूम होता है कि पात्रकेसरी ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए थेः—

विप्रवंशाग्रणीः सूरिः पवित्रः पात्रकेसरी।
सजीयाज्जिनपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ॥

राज्यमें किसी अच्छे पद पर प्रतिष्ठित थे और एक बहुत बड़े अजैन विद्वान् थे। स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रको सुनकर आपकी श्रद्धा पलट गई थी, आप जैनधर्ममें दीक्षित हो गये थे और राजसेवाको भी छोड़ कर जैनमुनि बन गये थे। आपका आचार पवित्र और ज्ञान निर्मल था। इसीसे भगवज्जिनसेनाचार्य जैसे आचार्योंने आपकी स्तुति की है और आपके प्रति निर्मल गुणोंको विद्वानोंके हृदय पर हारकी तरहसे आरूढ बतलाया है। आपने नहीं मालूम और कितने ग्रन्थोंकी रचना की है। पात्रकेसरिस्तोत्र आदि परसे आपके ग्रन्थ बड़े महत्वके मालूम होते हैं। उनका पठन-पाठन उठ जानेसे ही वे लुप्त हो गये हैं। उनकी जरूर खोज होनी चाहिये। 'त्रिलक्षणकदर्थन' ग्रन्थ ११ वीं शताब्दीमें मौजूद था, खोज करने पर वह जैनभंडारोंसे नहीं तो बौद्धशास्त्रभंडारोंसे—तिब्बत, चीन, जापान, लंकादिकके बौद्धविहारोंसे—अथवा पश्चिमी लायब्रेरियोंसे जरूर मिल जायगा। जैनसमाजमें अपने प्राचीन साहित्यके उद्धारका कुछ भी उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं हो रहा है—खाली जिनवाणीकी भक्तिके रीते फीके गीत गाए जाते हैं—और इसी से जैनियोंका सारा इतिहास अन्धकारमें पड़ा हुआ है और उसके विषयमें सैंकड़ों गलतफहमियाँ फैली हुई हैं। जिनके हृदय पर साहित्य और इतिहासकी इस दुर्दशाको देख-सुन कर चोट पहुँचती है और जो जिनवाणीके सच्चे भक्त, पूर्वाचार्योंके सच्चे उपासक अथवा समाजके सच्चे शुभ चिन्तक हैं उनका इस समय यह खास कर्तव्य है कि वे साहित्य और इतिहास दोनोंके उद्धारके लिये खास तौरसे अग्रसर हों, उद्धारकार्यको व्यवस्थित रूपसे चलाएँ और उसमें सहायता पहुँचानेके लिये अपनी शक्ति भर कोई भी बात उठा न रक्खें।

ता० १६-१२-१९२९ जुगलकिशोर मुख्तार

स्वास्थ्यरक्षाके मूलमन्त्र

[ले०—श्रीमान राजवैद्य शीतलप्रसादजी]

(गतांकसे आगे)

नीरोग रहना अथवा आरोग्य क्या वस्तु है, इसे यदि संक्षेपसे दो शब्दोंमें कहा जाय तो इतना कह सकते हैं कि, इस शरीर रूपी यन्त्रके सम्पूर्ण अवयवोंका—कलपुरजोंका—यथोचित रूपसे अपना अपना काम करते रहना और मन, इन्द्रियों तथा आत्माका प्रसन्न बना रहना आरोग्य है—स्वास्थ्य भी इसीका नामान्तर है। जो लोग इस आरोग्य दशाको प्राप्त अथवा स्वास्थ्यसम्पत्तिसे विभूषित होते हैं उन्हें ही स्वस्थ, नीरोग अथवा तनदुरुस्त कहते हैं।

भिषग्वर वाग्भट्टने इस आरोग्यदशाकी प्राप्तिके लिये अपने उक्त पद्यमें स्वास्थ्यरक्षाविषयक शरीरनीतिको लियेहुए शारीरिक सदाचारोंका (सातावेदनीय कर्मके उपार्जनके कारणोंका) जो समावेश किया है वह सच मुच सागरको गागरमें ही भरा गया है। शारीरिक सदाचार-सम्बंधी आपके वे सब उपदेश स्वास्थ्यरक्षा के मूलमंत्र हैं।

वास्तवमें, शारीरिक सदाचार ही आरोग्यरत्नकी रक्षा करनेवाले हैं और दुराचार उसको बिगाड़ने तथा

उसका अपहरण करने वाले हैं। जिस प्रकार राज्य-क़ानूनका उल्लंघन करने वाला अपराधी दण्ड पाने का अधिकारी है ठीक उसी प्रकार, बल्कि उससे भी कहीं अधिक, शरीरनीति को बिगाड़ने वाला मनुष्य दण्डनीय है। इनमें से एक को तो मनुष्य-कृत क़ाननमे सजा मिलती है और दूसरे को क़ानूनक़ुदरत दण्ड देता है। मनुष्यकृत क़ानून अपूर्ण होने तथा अल्पज्ञों और पक्षपाती मनुष्योंके आधीन होनेके कारण राज्यक़ानूनका अपराधी तो कितनी ही बार छूट भी जाता है परन्तु शरीरनीतिके अपराधी को क़ुदरत—नेचर अथवा प्रकृति—सजा दिये बिना कभी नहीं छोड़ती। क़ुदरतकी सजा अनेक प्रकारके रोगों की पीड़ासे लेकर कष्टदायक मृत्यु पर्यंत है। इस लिये रोगोंकी पीड़ा तथा वेदना से बचने और दीर्घजीवी होने के लिये शरीरनीति का पालन करना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है।

यदि आप दीर्घ दृष्टि से देखेंगे अथवा गहरा विचार करेंगे तो आपको यह भी मालूम हो जायगा कि शरीरनीति को बिगाड़नेसे ही अनेक राज्यविरुद्ध अपराध उत्पन्न होते हैं। जैसे कि कामांध लम्पट पुरुष अपने दुर्व्यसनको पूरा करने के लिये बलात्कार-व्यभिचार सरीखे विविध प्रकारके अन्याय और भारी भारी पाप कर डालता है, जिनके लिये कभी कभी उसे खूब कड़ी सजाएँ भोगनी पड़ती हैं; इत्यादि। इसके प्रतिकूल, शारीरिक नीतिका यथार्थ पालन करने वाला —सदाचारसे रहनेवाला—मनुष्य राज्यक़ानूनकी किसी भी धाराका अपराधी नहीं हो सकता। वह अपने सदाचारके बलसे पूर्व संचित कठोर कर्मोंके रसको भी नरम करके इस जन्म में धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंकी यथेष्ट साधना-द्वारा मनोवाञ्छित सुखोंका उपभोग करता हुआ एक प्रसिद्ध और प्रातः स्मरणीय व्यक्ति हो जाता है। साथ ही, अपना भविष्य भी सुधार लेता है। ऐसे ही सदाचारी व्यक्ति अगले जन्मों में उत्तरोत्तर आत्मोन्नति करते हुए अन्तको अनन्त सुखों की प्राप्ति रूप मोक्षके पात्र बन जाते हैं और दुःख-सन्तापोंसे सदा के लिये छूट जाते हैं। अस्तु।

आहार

जीवन की स्थिति के लिये प्राणी मात्र को आहार अथवा भोजनकी आवश्यकता पड़ती है; क्योंकि आहार के बिना कोई भी प्राणी बहुत दिन तक जी नहीं सकता। इस लिये सब से पहले इस ही पर विचार करना आवश्यक है—वाग्भट्टजी ने भी अपने उक्तवाक्यमें इसीको अग्रस्थान दिया है। बहुत कम लोग होंगे जो पूरे तौरसे यह भी जानते हों कि हमें बार बार भोजनकी जरूरत क्यों होती है। बात असलमें यह है कि नित्य ही शरीर और मनका जो व्यापार होता है—चलना फिरना, बैठना उठना, बोलना चालना और सोचना समझना आदि रूप जो भी क्रियाएँ मन वचन और काय से होती हैं उन सब के द्वारा प्रति दिन और प्रति समय हमारे शरीरके अवयवों, धातुओं एवं शक्तियोंका ह्रास, व्यय अथवा क्षय होता रहता है, जिसकी पूर्तिके लिये भोजन की जरूरत होती है—आहारकी यथेष्ट सामग्रीद्वारा उसकी पूर्ति हो कर शरीरका काम ज्योंका त्यों चला करता है। इसके अतिरिक्त बाल्यावस्था और युवावस्था में जो शरीर और ओजकी वृद्धि होती है—डील डौल बढ़ा करता है—उसके लिये तथा शारीरिक उष्णत्व-उत्तापको स्थिर रखनेके लिये भी भोजनकी जरूरत पड़ती है और इस तरह यह पाया जाता है कि निम्नलिखित चार मुख्य कारणोंसे आहार करनेकी परम आवश्यकता है:—

(१) शरीरमें कामकाज करनेकी शक्ति उत्पन्न करनेके लिये।
(२) शरीरस्थ धातुओंकी व्यय-पूर्तिके लिये।
(३) अंगोंके बढ़ावचढ़ाव एवं बल-पुरुषार्थकी वृद्धिके लिये।
(४) शरीरमें यथोचित उष्णत्व स्थिर रखनेके लिये।

यह उष्णत्व शरीर रूपी एंजिन में स्टीमका काम करता है—नस-नाड़ियोंको गति देता है। याद रखिये स्वस्थ मनुष्यकी नाड़ीकी गति प्रायः ७५ होती है। यदि नाड़ीकी गति ७१ से कम होने लगे तो शरीर ठंडा होते होते प्राण हीन हो जाता है।

अब विचारणीय यह है कि वह कौनसा आहार है जो हमारी उपर्युक्त आवश्यकताओं को पूरा करता हुआ हमें आरोग्य प्रदान करता है।

(क्रमशः)

कर्णाटक-जैनकवि

[अनुवादक—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी]

[अठारह वर्षके क़रीब हुए जब 'कर्णाटक-जैनकवि' नाम की एक लेखमाला जैनहितैषीमें सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने निकालनी प्रारम्भ की थी। यह लेखमाला प्रायः मेसर्स आर०तथा एस० जी० नरसिंहाचार्य-रचित 'कर्णाटक-कविचरिते' नामक कनडी ग्रन्थके प्रथम भागके आधार पर लिखीगई थी, जो उस वक्त तक प्रकाशमें आया था। और उसमें ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीसे लेकर १४वीं शताब्दी तकके ७५ जैन कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया था, जो कि पुरातत्त्वके खोजियों तथा अनुसन्धानप्रिय व्यक्तियोंको बहुत ही रुचिकर हुआ था—हिन्दीसंसारके लिये तो वह बिलकुल ही नई चीज़ थी—और बंगला भाषाके 'ढाकारिव्यू' जैसे पत्रों ने जिसका अनुवाद भी निकाला था और उसे बड़े ही महत्वकी चीज़ समझा था। आज, जब कि उक्त 'कर्णाटक-कविचरिते' का दूसराभाग प्रकाशित हो चुका है, उसी लेखमालाका यह दूसरा भाग 'अनेकांत' के पाठकोंकी भेट किया जाता है। इसे हालमें पं० नाथूरामजीकी प्रेरणा पर 'कर्णाटक-कविचरिते' के द्वितीय भाग पर से श्रीयुत ए. एन. उपाध्याय बी. ए. महाशयने मराठी भाषा में संकलित किया था, उसी परसे यह हिन्दी अनुवाद पं० नाथूरामजी प्रेमीने प्रस्तुत किया है। प्रेमीजी लिखते हैं कि "उपाध्यायजी बड़े होनहार हैं, पूने में एम. ए. में पढ़ रहे हैं और जैनसाहित्य तथा इतिहाससे आपको बहुत प्रेम है।" अनेकान्त में इस लेख माला के लिये प्रेमीजी, उपाध्यायजी और 'कर्णाटक-कविचरिते' के मूल लेखक तीनों ही धन्यवादके पात्र हैं। यद्यपि उस लेखमालामें कवियोंका बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया गया है—विशेष परिचय भी पाया जाता है और इसे संकलित करनेकी ज़रूरत है—फिर भी इस परसे पाठकोंको बहुत सी नई नई बातें मालूम होंगी और इतिहास तथा पुरातत्त्व विषयमें उनका कितना ही अनुभव बढ़ेगा। साथ ही, उन्हें यह जान पड़ेगा कि कनडी जैन साहित्यके उद्धारकी कितनी अधिक ज़रूरत है। —सम्पादक]

१ भास्कर (ई०सन् १४२४)

इस कविने जीवन्धरचरितकी रचना की है। यह ग्रन्थ उसने 'शान्तेश्वर-बस्ती' नामक जैनमन्दिरमें ई० सन् १४२४में समाप्त किया है*। कविका निवासस्थान पैनुगोंडे नामक ग्राम था। जीवन्धरचरित वादीभसिंह सूरिके संस्कृत ग्रन्थका कनड़ी अनुवाद है, ऐसा कविने स्वयं प्रकट किया है। ग्रन्थारंभमें उसने पंच परमेष्ठी, भूतबलि, पुष्पदंत, वीरसेन, जिनसेन, अकलंक, कवि परमेष्ठी, समन्तभद्र, कोंडकुन्द, वादीभसिंह, पण्डितदेव, कुमारसेन, वर्द्धमान, धर्मभूषण, कुमारसेन के शिष्य वीरसेन, चारित्रभूषण, नेमिचन्द्र, गुणवर्म, नागवर्म, होन्न, विजय, अग्गल, गजांकुश, और यशश्चन्द्र आदि का नाम स्मरण किया है। यह विश्वामित्र गोत्री जैन ब्राह्मण था और इसके पिताका नाम बसवांक था।

* ग्रंथमें समाप्ति-समय फाल्गुन शुक्ल १०मी रविवार शक स० १३४५ क्रोधि संम्वत्सर दिया है और पेनुगोंडे ग्रामके उक्त जिन-मंदिरमें समाप्तिका उल्लेख किया है। —सम्पादक

२ कल्याणकीर्ति (ई०स० १४३९)

इस कविके दीक्षागुरु ललितकीर्ति थे, जो मूलसंघ के देशी गणके आचार्य थे। इसने ज्ञानचन्द्राभ्युदय, कामनकथे, अनुप्रेक्षे, जिनस्तुति, तत्त्वभेदाष्टक, सिद्धराशि नामक ग्रन्थ लिखे हैं ×। ज्ञानचन्द्राभ्युदयकी रचना ई०सन् १४३९ में समाप्त हुई है। कामनकथे को इसने तुलुव देशके राजा भैरवसुत पाण्डवरायकी प्रेरणा से लिखा है।

'ज्ञानचन्द्राभ्युदय' में सन्धि विभाग नहीं है, ९०८ पद्य हैं। यह षट्पदी छन्दमें है, इसलिए इसे ज्ञानचन्द्र-षट्पदी भी कहते हैं। ज्ञानचन्द्र नामक राजाने तपश्चर्या करके मुक्ति प्राप्ति की, इसीकी इसमें कथा है।

'कामनकथे' सांगत छन्दमें है। इसमें जैनमतके अनुसार कामकथा लिखी गई है। इसमें ४ सन्धियाँ और २३१ पद्य हैं। ग्रंथारंभमें गुरु ललितकीर्तिका स्मरण किया गया है।

'अनुप्रेक्षे'में ७४ पद्य हैं और वे कोंडकुंदकी गाथाओं (बारह अणुपेक्खा?) के अनुवाद हैं।

'जिनस्तुति'में १७ और 'तत्त्वभेदाष्टक'में ९ पद्य हैं।

३ जिनदेवरण (ई०स० १४४४)

इसका बनाया हुआ 'श्रेणिकचरित्र' नामका ग्रंथ है। मि० राइसके मतानुसार यह ईस्वी सन १४४४ में लिखा गया है।

× यशोधरचरित नामका भी एक ग्रंथ इस कविका लिखा हुआ है, जो संस्कृत भाषामें १८५० श्लोक परिमाण है, यह ग्रन्थ गंधर्व कविके प्राकृत ग्रंथको देखकर बनाया गया है और पाण्डयनगर के गोम्मटस्वामीके चैत्यालयमें शक सं० १३५३ में बना कर समाप्त किया गया है। इसमें सिद्धसेनादि अनेक आचार्योंका स्मरण किया गया है। कनड़ी ग्रंथोंमें 'फणिकुमारचरित्र' भी आपकी रचना है जो शक सं० १३६४ में बनकर पूरी हुई है। —सम्पादक

४ विजयरण (ई०स० १४४८)

इसने 'द्वादशानुप्रेक्षे' नामक ग्रंथ कुन्तल देशान्तर्गत बेलुवल प्रदेशके वेम्मनभावी नामक ग्रामके शान्तिनाथ चैत्यालयमें, उस गाँवके स्वामी होन्नबंदि देवराज की आज्ञानुसार, ई० सन् १४४८ में समाप्त किया है। देवचन्द्रकी 'राजाबलिकथे' में जो यह लिखा है कि विजयरण रत्नाकर वर्णीका समकालीन था, सो भ्रममूलक जान पड़ता है।

द्वादशानुप्रेक्षेमें १२ परिच्छेद और १४४८ पद्य हैं। ग्रंथारम्भमें वृषभजिनेन्द्र, सिद्ध, सरस्वती, वृषभसेनादि गणधर, विजयकीर्ति और उनके शिष्य पार्श्वकीर्तिकी स्तुति की गई है। पार्श्वकीर्ति ग्रंथकर्ताके गुरु जान पड़ते हैं।

५ विद्यानन्द (ई०स० १४५५)

इन्होंने 'प्रायश्चित' नामक स्वरचित संस्कृत ग्रन्थकी कनड़ी टीका लिखी है। यह ग्रन्थ युवसंवत्सरमें लिखा गया, अर्थात् संभवतः यह ई०स० १४५५में लिखा गया होगा। इसकी व्याख्यान-शैली प्रौढ है और पुरानी कनड़ीमें यह लिखा गया है। बीच बीचमें श्लोक उद्धृत किये गये हैं, और वे स्वकृत जान पड़ते हैं। इनके पिता का नाम ब्रह्मसूरि अथवा बोम्मरसोपाध्याय था। अकलंक, चन्द्रप्रभ और विद्यानन्द ये इनके व्रतगुरु विद्यागुरु त्रय (?) थे, ऐसा प्रकट किया है। इनके सिवाय विजयकीर्तिके विषयमें कहा है कि उन्होंने मुझे उपदेश देकर पोषण किया। ग्रन्थारंभमें विजयजिनकी स्तुति की है, जो कनकगिरि उर्फ मलयूरु ग्रामके जिनदेवका नाम है।

६ तेरकणांबि बोम्मरस (ई०स० १४८५)

ये तेरकणांबि नामक ग्रामके रहने वाले थे। ये बोम्मरसोपाध्यायके पुत्र और नेमिचन्द्रके प्रपौत्र थे। नेमिचंद्र

ने प्रौढराय (१४१९-१४४६) की सभामें अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ करके जयपत्र प्राप्त किया था।

बोम्मरसके सनत्कुमारचरित और जीवंधरसांगत्य नामके दो ग्रंथ उपलब्ध हैं। सनत्कुमारचरित भामिनी षट्पदी (छन्द) में लिखा गया है। उसमें १७ सन्धि और ८७० पद्य हैं। प्रारंभमें मंगलाचरणके बाद जिन-धर्मशास्त्रोद्धारक गुणभद्र, अकलंक, वीरसेन, पूज्यपाद और अपने प्रपितामह वादीभसिंह नेमिचन्द्रका नाम स्मरण किया गया है। जीवंधरसांगत्यमें १० सन्धि और १४४९ पद्य हैं।

७ कोटीश्वर (१५०८)

इनके पिता तम्मणसेट्टि तुलुदेशान्तर्गत बङ्गूर राज्य के सेनापति थे। इनकी माताका नाम रामक, बड़े भाई का नाम सोमेश और छोटे भाईका नाम दुर्ग था। संगीतपुरके आस्थानश्रेष्ठी (नगरसेठ ?) 'कामणसेट्टी' इनका जामाता था। श्रवणबेलगुलके पण्डित-योगीके शिष्य प्रभाचन्द्र इनके गुरु थे। संगीतपुरके नेमिजिनेश इनके इष्टदेव और संगीतपुरनरेश संगम इनके आश्रय-दाता थे। इन्हीं की आज्ञासे इन्होंने जीवन्धरषट्पदी नामक ग्रंथकी रचना की थी। विलगि ताल्लुकेके एक शिलालेखसे मालूम होता है कि श्रुतकीर्ति संगमके गुरु थे और श्रुतकीर्तिकी शिष्य परम्परामें 'कर्नाटक-शब्दानुशासन' के कर्त्ता भट्टाकलङ्क (१६०४) पाँचवें थे और चूँकि कोटीश्वरने जीवन्धर-षट्पदीमें जो अपने पूर्व गुरुओंकी स्तुति की है, उसमें विजयकीर्त्तिके शिष्य श्रुतकीर्ति पर्यंत स्तुति है, इससे मालूम होता है कि कोटीश्वरका समय ई०सन् १५०० के लग भग होगा।

अपने पूर्वके कवियों में उन्होंने जन्न, नेमिचन्द्र, होन्न, हंपरस, अग्गल, रन्न, गुणवर्म, नागवर्मका स्मरण किया है और मंगलाचरणमें कोंडकुंद, समन्तभद्र, पंडितमुनि, धर्मभूषण, भट्टाकलंक, देवकीर्ति, मुनिभद्र, विजयकीर्ति, ललितकीर्ति, और श्रुतकीर्ति इन कवि-गुरुओं की स्तुति की है।

जीवंधरषट्पदीकी केवल एक ही अपूर्ण प्रति उपलब्ध हुई है जिसमें शुरुके ९ अध्याय और दसवें अध्यायके ११९ पद्य हैं।

८ श्रीधरदेव (१५००)

इनका बनाया हुआ वैद्यामृत नामका ग्रन्थ प्राप्य है। इसमें इन्होंने अपनेको 'जगदेकमहामन्त्रवादि' विशेषणसे विभूषित किया है। मुनि चन्द्रदेवकी इच्छा के अनुसार यह ग्रंथ निर्मित हुआ है। इस ग्रन्थसे कवि के विषयमें और किसी बातका पता नहीं लगता है।

वैद्यामृत चम्पू ग्रंथ है। इसमें गद्य भागही अधिक है, बीच बीचमें कन्द पद्य हैं। इसके २४ अधिकार हैं। और चिकित्सा-विधानमें बहुत जगह मन्त्र दिये गये हैं

९ यशःकीर्त्ति (१५००)

इन्होंने धर्मशर्माभ्युदय काव्यकी 'सन्देहध्वान्त-दीपिका' नामकी टीका लिखी है। ये ललितकीर्तिके शिष्य थे। इनका समय ई० सन् १५०० के लगभग माननेमें कोई हानि नहीं है। टीकाके अंतमें इस प्रकार का गद्य दिया है—

"इति श्रीमन्मण्डलाचार्य-ललितकीर्त्ति-शिष्यश्री यशःकीर्त्ति-विरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायाम्—"

१० शुभचन्द्र (१५००)

इन्होंने 'नरपिंगलि' नामका ज्योतिष ग्रन्थ लिखा है जिसमें १६७ कन्दपद्य हैं। अन्तमें इस प्रकारका गद्य है—"इदु शुभचंद्र-सिद्धांतयोगीन्द्र-विरचितमप्प नर-पिंगलि—"

११ अभिनववादि विद्यानन्द (१५३३)

इन्होंने 'काव्यसार' नामक ग्रन्थमें काव्योपयोगी आवश्यक विषयों पर पूर्व कवियोंके चुने हुए पद्योंका संकलन किया है। इसमें प्रत्येक विषयका एक एक अध्याय है और सब मिलकर ४५ अध्याय तथा ११४३ पद्य हैं। मल्लिकार्जुनके सूक्तिसुधार्णव (ई० स०१२४५) ग्रन्थके साथ इस ग्रन्थकी बहुत समानता है। इसमें बड़ी भारी विशेषता यह है कि जिन जिन ग्रंथोंसे पद्य लिये गये हैं उन सब ग्रंथोंके और कवियोंके नाम भी दे दिये हैं। इसमें नीचे लिखे कवियों के पद संकलित हैं—

गुणवर्म प्रथम (लगभग ई०स० ९००), आदि पंप (९४१), नागवर्म प्रथम (ल०९९०), रन्न (९९३), नागचन्द्र (ल०११००), उदयादित्य (ल०११५०), हरीश्वर (ल०११६५), नेमिचन्द्र (११७०), रुद्रभट्ट (ल०११८०) अग्गल (११८९), वाणीवल्लभ (ल०११९५), पार्श्वपंडित (१२०५), जन्न (१२०९), अण्डय्य (ल०१२३५), कमलभव (ल०१२३५), गुणवर्म द्वितीय (ल०१२३५), मधुर (ल०१३८५), चन्द्रशेखर (ल०१४३०)

पहले विद्यानन्द नामके अनेक जैनगुरु हो चुके थे, जान पड़ता है इसी कारण इन्होंने अपने नामके साथ 'अभिनववादि' विशेषण लगाया है। नगर तालूकाके ४६वें शिलालेखमें एक वादिविद्यानन्दकी स्तुति की गई है, जो वादिजनोंको जीतनेमें बहुत ही चतुर थे। उन्होंने नंजराय शहरके नंजिदेवराज सातवेंद्रराजा, केसरीविक्रम, साल्वमल्लिराय, गुरुनृपाल, सालुवदेवराय, नगरिराज्यके राजा, बिलिगके नरसिंहराज, कारकलके भैरवराज, नरसिंहकुमार (१५०९-२९) और कृष्णराजकी सभाओंमें और इसी प्रकार श्रीरंगपट्टण, विदिर,कोपण, बेलगुल, और गैरसोप्पेमें वादिजनोंका पराजय किया था। बहुत करके वे ये ही अभिनव वादिविद्यानंद होंगे। गैरसोप्पेका ही नाम भल्लातकीपुर है। यही इनका निवासस्थान था। इन्होंने काव्यसारके अतिरिक्त कनड़ीमें एक और स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा है, ऐसा मालूम होता है।

१२ साल्व (लगभग १५५०)

इनके बनाये हुए भारत, रसरत्नाकर, वैद्यसांगत्य और शारदाविलास नामके चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ये धर्मचन्द्रके पुत्र और देशीयगणके विनयकीर्तिके पुत्र श्रुतकीर्त्तिके शिष्य थे। साल्वमल्ल इनके आश्रयदाता या पोषक थे।

इनका 'भारतसाल्व' भारतके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें १६ पर्व हैं और यह भामिनी षट्पदीमें लिखा गया है। नेमीश्वरचरित भी इसका नाम है। इसमें हरिवंश और कुरुवंशके चरित्र हैं। कविने प्रेरणा की है कि दोषयुक्त भारत(महाभारत) न सुनकर लोग इस जिनपावनचरितको सुनें। ग्रन्थारंभमें नेमिजिन, सिद्ध, गणधर, जिनधर्म, कूष्मांडिनी, सर्वाण्हयक्ष, सरस्वती केवलि,श्रुतकेवलि···प्रथमांगधारी पर्यंत स्तुति की है और फिर गृद्धपिंछ, मयूरपिंछ, अर्हद्बलि, पुष्पदंत, भूतबलि, जिनचन्द्र, कोंडकुँदाचार्य, तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति समन्तभद्र, कविपरमेष्ठी, पूज्यपाद, वीरसेन, जिनसेन, नेमिचंद्र, रामसेन, अकलंकदेव, अनंतवीर्य, विद्यानंद, माणिक्यनंदि, प्रभेन्दु, रामचन्द्र, वासवेन्द्र, गुणभद्र, माघनन्दि, चारुकीर्त्ति, विशालकीर्ति, विजयकीर्त्ति सुत स्वगुरु श्रुतकीर्त्ति, महिभूषण, पोलादिदेव, मेरुनन्दि, समन्तभद्र, और पाल्यकीर्तिका स्मरण किया है।

रसरत्नाकरमें रसप्रक्रियाका प्रतिपादन किया गया है। इसमें शृंगारप्रपंच, रसविवरण; नायकनायिका-विवरण और भावाधिकरण ये चार अध्याय

हैं। इसमें पंप, रन्न, नेमिचन्द्र आदि कवियोंके पद्य उदाहृत किये हैं और रुद्रभट्ट, विद्यानाथ, हेमचन्द्र, नागवर्म, कविकामका अनुकरण करना स्वीकार किया है।

शारदाविलासमें काव्यका जीव जो ध्वनि है उसका प्रतिपादन किया गया है। कनड़ीमें ध्वनिविषय का यह पहला ही ग्रन्थ जान पड़ता है। इस ग्रन्थ का केवल ध्वनिव्यंग-विवरण नामका अध्याय ही प्राप्य है। यह ग्रन्थ कविने अपने आश्रयदाता साल्वमल्ल राजा × की कीर्तिके लिए लिखा। काव्यप्रकाशक और साहित्य सुधार्णव इन दो ग्रन्थोंका इसने उल्लेख किया है।

वैद्यसांगत्यमें कविने अनेक स्थानोंमें अपना खुदका मत प्रतिपादित किया है।

१३ दोड्डय्य (ल० १५५०)

यह जिनपुराणकथानिपुण देवप्पका पुत्र और पण्डित मुनिका शिष्य था। देवप्प आत्रेय गोत्रका जैन ब्राह्मण था और होय्सल देशके चंग प्रदेशके पिरियराज शहर में राज्य करने वाले यदुकुल तिलक विरूपराज का दरबारी कत्थक था। दोड्डय्यने * अपने चन्द्रप्रभ चरित में विरूपराजेन्द्र की स्तुति की है। जैन ब्राह्मण पं० सलिवेन्द्रका पुत्र वोम्मरस इसी राजाका प्रधान था। ग्रन्थके आरंभ में नीचे लिखे कवियों का उनके ग्रन्थों सहित स्मरण किया है—

पंपराज (आदिपुराण), रन्न (अजितपुराण), विजय (चन्द्रप्रभपुराण), गुणवर्म (पुष्पदंतपुराण), जन्नग (अनन्तपुराण), मधुर (धर्मनाथपुराण), अभिनवपंप (मल्लिनाथ पुराण और रामायण), होन्न (शान्ति पुराण), कण्णप (नेमिचरित और दुरितारी वीरेशचरित), नेमिचन्द्र(लीलावती), बन्धुवर्म(हरिवंश)

चन्द्रप्रभ चरित में २८ सन्धियाँ और ४४७५ पद्य हैं। प्रारंभ में कहा है कि मैं कविपरमेष्ठी और गुणभद्र की कही हुई कथा को कानड़ी में लिखता हूँ। पहले चन्द्रनाथ, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, रत्नत्रय, सरस्वती, गणधर, ज्वालामालिनी, विजययक्ष, और पिरियशहरके अनन्त जिनको कमलभृंग महिषिकुंभापुराधीश्वर ब्रह्मदेव की स्तुति की है। इसके बाद गन्धहस्तिमहाभाष्यकर्त्ता समन्तभद्र, सपादलक्ष-प्रमाण चतुर्विंशतितीर्थंकरपुराणकर्त्ता कविपरमेष्ठी, पार्श्वाभ्युदय और आदिपुराणके कर्त्ता सर्वज्ञ जिनसेन, तेईस तीर्थंकरोंके चरित लिखनेवाले गुणभद्र, तत्त्वौपध-शब्द-शास्त्रकार पूज्यपाद, पण्डितार्य, अकलंक, वादिविद्यानन्द और देवकीर्ति का स्मरण किया है।

१४ नेमण्ण (१५५९)

इसने ज्ञानभास्कर चरित नाम का ग्रन्थ लिखा है। इसमें १३३ पद्य हैं और बतलाया है कि अध्यात्म-शास्त्रपठन और ध्यान यह मोक्षके मुख्य साधन हैं। बाह्य वेष और कायक्लेश बहुत प्रयोजनीय नहीं हैं। ग्रन्थके आरम्भ में निजात्माका वन्दन और गुणस्मरण किया है। यह समडोलीपुरके आदिजिनालयके गुरु जिनसेनके शिष्य शीलाब्धि का शिष्य था और इसने तुलु देशके विदुर गाँव में दीक्षा ली थी।

१५ बाहुबलि (ल० १५६०)

भैरवेन्द्र नामक राजाकी इच्छासे इसने नागकुमार-कथा या पञ्चमीकथा की रचना की है। इसके पिता

× यह राजा साहित्य का बड़ा प्रेमी था और इसने शांति जिन की एक मूर्ति को विधिपूर्वक तय्यार करा कर उसे स्थापित कराया था, ऐसा मद्रासके अजायब घरमें मौजूद एक जैन मूर्तिके नीचे खुदा हुआ है (S.I.J.58) इस राजाकी प्रशंसासे मूड विद्रि भैरवी मडपके एक स्तंभ पर शिलालेख है। —सम्पादक

* इस कवि ने 'भुजबलिशतक' नामका एक संस्कृत ग्रंथ भी लिखा है, —सम्पादक

वणिकशिरोमणि सणणाएण और माता बोम्मलदेवी थी। यह कर्नाटक देश में कुंदाद्रिके दक्षिण में बसी हुई शृंगेरी का रहने वाला था जिसका कि दूसरा नाम दक्षिण वाराणसी है।

बाहुबलिका इस ग्रन्थको समाप्त करने के पहले ही देहान्त होगया, इस कारण इसे वर्धमान नामक कवि ने पूर्ण किया जो कि बहुत करके बाहुबलिका ही पुत्र था। वर्धमान नरसिंह भारती (१५५७-१५७३) का समकालीन था। उसे कवि राजहंस, संगीतसुधाब्धि-चन्द्र ये गौरवप्रद पदवियाँ प्राप्त थीं। उसने नीचे लिखे कवियों का उनके ग्रन्थों सहित स्मरण किया है—

आदिपंप (आदि पुराण), कन्तिक (जो वीरदोर की सभा की मंगल लक्ष्मी थी), अग्गल (चन्द्रप्रभ-पुराण), वाणकादम्बरी को हतप्रभ करके अपनी लीलावती पर पारितोषिक प्राप्त करने वाले नेमिचन्द्र, जन्न, गुणर्म, रन्न, पोन्न, और ज्योतिषविद्यामें अग्रगण्य वादिव्रातभयंकर श्रीधराचार्य।

मंगलाचरणके बाद परमपुराणकथा का विस्तार करने वाले द्वितीयगणधर कविपरमेष्ठी, कुमुदेन्दु, श्रीधराचार्य, अकलंक, पूज्यपाद, स्वपरमगुरु ललितकीर्त्ति, गुरुशान्तिकीर्त्तिका स्मरण किया है और फिर पद्मावती, सरस्वती, कूष्मांडिनी, सर्वाण्ह यक्ष की स्तुति की है।

१६ श्रुतकीर्त्ति (१५६७)

इसके पिता अकलंक और पितामह कनकगिरिके विजयकीर्त्ति थे। रामचन्द चन्दनवर्णी भी इसका नाम था। इसने विजयकुमारीचरित नाम का ग्रन्थ लिखा है, जिसमें इन्द्रियों को जीतने वाली विजय-कुमारी की कथा है। पहले यह कथा आर्यभाषा (संस्कृत?) में थी, इसे जैनोत्तमोंके इच्छानुसार कनड़ीमें लिखता हूँ, ऐसा कविने लिखा है। यह सांगत्य छन्द में है और इसमें १३१२ पद्य हैं। इसमें मंगलाचरणके बाद नीचे लिखे हुए आचार्यों को नमस्कार किया है।

भद्रबाहु, गुणभद्र, समन्तभद्र, इन्द्रनन्दि, महानन्दि, सिंहनन्दि, वीरनन्दि, वीरसेन, नयसेन, वीराचार्य, चन्द्रप्रभ, शुभचन्द्र, नेमिचन्द्र, पूज्यपाद, कोंडकुंद, कविपरमेष्ठी, चारुकीर्त्ति पंडित, अकलंक, चन्द्रप्रभ, विद्यानन्द, प्रभेन्दु, श्रुतकीर्त्ति,।

१७ दोड्डणांक (१५७८)

यह होय्सल देशके निट्टूर आदिसेट्टिके पुत्र वेट्टदि-सेट्टिका पुत्र था। इसने ई० सन् १५७८में चन्द्र-प्रभषट्पदी नाम का ग्रन्थ रचकर समाप्त किया है।

१८ पद्मरस (१५९९)

अखिल शास्त्रविशारद महावादिमदेभमृगेन्द्र तर्क-शब्दागमज्ञ, जैनसंहिताकर्त्ता श्रीवत्सगोत्रीय ब्रह्मसूरि पण्डित राजसन्मानित विद्वान थे। उनकी सन्ततिमें वैद्य-मंत्र-दैवज्ञ-शास्त्र-कोविद पद्मनोपाध्याय का जन्म हुआ। पद्मरस उन्हीं का पुत्र था। इसने 'शृंगारकथा' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसे उसने केलसूरकी चन्द्रनाथ वस्तीमें ई० स० १५९९ में समाप्त किया है। केलसूर का दूसरा नाम छत्रत्रयपुर है।

शृंगार कथा में सुखनिलयपुरके राजा रत्नभूषणके पुत्र सुकुमार की कथा वर्णित है। इसमें कथाभाग बहुत ही थोड़ा है। शृंगारवर्णन ही अधिक है। इसमें ५ सन्धियाँ और ५३३ पद्य हैं। मदनतिलक, मल्लिका-र्जुनविजय, भरतेश्वरचरित, कुमररामनकथा नामक पूर्वके ग्रन्थों का नाम निर्देश किया है।

यह कवि जैन है; फिर भी इस ग्रन्थके प्रारंभमें उसने शिवस्तुति की है! जान पड़ता है कि किसी अजैन की प्रेरणासे लिखा गया होगा।

शेष आगे

हमारी शिक्षा

ले०—बाबू माईदयाल जी, बी०ए० (आनर्स)

" विद्या सर्वार्थसाधिनी " —भगवन् जिनसेनाचार्य।

Education alone can conduct us to that which is at once best in quality and infinite in quantity. Horace Monk.

"केवल शिक्षा ही हमें उस तक ले जासकती है जो उच्चकोटिका और अनंत है।"

शिक्षा का महत्व

ज्ञानवादके इस युग में शिक्षाके महत्वसे प्रायः सब ही परिचित हैं। सब ही बहुत अंशों में यह जानते हैं कि शिक्षा से मनुष्यके हृदयमें एक अद्भुत प्रकाश होता है। शिक्षा ही के द्वारा मनुष्य की मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियोंका पूर्णरूपसे विकाश होता है। सुशिक्षित सदस्यों का समाज ही संसार में सब गुणों को प्राप्त करके सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक उन्नति करने में समर्थ होता है। शिक्षित समाज ही अपने अस्तित्व को गौरवके साथ स्थिर रख सकता है और मूर्ख समाज—अपढ़ समाज—समय और प्रकृतिके प्रबल वेगके सामने नष्ट हो जाता है। जिनके पास शिक्षाका चिंतामणि रत्न है, जिनके यहां विद्यारूपी कामधेनु है, वे महान् धनी हैं और संसार की सब वस्तुएँ उनके सामने तुच्छ हैं। विद्वान् ही बलवान है और अशिक्षित महान् शक्ति धारी होते हुए भी निर्बल है। कहनेका तात्पर्य यही है कि शिक्षा मानवी उन्नतिके वास्ते अत्यंत आवश्यक साधन है।

जैनसमाज और शिक्षा

इससे पहले कि पाठक महाशय जैन समाज में शिक्षा का प्रचार और उसका हिसाब जाननेका प्रयत्न करें वे पहिले नीचेके बड़े कोष्टक को देख लें। उनको बहुत हद तक उससे यह मालूम होजायगा कि हमारा समाज शिक्षा नामक भूषणसे कितना अलंकृत है?

सन् १९२१ में समस्त भारत में जैनियों की संख्या ११७८५९६ थी, उनमेंसे केवल ३५६८७९ जैनी शिक्षित थे, अर्थात् २९.६३५ प्रतिशत। इनमें पुरुषों और स्त्रियोंके पृथक् पृथक् अंक इस प्रकार थे। ६१००७९ पुरुषोंमेंसे ३१३४१६ पुरुष लिखे पढ़े थे, अर्थात् ५१.६२ प्रतिशत। और ५६८३१७ स्त्रियों में से केवल ४०४६३ स्त्रियां लिखी पढ़ी थीं, अर्थात् ७.६४५ प्रतिशत। अंग्रेजी लिखे पढ़े पुरुष २९५५७ और स्त्रियां ८८३ थीं; जिनका प्रतिशतका हिसाब लिखना व्यर्थ सा ही है।

प्रान्तवार जैनसमाज की शिक्षा का हिसाब

प्रान्तवार हमारी शिक्षाके तुलनात्मक अंकोंका ब्यौरा इस प्रकार है :—

नं०	नाम प्रान्त	प्रतिशत शिक्षित		कैफ़ियत
		पुरुष	स्त्री	
१	पंजाब	४३.५५	४.०२६	इनमें कश्मीर और मध्यभारत(Central India) के अंक मनुष्य गणनाकी रिपोर्ट न मिलनेके कारण और कुछ प्रांतोंके अंक रिपोर्टोंमें न होनेके कारण नहीं दिये जा सके। प्रांतवार आयु वा शिक्षा का हाल जैन समाज दर्शन भाग २ से मिलेगा।
२	देहली	६२.६९	१४.३२	
३	बम्बई (रियासतों सहित)	५१.७	१.१२२	
४	राजपूताना	४९.६६	२.०३	
५	अजमेर मारवाड़	७१.६९	३.३८२	
६	बंगाल	७६.६९	१७.२४	
७	संयुक्त प्रांत (रि० स०)	५०.५९	६.७४४	
८	कुर्ग	१३.८	२.१६	
९	बड़ौदा	७०.३४	१८.२४	
१०	गवालियर (गंगापुर सहित)	३१.६२	४.४२८	
११	मद्रास	५१.६	७.३६४	
१२	आसाम	६४.२७	८.५६९	
१३	मध्य प्रांत और बरार	४६.८८	६.८०६	
१४	मैसूर	४३.१४	५.८५६	
१५	बिहार और उड़ीसा	५९.१	१०.५९	
१६	हैद्राबाद	३५.९९	३.०८१	

ऊपरके अंक इतने स्पष्ट हैं कि उनसे हरएक प्रांत की शिक्षा-सम्बंधी अवस्था साफ़ प्रकट है और अधिक लिखना व्यर्थ है। फिर भी यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि पुरुषोंकी शिक्षामें सर्वप्रथम स्थान बंगाल को प्राप्त है और स्त्रियों की शिक्षा में बड़ौदा सबसे आगे है। कुर्ग पुरुषों की शिक्षा में सबसे पीछे है और स्त्रियोंकी शिक्षा में बम्बई प्रांत सबसे पीछे है। सब ही प्रांतों के जैनियों को शिक्षा की महती आवश्यक्ता को अनुभव करके शिक्षा-प्रचारके वास्ते तन मन धन से प्रयत्न करना चाहिये।

जैनसमाजकी शिक्षाकी अन्य समाजोंकी शिक्षासे तुलना

जैनसमाजकी शिक्षाकी भारतकी अन्य समाजों की शिक्षासे तुलना करके दिखाना भी लाभदायक होगा। अतः नीचे उसके अंक दिये जाते हैं।

समाज	प्रति शत शिक्षित		
	कुल	पुरुष	स्त्री
समस्त भारत	७.०५१	१२.३	१.८०३
हिन्दू	६.४३९	११.५१	१.३६८
आर्य	१८.५६३	२९.०५	८.०७६
ब्रह्मो	७८.६८	६९.३४	८८.०२
सिख	५.३८८	९.३९७	१.३८
बौद्ध	२९.०१९	४८.४२	९.६१८
जैन	२९.६३५	५१.६२	७.६४८
मुसलमान	४.४८२	८.११७	.७५
ईसाई	२८.५	३८.९५	१८.०५
पारसी	७३.०५	७८.९१	६७.१९

इस कोष्ठक को देखनेसे मालूम होगा कि शिक्षामें सर्व प्रथम ब्रह्मो, द्वितीय पारसी, तीसरे जैन, चौथे बौद्ध और मुसलमान सबसे पीछे हैं। यह तो सामूहिक (Collective) विवरण हुआ। पुरुषोंकी शिक्षामें पारसी सबसे आगे और मुसलमान सबसे पीछे हैं। और जैनियों का नम्बर तीसरा है। स्त्रीशिक्षामें ब्रह्मो सबसे आगे और मुसलमान सबसे पीछे हैं और जैनियों का कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं है।

हम अपनी शिक्षा-संबंधी इस स्थिति पर सम्भव है सहसा कुछ हर्ष प्रकट करने लग जायँ। किन्तु वास्तवमें हर्ष या गर्व की कोई बात नहीं है। कारण? हम जैन समाजमें उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों का प्रायः अभाव ही पाते हैं। उच्चकोटिके शिक्षित तो उसमें कहीं विरले ही मिलेंगे। इस अधिक संख्याका कारण केवल जैन समाजका व्यापारी-धनी होना और धर्मके वास्ते कुछ पूजा पाठादि पढ़ना है। इसके अतिरिक्त उसमें अन्य धर्मावलम्बियोंके समान पिछड़ी हुई जातियाँ (Backward communities) भी कम हैं। इनमें अधिक संख्या उन्हीं शिक्षितोंकी है जिनको या तो बही-खाता आता है या नामादि लिखना आता है। हमारे अपने विचारमें यह कोई संतोषजनक हालत नहीं है।

शिक्षामें हमारी उन्नति

बराबरकी इस छोटी सी तालिकासे हमारी शिक्षामें की हुई उस उन्नतिका पता लग जायगा जो हमने सन् १९०१ से १९२१ तक की है। अर्थात गत बीस वर्षों में की है।

शिक्षित प्रतिशत		
सन्	पुरुष	स्त्री
१९०१	४६.८६	१.७८४
१९११	४९.५	३.९९
१९२१	५१.६२	७.६४९

सन् १९०१ में पुरुष ४६.८६ प्रतिशत शिक्षित थे जो सन् १९११ में ४९.५ और १९२१ में ५१.६२ प्रतिशत हो गये। स्त्रियाँ सन् १९०१ में १.७८४ प्रति शत शिक्षिता थीं, वे सन् १९११ में ३.९९ प्रति शत हो गईं और सन् १९२१ में ७.६४९ प्रति शत होगईं। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें उन्नति का क्रम-वेग अधिक है। किन्तु जब हम इस

बातको सुनते हैं कि जापानने ५० वर्ष में शिक्षा में वह उन्नति की कि तमाम संसार देखकर दंग रह गया; उस समय हम जैनसमाजको इस कीड़ी की चाल पर क्या बधाई दे सकते हैं? वास्तवमें जैनसमाजने दो चार हाईस्कूल, पाँच चार विद्यालय, दस बारह बोरडिंग हाउस और कुछ अनियमित पाठशालाएँ खोल देनेके अतिरिक्त और किया ही क्या है? फिर शिक्षाकी उन्नति क्या आप ही आप हो जाती? जब कि अन्य समाज धड़ाधड़ कालेज, विश्व विद्यालय और गुरुकुलादि स्थापित करके शिक्षाके मैदानमें भागे जा रहे थे उस समय में और अब भी, हमें यह अत्यंत शोकके साथ कहना पड़ता है, पाश्चात्य ढंगकी उच्च शिक्षा का हमारे यहाँ तीव्र विरोध था। अच्छा हो यदि समाजके कर्णधार अब भी अपनी भूल को ठीक कर लें।

हमारे शिक्षित

हमारे यहाँ जो भी शिक्षित नाम धारी समुदाय है उसमें बहुलता ऐसे व्यक्तियोंकी है कि जिनको दुकानदारीका हिसाब किताब रखनेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं आता। भले ही ये लोग पुराने ढर्रेकी दुकानदारी चला लें किन्तु आगे इससे काम न चलेगा। इस प्रकार के लिखे पढ़ों को न तो धार्मिक ग्रन्थोंका ही ज्ञान हो सकता है और न लौकिक बातोंका। अतः हमारी समझ में तो इनको शिक्षितोंकी श्रेणीमें बिठाकर शिक्षाका—सरस्वतीदेवी का—घोर निरादर करना है।

जैन समाजके इन बहु संख्यक शिक्षितों (?) को अलग करदेने पर दो ढंगके शिक्षित बाकी रह जाते हैं जिनकी संख्या तो अधिक नहीं है, पर जिनकी गणना शिक्षित समाजमें होती है। इनमें प्रथम संस्कृतके लिखे पढ़े पण्डित और दूसरे सरकारी स्कूलों तथा कालेजों से निकले हुए विद्वान हैं।

पहले संस्कृतके पण्डितों की ओर ही एक दृष्टि डाल लीजिए। ये महानुभाव समाजके उन विद्यालयोंके फल हैं जिन पर समाजने अपनी गाढ़ी कमाई का रुपया दिल खोल कर इस आशासे लगाया था कि वहाँसे जैनधर्मके बड़े बड़े दिग्गज विद्वान निकलेंगे, जो जैनधर्म का प्रचार करेंगे और उसके साहित्य का पुनरुद्धार करेंगे। उन विद्यालयोंसे समाज को विशेष लाभ नहीं हुआ। जैसी आशा थी वैसा फल न निकला। यह माना जा सकता है कि वहाँ से कुछ ऐसे विद्वान् अवश्य निकल आये हैं जो कुछ ग्रन्थों का अनुवाद कर सकें या छोटी छोटी पाठशालाओंमें शिक्षक का कार्य कर सकें अथवा उपदेशक का कुछ काम करनेमें समर्थ हों। किन्तु इन विद्यालयोंसे समाज की आवश्यक्ताएँ पूरी न हुईं, जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि वहाँ शिक्षा प्राप्तिके वास्ते अपने पुत्रों को बड़े आदमी नहीं भेजते। सच बात तो यह है कि वहाँसे निकले हुए विद्वान् जहाँ अपनी आजीविका स्वतंत्र रूप से प्राप्त करने में असमर्थ हैं वहाँ वे समाज को भी पतितावस्था में रखनेके उत्तरदाता हैं। वे संसार की गति को और देश तथा समाजकी वर्तमान कालकी स्थितियों को समझने में भी असमर्थ हैं। देशदर्शन नामक पुस्तकके लेखक ने संस्कृतके वर्तमान विद्वानोंके सम्बंध में जो मर्मस्पर्शी शब्द कहे हैं वे हमारी समाज के बहुतसे पण्डितों पर सोलह आने लागू होते हैं। वे लिखते हैं "हमारे देशके विद्यार्थी जब संस्कृत की उच्च से उच्च परीक्षा पास करके निकलते हैं तो वे अपनी रोटी तक कमाने में असमर्थ रहते हैं। उनकी शिक्षा न तो उनको इस योग्य बनाती है कि वे अपना जीवन निर्वाह भली भांति कर सकें और न वे अच्छे नागरिक ही बन सकते हैं। उनकी शिक्षा अति प्राचीन कालके

बिगड़े हुए ढंग पर चली जारही है। वे देश, काल, जाति, राष्ट्र संगठन, भारतोत्थान आदि विषयोंसे बिलकुल अनभिज्ञ होते हैं। उनकी शिक्षा व्याकरणके वितंडाओं में तथा न्यायके 'पात्राधारम् घृतम् वा घृताधारम पात्रम्' जैसे प्रश्नोंके हल करने ही में खतम हो जाती है।"*

अब जरा अंग्रेजी शिक्षितों को भी देख लीजिए। वहाँ भी कोई विशेष आशाजनक चिन्ह नहीं दिखाई देते। वे बहुत कुछ जानते हुए भी अपने विषयोंके पूर्ण ज्ञाता नहीं होते। अधकचरी विद्या की प्राप्ति में ही उनका स्वास्थ्य, शक्ति, दृष्टि, समय और धन लग जाता है और फिर भी नतीजा अधिक उत्साहवर्धक नहीं। आज कलके विद्यार्थियों का उद्देश्य येन केन प्रकारेण कोर्स को घोट-घाट कर परीक्षा पास कर लेना होता है। और बहुत हद तक उनके शिक्षक और प्रोफेसर भी इसी उद्देश्य को सामने रख कर कार्य करते हैं। हम यह जानते हैं कि इसमें न तो बेचारे शिक्षकों का ही दोष है और न विद्यार्थियों का। बल्कि दोष है उस पद्धति का जिसके आधीन वे काम करते हैं। जब तक इस पद्धति में संशोधन न होगा तब तक इन कालेजोंमें ऐसे ही विद्वान् निकलते रहेंगे जो बड़े बड़े सिद्धान्तो (Theories) को जानते हुए भी उनको व्यवहार (Practice) में न ला सकेंगे। जो सदा अपनी आजीविका के वास्ते सरकारी दफ्तरों का दरवाजा खटखटायेंगे। वर्तमान अवस्था में इनसे ऐसे विद्वान् निकलना जो बड़े बड़े अविष्कार कर सकें या प्रचलित सिधान्तों का संशोधन या उनमें वृद्धि करसकें बहुत कठिन हैं।

* देशदर्शन पृष्ठ २६६

शिक्षाका प्रश्न देशका प्रश्न है

ऐसी अवस्थामें क्या किया जाय? वास्तव में शिक्षा का प्रश्न तमाम देश का प्रश्न है, इसे कोई एक जाति कभी भी हल नहीं कर सकती। इस ओर देशके तमाम हितचिंतकों को ध्यान देना चाहिये। और शीघ्र ही भारत सरकार की सहायतासे देश की शिक्षापद्धति में उचित संशोधन और परिवर्तन कराना चाहिये। बिना शिक्षापद्धतिके ठीक हुए देश का उत्थान असम्भव है। हमारी शिक्षा का आधार भारत की प्राचीन सभ्यता पर होना चाहिये। और उसके द्वारा संसारके नवीन और प्राचीन ज्ञानके दरवाजे उसके वास्ते खोल देने चाहिएँ। देशके नवयुवकों को वही शिक्षा दी जाय जिसके द्वारा उनके विचार और कल्पना शक्तिके विकाश को पूरा अवसर मिले। अथवा जिससे वे सुयोग्य नागरिक बन सकें, और उनके घरेलू जीवन तथा विद्यालयके जीवन का पूर्ण सम्मेलन हो।

हम क्या करें?

किन्तु यह बात एक दिनमें नहीं हो सकती। जब तक यह अवस्था देशमें कायम हो तब तक हम ठहर भी नहीं सकते। फिर क्या किया जाय? ऐसी अवस्थामें हमें देशकी प्रचलित शिक्षा-पद्धति का ही आश्रय लेना पड़ेगा और साथमें अपनी आवश्यक्ताओं को पूर्ण रूप से समझ कर उनकी पूर्ति के वास्ते शिक्षाके साधन जुटाने होंगे।

हमारी आवश्यक्ताएँ जहाँ देश की अन्य जातियों के समान हैं वहाँ कुछ उनसे भिन्न और विशेष भी हैं। अतः सम्मिलित आवश्यक्ताओंको छोड़कर यहां विशेष आवश्यक्ताओं पर ही संक्षेपमें विचार किया जाता है।

जैनधर्म भारतवर्षका पुराना धर्म है, उसका अपना विशाल साहित्य और संस्कृति (Culture) है। उस

साहित्य, धर्म, और संस्कृतिको प्रकाशमें लानेके वास्ते संस्कृत, प्राकृत और दक्षिणी भाषाओं के ऐसे विद्वानों की आवश्यक्ता है जो इस कामको अच्छे प्रकारसे कर सकें और संसार के जैनेतर साहित्य, संस्कृति और सिद्धान्तोंसे अपने साहित्य, संस्कृति और सिद्धान्तोंकी तुलना करने में भी समर्थ हों। वे प्राचीन लिपियों को पढ़ सकें और मातृभाषा द्वारा उसका सर्वसाधारणको ज्ञान करा सकें। इस प्रकारके विद्वान् हमारे मौजूदा संस्कृत विद्यालयोंसे कदापि नहीं निकल सकते। हमारी सामाजिक आवश्यक्ताएँ भी कम नहीं हैं। जैनसमाज एक व्यापार-प्रधान समाज है। किन्तु उसका वर्तमान व्यापार व्यापार नहीं, कोरी दलाली है। अतः समाजमें उच्च कोटिके व्यापारी पैदा करने के वास्ते हमें उच्च कोटि की ही व्यापारिक शिक्षाका प्रबंध करना होगा। यदि हम समाजमें मामूली दलालों, दुकानदारों और मुनीमोंके स्थानमें बड़े बड़े बैंकर, बड़ी बड़ी कम्पनियोंके डायरेक्टर और चतुर व्यापारी देखना चाहते हैं तो हमें अनिवार्य रूपमें अच्छी व्यापारिक शिक्षाका प्रबन्ध करना होगा। व्यापारिक शिक्षाकी आवश्यक्ता को हमारे भाई चाहे न समझें किन्तु विदेश वालोंने इसे मुद्दतसे अनुभव कर लिया है। तभी तो संसारका सारा व्यापार उनके हाथमें है और हम उनका मुँह देखते रहते हैं। देखिये एक अमेरिकन बैंकर मिस्टर वेंडिर लिप क्या कहता है:—

" The mental requirement of a businessman needs to be greater today than was ever before necessary. Just as the sphere of the businessman's actions has broadened with the advent of transportation, telegraphs, cables and telephones so have the needs of broad understanding of sound principles increased............There has been introduced such complerity into modern business and such a high degree of specialization that the young man who begins without the foundation of an exceptional training is in danger of remaining a mere clerk or book-keeper."*

अर्थात्—'एक व्यापारीकी मानसिक शक्ति आज इतनी अधिक होनी चाहिये जितनी कि पहले आवश्यक्ता नहीं थी। जिस प्रकार वस्तु भेजनेके साधन, तार, समन्दरी विद्युततार और टेलीफोनके आनेसे एक व्यापारीका कार्यक्षेत्र बढ़गया है वैसे ही उपर्युक्त सिद्धान्तोंको भली भांति समझनेकी आवश्यक्ता भी बढ़ गई है। आधुनिक व्यापारमें पेचीदगी और उच्च कोटि की विशेषज्ञता इतनी आगई है कि जो कोई भी नवयुवक समुचित शिक्षाकी बुनियादके बिना इस काममें लगता है उसके महज एक क्लर्क अथवा एक मुनीम ही रह जाने का भय है।'

क्या ही अच्छा हो जो हमारे भाई इन शब्दों पर अच्छी तरह ध्यान दें और वर्तमान ढंगके व्यापार को समझकर अपना और देश का कल्याण करें। इस बात को हर एक जैनीको हृदयांकित कर लेना चाहिए कि देशकी प्रधान व्यापारी जाति होने के कारण देश के व्यापार को समुन्नत करना उसका सबसे पहला कर्तव्य है। वर्तमान कालमें वह ही व्यापारी सफल हो सकता है जो बैंकिंग (Banking), विनिमय (Exc'ange) व्यापारिक भूगोल (Commercial Geography) और अपने कार्यक्षेत्र की उपज

* "The problem of National Education in India" by L. Lajpat Rai. Page 219

(Products) और वहां के निवासियोंकी आवश्यक्ता से खूब परिचित है।

किन्तु आज कल का व्यापार उच्च कोटिके कला-कौशल (Industry) पर अवलम्बित है। जिस व्यापार के पीछे उद्योग धंदे हैं, जिस व्यापारकी बुनियाद कला-कौशल पर है वह ही व्यापार लाभदायक हो सकता है। आपको यह भली भांति मालूम होना चाहिए कि हमारे देशसे करोड़ों रुपया प्रति वर्ष विदेशों को जा रहा है। आपको यहाँके कच्चे मालको उपयोगमें लाकर उससे भिन्न भिन्न वस्तुएँ तय्यार कराके, देशके इस रुपयेको बचाना होगा। किन्तु यह आप उस समय ही कर सकते हैं जब कि आप उच्च कोटिकी औद्योगिक शिक्षा का प्रबंध करें।

सबसे अंतमें, मैं समाजकी उस आवश्यकताकी तरफ़ आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जिस पर समाजके जीवन और मरणका प्रश्न है। आपका समाज मृत्यु-शय्या पर लेटा हुआ है। जिसको बचाना अपनी ही रक्षा करना है। उसके बचानेमें आप तब ही सफल हो सकेंगे जब कि आप समाजशास्त्रके अच्छे अच्छे जानकार पैदा करेंगे। वे समाजशास्त्री ही आपकी मरती हुई समाज की रक्षा कर सकेंगे।

इस प्रकार संक्षेपमें, समाजको अच्छे अच्छे धर्माचार्यों, व्यापारियों, बैंकरों, कलाकौशलाचार्यों, और समाजशास्त्रियोंकी आवश्यकता है।

जैन-विश्व-विद्यालय

उपर्युक्त आवश्यकताएँ आपकी वर्तमान पाठशालाएँ या हाईस्कूल पूरी नहीं कर सकते। उनकी पूर्तिके वास्ते आपको एक विशाल विश्व-विद्यालय स्थापित करना होगा। उससे ऐसे ऐसे विद्वान् प्रकट होंगे जो आपके प्राचीन साहित्यका उद्धार कर सकेंगे, जो जनताको जैनधर्मके अमूल्य सिद्धान्त समझा सकेंगे, जो आपके धर्मकी विशेषता अन्य धर्मोंके मुकाबलेमें दिखला सकेंगे, और जो आपके प्राचीन इतिहासको प्रकाशमें ला सकेंगे। वहाँ से व्यापारिक विद्या, कला-कौशल और समाज-शास्त्र आदि उपयोगी विषयोंके विशेषज्ञ निकलेंगे जो केवल समाजकी रक्षा ही नहीं किन्तु उसे एक प्रतिष्ठित पद दिलानेमें भी समर्थ होंगे। ऐसा विश्व-विद्यालय देशके किसी भी केन्द्रस्थ स्थान पर स्थापित किया जा सकता है। उसके लिए धनकी आवश्यक्ता होगी, जिस को पूरा कर देना समाजके वास्ते कठिन नहीं है। यह विश्व-विद्यालय जहाँ जैन समाजके वास्ते लाभदायक होगा वहां देशका भी कल्याण करेगा।

जैनसमाजमें स्त्री शिक्षा

स्त्रीशिक्षाके सम्बंधमें भी यहाँ कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। गृहस्थ रूपी गाड़ीके पुरुष और स्त्री दो पहिये हैं। गाड़ीको सुचारू रूपसे चलानेके वास्ते दोनोंका ही ठीक होना आवश्यक है। और शिक्षा ही एक ऐसा साधन है जो मानव समाजको अपने कर्त्तव्य पालनके योग्य बना सकता है। हमारे पूर्व पुरुषोंने इस बात को भली भांति समझ कर ही स्त्रीशिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया था। प्राचीन कालमें जैनमहिलाएँ कितनी सुशिक्षिता होती थीं, उसकी कुछ झलक हम अपने पुराणग्रंथोंसे पा सकते हैं। कवि कन्तीदेवी, रानी चेलना, मैनासुन्दरी, सुलोचना और सती अञ्जनाके नामोंसे हम सब परिचित हैं। किन्तु पीछे दिए हुए अंकोंसे यह स्पष्ट रूपसे प्रकट हो जाता है कि हमने स्त्रीशिक्षा जैसे उपयोगी विषय की तरफ अब तक समुचित रूपसे ध्यान नहीं दिया बल्कि उसकी अवहेलना की है। जहाँ सन् १९२१ में जैन पुरुष ५१.६२ प्रतिशत लिखे पढे थे, वहाँ केवल

७.६४९ प्रतिशत ही स्त्रियाँ लिखी पढी थीं। कितना बड़ा अन्तर है! स्त्री शिक्षामें, बड़ौदे की जैन समाज सर्वप्रथम (१८.२४ प्र०श०), द्वितीय बंगाल (१७.२४ प्र०श०), तीसरे देहली (१४.३२ प्र०श०) और चौथे विहार और उडीसा (१०.५९ प्र०शत) हैं। सबसे पीछे बम्बई (१.१२२ प्र०शत) और राजपूताना (२.०३ प्रतिशत) हैं। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इन ही दोनों प्रान्तोंमें जैनियोंकी सबसे अधिक संख्या है।

समाजकी निर्माता वास्तवमें स्त्रियाँ ही हैं। उन ही की गोदमें आने वाला समाज है। यदि आप चाहते हैं कि हमारे भावी उत्तराधिकारी योग्य हों, तो उसके वास्ते आपको अच्छी स्त्रीशिक्षाका प्रबंध शीघ्र और अनिवार्य रूपसे करना होगा। भारतवर्षकी वर्तमान राजनैतिक अवस्था भी शिक्षिता स्त्रियाँ ही चाहती है। शिक्षिता स्त्रियोंके अभावसे हमारा सामाजिक जीवन कितना पतित, निरानंदमय और कलहमय हो गया है इसे सबही विचारवान अनुभव करते हैं। अतः अब समाजको स्त्रीशिक्षाका शीघ्र ही प्रबंध करना चाहिये। स्त्रियोंको कमसे कम इतनी शिक्षा तो अवश्य दी जानी चाहिये जिससे वे गृहकार्य मितव्ययताके साथ चला सकें, संतान का पालन-पोषण कर सकें, कठिनता का सामना करने में समर्थ हों और घरों को आनन्दका स्थान बना सकें। इससे अधिकका प्रबंध हो जाय तो और भी अच्छा। स्त्रियोंमें शिक्षा प्रचारके वास्ते हमें विशेष रूपसे प्रयत्न करना चाहिये। जगह जगह कन्या-पाठशालाएँ, कन्यामहाविद्यालय और विधवाश्रम स्थापित करने चाहियें और उनकी देखरेखका समुचित प्रबंध होना चाहिए। अब स्त्रीशिक्षाको अनावश्यक अथवा इसका विरोध करनेसे काम न चलेगा। यह समय और देशकी जबरदस्त मांग है, जिसे आपको पूरा करना ही होगा। इस ओर हमारी बहिनोंको स्वयं भी ध्यान देना चाहिए।

शिक्षाप्रचारके कुछ उपाय

एक महान् विश्वविद्यालयकी स्थापनाके साथ हमें अन्य उपायोंको भी काममें लाना होगा। यद्यपि उस विश्वविद्यालयमें धार्मिक शिक्षा, लौकिक शिक्षा और स्त्रीशिक्षाका पूर्ण प्रबंध होगा तब भी निम्न लिखित साधनोंसे विद्याप्रचारमें विशेष सहायता हो सकती है:—

समाजमें निर्धन छात्रोंको छात्रवृति देकर उनकी सहायता की जाय और तीक्ष्ण बुद्धि विद्यार्थियोंको पारितोषिक देकर उनका उत्साह बढाया जाय। इस कार्यके वास्ते बम्बई के स्व० सेठ माणिकचन्दजी और देहलीके बाबू प्यारेलालजी वकीलके समान शिक्षाकोष (Edueational funds) स्थापित करके अन्य धनी भाई भी समाजके शिक्षाप्रचार कार्यमें सहायता कर सकते हैं।

महिलाओं और कन्याओंके उत्साह बढ़ानेके वास्ते विशेष प्रबंध हो।

योग्य और होनहार विद्वानोंको सहायता देकर विदेशोंमें विशेष ज्ञानकी प्राप्तिके वास्ते भेजा जाय। वहाँसे लौट कर वे तमाम धन वापिस करदें।

शिक्षासंबंधी प्रश्नों पर विचार करने और शिक्षा-प्रचारके वास्ते भारतवर्षीयजैनशिक्षासमिति (All India Jain Eucational Board) स्थापित की जाय। इसही प्रकार की समितियाँ भिन्न भिन्न प्रान्तों में भी स्थापित की जा सकती हैं।

समाजका कर्त्तव्य

सम्यग्ज्ञानके उपासको! उसकी नित्य पूजा करने

वालो !! और उसके नाम पर अर्घ चढाने वालो !!! जागो और अपने कर्तव्यको समझो । सम्यग्ज्ञानके स्थान पर अज्ञानका साम्राज्य आप कैसे देख रहे हैं ? उच्च ज्ञानके उपासक आज साधारण ज्ञानको तरस रहे हैं यह आप कैसे सहन कर रहे हैं ? समाजके नवयुवक आज शिक्षाके वास्ते किस किसके द्वारकी ठोकरें खा रहे हैं इसको क्या आप नहीं देखते ? समाजके सदस्य अशिक्षित रहने के कारण भूखों मरें यह अब अधिक नहीं देखा जाता । अविद्याके कारण उनका तिरस्कार देखते हुए हम उच्च और माननीय नहीं बन सकते । क्या आपको यही इष्ट है कि समाज अज्ञानावस्थामें पड़ा पड़ा इस संसारसे कूच कर जाय? शिक्षाके विना न तो समाजमें सुधार ही हो सकता है और न वह धर्मके निकट ही पहुँच सकता है । सच समझिये, सम्यग्ज्ञानकी उपासना दो चावल चढ़ा देने में नहीं होती बल्कि वह उसी समय होगी जब कि आप समाजके हर एक व्यक्ति को लोक और परलोक की बातें समझनेके योग्य बना दोगे । ज्ञानदानका पुण्य नाम लेने मात्रसे ही नहीं हो सकता, वह उसी समय होगा जब आप तन, मन, और धनसे जैनों और अजैनों के वास्ते शिक्षाका द्वार खोल देंगे । आपको या तो अब शिक्षित होना होगा और नहीं तो इस संसारसे अपना अस्तित्व ही खो देना होगा । समाजके सब ही सम्प्रदाय और दल इस शिक्षा प्रचारके काममें एक होकर कार्य कर सकते हैं। अतः समाजको अब शीघ्रही अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये । *

* लेखकके अप्रकाशित "जैनसमाजदर्शन" का एक अध्याय ।

अतीत गीत

[ले० भगवन्त गणपति गोयलीय]

अहे वीणाके टूटे तार !
तू अनन्त में लीन हो रहा और सो रहा मौन ;
रागिनियाँ सुननी तो हैं पर तुझे जगाए कौन ?
थका संसार पुकार पुकार ।
अहे वीणा के टूटे तार ॥

ऐसे भी दिन थे जब तव-रव सुनने वायुप्रवाह—
थम जाते थे, और नाचने लगता था उत्साह ।
लोटता था चरणों पर मार।
अहे वीणा के टूटे तार ॥

निठुर बजानेवाला तुझको तोड़ गया किस ओर?
नियति ले गई उसे वहाँ, है जिसका ओर न छोर ।
न स्थिर है पलभर को संसार ।
अहे वीणा के टूटे तार ॥

गाता है क्या जानें कब से कोई दीपक राग ;
धाँधाँ कर जल उठा जगत लग गई भयंकर आग।
षडज में गादे राग मलार ।
अहे वीणा के टूटे तार ॥

सन्मति ने गाया अतीत में मर्म-स्पर्शी गान ;
वही तान सुननेको व्याकुल हैं त्रिलोक के प्राण ।
गुंजादे आज वही ॐकार ।
अहे वीणा के टूटे तार ॥

लेखक कवि नज़ीर

सब ठाठ पड़ा रह जावेगा

टुक [1]हिर्सोहवा को छोड़ मियाँ! मत देस-विदेस फिरे मारा, [2]कज़्ज़ाक़ [3]अजलका लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा।
क्या बधिया-भैंसा-बैल-[4]शुतर, क्या गौएँ-पिल्ला-सरभारा, क्या गेहूँ-चावल-मोठ-मटर, क्या आग-धुंआ, क्या अंगारा॥

सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
क़ज़्ज़ाक़ अजल का लूटे है, दिन रात बजाकर नक्कारा॥ १॥

गर तू है लक्खी बनजारा और खेप भी तेरी भारी है, अय ग़ाफ़िल! तुझसे भी चढ़ता एक और बड़ा बेपारी है।
क्या शक्कर-मिसरी-कंद-गिरी, क्या सांभर-मीठा-खारी है, क्या दाख-मुनक्का-सोंठ-मिरच, क्या केसर-लौंग-सुपारी है॥

सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
क़ज़्ज़ाक़ अजल का लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा॥ २॥

यह खेप भरे जो जाता है वह खेप मियाँ! मत गिन अपनी, अब कोई घड़ी पल [5]साअतमें यह खेप बदनकी है कफ़नी।
क्या थाल-कटोरे चाँदीके, क्या पीतलकी डिबया-ढकनी, क्या बरतन सोने-रूपेके, क्या मिट्टीकी हँडिया अपनी॥

सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
क़ज़्ज़ाक़ अजल का लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा॥ ३॥

यह धूम धड़ाका साथ लिये क्यों फिरता है जंगल जंगल, एक तिनका साथ न जावेगा मौजूद हुआ जब आन अजल।
घर बार-अटारी-चौपारी, क्या ख़ासा-नैनसुख और मलमल, क्या चिलमन-पर्दे-फ़र्श नये, क्या लाल पलंग और रंगमहल॥

सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
क़ज़्ज़ाक़ अजल का लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा॥ ४॥

हर मंज़िलमें अब साथ तेरे यह जितना डेरा-डाँडा है, [6]ज़र-दाम-दिरमका भाँडा है बंदूक [7]सिपाह और खाँडा है।
जब नायक तनसे निकलेगा जो मुल्कों मुल्कों हाँडा है, फिर हाँडा है, न भाँडा है, न हलवा है, न माँडा है॥

सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
क़ज़्ज़ाक़ अजलका लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा॥ ५॥

---

१ आशा-तृष्णा, २ डाकू-लुटेरा, ३ मौत-काल, ४ ऊँट, ५ समय, ६ धन-दौलत, ७ सेना-फौज,

कुछ काम न आवेगा तेरे यह लाल[८]-जमुर्रद-[९]सीमो ज़र, सब पूँजी बाटमें बिखरेगी जब आन बनेगी जान ऊपर
नौबत-नक्कारे-बान-निशाँ-दौलत[११]हशमत-फ़ौजें-लश्कर,क्यामसनद-तकिया-मुल्क-मकाँ,क्याचौकी-कुरसी-तख्त-छतर
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
क़ज्ज़ाक़ अजल का लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा ॥ ६ ॥

क्यो जी पर बोझ उठाता है इन गोनों भारी भारी के, जब मौत लुटेरा आन पड़ा फिर दूने हैं बेपारी के।
क्या साज़ जड़ाऊ जड़-ज़ेवर, क्या गोटे थान-किनारी के, क्या घोड़े ज़ीन सुनहरीके, क्या हाथी लाल अमारीके॥
सब ठाठ पड़ रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
कज्ज़ाक़ अजल का लटे है दिय रात बजा कर नक्कारा ॥ ७ ॥

[१२]मग़रूर न हो तलवारों पर मत भूल भरोसे ढालोंके, सब पटा तोड़के भागेंगे मुंह देख अजलके भालों के।
क्या डब्बे मोती-हीरोंके क्या ढेर खज़ाने मालोंके, क्या बुग़चे तार-मुशज्जरके, क्या तख्ते शाल-दुशालों के॥
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
क़ज्ज़ाक़ अजलका लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा ॥ ८ ॥

क्या सख्त मकाँ बनवाता है, [१३]खम तेरे तनका है पोला, तू ऊंचे कोट उठाता है वहां तेरी [१४]गोरने मुँह खोला।
क्या रेती-खंदक-रुन्द बड़े, क्या बुर्ज-कँगूरा अनमोला, गढ़-कोट-रहनला-तोप-किला,क्या सीमा-दारू और गोला॥
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
कज़्ज़ाक़ अजल का लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा ॥ ७ ॥

हर आन नफ़े और टोटे में क्यों मरता फिरता है बन बन, [१५]अयग़ाफ़िल! दिलमें सोच ज़रा है साथ लगे तेरे दुश्मन।
क्या लौंडी-बाँदी-दाई-ददा,क्या बन्दा-चेला-नेकचलन,क्या मंदिर-मस्जिद-ताल-कुएँ,क्या घाट-सरा क्या बाग़ चमन॥
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
कज़्ज़ाक़ अजलका लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा ॥ १० ॥

जब चलते चलते रस्तेमें यह गौन तेरी ढल जावेगी, एक बधिया तेरी मिट्टी पर फिर घास न चरने आवेगी।
यह खेप जो तूने लादी है सब हिस्सों में बट जावेगी, धी-पूत-जँवाई-बेटा क्या, बनजारन पास न आवेगी॥
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
कज़्ज़ाक़ अजलका लूटे है दिन रात बजाकर नक्कारा ॥ ११ ॥

जब [१६]मुर्ग फिराकर चाबुकको यह बैल बदनका हाँकेगा, कोई नाज समेटेगा तेरा, कोई गौन सिएँ और टांकेगा।
हो ढेर अकेला जंगलमें तू ख़ाक [१७]लहदकी फांकेगा,उस जंगलमें फिर आह! 'नज़ीर' एक तिनका आन न झांकेगा॥
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा।
कज़्ज़ाक़ अजलका लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा ॥ १२ ॥

---

८ पन्ना ९ चांदी सोना, १० ध्वजा, ११ वैभव, १२ अभिमानी-घमंडी, १३ झुंड, १४ क़ब्र, १५ मन्यमं अनभिज्ञ १६ प्राणांतक १७ क़ब्र

देवगढ़

ले०—श्री० नाथूरामजी सिंघई

जी. आई. पी. रेलवे लाइन जो देहलीसे बम्बईको गई है उसी पर ललितपुर स्टेशन है। ललितपुरसे दक्षिणकी ओर दूसरा स्टेशन जाखलोन है, यहां से देवगढ़ ९ मील बैल गाड़ीका रास्ता है पैदलका मार्ग करीब ७ मीलका है। मार्ग पहाड़ी घाटियोंमें हो कर है। देवगढ़ ग्राम बहुत छोटासा ऊजड़ग्रामसमान है। यहाँ पर खाने पीनेका कुछ भी सामान नहीं मिलता है, इसके लिए जाखलौनसे प्रबंध करना होता है। ठहरनेके लिए पहले सिवाय डाकबंगलेके और कोई भी सुरक्षित स्थान नहीं था; किन्तु अब वहाँ एक जैन धर्मशाला बन गई है जिसमें पचास, साठ यात्री एक साथ बड़े आरामके साथ ठहर सकते हैं। यहाँ एक जैन पुजारीके सिवाय और कोई भी घर जैनियों का नहीं। आबादी अभी क़रीब सौ, सवा सौ की है जिनमें अधिकतर संख्या सहरियोंकी है। ब्राह्मणों और अहीरोंके तो बहुत ही कम घर हैं।

देवगढ़ ग्राम बतवा नदीके मुहाने पर नीची जगह पर बसा हुआ है। यहांसे ३०० फुटकी ऊँचाई पर करनालीका दुर्ग है जिसके पश्चिमकी ओर बतवा नदी कलकल निनाद करती हुई बहती रहती है। इस पर्वत की चढ़ाई सोनागिरके समान सरल तथा सीधी है। पहाड़ीकी चढ़ाई तै करने पर एक खंडहर द्वार मिलता है जिसको 'कुँजद्वार' कहते हैं। यह द्वार पर्वतकी परिधिको बेढ़े हुए कोटका द्वार है। इस द्वारको प्रवेश करते जीर्ण दो कोट और मिलते हैं। दूसरा और तीसरा कोट मंदिरोंको घेरे हुए है। इन कोटोंके अन्दर देवालय होनेसे ही संभवतः इसका नाम देवगढ़ पड़ा होगा। इसके भीतर सैकड़ों जैन मंदिरोंके भग्नावशेष पाए जाते हैं। सैकड़ों क्या हज़ारों जैन मूर्तियाँ पर्वत पर औंधी सीधी पड़ी हुई यत्र तत्र पाई जाती हैं।

बहुत ही छोटे छोटे मंदिरोंको छोड़ कर बाक़ीके मंदिर तीस हैं जिनमें अनुपम प्राचीन कारीगरी पाई जाती है। ये सब मंदिर क़रीब आठवींसे बारहवीं सदी तकके बने हुए मालूम होते हैं। उपर्युक्त मंदिरोंमें तीन मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं। मंदिर नं०११ सबसे बड़ा मंदिर है जिसके पूर्वकी ओर कई एक मंदिर भिन्न भिन्न समयके पाए जाते हैं। इसमें शान्तिनाथ भगवानकी खड्गासन मूर्त्ति है जिसकी ऊँचाई १२ फुट है, तीन मूर्त्तियाँ १० फुटकी भी हैं बाक़ी चार चार और पाँच पाँच फुटकी कई मूर्त्तियाँ हैं। आधीसे अधिक मूर्त्तियाँ खडगासन हैं। शान्तिनाथ भगवानकी मूर्त्तिके समयका पता नहीं चलता। यह मूर्त्ति अतिशयवान है। पुराने लोगोंका कहना है कि पहले इस मूर्त्तिके सिरके ऊपर का छत्रका पाषाण एक अंगुलके फासले पर था अब वह दो हाथके फासले पर है अर्थात् मूर्त्ति छोटी होती जाती है। ऐसी अतिशतवान् मूर्त्तिके दर्शनोंका लाभ सभी धर्मप्रेमियोंको लेना चाहिए। इस मंदिरके उत्तरी दालानमें एक विचित्र शिलालेख है जिसमें "ज्ञान-शाला" खुदा हुआ है। १८ भाषाओं और १८ लिपियों

के नमूने दिए हैं। इसको साखानामदीने लिखाया था इस मंदिरके आगे एक खुला दालान (हाल) है जो ४२ फुट ३ इंच वर्ग है। इसमें ६, ६ खम्भोंकी छह क़तारें हैं और इसके बीचोंबीच में एक चबूतरा है, जिस पर मूर्त्तियाँ रक्खी हुई हैं यहां पर ही पुजारी नित्य पूजन करता है। इस हालके सामने १६॥ फुटकी दूरी पर एक मंडप (छत्र) चार खम्भों पर स्थिति है। इन खम्भोंमें से एक खम्भेके ऊपर राजा भोजदेवका शिलालेख संवत् ९१९ या शक सं० ७८४ का पाया जाता है। मंदिर नं० १२ के मंडपमें तीर्थंकर ऋषभके द्वितीय पुत्र गोमटेश्वर या बाहुबलिकी मूर्त्ति है जिसका समय ११वीं सदी का दिया हुआ है। इस स्थानको छोटा श्रवणबेलगोल कहें तो अत्युक्ति न होगी। एक सहस्रकूट चैत्यालय पाषाणका है जिसमें एक हजार आठ जैन मूर्तियाँ पाई जाती हैं। यह समूचा बड़ा ही मनोज्ञ तथा सुन्दर है। यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि मंदिरोंमें और उनके बाहर सैंकड़ों क्या हजारों जैन मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं। मूर्त्तियाँ ऐसी सुन्दर तथा मनोज्ञ हैं कि उनके जैसे अवयव वाली मूर्त्तियाँ अन्यत्र कहीं भी नहीं पाई जातीं—मंदिरों और खम्भों पर तो शिलालेख हैं ही परन्तु दो जैन मूर्तियों पर भी सं० १४८१ के लेख हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उनकी प्रतिष्ठा मंडपपुरके शाह आलमके राज्यमें एक जैनभक्तने कराई थी। इस व्यक्ति को मालवाके मांडके बादशाह सुलतान हुसैनका धोरी कहते हैं।

पर्वतके दक्षिणकी ओर दो सीढियाँ है जिनको राजघाटी और नहरघाटी कहते हैं। बर्सात का पानी इन्हीं में चला जाता है। ये घाटियाँ चट्टानसे खोदी गई हैं जिन पर खुदाईकी कारीगरी पाई जाती है। राजघाटीके किनारे एक आठ लाईनोंका छोटासा शिलालेख है जो सं० ११५४ का है। इसको राजा 'वत्स' ने खुदवाया था, जो कीर्त्तिवर्मा चंदेलका वजीरआज़म था। उसीके नामसे कीर्तिगिरि दुर्ग कहलाता है। नहर घाटीके किनारे भी एक छोटासा सात लाईनोंका शिलालेख है। यहां पर एक गुफा भी है, जिसको 'सिद्ध' की गुफा भी कहते हैं। यह पहाड़में खुदी हुई है जिसका मार्ग पहाड़ीके ऊपर से सीढ़ीद्वारा नीचेको है। इसके तीन द्वार हैं। दो खम्भों पर छत सुरक्षित है। इस गुफाके बाहर एक छोटासा लेख गुप्त-समयका है, एक दूसरा लेख भी है जिसमें लिखा है कि राजा 'वीर' ने सं०१३४२ में 'कुरार' को जीता था।

देवगढ़में दोसौके लग भग शिलालेख मिले हैं। उनमेंसे १५७ ऐतिहासिक महत्वके हैं, जिनका वर्णन नक़शोंमें दिया गया है। इनको पुरातत्त्व विभागने संकलित किया है, जो बहुत ही निकट भविष्यमें प्रकाश में आने वाले हैं। इनका महत्व जैनकला और जैन-कथाओंके लिए विशेषरूपसे है।

देवगढ़ प्रान्तमें पहिले सहरियोंका आधिपत्य था। इन पर गौंडोंने विजय पाई। गौंडोंको परास्त कर गुप्त वंशीय राजाओंके हाथमें देवगढ़ आया। स्कन्धगुप्त आदि इस वंशके कई राजाओंके शिलालेख देवगढ़में अब तक पाए जाते हैं। गुप्तवंशके अनन्तर कन्नौजके भोज-वंशी राजाओंने इस प्रान्तको जीता। इसके पश्चात चंदेल वंशी राजाओंके हाथमें देवगढ़ आया—इन्हींके दादे धुरमङ्कदसिंहने यहां आकर विश्राम लिया था। सन १२९४ ई० में आपका स्वर्गवास हुआ था—उस समय देवगढ़ एक विशाल तथा सुन्दर नगर था—इसका प्रकाश सूर्य देदीप्यमान था। इसी कुटम्बने दतिया का क़िला बनवाया था। ललितपुरके आस पास इस वंशके अनेक शिलालेख अब तक पाए जाते हैं। इस वंशकी राज-

धानी मोहबा थी। इस वंशके वंशज ललितपुरके निकट खजराहा ग्राम में अभी तक पाए जाते हैं। सन् १८११ में जब महाराजा सिंधियाकी ओरसे जो कर्नल वैप-टिस्टी फिलोज़ देवगढ़के ऊपर चढ़कर आए थे उन्होंने तीन दिन बराबर लड़ कर बाद को देवगढ़ पर क़ब्ज़ा कर लिया था। चंदेरीके बदले में महाराज सिंधियाने देवगढ़ सरकार हिंदको दिया था तभीसे सरकार हिंद का क़ब्ज़ा इस ग्राम पर है।

किलेकी दीवार चाहे चंदेल राजाओंने निर्मापित कराई हो या पूर्वकी बनी हो, हम यह ठीक नहीं कह सकते; परन्तु इसकी मोटाई १५ फुट है जो बिना सिमिंट और गारेके केवल पाषाणकी बनी हुई है। इसमें गोला चलानेके लिए सूराख तथा गोलाबुर्ज हैं। हदबंदी की दीवाल नदी की ओर यातो बनाई ही नहीं गई है या गिर गई हैं। परन्तु उसकी ऊँचाई २० फुट से कहीं भी अधिक नहीं है। सबसे बड़े अचम्भेकी बात तो यह है कि किलेके उत्तरी पश्चिमी कोनेसे एक पत्थरकी दीवार २१ फुट मोटी है जो ६०० फुट दूर तक पहाड़ीके किनारे चली गई है। शायद यह दीवार दूसरे किले की हो जो नष्टप्रायः हो चुका है।

देवगढ़के बड़े मंदिर सब खड़े हुए हैं जिनमें मरम्मत की सख्त जरूरत है। पहले इनमें किवाड़ोंकी जोड़ी-नहीं थी जिससे हिंसक जन्तु आन कर देवालयों में निवास करते थे। परन्तु अब धर्मप्रेमी उदार हृदय श्रीमान् सेठ पदमचंदजी आगरा निवासी की कृपा से देवालयोंमें लोहेकी जोड़ियाँ लग गई हैं, इससे हिंसक जन्तुओंका डर बिलकुल ही मिट गया है। दो मंदिर दुमंजले भी हैं जिनमें पुरातन कारीगरीके विचित्र नमूने देखने को मिलते हैं। मंदिरोंके छज्जे नालीदार चद्दरके समान पाषाणके बने हुए हैं। सब मंदिर क़रीब आठसौ वर्षके पुराने हैं किन्तु इनके सही सलामत रहने का कारण यही है कि वे मात्र पत्थरके हैं इनमें चूने गारेका लेशमात्रभी अंश नहीं।

गिरे हुए मंदिरोंमें छोटोंका नम्बर अधिक है। इनके गिरनेका कारण या तो भूकम्प रहा हो या किसी धर्मद्रोही नरेशने इन पर अपनी शक्ति आजमाई हो। इनके गिर पड़नेसे अगणित मनोज्ञ मूर्तियोंकी दुरदशा हो रही है। वर्सातमें काई लगनेसे, घाससे आच्छादित हो जानेसे मूर्तियोंके रंग रूपमें भी बहुत बड़ा अन्तर पड़ता जा रहा है। इसमें ज़रा भी संदेह नहीं कि यह स्थान एक समय बड़ा ही अतिशय क्षेत्र रहा है। अनुमान होता है कि किसी विधर्मी राजाके धर्मद्वेषके कारण ही इसकी यह दुर्दशा हुई है। इस क्षेत्रके इतिहास की पूरा खोज करनी और उसका तथा क्षेत्रका उद्धार करना भारी धर्म तथा पुण्यका काम है।

अंतमें समाजके श्रीमानों तथा उदार हृदय लक्ष्मी पुत्रोंसे सविनय निवेदन है कि आप लोग इस पुरातन अतिशय क्षेत्र देवगढ़की ओर ध्यान दीजिये। यह स्थान कोई साधारण स्थान नहीं किन्तु इसमें लाखों रुपयेकी अटूट सम्पति लगी हुई है। इन जैनमंदिरोंके निर्मापित कराने वाले देवपत और खेवपत नामके दो धर्मात्मा भाई हो गए हैं जिनके पास सुना जाता है कि एक फटी कौड़ी भी नहीं थी, किन्तु धर्मके अद्वितीय प्रभावके कारण उन्हें एक पारस पथरी प्राप्त होगई थी जिसके बल पर उन्होंने पर्वतराज देवगढ़ पर जैन-मंदिर बनवाए। कालके आतंकसे आज कल उनकी दशा खराब हो रही है। उसके सुधारनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। इसके लिए धर्मप्रेमी सज्जनोंको लक्ष्य देना चाहिए और एक बार इस क्षेत्रके दर्शन भी करलेना चाहिए, ऐसी मेरी सबसे अन्तिम विनय है।

सम्पादकीय नोट—

मैंने खुद ८नवम्बर सन् १९२५को इस पवित्र क्षेत्र देवगढ़के दर्शन किये हैं परन्तु दर्शन करके इतनी प्रसन्नता नहीं हुई जितनी कि हृदयमें वेदना उत्पन्न हुई। प्रसन्नता तो केवल इतनी ही थी कि मंदिरोंके साथ मूर्तियाँ बड़ी ही भव्य, मनोहर तथा दर्शनीय जान पड़ती थीं—ऐसे खर पाषाणकी इतनी सुन्दर सुडौल और प्रसन्नवदन मूर्तियाँ अन्यत्र बहुत ही कम देखनेमें आई थीं और उन्हें देखकर अपने अतीत गौरवका—अपने अभ्युदय का—तथा अपने शिल्पचातुर्यका स्मरण हो आता था। परन्तु मंदिर-मूर्तियोंकी वर्तमान दुर्दशाको देखकर हृदय टूक टूक हुआ जाता था—उनकी सुन्दरता जितनी अधिक थी उनकी दुर्दशा उतना ही ज्यादा कष्ट देती थी । जब मैं देखता था कि एक मंदिरके पास दूसरा मंदिर धराशायी हुआ पड़ा है, उसकी एक मूर्तिकी भुजा टूट गई है, दूसरीकी टाँग अलग हुई पड़ी है, तीसरीके मस्तकका ही पता नहीं है, सही सलामत बची हुई मूर्तियाँ भी कुछ अस्त व्यस्त रूपसे खुले मैदानमें पड़ी हुई पशुओं आदिके आघात सह रही हैं, मंदिरका खम्भा कहीं तो शिखरका पत्थर कहीं पड़ा है, और उन खंडहरों पर होकर जाना पड़ता है; जो मंदिर अभी तक धराशायी नहीं हुए उनके आँगनोंमें और उनकी छतों आदि पर गजों लम्बे घास खड़े हैं, खेर-करोंदी आदिके वृक्ष भी छतों तक पर खड़े हुए अपनी निरंकुशता अथवा अपना एकाधिपत्य प्रकट कर रहे हैं, घासकी मोटी मोटी जड़ें इधर उधर फैल कर अपनी धृष्टताका परिचय दे रही हैं, एक मंदिरसे दूसरे मंदिरको जानेके लिये रास्ता साफ़ नहीं, मंदिरोंके चारों तरफ जंगल ही जंगल हो गया है बेहद घास तथा झाड़झंखाड़ खड़े हैं; मंदिरोंकी प्रायः सारी छतें टपकती हैं, वर्षाका बहुतसा जल मूर्तियोंके ऊपर गिरता है, बहुतसी मूर्तियों पर काई जम गई है, उनके कोई कोई अंग फट गये हैं अथवा विरूप हो गये हैं और मंदिरमें हज़ारों चमगादड़ फिरते हैं जिनके मल-मूत्रकी दुर्गंधके मारे वहाँ खड़ा नहीं हुआ जाता, तो यह सब दृश्य देखते देखते हृदय भर आता था—धैर्य त्याग देता था—आंखोंसे अश्रुधारा बहने लगती थी, उसे बार बार रूमालसे पोंछना पड़ता था और रह रह कर यह खयाल उत्पन्न होता था कि क्या जैनसमाज जीवित है ? क्या जैनी ज़िन्दा हैं ? क्या ये मंदिर-मूर्तियाँ उसी जैन जाति की हैं जो भारतवर्षमें एक धनाढ्य जाति समझी जाती है ? अथवा जिसके हाथमें देशका एक चौथाई व्यापार बतलाया जाता है? और क्या जैनियोंमें अपने पूर्वजोंका गौरव, अपने धर्म का प्रेम अथवा अपना कुछ स्वाभिमान अवशिष्ट है ? उत्तर 'हाँ' में कुछभी नहीं बनता था; और कभी कभी तो ऐसा मालूम होने लगता था मानों मूर्तियाँ कह रही हैं कि, यदि तुम्हारे अंदर दया है और तुमसे और कुछ नहीं हो सकता तो हमें किसी अजायबघरमें ही पहुँचा दो, वहाँ हम बहुतोंको नित्य दर्शन दिया करेंगी—उनके दर्शनकी चीज़ बनेंगी—बहुतसे गुणग्राहकोंकी प्रेमांजलि तथा भक्तिपुष्पांजलि ग्रहण किया करेंगी। और यदि यह भी कुछ नहीं हो सकेगा तो कमसे कम इस आपत्तिसे तो बच जायंगी—वहाँ सुरक्षित तो रहेंगी, वर्षाका पानी तो हमारे ऊपर नहीं टपका करेगा, चमगादड़ तो हमारे ऊपर मल-मूत्र नहीं करेंगे, पशु तो हमसे आकर नहीं खसा करेंगे और कभी कोई जंगली आदमी तो हमारेमेंसे किसीके ऊपर खुरपे दाँती नहीं पनाएगा। उधर बड़े मंदिरके उस अनुपम तोरण द्वार पर जब दृष्टि पड़ती थी जो अपने साथी मकानोंसे अलग होकर अकेला खड़ा हुआ है तो

मानों ऐसा मालूम होता था कि वह अब हसरत भरी निगाहोंसे देख रहा है और पुकार पुकार कर कह रहा है कि, मेरे साथी चले गये! मेरे पोषक चले गये!! मेरा कोई प्रेमी नहीं रहा !!! मैं कब तक और अकेला खड़ा रहूँगा ? किसके आधार पर खड़ा रहूँगा? खड़ा रहकर करूंगा भी क्या ? मैं भी अब धराशायी होना चाहता हूँ !!! इस तरह इन करुण दृश्यों तथा अपमानित पूजा-स्थानोंको देख कर और अतीत गौरवका स्मरण करके हृदयमें बार बार दुःखकी लहरें उठती थीं—रोना आता था—और उस दुःखसे भरे हुए हृदयको लेकर ही मैं पर्वतसे नीचे उतरा था।

समझमें नहीं आता जिनकी प्राचीन तथा उत्तम देवमूर्तियोंकी यों अवज्ञा हो रही हो वे नई नई मूर्तियोंका निर्माण क्या समझ कर कर रहे हैं और उसके द्वारा कौनसा पुण्य उपार्जन करते हैं!! क्या बिना ज़रूरत भी इन नई नई मूर्तियोंका निर्माण प्राचीन शास्त्र-विहित मूर्तियोंकी बलि देकर—उनकी ओरसे उपेक्षा धारण करके—नहीं हो रहा है ? यदि ऐसा नहीं तो पहले इन दुर्दशाग्रस्त मंदिर-मूर्तियोंका उद्धार क्यों नहीं किया जाता ? जीर्णोद्धारका पुण्य तो नूतन निर्माणसे अधिक बतलाया गया है। फिर उसकी तरफसे इतनी उपेक्षा क्यों ? क्या महज़ धर्मका ढौंग बनाने, रूढिका पालन करने या अपने आस पासकी जनतामें वाहवाही लूटने के लिये ही यह सब कुछ किया जाता है ? अथवा ऐसी ही अवज्ञा तथा दुर्दशाके लिये ही ये नई नई मूर्तियाँ बनाई जाती हैं ? यदि यह सब कुछ नहीं है तो फिर इतने कालसे देवगढ़की ये भव्य मूर्तियाँ क्यों विपद्ग्रस्त हो रही हैं ? क्या इनकी विपद्का यह मुख्य कारण नहीं है कि देवगढ़में जैनियोंकी बस्ती नहीं रही, उसके आस पासके नगर-ग्रामोंमें अच्छे समर्थ तथा श्रद्धालु जैनी नहीं रहे और दूसरे प्रान्तोंके जैनियोंमें भी धर्मकी सच्ची लगन अथवा अपने देवके प्रति सच्ची भक्ति नहीं पाई जाती ? यदि देवगढ़में और उसके आस पास आज भी जैनियोंकी पहले जैसी बस्ती होती और उनका प्रतापसूर्य चमकता होता तो इन मंदिर-मूर्तियोंको कदापि ये दिन देखने न पड़ते। और इस लिये जिन भोले भाईयोंका यह खयाल है कि अधिक जैनियोंसे या जैनियोंकी संख्यावृद्धि करनेसे क्या लाभ? थोड़े ही जैनी काफ़ी हैं, उन्हें देवगढ़की इस घटनासे पूरा पूरा सबक़ सीखना चाहिये और स्वामी समन्तभद्र के इस महत्वपूर्ण वाक्यको सदा ध्यानमें रखना चाहिये कि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना'—अर्थात्, धार्मिकोंके बिना धर्मकी सत्ता नहीं, वह स्थिर नहीं रह सकता, धार्मिक पुरुष ही उसके एक आधार होते हैं, और इसलिये धर्मकी स्थिति बनाये रखने अथवा उसकी वृद्धि करनेके लिये धार्मिक पुरुषोंके पैदा करनेकी और उनकी उत्तरोत्तर संख्या बढ़ानेकी खास ज़रूरत है। साथ ही, उन्हें यह भी याद रखना चाहिये कि जैनियों की संख्या वृद्धिका यदि कोई समुचित प्रयत्न नहीं किया गया तो जैनियोंके दूसरे मंदिर-मूर्तियोंकी भी निकट भविष्यमें वही दुर्दशा होनेवाली है जो देवगढ़के मंदिर-मूर्तियोंकी हुई है और इसलिये उसके लिये उन्हें अभी से सावधान हो जाना चाहिये और सर्वत्र जैन धर्मके प्रचारादि-द्वारा उनके रक्षक पैदा करने चाहियें।

यदि दुर्दैवसे देवगढ़ जैनियोंसे शून्य हो भी गया था तो भी यदि आसपासके जैनियोंकी—बुन्देलखण्डी भाइयोंकी—अथवा दूसरे प्रान्तके श्रावकोंकी धर्ममें सच्ची प्रीति—सच्ची लगन—अपने देवके प्रति सच्ची भक्ति और अपने कर्तव्यपालनकी सच्ची रुचि बनी रहती और उन्हें अपने घर पर ही नया मंदिर बनवा कर, नई

मूर्तियाँ स्थापित करा कर बड़े बड़े मेले प्रतिष्ठाएँ रचा कर तथा गजरथ चला कर सिंघई, सवाई सिंघई अथवा श्रीमन्त जैसी पदवियाँ प्राप्त करनेकी लालसा न सताती तो देवगढ़के मंदिर-मूर्तियों को अभीतक इस दुर्दशाका भोग करना न पड़ता—उनका कभीका उद्धार हो गया होता। जैनियोंका प्रतिवर्ष नये नये मंदिर मूर्तियोंके निर्माण तथा मेले प्रतिष्ठादिकोंमें लाखों रुपया खर्च होता है। वे चाहते तो इस रकमसे एकही वर्षमें पर्वत तकको खरीद सकते थे—जीर्णोद्धारकी तो बात ही क्या है? परंतु मैं देख रहा हूँ जैनियोंका अपने इस कर्तव्यकी ओर बहुत ही कम ध्यान है। जिस क्षेत्र पर २०० के क़रीब शिलालेख पाये गये हों, १५७ जिनमेंसे ऐतिहासिक महत्व रखते हों और उनमें जैनियोंके इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी हुई हो उस क्षेत्रके विषयमें जैनियोंका यह उपेक्षा भाव, निःसन्देह बहुत ही खेदजनक है। सात वर्षसे कुछ ऊपर हुए जब भाई विश्वम्भरदासजी गार्गीयने 'देवगढ़के जैनमंदिर' नामकी एक पुस्तक प्रकाशित करके इस विषयके आन्दोलनको खास तौर से जन्म दिया था। उस वक्तसे कभी कभी एकाध लेख जैनमित्रादिकमें प्रकाशित होजाता है और उसमें प्रायः वे ही बातें आगे पीछे अथवा संक्षिप्त करके दी हुई होती हैं जो उक्त पुस्तकमें संग्रहीत हैं। सिंघई नाथूरामजी के इस लेखका भी वही हाल है। और इससे यह जाना जाता है कि देवगढ़ तीर्थोद्धार-फंडने ग्राममें एक धर्मशाला बनवाने तथा मंदिरोंमें जोड़ियां चढवानेके अतिरिक्त अभी तक इस विषयमें और कोई खास प्रगति नहीं की—वह मंदिर मूर्तियोंके इतिहासादि-सम्बन्धमें भी कोई विशेष खोज नहीं कर सका और न उन सब शिलालेखोंकी कापी प्राप्त करके उनका पूरा परिचय ही समाजको करा सका है जो गवर्नमेंटको इस क्षेत्र पर से उपलब्ध हुए हैं और जिनमेंसे १५७का संक्षिप्त परिचय भी सरकारी रिपोर्टमें दिया हुआ बतलाया जाता है *। कोई खास रिपोर्ट भी उसकी अभी तक देखनेमें नहीं आई। इसके सिवाय गवर्नमेंटसे लिखा पढ़ी करके इस क्षेत्रको पूर्ण रूपमे अपने हस्तगत करनेके लिये जो कुछ सज्जनोंकी योजना हुई थी उनकी भी कोई रिपोर्ट आज तक प्रकाशित नहीं हुई और न यही मालूम पड़ा कि उन्होंने इस विषयमें कुछ किया भी है या कि नहीं। तीर्थक्षेत्र कमेटीने भी इस विषयमें ' या महत्वका भाग लिया है वह भी कुछ मालूम नहीं हो सका। हाँ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकी कुछ टिप्पणियोंसे इतना आभास जरूर मिलता रहा है कि अभी तक इस दिशामें कोई खास उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है। अस्तु; ऐसी मंदगति, लापर्वाही और अव्यवस्थित रूपसे कार्य होने की हालतमें इस क्षेत्रके शीघ्र उद्धारकी क्या आशा की जा सकती है और उस उद्धारकार्यमें सहायता देनेकी भी किसीको क्या विशेष प्रेरणा हो सकती है।

अतः समाजका इस विषयमें यह खास कर्तव्य है कि वह अब और अधिक समय तक इस मामलेको खटाईमें न डाले रक्खे, उसे पूर्ण उद्योगके साथ गहरा आन्दोलन करके और अच्छे उत्साही तथा कार्यकुशल योग्य पुरुषोंकी योजना-द्वारा व्यवस्थित रूपसे काम कर शीघ्र ही इस क्षेत्रके उद्धार-कार्यको पूरा करना चाहिये। ऐसा न हो कहीं विलम्बसे दूसरे मंदिर भी धराशायी हो जाँय और फिर खाली पछतावा ही पछतावा अवशिष्ट रह जाय। बुन्देलखण्डके भाइयोंकी इस विषयमें खास जिम्मेवारी है, और इस क्षेत्रका अभी तक उद्धार न होने का खास कलंक भी उन्हींके सिर है। वे यदि कुछ समयके लिये नये नये मंदिरोंके निर्माण और मेले प्रतिष्ठाओंको बन्द रखकर इस ओर अपनी शक्ति लगावें तो इस क्षेत्रका उद्धार होनेमें कुछ भी देर न लगे। तीर्थक्षेत्र कमेटीको भी इस विषयमें सविशेष रूपसे ध्यान देना चाहिये और यह प्रकट कर चाहिये कि अभी तक इस दिशामें क्या कुछ कारवाई हुई है। उद्धारकार्यके वर्तमान संचालक यदि शिलालेखोंकी पूरी कापी, रिपोर्ट और कुछ महत्वके चित्रोंको भिजवानेका कष्ट उठाएँगे तो 'अनेकान्त' द्वारा उन पर विशेष प्रकाश डालनेका भरसक यत्न किया जायगा।

* यह रिपोर्ट अभी तक मेरे देखने में नहीं आई और न भेजने की प्रेरणा करने पर भी शिलालेखोंकी कापी ही उद्धारकार्यक संचालकोंकी ओरसे आश्रमको प्राप्त हो सकी है।

तौलवदेशीय प्राचीन जैनमंदिर

ले॰—श्री॰पं॰ लोकनाथजी शास्त्री मूडबिद्री

दक्षिण कर्नाटकमें जैनधर्मकी प्राचीनता और जैन-मंदिरोंका विषय इतिहास-प्रेमियोंके लिये जितना अत्यावश्यक है उतना ही वह गहन तथा रहस्यपूर्ण भी है, इसे इतिहास-खोजियोंको सदा ध्यानमें रखना चाहिये। इस देशमें घरकी आम बोचचालकी भाषा तुलु होनेके कारण इसको 'तुलुदेश' या 'तौलवदेश' कहते हैं और व्यावाहारिक भाषा कन्नड होनेसे इसको 'कर्नाटक' देश भी कहा जाता है।

यह कर्नाटक देश किसी समय कांचीके राज्यमें शामिल था, जिसकी पुरानी राजधानी बीजापुर जिले के अन्तर्गत बादामपुर (बादामी) थी। उसके पश्चात उत्तर कनाडामें स्थित बनवासी के प्राचीन कदंब राजाओंने इस पर राज्य किया। और छठी शताब्दीके क़रीब यह देश पूर्वीय चालुक्योंके अधिकारमें चला गया। इस देशके राजा-महाराजाओंका धर्म जैनधर्म था और इस धर्मका प्रभाव उस समय तक अक्षुण्ण तथा अप्रतिहत बना रहा जब तक कि विष्णुवर्धन, होयसाल, बल्लाल, जैनधर्मको त्याग कर वैष्णवधर्मी नहीं बने थे। उनके वैष्णवधर्मी बनते ही स्थानीय जैन राजा-भैरसूड ओडेयर स्वतंत्र होगये और उन्होंने ऐसा शासन जमाया कि जो अन्य मतियोंको विरुद्ध पड़ने लगा। उनके आधीन चौटर, बंगर, अजिलर वगैरह बहुतसे प्रसिद्ध२ राजा थे। वे जैनराजा अभी भी इस भांति प्रसिद्ध हैं, (१) मूडबिद्रीमें चौटर, (२) नंदावरके बंगर, (३) अलदंगडी के अजिलर, (५) मूल्कीके सेवंतर इत्यादि।

इस दक्षिण तौलवदेशके उक्त प्रसिद्ध राजाओंने यहाँ पर बहुतसे जैनमंदिर बनवाये हैं। प्राचीन और अर्वाचीन सब मिला कर मंदिरोंकी संख्या यहाँ १८० पाई जाती है और उसकी तफ़सील यह है कि मूडबिद्रीमें १८, कार्कलमें १८, वेणूरमें ८, मूल्की होसंगडीमें ८, संगीतपुर (हाडुवल्ली) ९, गेरोप्पे में ४, दक्षिणकनाडा के अन्य अन्य प्रांतोंमें सब मिल कर १०४ और अभी नये बने हुए मंदिर ११, इस प्रकार इस देशमें कुल १८० जैन मंदिर थे। इनमेंसे (१) नेरबंडिहोले, (२) मोगर, (३) देशील (४) शीराडि (५) येणुगल्लु (६) कन्नर पाडी (७) पंज (८) चेक्कंगडि (९) बंडाडि (१०) कोंबार (११) नंदावर (१२) उब्बिल (१३) उल्लाल और (१४) मूल्की होसंगडी के ५ मंदिर ऐसे १८ मंदिर तो पूर्ण रूपसे नाशको प्राप्त हो गये हैं और बाक़ी में से कितने ही जीर्ण शीर्ण अवस्थाको प्राप्त होरहे हैं। इन सब मंदिरोंको देखने तथा पुरातत्व-विषयक खोज करनेसे इस बातका काफ़ी पता लगता है कि यहाँ पर पहले जैनमतका कितना अधिक महत्व तथा प्रभाव व्याप्त था और यहाँके जैनी कितने ज्यादा श्रीमान् थे। अस्तु; मेरी इच्छा है कि मैं 'अनेकान्त'के प्रेमी पाठकोंको इन मंदिरोंका कुछ ऐतिहासिक परिचय दूँ। और इस लिये आज उनके सामने सबसे पहले

मूडबिद्रीके जैनमंदिरोंका संक्षिप्त इतिहासमात्र रक्खा जाता है। मूडबिद्री अतिशय क्षेत्रोंमें प्रसिद्ध है। और यहांके दर्शनार्थ हर साल प्रायः सभी देशोंके यात्रीगण आया करते हैं, इससे यहाँके मंदिरोंके इतिहासको प्रकट करना और भी ज्यादा जरूरी है। और इसलिये उसीका सबसे पहले यत्न किया जाता है। बादको दूसरे मंदिरोंका भी क्रमशः परिचय दिया जायगा:—

मुडबिद्रीके १८ मंदिर

मूडबिद्री मंगलौर-शहरसे २२ मील है। यह प्राचीन जैन राजा चौटर वंशकी प्रसिद्ध नगरी थी। इस समय भी चौटर वंशके घराने वाले यहाँ पर मौजूद हैं। उनको सरकारसे पेन्शन भी मिलती है। यहाँ पर बड़े भारी १८मंदिर हैं। इस देशमें मंदिरको 'बस्ति' कहते हैं। अतः 'बस्ति' शब्दसे मंदिर समझ लेना चाहिये। इन मंदिरोंमें 'गुरुबस्ति' नामका मंदिर बहुत प्राचीन तथा क़रीब १००० वर्ष पहलेका है। इस में श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी कृष्ण पाषाणकी कायोत्सर्ग-रूप प्रतिमा बहुत ही मनोज्ञ है। इसी मंदिरमें धवल, जयधवल, महाधवल नामके तीनों ग्रंथराज विराजमान हैं और साथ ही बहुत प्राचीन अनर्घ्य रत्नप्रतिमायें भी विराजमान हैं इसीसे इसको 'सिद्धान्त मंदिर' भी कहते हैं। इस मन्दिरमें कुल रत्नप्रतिमायें ३३ हैं। इनमें से चाँदी, सुवर्ण, पन्ना, स्फटिकरत्न, नीलम, गरुडमणि, गोमेधिकरत्न, वैडूर्यमणि, माणिक्यरत्न, मोती, हीरा, मूंगा, पुष्पराग वगैरह रत्नोपरत्नोंकी प्रतिमाएँ तो ३२ हैं और बाकी एक प्रतिमा ताड़पत्रकी जड़की बनी हुई है, यों कुल ३३ हैं। ये प्रतिमाएँ आधा इंचसे लेकर ५ इंच तककी ऊँचाई की हैं और चतुर्थकालकी कहलाती हैं। इनका दर्शन करनेसे आनंदका पारावार नहीं रहता —पुनः पुनः दर्शन करनेकी उत्कंठा बनी ही रहती है। इस मंदिरमें शिलालेख भी है, जिस पर शकवर्ष ६३६ में इस मंदिरको स्थानीय जैनपंचोंने बनवाया इस बातका उल्लेख है। इसी गुरुबस्तिके बाहरके 'गद्दिगे' मंडपको एक चोलसेट्टी नामक स्थानीय श्रेष्ठीने बनवाया था जिसका समय उसमें शक संवत् १५३७ (सन् १६१५) दिया है। इस मंदिरकी लागत ६ करोडकी गिनी जाती है। वह इन रत्नप्रतिमाओंको मिलाकर ही होगी। इस मंदिरकी दूसरी मंजिल पर एक वेदी है, उसमें भी कई अनर्घ्य प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इसके सिवाय, इस मंदिरके बीचमें भगत द्रव्यनिधि भी करोडों रुपये की है, ऐसा कहते हैं। इसका कई वर्ष पहले श्रवणबेलुगुलके गुरुमहाराज भट्टारकजीने जीर्णोद्धार कराया था, इसीसे इसको 'गुरुबस्ति' नाम से पुकारते हैं।

(२) होसबस्ति—इसको 'त्रिलोकचूडामणिबसदि' तथा 'चन्द्रनाथमंदिर' भी कहते हैं। यह मंदिर भी क़रीब ६०० वर्षका पुराना है। भारतभरमें इसके मुक़ा-बलेका जैनमंदिर नहीं ऐसा कहनेमें अत्युक्ति नहीं होगी। इस मंदिरके भीतर बहुत बढ़िया खुदाई का काम शिला पर है। यह मंदिर तीन खनका (तिमंजला) है। इसमें १००० शिलामय स्तंभ हैं। इसलिये इसको 'साविर कंमद बसदी' भी कहते हैं। भैरादेवी नामक एक रानीने एक मंडप बनवाया है, उसको 'भैरादेवी-मंडप' के नामसे पुकारते हैं। उसके भीतरके खंभोंमें बहुत ही चित्र-विचित्र बढिया काम किया हुआ है। इस मंदिरके मूर्तिभूत विभवको देखनेके लिये हजारों अन्यमती लोग भी हमेशा आया करते हैं। इसमें 'भैरादेवी-मंडप', 'चित्रादेवी-मंडप' 'नमस्कार-मंडप' इत्यादि ६ खंड हैं। उक्त ६ खंडोंके अन्त पर बहुत ही

मनोज्ञ पंच धातुमय श्रीभगवान् चन्द्रप्रभकी खड्गासन विशाल भव्य प्रतिमा विराजमान है। इस मंदिर की तीसरी मंजिल पर एक वेदी है, जिसमें स्फटिककी छोटी बड़ी बहुत मनोज्ञ प्रतिमायें ४० हैं और इसकी दूसरी मंजिल पर अनेक प्रतिमाएँ तथा सहस्रकूट चैत्यालय भी अत्यंत चित्ताकर्षक है। यह मंदिर बहुत विशाल है। इसका बाह्य प्राकार (कोट) अत्युन्नत तथा शिलामय है जो, इस मंदिरकी प्रदक्षिणारूपमें एक मीलका हो जाता है। इतना विशाल तथा अनर्घ्य जैन-मंदिर अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इस मंदिरमें प्रवेश करते ही बहुत ऊँचा मान-मदको स्तंभन करने वाला 'मानस्तंभ' है जो कि मानो अनेक प्राचीन शिल्पकलाओंकी साक्षात् मूर्त्ति ही जान पड़ता है। इस मंदिरको शक सं० १३५२ (सन् १४२८) में यहांके भव्य श्रावकोंने बनवाया है, ऐसा शिला लेख है। मूडबिद्रीमें ये दोनों मंदिर बहुत प्राचीन तथा महत्वके हैं। इनके अलावा और भी सोलह मंदिर हैं, जो कि ३००, ४००, वर्षके अर्वाचीन हैं, ऐसा शिलालेखसे पाया जाता है। यहाँ के इन दो मंदिरोंके चित्र भी यथावसर 'अनेकान्त' के प्रेमियोंके सामने रखनेका मेरा विचार है।

क्रमशः

बुरी भावना

जाना नहीं अच्छा कभी जैनियोंके मंदिर में,
किसी भान्ति अच्छी नहीं कृष्णकी उपासना।
शम्भुका स्मरण किये होना जाना क्या है कहो,
राम नाम लेनेसे क्या सिद्ध होगी कामना॥
बरे हैं मुसलमान, हिन्दू बड़े काफ़िर हैं,
ऐसी हो परस्पर में बुरी जहाँ भावना।
प्रेम हो न आपस का, एका फिर कैसे हो,
क्यों न भोगे हिन्द माता नई नई यातना॥

—गिरिधर शर्मा

सुभाषित मणियाँ

प्राकृत—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जोसो समोत्ति णिद्दिट्ठो
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

—कुन्दकुन्दाचार्य।

'जो सम्यक्चारित्र है—दर्शनज्ञानपूर्वक स्वरूपाचरण है—वही (वस्तु स्वभाव होने से) धर्म है, जो धर्म है उसी को साम्यभाव कहते हैं और जो साम्यभाव है वह और कुछ नहीं, मोह क्षोभसे विहीन—अथवा राग द्वेष काम क्रोधादिकसे रहित—अपने आत्माका निर्विकार परिणमन है।

(इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि वास्तवमें ऐसे समताभाव का नाम ही धर्म और चारित्र है। जहाँ यह नहीं वहाँ महज़ उठने बैठने आदि रूपसे कुछ क्रियाकांड कर लेने पर ही धर्म तथा चारित्र नहीं बन सकता।)

"आसाम्बरो य सेयम्बरो य बुद्धो व अहव अण्णो वा
समभावभाविअप्पा पावइ मोक्खं ण संदेहो ॥"

'दिगम्बर हो, श्वेताम्बर हो, बौद्ध हो, अथवा दूसरे ही किसी सम्प्रदायका व्यक्ति हो, यदि वह साम्यभाव से भावितात्मा है तो निःसन्देह मोक्षको प्राप्त होता है—अपने साम्यभाव की मात्रानुसार बन्धनसे छूटता अथवा उससे निर्मुक्त रहता है।'

जो णवि जादि वियारं तरुणियणकडक्खबाणविद्धोवि
सो चेव सूरसूरो रणसूरो णो हवइ सूरो ॥

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा।

'तरुणी स्त्रियोंके कटाक्षबाणोंसे बींधा जाने पर भी जो विकार भावको प्राप्त नहीं होता वही शूरवीर है, रणशूरको—संग्राममें वीरता दिखलाने वाले को—(वास्तवमें) शूरवीर नहीं कहते।'

लच्छिं वंछेइ णरो णेव सुधम्मेसु आयरं कुणई।
बीएण विणा कुत्थ वि किं दीसदि सस्सणिप्पत्ती ॥

—स्वामिकार्तिकेय।

'मनुष्य लक्ष्मी तो चाहता है परंतु (उसके कारण) सुधर्मोंके—सत्कर्मोंके—अनुष्ठानमें सादर प्रवृत्त नहीं होता। (इससे उसे यदि लक्ष्मी न मिले तो ठीक ही है।) क्या बिना बीजके भी कहीं धान्यकी उत्पत्ति होती देखी गई है?'

णय कोवि देदि लच्छीण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं
उवयारं अवयारं कम्मं वि सुहासुहं कुणदि ॥

—स्वामिकार्तिकेय।

(वास्तवमें) कोई (व्यन्तरादिकदेव) लक्ष्मी नहीं देता और न कोई जीवका उपकार ही करता है, उपकार और अपकार यह सब अपना ही शुभाशुभ कर्म करता है—अपने ही अच्छे बुरे कर्मोंका नतीजा है।

(इससे अपना भला चाहने वालोंको दूसरोंकी आशा पर ही निर्भर न रह कर शुभ कर्ममें प्रवृत्ति करनी चाहिये।)

राएं रंगिए हियवडए, देउ ण दीसइ संतु।
दप्पणि मइलइ बिंबु जिम, एहउ जाणि णिभंतु ॥

—योगीन्द्रदेव।

जिस प्रकार मैले दर्पणमें मुख दिखलाई नहीं देता उसी प्रकार राग भावसे रंगे हुए हृदयमें वीतराग शांत देवका दर्शन नहीं होता, यह सुनिश्चित है।

संस्कृत—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

—स्वामी समन्तभद्र ।

'जो गृहस्थ मोहसे—मिथ्यादर्शनसे—रहित एवं सम्यग्दृष्टि (अनेकान्तदृष्टि) है वह मोक्षमार्गी है, परंतु वह गृहत्यागी मोक्षमार्गी नहीं जो मोहसे युक्त एवं मिथ्यादृष्टि (एकान्तदृष्टि) है । और इसलिये मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है ।'

"पात्रे त्यागी गुणे रागी भोगी परिजनैः सह ।
शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा पुरुषः पंचलक्षणः ॥"

'जो पात्रके प्रति त्यागी, गुणके प्रति रागी, परिजनोंके साथ भोगी, शास्त्रके जानने वाला और रणके उपस्थित होने पर युद्ध करने वाला है वही पुरुष है—मर्द है—और इस तरह पुरुषके पाँच लक्षण बतलाये गये हैं ।'

"परोपि हितवान्बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिः हितमारण्यमौषधम् ॥"

'पर भी—गैर शख्स भी—यदि अपना हित करने वाला है तो वह बन्धु है—अपनाने योग्य है—, और अपना सगा भाई भी यदि अहितकर है तो वह पर है—त्यागने योग्य है । और यह ठीक ही है, अपने ही शरीरसे उत्पन्न हुई व्याधि अहितकर होनेसे ही त्याज्य है—उसे कोई अपनाता नहीं—और अपनेसे भिन्न जंगलमें उत्पन्न हुई औषधि हितकारी होनेसे ही ग्राह्य बनी हुई है—उसे सब अपनाते हैं ।

(इसमें अपने और पराएकी अच्छी पहचान बतलाई गई है)

"वनानि दहतो वन्हेः सखा भवति मारुतः ।
स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम् ॥"

'जो पवन वनोंको जलाती हुई अग्निका मित्र बन कर उसे बढ़ा देता है वही एक दीपकके रूपमें प्रस्तुत हुई अग्निके नाशका कारण बन जाता है—उसे बुझा देता है । सो ठीक है, दुर्बलके साथ किसकी मित्रता होती है ?'

येनांचलेन सरसीरुहलोचनाया-
स्त्रातः प्रभूतपवनादुदये प्रदीपः ।
तेनैव सोऽस्तसमयेऽस्तमयं विनीतः
क्रुद्धे विधौ भजति मित्रममित्रभावम् ॥

'उदयके समय एक स्त्रीके जिस अंचलने दीपककी प्रचुर पवनसे रक्षा की थी अस्तके समय उसी अंचलने उसे यमपुर पहुंचा दिया—बुझा दिया । सो ठीक ही है, जब विधि क्रुद्ध होता है—भाग्य उलटता है—तब मित्र भी शत्रु बन जाते हैं ।'

दुःखी दुःखाधिकान्पश्येत्सुखीपश्येत्सुखाधिकान् ।
आत्मानं हर्ष शोकाभ्याँ शत्रुभ्यामिव नार्पयेत् ॥

'दुखी मनुष्यको चाहिये कि वह अपनेसे अधिक दुखियोंको देखे और शोक न करे, और सुखी मनुष्य को चाहिये कि वह अपनेसे अधिक सुखियोंको देखे और हर्ष न मनाए । कारण, हर्ष और शोक ये दोनों ही शत्रु हैं—अपना अनिष्ट करने वाले हैं—इनके सुपर्द कभी अपने आत्माको नहीं करना चाहिये ।'

जीवन्तु मे शत्रुगणाः सदैव
येषां प्रसादेन विचक्षणोऽहम् ।
यदा यदा मां भजते प्रमाद-
स्तदा तदा ते प्रतिबोधयन्ति ॥

'मेरे शत्रुगण सदा जीवित रहें, जिनके प्रसादसे मैं विचक्षण हुआ हूँ । कारण ? जब जब मुझसे प्रमाद बनता है तब तब वे (अपने आक्षेपादि प्रहारों द्वारा) मुझे सावधान कर देते हैं—इससे प्रमाद मुझे अधिक सताने नहीं पाता और मैं उत्तरोत्तर सतर्क तथा सावधान बनता जाता हूँ, और इसी लिये वे एक प्रकारसे मेरे उपकारी हैं ।

हिन्दी—

प्रथम तो 'पठनं कठिनं' प्रभो, सुलभ पाठक-पुस्तक जो न हो।
हृदय चिन्तित देह सरोग हो, पठन क्योंकर हो तुमही कहो ?
×　　×　　—'युगवीर'

"नयनन देख जगत को, नयना देखे नाहिं।
ताहि देख जो देखता नयन-झरोखे माहिं ॥
×　　×　　×

"नीर बुझावै अगनिको, जलै टोकनी-माहिं।
देह-माहिं चेतन दुखी, निज गुण पावै नाहिं ॥
×　　×　　×

"गिरितें गिर परिवो भलो, भलो पकरिवो नाग।
अग्नि-माहिं जरवो भलो, बुरो शील को त्याग ॥"
×　　×　　×

परनारी पैनी छुरी, मत कोइ लावो अंग।
रावण के दस सिर गये परनारी के संग ॥
×　　×　　—कबीर

तू नित चाहत भोग नए नर पूरब पुन्य बिना किम पै है;
कर्म सँजोग मिले कहुँ जोग गहै तब रोग न भोग सकै है।
जो दिन चारको बौंत बनों कहुँ तो परि दुर्गतिमें पछतै है;
याही तैं यार सलाह यही है 'गई कर जाहु' निवाह न ह्वै है ॥
×　　×　　—भूधरदास

जीवनकी औ' धन की आशा जिनके सदा लगी रहती।
विधि का विधान सारा उन ही के अर्थ होता है ॥
विधि क्या कर सकता है ? उनका जिनकी निराशता आशा।
भय-काम-वश न होकर, जगमें स्वाधीन रहते जो ॥
×　　×.　　—'युगवीर'

"बड़ो भयो तो क्या भयो, ज्यों बन बढ़ी खजूर।
दल थोड़ा गुठली घनी, छाँह तुच्छ फल दूर ॥"
×　　×　　×

"तीन सतावें निबल को राजा पातिक रोग।"
×　　×　　×

उर्दू—

होगी न क़द्र जान की कुर्बां[1] किए बग़ैर।
दाम उट्ठेंगे न जिन्सके अर्ज़ां[2] किए बग़ैर ॥
×　　×　　—'हाली'

तनपरस्ती[3] पै जो हो सर्फ़[4] वह दौलत क्या है ?
ग़ैरको जिससे न राहत[5] हो वह राहत क्या है ?
×　　×　　—'चकबस्त'

आग़ोशेलहद[6] में जब कि सोना होगा।
जुज़[7] ख़ाक न तकिया न बिछौना होगा ॥
×　　×　　—'सरशार'

दो दिन सराए फ़ानी में अपना मुक़ाम है।
है सुबह गर यहाँ तो वहाँ अपनी शाम है ॥
×　　×　　—'दास'

होता नहीं है कोई बुरे वक्त का शरीक़।
पत्ते भी भागते हैं ख़िज़ाँ[8] में शजर[9] से दूर ॥
×　　×　　×

जो नख़्ल[10] पुरसमर[11] हैं उठाते वो सर नहीं।
सरकश हैं वो दरख़्त कि जिनपै समर नहीं ॥
×　　×　　×

ग़ाफ़िल तुझे घड़ियाल यह देता है मुनादी।
ख़ालिक़[12] ने घड़ी उम्र में एक और घटादी ॥
×　　×　　×

सियाहबख़्ती[13] में कब कोई किसीका साथ देता है।
कि तारीकी में[14] साया भी जुदा होता है इन्साँ से ॥
×　　×　　×

कौन होता है बुरे वक्त की हालत का शरीक।
मरते दम आँखको देखा है कि फिर जाती है ॥
×　　×　　×

१ बलि. २ सस्ती. ३ शरीरकी उपासनामें—दैहिक भोगों पर. ४ खर्च. ५ सुख चैन. ६ क़ब्रकी गोद. ७ सिवाय. ८ पतझड़की मौसम. ९ वृक्ष. १० वृक्ष. ११ फलोंसे परिपूर्ण. १२ विधि-विधाता. १३ भाग्यान्धकार-दुर्भाग. १४ अन्धेरे में.

जैनधर्मका प्रसार कैसे होगा ?

ले०—श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी ।

अन्यान्य धर्मों की उन्नति और विस्तृति होते देखकर कुछ समय से जैनसम्प्रदायमें भी इस विषय का आन्दोलन होने लगा है कि जैन धर्म की उन्नति की जाय और उसका विस्तार देश-विदेशों में सर्वत्र किया जाय। यद्यपि जैन धर्म के दुर्भाग्य से अभी उसके बहुत से अनुयायी ऐसे भी हैं जो अपने पवित्र धर्म को अपवित्र मानेहुए देशों में लेजाना या हीन जातियों में फैलाना अनुचित और पातक का काम समझते हैं, तोभी यदि थोड़ी देरके लिए कल्पना कर ली जाय कि इस विषय का कोई भी विरोधी नहीं रहा और प्रगति के क्रमानुसार थोड़े समय में ऐसा होगा ही; तो क्या हमें यह आशा कर लेनी चाहिए कि हमारी उक्त इच्छा सफल हो जायगी ? हमारे धर्म का सर्वत्र प्रचार होने लगेगा ? हम अक्सर शिकायत किया करते हैं कि इस समय ऐसे कामों में हमारे रथ-प्रतिष्ठाप्रेमी धनिक धन नहीं देना चाहते हैं और धन के बिना ऐसे महत्व के काम हो नहीं सकते हैं; परन्तु कल्पना कर लीजिए कि हमारे सारे लक्ष्मी-पुत्रोंको भी सुबुद्धि प्राप्त होगई है और वे इसके लिए अपनी थैलियों के मुँह खोले हुए बैठे हैं, तो क्या आप कह सकते हैं कि हम जैन धर्मको राष्ट्रधर्म बना डालेंगे? इसी तरह और भी इस मार्गमें जो जो रुकावटें हैं समझ लीजिए कि वे सब दूर होगई हैं और कार्य भी प्रारंभ कर दिया गया है, तो क्या हम अपने उक्त अभीष्टको पालेंगे ? मेरे खयालमें यह काम कहनेमें जितना सहज मालूम होता है और व्याख्यान देते समय अथवा लेख लिखते समय इसके लिए जितनी सुलभतासे युक्तियाँ मिल सकती हैं उतना सहज और सुलभ नहीं है। अभी तक जैनसमाजमें वह योग्यता ही नहीं आई है और न उसके लानेका अभी तक कोई उपाय ही किया गया है कि जिससे इस महत्कार्यके सम्पादन होनेकी आशा की जासके।

किसीभी धर्मके प्रसारके लिए यह आवश्यक है कि सर्वसाधारणको उसकी विशेषता बतलाई जाय—यह समझाया जाय कि उसमें वे कौन कौनसी बातें हैं जो दूसरे धर्मोंमें नहीं हैं। इसके सिवाय, उसमें वे कौन कौनसे तत्त्व हैं जो वर्तमान देशकालके अनुसार मनुष्योंकी सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक उन्नति करनेमें सब प्रकारसे सहायक हैं तथा आधुनिक वैज्ञानिक सत्योंके सामनेभी जो असत्य या भ्रमात्मक सिद्ध नहीं हो सके हैं यह सिद्ध करके दिखलाया जाय कि उसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिका

मार्ग सबसे अधिक प्रशस्त है और उसके उदार छत्रके नीचे प्राणिमात्रको आश्रय मिल सकता है। जब तक इस तरह सब ओरोंसे किसी धर्मकी खबियाँ न दिखलाई जायँगी तब तक कोई भी धर्म चाहे उसे उसके अनुयायी सीधा स्वर्ग या मोक्षमें भेजनेका विमान ही क्यों न समझते हों और उसके आसपासकी सारी दुनिया बिलकुल ही पक्षपातरहित क्यों न हो गई हो—यहाँ तक कि अपने अपने कुल-धर्मोंको छोड़नेके लिये तैयार ही बैठी हो—दूसरोंको अपना अनुयायी न बना सकेगा।

हम देखते हैं कि वर्तमान जैन समाजमें इतनी योग्यता नहीं कि वह अपने धर्मकी विशेषता या उसकी सार्वभौमताको उक्त प्रकारसे सिद्ध करके दिखला सके। उसमें अभी ऐसे विद्वान् उत्पन्न ही नहीं हुए और उसकी सन्तानको जिस ढंगसे या जिस पद्धतिसे शिक्षा दी जाती है उसका विचार करनेसे यह आशा भी नहीं है कि जल्दी ऐसे सुयोग्य विद्वान् तैयार हो जायँगे जो जैनधर्मका प्रतिपादन इस ढंगसे करसकें कि उस पर दूसरे लोग मोहित हो जावें और उसका आश्रय लेनेके लिए व्याकुल हो उठें।

पुराने खयालके लोग तो यह समझते हैं कि संस्कृत भाषाके द्वारा जैनधर्मके उच्च श्रेणीके दर्शन, न्याय, व्याकरणादि ग्रन्थोंमें योग्यता प्राप्त करने वाले विद्वान ही जैनधर्मके प्रचारका काम सफलतापूर्वक कर सकेंगे और नये खयालवाले समझते हैं कि उच्च श्रेणी-की अँग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोगों ही से इस प्रकारकी आशा की जा सकती है। रहे इन दोनोंके बीचके मध्यम खयालवाले, सो उनकी यह समझ है कि संस्कृतके पंडितोंको अँगरेजी पढ़ा देनेसे या अँगरेजीके ग्रेज्युएटों-को संस्कृत और जैनग्रंथ पढ़ा देनेसे काम चलजायगा; परन्तु वास्तवमें विचार किया जाय तो जैसे विद्वान् इस कार्यके लिए चाहियें वैसे इन तीनों ही मार्गों से नहीं बन सकते हैं। क्योंकि एक तो किसी भाषाका ज्ञान लेना या किसी ग्रंथका पढ़ लेना विद्वान् बनजाना नहीं है। यदि संस्कृतके ज्ञान लेनेसे ही कोई पंडित कहलाता हो तो जिस ज़मानेमें संस्कृत बोलचालकी भाषा रही होगी उस ज़मानेके पढ़े लिखे और अपढ़ सब ही लोगोंको पंडित मानना पड़ेगा। इसी प्रकारसे यदि अँगरेजीमें बातचीत करने लगना पंडिताई का लक्षण मान लिया जाय तो फिर साहब लोगोंके खान-सामा और साईस भी विद्वान् समझे जायँगे। परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। विद्वत्ता किसी भाषाका बोलना या समझना आजानेसे नहीं, किन्तु उसके द्वारा उस भाषाके विद्वानोंके विचारोंको हृदयस्थ कर लेनेसे आती है। भाषा ज्ञान नहीं किन्तु ज्ञानका एक साधन है। दूसरे, पुस्तकें पढ़ लेनेसे या उन्हें रटकर परीक्षामें पास हो जानेसे ही कोई विद्वान् नहीं होजाता। क्योंकि भाषाके समान ग्रन्थभी ज्ञानके साधन ही हैं स्वयं ज्ञान नहीं; ज्ञान कुछ और ही वस्तु है। वह केवल अध्ययन सेही नहीं किन्तु मनन, अनुभव और पर्यवेक्षणसे प्राप्त होता है। यही कारण है जो संसारके प्रसिद्ध प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता और महात्मा पुस्तकें पढ़कर नहीं किन्तु पदार्थोंके स्वरूपका निरीक्षण, मनन और अनुभव करके हुए हैं; और यही कारण है जो संस्कृत और अँगरेजीकी सैकड़ों पुस्तकें घोंटकर पीजाने पर भी आज सैकड़ों पंडित और ग्रेज्युएट ऐसे दिखलाई पड़ते हैं जिनका बुद्धिमान्द्य देखकर दया आती है। तीसरे, अब वह ज़माना नहीं रहा जिसमें किसी एक धर्म या सम्प्रदायके आचार्यको या नेताको शास्त्रार्थमें चुप कर देनेसे वह अपने अनुयायियों सहित अपने धर्मको छोड़कर विजेताका धर्म स्वीकार कर लेता था या

किसी प्रतापी राजाको अपना पाण्डित्य दिखला देनेसे वह मुग्ध होजाता था और स्वयं अनुयायी बन कर अपनी प्रजाको भी उसका उपासक बना लेता था। आजकलका समय दूसरा है। यह तो शान्ततापूर्वक तुम्हारी बात सुनना चाहता है। यह शास्त्रार्थ या खंडनसे राजी नहीं। इसे केवल प्रतिपादनकी शैली पसन्द है। जिस गहन और कठिन न्याय की शैलीसे तुम अपने तत्त्वोंका मण्डन और दूसरोंका खंडन करते हो उसे सर्वसाधारण लोग जानते नहीं और सीधीसादी युक्तियोंसे जिन्हें सब कोई समझते हैं तुम समझा नहीं सकते, तब तुम्हारा न्यायशास्त्री या न्यायाचार्य होना किस कामका? माना कि तुमने संस्कृतके साथ कुछ अंगरेजी भी पढ़ली है अथवा अंगरेजीके साथ संस्कृतके जैनग्रंथ भी तुमने टटोल लिये हैं; परन्तु क्या धर्मप्रसार का काम इतना सहज है कि तुम दूसरे धर्मोंको अच्छी तरहसे जाने बिना उन पर विजय प्राप्त कर सको? यदि ऐसा होता तो महात्मा अकलङ्कदेव जैसे विद्वान बौद्धोंके विद्यालयमें जाकर पढ़नेका कष्ट क्यों उठाते? तुम्हें तो अपनी विद्याका इतना अभिमान है कि जिन धर्मोंका तुमने कभी नाम भी न सुना होगा उनका भी यदि काम पड़े तो तुम बातकी बातमें खंडन कर डालो। पर याद रक्खो, इस प्रकारके खंडनसे धर्मप्रसारका काम नहीं होता और न इसका कोई अच्छा फल ही निकलता है। चौथे, जिस चरित्रबलसे या जिस आदर्शजीवनसे यह पवित्र कार्य सम्पादित होसकता है उनका इन पंडितों व बाबुओंमें प्रायः अभाव ही देखा जाता है। इतिहास इस विषय का साक्षी है कि आज तक जितने धर्मप्रवर्तक हुए हैं उन्होंने पाण्डित्यकी अपेक्षा अपने चरित्रबलसे ही जैनसमाज पर अधिक विजय प्राप्त की है। मनुष्य का चरित्र उसके वचनों या उपदेशों से बहुत अधिक शक्ति रखता है। इस तरह इन चार बातों पर तथा इसी तरह की और भी कई बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि ऊपर बतलाये हुए तीनों मार्गों से ऐसे विद्वान् बनने की आशा नहीं जो कि जैनधर्म को राष्ट्र धर्म बनाने में सफलता प्राप्त कर सकें।

तब इस कार्यके लिए कैसे विद्वान् होने चाहिएँ? सबसे पहली और जरूरी बात यह है कि जो धर्म-प्रचारका काम करना चाहें वे जैनधर्मके अच्छे जानकार हों—जैनधर्मके केवल बाहरी शरीरका ही नहीं, किन्तु उसके मर्मस्थानका—उसके हृदयका—भी उन्हें वास्तविक ज्ञान हो। जैनधर्मके चारों अनुयोगों का उनकी कथनशैलीका, उनके वास्तविक उद्देश्यका, उनके पारस्परिक सम्बन्धका, और उनके तारतम्यका उन्होंने किसी अनुभवी विद्वान्के द्वारा अच्छी तरहसे रहस्य समझा हो—केवल पुस्तकें पाठ करके या टीकाओंके भरोसे पंडिताई प्राप्त न की हो। दूसरी बात यह है कि वे जैनधर्मके सारे संप्रदायोंमें जिन जिन बातोंका भेद है उनका स्वरूप और उनका कारण अच्छी तरहसे समझे हुए हों और अपनी स्वाधीन बुद्धिसे यह समझनेकी शक्ति रखते हों कि देश, काल और परिस्थितियों का प्रभाव इन भेदों पर कहाँ तक पड़ा है। तीसरी बात यह है कि अपने धर्मके समान संसारके मुख्य मुख्य विशाल धर्मोंका उन्हें अच्छी तरह से ज्ञान हो और वह निष्पक्ष और उदार बुद्धिसे सम्पादन किया गया हो। चौथी बात यह है कि वे प्रत्येक धर्म के उत्थान, विकाश, ह्रास और पतनका इतिहास जानते हों तथा यह भी समझते हों कि देश कालकी परिस्थितियोंका प्रत्येक धर्मपर कितना और कहाँ तक प्रभाव पड़ सकता है। पाँचवें, आधुनिक विज्ञान-

की प्रत्येक शाखाका अर्थात् पदार्थविज्ञानशास्त्र, रसायनशास्त्र, विद्युच्छास्त्र, भूगर्भशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, जन्तुशास्त्र, शारीरिकशास्त्र, मनोविज्ञानशास्त्र, भूगोल, खगोल आदि शास्त्रोंका उन्हें अच्छा ज्ञान हो और वह इतना स्पष्ट हो जिससे वे अपने धर्मके तत्त्वोंको उक्त शास्त्रोंसे अबाधित सिद्ध कर सकें। इन शास्त्रोंमें पारदर्शिता प्राप्त किये बिना केवल इस तरह कह देनेसे— कि उनमें प्रतिपादन किया हुआ स्वरूप झूठा है क्योंकि उनके रचियता असर्वज्ञ या छद्मस्थ थे और हमारे ग्रंथों में लिखा हुआ ही सत्य है क्योंकि उनके उपदेशक सर्वज्ञ थे—अब काम नहीं चल सक्ता। आज कलका विज्ञान बड़ी निर्दयता से सारे धर्मों की जड़ों को हिला रहा है, इस लिये हमें सावधान होना चाहिये और इस के पहले कि हमारी सन्तानों पर उसका बुरा असर पड़ने लगे हम उसी के द्वारा अपनी रक्षाका सामर्थ्य प्राप्त कर लें। इस समय वही धर्म संसारमें टिक सकेगा जो विज्ञान की विकट मारसे अपनेको बचा सकेगा और लोगोंको बतला सकेगा कि विज्ञान हमारे धर्म के अगाध ज्ञान समुद्रका एक बिन्दुमात्र है। छठे, उन स्वदेश और विदेश की दो चार मुख्य मुख्य भाषाओं का ज्ञान हो और वह इतना अच्छा हो कि उसके द्वारा वे अपने विचारों को लिख कर और बोल कर दूसरों को अच्छी तरह से समझा सकें—अर्थात उनमें लेखन और व्याख्यानशक्ति बहुत अच्छी हो। सातवें, उनका आचरण पवित्र, हृदय निष्कपट और विशाल, विचार दृढ़ और परिश्रम अश्रान्त तथा अनवरत हो। जीवमात्र के कल्यान की वाञ्छा, मानवजाति को सच्चा सुखी बनाने की उत्कट इच्छा, परोपकार और स्वार्थत्याग की वासना, सत्य प्रियता और स्वाधीनता उनकी नस नसमें भरी हो, देश काल की स्थितियों से उत्पन्न हुए नियमों और रूढियोंको जो तुच्छ समझते हों और इनकी संकलोंसे बंधे हुए लोगोंका जिन्हें ज़रा भी भय न हो। इस प्रकारके आदर्श जीवनको बिना सब गुण होते हुए भी कोई धर्मप्रचारका कार्य नहीं कर सकता।

मेरी समझमें इन ऊपर लिखे गुणोंसे युक्त विद्वान् ही इस समय जैनधर्मके प्रसारका कार्य सफलतापूर्वक कर सकते हैं और जब तक जैन समाज ऐसे विद्वान् उत्पन्न न कर सकेगा तब तक उसके धर्मका प्रसार दूसरे लोगों और दूसरे देशोंमें कदापि नहीं हो सकेगा। स्वामी विवेकानन्द और परमहंस स्वामी रामतीर्थ एम. ए. ने उक्त गुणोंके कारण ही अमेरिका और यूरोप जैसे ज्ञान विज्ञानसम्पन्न देशोंमें वेदान्त धर्मकी विजय पताका फहराई थी। जिन लोगोंने उक्त महात्माओंका जीवन चरित्र पढ़ा है और उनके प्रतिभाशाली व्याख्यानों और लेखोंका पाठ किया है वे जान सकते हैं कि उनकी विद्वत्ता, स्वाधीनचित्तता और सच्चरित्रता किस श्रेणीकी थी। उन्होंने जो कुछ कहा है वह सब यद्यपि पुराना है परन्तु वर्तमान समयके सांचेमें ढालकर उन्होंने उसे इतना सुन्दर और उपयोगी रूप दे दिया है कि लाखों अमेरिकन पुरुष और स्त्रियां उस पर न्योछावर होगई हैं। स्वामी रामतीर्थजी जब अमेरिकामें व्याख्यान देते थे तब उसे सुनकर लोग यह नहीं समझ सकते थे कि वे किस धर्मका प्रतिपादन कर रहे हैं क्योंकि सारे देशों के तत्त्ववेत्ताओं और धर्माचार्योंके बचनोंको लेकर ही वे अपना व्याख्यान बनाते थे; परन्तु जब उसकी समाप्ति हो जाती थी, तब कहीं लोग समझते थे कि यह वेदान्तप्रतिपादक व्याख्यान था। अपने और दूसरे धर्मोंका अच्छा ज्ञान प्राप्त किये बिना ऐसी शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अपनी स्वाधीन और समयानुकूल बुद्धिसे उक्त महात्माओंने हिन्दू धर्ममें जो कुछ संस्कार और संशोधन किया है वह बहुत अंशोंमें सनातनधर्मियों और आर्यसमाजियोंके विचारोंसे भी नहीं मिलता—कहीं कहीं बिलकुल विरुद्ध भी है; परन्तु उनकी पवित्रता आत्मनिष्ठा और देशभक्ति इतनी प्रबल थी कि आज सारे हिन्दू उन्हें वर्तमान युगके धर्माचार्य मानकर स्मरण करते हैं। जो नई शिक्षा-दीक्षा पाये हुए लोग धर्मसे विमुख होते जाते थे उनपर तो इन महात्माओंका इतना प्रभाव पड़ा है कि वे पक्के हिन्दू बन गये हैं। जैनधर्मकी रक्षा और विस्तारके लिए भी ऐसे ही विद्वानोंकी जरूरत है।

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकारके विद्वान कैसे तैयार होसकते हैं? हमारी पुरानी पद्धतिकी पाठशालाएँ

तो ऐसे विद्वानोंको उत्पन्न कर सकनेमें एक तरहसे असमर्थ हैं। क्योंकि उनमें जो शिक्षा मिलती है, वह एकदेशीय होती है और एकदेशीय ज्ञानसे इस समय काम नहीं चल सकता। इस समय हमें अपना भी जानना चाहिए, और अपना अच्छा है यह बतलानेके लिए दूसरोंका भी जानना चाहिए। और अपना ज्ञान भी तो इनके द्वारा अच्छी तरहसे नहीं हो सकता। क्योंकि किसी एक विषयको अच्छी तरहसे समझनेके लिए उस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे विषयोंका भी तो सामान्य ज्ञान होना चाहिए। केवल न्याय, व्याकरण, और साहित्य पढ़ लेनेसे ही क्या हम धर्मशास्त्रोंके मर्मज्ञ हो जायँगे? यहाँ तो प्रायः मामूली, गणित, इतिहास, भूगोल, पदार्थविज्ञानादि विषयोंकी भी शिक्षा नहीं दी जाती जिनके बिना उनका धर्मशास्त्र का ज्ञानही अधूरा, धुंधला और निरुपयोगी रहता है। दूसरी ओर सरकारी स्कूलों और कालेजोंको देखिए तो उनसे भी हम सुयोग्य विद्वानोंकी आशा नहीं कर सकते। क्योंकि एक तो उनमें जो शिक्षा दी जाती है वह एक बिलकुल अपरिचित और विदेशी भाषामें दीजाती है जिसमें विद्यार्थियोंके शरीर और समयका नाश तो होता ही है, साथ ही उनका ज्ञान अपरिपक्व और धुंधला रहता है। दूसरे, विदेशी जड़वाद और नास्तिकताका प्रभाव उस शिक्षामें इतना अधिक पड़ा हुआ है कि उससे विद्यार्थियोंमें धर्मभावके बने रहने की आशा बहुत कम रहती है। ऐसी अवस्थामें सुयोग्य विद्वान् उत्पन्न करनेके लिए—जैसा प्रोफेसर लट्ठेने अपने लेखमें कहा है—हमें चाहिये कि अपने निजके एक दो कालेज या महाविद्यालय स्थापति करें जिनमें हम अपने विद्यार्थियोंको प्राचीन तत्त्वशास्त्रोंकी शिक्षा सर्वोत्तम आधुनिक पद्धतिसे देसकें और साथ ही उन्हें पदार्थविज्ञान आदि सब प्रकारके आधुनिक शास्त्रोंमें भी पारंगत कर सकें। बिना इस प्रकारके प्रयत्नके जैनधर्मका प्रसार ही नहीं किन्तु उसकी रक्षा करना भी असंभव है।

मैं यह नहीं कहता कि हमारी पाठशालाओंसे या सरकारी स्कूलों व कालेजोंसे कुछ लाभ ही नहीं है अथवा इन संस्थाओंसे विद्वान् निकलेंगे ही नहीं—नहीं, इनसे हमें लाभ जरूर होरहा है, परन्तु धर्मप्रसारके कार्यके लिये जैसे विद्वान् चाहिएँ उनके उत्पन्न होनेकी इनसे बहुत ही कम आशा है।

नोट—

यह लेख मैंने अबसे लग भग १६ वर्ष पहले जैनहितैषी (भाग ९ अंक ६-७) में प्रकाशित किया था। इतने समयके बाद भी मैं देखता हूँ कि इसकी उपयोगिता नष्ट नहीं हुई है—यह असामयिक नहीं हुआ है और इस लिए इसको पुनः प्रकाशित किया जाता है। इससे यह भी अनुभव होता है कि जैनसमाजकी प्रगति कितनी मन्द है और जैनधर्मको सार्वभौम बनानेकी ओरसे वह कितना उदासीन है।

अभी तक न तो वह गुरुकुल काँगड़ी या विश्वविद्यालय काशीके समान कोई ऐसी आदर्श संस्था स्थापित कर सका है जिसमें जैनविद्यार्थियोंको विशाल ज्ञान सम्पादन करनेके तमाम उपलब्ध साधन एकत्र किये गये हों और न ऐसे विद्वान् ही उत्पन्न कर सका है जो जैनधर्मके तलस्पर्शी मर्मज्ञ होनेके साथ साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञानके पारगामी पण्डित हों, जिन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनशास्त्रोंका गहरा अध्ययन किया हो और जो आधुनिक संसारके सम्मुख रखने योग्य जैनधर्मकी अनन्य साधारण विशेषताओंको हृदयंगम किये हुए हों। अवश्य ही जैनविद्यालय और पाठशालाओं की संख्या काफी बढ़ गई है; परन्तु उनकी वही रफ्तार बेढंगी जो पहले थी सो अब भी है। उनसे जैनधर्मके प्रसार और प्रचार की आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि उनमें जो कुछ और जिस ढँगकी शिक्षा दी जाती है उससे कट्टर असहिष्णु और जैनधर्मको अत्यन्त संकीर्ण रूपमें देखने वाले ही उत्पन्न होते हैं।

मुझे आशा है कि जैनधर्म और जैनसमाज की उन्नति चाहनेवाले अबकी बार जरूर इस लेख पर खास तौरसे ध्यान देंगे और जैनधर्मको विश्वव्यापी बनाने की सद्भावनाको शीघ्र ही कार्यरूपमें परिणत करनेकी ओर अग्रसर होंगे।

विनीत—

नाथूराम प्रेमी

चिन्होंका क्या अर्थ है सो सामुद्रिक शास्त्रसे तो कुछ उत्तर दिया नहीं जा सकता, बल्कि यह भ्रम और पैदा हो जाता है कि ये चिन्ह तो मनुष्य शरीर पर होते ही नहीं; क्योंकि यदि होते तो सामुद्रिक शास्त्रोंमें इनका कुछ फलित भी अवश्य दिया गया होता। प्रत्युत इसके, भैंसा, सूअर, सर्प, सिंह और सेही ये पशु स्वभावसे ही अशुभ समझे जाते हैं। इनके चिन्होंका तीर्थंकर जैसे शुभ तथा उत्तम व्यक्तियोंके पवित्र शरीर पर होना कदापि संभव नहीं है।

इस लिये सामुद्रिक शास्त्रोंके बहानेसे इस प्रश्नको टालना इस समय हमारे लिये उचित विधान नहीं है। इन चिन्होंके रहस्य का अवश्य ही उद्घाटन होना चाहिये।

आशा है हमारा विद्वन्मण्डल इस ओर अवश्य ध्यान देगा और इस पत्रके आगामी अङ्कमें उन घटनाओंकी सप्रमाण व्याख्याकी जायगी जिनके द्योतक पूर्वाचार्योंने यह चिन्ह नियत किये हैं।

सम्पादकीय नोट—

इस लेखमें जिस विषयको उठाया गया है वह निःसन्देह विचारणीय है और इस बातकी अपेक्षा रखता है कि विद्वानों द्वारा उस पर अच्छा प्रकाश डाला जाय, जिससे इन चिन्होंका रहस्य खुल जाय। लेखक महाशयकी इच्छा है कि मैं भी इस पर कुछ प्रकाश डालूँ। परन्तु मैं अभी तक उसके लिये पूरी तौरसे तय्यार नहीं हूँ। फिर भी, इतना जरूर कहूँगा कि लेखमें जो यह बात कही गई है कि, 'शेष १४ तीर्थंकरोंके चिन्होंका सामुद्रिक शास्त्रानुसार कुछ भी उत्तर नहीं दिया जा सकता, वे मनुष्य शरीर पर होते ही नहीं, होते तो सामुद्रिक शास्त्रोंमें उनका कुछ फलित जरूर दिया गया होता,' वह कुछ ठीक मालूम नहीं होती—एक प्रकारसे निर्मूल जान पड़ती है—और यह सूचित करती है कि थोड़े ही ग्रंथों परसे और उन्हींके कथनको प्रकृत विषयका पूरा कथन समझ कर उसकी कल्पना करली गई है। अन्यथा, सामुद्रिक विषयके ऐसे भी ग्रंथ मौजूद हैं जिनमें 'वृषभ' आदि दूसरे भी कितने ही चिन्होंका मनुष्य शरीर पर होना बतलाया है और उनका फलितार्थ भी दिया है। उदाहरणके लिये दो एक नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

रथयानकुंजरवाजिवृषाद्याः स्फुटाः करे येषाम्।
परसैन्यजयनशीलास्ते सैन्याधिपतयःपुरुषाः। १७१

यह बम्बईके 'श्रीवेंकटेश्वर' प्रेसमें मुद्रित एक बड़े 'सामुद्रिकशास्त्र' का वाक्य है और इसमें वृषभ (बैल) चिन्हका फलित भी परसेनाको जीतने वाला सेनापति होना बतलाया है। साथ ही, 'आदि' शब्दके प्रयोगद्वारा यह भी सूचित किया है कि रथ, यान, हाथी, घोड़ा और बैलके अतिरिक्त और भी चिन्ह इसी फल के सूचक मनुष्य शरीरमें होते हैं।

ता गोधासैरिभजम्बुकमूषककाककंकसमाः।
रेखाः स्युर्यस्य तले तस्य न दूरेऽतिदारिद्र्यम्॥३४
श्वसृगालमहिषमूषककाकोलूकाहिकोककरभाद्याः
चरणतले जायन्ते यस्याः सा दुःखमाप्नोति॥

ये भी उक्त ग्रंथके वाक्य हैं। इन दोनोंमें भैंसे (सरिभ-महिष) का और दूसरेमें सर्प तथा कोक (भेड़िये)का चिन्ह भी मनुष्य शरीरमें होना बतलाया है और उनका फल भी दिया है। साथ ही, गोधा, श्वान, शृगाल, मूषक, काक, उल्लू, और ऊँट वगैरहके चिन्होंका भी मनुष्य शरीरमें होनेका विधान किया है।

वृक्षोवा यदि वा शक्तिः करमध्ये तु दृश्यते।
अमात्यस्तु स विज्ञेयो राजश्रेष्ठी च जायते॥

यह एक छोटेसे हस्त लिखित 'सामुद्रिकशास्त्र' का वाक्य है जो हालमें जैनसिद्धान्तभवन आरासे मेरे पास जाँचके लिये आया है। इसमें 'वृक्ष' के चिन्ह का उल्लेख है और उसका फल मंत्री अथवा राजश्रेष्ठी होना बतलाया है। और स्त्रीके शरीरमें इसी चिन्हके होनेका फल एक दूसरे श्लोकमें—'पादपो वाभवेत्यत्र राजपत्नी भविष्यति' द्वारा—राजपत्नी होना लिखा है।

इसी तरह खोज करने पर दूसरे चिन्होंके भी विधिवाक्य मिल सकते हैं और यदि न भी मिलें तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे चिन्ह मनुष्यशरीर पर हो ही नहीं सकते । जब ऐसे ऐसे जानवरोंके चिन्ह हो सकते हैं तब उनके हो सकनेमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती । हो सकने के लिये तो सब प्रकारके चिन्ह हो सकते हैं और ऐसे भी चिन्ह हो सकते हैं जिनका खुद समुद्रको भी पता न रहा हो । खास समुद्र का ग्रंथ तो इस समय कोई उपलब्ध भी नहीं है, वह तो यदि कभी बना अथवा लिपि बद्ध हुआ है तो उसको नष्ट हुए भी युग बीत गये हैं । इस वक्त जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे बहुत पीछेसे अनेक व्यक्तियोंके द्वारा एक दूसरेकी देखा देखी कुछ इधर उधरसे लेकर और कुछ अपनी बुद्धिसे उसमें मिला कर समुद्रके नाम पर छोटे बड़े संग्रह ग्रंथ अथवा प्रकरण बने हुए हैं और इसीसे उनमें कितनी ही बातें परस्पर भिन्न और विरुद्ध भी पाई जाती हैं । उनका कितना ही फलित प्रत्यक्षादिके विरुद्ध जान पड़ता है । उनके फलित पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता और न यही कहा जा सकता है कि जो फल किसी चिन्ह का उनमें दिया है उससे भिन्न वह कभी अथवा कहीं होता ही नहीं । अतः चिन्हों और चिन्होंके फल विषयमें सर्वथा इन सामुद्रिक शास्त्रों पर कोई आधार नहीं रक्खा जा सकता ।

दूसरी बात जो सिंहादिक कुछ चिन्होंके अशुभ होनेकी बाबत कही गई है और उसमें इस पर जोर दिया गया है कि उन 'चिन्होंका तीर्थंकरोंके शरीर पर होना कदापि संभव नहीं,' वह भी कुछ ठीक प्रतीत नहीं होती । शुभ और अशुभके निर्णयका प्रश्न बड़ा ही विकट है और उस पर सहसा इस तरहसे कोई फ़ैसला नहीं दिया जा सकता । किसी जन्तुकी सहज क्रूरता या अपवित्रता ही उसे अशुभ नहीं बना देती । यदि ऐसा होता तब तो मकरके चिन्हको भी अशुभ समझा जाता—वह तो मनुष्योंको मारने वाला एक क्रूर जंतु है—परंतु उसका फल तो अच्छा बतलाया गया है और कामदेव भी उसे अपनी ध्वजामें धारण करता है। सिंह सहज क्रूरताके कारण यदि सर्वथा अशुभ होता तो उसका चिन्ह आसनोंमें अंकित न किया जाता। परंतु आसन तो उसके नामके साथ 'सिंहासन' कहलाते हैं और कितने ही नामोंके साथ 'सिंह' शब्द जुड़ जाने से उनकी महिमा बढ़ जाती है—जैसे किसी पुरुषको 'पुरुषसिंह' कहना उसके महत्वका द्योतक है । फिर सिंहको स्वभावसे ही अशुभ और उसके चिन्हको अशुभताका सूचक कैसे समझा जाय ? और कैसे कहा जाय कि महावीर के शरीर पर उसके चिन्हका होना कदापि संभव नहीं ? इसी तरह नाग (सर्प) को भी सर्वथा अशुभ समझनेका कोई कारण नहीं—वे तो देवता भी माने जाते हैं, नागपंचमीको उनका खास तौरसे पूजन होता है, शेषनाग उनमें प्रधान हैं, विष्णु भगवान नागशय्या पर शयन करते हैं, महादेवजीके आभूषण सर्पके हैं, कुछ शासन देवताओंके यज्ञोपवीत भी सर्पके कहे गये हैं और भगवान पार्श्वनाथके उपसर्गको दूर करने वाले भी नागराज हैं, फिर सर्प स्वभावसे अशुभ कैसे ? और उससे चिन्हके प्रति तिरस्कार दृष्टि क्यों ? सर्पके तो बहुतसे चिन्ह शरीर में होते हैं और योगशास्त्रमें कुंडलिनी शक्तिको भी नागनी जैसी बतलाया है जो सुषुम्ना नाडीके मुखको अवरोध किये रहती है। इसके सिवाय, वसुनन्दी आदि कृत प्रतिष्ठापाठोंसे यह भी मालूम होता है कि कितने ही देवताओंके वाहन सिंह, महिष, वाराह, कच्छप, कपि, सर्प, आदिकके हैं और वे उन वाहनों सहित ही मांगलिक कार्योंमें बुलाए तथा पूजे जाते हैं । अतः यह सुनिश्चित होता है कि इन प्राणियोंकी क्रूरता या अपवित्रता लोकमें उनके सर्वथा अशुभ होने या समझे जानेकी कोई कसौटी नहीं है ।

अब एक तीसरी बात और रह जाती है, और वह यह है कि तीर्थंकर चिन्होंके जो नाम लेखक-महाशयने दिये हैं उनकी बाबत यद्यपि यह नहीं लिखा कि वे कहाँसे लिये गये—मूर्तियों परसे नोट किये गये हैं अथवा किसी ग्रंथ परसे उतारे गये हैं—जिससे कमसे कम यह जाना जाता कि सुमतितीर्थंकरके 'चातक' और 'हंस' ये दो भिन्न चिन्ह अनन्तनाथका 'सेही' और धर्म-नाथका 'गदा' चिन्ह किसने प्रतिपादन किया है। फिर भी

इस सम्बंधमें मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि तीर्थंकरोंके सब चिन्ह वे ही नहीं हैं जो इस लेखमें दिये हैं किन्तु कोई कोई उनसे भिन्न भी पाए जाते हैं—जिसके कारण को खोजनेकी ज़रूरत है—जैसा कि निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

गोर्गजोऽश्वः कपिः कोकः सरोजं स्वस्तिकं शशी।
कटुकस्य (कास्यो?) द्रुमो गण्डो महिषो वनशूकरः॥
ऋत्तो वज्रो मृगश्छागो मेषः कलशकच्छपौ।
उत्पलं शंखनागेन्द्रौ केसरी जिनलांछनम्॥

ये वाक्य 'सिद्धान्तरसायनकल्प' नामके एक ग्रंथमें दिये हुए हैं जो कि बम्बई ऐलक पन्नालालजी के सरस्वती भवनमें मौजूद है। इसमें सुमति का चिन्ह कोक, अनन्त का रीछ और अरनाथ का मेष (मेंढा) दिया है। और कोकका अर्थ भेड़िया, चकवा तथा मेंडक होता है। मालूम नहीं यहां इनमेंसे किसका ग्रहण है। परंतु यह स्पष्ट है कि इन तीनों तीर्थंकरोंके चिन्ह उक्त लेखके कथनसे भिन्न पाये जाते हैं। वसुनन्दी आचार्यनेभी अपने प्रतिष्ठापाठमें सुमतिनाथ-का चिन्ह 'कोक' दिया है—चातक या हंस नहीं। यथा:—

गोर्गजोऽश्वःकपिः कोकःसरोजं स्वस्तिकं शशी।
मकरः श्रीयुतो वृत्तो गण्डो महिषशूकरौ॥
शेधो वज्रं मृगश्छागः पाठीनः कलशस्तथा।
कच्छपश्चोत्पलं शंखो नागराजश्च केसरी॥

इसमें अनन्त का चिन्ह 'शेध' बतलाया है परन्तु शेधका कुछ अर्थ ठीक नहीं बैठता। हो सकता है कि, यह रीछका वाचक 'ऋत्तो' पाठही हो अथवा भालेका वाचक 'शल्यो' पाठ हो, क्योंकि 'पूजासार समुच्चय' नामक ग्रंथमें २४ तीर्थंकरोंकी ध्वजाओंके चिन्होंका वर्णन करते हुए इस स्थानपर 'शल्य' चिन्हका ही उल्लेख किया है। यथा:—

गोर्गजोऽश्वः कपिः कोकः सरोजं स्वस्तिकं शशी।
मकरः श्रीयुतो वृत्तो गण्डो महिषशूकरौ॥
शल्यवज्रमृगाश्छागः मत्स्यः कुंभोऽथकच्छपः।
उत्पलं शंखसर्पौ स्युः सिंहस्तीर्थकृतां ध्वजाः॥

यहाँ तीर्थंकरोंकी ध्वजाओंके चिन्हभी वही होनेसे जोकि उनकी प्रतिमाओंके आसनों पर दिये होते हैं प्रकृत विषय पर प्रकाशकी एक अच्छी रेखा पड़ती है। तीर्थंकर चूंकि राजा थे तब उनकी ध्वजाओंके खास खास चिन्ह होने ही चाहियें। बहुत संभव है कि उनकी ध्वजाओंके वे चिन्हही मूर्तियोंके निर्माणके समय पहचानके लिये उनके आसनोंपर उस वक्तसे दिये जाने लगे हों जबसे कि अलग अलग तीर्थंकरकी मूर्ति बनानेकी भेदकल्पना प्रबल हो उठी हो; और उससे पहले की या बिना चिन्हकी जो मूर्तियाँ हों वे खालिस अर्हतकी मूर्तियाँ हों—किसी तीर्थंकर विशेषकी नहीं। जहाँतक मैं समझता हूं इस संभावना और कल्पनामें बहुत कुछ प्राण जान पड़ता है। बाकी परिडतोंके जिस उत्तरकी बातका उल्लेख लेखक महाशयने किया है उसमें तो कुछ भी प्राण मालूम नहीं होता—न तो उसमें प्राकृतिकताका दर्शन है और न प्राचीन साहित्य परसे ही उसका कहीं कुछ समर्थन होता है। अतः जबतक किसी विशेष रहस्यका उद्घाटन न हो तब तक मेरी रायमें, यह मानना ज्यादा अच्छा होगा कि ये चिन्ह तीर्थंकरोंकी ध्वजा-ओंके चिन्ह हैं। और शायद इसीसे मूर्तिके किसी अंग पर न दिये जाकर आसन पर दिये जाते हैं।

'अनेकान्त' पर लोकमत

'अनेकान्त' पत्र यद्यपि अभी बहुत ही शैशवावस्था में है—अनेक त्रुटियोंसे पूर्ण है—फिर भी उसकी पहली किरणको पाकर जिन जैन-अजैन विद्वानों, प्रतिष्ठित पुरुषों, तथा अन्य सज्जनोंने उसका हृदय से स्वागत किया है और उसके विषयमें अपनी शुभ सम्मतियाँ तथा ऊँची भावनाएँ आश्रमको भेजनेकी कृपा करके संचालकोंके उत्साहको बढ़ाया है उनमेंसे कुछ सज्जनोंके विचार तथा हृदयोद्गार पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे प्रकट किये जाते हैं:—

(१) रा.ब. बाबू हीरालालजी. बी.ए. कटनी—

'अनेकांत' गहरी छाप जमानेवाला पत्र जान पड़ताहै। जैनधर्मावलम्बियोंके लिये तो वह अत्यन्त उपयोगी है। प्रथम किरणके लेख बड़ी खोज और विद्वत्ताके साथ लिखे गये हैं और गहन विषय भी संक्षिप्त रूपमें ऐसी युक्तिसे समझाये गये हैं कि मनमें वाञ्छनीय प्रभाव पड़ता है। पत्र होनहार है। उसकी सज धज सुन्दर, चित्र भव्य व पत्र चीकने हैं, सो ठीक ही है:— "होनहार शुभ पत्रके होत चीकने पात।"

(२) साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथजी रेऊ—

"इस अंककी सजावट और सामग्रीको देख कर पत्रका भाविष्य उज्वल प्रतीत होता है। इसके सब ही लेख उपयोगी और सुन्दर हैं। पहला सम्पादकीय लेख 'भगवान महावीर और उनका समय' खोजपूर्ण है। इसमें का 'जिनदीक्षा' चित्र भी सुरुचिका द्योतक है। आशा हैयह पत्र सुयोग्य सम्पादक के तत्वावधानमें उत्तरोत्तर वृद्धि करता रहेगा।"

३ मि० चिन्ताहरण चक्रवर्ति, एम.ए. कलकत्ता—

I have very great pleasure in going through the first issue of the Anekant,—the organ of the Samantbhadrashram The Scheme laid down by the editor is a very commendable one. I should expect that it will not be long defore it is fully carried into effect. Most of the journals of the Jains at present deal with social controversy and there is an urgent need for the appearance of a journal dealing with historical and philosophical problems connected with Jainism. I hope and beleive that the Anekant in no time will go to supply this need.

अर्थात्—मुझे समन्तभद्राश्रमके पत्र 'अनेकान्त' के प्रथम अंकको पढ़ कर बहुत बड़ी प्रसन्नता हुई। सम्पादकने जो स्कीम प्रस्तुत की है वह अत्यंत प्रशंसनीय है। मैं आशा करता हूँ कि यह बिना किसी विलम्बके पूरे तौरसे कार्यमें परिणत की जायगी। जैनियोंके बहुतसे पत्र आज कल सामाजिक वादविवादको लिये हुए हैं और इस

बातकी सख्त जरूरत है कि जैनधर्मसम्बन्धी ऐतिहासिक और दार्शनिक प्रश्नोंको हल करनेके लिये एक पत्र प्रकट हो। मुझे आशा तथा विश्वास है कि 'अनेकान्त' इस जरूरतको शीघ्र पूरा करेगा"।

४ महर्षि शिवव्रतलालजी वर्मन एम० ए०—

"अनेकान्त" नामी रिसालेके पहले नम्बरमें महावीरचरित्रका मुख्तसिर खाका बहुत अच्छा खींचा गया है। ला० जुगलकिशोर साहब मुख्तार बहुत क़ाबिल और वाक़िफ़कार आदमी मालूम होते हैं। यह जैनधर्मका सबसे ज्यादा फ़हमी रिसाला नज़र आ रहा है। उनको मुबारिकबाद! महावीर स्वामी की तसवीर निहायत खूबसूरत दी गई है।...... मैं इसे फ्रेम लगा कर लायब्रेरीमें ताज़ीम और शौक़के साथ रखूंगा। तस्वीर फ़र्ज़ी है लेकिन फिर भी बहुत अच्छी है। बच्चेकी तरह मासूमियत टपक रही है"।

५ श्रीकेदारनाथ मिश्र 'प्रभात' बी.ए. विद्यालंकार

"पत्रिका बड़ी सुन्दर है। मैं आपके प्रयासकी प्रशंसा करता हूँ। ईश्वर आपको सफलता दे यही कामना है"।

६ श्री० आर. वेंकटाचल आइयर, थिरुक्कमंगल—

'अनेकान्त' मिला। उसके अवलोकनसे मेरी जिज्ञासा पूर्वाधिक प्रबल होती जारही है।...... आपका लेख 'भगवान महावीर और उनका समय' मैंने पढ़ा, उसके अन्तर्गत 'महावीर-सन्देश' कविताका मैंने मनन किया। उसने मेरे मनमें गम्भीरतम भावोंको जागृत किया है।"

७ पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई—

"पण्डित सुखलालजीका लेख इस अंकमें सर्वोपरि है। मुझे स्मरण नहीं कि किसी भी जैनविद्वान् ने इस विषयको इतने पाण्डित्यसे लिखा है......। मेरी समझमें आप पत्रको सचित्र बनानेके लालचमें न पड़ें। इसमें खर्च बहुत होता है और लाभ कम। ......समग्र अंक भारी गम्भीर लेखोंसे भरा है। ......नीच और अछूत नामक कविता बहुत सुन्दर है। अंककी छपाई अच्छी हुई है, संशोधन भी उत्तम हुआ है। मिलाई बहुत ही रही है।"

"आपका वीर निर्वाण संवत वाला (महावीर का समय) लेख पीछे पढ़ा वह बहुत ही महत्वका है। और उससे अनेक उलझनें सुलझ गई हैं।"

८ बा० ज्योतिप्रसादजी स० जैनप्रदीप, देवबन्द—

"लेख बहुत ही रुचिकर और लाभदायक है। श्री वीर भगवानके विषयमें जो आपका लेख है वह अत्युत्तम है, बड़ी खोजके साथ लिखा गया है। मेरी हार्दिक भावना है कि 'अनेकान्त' अपनी तेजस्वी किरणोंसे स्याद्वादका प्रकाश संसारमें फैलावे, जिससे मनुष्योंके हृदयसे मिथ्यात रूपी अंधेरा दूर हो जाय।"

९ बा० जमनाप्रसादजी एम. ए., एम. आर. ए. एस., एलएल.बी., सबजज नरसिंहपुर—

"आपके 'अनेकान्त' पत्रको देखकर हृदय गद्गद हुआ व प्राचीन जैनसाहित्यसंशोधक व बादके जैनहितैषीका स्मरण हो आया। आपका प्रयत्न स्तुत्य है। वास्तवमें समन्तभद्राश्रम सरीखी पवित्र संस्थाकी उद्देश्यपूर्तिके लिए 'अनेकान्त' अमोघबाणकी ही आवश्यकता थी।

१० बा० भगवानदासजी एम. ए., चुनार—

"अनेकान्तका १ अंक मिला। श्रीसुखलालजीका 'अनेकान्तवादकी मर्यादा' और आपके 'भगवान महावीर और उनका समय' के लेख पढ़ कर मैं

बहुत प्रसन्न हुआ। इस नई बुद्धिसे पुराने विषयों का प्रतिपादन किया जाय तो उनमें पुनः प्राण संचार हो और वे सचमुच इह-अमुत्र—उपयोगी हों जहाँ अब प्रायः उभय बाधक हो रहे हैं। आशा है कि आपके अगले अंक सब इसी ऊँची कोटिके निकलते रहेंगे।"

११–सेठ पद्मराजजी जैन रानी वाले महामन्त्री हिन्दू महासभा—

'अनेकान्त' की पहिली किरण बहुत ही रुचिकर हुई है। उसमें के दो एक लेख बहुत ही महत्व-पूर्ण और हृदयग्राही हैं। ...... अछूतों सम्बन्धी पहली एक कविता बहुत ही अच्छी हुई है। उसका रूपक बड़ा ही हृदयग्राही और बुद्धिमत्ताके साथ चित्रित किया गया है।"

१२ धर्मरत्न पं० दीपचन्दजी वर्णी—

'अनेकान्त' के दर्शन हुए, उसे मैंने मननपूर्वक कई बार पढ़ा, पढ़ कर आनन्द हुआ अनेकान्त पर जो लेख लिखे गए हैं वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। विवादग्रस्त झगड़ालू विषय नहीं लिए गये हैं और यही नीति इसकी रक्खी गई है इससे ही विदित होता है कि यह 'अनेकान्त' द्वितीया के चंद्रमावत उन्नत होता हुआ पूर्ण चंद्रमावत् अनेकान्तके सिद्धान्तका प्रकाश करके संसारसे मिथ्यैकान्तरूपी अन्धकारको हटानेमें सफल प्रयत्न होगा, हम अन्तरंगसे इसकी उन्नति चाहते हैं और यथाशक्ति इसके प्रचारका प्रयत्न भी करेंगे।"

१३ पं० के० भुजबलीजी शास्त्री, आरा—

"पत्र बहुत उत्तम एवं सराहनीय है। निःसन्देह जैन समाजमें यह एक सर्वाङ्ग सुन्दर उच्चकोटिका साहित्य तथा ऐतिहासिक पत्र सिद्ध होगा। इस सर्वांग पूर्ण बनानेमें आपका परिश्रम प्रशंसनीय है। मैं इसकी हृदयसे उन्नति चाहता हूँ।"

१४ पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री, बनारस—

जिसकी प्रथम किरण इतनी मधुर एवं न केवल दर्शनप्रिय किन्तु चित्तप्रिय भी है उसका भविष्य कितना निर्मल एवं आशाप्रिय होगा यह सोच कर हृदय गद्गद् होने लगा। प्रथम कवर उलटा और भगवान महावीरके निःक्रमण कल्याणक पर दृष्टि पड़ी। कितनी सुन्दर भव्य एवं वीतराग मूर्ति थी—यह लेखनी लिखनेको असमर्थ है। आँखोंमें आनन्दाश्रु उमड़े आ रहे थे। सचमुच आज तक महावीर भगवान्की इतनी दिव्य तेजोमय समचतुरस्रसंस्थानयुक्त चित्रपटके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। उस दिनसे सामायिक में वही वीतराग मूर्ति मेरे ध्यानकी अवलम्बन बन गई है। आपका तथा पं० सुखलालजीका लेख बहुत महत्व एवं गवेषणापूर्ण हैं।"

१५ पं० हीरालालजी, लाडनू—

"अनेकान्त पत्र बहुत ही अच्छा है। इसके संपादक श्रीमान् बा० जुगलकिशोरजीकी योग्यतासे मैं परिचित हू। वे एक जैनसमाजकी वीर आत्मा, साहित्यखोजी, परिश्रमी व मानवसमाजके सच्चे रत्न हैं।"

१६ श्री० अर्जुनलाल जी 'वीर' मैनेजर श्री० के० कु० ब्रह्मचर्याश्रम कुन्थलगिरि—

'अनेकान्त' पढ़ कर अत्यानन्द हुआ। इसमें सार-गर्भित एवं मधुर लेखों का समुच्चय है। भगवान महावीर-जिनदीक्षाका चित्र बहुत मोहक और अच्छा है। सभी लेख-कविताएँ उत्तम हैं। यह

सर्व जैन साहित्यबृद्धिका साधन है। इस अपूर्व कार्य के लिए हृदय से अभिनन्दन है।"

१७ बा० कृष्णलालजी वर्मा, बम्बई—

'जैनहितैषी' के घोर निद्राग्रस्त हो जाने के बाद विचारक समाजको एक ऐसे पत्रकी आवश्यकता थी। वह आवश्यकता आपने पूरी की इसके लिए आपको धन्यवाद है...लेखोंमें प० सुखलालजीका लेख सर्वोत्कृष्ट है और नवीन दिशा बतानेवाला है। 'भगवान महावीर और उनका समय' वाला लेख बहुत ही लम्बा और थका देनेवाला है। अगर तीन चार अंकोंमें प्रकाशित होता तो अच्छा था। दूसरे लेख भी बुरे नहीं हैं। ......कविताओंमें 'नीच और अछूत' गहरी सहानुभूति और भावावेगसे लिखी गई है......। मैं इस पत्रका स्वागत करता हूं। मुझे आशा है यह खूब फलेगा फूलेगा।

१८ श्री० भगवन्त गणपति गोयलीय, जबलपुर

"'अनेकान्त' मिला। ऐसे एक पत्रकी समाजको बड़ी आवश्यकता थी। समाजके मस्तिष्कको इस से पर्याप्त धार्मिक तथा साहित्यिक पुष्टि मिलेगी। आश्रम के संग संग आपकी यह पत्र-योजना भी अपने ढंगकी अनूठी है। मैं समन्तभद्राश्रम और 'अनेकान्त' की सफलता का एकान्त इच्छुक हूँ। 'अनेकान्त' के सभी गद्यलेख अच्छे हैं। ...... पद्य-साहित्य उसके प्रथमांकके योग्य नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि इन पत्रोंमें प्रकाशित होने के लिये कविताएँ स्वयं लज्जित और सशंकित हैं। 'अनेकान्त' जिज्ञासुओंका स्थायी साहित्य है अतः उसकी सिलाई अबकी बारकी सिलाईसे अच्छी होनी चाहिये, मुखपृष्ठ, कागज़ और छपाई सभी श्रेष्ठ हैं। आप अपने इन दोनों सुविधानोंके लिये समाज के धन्यवादभाजन हैं।"

१९ पं० लोकनाथजी शास्त्री, मूड़बिद्री—

'अनेकान्त' के बारेमें क्या लिखें, पत्र तो सर्वांग-सुन्दर है। सच्चे दिलसे विचार कीजिये तो आप का परिश्रम प्रशंसनीय है। इसका 'अनेकान्त' या 'विश्वतत्वप्रकाशक' अन्वयर्थ नाम है तथा महावीर स्वामीका दैगम्बरी दीक्षा चित्र भी अत्यन्त भक्ति-उत्पादक तथा मनोरंजक है। आपका ऐतिहासिक दृष्टिसे लिखित महावीरचरित्र···मननीय है। अन्त में इतना ही निवेदन है कि जिनोपदिष्ट अनेकान्त तत्वोंका प्रकाशन करतेहुए चिरकाल जीवित रहे।"

२० पं० कमलकुमारजी, गुना—

'अनेकान्त' का प्रथमांक बड़ा ही अच्छा है और छपाई सफाई भी मनमोहक है। पत्रके सर्वसुन्दर बनानेमें सम्पादक महोदयने कोई बात उठा नहीं रक्खी। ··········मेरी जीवनी में तो यह सर्वप्रथम मौक़ा है कि ऐसा सर्वाङ्ग सुन्दर अङ्क देखने में आया। पत्रका प्रत्येक पृष्ठ पठनीय एवं विचारणीय है। जगह २ पर सम्पादक द्वारा दिये गये नोट सम्पादक महोदयकी बुद्धिमत्ता एवं पत्र की गौरवता प्रकट करते हैं। पत्रमें अनेकांत सत्सूर्य एवं महावीर जिनदीक्षाका चित्र बड़ी ही सुन्दरता से चित्रित किये गये हैं। पत्र के पिछले पृष्ठ पर लुप्तप्राय जैनग्रन्थोंकी खोज नामकी तीसरी विज्ञप्ति भी सराहनीय है। इससे भविष्य में जैन समाज का भारी उद्धार होने की सम्भावना है।"

२१ पं० बसन्तलालजी चौधरी, इटावा—

'अनेकान्त' मिला, हाथमें लेते ही चित्त आनन्द-विह्वल हो गया। आकार, प्रकार, रूप, रंग, सौन्दर्य,

छपाई, सफाई, सभी में अपने ढंगका आला दर्जे रहा। टाइटिलके ब्लाककी कल्पना "अनेकान्त" के नामानुकूल अपूर्व ही रही। भगवान महावीर की दीक्षावाला चित्र भी बड़ा ही अपर्व रहा। ऐसा नयनाभिगम भावपूर्ण चित्र कि, जिसे नेत्रों के सामने से हटाने को तबियत नहीं चाहती। देखते देखते चित्तको वैराग्य और भक्ति के रसमें आप्लावित कर देता है। सम्पादन भी उसका खूब सोच समझ कर विलक्षण पाण्डित्यके साथ हुआ है। फ़िजूलकी और भर्त्ती की एक भी बात इधरसे उधर नहीं आने पाई। वीरसंवत्-सम्बन्धी लेख छोटा होने पर भी बड़े माकका है। यह लेख उन विद्वानों को जो इस विषय में काफ़ी तौर से सशंकित हैं स्थिर विचार करनेमें काफ़ी सहायता देगा। यथार्थमें यह पत्र आजके ज़मानेकी माँग को अनुभव करके ही निकाला गया है।"

२४ ला० कुन्थुदासजी जैन रईस, बाराबंकी—

"रूढ्यात्मक धर्माभिमानदग्ध, मृतप्राय जैनसमाज में जो अत्यंत उपयोगी कार्य (आपने) अपने कर-कमलों द्वारा संपादित करनेका सत्साहस किया है वह अति प्रशंसनीय है। आशा है और श्रीमज्जिनेन्द्रसे प्रार्थना है कि सुधारके कण्टकाकीर्ण विषम पथको उल्लंघन करता हुआ आपका यह यज्ञ संसारव्यापि प्राणियोंका तम विच्छेद कर अनेकांत ज्योतिका विकाश करे।

यद्यपि मैं आपसे पूर्वमें यह प्रार्थना कर चुका हूँ कि मैं एक लघु प्राणी हूँ तथापि मोह वश स्वार्थ साधनार्थ १००) की तुच्छ भेट आपकी संस्थाको देता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि इसके बदलेमें "अनेकान्त" का सदैव दर्शन होता रहै, जिससे हमको ही नहीं बल्कि हमारी भावी संततिको यथेष्ट लाभ होता रहेगा।"

२३ मुनि कल्याणविजयजी, गुड़ा बालोतरा—

"आश्रमके उद्देश्य और पत्रकी नीतिमें मैं सहमत हूँ। इन दोनोंकी सहायता करनेमें जहाँ तक होगा मैं उद्यत रहूंगा। मुख्तारजी! आपका आशय और लगन स्तुत्य है इसमें कोई शक नहीं है, पर साम्प्रदायिक रंगमें रंगा हुआ जैनसमाज आपके इस प्रयत्नकी कहाँ तक क़दर करेगा इसका ठीक पता नहीं है।......आपका महावीर समय विषयक लेख भी मैंने पढ़ा है आपकी विचारसरणी भी ठीक है।

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

—श्रीअमृतचन्द्रसूरिः ।

वर्ष १ | समन्तभद्राश्रम, क़रौल बाग, देहली। माघ, संवत १९८६ वि०, वीर-निर्वाण सं० २४५६ | किरण ३

सुखका सच्चा उपाय

[१]

जग के पदार्थ सारे, वर्तें इच्छानुकूल जो तेरी ।
तो तुझको सुख होवे, पर ऐसा हो नहीं सकता ॥

[२]

क्योंकि परिणमन उनका, शाश्वत उनके अधीन ही रहता।
जो निज-अधीन चाहे, वह व्याकुल व्यर्थ होता है ॥

[३]

इससे उपाय सुखका, सच्चा, स्वाधीन-वृत्ति है अपनी ।
राग-द्वेष-विहीना, क्षण में सब दुःख हरती जो ॥

—'युगवीर'

पुरानी बातों की खोज

(१)

प्रभाचन्द्र अकलंकके शिष्य नहीं थे और न समकालीन

'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचन्द्र' के कर्ता प्रभाचन्द्राचार्य की बाबत कहा जाता है कि वे 'तत्वार्थ-राजवार्तिक' तथा 'लघीयस्त्रय' आदि ग्रंथों के रचयिता भट्टाकलंकदेवके शिष्य थे—अकलंकदेवके चरणों के समीप बैठकर उन्होंने ज्ञान सम्पादन किया था और इसलिये अकलंकदेव उनके विद्यागुरु थे। चुनाँचे सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमी 'भट्टाकलंकदेव' नामक अपने निबन्धमें * लिखते हैं :—

"माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र ये तीनों विद्वान् अकलंकदेवके समकालीन हैं। इनमें से प्रभाचन्द्र तो अपने न्यायकुमुदचन्द्रोदयके प्रथम अध्यायमें निम्नलिखित श्लोकसे यह प्रकट करते हैं कि उन्होंने अकलंकदेवके चरणों के समीप बैठ कर ज्ञान प्राप्त किया था।

बोधः कोऽप्यसमः समस्तविषयं प्राप्याकलङ्कं पदं
जातस्तेन समस्तवस्तुविषयं व्याख्यायते तत्पदं।
किं न श्रीगणभृज्जिनेन्द्रपदतः प्राप्तप्रभावः स्वयं
व्याख्यात्यप्रतिमं वचोजिनपतेःसर्वात्मभाषात्मकम्"

विद्यानन्द-विषयक एक दूसरे लेखमें भी आपने इस श्लोकको उद्धृत करते हुए ऐसा ही भाव व्यक्त किया है और साथही उसके एक फुटनोटमें लिखा है—

"प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डके अन्तमें निम्न श्लोकों से पद्मनन्दि और रत्ननन्दि को भी अपना गुरु बतलाया है। इससे मालूम होता है कि अकलंक के पास उन्होंने विद्याध्ययन किया होगा और पद्मनन्दि तथा रत्ननन्दि उनके दीक्षागुरु होंगे या उनके पास भी उन्होंने विद्या सीखी होगी ×।"

× इसके बाद नीचे लिखे दो श्लोक उद्धृत किये हैं:—

गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः।
नन्दताद् दुरितैकान्तरजो जैनमतार्णवः ॥३॥
श्रीपद्मनन्दिसिद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः।
प्रभाचन्द्रश्चिरंजीयाद्रत्नन्दिपदे रतः ॥४॥

—देखो, जैनहितैषी भाग ९ का अंक ९ वां।

इन पद्योंसे पहलेके दो पद्यों और न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रशस्तिको देखते हुए, यह दोनों श्लोक अपने साहित्य और कथनशैली पर से प्रभाचन्द्र के मालूम नहीं होते, बल्कि प्रमेयकमलमार्तण्ड पर टीका-टिप्पणी लिखनेवाले किसी दूसरे विद्वानके जान पड़ते हैं। इस ग्रंथपर कोई संस्कृत टीका लिखी गई है, यह बात पहले परिच्छेद के अन्त में दिये हुए प्रभाचन्द्र के 'सिद्धं सर्वजनप्रबोधजननं' नामक पद्य की टीका से पाई जाती है, जो गलती से प्रमेयकमलमार्तण्ड की मुद्रित प्रति में शामिल हो गई है। और शायद इस टीका पर से ही के० बी० पाठक ने इस पद्य को माणिक्यनन्दीका समझ लिया है और इसीलिये अपने 'कुमारिल और भर्तृहरि' नामक निबन्धमें यह लिखने की भूल की है कि माणिक्यनन्दीने विद्यानन्दका उल्लेख किया है; क्योंकि इस पद्यमें विद्यानन्दका उल्लेख है। परन्तु यह पद्य माणिक्यनन्दीके 'परीक्षामुख' सूत्रका नहीं है जिसका प्रमेयकमलमार्तण्ड भाष्य है। बल्कि प्रमेयकमलमार्तण्डके अन्य परिच्छेदोंके अन्तमें दिये पद्योंके सदृश प्रभाचन्द्र का ही पद्य है। अस्तु: पाठक महाशयकी इस भूलका अनुसरण पं०नाथूरामजी प्रेमी और गालबन तात्या नेमिनाथ पांगल ने भी विद्यानन्द-विषयक अपने अपने लेखोंमें किया है। हां, इतना और भी जान लेना चाहिये कि, चौथे नं० के श्लोकमें जिन रत्ननन्दीका उल्लेख है वे माणिक्यनन्दी से भिन्न कोई दूसरे नहीं जान पड़ते। माणिक्यनन्दी का ही पर्यायनाम यह रत्ननन्दी है।

* देखो, जैनहितैषी भाग ११, अंक नं० ७—८.

न्यायतीर्थ पं० गजाधरलालजी ने, 'तत्वार्थराजवार्तिक' की प्रस्तावनामें भी इस श्लोकको दिया है और प्रेमीजीके कथनका बिलकुल अनुसरण करते हुए इस श्लोकके साथ वाले उनके उक्त 'माणिक्यनन्दि' आदि वाक्य का अनुवाद भी संस्कृतमें दे दिया है। और इस तरह पर इस कथनको पूर्ण रीतिसे अपनाया है।

इससे मालूम होता है कि इस कथनका एकमात्र आधार उक्त श्लोक है।

श्रीयुत के०बी० पाठकने भी 'दिगम्बर जैनसाहित्य में कुमारिलका स्थान' नामक अपने लेखमें, प्रभाचंद्रको अकलंकका शिष्य बतलाया है, उसका भी आधार गालबन यही श्लोक जान पड़ता है। परंतु इस श्लोक में प्रयुक्त हुए 'प्राप्याकलंकपदं' शब्दों परसे 'अकलंक देवके चरणोंके समीप बैठकर' जो आशय निकाला जाता है वह उसका आशय कदापि नहीं है। यहाँ 'पदं' का अर्थ 'चरण' नहीं किन्तु वाक्य, वाङ्मय, शास्त्र अथवा शब्दसमूह है, और इस अर्थ में भी 'पद' शब्द व्यवहृत होता है; जैसा कि हेमचन्द्राचार्यके निम्न वाक्य से प्रकट है:—

पदं स्थाने विभक्त्यन्ते शब्दवाक्येङ्कवस्तुनोः।

खुद प्रभाचंदने उक्त श्लोकके दूसरे चरणमें "व्याख्यायते तत्पदं" कह कर 'पद' शब्दका इसी अर्थमें व्यवहार किया है और अन्यत्र भी उनका ऐसा ही प्रयोग पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं:—

गंभीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदं
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनंदिप्रभोः।
तद्व्याख्यातमदो यथावगमतः किंचिन्मया लेशतः
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कताराविधि ॥

—प्रमेयकमलमार्तण्ड।

माणिक्यनन्दि-पदमप्रतिम-प्रबोधं
व्याख्याय बोधनिधिरेष पुनः प्रबन्धः।
प्रारभ्यते सकलसिद्धिविधौ समर्थे
मूले प्रकाशितजगत्त्रयवस्तुसार्थे ॥ ३ ॥

—न्यायकुमुदचन्द्र।

इन दोनो पद्योंमें माणिक्यनन्दीके जिस 'पद'का व्याख्याका उल्लेख है वह उनका 'परीक्षामुख' शास्त्र है। 'पद' के निखिलार्थगोचरं, शिष्यप्रबोधप्रदं, अप्रतिमप्रबोधं आदि जो विशेषण दिये गये हैं वे सब भी इसी बातके द्योतक हैं। प्रेमी जी ने भी अपने विद्यानन्द वाले लेखमें, दूसरे पद्यको उद्धृत करते हुए 'पद'का यही आशय दिया है—लिखा है "पदकी अर्थात परीक्षामुख ग्रंथ की" और इससे 'पद'का स्पष्ट आशय शास्त्र, वाङ्मय अथवा वाक्यसमूह है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। अतः उस श्लोकमें प्रयुक्त हुए 'अकलंकपदं'का आशय है अकलंक-वाङ्मय। उसका 'समस्तविषयं' विशेषण भी इसी बातका द्योतक है। उसमें कहा गया है कि 'अकलंकदेवके समस्त-विषयक वाङ्मय को प्राप्त करके कोई असाधारण बोधकी प्राप्ति हुई है जिसके प्रसादसे उनके शास्त्रकी व्याख्या की जाती है।' इसके बाद श्लोकके उत्तरार्धमें गणधरदेवका उदाहरण देते हुए यह उत्प्रेक्षा की गई है कि 'क्या जिनेन्द्रदेव के पदसे प्रभावको प्राप्त करके गणधरदेव उनके वचनकी व्याख्या करनेमें समर्थ नहीं होते हैं? जरूर होते हैं। जान पड़ता है इस उत्तरार्ध में प्रयुक्त हुए 'पद' शब्दके अर्थभ्रम में पड़कर ही अकलंकदेवके चरणोंके समीप बैठकर ज्ञानप्राप्त करनेकी कल्पना की गई है। अन्यथा, उसकी कहीं से भी उपलब्धि और सिद्धि नहीं होती। यद्यपि इस उत्तरार्धमें प्रयुक्त हुए 'पद' शब्दका अर्थ भी वाङ्मय होता है और उससे कोई विरोध नहीं आता।

परंतु उसका अर्थ यहाँ पर यदि 'चरण' भी कर लिया जाय तो भी, यह एक अलंकृत कथन होनेसे, यह लाजिमी नहीं आता कि पूर्वार्धमें प्रयुक्त हुए 'पद' का अर्थ भी 'चरण' ही किया जाय। अलंकृत भाषामें एक ही शब्दके दो जगह प्रयुक्त होने पर एक जगह कुछ और दूसरी जगह कुछ अर्थ होता है, और यही उसकी खूबी होती है। और ऐसाही तब यहाँ भी जान लेना चाहिये।

अबमें कुछ विशेष प्रमाणों द्वारा इस बातको और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि 'कि प्रभाचन्द्र अकलंक के शिष्य नहीं थे और न उनके समकालीन थे':—

(१) अकलंकदेवके सिद्धिविनिश्चयादि ग्रंथोंके प्रधान टीकाकार 'अनन्तवीर्य' आचार्य हुए हैं×। प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचंद्रके मंगलाचरण में उन्हें भी अकलंकदेव के अनन्तर नमस्कार किया है। यथा:—

सिद्धिप्रदं प्रकटिताखिलवस्तुतत्त्व-
मानन्दमन्दिरमशेषगुणैकपात्रं ।
श्रीमज्जिनेन्द्रमकलंकमनन्तवीर्य-
मानम्य लक्षणपदं प्रवरं प्रवक्ष्ये ॥ १ ॥

इससे मालूम होता है कि यदि प्रभाचंद्र खुद अकलंकके शिष्य होते तो वे उनके ग्रंथोंके टीकाकार अनन्तवीर्य का इस तरह पर स्तवन न करते। इसमें अनन्तवीर्यका 'सिद्धिप्रदं' विशेषण उनकी सिद्धिविनिश्चय-टीका को ध्वनित करता है।

(२) प्रभाचंद्र, न्यायकुमुदचंद्रके पाँचवें परिच्छेदके शुरूमें, निम्न पद्यद्वारा यह भी सूचित करते हैं कि 'अकलंकदेवका मार्ग दुष्प्राप्य है और वह मुझे पुण्योदयसे प्राप्त हुआ है, मैंने अनन्तवीर्य आचार्यकी उक्तियों पर से—उनकी सिद्धिविनिश्चयादि टीकाओंके कथन परसे—उसका अच्छी तरहसे अभ्यास किया है और सैंकड़ों बार उसकी विवेचना की है। उनका अथवा उस मार्गका बोध मुझे सिद्धि*का देने वाला होवे'—

त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयो-
दुःप्रापोप्यकलंकदेवसरणिः प्राप्तोऽत्र पुण्योदयात् ।
स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योक्तितो-
भूयान्मे नयनीतिदत्तमनसस्तद्बोधसिद्धिप्रदः ॥

इससे यह साफ़ जाना जाता है कि प्रभाचंद्र अकलंकदेवके शिष्य तो क्या होते उनके समयमें भी नहीं हुए हैं; बल्कि उस वक्त हुए हैं जब कि अकलंकदेवके मार्गका ज्ञान प्राप्त करना भी एक तरहसे दुष्कर हो गया था और वह मार्ग उनके ग्रन्थोंकी अनन्तवीर्य आचार्यकृत टीकाओं परसे ही उन्हें प्राप्त हो सका था।

(३) न्यायकुमुदचन्द्रके अंतमें एक प्रशस्ति× भी लगी हुई है, जो इस प्रकार है:—

× श्रीवादिराजसूरि भी न्यायविनिश्चय-विवरणके निम्न वाक्यों द्वारा प्रकट करते हैं कि—अकलंकवाङ्मयकी अगाध भूमिमें संनिहित गूढ अर्थको अनन्तवीर्यकी वाणीरूपी दीपशिखा पद पद पर अच्छी तरहसे व्यक्त करती है:—

गूढमर्थमकलङ्कवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनां ।
व्यंजयत्यलमनन्तवीर्यवाक् दीपवर्तिरनिशं पदे पदे ॥ ३॥

* यहां भी यह 'सिद्धि' शब्दका प्रयोग 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रंथ और उसकी टीकाके स्मरणको लिये हुए है।

× यह प्रशस्ति ग्रन्थकी एक अत्यन्त जीर्ण शीर्ण-प्रति पर से उतारी गई है, जिसका दर्शन-सौभाग्य मुझे गत वर्ष अहमदाबादमें पं० बेचरदास तथा सुखलालजीके पास प्राप्त हुआ था और उन्हें वह प्रति पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा प्राप्त हुई थी। ग्रन्थके दो पत्रों के परस्पर चिपक जानेसे प्रशस्ति बहुत कुछ अस्पष्ट हो रही थी और पूरी तौरसे पढ़ी नहीं जाती थी। इसीसे प्रेमीजीने भी एक बार, जब कि मैं रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना लिख रहा था, मेरे प्रशस्ति मंगाने पर उसे न भेज कर ऐसा ही लिख दिया था। अस्तु; सूक्ष्मदर्शक आईग्लास वगैरहकी सहायतासे कई दिन परिश्रम करने पर यह प्रशस्ति मुशकिलसे पढ़ी गई है। बादको आरा के जैनसिद्धान्त-भवनसे इस ग्रन्थकी प्रशस्ति मंगाई गई; उसमें और कोई खास विशेषता नहीं है, सिर्फ़ दूसरे पद्यमें 'बृहस्पति' के बाद 'प्रभृति' पाठ अधिक है जो ठीक जान पड़ता है, और 'न्यायांभोधिनिबन्धनः' की जगह 'न्यायाभोनिधिमंथनः' तथा 'वरः' की जगह 'परः' पाठ है।

बोधो मे न तथाविधोस्ति न सरस्वत्या प्रदत्तो वरः
साहाय्यं च न कस्यचिद्वचनतोप्यस्ति प्रबन्धोदये।
तत्पुण्यं जिननाथभक्तिजनितं येनायमत्यद्भुतः
संजातो निखिलार्थबोधनिलयः साधुप्रसात्परः ॥१
कल्याणाबसथः सुवर्णरचितो विद्याधरैः सेवित-
स्तुगांगो विबुधप्रियो ब...विधश्रीको गिरीद्रोपमः
आम्यद्भिर्नृहरपति [प्र...ति] भिः प्राप्तं यदीयं पदं
न्यायांभोधिनिबन्धनश्चिरमसौस्थेयात्प्रबंधोवरः॥२
मूलं यस्य समस्तवस्तुविषयं ज्ञानं परं निर्मलं
बुध्नं संव्यवहारसिद्धमखिलं संवादिमानं महत्।
शाखाः सर्वनयाः प्रपत्रनिवहो निक्षेपमालाऽमला
जीयाज्जैनमतांह्रिपोत्रफलितःस्वर्गादिभिःसत्फलैः३
भव्यांभोजदिवाकरो गुणनिधिर्योभूज्जगद्भूषणः
सिद्धांतादिसमस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनंदिप्रभुः।
तच्छिष्यादकलंकमार्गनिरतात्सन्न्यायमार्गोखिलः
सुव्यक्तोऽनुपमप्रमेयरचितो जातः प्रभाचद्रतः ॥४
अभिभूयनिजविपक्षंनिखिलमतोद्योतनोगुणांभोधिः
सविता जयतु जिनेंद्रः शुभप्रबधः प्रभाचद्रः ॥५॥

इति प्रभाचंद्रविरचिते न्यायकुमुदचंद्रे लघीयस्त्रयालंकारे सप्तमः परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ॥

इसके पहले ही पद्यमें प्रभाचंद्राचार्यने यह सूचित किया है कि 'उन्हें इस भाष्य ग्रन्थके रचनेमें वचनसे—मौखिक रूपसे—किसीकी भी सहायता नहीं मिली है' और चौथे पद्यमें उन्होंने अपनेको 'पद्मनन्दि आचार्य का शिष्य' तथा 'अकलंकदेवके मार्गमें निरत' बतलाया है। इससे यह साफ़ जाना जाता है कि प्रभाचंद्र अकलंक देवके शिष्य नहीं थे और न उनके समकालीन; बल्कि वे उनके एक मार्गानुयायी थे, जिस मार्गकी प्राप्ति, पूर्व कथनानुसार, उन्हें अनंतवीर्यकी उक्तियोंसे हुई थी, और वे अनन्तवीर्य भी उनके समयमें मौजूद नहीं थे। यदि मौजूद होते तो प्रभाचंद्र यह कभी न लिखते कि उन्हें इस प्रबन्धके रचनेमें वचनसे किसीकी भी सहायता प्राप्त नहीं हुई है।

इस संपूर्ण विवेचन और स्पष्टीकरण परसे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि प्रभाचंद्र अकलंकके शिष्य नहीं थे और न उनके समकालीन थे। अतः जिन विद्वानोंको इस विषयका भ्रम हो उन्हें उसका संशोधन कर डालना चाहिये।

(२)

न्यायकुमुदचन्द्र की टीका-प्रशस्ति

प्रभाचंद्रके 'न्यायकुमुदचन्द्र' पर कोई वृत्ति (टीका) भी लिखी गई है, यह बात अभी तक मालूम नहीं थी। परन्तु न्यायकुमुदचंद्रकी जिस जीर्णशीर्णप्रतिका पिछले नोटमें उल्लेख किया गया है उससे उसका भी पता चलता है। उसमें न्यायकुमुदचन्द्रकी उक्त प्रशस्ति के बाद वृत्तिकी प्रशस्ति भी दी हुई है, जो आराकी प्रति में नहीं है। यह प्रशस्ति और भी ज्यादा खराब हालत में पाई गई, पत्रोंके चिपकनेका सबसे ज्यादा असर इसी पर पड़ा और इस लिये इसके कितने ही अक्षर तो बिलकुल ही उड़ गये हैं, जो किसी तरह भी पढ़े नहीं जा सके—वे खाली स्थानके सिवाय पत्र पर अपने अस्तित्वका और कोई चिन्ह छोड़ ही नहीं गये! फिर भी प्रयत्न करने पर यह प्रशस्ति बहुत कुछ पढ़ी जा सकी है, और वह इस प्रकार है:—

"श्रीनंदिसंघकुलमंदिररत्नदीपः
सिद्धांतमूर्ध्वतिलको ... नंदिनामा
चूडामणिप्रभृतिसर्वनिमित्तवेदी
चूडामणिर्भवनिमित्तविदां बभूव।

शिष्यस्तस्य तपोनिधिः
शमनिधिर्वि (द्यानिधि) र्धीनिधिः
शीलानंदितभव्यलोकहृदयः सौख्यैकनंदीत्यभूत्।
आरुह्य प्रतिभागुणप्रवहणं सद्बोधि रत्नो(च्चयं)
(सत्सि) द्धांतमहोदधेरनवधेः पारंपरं दृष्टवान्।
अंतेवासी समजनि मुनिस्तस्य यो देवनंदी
चातुर्वर्ण्यश्रमणगणिभिर्वंद्यपद्वंदनीयो
देवश्चासावजनि परमानंदयोगाच्च नंदी ॥
एतस्मादुदयाचला ··· ···दयेनाभितः
श्रीमद्भास्करनंदिना दशदिशस्तेजोभिरुद्योतिताः।
विद्वत्तारकचक्रवालमखिलं मिथ्यातमो ······
······वचोमरीचिनिचयैराच्छादितं सर्वतः ॥ छ ॥
त्यक्ता वादकथापि वादिदिवहैत्त्यो पि जल्पः कृतो
जल्पाकैर्न ··· ···निगदितं पाषंडिवैतंडिकैः
षट्तर्कोपनिषिन्नि शाणनिशितप्रज्ञस्य तैः सेव्यते
श्रीमद्भास्करनंदिपंडितयतेः ········· ··· ॥छ॥

इति न्यायकुमुदचद्रवृत्तितर्कः समाप्तः मिति ॥छ ॥ ग्रन्थ सं०१६००० ॥ १५९० ॥ शुभं भवतु ॥छ॥ श्रीः ॥"

इससे मालूम होता है कि नन्दिसंघके कोई नन्द्यन्त नामके सिद्धान्त शिरोमणि आचार्य हुए हैं जो चूड़ामणि आदि निमित्तों के जानने वाले थे और भव-निमित्तके जानने वालों में प्रधान (चूड़ामणि) थे। इनके नामके पहले दो अक्षर उड़ गये हैं। इससे पूरा नाम मालूम नहीं हो सका। हो सकता है कि आपका नाम 'अभयनन्दी' या 'गुणनन्दी' कुछ ऐसा कुछ रहा हो। अस्तु; आपके शिष्य **सौख्यनंदी** हुए, जो तप, शम, विद्या तथा बुद्धिके निधान थे, जिन्होंने अपने शीलसे भव्यजनों के हृदयको आनन्दित किया था और जो सिद्धांतमहोदधिके पारदृष्टा थे। सौख्यनन्दी के शिष्य **देवनन्दी** और देवनन्दीके शिष्य **भास्करनन्दी** हुए, जिनकी प्रशंसामें बहुत कुछ कहा गया है। इसके बाद अंतिम पद्यका कुछ अंश उड गया है। जिसमें भास्कर-नन्दीके शिष्यका नाम होने की बहुत कुछ संभावना है और संभवतः उसी के द्वारा न्यायकुमुदचंद्रकी यह वृत्ति लिखी गई है, जिसका अन्तिम संधि में 'वृत्तितर्कः' रूपसे स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यदि इस प्रशस्तिके अन्तिम भागमें दूसरे नामका उल्लेख नहीं है तो भास्करनन्दी को ही वृत्ति का कर्ता समझना होगा।

अतः भास्करनन्दीके शिष्य या खुद भास्करनन्दीके द्वारा न्यायकुमुदचंद्रकी वृत्ति लिखी गई है, ऐसा इस प्रशस्तिसे साफ ध्वनित होता है। जिन विद्वानोंको इस वृत्तिका परिचय हो अथवा न्यायकुमुदचंद्रकी किसी दूसरी प्रतिमें उन्होंने इस प्रशस्तिको देखा हो उन्हें चाहिये कि वे उसे प्रकट करें, जिससे उन अंशोंकी पूर्ति हो जाय जो इस प्रशस्तिमें टूट रहे हैं। इससे कई आचार्योंकी परम्परा ठीक हो जायगी। आशा है विद्वान् भाई इस ओर जरूर ध्यान देंगे और शीघ्र ही ग्रंथावलोकन का थोड़ा सा परिश्रम उठाएँगे।

(३)

अकलंक-ग्रन्थ और उनके स्वोपज्ञ भाष्य

जैनसमाजमें अकलंकदेवका जितना नाम प्रसिद्ध है और उनके प्रति जितना भक्तिभाव प्रकट किया जाता है उतना उनके मौलिक ग्रन्थोंका प्रचार नहीं है— बल्कि यों कहिये कि मौलिक ग्रन्थोंका प्रचार तो उसका सहस्रांश भी नहीं है—आम तौरसे अच्छे अच्छे शास्त्रभंडारोंमें भी उनका कोई दर्शन नहीं होता, विद्वत्समाजको भी इस बातका बहुत कम पता है कि

अकलंकदेवके मौलिक ग्रन्थ कौन कौनसे हैं। 'तत्त्वार्थ-राजवार्तिक' और 'अष्टशती' नाम के जो ग्रन्थ कुछ भंडारों में पाये जाते हैं वे अकलंकदेवके मौलिक ग्रंथ नहीं है किन्तु दूसरे आचार्योंके ग्रन्थों पर लिखे हुए उनके भाष्य हैं। उनके उल्लेख-योग्य मौलिक ग्रन्थोंमें 'लघीयस्त्रय' नामका एक ही ग्रंथ —जो प्रमाणप्रवेश आदि तीन छोटे छोटे प्रकरणों को लिये हुए माणिकचन्द्रग्रन्थमाला की कृपा से किसी भंडारकी कालकोठरी से निकलकर अभी तक पब्लिकके सामने आया है। परन्तु उसके साथ भी स्वोपज्ञ भाष्य लगा हुआ नहीं है। स्वोपज्ञभाष्यों की—खुद अकलंकद्वारा अपने ग्रन्थों पर लिखी हुई टीका-टिपणियों की—शायद किसीको कल्पना भी नहीं है। परन्तु स्वोपज्ञ-भाष्य अनेक ग्रन्थों पर लिखे गए जरूर हैं—भले ही वे आकारमें कितने ही छोटे क्यों न हों। और इसका अनुभव मुझे गत वर्ष गुजरात-पुरातत्त्व-मन्दिर में अकलंकदेवके कुछ ग्रन्थोंकी टीकाओं के पत्रे पलटने पर हुआ है। लघीयस्त्रय पर भी स्वोपज्ञभाष्य लिखा गया है, यह बात तो दैवयोग्य से उस जीर्णशीर्ण प्रति परसे ही जानी गई है जिसका पिछले नोटोंमें उल्लेख किया गया है। उस प्रतिके शुरूमें दस पत्र ऐसे हैं जो न्यायकुमुदचंद्रके कोई अंग नहीं हैं। वे किसी दूसरी सदृश प्रतिके पत्र हैं, जो एक ही लेखकद्वारा एक ही प्रकार के आकारादि को लिये हुए काग़ज पर लिखी गई होंगी। इन दस पत्रों में 'लघीयस्त्रय' नामका मूल ग्रन्थ स्वोपज्ञ वृत्ति को लिये हुए जान पड़ता है। वह इन पत्रोंमें पूरा नहीं हुआ। कुछ और भी अवशिष्ट रहा है जो उस दूसरी प्रतिमें होगा। इसीसे न्यायकुमुदचंद्र के प्रारंभिक दस पत्र इस प्रति में नहीं हैं। मालूम होता है ग्रन्थों को धूप देने आदिके समय सदृशताके कारण एक ग्रंथप्रति के पत्र दूसरी ग्रन्थ-प्रतिमें लग गये हैं और इस तरह लोगोंकी अथवा संरक्षकोंकी असावधानी से दोनों ही ग्रंथ अधूरे हो गये !! इस ग्रंथप्रतिके पहले १०० पत्रोंका भाग एक तरफ़से कुछ कुछ गल गया है और उड़ गया है; बीच बीचमें भी कई पत्र टूट गये हैं और कई पत्रोंकी तो सत्ता भी नहीं है, जो संभवतः इसी तरह टूट टूट कर नष्ट हो गये हैं। इस प्रकार यह ग्रंथप्रति अधूरी है और भंडारके संरक्षकोंकी असावधानता और उनकी विलक्षण शास्त्रभक्तिको पुकार पुकार कर कह रही है!!! परन्तु अधूरी होने पर भी इससे कई बातोंका पता चल गया है और और भी कुछ चल सकता है; किन्तु जिन ग्रंथोंकी सत्ता ही नहीं रही उनसे क्या मालूम हो सकता है ? यदि खंडित समझ कर इस ग्रन्थप्रतिकी जलसमाधि लगा दी जाती या इसे अग्नि देवताके सुपुर्द कर दिया जाता तो कितना अलाभ होता ? बहुत से नासमझ भाई ऐसा कर देते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है। अतः जिन शास्त्रभंडारोंमें ऐसी जीर्ण-शीर्ण खंडित प्राचीन प्रतियाँ हों उनके संरक्षकोंको चाहिये कि वे उन्हें योग्य विद्वानोंको दिखला कर उनका सदुपयोग करें अथवा समन्तभद्राश्रमको भेज देवें। यहाँ उनसे यथेष्ट लाभ उठाया जासकेगा। अस्तु।

अकलंकदेवके मौलिक ग्रन्थोंमें 'लघीयस्त्रय' के अतिरिक्त तीन ग्रन्थ सबसे अधिक महत्वके हैं—१ सिद्धिविनिश्चय, २ न्यायविनिश्चय और ३ प्रमाणसंग्रह। शायद इन्हींके संग्रहको 'बृहत्त्रय' कहते हों। बृहत्त्रय की बाबत पं० नाथूरामजी प्रेमीके भट्टाकलंक-विषयक लेखसे मालूम हुआ था कि उसकी एक प्रति कोल्हापुर में पं० कल्लापा भरमापा निटवेजीके पास मौजूद है। परन्तु प्रेमीजीके द्वारा लिखा-पढ़ी करने पर भी उन्होंने

उसके अस्तित्वादि-विषयमें कोई सूचना देनेकी कृपा नहीं की। समाजके विद्वानोंकी ऐसे विषयोंमें भी यह उपेक्षा, निःसन्देह, बहुत ही खटकती है और बड़ी ही चिन्तनीय है! अतः इन तीनों मूल ग्रन्थोंमेंसे कौन ग्रन्थ कहाँ के भंडारमें मौजूद है, इसका अभी तक कुछ भी पता नहीं है। हाँ, इतना सुनिश्चित है कि 'सिद्धिविनिश्चय' और 'प्रमाणसंग्रह' पर अनन्तवीर्याचार्यकी टीका तथा भाष्य लिखे गये हैं और न्यायविनिश्चय पर वादिराजसूरिका विवरण है जिसे 'न्यायविनिश्चयालंकार' भी कहते हैं। न्यायविनिश्चयालंकार पहलेसे दो एक भंडारोंमें मिलता था परन्तु सिद्धिविनिश्चय-टीका की हालमें ही खोज हुई है और इस टीका परसे ही मुझे 'प्रमाणसंग्रह-भाष्य' का पता चला है—टीकामें अनेक स्थानों पर विशेष कथनके लिये अनन्तवीर्य आचार्यने अपने इस भाष्यको देखने की प्रेरणा की है। यह महत्वपूर्ण भाष्य कहाँ के भण्डारमें पड़ा हुआ अपने दिन पूरे कर रहा है अथवा कर चुका है, इसका अभी तक कुछ भी पता नहीं है। सिद्धिविनिश्चय-टीकाकी श्लोकसंख्या सोलह हजारसे ऊपर है, यह एक बड़े महत्वकी टीका है और इसकी खोजका इतिहास भी अच्छा रहस्यपूर्ण है।

श्वेताम्बरोंके 'जीतकल्पचूर्णि' ग्रंथकी श्रीचंद्रसूरि-विरचित 'विषमपदव्याख्या' नामकी टीकामें 'सिद्धिविनिश्चय' नामक ग्रन्थका उल्लेख है और उसे दर्शन-प्रभावक शास्त्रोंमें सन्मति (तर्क) के साथ पहला स्थान प्रदान किया है और लिखा है कि, ऐसे दर्शनप्रभावक शास्त्रोंका अध्ययन करते हुए साधुको अकल्पित प्रति-सेवनाका दोष भी लगे तो उसका कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं है, वह साधु शुद्ध है। यथाः—

"दंसण त्ति—दंसणपभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-सम्मत्यादि गिण्हंतो ऽसंथरमाणो जं अकप्पियं पडिसेवइ जयणाए तत्थ सो सुद्धोऽप्रायश्चित्त इत्यर्थः॥"*

इसमे 'सिद्धविनिश्चय' ग्रंथ कितने असाधारण महत्व की चीज़ है इसे बतलानेकी जरूरत नहीं रहती। ग्रन्थके इस उल्लेख परसे ही उसकी खोज प्रारंभ हुई। मुनि श्रीकल्याणविजयजीने 'जैनयुग' में सूचना निकाली कि, 'सिद्धिविनिश्चय' नामका कोई ग्रन्थ 'सन्मति' तर्क जैसा महान् है उसकी खोज होनी चाहिये। अहमदाबादसे भाई शंभुलाल जगशी शाहजी किसी कार्य-वश कच्छदेशके 'कोडाय' ग्राम (तालुका, माँडवी) गये हुए थे, उन्हें वहाँ श्वेताम्बर-'ज्ञानभण्डार' को देखते हुए दैवयोगसे 'सिद्धिविनिश्चय-टीका' की उपलब्धि हुई और उन्होंने उसके विषयमें पं० सुखलाल तथा पं० बेचरदासजी आदिको सूचना दी। सूचना पाकर उन्होंने उस ग्रन्थकी उपयोगिता ज़ाहिर की और उसे लानेकी प्रेरणा की। वह ग्रंथ अहमदाबाद लाया गया और गुजरात-पुरातत्व-मंदिरमें उसकी कापी कराई गई। इस तरह इस सिद्धिविनिश्चय टीकाकी खोज तथा उद्धारका श्रेय मुनि कल्याणविजय, भाई शंभुलाल, पं० सुखलाल और पं० बेचरदासजीको प्राप्त है। और इस लिये ये सभी सज्जन विशेष धन्यवादके पात्र हैं।

परंतु पाठकों को यह जान कर दुःख होगा कि इस टीका में मूल लगा हुआ नहीं है—मूलके सिर्फ आद्याक्षरोंका ही उल्लेख करके टीका लिखी गई है। इसमें मूलका उल्लेख दो प्रकारसे पाया जाता है—एक 'अत्राह' आदिके साथ कारिका रूप से और दूसरे

* श्वेताम्बरोंके 'निशीथ' ग्रन्थकी चूर्णिमें भी ऐसा ही उल्लेख है। और यह बात मुनि कल्याणविजयजीके पत्रसे जानी गई, जो उन्होंने पं० बेचरदासजीको लिखा था।

'कारिका व्याख्यातुमाह' जैसे वाक्य-प्रयोगोंके साथ कारिकाकी व्याख्यारूपसे। व्याख्याके भी आद्याक्षर ही दिये हैं—पूरी व्याख्या नहीं दी—और कहीं कहीं उन्हें देकर 'सुगमेतत्' ऐसा लिख दिया है और उसकी टीका नहीं की। इससे यह टीका मूल 'सिद्धिविनिश्चय' और उसके 'स्वोपज्ञ भाष्य' को लेकर लिखी गई है, ऐसा जान पड़ता है। और चूंकि 'लघीयस्त्रय' पर भी स्वोपज्ञ भाष्यका पता चलता है, इससे यह अनुमान होता है कि 'न्यायविनिश्चय' आदि दूसरे कठिन ग्रन्थों पर भी स्वोपज्ञ भाष्य लिखे गये होंगे। न्यायविनिश्चयालंकार के साथमें भी न्यायविनिश्चय पूरा लगा हुआ नहीं है, उसकी कोई कोई कारिका ही पूरी दी है, बाक़ी सब कारिकाओंके आद्याक्षर ही दिये हैं। और यह बात मेरे नोट से रह गई कि उसमें किसी कारिका की व्याख्या भी दी हुई है या कि नहीं।

सिद्धिविनिश्चयकी टीका पर से मैं ने यह जानने की भी कोशिश की, कि उसके सहारेसे मूलग्रंथ भिन्न अथवा स्पष्ट किया जा सकता है या कि नहीं, और मालूम हुआ कि नहीं किया जा सकता। सिर्फ किसी किसी कारिका को ही हम उस परसे पूरा अथवा स्पष्ट कर सकते हैं, और ऐसी कारिकाओं की संख्या बहुत ही अल्प है। मंगलाचरणकी कारिका को मैंने परिश्रम करके स्पष्ट किया है और उसे पं० बेचरदास जी ने पुरातत्व-मंदिर की प्रति पर मुझसे लिखा भी लियाहै, वह इस प्रकार है:—

सर्वज्ञं सर्वतत्त्वार्थ-स्याद्वादन्याय-देशिनं।
श्रीवर्द्धमानमभ्यर्च्य वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम्॥

इस तरह अकलंकदेवके ये तीनों ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ अप्राप्य हो रहे हैं और उनकी यह अप्राप्ति जैनियों की अकलंक-भक्ति पर कलंक का टीका लगा रही है—उसे थोथा, नुमाइशी और निःसार प्रकट कर रही है। जो समाज 'सिद्धिविनिश्चय' जैसे अपने असाधारण दर्शनप्रभावक ग्रन्थों को भी यों भुलादे—उन का स्मरण तक भी उसे न रहे—उसका संसारसे यदि प्रभाव उठ जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? ऐसे बहुमूल्य रत्नोंकी अवहेलना करनेसे ही आज यह जाति श्रीहीन बनी हुई है। जैनियोंके लिये, निःसन्देह, यह एक बड़ी ही लज्जा तथा शरमकी बात है जो वे ऐसे महान ग्रंथोंकी खोज तथा उद्धार-सम्बंधी ज़रूरी कर्तव्यों के सामने मौजूद होते हुए भी, उन में भाग न लेकर, दीवारों पर सोना लीपते हैं अथवा सोने चांदीके रथ-घोड़े आदि निकालकर अपनी शान दिखलानेमें ही लगे हुए हैं; और जो लुप्तप्राय जैनग्रन्थोंकी खोजकी बात सामने आते ही कानों पर हाथ रखते हैं तथा इधर उधर बगलें झाँकते हैं, और इस तरह कर्तव्यनिष्ठ विद्वत्समाजके सामने अपने को हँसी का पात्र बना रहे हैं।

हर्षका विषय है कि सिद्धिविनिश्चयके साथ साथ जिस दूसरे ग्रंथके माहात्म्यका उल्लेख श्वेताम्बर-सूत्रों में पाया जाता है उस 'सन्मतितर्क' का उद्धार, उसकी २५ हज़ार संस्कृत टीका-सहित, श्वेताम्बर भाइयों ने कर डाला है, जिसका विशेषपरिचय उसके प्राप्त होने पर पाठकों को दिया जायगा। सुना है एक ही सेठ ने २५ या ३० हज़ार रुपये उसके उद्धार के लिये गुजरात-पुरातत्व-मंदिर को दिये थे। इस वर्ष से पं० सुखलाल तथा पं० बेचरदास जी जैसे योग्य विद्वानों के सम्पादकत्व में उसके उद्धार का कार्य चल रहा था जो अब समाप्ति के करीब है— भूमिका लिखी जा रही है। क्या दिगम्बरों में कोई भी ऐसा माईका लाल नहीं है जो 'सिद्धिविनिश्चय' का उसकी टीका-सहित उद्धार करनेका बीड़ा उठा सके?

हैं बहुतेरे, परन्तु एक तो उनका ऐसे उपयोगी कार्यों की ओर ध्यान नहीं, दूसरे उनकी शक्तिरूपी स्टीमका अनुपयोगी छिद्रों द्वारा अपव्यय हो रहा है। यदि यह अपव्यय रुक जाय और उस स्टीमका रुख उपयोगी कार्यों की ओर फिर जाय तो सब कुछ हो सकता है और एक दिन वह आ सकता है जो समाजके सारे ही प्राचीन साहित्यका उद्धार हो जाय। दिगम्बर समाज के धनिकों को सुबुद्धिकी प्राप्ति हो और वे भी इस विषय में अपना कर्तव्य समझें यही इस समय मेरी हार्दिक भावना है।

(४)

कवि राजमल्लका एक और ग्रन्थ

'कवि राजमल्ल और पंचाध्यायी' नामके निबन्ध* में मैंने कविमहोदयके तीन ग्रंथोंका परिचय दिया था—१ अध्यात्मकमलमार्तण्ड, २ लाटीसंहिता और ३ पंचाध्यायी। उस वक्त तक ये ही ग्रन्थ उपलब्ध हुए थे। अब एक चौथे संस्कृत ग्रन्थका और पता चला है, जिसका नाम है 'जम्बूस्वामिचरित'। यह ग्रन्थ-प्रति देहली—सेठके कूंचेके जैनमंदिर में मौजूद है, बहुत कुछ जीर्ण-शीर्ण है—कितनी ही जगह कागज़की टुकियाँ लगाकर उसकी रक्षा की गई है—उसी वक्तके क़रीब की लिखी हुई है जब कि इसकी रचना हुई थी और उन्हीं साधु (साहु) टोडरके द्वारा लिखाई गई है जिन्होंने कविसे इसकी रचना कराई थी। ग्रन्थकी रचना का समय अन्तमें विक्रम सं० १६३२ दिया है। यथा:—

"अथ संवत्सरेस्मिन श्रीनृपविक्रमादित्यगताब्द संवत् १६३२ वर्षे चैत्रसुदि ८ वासरे पुनर्वसुनक्षत्रे श्रीगालपुरदुर्गे श्रीपातिसाहि जला(ल)दीन अकबरसाहि-प्रवर्तमाने ×........ एतेषांमध्ये परमसुश्रावक-साधु श्रीटोडर जंबुस्वामिचरित्रं कारापितं लिखापितं च कर्मक्षयनिमित्तं ॥छ॥ लिखितं गंगादासेन॥"

इससे यह ग्रन्थ लाटीसंहितासे ९—१० वर्ष पहले का बना हुआ है। इसमें कुल १३ सर्ग हैं और मुख्यतया अन्तिम केवली जम्बूस्वामी तथा उनके प्रसाद से सन्मार्गमें लगने वाले 'विद्युच्चर' की कथाका वर्णन है। इसका पहला सर्ग 'कथामुखवर्णन' नामका १४७ पद्यों में समाप्त हुआ है और उसमें कथाके रचना-सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए कितनी ही ऐतिहासिक बातोंका भी उल्लेख किया है। अकबर बादशाहकी बाबत लिखा है कि उसने 'जज़िया' कर छोड़ दिया था और 'शराब' बन्द की थी। यथा:—

"मुमोच शुल्कं त्वथ जेजियाऽभिधं
स यावदंभोधरभूधराधरं ॥ २७ ॥
ततोऽपि मद्यं तदवद्यकारणं
निवारयामास विदांवरः स हि ॥२८॥

आगरेमें उस समय अकबर बादशाहके एक ख़ास अधिकारी ('सर्वाधिकारक्षमः') 'कृष्णामंगल चौधरी' नामके ठाकुर थे, जो 'अरजानीपुत्र' भी कहलाते थे और उनके आगे 'गढमल्लसाहु' नामके एक वैष्णवधर्मा-वलम्बी दूसरे अधिकारी थे जो बड़े परोपकारी थे। इस ग्रन्थकी रचना करने वाले टोडरसाहु इन दोनों के ख़ास प्रीतिपात्र थे और उन्हें टकसालके कार्यमें दक्ष लिखा है—

"तयोर्द्वयोः प्रीतिरसामृतात्मकः
स भाति नानाटकसारदक्षकः।"

* यह निबन्ध 'वीर' के तीसरे वर्षके सयुक्तांक नं० १२-१३ में और माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें प्रकाशित होने वाली 'लाटीसंहिता' के साथमें भी प्रकट हुआ है।

× यहां मध्यमें साधु टोडरकी गुरुआम्नाय तथा कुटुम्बके नामादिकका उल्लेख किया है।

टोडरसाहु गर्गगोत्री अग्रवाल थे भटानियाकोल नगर के रहने वाले थे और काष्ठासंघी भट्टारक कुमारसेनके आम्नायी थे। कुमारसेनको भानुकीर्तिका, भानुकीर्तिको गुणभद्रका और गुणभद्रको मलयकीर्ति भट्टारक का पट्टशिष्य लिखा है। परन्तु लाटीसंहितामें जो वि०सं० १६४१ में बनकर समाप्त हुई है, ये ही ग्रंथकार इन्हीं कुमारसेन भट्टारक के पट्ट पर क्रमशः हेमचंद्र, पद्मनन्दी, यशःकीर्ति और क्षेमकीर्ति भट्टारकों का होना लिखते हैं और प्रकट करते हैं कि इस समय क्षेमकीर्ति भट्टारक मौजूद हैं। इससे यह साफ मालूम होता है कि दस वर्षके भीतर चार पट्ट बदल गये हैं और ये भट्टारक बहुत ही अल्पायु हुए हैं। संभव है कि उनकी इस अल्पायुका कारण कोई आकस्मिक मृत्यु अथवा नगरमें किसी वबाका फैल जाना रहा हो।

कवि राजमल्लने इस ग्रन्थमें भी अपना कोई विशेष परिचय नहीं दिया। हाँ, **"स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारद"** यह विशेषण इस ग्रन्थमें भी दिया गया है। साथ ही, ग्रन्थ रचनेकी प्रार्थनामें अपने विषय में इतनी सूचना औरकी है कि आप 'परोपकारके लिये कटिबद्ध' थे। यथाः—

यूय परोपकाराय बद्धकक्षा महाधियः।
उत्तीर्णाश्च परंतीर कृपावारिमहोदधेः ॥
ततोनुग्रहमाधाय बोधयध्वं तु मे मनः।
जम्बूस्वामिपुराणस्य शुश्रूषा हृदि वर्तते।

बहुत संभव है कि आप कोई त्यागी ब्रह्मचारी ही रहे हों। अस्तु; इस ग्रन्थ परसे इतना तो स्पष्ट है कि आप कुछ वर्ष तक आगरेमें भी रहे हैं। और आगरेके बाद ही आप वैराट नगर पहुँचे हैं जहाँ कि जिनालयमें बैठ कर आपने लाटीसंहिताकी रचना की थी।

(५)

मथुरामें ५०० से अधिक जैनस्तूप

कवि राजमल्ल के 'जम्बूस्वामिचरित' में—उसके 'कथामुखवर्णन' नामक प्रथम सर्गमें—एक खास बातका पता चलता है, और वह यह कि उस वक्त—अकबर बादशाहके समय में—मथुरा नगरी के पास की बहिर्भूमि पर ५०० से अधिक जैनस्तूप थे। मध्यमें अन्त्य केवली जम्बूस्वामी का स्तूप (निःसहीस्थान) और उसके चरणों में ही विद्युच्चर मुनि का स्तूप था। फिर उनके आस-पास कहीं पाँच, कहीं आठ कहीं दस और कहीं बीस इत्यादि रूपमें दूसरे मुनियों के स्तूप बने हुए थे। ये स्तूप बहुत पुराने होने की वजह से जीर्ण-शीर्ण हो गये थे। साहु टोडरजी जब यात्रा को निकले और मथुरा पहुँच कर उन्होंने इन स्तूपों की इस हालत को देखा तो उनके हृदय में उन्हें फिर से नये करा देने का धार्मिक भाव उत्पन्न हुआ। चुनाँचे आपने बड़ी उदारता के साथ बहुत द्रव्य खर्च करके उनका नूतन संस्कार कराया। स्तूपों के इस नवीन संस्करणमें ५०१ स्तूपोंका तो एक समूह और १३ का दूसरा, ऐसे ५१४ स्तूप बनाये गये और उनके पास ही १२ द्वारपाल आदिक भी स्थापित किये गये। जब निर्माण का यह सब कार्य पूरा हो गया तब चतुर्विध संघको बुलाकर उत्सवके साथ ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी बुधवार के दिन ९ घड़ी के ऊपर पूजन तथा सूरिमंत्र-पुरस्सर इस तीर्थ सम * प्रभावशाली क्षेत्रकी प्रतिष्ठा

* 'तीर्थ' न कहकर 'तीर्थसम' कहनेका कारण यही है कि कवि द्वारा जम्बूस्वामीका निर्वाण स्थान मथुराको न मानकर, विपुलाचल माना गया है (ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्)। सकलकीर्तिके शिष्य जिनदास ब्रह्मचारीने भी विपुलाचलको ही निर्वाणस्थान बतलाया है। मथुराको निर्वाणस्थान मानने की जो प्रसिद्धि है वह किस आधार पर अवलम्बित है, यह अभी तक भी कुछ ठीक मालूम नहीं हो सका।

की गई ×। इस विषय को सूचित करने वाले पद्य इस प्रकार हैं—

अथैकदा महापुर्यां मथुरायां कृतोद्यमः ।
यात्रायै सिद्धक्षेत्रस्थ चैत्यानामगमत्सुखं ॥ ७६॥
तस्य पर्य्यंतभूभागे दृष्ट्वा स्थानं मनोहरं ।
महर्षिभिः समासीनं पूतं सिद्धास्पदोपमं ॥८०॥
तत्रापश्यत्सधर्मात्मा निःसहीस्थानमुत्तमं ।
अंत्यकेवलिनो जंबूस्वामिनो मध्यमादिमं ॥८१॥
ततो विद्युच्चरो नाम्ना मुनिः स्यात्तदनुग्रहात् ।
अतस्तस्यैव पादान्ते स्थापितः पूर्वसूरिभिः॥८२॥
ततः केपि महासत्वा दुःखसंसारभीरवः ।
संनिधानं तयोः प्राप्य पदं साम्यं समं दधुः ॥८३॥
ततो धृतमहामोहा अखंडव्रतधारिणः ।
स्वायुरंते यथास्थानं जग्मुस्तेभ्यो नमोनमः॥८५॥
ततः स्थानानि तेषां हि तयोः पार्श्वे सुयुक्तितः ।
स्थापितानि यथाम्नाये प्रमाणनयकोविदैः ॥८६॥
क्वचित्पंचक्वचिच्चाष्टौ क्वचिद्दश ततः परं ।
क्वचिद्विंशति रेवं स्यात् स्तूपानां च यथायथं॥८७॥
तत्रापि चिरकालत्वे द्रव्याणां परिणामतः ।
स्तूपानां कृतकत्वाच्च जीर्णता स्यादबाधिता॥८८॥
तां दृष्ट्वा सधर्मात्मा नव्यमुद्धर्तुमुत्सकः ।
स्याद्यथा जीर्णपत्राणि वसंतः समयो नवः॥८६॥
मनो व्यापारयामास धर्मकार्ये सुबुद्धिमान् ।
तावद्धर्म्मफलास्तिक्यं श्रद्दधानोऽवधानवान्॥६०॥

× × ×

ज्ञातधर्म्मफलः सोऽयं स्तूपान्यभिनवत्वतः ।
कारयामास पुण्यार्थं यशः केन निवार्यते॥११३॥
यशः कृते धनः तेनः केचिद्धर्म्मकृतेऽर्थतः ।
तद्द्वयार्थमसौ दध्रे यथा स्वादुमहौषधं ॥११४॥
शीघ्रं शुभदिने लग्ने मंगलद्रव्यपूर्वकं ।
सोत्साहः समारंभं कृतवान्पुण्यवानिह ॥११५॥
ततोऽप्येकाग्रचित्तेन सावधानतयाऽनिशं ।
महोदारतया शश्वन्निन्ये पूर्णानि पुण्यभाक्॥११६
शतानां पंच चाथैकं शुद्धं चाधित्रयोदशं ।
स्तूपानां तत्समीपे च द्वादशद्वारिकादिकं॥११७॥
संवत्सरे गताब्दानां शतानां षोडशं क्रमात् (मतं)
शुद्धैस्त्रिंशद्भिरब्दैश्च साधिकं दधति स्फुटं॥११८॥
शुभे ज्येष्ठे महामासे शुक्ले पक्षे महोदये ।
द्वादश्यां बुधवारे स्याद् घटीनां च नवोपरि॥११६
परमाश्चर्यपदं पूतं स्थानं तीर्थसमप्रभ ।
शुभ्रं रुक्मगिरेः साक्षात्कूटं लक्षमिवोच्छ्रितं।।१२०
पूजया च यथाशक्ति सूरिमंत्रैः प्रतिष्ठितं ।
चतुर्विधमहासंघं समाहूयात्र धीमता ॥ १२१॥

ये सब स्तूप आज मथुरामें नहीं हैं, काल के प्रबल आघात तथा विरोधियोंके तीव्र मतद्वेषने उन्हें धराशायी कर दिया है, उनके भग्नावशेष ही आज कुछ टीलोंके रूपमें चीन्हे जा सकते हैं। आम तौर पर जैनियोंको इस बातका पता भी नहीं कि मथुरामें कभी उनके इतने स्तूप रहे हैं।-बहुतसे स्तूपोंके ध्वंसावशेप तो सदृशताके कारण ग़लतीसे बौद्धोंके समझ लिये गये हैं और तदनुसार जैनी भी वैसा ही मानने लगे हैं। परंतु ऊपरके उल्लेख-वाक्योंसे प्रकट है कि मथुरामें जैनस्तूपोंकी एक बहुत बड़ी संख्या रही है। और उसका कारण भी है। 'विद्युच्चर' नामका एक बहुत बड़ा डाकू था, जो राजपुत्र होने पर भी किसी दुरभिनिवेशके वश चोर कर्ममें प्रवृत्त होकर चोरी तथा डकैती किया करता था, और जिसे आम जैनी 'विद्युत चोर' के नामसे पहचानते

×प्रतिष्ठा हो जानेके बाद ही सभामें जम्बूस्वामीका चरित रचने के लिये कवि राजमल्लसे प्रार्थना की गई है, जिसके दो पद्य पिछले नोटमें उद्धृत किये गये हैं।

हैं*। उसके पाँचसौ साथी थे। जम्बूस्वामीके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर, उनकी असाधारण निस्पृहता-विरक्तता-अलिप्तताको देख कर और उनके सदुपदेशको पाकर उसकी आँख खुली, हृदय बदल गया, अपनी पिछली प्रवृत्ति पर उसे भारी खेद हुआ और इस लिये वह भी स्वामीके साथ जिनदीक्षा लेकर जैनमुनि बन गया। यह सब देखकर उसके प्रभव आदि साथी भी जो सदा उसके साथ एकजान-एकप्राण होकर रहते थे, विरक्त हो गये और उन्हों ने भी जैनमुनि-दीक्षा ले ली। इस तरह यह ५०१ मुनियोंका संघ प्रायः एक साथ ही रहता तथा विचरता था। एक बार जब यह संघ विहार करता हुआ जा रहा था तो इसे मथुरा के बाहर एक महोद्यान में सूर्यास्त हो गया और इस लिये मुनिचर्याके अनुसार सब मुनि उसी स्थान पर ठहर गये ×। इतने में किसी ने आकर विद्युच्चर को सूचना दी कि यदि तुम लोग इस स्थान पर रातको ठहरोगे तो तुम्हारे ऊपर ऐसे घोर उपसर्ग होंगे जिन्हें तुम सहन नहीं कर सकोगे, अतः किसी दूसरे स्थान पर चले जाओ। इस पर विद्युच्चर ने संघके कुछ वृद्ध मुनियों से परामर्श किया परन्तु मुनिचर्याके अनुसार रात को गमन करना उचित नहीं समझा गया। कुछ मुनियों ने तो दृढताके साथ यहाँतक कह डाला कि—

अस्तं गते दिवानाथे नेयं कालोचिता क्रिया
बिभ्यतां कीदृशो धर्मः स्वामिन्निःशंकिताभिधः।
उपसर्गसहो योगी प्रसिद्धः परमागमे।
भवत्वत्र यथा भाव्यं भाविकर्म शुभाशुभं॥
तिष्ठामो वयमद्यैव रजन्यां मौनवृत्तयः।

'सूर्यास्तके बाद यह गमन क्रिया उचित नहीं है। डरने वालोंके निःशंकित नामका धर्म कैसा? आगममें उपसर्गों को सहने वाला ही योगी प्रसिद्ध है। इस लिये भावी शुभाशुभ कर्मानुसार जो कुछ होना है वह हो रहो, हम तो आज रातको यहीं मौन लेकर रहेंगे।'

तदनुसार सभी मुनिजन मौन लेकर स्थिर हो गये। इसके बाद जो उपसर्ग-परम्परा प्रारंभ हुई है उसे यहाँ बतलाकर पाठकोंका चित्त दुखानेकी जरूरत नहीं है—उसके स्मरणमात्रसे रोंगटे खड़े होते हैं। रात भर नाना प्रकारके घोर उपसर्ग जारी रहे और उन्हें दृढताके साथ साम्यभावसे सहते हुए ही मुनियों ने प्राण त्याग किये हैं। उन्हीं समाधि को प्राप्त धीर वीर मुनियोंकी पवित्र यादगार में उनके समाधिस्थानके तौर पर ये ५०१ स्तूप एकत्र बनाये गये जान पड़ते हैं। बाक़ी १३ स्तूप में एक स्तूप जम्बूस्वामीका होगा और १२ दूसरे मुनि-पुंगवों के। जम्बूस्वामी का निर्वाण यद्यपि इस ग्रंथमें विपुलाचल पर बतलाया गया है, फिर भी चूंकि जंबू-स्वामी मथुरा में विहार करते हुए आए थे, * कुछ अर्से तक ठहरे थे और विद्युच्चर आदिके जीवन को पलटनेवाले उनके खास गुरू थे इसलिये साथमें उनकी भी यादगारके तौर पर उनका स्तूप बनाया गया है। हो सकता है कि ये १३ स्तूप उसी स्थान पर हों जिस पर आज कल चौरासीमें जम्बूस्वामीका विशाल मंदिर बना हुआ है और ५०१ स्तूपों का समूह कंकाली टीले के स्थान पर (या उसके संनिकट प्रदेशमें) हो जहाँसे बहुतसी जैनमूर्तियाँ तथा शिलालेख आदि निकले हैं। पुरातत्वज्ञों द्वारा इस विषयकी अच्छी खोज होनेकी जरूरत है। जैनविद्वानों तथा श्रीमानोंको इसके लिए खास परिश्रम करना चाहिये।

जुगलकिशोर मुख्तार

*इसी 'विद्युच्चर' की कथाके नूतन संस्करणको पाठक 'अनेकान्त' की पहली किरणसे पढ़ रहे हैं।

× अथ विद्युच्चरो नाम्ना पर्यटन्निह सन्मुनिः॥ १२-१२३॥
एकादशांगविद्यायामधीती विदधत्तपः।
अथान्येद्युःसनिःसंगो मुनिपंचशतैर्वृतः॥ १२४॥
मथुरायां महोद्यानप्रदेशेष्वगमन्मुदा।
तदागच्छत्स वैलक्षयं भानुरस्ताचलं श्रितः॥ १२५॥

* मगधादिमहादेशमथुरादिपुरीस्तथा।
कुर्वन् धर्मोपदेशं स केवलज्ञानलोचनः॥ १२-११८॥
वर्षाष्टादशपर्यंत स्थितस्तत्र जिनाधिपः।
ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात्॥ ११९॥

महाराजा खारवेलसिरिके शिलालेखकी १४ वीं पंक्ति

[लेखक—श्री० मुनि पुण्यविजयजी]

मान्य विद्वन्महोदय श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल महाशय ने कलिंगचक्रवर्त्ती महाराज खारवेल के शिलालेखका वाचन, छाया और अर्थ आदि बड़ी योग्यता के साथ किया है। तथापि उस शिलालेख में अद्यापि ऐसे अनेक स्थान हैं जो अर्थकी अपेक्षा शंकित हैं*। आजके इस लेखमें उक्त शिलालेखकी १४वीं पंक्ति के एक अंश पर कुछ स्पष्टीकरण करनेका इरादा है। वह अंश इस प्रकार है—

"अरहयते पखीनसंसितेहि कायनिसीदीयाय यापञावकेहि राजभितिनि चिनवतानि वासा सितानि।"

ऊपर जो अंश उद्धृत किया गया है इसमेंसे सिर्फ जिसके नीचे लाइन की गई है इसके विषय में ही इस लेखमें विचार करना है।

श्रीमान जायसवाल महाशयने इस अंशकी "कायनिषीद्यां यापज्ञापकेभ्यः" ऐसी संस्कृत छाया करके "कायनिषीदी" (स्तूप) पर (रहनेवालों) पाप× बताने वालों (पापज्ञापकों), के लिये ऐसा जो अर्थ किया है* इसके बदलेमें उपरि निर्दिष्ट अंशकी छाया और इसका अर्थ इस प्रकार करना अधिकतर उचित होगा—

छाया—कायनैषेधिक्या यापनीयकेभ्यः—यापनीयेभ्यः।

अर्थ—(केवल मन और वचन से ही नहीं बल्कि) काया के द्वारा प्राणातिपातादि अशुभ क्रियाओं की निवृत्ति द्वारा (धर्मका) निर्वाह करने वालों के लिये।

यहाँपर "कायनिसीदीयाय यापञावकेहि" अंशका जो अर्थ किया गया है वह ठीक है या नहीं? इस अर्थ के लिये कुछ आधार है या नहीं?, उक्त शिलालेखके अंश के साथ पूर्णतया या अंशतः तुलना की जाय ऐसे शास्त्रीय पाठ जैनग्रन्थों में पाये जाते हैं या नहीं? उक्त शिलालेखका सम्बन्ध दिगम्बर जैन सम्प्रदायसे है या श्वेताम्बर जैनसम्प्रदायसे है? इत्यादि विषयोंका निर्णय करनेमें सुगमता होनेके लिये जैनग्रन्थों के पाठ क्रमशः उद्धृत किये जाते हैं—

श्वेताम्बर जैनसम्प्रदायके साधुगणको प्रति दिन आवश्यक क्रियारूपमें काम आने वाले× 'षड्विध आवश्यकसूत्र' के तीसरे 'वन्दणय' (सं० वंदन) नामक आवश्यक सूत्र में निम्न लिखित पाठ है—

* अर्थकी अपेक्षा ही नहीं किन्तु शब्द-साहित्यकी अपेक्षा भी अभी शंकित हैं। प्रकृत पंक्तिका पाठादिक भी पहले कुछ प्रकट किया गया था और पीछेसे कुछ, और इसलिये उसकी विशिष्ट जांच होनेकी ज़रूरत है। —सम्पादक

× नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग १० अङ्क ३ में "जो कदाचित् 'यापज्ञापक' कहलाते थे।" ऐसा भी लिखा है।

* देखो, नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८ अङ्क ३.

× आवस्सयं छव्विहं पण्णत्त, तं जहा—सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणयं पडिक्कमणं काउस्सग्गो पच्चक्खाणं। नन्दीसुत्तं।

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाएअणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि । × × × जत्ता भे जवणिज्जं च भे ..

मान्य आचार्य श्रीजिनदासगणि महत्तरने और याकिनीमहत्तरासून श्रीहरिभद्राचार्य ने 'षड्विध आवश्यकसूत्र' की चूर्णी और टीका में इस सूत्र पर अतिविस्तृत व्याख्या की है, जिन में से उपयोगी अंश यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

"चूर्णी—जावणिज्जाए निसीहियाए । यावणी यानामजा केणति पयोगेण कज्जसमत्था, जा पुण पयोगेण वि न समत्था सा अजावणीया, ताए जावणिज्जाए । काए ? निसीहियाए, निसीहि नाम सरीरगं वसही थंडिलं च भण्णति, जतो निसीहिता नाम आलयो वसही थंडिल च, सरीरं जीवस्स आलयो त्ति, तथा पडिसिद्धनिसेवणनियत्तस्स किरिया निसीहिया, ताए ॥"

आवश्यक चूर्णी उत्तरभाग पत्र ४६ ॥

टीका —या प्रापणे, अस्य एयन्तस्य कर्त्तर्यनीयच्, यापयतीति यापनीया तया । षिधु गत्याम्, अस्य निपूर्वस्य घञि निषेधनं निषेधः निषेधेन निर्वृत्ता नैषधिकी, प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद्वा 'नैषेधिका' इत्युच्यते । × × × 'यापनीयया' यथाशक्तियुक्तया 'नैषेधिक्या' प्राणातिपातादिनिवृत्तया तन्वाशरीरेणेत्यर्थः ॥ ××× यापनीयं चन्द्रिय नोइन्द्रियोपशमादिना प्रकारेण 'भे' भवताम् ? शरीरमिति गम्यते ॥"

—आवश्यक हारिभद्री टीका पत्र ५४६—४७ ॥

"इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए मत्थएण वंदामि ।" खमासमणसुत्तं ॥

इन उद्धृत पाठोंमें कायनिसीहियाए यापनावकेहि" अंश से पूर्णतया और अंशतः तुलना की जाय ऐसा दोनों प्रकार का उल्लेख है ।

'विवाहपण्णत्ती' (सं०व्याख्याप्रज्ञप्ति दूसरा नाम भगवती सूत्र) और 'नायाधम्मकहाओ' (सं० ज्ञाताधर्मकथाः) आदि जैन आगमग्रन्थोंमे "यापनावकेहि" अंशके साथ तुलना की जाय ऐसा पाठ और साथ में इसका अर्थ भी मिलता है । जो इस प्रकार है—

"वाणियगामे नामं नगरे × × × सोमिले नामं माहणे × × × समणं भगवं महावीरं एवं वयासी—जत्ता ते भंते ! ? जवणिज्जं ते भंते ! ? अव्वाबाहं पि ते? फासुयविहारं ते ? सोमिला ! जत्ता वि मे, जवणिज्जं पि मे, अव्वाबाहं पि मे, फासुयविहारं पि मे । × × × किं ते भंते ? जवणिज्जं ? सोमिला ! जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—इंदियजवणिज्जे य नो इंदियजवणिज्जे य । से किं तं इंदियजवणिज्जे ? सोमिला ! जं मे सोइन्दियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइ निरुवहयाइं वसे वट्टंति से त्तं इन्दियजवणिज्जे । से किं तं नोइन्दियजवणिज्जे ? सोमिला ! जं मे कोहमाणमायालोभा वोच्छिन्ना नो उदीरेंति से त्तं नोइन्दियजवणिज्जे । सेत्तंजवणिज्जे ॥

—भगवतीसूत्र सटीक पत्र ७५७—५८ ॥

यह उपर्युक्त पाठ ही अक्षरशः 'नायाधम्मकहाओ' आदि जैनआगमोंमें नजर आता है । फर्क मात्र इतना है कि—'भगवतीसूत्र' में सोमिलनामका ब्राह्मण श्रमण भगवान महावीरको ये प्रश्न पूछता है तब 'ज्ञाताधर्म-

कथाः*' आदि सूत्रों में शुक नामक परिव्राजक आदि भिन्न भिन्न व्यक्तियाँ थावच्चापुत्र आदि मुनियों को ये प्रश्न पूछती हैं।

आचार्य अभयदेव ने उपर्युक्त सूत्र की टीकामें 'जवणिज्जं' का संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार लिखा है-

'यापनीयं' मोक्षाध्वनि गच्छतां प्रयोजक इन्द्रियादिवश्यतारूपो धर्मः॥

—भगवतीसूत्र सटीक पत्र ७५९

इस लेखमें जिन शास्त्रीय पाठों का उल्लेख किया गया है वे सभी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में पाठ हैं। दिगम्बर जैनसम्प्रदाय के ग्रन्थों में "कायनिसीदीयाय यापणावकेहि" अंशके साथ तुलना की जाय ऐसे पाठ हैं या नहीं यह जबतक मैंने दिगम्बर साहित्यका अध्यन नहीं किया है तब तक मैं नहीं कह सकता हूँ। और न्याय-व्याकरणतीर्थ पं० श्रीहरगोविंददास कृत 'पाइअसद्दमहण्णवो' आदि कोशों के जैसा कोई दिगम्बर साहित्य का कोश भी नहीं है × कि जिसके द्वारा मेरे जैसा अल्पाभ्यासी भी निर्णय कर सके। दिगम्बर सम्प्रदायके साहित्यके विशिष्ट अभ्यासी पं० श्रीनाथूरामजी प्रेमी और 'अनेकान्त' पत्रके सम्पादक बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार महाशय के द्वारा मुझे समाचार मिले हैं कि—ऊपर लिखे पाठोंके साथ तुलना की जाय ऐसा कोई पाठ दिगम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें अभी तक देखनेमें नहीं आया है।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि—खारवेल-शिलालेखकी १५ वीं पंक्तिमें "अरहतनिसीदीयासमीपे" का "अर्हत की निषीदी(स्तूप) के पास" ऐसा अर्थ किया गया है—अर्थात् 'निसीदिया' शब्द का अर्थ 'स्तूप' किया है—और १४ वीं पंक्तिमें इसी शब्द का भिन्न अर्थ क्यों किया जाता है? इसका समाधान यह है कि— श्वेताम्बर जैनसम्प्रदाय के ग्रन्थों में 'निसीहिया' या निसेहिया' शब्द बहुत जगहों पर भिन्न भिन्न अर्थमें प्रयोजित किया गया है—

णिसीहिया स्त्री० [निशीथिका] १ स्वाध्याय-भूमि अध्ययनस्थान, (आचारांग २-२-२)। २ थोड़े समय के लिये उपात्तस्थान, (भगवती १४-१०)। आचारांग सत्रका एक अध्ययन (आचा०२-२-२)।

णिसीहिया स्त्री० [नैषेधिकी] १ स्वाध्यायभूमि, (समवायांग पत्र ४०)। २ पापक्रियाका त्याग,(प्रतिक्रमणसूत्र)। ३ व्यापारांतरके निषेधरूप सामाचारी-आचार, (ठाणांगसूत्र १० पत्र ४९९)। ४ मुक्ति मोक्ष। ५ श्मशानभूमि, तीर्थंकर या मुनिके निर्वाण का स्थान, स्तूप, समाधि, (वसुदेवहिण्डि पत्र २६४—३०९)। ६ बैठने का स्थान। ७ नितम्बद्वारके समीप का भाग (राज प्रश्नीय सूत्र)। ८ शरीर, ९ वसति—साधुओं के रहने का स्थान, १० स्थण्डिल—निर्जीव भूमि, (आवश्यक चूर्णी)। *

—पाइअसद्दमहण्णवो पत्र ५१२—१३॥

अंत में इस लेखको समाप्त करते हुए मुझे कहना चाहिये कि— प्रस्तुत लेखका कलेवर केवल शास्त्रीय पाठोंसे ही बढ गया है, किन्तु शिलालेखके अंश की तुलना और इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिये यह अनिवार्य है।

* देखो पत्र १०६-७.

× दिगम्बर समाजके लिये निःसन्देह यह एक बड़ी ही लज्जा का विषय है। उसके श्रीमानों तथा विद्वानों का ऐसे उपयोगी कार्य की तरफ ध्यान ही नहीं है। —सम्पादक

* इन अर्थोंमें कुछ नये अर्थ भी शामिल किये गये हैं।

भगवती आराधना और उसकी टीकाएँ

[लेखक—श्रीयुत पं० नाथरामजी प्रेमी]

जैन समाजमें 'भगवती आराधना' नामका एक बहुत ही प्रसिद्ध तथा प्राचीन ग्रन्थ है। यह शौरसेनी प्राकृतभाषामें है और इसमें सब मिला कर २१६६× गाथाएँ हैं। इनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपरूप चार आराधनाओंका विवेचन है। यह प्रधानतः मुनिधर्मका ग्रन्थ है। मुनिधर्मकी अन्तिम सफलता शान्तिपूर्वक समाधिमरण है और इस समाधिमरणका—पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण आदिका—इसमें ... और विस्तृत विवेचन है। दिगम्बर सम्प्रदायमें इस विषयको इतने विस्तारसे समझाने वाला यही सबसे पहला ग्रन्थ उपलब्ध है। अन्य सब ग्रंथोंमें इस विषय पर जो कुछ थोड़ा बहुत लिखा हुआ मिलता है, वह प्रायः इसके बादका और संभवतः इसीके आधारसे लिखा हुआ है। इसका मंगलाचरण यह है :—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते ।
वंदित्ता अरिहंते वुच्छं आराहणा कमसो ॥

अन्तमें ग्रन्थकर्त्ता आचार्य अपना परिचय इस प्रकार देते हैं :—

अज्जजिणणंदिगणिसव्वगुत्तगणिअज्जमित्तणंदीणं
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ २१६१
पुव्वायरियणिवद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ।
आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोजिणा रइदा ॥ ६२
छदुमत्थदाइ इन्थदु जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं ।
सोधिंतु सुगीदत्था पवयणवच्छल्लदाए दु ॥ ६३॥
आराधना भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती ।
संघस्स सिवज्जस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥ ६४
असुरसुरमणुअकिण्णररविससिकिंपुरिसमहियवरच
रणो दिसउममबोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवणिंदो ॥
खमदमणियमधराणंधुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं ।
णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणमो जिनवराणं ॥ ६६

अर्थात्—आर्य जिननन्दि गणि, आर्य सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्रनन्दि गणिके चरणोंके निकट अच्छी तरह सूत्र और अर्थको समझ करके, पूर्वाचार्यों की निबद्ध की हुई रचना के आधार से पाणिदलभोजी (करतल पर लेकर भोजन लरने वाले) शिवार्य ने यह आराधना अपनी शक्तिके अनुसार रची है। अपनी छद्मस्थता या ज्ञानकी अपूर्णताके कारण इसमें जो कुछ प्रवचनविरुद्ध लिखा गया हो, उसे सुगीतार्थ—पदार्थ को भले प्रकार समझने वाले—प्रवचनवात्सल्य भावसे शुद्ध कर लें। इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णन की हुई भगवती आराधना संघको और शिवार्यको (मुझे) उत्तम समाधि दे। असुर-सुर मनुष्य-किन्नर-रवि-शशि-किंपुरुषों द्वारा पूज्य और तीन भुवनके इन्द्र भगवान् महा-

× यद्यपि मुद्रित प्रति के अन्त में गाथासंख्या यही दी है परन्तु यह कुछ सुनिश्चित मालूम नहीं होती; क्योंकि 'विजयोदया' नामकी टीकामें २१४८ संख्या दी है। अतः जांच होनेकी ज़रूरत है।

—सम्पादक

वीर मुझे बोधि लाभ दें। क्षम (क्षमा), दम (इंद्रिय-दमन), नियम के धारक, कर्मरहित, सुखदुःखविप्रयुक्त और ज्ञानसे सल्लेखना को उद्योतित करनेवाले जिनवरों (तीर्थंकरों) को नमस्कार हो।

इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकर्त्ता का पूरा नाम आर्य शिवनन्दि या शिवगुप्त रहा होगा जिसको कि संक्षेप करके शिवार्य लिखा गया है। 'आर्य' शब्द आचार्यका पर्यायवाची है। प्राचीन ग्रंथोंमें यह शब्द अधिक व्यवहृत हुआ है। परन्तु ये शिवार्य स्वामी समन्तभद्र के शिष्य शिवकोटि कैसे बन गये, यह मैं बहुत सोच विचार करने पर भी नहीं समझ सका हूँ। स्वामी समन्तभद्रकी कथामें लिखा है कि, काशीके जिस शैवराजा शिवकोटिको स्वामी समन्तभद्रने अपना प्रभाव दिखला कर जैनधर्ममें दीक्षित किया था उसीने पीछे भगवती आराधनाकी रचना की थी। परन्तु इस कथा-भाग पर विश्वास करने की इच्छा नहीं होती। क्योंकि यदि इस ग्रन्थके कर्त्ता सचमुच ही समन्तभद्रके शिष्य होते तो यह संभव नहीं था कि वे अपने ग्रन्थमें उनका उल्लेख न करते। कमसे कम उनका नामस्मरण तो अवश्य करते। वे स्पष्टरूप से अपने तीन गुरुओं का स्मरण करते हैं और कहते हैं कि उनके चरणोंके निकट अध्ययन करके मैंने इसे लिखा है। जान पड़ता है कि थोड़ी सी नामकी समता देख कर ही 'शिवार्य' को 'शिवकोटि' बना डाला गया है और फिर उनका स्वामी समन्तभद्रसे सम्बन्ध जोड़ दिया गया है।

स्वामीसमन्तभद्रकी उक्त कथा भट्टारक प्रभाचंद्रके गद्य कथाकोशमें और उसी के पद्यानुवादरूप ब्रह्मचारी नेमिदत्तके आराधनाकथाकोशमें दी हुई है और ये दोनों ही कथाकोश विक्रमकी १६वीं शताब्दीके बने हुए हैं ×। अभी तक इनसे पहलेके किसी भी प्राचीन ग्रन्थसे इसकी पुष्टि नहीं हुई है; अतएव आश्चर्य नहीं, जो यह भ० प्रभाचंद्रकी ही कल्पना हो *। इससे पहले का एक वृहत् कथाकोश उपलब्ध है, जो शक संवत् ८५३ (वि० संवत् ९८९) का बना हुआ ‡ है। और जिसके कर्त्ता आचार्य हरिषेण हैं। ये उसी प्रान्त के समीप के रहने वाले थे जहाँ कि स्वामी समन्तभद्र हुए हैं। इन के कथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रकी कथा अवश्य होती यदि वह उस समय इस रूपमें प्रचलित होती जिस रूपमें कि प्रभाचन्द्र और ब्रह्म नेमिदत्तने लिखी है। एक बात और है और वह यह कि, हरिषेण के कथाकोशमें वे सभी कथायें मौजूद हैं जो आराधना कथाकोशमें मिलती हैं; केवल स्वामी समन्तभद्रकी और इसीके तुल्य भट्टाकलंकदेव तथा पात्रकेसरीकी कथायें नहीं हैं। अतएव इन कथाओंको बहुत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। कम से कम इनकी प्रत्येक बात ऐतिहासिक नहीं मानी जा सकती ×।

× ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य थे। उन्होंने अपना श्रीपालचरित्र नामका ग्रंथ वि० सं० १५८५ में बनाकर समाप्त किया है। ब्रह्मनेमिदत्तका कथाकोश छप चुका है, परन्तु प्रभाचन्द्रका अभी नहीं छपा।

* पं० आशाधरजी भ० प्रभाचन्द्रसे पहले १३वीं शताब्दीमें हुए हैं। उन्होंने इसी ग्रंथकी टीका में मूल ग्रन्थकारका नाम 'शिव-कोटि' दिया है। इससे यह नामकल्पना प्रभाचन्द्रकी ही नहीं हो सकती। —सम्पादक

‡ इस ग्रन्थका पूरा परिचय प्राप्त करनेके लिए देखो, जैनहितैषी भाग १४ अङ्क ७-८में मेरा 'श्रीहरिषेणकृत कथाकोश' शीर्षक लेख।

× भट्टाकलंककी कथा कितनी कपोलकल्पित है, यह जाननेके लिए जैनहितैषी भाग ११ अङ्क ७-८ में मेरा लिखा हुआ 'भट्टा-कलंकदेव' शीर्षक लेख पढ़िए। स्वयं अकलंकदेवके राजवार्तिकमें नीचे लिखा हुआ पद्य है जिससे मालूम होता है कि वे 'लघुहव्व' नामक राजा के पुत्र थे—

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः॥

जब कि आराधनाकथाकोशके कर्ताने उन्हें पुरुषोत्तम मन्त्रीका पुत्र बतलाया है।

देवचन्द्रकृत 'राजावलिकथे' नामका एक कनडी कथा ग्रन्थ है जो विक्रम संवत् १८९६का बना हुआ है। यह बहुत ही आधुनिक है। इसमें स्वामी समन्तभद्रकी कथा है, परन्तु वह उक्त कथाकोशवर्णित कथासे बहुत कुछ भिन्न है ×। उसमें शिवकोटिको स्वामी समन्तभद्रका शिष्य जरूर बतलाया है, फिर भी भगवती आराधनाका कर्त्ता नहीं बतलाया।

इसी प्रकार श्रवण बेल्गोलके १०५वें शिलालेख में जो शक संवत् १०५० (वि० सं० ११८५)का लिखा हुआ है। शिवकोटिको समन्तभद्रका शिष्य† बतलाकर उन्हें भगवती आराधनाका नहीं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाका कर्त्ता बतलाया है। यथा:—

तस्यैवशिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालंबनदेहयष्टिः
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

आदिपुराणके कर्त्ता भगवज्जिनसेनने भी शिवकोटि का एक ग्रन्थकर्त्ताके रूपमें स्मरण किया है; परन्तु उस से न तो यह मालूम होता है कि वे भगवती आराधनाके कर्त्ता थे और न यही कि वे समन्तभद्रके शिष्य थे और पहले शैवनरेश थे। वह श्लोक यहहै—

शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाऽऽराध्य चतुष्टयं
मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिर्मुनीश्वरः ॥४९

इसमें लिखा है कि—'वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करें जिनकी वाणीके द्वारा चतुष्टयरूप मोक्षमार्ग का आराधन करके यह जगत् शीतीभूत या शान्त हो गया।'

इससे तो केवल यही मालूम होता है कि उनका बनाया हुआ कोई ऐसा ग्रन्थ है जिस में चतुष्टयात्मक (दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप) मोक्षमार्गका स्वरूप बतलाया गया है; परन्तु वह ग्रन्थ भगवती आराधना ही है, यह कैसे कहा जा सकता है ?*

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यदि आचार्य जिनसेन शिवकोटिको समन्तभद्रका शिष्य मानते होते, तो पूर्व ग्रन्थकर्त्ताओंके स्मरण प्रसङ्गमें समन्तभद्रके बाद ही वे उनका स्मरण करते; परंतु ऐसा न करके समन्तभद्रके बाद श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचंद्रकी प्रशंसामें चार पाँच श्लोक लिखकर फिर शिवकोटिके स्मरण का उक्त श्लोक लिखा है। यह ठीक है कि, इस प्रकारके स्मरण समयके क्रमसे बहुत ही कम किये जाते हैं, फिर भी समन्तभद्र और शिवकोटिका पूर्वोक्त गुरु-शिष्य सम्बन्ध यदि आदिपुराणकारको मालूम होता तो वे इतना क्रमवैषम्य कभी न करते ×।

× देखो श्रीयुत पं० जुगलकिशोरजी कृत 'स्वामी समन्तभद्र'

† 'विक्रान्तकौरव' नाटक 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' ग्रन्थ और नगर ताल्लुकेके शिलालेख नं० ३५में भी, जो कि शक सं० ९९९ का लिखा हुआ है, शिवकोटि को समन्तभद्रका शिष्य लिखा है। —सम्पादक

* यद्यपि इस श्लोकमें 'भगवती आराधना' या 'आराधना' नामक ग्रंथका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है परन्तु जिस ढंगसे उल्लेख किया है उस परसे वह एक तरह प्रकृत ग्रंथ-विषयक कुछ ध्वनित जरूर होता है। और जहां तक मैं समझता हूँ इस उल्लेखको साथमें लेकर ही यह ग्रन्थ प्रकट रूपमें शिवकोटिका समझा जाने लगा है। पं० आशाधरजी ने भी ऐसा ही समझा है। हो सकता है कि इस समझने में भूल हो या यह उल्लेख ही कुछ गलत हो अथवा इसमें समन्तभद्रके शिष्य शिवकोटिसे भिन्न किसी दूसरे ही शिवकोटिका उल्लेख हो। और यह भी सम्भव है कि भगवती आराधनामें जिन 'जिननन्दि' आचार्यका शिवार्यने अपने गुरु रूपसे उल्लेख किया है वह समन्तभद्रका ही नामान्तर हो—'समन्तभद्र' यह 'जिन' का पर्याय नाम भी है—उनका दीक्षानाम 'जिननन्दि' रहा हो और 'समन्तभद्र' नाम बादको ऐसे ही प्रसिद्ध हुआ हो जैसे देवनन्दि का 'पूज्यपाद' नाम प्रसिद्ध हुआ है। परन्तु ये सब बातें अभी विशेष अनुसन्धानसे सम्बन्ध रखती हैं। —सम्पादक

× जो आचार्य अकलंकके ग्रन्थोंके टीकाकार प्रभाचन्द्रका उल्लेख अकलंकसे भी पहले करते हैं उनके विषयमें क्रम-वैषम्य न करनेकी यह कल्पना कुछ ठीक मालूम नहीं होती। —सम्पादक

भगवती आराधना की रचना कब हुई थी, इसके स्पष्ट जानने का अभी तक कोई साधन उपलब्ध नहीं हुआ है; परन्तु यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि यह बहुत प्राचीन ग्रन्थ है ×। स्वामी समन्तभद्रसे तो पहले का अवश्य होगा। आर्य शिवने अपने जिन तीन गुरुओं का उल्लेख किया है, उनमेंसे 'सर्वगुप्त' का नाम श्रवणबेलगोलके १०५वें नम्बरके शिलालेखमें मिलता है। इस शिलालेखमें अंगधारी मुनियों का उल्लेख करके फिर कुँभ, विनीत, हलधर, वसुदेव, अचल, मेरुधीर, सर्वज्ञ, सर्वगुप्त, महिधर, धनपाल, महावीर, वीर इन आचार्योंके 'इत्याद्यनेकसूरि' कह कर नाम लिये हैं। और फिर कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा दी है। यदि इस शिलालेखमें वर्णित 'सर्वगुप्त' आर्य शिवके ही गुरु हों, तो उनका समय कुन्दकुन्दाचार्यके पहले तथा वीरनिर्वाण संवत् ६८३ के बाद (क्योंकि अंगज्ञान वीर सं०६८३ तक रहा है) मानना होगा और ऐसी दशामें वे अवश्य ही स्वामी समन्तभद्रसे पहले ठहरेंगे। स्वामी समन्तभद्र का समय चौथी पाँचवीं शताब्दिके लगभग बतलाया जाता है * परन्तु भगवती आराधना की रचनाशैली इससे पूर्व की है। मुझे तो इस ग्रन्थ की 'विनयोदयाटीका' भी चौथी पाँचवीं शताब्दीके बाद की नहीं जान पड़ती *।

× इसमें ग्रंथकर्ता शिवार्यने अपना जो विशेषण 'पाणितलभोजी' दिया है उससे इतना तो साफ़ ध्वनित होता है कि इस ग्रंथकी रचना उस समय हुई है जब कि जैनसमाजमें करतल भोजियोंके अतिरिक्त मुनियोंका एक दूसरा सम्प्रदाय पात्रमें भोजन करने वाला भी उत्पन्न हो गया था। उसी से अपनेको भिन्न दिखलानेके लिये इस विशेषण के प्रयोगकी ज़रूरत पड़ी है। यह सम्प्रदाय भेद दिगम्बर और श्वेताम्बरका भेद है, जिसका समय उभय सम्प्रदायों द्वारा क्रमशः वि० सं०१३६ तथा वी०नि०सं० ६०६ (वि०सं०१३६) बतलाया जाता है। इससे यह ग्रन्थ इस भेदारंभसमयके कुछ बादका अथवा इसके करीबका रचा हुआ है ऐसा जान पड़ता है। —सम्पादक

* दूसरी शताब्दी भी बतलाया जाता है —सम्पादक

* यह टीका देहलीके नये मन्दिरमें भी मौजूद है और इस समय मेरे सामने उपस्थित है। इस प्रतिमें टीकाका नाम 'विजयोदया' दिया है—'विनयोदया' नहीं। और प्रति विक्रम सं०१८६३ की लिखी हुई है। अस्तु; इस टीकाके पन्ने पलटने पर मुझे मालूम हुआ है कि इसमें कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थ-वाक्यों तथा उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रोंका जगह जगह पर उल्लेख है, सिद्धसेनाचार्यकृत सन्मतितर्कके वाक्य भी उद्धृत हैं, और कई स्थानों पर पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिके वाक्य भी उद्धृत पाये जाते हैं, जिनके दो नमूने इस प्रकार हैं—

"मिथ्यादर्शनज्ञानचरित्रेभ्यः कथं इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः ॥"

"तथा चोक्तं—एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरेति ॥"

चूंकि पूज्यपादका समय विक्रमकी छठी शताब्दी सुनिश्चित है। इससे यह टीका विक्रमकी छठी शताब्दी के प्रायः बादकी बनी हुई जान पड़ती है। इस टीकाके कर्त्ता आचार्य अपनेको 'चन्द्रनन्दी' का प्रशिष्य और बलदेवसूरिका शिष्य लिखते हैं। चन्द्रनन्दीका सबसे पुराना उल्लेख जो अभी तक उपलब्ध हुआ है वह श्रीपुरुषका दानपत्र है, जो 'गोवमैय' को ई० सन् ७७६ में दिया गया था। इसमें गुरु रूपसे विमलचन्द्र, कीर्तिनन्दी, कुमारनन्दी और चन्द्रनन्दी नामके चार आचार्यों का उल्लेख है (S.I.J Pt.II, 88)। बहुत सम्भव है कि टीकाकारने इन्हीं चन्द्रनन्दीका अपनेको प्रशिष्य लिखा हो। यदि ऐसा है तो इस टीकाके बननेका समय ८वीं ९वीं शताब्दी तक पहुँच जाता है। चन्द्रनन्दीका नाम कर्मप्रकृति भी दिया है और 'कर्मप्रकृति' का वेलूरके १७वें शिलालेखमें अकलंकदेव और चन्द्रकीर्तिके बाद होना बतलाया है, और उनके बाद विमलचन्द्रका उल्लेख किया है। इससे भी इसी समयका समर्थन होता है। बलदेवसूरिका प्राचीन उल्लेख श्रवणबेल्गोलके दो शिलालेख नं० ७ और १५ में पाया जाता है, जिनका समय क्रमशः ६२२ और ५७२ शक संवत्के लगभग अनुमान किया गया है। बहुत सम्भव है कि इन्हींमेंसे कोई बलदेवसूरि टीकाकारके गुरु रहे हों। इनके समयसे भी उक्त समयको पुष्टि मिलती है। इसके सिवाय, नागनन्दीको भी टीकाकारने जो अपना गुरु बतलाया है वे वेही जान पड़ते हैं 'असग' कविके गुरु थे और उनका भी समय ८वीं ९वीं शताब्दी है। इस घटनासमुच्चय परसे यह टीका प्रायः ८वीं ९वीं शताब्दीकी बनी हुई जान पड़ती है।

—सम्पादक

खेद है कि इस प्राचीन ग्रन्थके पठन-पाठनकी ओर विद्वानोंका ध्यान नहीं है और तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करना तो लोग जानते ही नहीं हैं। आचार्य वट्टकेरका 'मूलाचार' और यह 'भगवती आराधना' दोनों ग्रन्थ उस समयके हैं जब मुनिसंघ और उसकी परम्परा अविच्छिन्न रूपसे चली आ रही थी और जैनधर्मकी दिगम्बर और श्वेताम्बर नामकी मुख्य शाखायें एक दूसरेसे इतनी अधिक जुदा और कटुभावापन्न नहीं हो गई थीं जितनी कि आगे चल कर हो गई। इन दोनों ही ग्रन्थों में ऐसी सैंकड़ों गाथायें हैं, जो श्वेताम्बरसम्प्रदायके भी प्राचीन ग्रन्थों में मिलती हैं और जो दोनों सम्प्रदायोंके जुदा होनेके इतिहासकी खोज करने वालों को बहुत सहायता दे सकती हैं। पं० सुखलालजी ने 'पंच प्रतिक्रमण' × नामक ग्रन्थकी विस्तृत भूमिका में एक गाथासूची देकर बतलाया है कि भद्रबाहु स्वामी की 'आवश्यक-निर्युक्ति' और वट्टकेर स्वामीके 'मूलाचार' की पचासों गाथायें बिल्कुल एक हैं। अभी बम्बई में जब मैंने भगवती आराधनाकी कुछ गाथायें पढ़ कर सुनाईं, तब उन्होंने कहा कि उनमेंसे भी अनेक गाथायें श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें मिलती हैं। उदाहरणके लिए ४२७ नम्बरकी नीचे लिखी गाथा* देखिए:—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडपरियम्मे ।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जो सवणकप्पो ॥

× यह अतिशय महत्वपूर्ण विस्तृत भूमिका संयुक्त ग्रन्थ 'आत्मानन्द-जैन पुस्तक-प्रचारक-मंडल' रोशन मुहल्ला आगरा ने प्रकाशित किया है और प्रत्येक जैनीके अध्ययन करने योग्य है। सामायिक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओं पर प्रकाश डालने वाला इससे अच्छा ग्रन्थ शायद ही कोई मिल सके।

* 'विजयोदया' टीका की देहली प्रतिमें इस गाथा का नम्बर ४१८ दिया है और इसी तरह अन्यत्र उद्धृत गाथाओं के नम्बरोंमें भी भेद है। —सम्पादक

इस गाथा में दस प्रकारके श्रमणकल्पका नामोल्लेख है। बिलकुल यही गाथा श्वेताम्बर कल्पसूत्र में मिलती है और शायद आचारांग सूत्र में भी है। इस बातका उल्लेख करते हुए पण्डित जी लिखते हैं कि:— "मूलाचारमें श्रीभद्रबाहुकृत निर्युक्तिगत गाथाओंका पाया जाना बहुत अर्थसूचक है। इसमें श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदायकी मौलिक एकताके समयका कुछ प्रतिभास होता है।"

इस ग्रन्थ में कुछ विषय ऐसे हैं, जो श्वेताम्बर-परम्पराके तो अनुकूल हैं; परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय वालों को खटकते हैं। उदाहरणके लिए आगे लिखी हुई गाथायें देखिए जिन में लिखा है कि क्षपकके लिए चार मुनि भोजन लावें—

चत्तारिजना भत्तं उवकप्पंति अगिलाणए पाउग्गं ।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६५॥
चत्तारिजणापाणयमुवकप्पंति अगिलाणए पाउग्गं ।
छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥६६६॥

अर्थात्—लब्धियुक्त और मायाचार रहित चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपकके योग्य उद्गमादि-दोषरहित भोजन और पानक (पेय) लावें। संस्कृत टीकाकारने इन गाथाओंके 'उवकप्पंति' 'उपकल्पयन्ति'—शब्द का अर्थ 'आनयन्ति' किया है और प्रकरणको देखते हुए यही अर्थ ठीक है; परन्तु भाषावचनिकाकार पं० सदासुख जी इस अर्थसे घबराते हैं; वे कहते हैं कि— "अर इस ग्रन्थकी टीका करने वाला उपकल्पयन्ति का आनयन्ति ऐसा अर्थ लिखा है, सो प्रमाण रूप नाहीं। अर कुछ विशेष लिख्या नाहीं। अर कोऊ या कहै जो आहार ल्यावते होयगे, तो या रचना आगम सूं मिलै नाहीं। अयाचिक वृत्तिके धारक मुनीश्वर भोजन कैसे याचना करें?"

आचार्य वट्टकेरके 'मूलाचार' में भी एक इसी प्रकार का उल्लेख है, जिस पर कविवर वृन्दावनजी को शंका हुई थी और उन्होंने जयपुरके सुप्रसिद्ध दीवान अमरचन्दजीसे इस विषयमें पत्र लिख कर पूछा था तथा उन्होंने उसका समाधान किया था×। मूलाचारकी उस गाथाको भी मैं यहाँ उद्धृत कर देता हूँ :—

सेज्जोगासणिसेज्जा तहोउवहिपडिलिहणाहिउवगाहो।
आहारोसयभोयणविकिंचणं वंदणादीणं ॥ ३९१

इसके विवादास्पद अंशकी संस्कृतटीका इस प्रकार है :—

टीका—आहारेणा भिक्षाचारेण औषधेन शुण्ठीपिप्पल्यादिकेन वाचनेन शास्त्रव्याख्यानेन विकिंचनेन च्युतमलमूत्रादिनिर्हरणेन वन्दनया च पूर्वोक्तानां मुनीनामुपकारः कर्त्तव्यः।

भगवती आराधनामें एक प्रकरण (चालीसवाँ विजहना नामा अधिकार) और भी विलक्षण तथा अश्रुतपूर्व है, जिसमें कि आराधक मुनिके मृतकसंस्कार का वर्णन है। इसमें बतलाया है कि क्षपककी मृत्यु होने पर उसके शरीरको निषधिकासे निकाले और यदि अवेला हो—रात्रि इत्यादि हो—तो जागरण, बन्धन और छेदन की विधि करे। अर्थात् कुछ धीर वीर मुनि क्षपकके मृत शरीरके निकट रात्रि भर जागरण करें और उस शरीरके हाथके और पैरके अँगूठेको बाँध दें तथा छेद दें। क्योंकि यदि ऐसा न किया जायगा तो कोई व्यन्तर आकर शरीरमें प्रवेश कर जायगा, उपद्रव करेगा और संघ को बाधक होगा।

क्षपकके शरीरको आस्थान-रक्षक अथवा गृहस्थ-जन पालकी में स्थापन करके और बाँध करके ले जायँ फिर अच्छा स्थान देख कर उसे डाभ (कुशतृण) से अथवा उसके अभावमें ईंटोंके चूर्ण या वृक्षोंकी केसरसे समतल करके उस पर स्थापित करें। जिस दिशामें ग्राम हो उसकी ओर मस्तक करें और समीप में उपधि अर्थात् पिच्छि कमंडलु आदि रख देवें। पिच्छि कमंडलु आदि रखनेसे यह लाभ है कि यदि उस क्षपक का जीव सम्यग्दर्शनकी विराधनासे व्यन्तर असुर आदि होकर उस स्थानमें आयगा तो अपने शरीरको उन उपकरणोंसहित देखकर फिर धर्ममें दृढ होजायगा! इसके बाद समस्त संघ आराधनाके लिए कायोत्सर्ग करे, वहाँके अधिपतिदेवको इच्छाकार करे और उस दिन उपवास करे, तथा स्वाध्याय नहीं करे।

क्षपकके शरीर को वहाँ छोड़ कर सब चले आवें और फिर तीसरे दिन कोई निमित्तज्ञानी जाकर देखे। वह शरीर जितने दिन अखंडित पड़ा रहेगा, वनके जीवों द्वारा भक्षण नहीं किया जायगा, उतने ही वर्ष उस राज्यमें सुभिक्ष और क्षेम कल्याण रहेगा। इसके

× देखो मेरे द्वारा सम्पादित और जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय द्वारा प्रकाशित 'वृन्दावनविलास' पृष्ठ १३५। कविवर वृन्दावनजी शिखरिणी छन्दमें पूछते हैं :—

सुनी भैया, वैयावरवृत करैया मुनिवर,
करैं कोई कोई रुगि तहिं रसोई निज कर।
तहाँ शंका तंका उठत अति वंका विवरणी,
निरंभी आरंभी अजगुत कथा भीम करणी॥

इसके उत्तर में दीवान अमरचन्दजी ने उक्त ३९१ नम्बर की गाथा और संस्कृत टीका उद्धृत करके लिखा था कि "इसमें यह लिखा है कि वैयावृत्ति करने वाला मुनि आहार से मुनि का उपकार करे, परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि आहार स्वयं हाथ से बना कर देवे। मुनि की ऐसी चर्या आचारांग में नहीं बतलाई है।" इसके अनुसार दीवानजीको मुनिका केवल स्वय रसोई बनाना अयुक्त मालूम होता है। भोजन लाकर देना नहीं। परन्तु पं० सदासुखजी चूँकि ज्यादा कड़े तेरापंथी थे, इस कारण उन्हें आहार लाकर देना भी ठीक नहीं जँचता था।

बाद पक्षी चौपाए आदि क्षपकके शरीरके टुकड़े जिस दिशा को लेगये हों, उस दिशा में क्षेम और सुभिक्ष जान कर समस्त संघ विहार कर जाय।

जहाँ तक हम जानते हैं, बहुत कम लोगों को यह मालूम होगा कि पारसियोंके समान जैन साधुओं का शरीर भी पूर्व कालमें खुली जगह में छोड़ दिया जाता था और उसे पशु पक्षी भक्षण कर जाते थे। वास्तवमें सर्वथा स्वावलम्बशील साधुसमुदायके लिए जो जनहीन जंगल-पहाड़ोंके रास्ते हजारों कोस विहार करता था इसके सिवाय और विधि हो ही नहीं सकती थी। श्वेताम्बरसम्प्रदाय के विद्वानोंसे मालूम हुआ कि उनके ग्रन्थों में भी मुनियोंके शवसंस्कार की पुरातन विधि यही है।

इस ग्रन्थके कई प्रकरणों में कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जिन में से अनेक ऐतिहासिक जान पड़ते हैं। उनकी छानबीन होनी चाहिए। ब्रह्मचर्यके प्रकरण में नीचे लिखी गाथा है:—

सगडो हु जइणिगाए संसग्गीए दु चरणपब्भट्ठो।
गणियासंसग्गीए य कूपचारो तहा णट्ठो॥११००॥

अर्थात् सकट नाम का मुनि जयिणिका ब्राह्मणी के संसर्गसे चारित्रभ्रष्ट होगया और गणिकाके संसर्ग से कूपचार नष्ट हो गया।

प्रायोपगमन संन्यासके उदाहरण देते हुए कहा है—

सगडालएण वि तहा सत्था गहणेण साधिदो अत्थो
वररुइपओगहेदुं रुट्ठे णंदे महापउमे॥ २०७२॥

अर्थात्—वररुचिके प्रयोगसे जब महापद्म नामका नन्द राजा रुष्ट हो गया, तब शकटाल मंत्री ने शस्त्र-ग्रहण करके अपने आराधना रूप अर्थको साधा।

वररुचि, शकटाल और महापद्म ये सब ऐतिहासिक पुरुष हैं। भगवती आराधना की रचना इनसे पीछे अवश्य हुई है।

शकटाल मुनिकी कथा हमने तीन ग्रंथों में तीन प्रकारकी देखी है। पुण्यास्रव कथाकोशमें (नन्दिमित्रकी कथामें) लिखा है कि शकटाल नन्द राजाका मंत्री था। शत्रुके चढ़ आने पर उसने खज़ानेकी बहुत सी दौलत देकर उसे लौटा दिया, इसपर राजाने उसे सपरिवार कैद कर दिया। परिवारके सब लोग बड़ी बुरी तरह से मर गये, परन्तु शकटाल जीता रहा। पीछे ज़रूरत पड़ने पर राजाने उसे फिर मंत्री बना लिया। मंत्री बनकर उसने अपना वैर लिया। और चाणक्य को कुपित करके उसके द्वारा नन्दवंशका नाश करा दिया। परन्तु इसमें शकटालके मुनि होने या संन्यास लेने आदि का कोई उल्लेख नहीं है। आचार्य हेमचंद्रके 'परिशिष्ट पर्व' में (स्थूलभद्रकथांतर्गत) शकटालको स्थूलभद्रका पिता बतलाया है। वररुचिने चुगली खाकर राजा नन्दको यह विश्वास करा दिया कि शकटाल राजाको मारकर अपने पुत्रको गद्दीपर बिठाना चाहता है। शकटालने यह सोचकर कि राजा मेरे वंश भरको नष्ट करदेगा, अपने छोटे पुत्र श्रीयकको समझा बुझा कर इस बातके लिए राजी कर लिया कि राजाको नमस्कार करते समय वह अपने पिताका सिर काट ले पुत्रने लाचारीसे ऐसा ही किया और शकटालका प्राणान्त होगया। तीसरे ग्रंथ 'आराधनाकथाकोश' में लिखा है कि शकटाल और वररुचि दोनों नन्द राजाके मंत्री थे। दोनों एक दूसरेसे विरुद्ध रहते थे। महापद्म मुनिके उपदेशसे शकटालने जिनदीक्षा ले ली। बहुत समयके बाद शकटालमुनि विहार करते हुए फिर पटनामें आये। उन्होंने राजान्तःपुरमें आहार लिया। इस पर वररुचिने शत्रुतावश चुगली खाई और उससे

उत्तेजित होकर राजाने शकटाल मुनिको घातकसे मरवाडाला। घातकको आता देख कर ही शकटालने संन्यास ले लिया था। यह तीसरी कथा भगवती आराधनाके उक्त उदाहरणके बहुत कुछ अनुरूप तो है;परन्तु शस्त्रग्रहणका इसमें भी कोई उल्लेख नहीं है। कथाओं की यह विषमता चिन्तनीय है।

गोट्ठे पाउव्वगदो सुबन्धुणा गोव्वरे पलिविदम्मि।
डज्झंतो चाणक्को पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं॥१५५६

अर्थात्—गोष्ट (गोशाला) में सुबन्धुने आग लगा दी, उसके भीतर जलते हुए चाणक्यने उत्तम स्थान प्राप्त किया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्य 'चाणक्य' और 'सुबन्धु' दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और आराधना कथाकोशमें चाणक्य मुनिकी * जो। कथा है, उससे भी मालूम होता है कि यह चाणक्य नन्दवंशोच्छेदक से भिन्न कोई दूसरे नहीं हैं।

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी।
घोराए विगिंछाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं॥१५४४

अर्थात्— घोर अवमोदर्य से —अल्प भोजनके कष्टसे—भद्रबाहु मुनि घबराए नहीं। उन्होंने संक्लेश-रहित बुद्धि रखकर उत्तम स्थानको प्राप्त किया।

पाठक देखेंगे कि भद्रबाहूकी अन्य प्रचलित कथाओंमें उनके इस ऊनोदर कष्टके सहन करनेका कोई उल्लेख नहीं है। विस्तारभयसे अन्य उदाहरणों को छोड़ दिया जाता है।

आराधना की टीकाएँ

भगवती आराधनाकी पं० सदासुखजी काशलीवाल कृत भाषावचनिका मुद्रित हो चुकी है। उसके पृष्ठ १६३ में ४२७ नम्बर की गाथाकी टीका करते हुए लिखा है —"इनका विशेष बहुज्ञानी होइ सो आगम के अनुसार जाणि विशेष निश्चय करो। बहुरि इस ग्रंथ की टीका का कर्ता श्वेताम्बर है। इसही गाथाके अर्थ में वस्त्र पात्र कम्बलादि पोषै है कहै है तातें प्रमाणरूप नाहीं है सो बहुज्ञानी विचारि शुद्ध सर्वज्ञ की आज्ञाके अनुकूल श्रद्धान करो।" इससे बहुतसे स्वाध्याय करने वालों का यह विश्वास हो गया है कि भगवती आराधना पर दिगम्बर सम्प्रदायके विद्वानोंकी बनाई हुई कोई संस्कृत टीका नहीं है। केवल एक संस्कृत टीका है, जिसके कर्ता कोई श्वेताम्बराचार्य हैं। परन्तु पाठक यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि इस ग्रंथ पर एक नहीं चार चार संस्कृत टीकाएँ दिगम्बर सम्प्रदायके विद्वानों की बनाई हुई हैं और वे प्रायः सभी पं० सदासुखजी के निवासस्थान जयपुरमें उपलब्ध थीं। उन चारों टीकाओं के नाम ये हैं—१ विनयोदया, २ मूलाराधनादर्पण, ३ आराधनापञ्जिका, और ४ भावार्थदीपिका। आगे क्रम से इन चारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

(अगले अङ्क में समाप्य)

* आराधनाकथाकोशमें भगवती आराधनाके उदाहरणोंका जो विस्तार है, वह कुछ शिथिल और अद्भुत सा है। इस कथामें लिखा है कि, चाणक्य नन्दराजाको मार कर स्वयं राजा बन गया था!

तब

[ले०—श्रीकेदारनाथ मिश्र 'प्रभात' बी.ए. विद्यालङ्कार]

जब इस तिमिरावृत कुटीर में आह, प्रदीप जला लूँगा;
धूल झाड़ कोने-कोने की जब मैं इसे सजा लूँगा।
जब वीणा के छेदों में भर लूँगा स्वागत-गीत उदार;
कर लूँगा तैयार गूँथ कर जब मैं अश्रु-कुसुम का हार।

× × ×

भेजूँगा तब मौन निमन्त्रण हे अनन्त! तू आ जाना;
मेरे उर में अपना अविनश्वर प्रकाश फैला जाना।

मनुष्य-कर्तव्य

[लेखक—श्री० पं० मुन्नालालजी विशारद ।

केवल मनुष्य पर्याय में जन्म ले लेने से ही कोई मनुष्य नहीं कहा जा सकता; बल्कि जो मननशील हों—हेयादेयके विवेक से विभूषित हों—सभ्य, शिष्ट, स्वपरोपकारी एवं कर्तव्यनिष्ठ हों वे ही सज्जन वास्तवमें मनुष्य कहलानेके अधिकारी हैं। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति ने मनुष्य शब्दकी निरुक्ति में कहा है—

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडाजह्मा
मणुब्भवा य सव्वे तह्मा ते माणुसा भणिदा ।

अर्थात्—जो नित्य ही मनके द्वारा भली भांति हेय-उपादेयके विचार करनेमें निपुण हों—गुणदोषादि के विचार तथा स्मरणादि जिनमें उत्कटरूपसे पाये जावें—और जो साथ ही कर्मभूमिकी आदिमें उत्पन्न होनेवाले मनुओं (कुलकरों) की संतान हों उन्हें मनुष्य कहते हैं।

'कर्तुं योग्यं कर्तव्यं'—जो करने योग्य हो, जिसे करना चाहिए, जिसके किये बिना मनुष्यको सफलता नहीं मिल सकती उसे कर्तव्य कहते हैं। मनुष्योंके योग्य जो कर्तव्य वह मनुष्यकर्तव्य है। परिस्थियोंकी अपेक्षा मनुष्य-कर्तव्य असंख्य हैं; परन्तु जब उन्हें संग्रहनय से ग्रहण करते हैं तो वे सब दो कोटियोंमें आजाते हैं—१ लौकिक कर्तव्य और १ पारमार्थिक कर्तव्य।

लौकिक कर्तव्य वे हैं जो मनुष्यको प्रत्येक लौकिक (आर्थिक, शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक और सामाजिक आदि) उन्नति में सफलता दिलावें तथा जिनसे मानव क्रमशः पारमार्थिक कर्तव्य पालनके योग्य बन सकें। इन लौकिक कर्तव्योंके तीन भेद हैं—१ धार्मिक २ आर्थिक और ३ कामिक।

'धार्मिक कर्तव्य' उन्हें कहते हैं जो अशुभ अर्थात् पाप से निवृत्ति और शुभ अर्थात् पुण्य में प्रवृत्ति कराने में सहायक हों, जिन से कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) घटे, इन्द्रियलोलुपता मिटे और मनुष्य आत्मिक उन्नति करने में समर्थ हो सकें। जीवदया, सत्यभाषण, अस्तेय, शील, परिग्रह-परिमाण, प्रशस्त-ध्यान, ईश्वरभक्ति, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप (उपवासादि), दान, वात्सल्य, प्रभावना, तीर्थयात्रा, परोपकार, और देश, जाति तथा समाजसेवादिक ये सब लौकिक कर्तव्यान्तर्गत धार्मिक कर्तव्य हैं।

'आर्थिक कर्तव्य' उन्हें कहते हैं जो मनुष्यको धर्म और नीतिसे अविरुद्ध आर्थिक उन्नति करानेमें सहायक हों, जिनसे धार्मिक कर्तव्योंके पालनमें निराकुलता बढे और मनुष्य आत्म-गौरव या सुयशके साथ अपना जीवनकाल सुख शांति-पूर्वक व्यतीत कर सकें। राज्य-शासन, वाणिज्य, कृषि, शिल्पकला, विज्ञान, अधिकार-संरक्षण, अध्यापन, मुनीमी, गोपालन तथा नौकरी आदिक ये आर्थिक-कर्तव्य हैं।

'कामिक कर्तव्य' उन्हें कहते हैं जो धार्मिक और आर्थिक कर्तव्यों के फलोंको उचित रीतिसे उपभोग कराने में सहायक हों और जिनसे मनुष्य भली भांति शारीरिक तथा योग्य पारिवारिक उन्नति कर सकें। कितने ही लोग केवल विषयवासनाकी तृप्ति को ही काम-कर्तव्य समझते हैं परन्तु उनकी यह समझ काम-शास्त्रके सिद्धांतोंके विरुद्ध है। भोजन, पान, पञ्चेन्द्रियभोग, उपभोग, संभोग ये सब कामिक कर्तव्य हैं।

धार्मिक, आर्थिक और कामिक इन तीनों कर्तव्यों में परस्पर घनिष्ट सम्बंध है—ये एक दूसरेके हितकारी मित्र हैं, इनमें एक के बिना दूसरा शोभा नहीं पाता। इन तीनों प्रकारके कर्तव्योंमें भी धार्मिक कर्तव्य प्रधान हैं, जिनको छोड़कर केवल आर्थिक और कामिक कर्तव्य अंकरहित बिन्दुओंकी समान निःसार और मनुष्यको संसार कीचमें ही फंसाने वाले हैं। आर्थिक कर्तव्योंके समयको उल्लंघन कर दिन रात धार्मिक कर्तव्योंमें ही लगा रहना भी गृहस्थोंके लिये चिंताजनक और हास्यास्पद है। इसी तरह आर्थिक कर्तव्य-विहीन (दरिद्र) पुरुष के कामिक-कर्तव्य भी विडम्बना मात्र है। अतः गृहस्थों को इन तीनों कर्तव्योंका अविरोध रूपसे— परस्पर विरोध न करके—ही पालन करना चाहिये, तभी उन्हें प्रत्येक कर्तव्यमें सफलता एवं सिद्धिकी प्राप्ति हो सकती है। इसीसे श्रीमद्वादीभसिंह सूरिने कहा है—

परस्परविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।
अनर्गलमदः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥

अर्थात्—धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंका यदि परस्पर विरोधरहित सेवन किया जाय तो इस लोकमें बिना किसी विघ्न-बाधाके सुखकी प्राप्ति होगी और क्रमसे अपवर्ग (मोक्ष) सुख भी मिल सकेगा।

'पारमार्थिक कर्तव्य' उन्हें कहते हैं जो मनुष्यको अपने विभाव-विपक्षियों पर पूर्ण विजय प्राप्त करानेमें सहायक हों, जिनसे आत्माकी स्वाभाविक अनंत शक्तियाँ पूरी तौरसे विकसित हो सकें और यह मानव पूर्ण सुखी, अर्हन्, परमात्मा, सिद्ध तथा कृतकृत्य बन सके। महाव्रत, गुप्ति, समिति, विभावविरति, उच्चभावना, परमसाहस, साम्यभाव, दोष-शुद्धि, परमतप, धर्मध्यान, और शुक्लध्यान ये पारमार्थिक कर्तव्य हैं। पारमार्थिक कर्तव्यों का पूर्णरूपसे पालन यद्यपि मुनि अवस्थामें ही हो सकता है तथापि अभ्यासरूपसे उनका एकदेश पालन गृहस्थोंके भी बनता है और इसलिये उन्हें भी उसका पालन करना चाहिये।

वर्तमान में हमारे कर्तव्योंकी जो शोचनीय दशा हो रही है और उनकी दुर्व्यवस्थाओंके कारण उत्थान के बदले जो हमारा भारी अधःपतन हो रहा है उन सब का भीतरी नग्न दृश्य यदि सामने रक्खा जाय तो ऐसा कौन हृदय-हीन होगा जो एकबार अश्रुपात कर उच्च स्वरसे यह न कह उठे कि—'हा! विषय कषायों को पुष्ट करना ही अब हमारा धर्म रह गया है! ईश्वर और ईश्वर के गुणों का ज्ञान न होते हुए भी उनका नाम जप लेना या स्तुतियाँ बोल देना ही अब हमारी ईशभक्ति है! अपनी नामवरी और दो दिन की झूठी वाहवाही लूटने के लिये सहस्रों रुपया पानी की तरह बहा देना ही अब हमारी प्रभावना है! पैसा कमाने के लिये दस पाँच पुस्तकें पढ़ परीक्षा दे लेना ही अब हमारा ज्ञानार्जन है! कुछ कह सुनकर अपना मतलब (स्वार्थ) सिद्ध कर लेना ही अब हमारा परोपकार है! दमन-नीति और कूट-प्रपंचसे प्रजा का सर्वस्व हरण कर ऐश्वर्य्य भोगना ही अब हमारा राज्यशासन है! झूठ बोल कर तथा विश्वासघात कर जिस तिस तरह पैसा पैदा कर लेना ही अब हमारा व्यापार है! धर्म और अर्थ-क्षतिका ध्यान न रख कर मन चाहे अयोग्य पदार्थोंसे इन्द्रियोंको तृप्त कर लेना ही अब हमारा भोगविलास है! पशुओंकी भाँति गृह-मार्गके ज्ञान बिना घृणित रीतिसे स्त्री-प्रसंग कर लेना ही अब हमारा संभोग है! और तत्त्वज्ञान तथा संवेग न होते हुए भी लोभादि-कषायवश ऊँचे ऊँचे वेष धारण कर लेना ही अब हमारा परमार्थ है!!!' कर्तव्यों की इस शोचनीय दशाको देख कर सभी कहेंगे और

स्वीकार करेंगे कि आज कर्तव्य-पथसे हम बहुत दूर हो रहे हैं—हमें यह भी ध्यान नहीं कि हमारे कौन कौन कर्तव्य हैं, उनका क्या ध्येय है और उनका क्या फल है? सच पूछिये तो हमारा ध्यान है एक मात्र धन कमाने में, फ़ैशन बनाने में, शरीरकी आज्ञा बजाने में और दुनियाँको रिझानेमें—उसे अपने अनुकूल बनाने में। तब ऐसी हालतमें उपर्युक्त कर्तव्योंका पालन कैसे हो सकता है? और जब मनुष्यकर्तव्यों का ठीक पालन ही नहीं हो सकता तो फिर हम यथार्थमें मनुष्य भी कैसे कहा सकते हैं? कदापि नहीं। अतः प्यारे भाइयो! यदि सचमुच में मनुष्य बनना है तो इस मिथ्या बुद्धिको छोड़ो, ऐसे विपरीत ध्यानको तोड़ो और अपनी विचार शक्तिको कर्तव्य-पथ में जोड़ो। रात दिन शरीरकी गुलामी करने और धन जोड़ने में ही मनुष्य जीवन के अमूल्य समय को खो देना मनुष्यता नहीं है—पशुता है। और यदि हम चाहते हैं कि हम अपने कर्तव्य-पथ पर लगें, सच्चे कर्तव्य-निष्ठ बनें और स्वपर-कल्याण करते हुए अपना जीवन सुखसे व्यतीत करें तो सबसे पहली आवश्यकता यह है कि हम अपनी भावनाको उच्च बनावें और फिर तदनुकूल कर्तव्योंका पालन करें। उच्च भावना रखते हुए हमें यह विचारना चाहिये कि हमारा रूप यह गोरा काला जड़रूप शरीर नहीं किन्तु अनंतशक्तियुक्त चैतन्य ही हमारा वास्तविक रूप है, इसका न तो कभी नाश होता है और न कभी नूतन उत्पाद। यद्यपि अनादि कालसे विभाव परिणमनके कारण चैतन्य और जड़ शरीर अभिन्न (मिले हुये) से हो रहे हैं तथापि वास्तव में चैतन्य भिन्न है और जड़शरीर भिन्न है। अनंत-काल व्यतीत हो चुका, अनंत ही पर्यायें धारण करलीं परन्तु हमें आजतक अपने रूपका बोध नहीं हुआ था, अब किसी भारी पुण्यउदयसे यह उत्कृष्ट मनुष्यपर्याय और केवलिप्रणीत सद्धर्मकी शरण प्राप्त हुई है, जिसके पावन प्रतापसे आज हमें अपने स्वरूपके विचार करनेका दुर्लभ अवसर मिला है। अतः जिस तरह हो इस जड़ शरीरसे भिन्न अपने चैतन्य स्वरूपकी प्राप्ति करना चाहिये। यह उच्च भावना ही कर्तव्योंकी सफलताकी जननी है, इसके बिना सर्व कर्तव्य निष्फल हैं।

कर्तव्योंके विषयमें जानने योग्य बातें

हम अपने कर्तव्योंका पालन किस तरह करें, इस का भिन्न भिन्न वर्णन तो इस छोटेसे लेखद्वारा हो नहीं सकता तथापि कर्तव्य-पालनके लिये जिन जिन बातों की विशेष आवश्यकता है उनका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है:—

१ कर्तव्योंके पालनमें सद्विचार और दृढ़ताकी बड़ी आवश्यकता है। हमें जिस कर्तव्यको करना है उसके अनुष्ठानसे पहले ही यह देख लेना चाहिये कि वह कर्तव्य हमारी (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप) योग्यताके अनुकूल है या प्रतिकूल, उसके न करने से हमारी क्या हानि थी और अब करनेसे क्या लाभ होगा, उसका ध्येय क्या है और वह किस तरह किया जा सकता है। इस तरहके विचार को ही 'सद्विचार' कहते हैं। कार्य प्रारम्भ होनेके बाद बहुतसे विघ्नसमूहोंके उपस्थित होने पर भी कार्यको अधूरा नहीं छोड़ना किन्तु उसे पूरा करके ही छोड़ना 'दृढता' है।

धार्मिक कर्तव्य-विषयक सूचनाएँ

२ कोई भी धार्मिक कर्तव्य रूढि, लोकलज्जा, भय, आशा अथवा नामवरीकी इच्छासे प्रेरित होकर नहीं किया जाना चाहिये।

३ जिनसे कषाय और इन्द्रिय-लोलुपता बढ़े तथा परिणामोंमें तीव्र संक्लेशता उत्पन्न हो वे कर्तव्य कभी भी धार्मिक कर्तव्य नहीं कहे जा सकते।

४ निःस्वार्थभावसे परके हित में प्रवर्तन करना ही परोपकार है। परोपकारी बनने के लिये सभी जीवोंमें मैत्री, गुणियोंमें प्रमोद, दुःखियोंमें करुणा और विपरीत विचार वालोंमें माध्यस्थता रखना अत्यावश्यक है।

५ पवित्र (आदि-अंत-विरोध-रहित) शास्त्रोंका निरन्तर पठन-पाठन, श्रवण और मनन तथा सज्जन-धर्मात्माओं एवं सच्चे त्यागी व्रतियोंका समागम, इन दो से आत्मोन्नतिमें बड़ी सहायता मिलती है।

आर्थिक कर्तव्य-विषयक सूचनाएँ

६ दुष्टोंका मानमर्दन और सज्जन धर्मात्माओं पर विशेष अनुग्रह रखते हुए न्याय और धर्मसे प्रजा का पालन करना ही राज्यशासन है।

७ झूठ बोल कर और ठगवृत्तिसे पैसा कमाना व्यापार नहीं अन्याय है। अन्यायके पैसेसे कभी धार्मिक कार्य सफल नहीं हो सकते, न अन्यायी व्यापारी सुख और शांतिसे अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। अतः सरलता और सत्यवृत्तिसे ही व्यापार करना चाहिये।

८ शिल्प-सम्बन्धी कार्य वे ही प्रशंसनीय हैं जिनमें चोरी न की जावे और जिनमें विशेष हिंसा न हो। इसी तरह विज्ञानसम्बन्धी कार्योंको भी जानना चाहिये

९ उत्तम बीजको संस्कारित खेतमें समय पर बोने और भली भांति रक्षा करनेसे ही कृषि कार्यों में सफलता मिल सकती है।

कामिक कर्तव्य-विषयक सूचनाएँ

१० पूर्व पुण्यसे प्राप्त हुये विभव, धन, सम्पत्तिका इस तरह उपभोग करना चाहिये जिससे मूल क्षति न हो—अर्थात्, विभवादिका भोगना पाप नहीं है परन्तु उनमें मगन होकर धार्मिक और आर्थिक कर्तव्योंको भूल जाना पाप है।

११ भोजन वही करने योग्य है जो शुद्ध (अभक्ष्य-दोष रहित) सादा (तीव्रकामोत्तेजना रहित) और हितकारी हो—प्रकृति विरुद्ध न हो।

१२ जल-दुग्धादि शुद्ध कपड़ेसे छान कर ही काममें लाने चाहियें।

१३ वस्त्र और भूषण वे ही धारण करने चाहियें जो देश, वय (उम्र), पद, विभव और समयके अनुकूल हों। मैले, चटकीले और हिंसज वस्त्रोंको कदापि नहीं पहिनना चाहिये।

१४ भोगोंको भोगते हुये अन्य व्यक्तियोंको तुच्छ तथा हीन नहीं समझना चाहिये।

१५ नित्य भोजन करनेके पहले उत्तम पात्रोंको दान देना चाहिये। यदि वैसे पात्र न मिलें तो दुःखित, बुभुक्षित जीवोंके लिये कुछ भोजन निकाल कर रख देना चाहिये।

१६ अपनी शक्तिके अनुकूल एक मासमें अधिकसे अधिक ऋतुसमयके (सदोषरात्रियोंको छोड़कर) ५ दिन ही काम सेवन करना चाहिये।

१७ बीमारीकी हालतमें या भूखे, प्यासे, चिन्ताग्रसित अवस्थामें कामसेवन नहीं करना चाहिये।

१८ अति सेवनसे सदा दूर रहना चाहिये और अनंग-क्रीड़ा कदापि नहीं करनी चाहिये।

पारमार्थिक कर्तव्य-विषयक सूचनाएँ

१९ वस्तुतत्वका भलीभांति ज्ञान हो जाने पर ही किसी पारमार्थिक कर्तव्यको करना उचित है। उद्वेग (अनिष्टजनित चोट या झूठा वैराग्य) होने पर ज्ञान न होते हुए यकायक किसी ऊँचे पद (मुनि-पद) को धारण कर लेना अति साहस और लोकनिंद्य है तथा अपनी आत्माको निंद्यगर्तमें पटकना है।

२० अट्ठाईस मूलगुणों (५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियविजय, ६ आवश्यक और ७ शेष गुण) का भली भांति निर्वाह करते हुए चारित्र-शुद्धि करना तथा आत्मानुभवमें मगन रहना, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान धारण करना और इन सबसे परे ···समाधिस्थ हो जाना यही पारमार्थिक कर्तव्यों का सार है।

इन सब बातोंकी जानकारीसे हमें उक्त कर्तव्योंके पालनमें बड़ी सहायता मिल सकती है। अतः इन पर सविशेषरूपसे ध्यान रखते हुए हमें अपनी शक्ति तथा योग्यतादिके अनुसार लौकिक और पारमर्थिक दोनों प्रकारके कर्तव्योंका अवश्य पालन करना चाहिये और उसके लिये अपनी अपनी एक दिनचर्या नियत कर लेनी चाहिये*।

*देहली-जैनमित्रमण्डलके ज्वाइन्ट सेक्रेटरी बा० पन्नालालजी द्वारा प्राप्त।

सुभाषित मणियाँ

प्राकृत—

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया तेसु हि मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा बन्धमणुहवदि ॥

—कुन्दकुन्दाचार्य।

'कर्मप्रकृतियाँ स्वभावसे ही उदयको प्राप्त होती हैं—समय पर अपना फल देती हैं—ऐसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है उन उदयगत कर्मप्रकृतियों (पूर्वोपार्जित कर्मों) के फलको भोगता हुआ जो प्राणी राग, द्वेष या मोहरूप परिणमता है वह नया कर्म और बाँधता है। भावार्थ—उदयगत कर्मके फलको यदि साम्य भावसे भोग लिया जाय—उसमें राग, द्वेष या मोह न किया जाय—तो कर्मकी निर्जरा होकर छुट्टी मिल जाती है। अन्यथा, नया कर्म और बंधता है और इस तरह बन्ध की परिपाटी चल कर यह जीवात्मा मथानीकी तरह इस संसारचक्रमें बराबर घूमता रहता है। राग, द्वेष और मोहही इसे बाँधने तथा घुमाने वाले मंथाननेत्रे—मथानी की रस्सी—हैं।'

(इसमें संक्षेपसे बन्ध और मोक्षका अच्छा रहस्य बतलाया गया है।)

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय, जं भावइ करि तं जि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर, चित्तहं सुद्धि ण जं जि॥

—योगीन्द्रदेव।

'हे जीव! तू चाहे जहाँ जाय—चाहे जिस देश अथवा तीर्थक्षेत्रादिका आश्रय ले—और चाहे जो क्रिया कर; परन्तु जब तक चित्तशुद्धि नहीं होगी—राग द्वेष और मोहकी परिणति नहीं मिटेगी—तबतक किसी तरह भी तुझे मुक्ति मिलने वाली नहीं है। मुक्तिकी प्राप्तिका एक मात्र उपाय वास्तवमें 'चित्तशुद्धि' है और चित्त शुद्धिका किसी देश अथवा क्रियाकाण्डके साथ कोई अविनाभाव सम्बंध नहीं है।'

वंदउ णिंदउ पडिकमउ, भाउ असुद्धउ जासु।
पर तसु संजमु अत्थि णवि, जं मणसुद्धि ण तासु॥

—योगीन्द्रदेव।

'जिसका भाव शुद्ध नहीं है वह चाहे जैसी वन्दना करो—खूब हाथ जोड़ कर स्तुति पाठादिक पढ़ो... अपनी निन्दा करो और प्रमादादि-जनित दोषों के मिथ्याकाररूप प्रतिक्रमण भी करो, परन्तु इससे उसके संयम नहीं बन सकता। क्योंकि ये बाह्य क्रियाएँ संयम की कोई गारंटी नहीं हैं—भले ही इनसे संयमका ढोंग बन जाय—बिना चित्तशुद्धिके तो संयम होता ही नहीं।'

देउ ण देवलि णवि सिलए, णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ, सिउ संठिउ समचित्ति॥

—परमात्मप्रकाशे उद्धृत।

'अपना परमाराध्यदेव न तो देवालयमें है, न पत्थर की मूर्ति में, न लेपकी प्रतिमा में और न चित्रमें; किंतु वह अक्षय, निरंजन, ज्ञानमय, शिव परमात्मा समचित्त में स्थित है—साम्यभावरूप परिणत हुए मन में ही विराजमान रहता है—अन्यत्र नहीं। अतः उसके दर्शन पानेके लिये चित्तसे राग द्वेष और मोहको हटाना चाहिये, जिन्होंने चित्तको विषम तथा मैला बना रक्खा है और इस तरह उस देवका दर्शन नहीं होने देते।'

उववासं कुव्वंतो आरंभं जो करेदि मोहादो।
सो णिय देहं सोसदि ण झाडए कम्मलेसं वि॥

'उपवासको करता हुआ जो मनुष्य गृहकार्यों के मोहसे आरंभ करता है—आरंभमय सबके सब काम धंधे किया करता है—वह उस उपवाससे केवल अपने शरीरको ही सुखाता है, कर्मकी तो लेशमात्र भी उससे निर्जरा नहीं होती। और इसलिये उसे उपवासका वास्तविक फल नहीं मिलता।'

संस्कृत—

"आनीता नटवन्मया तव पुरः हे नाथ ! या भूमिका
८४०००००
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसुभिस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि।
प्रीतोऽसि यदि तां निरीक्ष्य भगवन्मत्प्रार्थितं देहि मां
नोचेद् ब्रूहि कदापि मानय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम्॥'

'हे नाथ ! मैं आपको प्रसन्न करनेके लिये नटकी तरह ८४ लाख प्रकारके स्वाँग भर कर आपके सामने लाया हूँ—८४ लाख योनियोंमें नाना प्रकारके शरीर धारण करने रूप स्वांगको लिये हुए आपके सन्मुख उपस्थित हुआ हूँ—मेरे किसी भी स्वांगसे यदि आप प्रसन्न हुए हैं तो मेरी प्रार्थना पूरी कीजिये—मुझे मुक्ति दीजिये—; और यदि प्रसन्न नहीं हुए हैं—मेरा कोई भी स्वांग आपको पसंद नहीं आया है—तो भगवन् ! मुझे आज्ञा दीजिये कि 'फिर कभी ऐसे स्वांग भरकर नहीं लाना।'

(इसमें दोनों ही प्रकारसे अथवा हर पहलू से मुक्ति मांग ली गई है और यह कविका खास चातुर्य है।)

"लोकः पृच्छति मे वार्तां शरीरे कुशलं तव।
कुतः कुशलमस्माकं गलत्यायुर्दिने दिने॥"

'लोग मुझसे पूछते हैं कि 'तुम्हारे शरीरमें कुशल है ?' परन्तु मेरे शरीरमें कुशल कहाँ से हो, जब कि आयु दिन दिन घटती जाती है और मैं कालके मुँहमें चला जा रहा हूँ ?'

"मृत्योर्बिभेषि किं मूढ ! भीतं मुंचति नो यमः।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि॥"

'हे मूढ ! मृत्युसे क्या डरता है ? डरे हुए प्राणी को काल छोड़ता नहीं है। हाँ, जो जन्म नहीं लेता उसे काल पकड़ता नहीं। अतः कालकी चपेटसे यदि बचना है तो ऐसा यत्न करो जिससे जन्म ही न लेना पड़े—मुक्ति हो जाय।

"चिन्तनीया हि विपदामादावेव प्रतिक्रिया।
न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते वन्हिना गृहे॥"

'विपदाओंके आनेसे पहले ही उनका प्रतिकार—उनका इलाज—सोच रखना चाहिये। घरमें आग लगने पर उसे बुझानेके लिये कूप खोदना उचित नहीं है—उससे उस वक्त कुछ भी काम नहीं निकल सकता। कूप तो कुछ खुदेगा नहीं और घर जल कर राख होजावेगा।

"वरं दारिद्र्यमन्यायप्रभवाद्विभवादिह।
कृशताऽभिमता देहे पीनता न तु शोफतः॥"

'अन्यायसे उत्पन्न होने वाले वैभवकी अपेक्षा दारिद्र अच्छा है; जैसे शरीर में दुबलापन तो इष्ट है परन्तु वह मोटापन इष्ट नहीं है जो शोफ से—वरम से—उत्पन्न हुआ हो। अर्थात्—अन्यायसे उत्पन्न होने वाली विभूति शोफस्थानीय स्थूलता है, जो कभी अभिनन्दनीय नहीं हो सकती।'

"तृणं चाहं वरं मन्ये नरादनुपकारिणः।
घासो भूत्वा पशून् पाति भीरून् पाति रणाङ्गणे॥"

'मैं तिनकेको उस मनुष्यसे अच्छा समझता हूँ जो अनुपकारी है—किसीका उपकार नहीं करता। क्योंकि तिनका घासके रूपमें तो पशुओंका पालन करता है और संग्राममें उन कायरोंकी प्राण रक्षा करता है जो दाँत तले तिनका दबा कर शत्रुके सामने आगये हों।'

"अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसां।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

'यह अपना है और यह पराया, ऐसी गणना क्षुद्र हृदय व्यक्तियों की होती है। परन्तु जो उदारचरित हैं उनकी दृष्टिमें सारी पृथ्वी ही उनका कुटुम्ब है।'

हिन्दी—

सत्य-समान कठोर, न्याय-सम पक्ष-विहीन,
हूँगा मैं परिहास-रहित, कूटोक्ति-क्षीण।
नहीं करूँगा क्षमा, इंच भर नहीं टलूँगा,
तो भी हूँगा मान्य, ग्राह्य, श्रद्धेय बनूँगा॥

× × —'युगवीर'

राग उदै जग अन्ध भयो, सहजहिं सब लोगन लाज गँवाई।
सीख बिना नित सीखत हैं, विषयादिक सेवनकी सुघराई॥
ता पर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अन्ध असूझनकी अँखियानमें डारत हैं रज राम दुहाई॥

× × —भूधरदास।

हे विधि! भूल भई तुमसे, समुझे न कहाँ कस्तूरि बनाई,
दीन कुरंगनके तन में, तृन दन्त धरें करुना नहिं आई।
क्यों न रची उन जीभनि जे, रसकाव्य करें परको दुखदाई?
साधु-अनुग्रह दुर्जन-दंड, दुहूँ सधते बिसरी चतुराई!!

× × —भूधरदास।

सत्संगतिसे बढ़ कर, सच्ची शिक्षा कहीं नहीं मिलती।
लोहा सुवर्ण बनता, पारस पत्थर अगर मिले उसको॥

× × —दरबारीलाल।

जो उद्योगी बने काम करते रहते हैं,
सफल रहें या विफल दुःख-सुख सब सहते हैं।
आखिर वे ही पूर्ण सफलताको पाते हैं,
स्व-परोन्नति का दृश्य जाति को दिखलाते हैं॥

× × —दरबारीलाल।

"दुर्बल को न सताइये जाकी मोटी हाय।
मुए चाम की फूँक सों सार भसम होजाय॥"

× × ×

सज्जन चाल मराल सम, औगुन तज गुन लेत।
शारदवाहन वारि तज, ज्यों पयपान करेत॥

× × —वृन्दावन।

"सब रसको रस नेम है, नेम को रस है प्रेम।
जा घर नेम न प्रेम है, ता घर कुसल न छेम॥

× × ×

उर्दू—

न सुनो गर बुरा कहे कोई, न कहो गर बुरा करे कोई
रोकलो गर ग़लत चले कोई, बख्शदो[1] गर ख़ता करे कोई॥

× × —'ग़ालिब'

कीया ग़रूर गुलने[2] जब रंग रूप बूका।
मारे हवाने झोंके शबनम[3] ने मुँह पै थूका॥

× × ×

काँधा बदल बदल गए लेकर के क़ब्र तक।
कितना मैं दोस्तों के लिए बारेदोश[4] था॥

× × —'नाज़'

हविस[5] जीने की है यूँ उम्र के बेकार कटने पर।
जो हमसे ज़िन्दगीका हक़ अदा होता तो क्या होता?

× × —'चकबस्त'

"कमज़र्फ़[6] अमीरी में बदल जाते हैं।
अपने भी फ़क़ीरी में बदल जाते हैं॥
दांत बनवाते हैं चढ़वाते हैं ऐनक बूढ़े।
आज़ा[7] भी पीरी[8] में बदल जाते हैं॥"

× × ×

नहीं मालूम यह आज़ाद[9] रह कर क्या सितम ढाती।
कि इन बत्तीस दाँतों की हिफ़ाज़तमें ज़बाँ[10] रखदी॥

× × —'नाज़'

ज़िन्दा दिल वो हैं कि जो क़ौम पै जाँ देते हैं।
मुर्दा दिल अपनी भलाई पै मरा करते हैं॥

× × —मंगतराय

"लाई हयात[11] आए क़ज़ा[12] ले चली चल।
अपनी ख़ुशीसे आए न अपनी ख़ुशी चले॥"

× × "ज़ौक़"

उसमें एक ख़ुदाई[13] का जलवा है वगरना शेख़।
सिजदा[14] करे से फ़ायदा पत्थर के सामने?

× × —'शेख़'

अबस[15] यह जैनियों पर इत्तहामे[16] बुतपरस्ती है।
बिना तसवीर के हरगिज़ तसव्वुर[17] हो नहीं सकता॥

× × —मंगतराय।

---

१ क्षमा करदो. २ फूल. ३ ओस. ४ स्कन्धभार. ५ तृष्णा ६ कमीने. क्षुद्रहृदय. ७ अंगोपांग. ८ बुढ़ापे में. ९ स्वतन्त्र. १० जीभ-जिह्वा. ११ जिन्दगी. १२ मौत. १३ ईश्वरत्व का तेज--भाव. १४ मस्तकनमाना. १५ व्यर्थ. १६ इलज़ाम--आरोप. १७ मूर्तिमान का ध्यान।

न्यायाचार्य पं० माणिकचंद्रजी का पत्र

श्रीमान् धर्मप्रेमी पं० जुगलकिशोरजी महोदय, योग्य सस्नेह जयजिनेन्द्र।

आपकी भेजी हुई समन्तभद्राश्रमकी विज्ञापनायें और 'अनेकान्त' पत्र (सम्मत्यर्थ) प्राप्त हुये। जैनधर्मका अभ्युदय प्रकट करने के लिये आपकी कार्यपद्धति कालानुसार प्रशस्त है। जैन समाजके तन्मय होकर कार्य करने वाले कर्मठों में आप विशेषतया इस कारण साधुवादार्ह हैं कि, आपने संकीर्णता-प्रयोजक पक्षपात को हटाते हुये भी जैनत्वके अभिनिवेश का अनेकान्तद्वारा अक्षुण्ण परिपालन करना विचारा दीखता है। पदपद पर जैनत्वको पकड़े रहना यह एक आवश्यक गुण है। क्योंकि वर्तमान में अनेक कारणों के अनुकूल होने पर भी कुछ निमित्त ऐसे उपस्थित होते जा रहे हैं जिनसे कि अनेक विचारशालिओं को निकट भविष्यमें श्रीमहावीर स्वामि-प्रतिपादित जैनधर्म की उपाङ्ग परावृत्ति होजाने की सम्भावना दृष्टिकोणगत हो रही है।

आपकी निर्धारित प्रणाली के अनुसार कार्य होते रहने से उस परिवर्तन की शङ्काका बहुभागों में निरास हो जाता है। श्रीवर्द्धमान तीर्थङ्कर महाराज के पश्चात् स्वामी समन्तभद्र भगवान ने पराभेद्य न्यायशास्त्रोंकी सृष्टि कर जैनधर्म को सुरक्षित रक्खा है। आश्रमके साथ सर्वतोमङ्गलमय उनका नाम संकीर्त्तन करना विश्वप्रिय है। समीचीन संस्थायें ही जैनधर्म प्रासाद के आधारभूत स्तम्भ हैं। ऐसे सामुदायिक शुभ कार्य की सिद्धिमें आपको जैन-समाजद्वारा शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक सहायता पुष्कल प्राप्त होती रहनी चाहिये। आज कल शुद्ध धार्मिक कार्यों में भी उक्त सहकारिओं की आवश्यकताका अविनाभाव सा हो रहा है। मैं आपके चिरकालीन अनुभवके पश्चात् प्रारब्ध किये गये कार्यों का हार्दिक अनुमोदन करता हूँ।

अनेकान्त पत्र को मैंने अक्षरशः पढ़ा है, मनोनुकूल है। पत्र की नीति निरवद्य है। मेरी शुभ भावना है कि इस प्रकारके ठोस कार्यों द्वारा जैनत्व की अभिवृद्धि होकर जैनधर्म का दुन्दुभिनिनाद दशों दिशाओं में फैल जावे।

जम्बूविद्यालय, सहारनपुर
३०-११-२९

आपका मित्र
माणिकचन्द्र कौंदेय

कर्णाटक-जैनकवि

[अनुवादक—श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी[

१६ वर्द्धमान (लगभग ई०सन् १६००)

नगर ताल्लुकेके ४६ वें शिलालेखसे मालूम होता है कि उसका लेखक कवि वर्द्धमान (मुनि) है। शिलालेख में कनड़ी और संस्कृत इन दोनों ही भाषाओंके पद्य हैं। प्रारंभमें अभिनव × वादिविद्यानन्द की स्तुति करके कविने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है—राजा कृष्णदेव (ई०स० १५०९—२९) की सभामें वादिजनों को पराजित करनेवाले अभिनव × वादिविद्यानन्द, उनके पुत्र विशालकीर्ति, विशालकीर्तिके पुत्र देवेन्द्रकीर्ति, जिनकी पूजा भैरवेन्द्र वंशके पाण्ड्य राजानेकी और देवेन्द्रकीर्तिका पुत्र कवि वर्द्धमान। इसका समय १६०० के लगभग ‡ होना चाहिए।

२० शृङ्गारकवि राजहंस (ल० १६००)

इसने 'रत्नाकराधीश्वर-शतक' नामक ग्रंथकी रचना की है, जिसमें १२५ वृत्त हैं और इसका प्रत्येक पद्य 'रत्नाकराधीश्वर' इस शब्द पर समाप्त होता है। यह ग्रंथ मुद्रित हो चुका है। इस कविने अपने पूर्ववर्त्ती कवि 'मधुर' (१३८५) का स्मरण किया है*। इसके गुरुका नाम देवेन्द्रकीर्ति है और श्रवणबेलगोल की एक पोथीसे मालूम होता है कि देवेन्द्रकीर्तिका समय १६१४ होना चाहिए। बहुतों का खयाल है कि इस शतक का कर्त्ता रत्नाकरवर्णी है; परन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि रत्नाकरवर्णीके गुरु चारुकीर्ति और हंसराज के गुरु देवेन्द्रकीर्तिने अग्गल, नेमिचंद्र, रन्न, कुमुदेन्दु, मधुर और जिनाचार्य का स्मरण किया है।

२१ देवोत्तम (ल० १६००)

इसका बनाया हुआ 'नानार्थरत्नाकर' नामका ग्रंथ है, जिसमें संस्कृत शब्दोंके नाना अर्थ बतलाये गये हैं। १६९ पद्योंमें यह समाप्त हुआ है। इसमें इस कविने अपने पूर्ववर्ती निघण्टुकारोंके नाम नीचे लिखे पद्यमें प्रकट किये हैं —

निजगोपालधनंजयाभिनवमाचं भागुरीनागव-
र्माजयंतामरशब्दमञ्जरी बलाग्रुक्ताभिधानार्थमम्

इस पद्यमें जिस 'शब्दमञ्जरी' का उल्लेख है, वह विरक्त तोंटदार्य (१५६०) की कर्नाटक शब्दमञ्जरी ही होनी चाहिये।

ग्रंथकर्त्ताने अपने लिये 'द्विजवंशार्णवपूर्णचन्द्रनेनपी देवोत्तमं' लिखा है।

२२ पायण्ण व्रती (ल० १६००)

इसका बनाया हुआ 'सम्यक्त्वकौमुदी' नामका ग्रंथ है, जिसमें १९ सन्धियाँ और १९८९ पद्य हैं। यह पूरा ग्रंथ सांगत्य नामक छंदमें लिखा गया है। इसमें सम्यक्त्वसे मोक्ष प्राप्त करनेवालोंकी कथायें हैं। ग्रंथके आरंभमें सुपार्श्व तीर्थंकर की और फिर सिद्ध, भुजबलि, गणधर, सरस्वती, शासनदेवीकी स्तुति की गई है।

× शिलालेख में 'अभिनव' शब्दका प्रयोग साथमें नहीं पाया जाता। —सम्पादक

‡ उक्त गुरुपरम्परा वाले वर्द्धमान कविने 'दशभक्त्यादिशास्त्र' को शक सं० १४६४ (ई०स० १५४२) में बनाकर समाप्त किया है। अतः यह इसका सुनिश्चित समय है। —सम्पादक

* मुद्रित प्रतिमें 'मधुर' का नाम नहीं है।

कवि पेनुगोंडे देशके नन्दिपुरका रहने वाला था। पिताका नाम गुणमण्म्मवणजिगसेट्टि और माताका केचम्म था। भव्यजनों को धर्मकथा बांचकर उसका अर्थ समझानेवाला यह उपाध्याय था। छोटी उम्रमें ही भारतीके प्रसादसे यह कवि हो गया और स्त्री-मोह में न पड़कर ५५ वर्षकी अवस्था तक ब्रह्मचारी रहा। इसके बाद पार्श्वनाथबस्तीमें सेनगणके लक्ष्मीसेन मुनिसे इसने दीक्षा ली। पार्श्वबस्तीमें दीक्षा लेने के कारण पार्श्ववर्णीके नामसे भी यह प्रसिद्ध है। सन् १६०६ में सनत्कुमार चरित की रचना करने वाले पायण्ण मुनि इससे जुदा हैं, क्योंकि वे श्रीरंगपट्टणके रहने वाले थे।

२३ शृंगार कवि (ल० १६००)

इसका बनाया हुआ 'कर्णाटक-संजीवन' नामक कनड़ी भाषाका कोश है, जिसमें ३५ पद्य (वार्धिक-षट्पदी) हैं। यह रसवालिगेप्रभु वोम्मरसका पुत्र था। इसके नामसे मालूम होता है कि उक्त कोशके सिवाय इसके और भी ग्रंथ होंगे। रत्नाकराधीश्वर-शतकके कर्ता हंसराजका भी उपनाम शृंगारकवि है, इससे यह शंका हो सकती है कि उसीने यह कोश बनाया होगा। परन्तु इस ग्रंथमें हंसराज का नामही कहीं नहीं आया है, इसलिए यह मानने में कोई हर्ज नहीं है कि ये दोनों जुदा जुदा हैं।

२४ शान्तरस (ल० १६००)

इसका बनाया हुआ 'योगरत्नाकर' नामका ग्रंथ है, जिसमें योगके यम, नियमादि आठ अंगोंके अनुसार आठ अंगोंका निरूपण है और इसीलिए इसका नाम 'अष्टांग' भी है। इस ग्रंथसे कविसम्बन्धी और कोई भी परिचय प्राप्त नहीं हुआ।

२५ ब्रह्म कवि (ल० १६००)

इसके बनाये हुए 'वज्रकुमारचरिते' की एक ही अपूर्ण प्रति उपलब्ध हुई है जिसमें केवल तीन ही आश्वास हैं। यह ग्रंथ सांगत्य छन्द में है और बीच बीच में कन्द वृत भी दिये हैं। इसमें लिखा है कि धर्मामृत की पद्धति का अनुसरण करके अपने पुत्र गुम्मणके लिए यह ग्रंथ रचा जाता है। प्रारंभमें शान्तिजिनकी स्तुति है और फिर चतुरंगुलचारण कोण्डकुन्द, गुणभद्र, चारुकीर्ति पण्डित, विद्यानन्द, लक्ष्मीसेन, काणुरगण के भानुमुनि, पाल्यकीर्ति और शान्तिकीर्ति की स्तुति की गई है। नयसेन, अभिनव पम्प, गुणवर्म, पोन्न, जन्न नामक कनड़ी कवियोंका भी स्मरण किया गया है।

यह कुन्तल देशके पुरहरक्षेत्रपुरका रहनेवाला था, जहाँ कि पाण्ड्यवंशके विरूप नृपका पुत्र चेन्न नृप राज्य करता था। इसके पिता का नाम नेमण्ण, माता का बोम्मरसि, पुत्र का गुम्मण, गुरु का गुणभद्र और कुलदेवका शान्तिजिनेश था *।

२६ पायण्ण मुनि (१६०६)

इनका बनाया 'सनत्कुमारचरिते' नामक कनड़ी ग्रंथ है जो सांगत्य छन्दमें लिखा गया है। यह श्रीरंगपट्टणके आदिजिनेशके चरणसामीप्यमें शक संवत् १५२८ में समाप्त हुआ है।

२७ पंचबाण (१६१४)

इसने 'भुजबलिचरिते' नामक ग्रन्थ सांगत्य छन्दमें लिखा है, जिसमें २२ सन्धियाँ और २८१५ पद्य हैं।

* मिस्टर ई.पी. राइसने अपनी 'हिस्टरी आफ कनड़ीलिटरेचर' में ब्रह्म कविके बनाए हुए एक 'जिनभारत' नामकेग्रन्थका भी उल्लेख किया है। —सम्पादक

इसके अन्तिम अध्यायमें, जो १०९ पद्योंका है, गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक का वर्णन है। ग्रन्थके आरंभमें गोम्मटस्तुति है। फिर २४ तीर्थंकर, सिद्ध, सरस्वती, यक्षाधिप, बेट्टद्ब्रह्म और पद्मावतीका स्तवन है। इनके बाद कोण्डकुन्द, पूज्यपाद, श्रुतकीर्ति, चारुकीर्तिपण्डित और अपनी गृहदेवी पातालयक्षरमणी अनंतमतियम्म का स्मरण किया गया है।

इस ग्रन्थके सिवाय पंचबाणके कुछ फुटकर पद्य गोम्मटेश्वर, त्यागदब्रह्म, बेट्टद्ब्रह्म आदिके सम्बन्धमें हैं।

यह कवि बेलुगोलका रहनेवाला था। स्थानिक चेन्नप्पय्य इसका पिता और विद्यागुरु था। बोम्मप्प और देप्पय्य इसके भाई थे। भुजबलिचरिते के अन्त में लिखा है कि शान्तवर्णी ने सन् १६१२ में गोम्मटेश्वर का मस्तकाभिषेक कराया। इस ग्रन्थकी एक प्रति ऐसी मिली है, जिसे ग्रन्थकर्त्ताने स्वयं अपने हाथसे लिखा था।

२८ पद्मण पंडित (१६२७)

यह कनकपुरके देवरसका पुत्र था और इसकी माताका नाम गुम्माम्बा था। इसका बनाया हुआ 'हयसारसमुच्चय' नामका ग्रन्थ उपलब्ध है, जो मैसूर के राजा चामराज (१६१७—३७) की आज्ञासे लिखा गया था। चामराजका आश्रित होने से इसका एक नाम 'चामराजीवि' भी है। 'हयसार समुच्चय' शक संवत० १५४९ (ई० स० १६२७) में समाप्त हुआ है। इसमें २० अध्याय हैं और ग्रन्थसंख्या ८००० है। इसमें घोड़ोंकी आकृति, लिङ्ग, औषधादि का निरूपण है। ग्रन्थारंभमें जिनस्तुति है और प्रत्येक अध्यायके अन्तमें इसप्रकार का गद्य है —"इदु श्रीमद्राजाधिराज-राजकुलतिलक-राजशिखामणि-श्रीमच्चामराज भूपालकारित-हयसारसमुच्चयाभिधान चामराजीय ग्रन्थमेंब हयशास्त्रदोल्।''

२९ चंद्रम (१६४६

इसका बनाया हुआ 'कार्कल-गोम्मटेश्वरचरित्त' उपलब्ध है। इसके विद्यागुरु 'श्रुतसागर' और व्रतगुरु 'महेन्द्रकीर्ति' थे। 'अरिरायरगंडरदावणि' उपनाम धारक भैरव राजा की सहायता और 'ललितकीर्ति' की आज्ञा से यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें सन् १६१६ में किये गये उस महामस्तकाभिषेक का उल्लेख है, जो इम्मडि भैरवरायने अपने पिता भैरवरायकी पुण्यख्याति के लिए, कुलगुरु 'ललितकीर्त्ति' के उपदेश से और महेन्द्रकीर्त्ति' की सहायता से किया था। ऐसा जान पड़ता है कि इस उत्सवके समय कवि स्वयं मौजूद था।

'कार्कलद गोम्मटेश्वरचरित्ते' सांगत्य छन्द में है। इसमें १७ सन्धियाँ और २१८५ पद्य हैं। इसमें गोम्मटेश्वर का चरित्त और कार्कल में गोम्मटेश्वर की मूर्त्ति की प्रतिष्ठा का वर्णन है। इसमें इस बात का उल्लेख किया गया है कि उत्तरमधुरानाथ 'अरिरायगंडरदावणि' उपनाम धारी पांड्यराजा ने ललितकीर्त्ति के उपदेश से गोम्मटेश्वर की मूर्ति बनवाई और उसे दस पहियोंकी गाड़ी के द्वारा एक महीने में पहाड़ पर ले जाकर ई० स० १४३१ में प्रतिष्ठा करवाई।

अपने आश्रयदाता के संबंध में कविने इस प्रकार परिचय दिया है—

उस पाण्ड्य राजा के वंशमें वीर नरसिंह बंगराजेन्द्र ने जन्म लिया। उनकी पत्नी का नाम गुम्मटांबा और पुत्र का इम्मडि भैरवराय था। भैरवरायकी पत्नी मल्लिदेवी से चार पुत्र हुए—भुवनैकवीर, पाण्ड्येन्द्र, चंद्रशेखर और अरिरायगंडरदावणि इम्मडि भैरवराय। इस पट्टिपोंबुपुरवराधीश्वर इम्मडि भैरवरायने ई०

स० १६४६ में गोम्मटेश्वर की पुनः प्रतिष्ठा, पूजा और अभिषेक करवाया। ग्रंथ के आरंभमें नेमिजिनस्तुति है। फिर बाहुबलि, चन्द्रनाथ, सिद्ध, यक्ष, यक्षी, बेट्ट ब्रह्म, भैरवरायकी कुलदेवी पोंबुच्चपद्मांबा तथा सरस्वती की प्रशंसा की गई है। इसके बाद महेन्द्रकीर्त्ति, पनसोगेय सिंहासनाधीश देवकीर्त्ति, उनके शिष्य मलधारि ललितकीर्त्ति, तद्वंशज अभिनव ललितकीर्त्ति, विद्यानन्द, श्रुतसागर, काणुर गणद भानुकीर्त्ति, बल्लालराय जीवरक्षक चारुकीर्त्ति, वीरसेन और ललितवर्णी का स्मरण किया गया है।

३० देवरस (ल०१६५०)

यह कर्नाटक देशस्थ पूगतटाक नामक नगर के प्रसिद्ध जैन ब्राह्मण देवरस (?) का पुत्र था। इसका बनाया हुआ 'गुरुदत्तचरित्र' नामक ग्रंथ है, जिसमें ८१३ पद्य हैं। इसमें लिखा है कि पूगतटाकके समीपवर्ती पर्वत पर जहाँ कि पार्श्वजिनालय है, 'पूज्यपादस्वामी' सिद्धरस की रचना करके प्रसिद्ध हुए थे। ग्रंथ के आरंभ में २४ तीर्थंकरों की स्तुति करके सिद्ध, सरस्वती, सर्वाह्णयक्ष, तथा कूष्मांडिनी का स्तवन किया है और पूज्यपाद, गुणभद्र, विजय, अकलंक, नागचंद्र, अग्गल, काम, भट्टाकलंक (१६०४) और शान्तिवर्म का स्मरण किया है। दूसरी प्रति में होन्न, पंप, नेमि, गुणवर्म, मधुर के भी नाम हैं।

३१ आदियप्प (ल०१६५०)

इसका बनाया हुआ 'धन्यकुमारचरिते' नाम का ग्रन्थ है। इसके पिता मुनियण्ण (श्रुतयतिके शिष्य) और भाई ब्रह्म, चन्द्र, विजयप्प नामके थे। तुलुवदेशान्तर्गत गेरेसोप्पे के राजा भैरवराय के गुरु 'वीरसेन' की आज्ञानुसार यह ग्रंथ लिखा गया था। चंद्रकीर्ति के पुत्र 'प्रभेन्दु' मुनि इस कवि के गुरु थे।

'धन्यकुमारचरिते' में ४१० पद्य हैं। ग्रंथारंभ में जिनस्तुति है और फिर सिद्ध तथा 'पण्डितमुनि' की स्तुति की गई है।

३२ माधवदेव ल० १६५०)

अर्हद्दास भी इसका नाम है। इसका बनाया हुआ शकुन-शास्त्र विषयक 'नरपिंगलि' नामका ग्रन्थ है। इसने अपने को यंत्रमंत्रतंत्र में निष्णात बतलाया है।

३३ गुणचन्द्र (ल०१६५०)

इसका बनाया हुआ 'छंदस्सार' नामका ग्रंथ है जो बहुत अंशोंमें केदारभट्टके वृत्तरत्नाकरका अनुकरण है। इसमें संज्ञा-प्रकरण, मात्राछन्दोलक्षण, समवृत्त-प्रकरण, संकीर्णप्रकरण और तालवृत्त प्रकरण ये पाँच अध्याय हैं। आरंभमें जिनस्तुति है और अन्त में इस प्रकार गद्य है— इति श्रीमदनुपमनित्यनिरंजनपरमात्मार्हदाराधनापरमानन्दवन्धुरगुणचन्द्रविरचित छंदस्सारदोल्।

३४ धरणि पंडित (ल० १६५०)

इसके बनाये हुए दो ग्रन्थ हैं—'वरांगनृपचरिते' और 'बिज्जलनृपचरिते'। यह विष्णुवर्द्धनपुर के वरकुलागत वैद्यविद्यापरिणत परवैद्यकरिहरि धरणिपण्डित का पौत्र और पद्मण्ण पण्डितका पुत्र था। यह आपको 'विष्णुवर्द्धनपुरस्थपार्श्वजिनेन्द्रचन्द्रचरणवारिजभृंग' कहता है। इसने नेमिचन्द्र, होन्न, रन्न, हंप (पंप ?), और नागवर्म इन कवियों की स्तुति की है।

'वरांगनृपचरिते' की एक अपूर्ण प्रति उपलब्ध हुई है, जिसमें ६ अध्याय हैं। लिखा है कि पूर्व मुनि कथित कथा को मैं कनड़ी में लिखता हूँ। ग्रंथारंभमें मंगलाचरण के बाद कोंडकुंद, कविपरमेष्ठी, कुमारसेन, पूज्यपाद, जिनसेन, वर्द्धमान, वीरसेन, समन्तभद्र और

अकलंकका स्मरण किया है।

'विज्जलरायचरिते' में १२ सन्धियाँ और १२३९ (दूसरी प्रतिके अनुसार १३७१) पद्य हैं। इसमें कल्याणपुरके राजा जैनशासनवार्धिवर्द्धनचन्द्र जैनवंशान्वतिलक जैनभार्गानन्द पर विज्जलराजा की कथा है। अपनी माता विजयन्ति को जो कथा सुनाई थी वही इसमें विस्तार से लिखी है, ऐसा कवि ने लिखा है। और सबका इतिहास इस प्रकार दिया है—

विज्जल राजाने अपने पुरोहित मादिराजकी कन्या पाद्मनी के साथ विवाह कर लिया और उसके बड़े भाई वसवको राज्य का सेनापति बना दिया। शक्ति पाकर वसव ने अचानक राजा पर आक्रमण किया, परन्तु वह सफल नहीं हुआ और पराजित होकर आत्महत्या करने के लिए पानी में डूब गया। इस पर राजा ने उसे निकलवाया और क्षमा प्रदान करके फिर पूर्व पद पर स्थापित कर दिया। परन्तु वसव का हृदय साफ नहीं हुआ। वह षड्यंत्र रचता रहा। एक बार जब उसने सुना कि मेरे भेजे हुए विषयुक्त आमों की गंधसे राजा मर गया, तब वह डरके मारे भागा और कडलतडि के वृषभपुरकी एक वापिका में गिरकर मर गया। इसी लिए उक्त गाँव 'उलिवे' इस अन्वर्थक कनड़ी नाम से प्रसिद्ध है।

३५ नूत्न नागचन्द्र (ल०६५०)

इसका बनाया हुआ 'जिनमुनितनय' नामक १०६ पद्योंका ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके प्रत्येक पद्यके अन्तमें 'जिनमुनितनया' यह पद आता है, इसी कारण इसका यह नामकरण हुआ है। यह जैनधर्म और नीति का प्रतिपादक ग्रन्थ है।

यह कवि 'रामचन्द्रचरित' और 'मल्लिनाथपुराण'के कर्त्ता 'नागचन्द्र' से जुदा है, इसी कारण इसने अपने नामका उल्लेख 'अभिनव नागचन्द्र' या 'नूत्न नागचन्द्र' रूपमें किया जान पड़ता है। दोनों कवियोंको एक समझना भ्रम है। दोनों की लेखनशैली में जरा भी समता नहीं है।

३६ सिंहराज (ल०१६५०)

इसने 'चिन्मयचिन्तामणि' नामका ग्रन्थ लिखा है, जिसे 'हरदनीति' भी कहते हैं। इसमें चंपकपुर के 'चन्द्रकीर्ति' नामक व्यापारीने अपने पुत्र 'सूरसेन' को दिये हुए उपदेश ग्रथित हैं। बहुतों का खयाल है कि इसका कर्त्ता 'कल्याणकीर्त्ति' है, परन्तु हमें जो प्रति प्राप्त हुई है उसके ९९वें श्लोक से स्पष्ट मालूम होता है कि पुलिगेरे के सिंहराज ने ही इसे बनाया है।

३७ चन्द्रम (ल० १६५०)

इसने 'लोकस्वरूप' नामका ग्रन्थ १४० कन्द पद्यों में संस्कृतके आधारसे लिखा है। इसमें तीनों लोकोंका स्वरूप बतलाया है। इसका कर्त्ता चन्द्रकीर्त्ति योगीश्वर का शिष्य था और तुलुमधुर देशके अलियरपुर गाँवका रहने वाला था। इसने 'गणितसार' नामका ग्रन्थ भी लिखा है परन्तु वह हमको प्राप्त नहीं हुआ।

३८ नेमि व्रती (ल० १६५०)

इसने सांगत्यछन्द में 'सुविचारचरिते' नामका ग्रन्थ लिखा है, जिसमें १२६५ पद्यों में चतुर्गतिदुःख, श्रावकोंकी ११ प्रतिमायें और मोक्षस्वरूप आदि विषयोंका प्रतिपादन किया है। प्रारंभ में नेमि जिनकी स्तुति है और फिर सिद्ध, वृषभसेनादि गौतम गणधर, कोंडकुंद, नेमिचन्द्र और गुणभद्रका स्तवन किया है। कविने आपको 'ब्रह्मचारी' लिखा है।

३९ चिदानन्द कवि (ल० १६८०)

इसके बनाये हुए 'मुनिवंशाभ्युदय' ग्रन्थकी एक अपूर्ण प्रति मिली है, जिस में ५ सन्धियाँ हैं। कविने

अपने इस ग्रन्थ में मैसूरके चिक्कदेव राजा (१६७२–१७०४) की स्तुति की है और फिर उसकी वंशावली देकर उसीको सम्बोधन करके विषय प्रतिपादित किया है। इससे इसका समय ई० स० १६८०के लगभग होना चाहिए। चिक्कदेव राजाकी वंशावली इस प्रकार है—

बेट्टद चामराज, उनके पुत्र तिम्मराज, कृष्णराज और चामराज। चामराजके पुत्र राजनृप, बेट्टद चामराज, देवराज और चन्नराज। इनमेंसे राजनृप गद्दी पर बैठा और बेट्टद चामराज युवराज हुआ। राजनृप ने श्रीरंगपट्टण जीता। उसके बाद नरसराज, फिर नरसराजका पुत्र चामराज गद्दी पर बैठा। इसने श्रवणबेल्गोल जाकर शासन श्रवण किये। तेलगुराजा जगदेवके त्रास से गोम्मटेश्वरकी पूजा बन्द हो गई थी। चारुकीर्ति पण्डित बेल्गोल छोड़कर भल्लातकीपुर भाग गया था और भैरवराजाके आश्रयमें रहने लगा था। चामराजा ने उसे वापस लाकर पूजाक्रम फिर से जारी करा दिया।

मुनि वंशाभ्युदय में जैन मुनियोंकी—मुख्यतः कोंडकुंदान्वयके मुनियोंकी—परम्परा दी है। श्रीभद्रबाहु श्रुतकेवली बेल्गोल आये और चन्द्रगुप्तने अर्हद्बली आचार्यके समयमें दीक्षा ली, इसका भी उल्लेख है।

(शेष आगे)

सिद्धान्तशास्त्री पं० देवकीनन्दनजी का पत्र

श्रीमान् माननीय विद्वद्वर मुख्तार सा० सादर जुहारु।

अपरंच आपके 'अनेकान्त' के दोनों अंकोंका मननपूर्वक अवलोकन किया। आपके व्यक्तित्व के अनुसार पत्रकी नीति अत्यन्त योग्य है। लेख सब अनुसन्धानपूर्वक लिखे गये हैं। पात्रकेशरीस्वामी और १००८ महावीर स्वामी के लेख तो बहुत ही खोजपूर्वक लिखे हैं। आप के साहित्य की जो विशेषता है वह किसी विषय में मतभेदके रहते हुए भी हमको आदरणीय प्रतीत होती है। आप के साहित्य से नई शिक्षासे भूषित व्यक्तियों का पूर्ण रीतिसे स्थितिकरण होता है और उस से जैनधर्मके विषय में श्रद्धा की भी वृद्धि होती है ऐसी मेरी समझ है। जैन साहित्य के लिए जी जान से सर्वस्व त्याग कर सेवा करने वाला आप के समान वर्तमान में शायद ही कोई होगा। आप की सेवाओं से समाज में जागृति दीख पड़ रही है। मैं उत्साह करता हूँ कि कुछ मैं भी आपके पत्रमें लिखूँ। यदि मौक़ा मिला तो अवश्य ही लेख भेजूँगा। मेरे योग्य सेवा लिखियेगा। श्रीजिनेंद्र से प्रार्थना है कि आप को उत्तरोत्तर साहित्यसेवा में अधिक से अधिक सफलता प्राप्त हो।

महावीर-ब्रह्मचर्याश्रम
कारंजा, ता० ४-१-३०

भवदीय
देवकीनन्दन

जयकुमारः

[लेखक—श्री० पं० के. भुजबली शास्त्री]

इहास्ति भारते खंडे सर्वालंकारमंडिते ।
हस्तिनागपुरं रम्यं धनदस्यपुरोपमम् ॥१
आसीत्तत्र पुरे श्रेष्ठे शशिवंश-दिवाकरः ।
नृपस्सोमप्रभो धीमान् धीधनार्जितवैभवः ॥२॥
सोऽयं सोमप्रभो राजा राजोचितगुणार्णवः ।
शशास गुरुसाम्राज्यं यथेंद्रस्त्रिदशालयं ॥३॥
आसील्लक्ष्मीमती तस्य महिषी महिलोज्वला ।
सम्यक्त्वादिगुणोपेता रूपलावण्यमंडिता ॥४॥
नाम्ना जयकुमारस्तु पुत्रो जातस्तयोरिह ।
अहो पुण्येन जंतूनां किं न जायेत भूतले ॥५॥
सोऽयं जयकुमारस्तु वर्धमानो दिने दिने ।
सर्वशास्त्रेषु नैपुण्यमुपादत्त सुमेधसा ॥६॥
एकदा तत्पिता पुत्रं निपुणं नयकोविदं ।
विज्ञाय यौवराजार्हं कृतवांस्तत्पदे सुधीः ॥७॥
पुत्रोऽपि तत्पदं प्राप्य प्रोन्नतं पितृपालितं ।
कीर्तिविस्तारयामास पुनीतस्य पितुः क्रमात् ॥८॥
संजातमेकदा राज्ञो वैराग्यं परमोन्नतं ।
पद्मं मुकुलितं वीक्ष्य सभृंगं सुमनोहरं ॥९॥
ततस्सोमप्रभो राजा पुत्रनिक्षिप्त शासनः ।
बभार जिनदीक्षां तां मुक्तिप्राप्त्येकसाधनां ॥१०॥
जयोऽपि प्राप्तसाम्राज्यं पालयन् पितृवन्मुदा ।
प्रजानां प्रीतिभागासीत्पुण्ये जाग्रति का कथा ॥११॥
श्रुत्वा दिग्विजयं चेह सूनोः पुरुवरात्मनः ।
कुमारः कृतवान् गन्तुं सन्नाहं भरतेन तु ॥१२॥
सुदीर्घकालपर्यंतं स्थित्वा भरतभूभुजा ।
जयोऽपि जितवान्नागमुखादिपरिपंथिनः ॥१३॥
दृष्ट्वा जयकुमारस्य विजयं विजयांगणे ।
तुष्टो भरतभूपालो व्यधात्तं स्वचमूपतिं ॥१४॥
जित्वा षट्खंडपृथ्वीं तां यदा प्रत्याययौ पुरीं ।
कुमारं प्रेषयामास भरतः स्वपुरं मुदा ॥१५॥
जयोऽपि स्वपुरं प्राप्य प्रजानां परिरक्षणे ।
यथावद्यतमानोऽभूद्राजा हि परदेवता ॥१६॥
आसीदकम्पनो राजा काश्यां कारुण्यसागरः ।
नित्योद्योगी निरातंक-भोगोपविषयेंद्रियः ॥१७॥
सुलोचनाख्या पुत्र्यासीत्तस्याकंपमहीपतेः ।
साभूत्सर्वकलाभिज्ञा निपुणा नयकोविदा ॥१८॥
दृष्ट्वैकदा पिता पुत्रीं युवतीं विनयोज्वलां ।
मत्वा विवाहयोग्यां तां तदर्थं यतते नृपः ॥१९॥
स्वयंवरविधावेव पुत्रीं दद्यामिति नृपः ।
घोषयामास सर्वत्र कन्यानुमतिपूर्वकं ॥२०॥
श्रुत्वा तद्घोषणां सर्वे तावता धरणीभुजः ।
आसेदुः क्षितिपस्यास्य पुरमत्यन्तलीलया ॥२१॥
जयोऽपिस्थितवानत्र स्वयंवरसभांतरे ।
स्त्रीमोहेनात्र के लोके वंचिता न विचक्षणाः ॥२२॥
परिणिन्येऽथ सा तुष्टा कुमारं कुरुनायकम् ।
दुर्लभः खलु लोकेऽत्र सुवरः सुगुणान्वितः ॥२३॥
अर्ककीर्तिस्तु तद्वीक्ष्य युद्धाय परिचक्रमे ।
पराभ्युदयखिन्नत्वं दुर्जनानां हि लक्षणं ॥२४॥
संगरे जितवानर्कं कुमारः पुरुपौरुषः ।
धर्मो जयति सर्वत्र न बलं न च वैभवम् ॥२५॥
ततो जयकुमारस्तु रेमे वामासमन्वितः ।
यथार्हभोगसंप्राप्त्या संसारेऽपि सुखीजनः ॥२६॥

इन्द्रोऽपि स्तुतवानत्र तयोर्गार्हस्थ्य-जीवनम् ।
चारित्रमेव संसाररोधनं मोक्षसाधनं ॥२७॥
सोऽयं जयकुमारस्तु दीर्घकालं गृहाश्रमे ।
व्यतीत्यप्राप्तवान् सौख्यमक्षयंमोक्षसाधितम् ।२८॥

[कविता वर्णित कथासार—'हस्तिनागपुरके चंद्रवंशी राजा 'सोमप्रभ' की रानी 'लक्ष्मीमती' से 'जयकुमार' का जन्म हुआ। जयकुमार ने सर्व शास्त्रों में निपुणता प्राप्त की और उसे पिता के जिनदीक्षा ले लेने पर राज्यासन मिला। वह पिताकी तरह प्रजाका अच्छी तरहसे पालन कर रहा था कि, उसे पुरुदेव (आदिनाथ) के पुत्र भरत के दिग्विजयको निकलने का समाचार मिला। उसने भी भरतके साथ जानेका निश्चय किया। तदनुसार वह दीर्घकाल तक भरतकी साथ रहा और उसने नागमुखादि शत्रुओं को विजय किया। भरतजी जयकुमारके इस रणकौशलसे संतुष्ट हुए और उन्होंने उसे अपना सेनापति नियत किया। षट्खण्डको जीत कर भरत चक्रवर्ती जब अपनी राजधानी (अयोध्या) को लौटे तब उन्होंने जयकुमारको विदा किया । वह अपने नगर पहुँच कर यथेष्ट प्रजाका पालन करने लगा। इतनेमें काशीके राजा अकम्पनने अपनी विदुषी पुत्री 'सुलोचना' का उसकी अनुमतिसे स्वयंवर रचा, जिसमें प्रायः सभी राजा आए, जयकुमार भी गया और उसी के गलेमें वरमाला पड़ी। इस पर भरतका पुत्र 'अर्ककीर्ति' क्रुद्ध हुआ और उसने जयकुमारसे युद्ध ठाना। युद्धमें अर्ककीर्ति को हारना पड़ा और जयकुमारकी पूरी विजय हुई। सो ठीक है, धर्मकी ही सर्वत्र विजय होती है, बल तथा वैभवकी नहीं। इसके बाद जयकुमार अच्छी तरहसे सुख भोगता और सदाचार-द्वारा अपने गार्हस्थ्य जीवनको स्तुत्य बनाता हुआ चिरकाल तक गृहस्थाश्रममें रहा। और अन्तमें उसने मोक्ष पुरुषार्थका साधन करके अक्षय सुखको प्राप्त किया।

—सम्पादक]

१

अधूरा हार

वन में घूम घूम कर मैंने रंग विरंगे फूलों का संग्रह किया और पहाड़ी के नीचे हरित दुर्वा पर रख कर हार गूंथने लगा।

× × ×

पूर्व दिशा का आकाश असित घन-मालाओं से आच्छादित हो गया। नाविकगण अपनी अपनी नौका किनारे बाँध कर गिरि-कन्दराओं में छिप गये। मैं अकेला हार गूंथने में निमग्न था।

× × ×

पर्वत-शृंग तूफ़ान के वेग से हिल गया। धूल से मेरी आँखें भर गईं। सारे फूल प्रवल झकोरों में पड़ कर तितर-बितर हो गये। मेरे पास साथ ले जाने के लिये केवल अधूरा हार बच रहा।

२

वंदी का विनोद

मेरी विपंची मधुर गीत नहीं गाती। उसकी झंकृति में वेदना भरी है। प्रकृति की नीरव रंगस्थली में जब कभी बैठकर तारों को छेड़ता हूँ, हृदय-पटल पर शीतल आँसू की बूंदें ढलक पड़ती हैं। मैं तत्काल ही बीणा रख देता हूँ।

× × ×

विश्व का वंदी हूँ। जीवनको ज्वाला झुलसा रही है। इच्छा होती है दाह से किनारे हो जाऊं किन्तु आह,—वंदी हूँ—परतंत्र हूँ। इसी असमर्थताकी धारा में चिन्ता नित्य डुबाना चाहती है।

× × ×

घबड़ा कर मन बहलाने के लिए फिर बीणा फूँकता हूँ। मेरी बीणा रोती है— मैं सुनता हूँ। यही मेरा विनोद है।

—श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ "कमल"

भारतीय दर्शनशास्त्र

[लेखक—श्रीयुत पं० माधवाचार्य्य रिसर्च स्कालर]

> यह लेख एक अजैन बन्धुका लिखा हुआ है और श्रीवेंकटेश्वर-समाचारके गत विशेषांक में प्रकट हुआ है। इसमें भारतीय दर्शनशास्त्रों पर विचार करते हुए जैन दर्शन पर भी कुछ तुलनात्मक विचार किया गया है। विद्वान् लेखकने जैनग्रंथों के अध्ययनका कहाँ तक परिश्रम किया है, वे कहाँ तक उन पर से वस्तुतत्व को ग्रहण करने आदि में सफल हो सके हैं और जैनदर्शनके विषयमें उनके क्या कुछ विचार हैं, इसका 'अनेकान्त' के पाठकों को परिचय करानेके लिये ही यह लेख यहाँ पर दिया जाता है।
>
> लेखक महाशयका यह लिखना बिलकुल ठीक है कि, जैन दर्शनके सम्बंधमें बहुत सीमान्त कल्पनाएँ प्रचलित होगई हैं, इसका कारण वास्तवमें जैनसाहित्यका अप्रचार है। ज्यों ज्यों जैनसाहित्य प्रकाशमें आता जाता है और सर्वसाधारणको जैनग्रन्थोंकी प्राप्तिका मार्ग सुगम होता जाता है त्यों त्यों भ्रान्त कल्पनाएँ तथा मिथ्या धारणाएँ भी दूर होती जाती हैं और बहुतसे उदार हृदय निष्पक्ष विद्वान् जैन दर्शनके विषयमें अपने ऊँचे विचार प्रकट करने लगे हैं, यह निःसन्देह एक आनंदका विषय है। —सम्पादक

भारतीय दर्शनशास्त्र इस असार संसार के परम दुस्तर, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक परितापोंसे परमसन्तप्त करुणक्रन्दन करने वाले व्यथित जीवोंको आनंदके अगाध पारावारमें निमग्न करा देने की अपूर्व शक्ति रखते हैं।

भारतके विज्ञानकी चरम सीमा के युग का स्मरण, दर्शन शास्त्रकी याद आते ही, हो जाता है। बिना उन्नतिकी चरमसीमाको पारकिये दर्शनशास्त्रका विकास नहीं होता।

भारतीय दर्शनोंपर टीका-टिप्पणीकारों में सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान मोक्षमूलरने, भारतीय दर्शनोंकी समीक्षा करते हुए लिखा है:—

"कोई भी देश विज्ञानकी परिपूर्ण उन्नति किये बिना ऐसे दर्शनोंका आविष्कार नहीं कर सकता। इन भारतीय दर्शनशास्त्रोंको देखकर मुझे अत्यन्त हर्षके साथ कहना पड़ता है कि भारतकी वैज्ञानिक उन्नति चरम सीमाको पार कर गयी थी।"

दुःखों से सन्तप्त होके हिन्दू दर्शनशास्त्रोंकी शरणमें जानेवाले एक पश्चिमके धुरन्धर विद्वानने कहा है कि, "पहले मैं सदा ही दुःखों से अभिभूत होनेके कारण विमना रहा करता था। अब जिस दिन से दर्शनशास्त्रों की शरणमें आया हूँ तबसे नित्यप्रति अपार आनन्दके निरन्तर प्रवाहित स्रोतमें निमग्न रहा करता हूँ।"

यह दर्शनशास्त्र की उत्तमताका ही फल है जो इस शास्त्र सम्बन्धी छोटेसे छोटे ग्रन्थके अनुवाद हर एक भाषामें दिन रात होते चले आरहे हैं।

आज अपनेको सुसभ्य समझने वाले देश जब बर्बर जंगलियोंकी तरह इधर-उधर मछलियाँ मारते फिरते थे, तब भारतीय नररत्न और उनके दर्शनशास्त्र अपनेप्रकाश से सबको मार्ग दिखानेका उपाय कर रहे थे।

इन शास्त्रों के सम्बन्धमें पूर्ण रूपसे विचार किसी एक लेखमें नहीं किया जा सकता। उनकी तो प्रत्येक पंक्ति व्याख्याके लिए एक दफ्तर चाहती है। ऐसी दशा में दो चार पृष्ठके भीतर विशद व्याख्या की आशा नहीं की जा सकती। इस लिए आज हम अपने इस लेखमें, इन दर्शनोंमेंसे तीन ऐसे दर्शनोंको चुन लेते हैं जिन पर अभीतक बहुत कम विचार किया गया है और जिनके

सम्बन्धमें बहुत सी भ्रान्त कल्पनाएँ प्रचलित हो गयी हैं। ऐसा करते हुए भी हमें इस बातका ध्यान रखना पड़ेगा कि लेख बहुत अधिक न बढ़ जाय, क्योंकि लेख अधिक बढ़ जानेसे इस बातका भय है कि पाठक वृन्द कुछ आलसका अनुभव करने लगेंगे।

जिन दर्शनोंपर आज हम विचार करेंगे वे हैं (१) चार्वाक (२) बौद्ध और (३) जैन-दर्शन।

चार्वाक-दर्शन

इस दर्शनका दूसरा नाम नास्तिक दर्शन भी है। कारण? यह इस लोक तथा ऐहिक पदार्थोंको छोड़कर जीव ईश्वर आदि किसी भी पदार्थको स्वीकार नहीं करता है। इसके विचारमें, शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता, शुभाशुभ फलोंका भोक्ता, देह को छोड़ देहान्तरका ग्रहण करने वाला, कोई भी नहीं है।

पृथिवी, तेज, वायु तथा जलके स्वाभाविक संयोग-विशेषसे बने हुए शरीरमें इसी संयोगकी महिमासे चैतन्य पैदा हो जाता है, जिससे यह शरीर हर तरहकी हरकतें करने लग जाता है। जैसे कई एक खास वस्तुओंके संयोगसे शराबमें नशा पैदा हो जाता है, उसी तरह ये लोग भूतोंके संयोगविशेषसे चैतन्यको पैदा हुआ समझते हैं।

स्वर्ग नरक भी कोई लोकान्तर नहीं होते, भोगोंकी प्राप्ति स्वर्ग तथा कष्टकी प्राप्ति को ही ये नरक कहते हैं।

मोक्षप्राप्तिको इनकी बराबर सुगम दूसरा कोई नहीं समझना; ये मरे और मुक्त हुए। राजाके सिवा कोई अदृष्ट ईश्वर नहीं। अतएव वैदिक कर्म कलापके सिवा ऐसे वैसे लोगोंकी जीविका और कुछ नहीं है (?)। जब इन्हें ईश्वरकी ही सत्ता स्वीकार नहीं है, तब वेदोंका तो जिक्र ही क्या है। उन्हें धूर्त, भाण्ड, निशाचर जिस किसीका भी बनाया हुआ कह दें, सो थोड़ा है।

जहाँ तक समझा जाता है, चार्वाकदर्शनकी रचना उस समय हुई थी जब महाभारतके सर्वनाशी युद्धके पश्चात् देशमें एक विचित्र लहर फैल रही थी। उसीके परिणामस्वरूप अपनी पहली सभी बातोंकी प्रतिक्रिया की एक लहरसी देशमें बह गयी थी। आज भी पाश्चात्य जगत इसी लहरके प्रभावमें दिखलाई देता है। यदि पाश्चात्य सभ्यताके मूल सिद्धान्तोंपर दृष्टि डाली जाय तो वे इन नास्तिक दर्शनोंकी ही मालूम छाया होते हैं।

भारतमें भी स्वामी दयानंद सरस्वतीने इनसे बहुत कुछ सीखा है। श्राद्ध आदिका निषेध यहींसे शुरू होता है, जिसे स्वामीजीने अपना रंग देकर अपनाया है। उन्होंने अन्यधर्म-सम्प्रदायोंका खण्डन करते हुए जो युक्तियाँ दी हैं उन्हें चार्वाकदर्शनके प्रकाशमें देखिये तो कुछ भी अन्तर दिखलाई न देगा।

इस चार्वाक-दर्शनके अनुसार चलने वाले प्रत्यक्ष प्रमाणको छोड़कर और कुछ भी नहीं मानते। यूरोपमें प्रायः सर्वत्र यही भाव था। पर अब कुछ दिनोंसे उनमें ऐसे लोग भी पैदा हो गये हैं जो आत्माको शरीरसे भिन्न मानने लगे हैं, किन्तु उनकी संख्या अति न्यून है। नाना प्रकारके भोगोंको ही परम पुरुषार्थ मानने वाले इन नास्तिकोंने भारतमें भयंकर हलचल पैदा कर दी थी। दया तो इनके दिलोंमें नाम मात्र को भी नहीं थी। अपने भोग-विलासके लिये ये भारीसे भारी जीव-हत्या करनेमें कुछ भी नहीं हिचकते थे। नशीली शराब की लाल लाल बोतलें, इनमें से हर एकके विलासगृह की शोभा बढ़ाया करती थीं।

दुर्भाग्यसे देशमें कुछ संप्रदाय भी ऐसे पैदा हो गये थे जो तान्त्रिक होनेका दम भरते हुए देवताओंके नाम पर उन सब कामोंको करते थे जिन्हें पूर्वोक्त नास्तिक भोगोंके नाम पर निराबाध करते चले जारहे थे।

कोई मातेश्वरी महामायाके मनानेके नाम पर पंच मकारको सेवन करते हुए कृतकृत्य होनेका गर्व करता था, तो कोई वटुक भैरवका नाम लेकर शराबकी बोतलें चढाने लग गया था। मांसखोरोंकी तो कोई गणना ही नहीं थी। जिधर देखो उधर वे ही झुंडके झुंड नजर आते थे। यह हाल उन लोगोंका था जो वेदके अनुशासनसे अपनेको सर्वथा मुक्त समझते थे।

चारों दिशाओंमें घोर अज्ञानका साम्राज्य फैला हुआ था, लोग आसुरी प्रकृतिमें निमग्न हो चुके थे।

ऐसे समय भगवान बुद्धदेवका अवतार हुआ, जिन्होंने अपने उपदेशके द्वारा विश्वकी रक्षा की।

समयकी लहरने जो भीषण बुराइयाँ पैदा कर दी थीं भगवान बुद्धने अपनी शक्तियाँ इन्हीं बुराइयोंके विरोध में विशेषरूपसे लगायीं।

भगवान् बुद्धदेवने किसी पर भी बलप्रयोग नहीं किया, न अपने अनुयायियोंको बलप्रयोगकी शिक्षा दी। उनके यहाँ पशुबलका तो प्रयोग ही नहीं था।

उनके उपदेश इतने प्रभावशाली होते थे कि उनके पिता जीने जिन व्यक्तियोंको इनसे वैराग्यपरित्याग कराने के लिये भेजा वे व्यक्ति स्वयं दीक्षित हो गये। भगवान् बुद्धदेवके शिष्योंने उनके आदर्शका जो संग्रह किया है वह

बौद्ध-दर्शन

के नामसे विश्वमें विख्यात हुआ। इनके विचारोंका विश्व पर इतना प्रभाव पड़ा कि बहु-संख्यक लोग नास्तिकता को छोड़ कर इनके विचारोंके अनुयायी हो गये।

भगवान् बुद्धदेवका सबसे पहला उपदेश तो यह है कि—हे अज्ञानोपहत लोगो! जिसे तुम सुख समझ रहे हो यह साक्षात् दुःख रूप है। विषयोंके उपार्जन का परिश्रम वियोगकी चिन्ता किसी समय भी पीछा नहीं छोड़ती। तुम उपार्जन करनेमें सहयोग देने वालों से राग तथा विघ्न करने वाले खलोंसे द्वेष करते हुए सदा सन्तप्त रहते हो। फिर भी आपको इन दुःख रूप विषयमें सुखकी बू आती है यह महान् दुःखका विषय है। भोगैश्वर्य्यकी सामग्रीमें सुख समझना भूल है। यह सब दुःख रूप है। इसलिये इनके उपार्जनकी चिन्ता छोड़कर शान्तिके उपाय करो।

उन्होंने दूसरा उपदेश यह दिया है कि—दुनियाँकी जिन चीजोंको देखकर आप अपनेको भूल रहे हैं ये सब वस्तुएँ क्षण मात्र ही रहने वाली हैं। पहले क्षण जो भी कुछ देखा था दूसरे क्षण वह उस रूपमें स्थिर नहीं रहा है, बदल चुका। हम उसके परिवर्तनको नहीं देख सके थे।

तीसरा उपदेश था कि—राकापतिके करस्पर्शको पाकर दूसरेके करस्पर्शको न सहनेवाली स्नुही, सूर्य्य-किरणस्पर्शमात्रसे ही खिल जाने वाले कमल, मार्गके परिश्रम से परिश्रान्त पथिकको शीतल छायामें बिठा कर नाना भांतिके सौरभसे आनन्दित कर देने वाले अनेक प्रकारके द्रुम तथा नाना भांतिका विश्वरूप, सब स्वभावसे निबद्ध हैं। प्रत्येकके जुदे जुदे स्वभावसे प्रत्येकका अनुभव होता है।

चौथा उपदेश होता था कि—जो भी कुछ स्वभाव से प्रत्याख्य पदार्थ बताया है उसका असली तत्वशून्य ही है। शून्यके सिवा और कुछ नहीं। ये विचार इस विश्वमें भावनाचतुष्टयके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन चारों भावनाओंको ही मोक्षमार्ग कह कर पुकारा जाने लगा। इस भावनाने भोगैश्वर्य्य की प्राप्तिको परम पुरुषार्थ मानना लोगोंसे छुड़वा दिया।

भावनाचतुष्टयके साथ ही साथ इन्होंने यह भी बताया कि केवल प्रत्यक्षसे सब काम नहीं चल सकता अनुमानको भी मानना परमावश्यक है। बिना इसके माने आप यह भी नहीं कह सकते कि इस कारण हम अनुमानको प्रमाण नहीं मानते।

जहाँ कहीं हेतु देनेकी जरूरत होती है वहाँ ही अनमानका स्वरूप पहुँच जाता है। बिना अनुमानके दूसरेके अकथित दुःख सुखोंकी भी प्रतीति नहीं होती।

यह अनुमानकी ही महिमा है जो दूसरेके सुख दुःखोंका अनुभव चहरा देखनेसे ही हो जाता है।

भगवान् बुद्धदेव "सर्वं दुःखम्" कह कर ही चुप नहीं रहे, किन्तु आपने दुःखरूप कहनेके लिये पदार्थों की भी गणना कर डाली थी कि दुःखको (१) रूप (२) विज्ञान, (३) वेदना (४) संज्ञा (५) संस्कार, इन पाँच भागोंमें बांटा जा सकता है। आपने २ परमाणु-पुञ्जोंसे बने हुए पृथिवी, वायु, तेज, जल, भौतिक विकारोंके साथ विषय और इन्द्रियोंके सहित, रूपस्कन्ध कहलाते हैं।

प्रवृत्त-विज्ञान तथा आलय-विज्ञान को विज्ञानस्कन्ध कहते हैं। वस्तुके अनुभवादि करती बार जो "यह अमुक वस्तु है" यह अवबोध होता है इसे प्रवृत्ति-विज्ञान कहते हैं, कारण? इसी बोधके पीछे उसमें जानने वालेकी प्रवृत्ति होती है।

'मैं जानता हूँ' यह जो अनुगम है इसे आलय-विज्ञान कह कर लोग व्यवहार करते हैं। आत्मज्ञान

की तरह प्रवृत्ति कराने वाले सर्वज्ञ बुद्धदेवने इसी आलय-विज्ञानको शरीरसे भिन्न आत्मा बताया है। कारण ? शरीरको ही सब कुछ मानने वाले अज्ञानी एक ही बार सीधे आत्मतत्व पर नहीं पहुँच सकते थे। सदासे ही उपदेष्टाओंकी यह नीति रही है कि अधिकारीके अनुसार ही उसे उपदेश देनेका प्रयास किया करते हैं, जो बात सहसा उसकी समझमें न आ सके उसका वे सहसा उपदेश भी नहीं दे डालते।

देहको ही सब कुछ मानने वाले उन शराबी कबाबी नास्तिकोंके लिये सहसा यह समझना मुश्किल था कि 'सच्चिदानंद' परमात्मा है, जिसने सम्पूर्ण विश्वमें अपने प्रकाशको फैला रखा है; क्योंकि वे जबतक अपने पूर्व पापोंके प्रायश्चित्त करके अधिकारी नहीं बन लेते तब तक विशुद्ध आत्माका उपदेश देना अधिकारी के नियमका उच्छेद करना था। इसीलिये आलय-विज्ञानको ही आत्मा बताया था कि इसमें जीवात्माकी कुछ २ झलक आती रहती है। किन्तु उनका यह असली सिद्धान्त नहीं था।

अपनी इच्छाके अनुकूल वस्तु मिलनेसे सुख तथा प्रतिकूल मिलनेसे जो दुखानुभव होता है सो सब वेदना-स्कन्ध कहाता है।

वस्तुके साथ चक्षुरादि इन्द्रियोंका सम्बन्ध होने पर उसके नाम जाति आदिका जो ज्ञान होता है वह संज्ञा-स्कन्ध कहाता है।

चित्तरूप आत्मा पर रहने वाले राग, द्वेष, मोह, महामोह, धर्माधर्म आदिक, संस्कार-स्कन्धके नामसे प्रसिद्ध हुए। हम पहले ही कह चुके हैं कि आलय-विज्ञानको ही भगवान् बुद्धने चित्त या आत्मा कहा है, बाकी स्कन्धोंको चैत्य कहते हैं। चित्त और चैत्यका तथा भूत और भौतिकोंका समुदाय लोक यात्रा का निर्वाह करता है पर इसमें दुखरूपताके सिवा और कुछ भी नहीं है।

भगवान् बुद्धदेवके अनेकों शिष्य थे। उनका उपदेश सबके लिये भेदभाव रहित होता था, तो भी अपनी अपनी बुद्धिदेवीकी कृपासे इनके प्रधान चार शिष्य चार पथोंके अनुगामी हुए। इनमें से माध्यमिक केवल शून्यवादी हैं; योगाचार बाह्यार्थको शून्य मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्यमें वस्तुको शून्य मानते हुए विज्ञानानुमेय मानते हैं। वैभाषिक बाह्य वस्तुको प्रत्यक्ष मानते हैं। शून्य, क्षणिक, दुःखरूप तथा स्वलक्षणकी मान्यता सबमें एक सी है।

इनकी शिष्यपरम्परा भी इसी नामसे प्रसिद्ध हुई। ये सबके सब असत्से सत् पदार्थकी उत्पत्ति मानते हैं इसलिये वैनाशिक शब्दसे अन्य शास्त्रोंमें इनका परिचय दिया जाता है।

इस मतके संन्यासी, शांकर-सम्प्रदायके संन्यासियोंकी तरह शिखासहित सिरका मुण्डन कराते हैं। जीवहिंसाके भयसे रातमें भोजन नहीं करते। और संन्यासियोंकी तरह ये भी एक विशेष प्रकारके कमण्डलुसे ही पात्रोंकी आवश्यकता पूरी करते हैं। अंगाच्छादनके लिये चीर वसन होता है। पीले रंगेहुए कपड़े पहिनकर ही धर्मकृत्य किया करते हैं। चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, परन्तु मोक्षको इन्होंने लोगों के सामने रक्खा है। रागद्वेषादिके विविध विज्ञान की वासनाओंके उच्छेदको ये मोक्ष मानते हैं। क्योंकि उस समय लोग मोक्षके स्वरूपको समझनेकी प्रायः ऐसी ही योग्यता रखते थे। यह बौद्ध दर्शनके पदार्थोंका संक्षिप्त संग्रह समाप्त हुआ।

जैन-दर्शन

यह दर्शन अर्हन् भगवान्‌का प्रधानरूपसे उपासक है, इसलिये कोई कोई दार्शनिक इसको 'आर्हत-दर्शन' भी कहते हैं।

संसारके त्यागी पुरुषोंको परम हंसचर्य्या सिखाने के लिये त्रिगुणातीत पुरुष विशेष परमेश्वरने ऋषभावतार लिया। भागवत आदि पुराणोंमें आपकी महिमा कूटकूट कर भरी हुई है। जगत्‌के लिये परमहंसचर्य्या का पथ दिखाने वाले आप ही थे। हमारे जैनधर्मावलम्बी भाई आपको 'आदिनाथ' कह कर स्मरण करते हुए जैनधर्मके आदि प्रचारक मानते हैं।

भगवान् ऋषभदेवने सुखप्राप्ति का जो रास्ता बताया था वह हिंसा आदि भयंकर पापोंके सघन

तिमिरमें अदृष्टसा हो गया। उसके, शोधनके लिये अहिंसा धर्मके अवतार भगवान् महावीर स्वामीका आविर्भाव हुआ जिन्हें जैन लोग श्रीवर्धमान प्रभु कह कर श्रद्धांजलि समर्पित करते रहते हैं।

महावीर स्वामीके उपदेशोंको सूत्रोंके रूपमें ग्रथित करने वाले आचार्योंने महावीरस्वामीके अवतरित होने का प्रयोजन बताया है कि, "सव्व जगा रक्खण दआ ट्ठआअ पवयणं सु कहियं भगवया"—भगवान् महावीर स्वामीने व्यथित जीवोंके करुण-क्रन्दनसे करुणार्द्र चित्त होकर सब दुखीजीवोंकी रक्षा रूप दयाके लिये सार्व-जनीन उपदेश देना प्रारम्भ किया था।

यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि भगवान बुद्धदेवने विश्वको दुख रूप कहते हुए क्षणिक कहती बार यह विचार नहीं किया था कि इससे अनेक अनेक लाभोंके साथ क्या २ दोष होंगे। उनका उद्देश विश्वको वैराग्य की तरफ लेजाने का था जिससे अनाचार अत्याचार तथा हिंसाका लोप हो जाय। महावीर स्वामीने बुद्ध-देवके बनाये हुए अधिकारियोंकी इस कमीको पूरा करने की ओर ध्यान दिया। इन्होंने कहा कि, अखिल पदार्थों को क्षणिक समझकर शून्यको तत्वका रूप देना भयंकर भूल करना है। जब सब मनुष्य शकल सूरतमें एकसे ही हैं तब फिर क्या कारण है कि कोई राजा बनकर शासन कर रहा है और कोई प्रजा बना हुआ हुकम बजा रहा है। किसीमें कोई खूबियां विशेष प्रकार से पायीं जातीं हैं, किसीको वह बातें प्रयास करने पर भी नहीं मिलतीं। इसमें कोई कारण अवश्य है। वर्तमान जगत को देखकर मेरी समझमें आता है तो यही आता है कि शरीरसे जुदा, अच्छे बुरे कर्मोंके शुभाशुभ फलका भोक्ता, शरीरको धारण करनेवाला कोई जरूर है। उस के रहनेसे यह शरीर चैतन्य रहता है, उसके छोड़ देने से मृतक कहलाता है। वह चैतन्य शरीरके जीवनका कारण होनेसे जीव शब्दसे बोला जाता है। क्षण क्षण में तो इस परिदृश्यमान जगतके परिणाम हुआ करते हैं। इस लिये परिणाम ही प्रतिक्षण होते रहनेके कारण क्षणिक कहला सकता है। क्षणिक कहने वालों का वास्तविक मतलब परिणामको क्षणिक कहनेका है दूसरे किसी द्रव्य आदिको नहीं।

जो शून्य कहा जाता है उसका मतलब कदाचित् शून्य कहने से है, केवल शून्य कहनेसे नहीं है। क्योंकि परिदृश्यमान विश्व कथंचिद् परिणाम या पर्यायरूपसे शून्य अनित्य अथवा असत् कहाया जा-सकता है, द्रव्यत्व रूपसे नहीं कहाया जासकता।

यह दर्शन एक द्रव्य पदार्थ ही मानता है। गुण और पर्य्यायके आधारको द्रव्य कहते हैं। ये गुण और पर्य्याय इस द्रव्यके ही आत्मस्वरूप हैं, इसलिये ये द्रव्यकी किसी भी हालतमें द्रव्यसे जुदा नहीं होते। द्रव्य के परिणत होनेकी हालतको पर्य्याय कहते हैं, जो सदा न कायम रह कर प्रतिक्षणमें बदलता रहता है। जिससे द्रव्य रूपान्तरमें परिणत होता है। अनुवृत्ति तथा व्या-वृत्तिका साधन गुण कहलाता है, जिसके कारण द्रव्य सजातीयसे मिलते हुए तथा विजातीयसे विभिन्न प्रतीत होते रहते हैं।

इसकी सत्तामें इस दर्शनके अनुयायी सामान्य विशेषके (पृथक) मानने की कोई आवश्यकता नहीं समझते।

द्रव्य एक ऐसा पदार्थ इस दर्शनने माना है जिसके माननेपर इससे दूसरे पदार्थके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती, इसलिये इसका लक्षण करना परमावश्यक है।

श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य्यने अपने 'प्रवचनसार' में द्रव्यका लक्षण यह किया है कि—

* अपरित्यक्तस्वभावेन उत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम।
गुणवच्च सपर्य्यायम् यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥ ३ ॥

अर्थात—जो अपने अस्तित्वके स्वभावको न छोड़-कर, उत्पाद और व्यय तथा ध्रुवतासे संयुक्त है एवं गुण तथा पर्य्यायका आधार है सो द्रव्य कहा जाता है।

यही लक्षण तत्वार्थसूत्रमें भी किया है कि "गुण-पर्य्यायवद्द्रव्यम्" "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"

यह द्रव्य जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्ति-काय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, काल इन

* यह ज्ञेयाधिकारमें कही हुई गाथा का छायानुवाद है। सम्पादक

भेदोंसे छह प्रकारका होता है। सावयव वस्तुके समूहको अस्तिकाय कहते हैं। कालको बाक़ी छोड़ शेष द्रव्य सप्रदेशी हैं, इसलिये जैनन्यायमें कालको वर्जकर, सब के साथ अस्तिकाय शब्दका प्रयोग किया गया है।

श्रीयुत कुन्दकुन्दाचार्यने आत्माको अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अरस, भूतोंके चिन्होंसे अग्राह्य, निराकार तथा चेतनागुणवाला अथवा चैतन्य माना है।

रूप, रस, गंध, स्पर्शगुणवाले तेज, जल, पृथिवी, वायुका 'पुद्गल' शब्दसे व्यवहार होता है। क्योंकि ये पूरण गलन स्वभाववाले होते हैं।

पुद्गल द्रव्य स्थूल और सूक्ष्म भेदसे दो प्रकारका होता है उसके सूक्ष्मपनेकी हद परमाणु पर जाकर होती है। तथा परमाणुओंके संघात भावको प्राप्त हुए पृथिवी आदिक स्थूल कहलाते हैं।

जीव और पुद्गलोंकी गतिमें सहायकको 'धर्म' कहते हैं तथा गतिप्रतिबन्धक 'अधर्म'के नामसे पुकारा जाता है।

अवकाश देनेवाले पदार्थको 'आकाश' कहकर बोलते हैं। द्रव्यके पर्य्यायोंका भी परिणमन करनेवाला 'काल' कहलाता है।

यह छह प्रकारके द्रव्योंका भेद लक्षण-सहित दिखाया गया है। सम्पूर्ण वस्तुजात इन ही का प्रसार है, ऐसा इस दर्शनका मत है।

जैनदर्शनका प्रमाण भी वेदान्त सिद्धान्तसे मिलता जुलता है। इसके यहाँ अपना और पर पदार्थका आप ही निश्चय करने वाला, स्वपर प्रकाशक ज्ञान ही 'प्रमाण' कहलाता है तथा इसका आत्मा शब्दसे भी व्यवहार होता है; क्योंकि यही ज्ञान आत्मा है। यह प्रत्यक्ष तथा परोक्ष भेदसे दो प्रकारका होता है। सांव्यवहारिक और पारमार्थिक भेदसे प्रत्यक्ष भी दो तरहका कहा गया है। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो ज्ञान होता है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहाता है। चक्षु और मन तो विषयको दूर रहने पर भी अनुभव कर लेते हैं परन्तु बाकी इन्द्रिय विषयकी समीप प्राप्ति होने पर ही संयुक्त होनेसे कर सकते हैं। इस लिए जैनागम मन और चक्षुको अप्राप्यकारी तथा बाकी चारों ज्ञानेन्द्रियोंको प्राप्यकारी कहता है। इन्द्रियोंके भेदसे उन के अनुसार इसके भी भेद होते हैं।

जैनी लोग व्यवहारके निर्वाह करने वाले प्रत्यक्षको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इसका दूसरा नाम मतिज्ञान भी है, यह इसके भेदोंके साथ कह दिया गया है। अब मय भेदोंके पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। जो प्रत्यक्ष किसी भी इन्द्रियकी सहायता न लेकर वस्तुका अनुभव करले वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहाता है, यही वास्तविक प्रत्यक्ष कहने योग्य है। बाकी प्रत्यक्ष तो लोकयात्राके लिये स्वीकार किया है।

यह विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष तथा सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष भेदसे दो प्रकारका होता है। जो प्रत्यक्ष पूर्वोक्त प्रकारसे रूपी पदार्थोंका ही अनुभव कर सकता हो वह अरूपी पदार्थोंके अनुभवसे हीन होनेके कारण विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहाता है।

जो तीनों कालोंमें से किसी भी कालके रूपी अरूपी प्रत्येक वस्तुका अनुभव कर लेता है वह सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष होता है। इसका दूसरा नाम केवल ज्ञान भी है। इस ज्ञानवाले केवली कहाया करते हैं। यही ज्ञानकी चरमसीमा है। यह बिना मुक्त पुरुषोंके दूसरेको हो नहीं सकता।

अवधि और मनःपर्य्याय इन दो भेदोंसे विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका होता है।

जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे बिना इन्द्रियोंकी सहायताके रूपी पदार्थोंको समर्याद जाने वह अवधिको लिये हुए होनेके कारण अवधि पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहाता है।

अन्य जीवोंके मानसिक विषय बने हुए रूपी पदार्थोंके पूर्वोक्त प्रकारके अनुभव को मनःपर्य्याय विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

इस तरह यह पारमार्थिक प्रत्यक्ष अवधि, मनःपर्याय तथा केवल, इन तीन ज्ञानोंमें समाप्त होजाता है।

जो किसी भी रूपमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञानकी सहायतासे हो वह ज्ञान परोक्ष कहा जाता है। वह स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगमभेदसे पाँच प्रकारका होता है।

इनके जो लक्षण अन्य शास्त्रोंने किये हैं उनसे मिलते जुलते ही जैन शास्त्रने भी किये हैं। इस लिये वे सबमें प्रसिद्ध हैं। अतएव अनुमान आदि के लक्षण आदि यहाँ देनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

यही परोक्ष ज्ञान श्रुतज्ञानसे भी व्यवहृत होताहै। इस प्रकार प्रमाण माना हुआ ज्ञान अपने प्रमति भेदोंको भी साथ लेकर (१) मति (२) श्रुत (३) अवधि (४) मनःपर्य्याय और (५) केवल इन पाँच ज्ञानोंके अन्दर गतार्थ हो जाता है। अन्य दर्शनोंने किसीको नित्य और किसीको अनित्य माना है, पर यह दर्शन कहता है कि:—

"आदीपमाव्योमसमस्वभावः
स्याद्वादमुद्रानति भेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यद्
इति त्वदाज्ञा द्विषतां प्रलापाः॥"

यह बात नहीं है कि आकाश नित्य हो, यह और दीपक दोनों ही एकसे स्वभाव वाले हैं। दोनों ही क्यों? कोई भी चीज उस स्वभावका अतिक्रमण नहीं कर सकती; क्योंकि सबके मुँह पर स्याद्वाद यानी अनेकान्त स्वभावकी छाप लगी हुई है। जो किसी को नित्य पुनः किसीको अनित्य कहते हैं वे अकारण जैन शास्त्रके साथ द्वेष करते हैं।

स्याद्वाद शब्दमें स्यात् यह अनेकान्तरूप अर्थका कहने वाला अव्यय है? अत एव स्याद्वादका अर्थ अनेकान्तवाद कहा जाता है। परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म, अपेक्षासे एक ही वस्तुमें प्रतीत होते हैं; जैसे द्रव्यत्व रूपसे नित्यता तथा पर्य्यायरूपसे अनित्यता प्रत्येक वस्तुमें प्रतीत होती है। इसी को 'अनेकान्तवाद' कहते हैं। यानी एकान्तसे नित्य, अनित्य आदि कुछ भी न हो किन्तु अपेक्षासे सब हों। कोई कोई विज्ञ हैं वे इसे अपेक्षावाद भी कहते हैं।

यह दर्शन प्रमाण और नयसे पदार्थकी सिद्धि मानता है। प्रमाण तो कह चुके हैं अब नयको भी निरूपण करते हैं।

अनन्त धर्म वाले वस्तुके किसी एक धर्मका अनुभव कर लेने वाले ज्ञानको नय कहते हैं; क्योंकि वस्तु का मति श्रुतज्ञान होने पर भी उसके तमाम धर्मोंका ज्ञान नहीं हो सकता। उस एक अंशके अनुभवका निरूपण, नयसे सुचारु रूपमें हो जाता है।

द्रव्य मात्रको ग्रहण करने वाला तथा गुण और पर्य्याय मात्रको ग्रहण करने वाला नय क्रमसे द्रव्यार्थिक और पर्य्यायार्थिक कहलाता है।

नैगम, संग्रह और व्यवहार नयके भेदसे तीन प्रकारका द्रव्यार्थिक होता है। इसी तरह ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत यह चार प्रकारका पर्य्यायार्थिक नय होता है।

वस्तुका प्रत्यक्ष करती वार आरोप तथा विकल्पको 'नैगम' नय ग्रहण करता है। एकके ग्रहणमें तज्जातीय सबका ग्रहण करने वाला 'संग्रह' नय होता है। पृथक् पृथक् व्यवहारानुसार ग्रहण करने वाला 'व्यवहार' नय है। वर्तमान पर्यायको ग्रहण करना 'ऋजुसूत्र' नयका कार्य्य है। व्याकरणसिद्ध प्रकृति, प्रत्यय लिंग आदिके ग्रहण करने वाले को 'शब्द' नय कहते हैं। पर्य्याय वाचक शब्दोंकी व्युत्पत्तिके भेदसे भिन्न अर्थों को ग्रहण करने वालेका नाम 'समभिरूढ' नय है। अन्वयार्थक संज्ञा वाले व्यक्तिका उस कामके करती वार ग्रहण करने वाला 'एवंभूत' नय है।

ये नय प्रमाणोंको वस्तुओंका अनुभव करती वार तदंग होकर सहायता पहुँचाते हैं। इस लिये तत्त्वार्थसूत्रकारने वस्तुके निरूपणमें एक ही साथ इनका उपयोग माना है।

इसी तरह वस्तुके समझानेके लिये नाम, स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेपका भी उपयोग होता है। आखिरमें यह सिद्धान्त व्याकरण महाभाष्यकारकी "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" से मिलता जुलता है। साधारणतः संज्ञाको 'नाम' तथा झूठी साची आरोपनाको 'स्थापना' एवं कार्य्यक्षमको 'द्रव्य' और प्रत्युपस्थित कार्य्य या पर्य्यायको 'भाव' कहते हैं।

जैनतंत्र वस्तुके निरूपणमें इतने उपकरणोंकी अपेक्षा रखने वाला होनेके कारण प्रथम कक्षाके लोगोंके लिये दुरूह सा हो गया है, पर इसके तत्वको समझमें आ जानेके बाद कोई कठिनता नहीं मालूम होती।

इसी तरह क्षेत्र, काल और स्वामी आदिका ज्ञान भी आसान होजाता है।

एक हजार भारका लोहेका गोला इन्द्र लोक से नीचे गिर कर ६ मासमें जितनी दूर पहुँचे उस संपूर्ण लंबाईको एक राजू कहते हैं। नृत्य करते हुए भोपाके समान आकार वाला यह ब्रह्माण्ड सात राजू चौड़ा और सात राजू लंबा है। और दर्शनोंके समान जैनमें भी स्वर्ग नरक तथा इन्द्रादि देवताओंके जुदेजुदे लोक हैं।

यह दर्शन जीवात्माको सब शरीरव्यापी मानता है, बड़े छोटे शरीरोंमें दीपककी तरह जीवात्माके भी संकोच-विकाश होते रहते हैं परन्तु मुक्त जीव अन्तिम शरीरसे तीन हिस्से कम * होता है।

पृथिवी जल वायु तेज और वनस्पति शरीर वाले जीव स्थावर कहलाते हैं इनको स्पर्शका ही विशेष रूप से भान होता है। बाकी स्पर्शादि द्वि इन्द्रियोंसे लेकर पाँच इन्द्रिय वाले मनुष्य आदि त्रस कहलाते हैं। कारण? इनमें अपनी रक्षा करनेकी चेष्टा होती है।

संवर और निर्जरा के प्रभावसे आस्रवका बन्धन छूट कर आत्मप्रदेशसे कर्मों के संयोगको मिटा कर नाश कर दिया जाता है तब जीव अपने आप ऊर्ध्व विचरता हुआ मुक्तहोजाता है। फिर उसका जन्म मरण नहीं होता।

इस दर्शनके अनुयायियोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह आदि सार्वभौम महाव्रतोंकी उपासना प्रधान रूपसे होती है। सब धर्मों के मूल अहिंसा व्रतकी उपासना करनेके कारण इन्हें "अहिंसा परमो धर्मः" का पाबन्द कर दिया है।

इधर उधरके आचार्य्यों के ईर्षा द्वेषके अक्षरोंको अलग हटाकर दर्शनके मूल सिद्धान्त पर विचार किया जाय तो वे सिद्धान्त वेदसे परिवर्द्धित सनातन ही प्रतीत होते हैं। कारण भगवान् वेदव्यासके व्यासभाष्यसे मूल जैनदर्शन बिलकुल मिलता जुलता है। रही आपसके खण्डन मण्डन की बात, सो हर एक दार्शनिकको उसमें पूरी स्वतन्त्रता रही है। जब वेदान्त ब्रह्मसूत्रसे अपनी बराबरके योगके सिद्धान्तोंके लिये भी कह दिया है कि "एतेन योगः प्रत्युक्तः" इससे योग प्रत्युक्त कर दिया गया। तब हम वेदके विचारको छोड़ कर दार्शनिक खण्डन मण्डन पर ध्यान नहीं देते। उसमें तत्व ही ढूँढते हैं।

अहिंसाको मुख्य मानने वाला यह दर्शन महावीर स्वामीके निर्वाणके बाद अहिंसाके मुख्य सिद्धान्तोंका संग्राहक होनेके कारण अग्रोहाधिप महाराज अग्रसेनजी की सन्तानोंने भी इस धर्ममें अपनेको दीक्षित कियाथा।

प्रायः जब जिस दर्शनका अनुयायी अधिक जन-समुदाय हो जायगा तब ही उसके जुदे जुदे मण्डल खड़े होने लग जायँगे। एक दुर्भिक्षके बाद जैनोंमें भी श्वेताम्बर और दिगम्बर नामकी दो संप्रदायें बन गयीं।

महाराज अग्रसेनकी जैन सन्तानों ने दिगम्बर पथ का अनुसरण किया, जो अब भी जैनसमुदायमें सरावगी कह कर प्रकाशे जाते हैं जो प्रायः वैदिक संस्कार तथा अहिंसाव्रत दोनों ही का पालन करते हैं। जिनमें और अग्रवालोंकी सी पूरी रस्मोरिवाज मौजूद हैं। सरावगी लोग वैदिक विधिसे ही उपवीत धारण करते हैं*।

दिगम्बरसंप्रदायमें से पहिले एक मूर्तिपूजाको न मानने वाला हजार आदमियोंके करीबका समुदाय निकला था पर उसकी अधिक वृद्धि न हुई।

काल पाकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी संवेगी और बाईस टोला इन दो भागोंमें बट गया।

संवेगी लोग अधिक सूत्र ग्रंथ माना करते हैं पर इनमेंसे बाईस टोलाने थोड़े से सूत्रग्रंथोंका ही प्रमाण माना है।

आजसे करीब दो सौ वर्षों के पहिले बाईस टोला से निकल कर श्रीभीखमदासजी मुनिने तेरह पंथ नाम का एक पन्थ चलाया।

इसमें सूत्रोंकी मान्यता तो बाईस टोलाके बराबर है परन्तु स्वामी दयानन्दके सत्यार्थप्रकाशकी तरह

*मालूम नहीं लेखक महाशयने यह बात कौनसे ग्रन्थके आधार पर लिखी है। द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें तो 'किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा' जैसे वाक्यों द्वारा मुक्त जीवका आकार अन्तिम शरीरसे किंचित्ऊन बतलाया है। —सम्पादक

* सब सरावगी अग्रवाल जैनी ऐसा करते हैं, यह नहीं पाया जाता। सम्पादक

इन्होंने भी भ्रमविध्वंसन और अनुकम्पाकी ढाल बना रखी है। इस मतने दया और दानका बड़ा अपवाद किया है।

जैन साधुमें २७ गुण × रहने चाहियें। उसका आहार भी ४७ दोषोंसे रहित होना चाहिये। मठधारी यतियोंको छोड़ करके बाकी सर्व जैनसाधुओंमें कष्ट सहनेकी अधिक शक्ति पाई जाती है।

तेरह पन्थ तथा बाईस टोलाके साधुगण मुँह पर पट्टी बाँधते हैं, संवेगी साधु हाथ ही में उसे रखते हैं। बाकी साधुओंमें इसका व्यवहार नहीं है, शास्त्रमें इन का नाम श्रमण है। अन्य सम्प्रदायोंमें साधारण लोग इन साधुओंको ढूँढिया कह कर व्यवहार करते हैं, यती लोगोंको छोड़ करके। पहिले तो, अधिकांश इसका प्रचार यतियोंने ही किया था।

संप्रदायोंकी कशमकशीके साथ कुछ लोग यह भी समझने लग गये हैं कि हमारा सनातन धर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

कुछ एक संप्रदायोंने तो अपना रूप भी ऐसा ही बना लिया है कि मानों इनका सनातनके साथ कभी कोई वासता ही नहीं रहा था, यह भोले लोगोंकी ना समझी ही है।

जैनधर्मके परिरक्षकोंने जैसा पदार्थके सूक्ष्म तत्त्व का विचार किया है उसे देख कर आजकलके फिला-सफर बड़े विस्मयमें पड़ जाते हैं, वे कहते हैं कि महावीर स्वामी आज कलकी साइंसके सबसे पहिले जन्मदाता थे। जैनधर्मकी समीक्षा करती बार कई एक सुयोग्य प्रोफेसरोंने ऐसा ही कहा है। महावीरस्वा-मीने गोसाल जैसे विपरीत वृत्तियोंको भी उपदेश देकर हिंसाका काफी निवारण किया।

भगवान् बुद्धदेव और महावीरस्वामीके उपदेश उस समयकी प्रचलित भाषाओंमें ही हुआ करते थे जिससे सब लोग सरलताके साथ समझ लिया करते थे।

उस समयकी भाषाओंके व्याकरण हेमेन्द्र तथा प्राकृतप्रकाशके देखनेसे पता चलता है कि वह भाषा अपभ्रंशकी सूरतमें पहुँची हुई संस्कृत भाषा ही थी।

उसीको धर्मभाषा बना लेनेके कारण श्रीबुद्ध भग-वान् और स्वामी महावीरके सिद्धान्त प्रचलित तो खूब हुए पर भाषाके सुधारकी ओर ध्यान न पहुँचनेके कारण संस्कृति की स्थिति और अधिक बिगड़ गयी। जिससे वेदोंकी भाषाका समझना नितान्त कठिन हो कर वैदिकोंकी चिन्ताका कारण बन गया।

×गुणोंकी यह संख्या श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार है। दि० स० के अनुसार साधुके २८ मूल गुण हैं। इसी तरह आहारके दोष की संख्या भी इसमें ४६ मानी गई है। —सम्पादक

सच्ची खोज*

[ले०—श्री० पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ]

ढूँढता है किसको नादान!
भजन गान माला जप छोड़े
अखिल विश्व से आनन मोड़े
किसे पूजता है रे मूरख! बन्द किये दृग-कान।। ढूँढता।।
मूढ़ व्यर्थ पा रहा त्रास है।
आँख खोल ईश्वर न पास है।।
वह है वहाँ जहाँ कष्टोंमें डूबा दीन किसान।। ढूँढता।।
लोह हथोड़े जिस के गहने
धूल धूसरित कपड़े पहने
उनके साथ धूप-वर्षा में रहता है भगवान ।। ढूँढता।।
पवित्रता का ढोंग छोड़ दे।
मिथ्या-मदका शिखर तोड़ दे।।
धूल भरी धरणी पै आजा, दूर हटा अभिमान।। ढूँढता।।
ढोंगी! ढोंग दूर कर जप का
शीघ्र हटा मद मिथ्या तप का
चिथड़े पहिन और चिथड़े वालों का कर तू ध्यान।। ढूँढता।।
यदि तेरे कपड़े फट जाएँ।
या उन में धब्बे लग जाएँ।।
हानि नहीं, मिलकर रह उनमें, वहीं बसे भगवान।। ढूँढता।।

* गीतांजलि के आधार पर।

विद्युच्चर

ले०—श्री जैनेन्द्रकुमार

(४)

महीनों बीत गये। एक दिन उसी राजगृही नगरीमें, विद्युच्चरको बड़ी धूमधाम दीख पड़ी। तोरण, बंदनवार, फूलमालाएँ और तरह-तरहके शृंगार पहिन कर मानों यह सुरनगरी अपना सौंदर्य सजाने बैठी है। सभी अंग—ग्रह, द्वार, हाट, बाट—आभूषित, अलंकृत होकर मानों खिलकर दिखानेमें एक दूसरेसे स्पर्धा कर रहे है। अद्भुत चहल-पहल है। आल्हाद का उफान सा आगया है; मानों नगरीका आज सुहाग सम्पन्न हुआ है, और वह उसीका जय-समारोह मना रही है। मानों किसीकी प्रतीक्षामें, उसका स्वागत और सत्कार करनेको, उसे अपने हृदयासन पर अधिष्ठित करनेको, प्रफुल्ल, आनन्द-मग्न, उसकी राहमें अपने पाँवड़े बिछा कर बाट देख रही है। अलौकिक पुरुष कौन है?—

वह कौन है?—यही जाननेको उत्सुक होकर विद्युच्चर एक सम्पन्न सद्गृहस्थ बनकर, समारोहमें पागल-होते-हुए पुरवासियोंके बीच आया है। वह इससे पूछता है—वह प्रश्न पर विस्मय करके हँस देता है। उससे पूछता है—वह जवाब नहीं देता, चला जाता है, मानों प्रश्नकर्त्ताकी अक्षम्य अजानकारी पर विस्मित ही नहीं क्षुब्ध भी है। फिर वह तीसरे से पूछता है—उससे भी उसे उत्तर नहीं मिलता, उपेक्षा मिलती है। सबसे पूछता है—सब उस पर हँस देते हैं। अब वह, अपने हृदय की सारी भूखसे जान लेना चाहता है—वह अपरिमित भाग्यशाली कौन है?

देखो, विद्युच्चर, वे सब लोग उत्कण्ठित होकर किधर को देखने लगे और भागने लगे! उसने ध्यान दिया—दूरसे वाद्यका रव और भीड़का रव जैसे उसीकी ओर चला आरहा है। लोग सब उसी रवकी ओर भागे जा रहे हैं। वह वहीं प्रतीक्षामें ठैर गया।

जुलूस आया। पहले ऊँटों पर जय-ध्वज फैराते हुए चारण आये। फिर तुरही वाले। उसके बाद पदातिसेना। फिर अश्वारोही। अनंतर हाथियों पर राज्यके आमात्यवर्गकी सवारी आई। उनके बीचमें ही,

विद्युच्चरने देखा—

एक असाधारण डीलके गजराज पर, जिस पर सोनेके तारोंसे बुनी झूल झलर ही है, और ठोस सोनेकी अम्बारी कसी है, और जिस हाथीका गंडभाग, निरंतर, रास्ते भर फूलोंकी वर्षा होनेके कारण, फूलोंसे लद गया है, दो दीप्तिमान पुरुष बैठे हैं। एक तो राजा श्रेणिक ही हैं, उनके सिर पर राजमुकुट जो है। दूसरे...?—

तभी कर्णभेदी और गगनभेदी जयघोष गूंज गया—

'स्वामी जम्बुकुमार की जय'!

तो समझे, विद्युच्चर, ये दूसरे अलौकिकसे दीखने वाले व्यक्ति, जिनकी आंखोंकी दीप्ति कंठमें पड़ी माणिक्य-मालाकी दीप्तिसे कहीं सतेज और असह्य है, चेहरे से जिनके ओज मानों चुआ पड़ता है, वही वज्रसंहननी जम्बुकुमार हैं। उन्हींके वरद दर्शनकी प्रतीक्षामें अलंकृता राजगृही आँख बिछाये बाट जोहती थी।

(५)

स्वामीके दर्शन के बाद विद्युच्चरके मनमें एक बेचैनी उठी। वह उस बेचैनीको समझ न सका। अकस्मात ही प्रकाशका दर्शन, आँखोंको चौंधियाता हुआ जब भीतर तक पहुँचता है तो जैसे उस प्रकाशके प्रति एक मोह और एक विद्वेष सा पैदा हो आता है, उसी तरह स्वामीके प्रति ममता और श्लाघाका भाव भी विद्युच्चरमें उदित हुआ, साथ ही एक प्रकारके रोषकी भावनाका भी उद्रेक हो आया। इस अद्भुत भावका विश्लेषण व्यक्ति कैसे कर सके? विद्युच्चरके जी में आता है,

इन्हें किसी तरह सता सकूं। और फिर कुछ ऐसी बात घटित हो जाय कि मुझे उनके सामने हाथ जोड़ कर खड़ा होना पड़ जाय। मैं उन पर आपत्तियां लाऊं, वह उन आपत्तियों को तोड़ फोड़ कर फेंक दें, और मुझे शरणमें ले लें। कुछ ऐसे ही अनर्थ और द्विविध भावको लेकर वह बेचैन हो उठा। इस अपनी द्विमुखी भावनाकी कैसे तुष्टि प्राप्त करे—कुछ समझ नहीं पड़ता। उस भावनाके किसी एक विभाव (Aspect) को अपने तर्क और आवेशसे पुष्ट करके और बढ़ाकर एक निश्चित मत पर आने का वह प्रयत्न करने लगा। यत्न करके वह ऐसी-ऐसी बातें सोचने लगा जिससे उस भावका हिंसात्मक विभाव, उत्कृष्ट नहीं निकृष्ट विभाव, अधिकाधिक पुष्ट हो। सोचा—वे तो ऐश्वर्य-शाली हैं, अवश्य उनके यहाँ अपरिमेय द्रव्य होगा, शरीर उनका कितना दृढ़ और बलवान् दीख पड़ता था; उनका परिधेय ही कितना अमूल्य था, फिर हार और मुकुट आदि अलग; फिर उनका सब आतंक खाते, और आदर करते दीख पड़ते हैं;—तारीफ़ तो मेरी तब है जब मैं ऐसे व्यक्तिका कुछ बिगाड़ सकूं। तब पता चलेगा मेरे मनमें कितना बल है, बाहुओंमें कितनी क्षमता है, और मस्तिष्क में कितना चातुर्य है। तै किया—उनसे पहिले परिचय पाऊँगा, फिर उन्हीं के यहाँ चोरी करूँगा।

(६)

श्री० जम्बुकुमारका कुछ परिचय पालें।

धर्मरत श्रेष्ठिवर अर्हद्दासके वे पुत्र हैं। शैशव से ही अलौकिक मेधा और प्रतिभाका परिचय देते आ रहे हैं। बालावस्थामें ही कुछ ऐसे अद्भुत कृत्य उन्होंने सम्पन्न किये कि लोग चकित रह गये। उनकी ख्याति दूर दूर फैल गई। राज सभामें उन्हें सम्मान मिलने लगा। होते-होते कैशोर वय उन्होंने पाया, और तभी, उनकी योग्यता और शौर्यसे विस्मित और आनंदित होकर, उन्हें बड़ी जोखम और दायित्वके काम सौंपे जाने लगे। उनकी मंत्रणा मौक़े-बेमौक़े ली जाती। भारी संकटके समय उन्हें भी अवश्य याद किया जाता। साम्राज्यकी सीमामें जहाँ-तहाँ उत्पात होता तो उसके दमन और शमनके लिये कुछ सेनाका अध्यक्ष बना कर उन्हें भेजा जाता। इस सैनिक-कार्यमें भी आशासे अधिक वे यशस्वी हुए। अब भारी-भारी युद्धों में भी जोखमकी जिम्मेदारी उन्हें सौंपी जाने लगी। ऐसे युद्धोंमें भी, उन्होंने अपने पूर्व-यश के अनुसार ही कीर्त्ति उपार्जित की। यथा, होते-होते प्रतिष्ठा, सौंदर्य, क्षमता, सर्वप्रियता और गंभीरता में उनके समकक्ष गिना जाने वाला दूसरा न था। कामदेव के समान रूप वाले, और बृहस्पतिके समान मेधा-सम्पन्न, कुबेरके समान अक्षय-धन-सम्पन्न, जलधिकी तरह गम्भीर, गुरु के समान विज्ञ, और सूर्यकी तरह कांतिवान् जम्बुकुमार—सबकी ईर्षा औरसबकी श्रद्धाके पात्र थे। ········ के युद्धमें विजयी होने पर पुरवासियोंने जिस उल्लासमें उनका सम्राट्योग्य स्वागत किया, हम देख ही चुके हैं।

किन्तु युद्धोंमें, कीर्तिमें, यश-वैभवमें, और इसी तरह की शेष और परिग्रहमें, इनका मन जैसे अलग रहता था। मानों उकताया रहता था। इन सबके बीच रहते थे, पर जलमें रहते कमल-पत्रकी तरह, उनसे अलग, स्वतन्त्र रहते थे। आप और हमारी तरह अपनी वासनाओं, ममताओं, और स्मृतियोंको इस चीज या उस चीज में फँसा कर इस भ्रांति-लोक में, कनखजूरे की तरह अपने सारे हाथ-पाँव गड़ा कर भूले नहीं रहते थे; वह मानों सदा किसी दूसरे ही लोक में रहते थे, इस हमारे जगत से जो जाहिरा सम्बंध रखते दीख पड़ते थे तो वह मानों केवल हमारा कुछ हित-साधन करनेके कारण।

किन्तु दुनिया अपने से निर्लिप्त किसी व्यक्तिको देख कर चुप नहीं रह सकती। पहले तो अपनी श्रद्धा और भक्तिके धागों से ही उसे बांधनेका यत्न करती है। और फिर धन, दारा, पुत्र-पुत्रियों और कुटुम्बियों आदिके और तरह के बन्धन हैं।

इन स्पृहणीय, यद्यपि विरागी कुमारको अपनी-अपनी कन्याओंके लिये प्राप्त करनेको बहुतसे पिता लालायित हो गये। और कुमारके पिता श्रेष्ठि अर्हद्दास और माता श्रीजिनमती को पद्मश्री, कनकश्री,

विनयश्री और रूपश्री इन चार कन्याओं के पिताओं को वाग्दान देना ही पड़ा। ये कन्याएँ अत्यन्त रूपवती, कुलवती और समृद्धिवती थीं। सगाई हो गई।

किंतु होनहार अपनी सिद्धि के लिये क्या क्या योजनाएँ फैला रखती है, इसका किसको पता रह सकता है। कुमारको मानों विधि के विधानवश एक मुनिराज के दर्शन हो गये। दर्शन से, अब तक की संचित उकताहट, वह अनिश्चित वितृष्णा जो अब-तक इनके मनको कुरेदती रहती थी, अब एक दम सुस्पष्ट और सुनिश्चित चाह बन कर सामने आ गई। कुमारने मुनिराजसे दीक्षा लेने की प्रार्थना की।

मुनिराज ने, साथ आये पिता की आकृतिके भाव को ताड़ा, और कुमारको तनिक धैर्य रखनेका आदेश किया।

ऐसी बात में कुमार आसानी से धीरज नहीं रख सकते—

"स्वामिन्, एक क्षण भी, मेरा मन इन व्यर्थताओं में बँधा रहना नहीं चाहता। मैंने बहुत कुछ सोचा है, और बहुत कुछ किया है। अब देखता हूँ, वह कुछ नहींके बराबर है। जब तक आपा नहीं जाना, तब तक सब करना और सब सोचना निष्फल है।"

किंतु मुनिराज अपने पथके कांटे जानते हैं, और कुमारको यदि उस पथ पर चलने की चाह हुई है, तो वह इसकी काफ़ी परीक्षा कर लेना चाहते हैं कि वह साधारण लोभ ही तो नहीं है, जो पहिले कांटे पर ही हार मान जाय। बोले—

"कुमार, अधीरता शुभ लक्षण नहीं है। अभी मेरा आदेश मानो। कुटुम्बियों की, अपने उद्देश्यसे सहमति प्राप्त करो। उनकी असम्मति और असंतोषका बोझ उठाना व्यर्थ ही ज़रूरी न बना लो।"

कुमार, किंतु, विरोधमें कुछ कहना चाहते हैं कि मुनिने बोध दिया,

"कुमार, समझ लो, अपने कुटुम्बियोंको समझाने का एक अवसर अवश्य देना चाहिये। मेरा यही आदेश है। इसमें ननु नच न करो।"

कुमारको चले जाना पड़ा। पिता की रक्षा हुई। वह मन ही मन मुनिराजके ऋणी हुए। किंतु कुमारके संबंधमें उनकी शंका ढीली न हुई।

(७)

एक हीरे-मोतीके व्यापारी कुमारसे मिलने आये हैं। उनको अभिवादनपूर्वक महलोंमें ले जाया गया। कई कमरे और सहन पार करने पर एक कमरा आया। राजोचित साज-सज्जा से वह सजा है। कुमार वहीं एक आसन पर विराजमान् हैं। कुमारने उठकर स्वागत किया और अपने से ऊँचा आसन प्रदान कर कुशल-वृत्त पूछा। आगत सज्जनने निवेदन किया—

"मैं सेवामें कुछ मणि-माणिक लाया हूँ। सुना, आप यहाँ सज्जनोंको अपनाने वाले और रत्नोंके पारखी हैं। इससे दर्शनोंकी चाह हुई और आ उपस्थित हुआ।

कुमार—बहुत शुभ। किंतु, मैं तो रत्नोंका क्रय भी नहीं करता, विक्रय भी नहीं करता। मैं दूंगा तो यों ही दूंगा, और लूँगा तो तभी जब उन्हें शिष्टता की रक्षाके लिये लेना ही पड़ जायगा। इस संबंधमें आप पिताजी से मिलें तो उत्तम हो, संभव है वह आपके कुछ रत्न ख़रीदना चाहें।

व्यापारी—किंतु आपको रत्नोंसे घृणा तो नहीं मालूम होती। आपके शरीर पर अब भी लक्षाधिक मूल्यवान् माणिक हैं।

कु०—ठीक है। द्वेष नहीं है, इसी से राग है यह समझना भूल होगा। मुझे उनसे ममता भी ठीक वैसे ही नहीं है, जैसे घृणा नहीं है।

व्या०—किंतु यह आपका भाव सर्वथा ही उपादेय नहीं। कुछ पदार्थ घृणय होते हैं, कुछ आदरणीय ही। अच्छे और बुरे, दोनों पदार्थों में, एकसा भाव रखना, कुछ बुद्धिमत्ता नहीं हो सकती। उपादेय वस्तुमें ममत्व भाव रखना ही श्रेयस्कर हो सकता है, कुत्सितमें केवल निर्ममत्व भाव ही नहीं प्रत्युत अवहेलाका भाव रखना आवश्यकीय है। रत्नादिक वस्तुएँ, अपने गुणों के कारण, हमारे ममत्व की अधिकारिणी होनी चाहियें।

कुमार—यह आपका विचार बहुत अंशों में ठीक है। किंतु वस्तु की ममता, वस्तुके गुणों की प्रशंसासे, बहुतायतमें, भिन्न वस्तु होती है। यह ठीक है कि वस्तु गुणात्मक है और गुण वस्तुसे अलग टिक कर स्वत्व भाव नहीं रख सकते; पर वस्तुके साथ निरपेक्ष भावसे ममता नहीं रक्खी जा सकती, जब कि गुणोंमें 'स्व' की अपेक्षा संभव नहीं होती। रत्नों में ममता रखने में यह बात आ ही जाती है कि, हम उन्हें अपने देह पर सजायें, अपने पास रक्खें, अधिकाधिक परिमाणमें इकट्ठा करें, और फिर रत्नोंके उस कोष में अपने जी और जानको फँसा कर रक्खें। उसकी बनावट, दीप्ति आदि गुणोंके प्रशंसक होने में यह खतरा नहीं है। इस लिये मैं उनका प्रशंसक हूँ, पारखी हूँ,—पर उन का दास नहीं हूँ।

व्यापारी—यह है!—तो आप इन्हें क्यों पहने हुए हैं?

कुमार चुप हुए। तनिक ठहर कर बोले—

"हाँ, यह बात सोचने की है, मैं क्यों इन्हें पहिने हूँ?—मैं क्यों इन्हें पहिने हूँ?—आपका यह प्रश्न ठीक है, और आप जब आये थे, तब भी मैं इसे सोच रहा था।"

व्यापारी—लेकिन, यह तो प्रकट है, आपको लोगों की इच्छा रखने के कारण पहनना पड़ता है।

कुमार—यह तो कारण नहीं, बहाना हुआ।

व्या०—तो क्या निर्ममत्व होकर भी उनका उपयोग किया जा सके, यह संभव नहीं है?

कुमार—क्यों संभव है?

व्या०—पर आप कहते थे, आप इनके संबंध में निर्मोही हैं।

कुमार—उस निर्मोहमें जरूर कहीं कमी रह गई है—नहीं तो यह व्यर्थ—चमकीला—भार शरीर पर कैसे ठैर सके?

व्या०—तो आप क्या करेंगे?

कु०—क्या करूँगा?—हमेशा भारवहन ही करता रहूँगा?—सदा परिग्रहका बोझा ही ढोता रहूँगा?—सोचता हूँ, बोझा उतार कर अलग कर दूँगा।

व्या०—अलग कर देंगे?

कु०—यह नहीं जानता कब—पर करना जरूर यही होगा।

व्या०—क्यों?—क्या सच आपके ऐसे बलिष्ट शरीर को यह छटांकसे भी कम, पर करोड़ोंसे भी मूल्यवान्, ये रत्न भारी लगते हैं?

कु०—हाँ, भारी लगते हैं। इतने भारी लगते हैं कि इनके बोझसे, शरीर तो अलग, आत्मा भी दबा मालूम होता है।

व्या०—उतार कर क्या करोगे?

कु०—क्या करूँ?—बताइये?···ओ-हो, आप तो इन्हीं का व्यापार करते हैं···आप सहायता करेंगे?

व्यापारीने, न जाने क्यों, कह दिया—'हाँ-हाँ'

कुमारने गले का कंठा निकाला, बाजूबंद उतारा, और भी सब आभूषण खोल डाले, और व्यापारी को देने लगे।

यह सब व्यापार इसी क्षण हो जायगा, व्यापारी को ऐसी आशा न होगी। अब वह अचकचाया—

'नहीं-नहीं, मैं न ले सकूंगा। मैं भिक्षार्थी नहीं हूँ।'

कु०—देखिये सहायतासे विमुख न होइये।

व्या०—मुझे दूसरोंकी दया लेनेकी आदत नहीं है।

कु०—दया ले नहीं, पर दया कर तो सकते हैं?—यह तो आपकी मुझ पर दया है; सच मानिये, आपकी दयामें मेरा भार हित होगा।

व्या०—आप अपने से ऐसे विमुख क्यों होते हैं?

कु०—अपने विमुख नहीं सन्मुख होता हूँ—अब तक अपने से मुँह फेर कर इन चीजों की ओर मुँह किये हुए था।

व्या०—आप स्वार्थका क्यों घात करते हैं?

कु०—मैं स्वार्थको मार नहीं रहा, पा रहा हूँ।··· किंतु, आप अपने स्वार्थको क्यों फेरते हैं?

व्या०—मैं क्यों फेरता हूँ?···हाँ, फेरता हूँ।···मुझे नहीं चाहिये, ये आपके रत्न।···मेरे लेने का तरीका यह नहीं है।···पर मैं आपसे पूछता हूँ, आप इनको तो फैंक डालेंगे, पर आपके महल के कोने कोने में जो वैभव भरा पड़ा है, उस सबका

क्या करेंगे ?—यह महल का महल क्या उठाकर फैंक देंगे ?—क्या करेंगे ?

कु०—नहीं फेंक सकूंगा—यही तो आप कहते हो?—मैं भी यह देख रहा हूँ। फिर, क्या करूँ, यह सवाल है।

व्या०—तो इन रत्नों को दे डालने से आप थोड़ी सी मनकी शाबाशी जीत लेंगे, और तो कुछ न होगा।

कु०—(अस्त व्यस्त भाव से) आपने ठीक जताया। इनको ही फेंकने से तो काम नहीं चलेगा। जैसा आपने कहा, थोड़ा मनकी शाबाशी जीतने का बहाना हो जायगा। आगे कुछ नहीं।······

व्या०—और सब कुछ भी फेंक सकें तब तो...

कु०—(उसी भाव से) ठीक, और कुछ भी फेंक सकूं, जभी तो···

व्या०—···उनको नहीं अलहदा कर सकते, खुद अलग हो जाइये।

कु०—···उनको नहीं अलहदा कर सकता, खुद अलग हो जाऊँ। ···ठीक। ···ठीक तो है। ···जरूर यही ठीक है। ···आपका, महाशय बड़ा उपकार मानता हूँ। ···यही ठीक है।

व्या०—···तो आप यह करेंगे ?

कु०—···नहीं तो क्या करूँगा ?···यही करूंगा।··· इन्हें अलग नहीं फेंक सकता। तो खुद तो अलग भाग सकता हूँ। इनमें बंधा हुआ, पिसता हुआ, कब तक रहूँ ?—क्यों न हलका और उन्मुक्त, बंधन हीन होकर, अपना ही आप होकर रहूँ, अपने ही आपमें रहूँ, बस आपमय होजाऊँ ?—यही करूँगा।

× × ×

विद्युच्चर ने फिर बिदा ली। उसकी आत्माको एक अद्भुत तुष्टि थी। पर इस तुष्टिके साथ ही उसकी विवेचनामें एक तुमुल प्रलयकारी बीज उग उठा। मानों किसी वस्तुने आकर उसकी जीवन-धारणाकी नींव पर ही व्याघात करनेका यत्न आरंभ किया है। जैसे कुछ चीज आकर उसका आधार ही छीन लेने का उपक्रम बाँध रही है। स्वामी जम्बुकुमार के साक्षात्कार की घटना (phenomenon) एक दम इतने अद्भुत, अचिंतनीय और उल्टे रूपमें घट गई कि, नहीं जानता, वह उसका क्या बनाये। जिस स्वार्थको, अपनी विवेचना से, जीवन-क्रम भित्ति बना कर वह आगे बढ़ा था, उसी स्वार्थ पर उसने स्वामी को लात मारते देखा। ऐसी अभूतपूर्व बातको देख कर एक अभूतपूर्व विप्लव सा उसके भीतर मचने लगा। इस विप्लवका यदि कुछ उंगली रख-सकने-योग्य परिणाम हुआ तो यह कि स्वामी के यहाँ चोरी करनेके उसके इरादे में और दृढ़ता आ गई।

(८)

स्वामीकी विमनस्कता दिन-दिन गहरी होने लगी। मन उचाट रहता, जैसे सबसे भर कर उकता गया हो। भोगोंकी ओर से विरक्ति होती, संभोग्य पदार्थों से वितृष्णा छूटती। उन्हें लगता, जैसे चारों ओर फैला यह जगञ्जाल है, जो उन्हें लुभा कर, बहला कर, भरमा कर अपने में ही फँसा रखना चाहता है—मेरी यथार्थता, कृतार्थता, मेरी पूर्णता और आत्मसिद्धिको लोक में नहीं पहुँचने देता। उनका मन, मानों, सदा उसी लोक में रहता है। कुटुम्बीजन उस मनको यहाँ लगाने के जितने ही आयोजन करते हैं उतना ही वह और असंतोषके साथ खिज उठता है। अब और अधिक घर रहना उनके लिये असंभव-प्राय हो गया है। मुनि-दीक्षा ले जानेको वह अत्यंत आतुर हो गये हैं।

एक दिन अपनी हृदयाकांक्षा पिता के सम्मुख उन्होंने कह डाली।

पिता कुमारके रुखसे बिलकुल ही अपरिचित नहीं थे। इस दुनिया में रहते भी कुमार के विचार सतत जिस लोकमें विचरते रहते थे, उसका आभास पिताको था। किंतु पिता, बलात्, उस संबंधमें अपनी चिन्ताको टलाते आये हैं। अब कुमार ने, अपने ही मुँह से जो स्पष्ट शब्दों में बात कह दी, तो जिसको टलाते आये थे और जिससे डरते आये थे, वही घड़ी आ गई। पिता मानों तर्ककी शक्ति खो बैठे—

"यह क्या कहते हो, बेटा!"

"पिताजी," कुमारने कहा "रुष्ट न हों। मुझे क्या

कम दुःख है कि आपकी सेवाका अवसर मैं खो रहा हूँ ? किंतु शाश्वत, सर्वोपरि और यथार्थ सेवा का जो मार्ग दीखा है, उस पर चलने की प्रेरणा अनिवार्य है। कोई जैसे भीतर से मुझे उसी ओर ठेल रहा है। वही मार्ग प्रकृत मार्ग है, इसमें मुझे संशय नहीं, क्योंकि उसी पर चलनेके लिये, अज्ञानके निर्देशकी तरह, एक प्रकृत प्रेरणा मुझे उकसा रही है। आप भी, अन्ततः उसी सचाई पर आयेंगे, और तब आप मुझे धन्यवाद देंगे। इन क्षुद्रताओं और व्यर्थताओं से मुझे छुट्टी लेने दीजिये, जिससे मैं निर्ग्रंथ, निराविल, और निस्संग, सत्य से एकाकार होकर रह सकूं—'सो ऽहम्'। जिस से मेरा 'यह' और मेरा 'वह', यहाँ तक कि मेरा शरीर भी, मुझ में और सत्यमें विचित्रता न पैदा कर सके। जिससे मैं ही मेरा ध्येय बन जाऊँ; शुद्ध सत्ता के रूप में ही, सत्-चित्-आनंद होकर रहूँ।"

"बेटा, क्या कहते हो ? —मुझे डर लगता है। जंगल में रह कर, तिल-तिल करके शरीर तो खोया जायगा; पर प्राप्त क्या होगा, समझ में नहीं आता। तुम्हारी आत्मसिद्धि वहाँ कहाँ रक्खी है, मुझे नहीं मालूम ; पर वहाँ पग-पग पर कष्ट और संकट हैं, यह मुझ जैसा आदमी भी जानता है। कुमार, तुम्हें किन सुभीतोंके बीच में मैंने पाला है ? अभाव का तनिक नाम तुमने नहीं जाना। घर छोड़ कर चले जाने से फिर अभावही अभावमें तुम्हें रहना पड़ेगा। वहाँ कौन होगा जो तुम्हारी संभाल रक्खे ? पिताको और माता को, जिन्होंने लाड़से और चावसे तुम्हें पाल-पोस कर बड़ा किया है, जो तुम्हें देख कर ही जीते रहे हैं और तुम्हें न देख कर कैसे जीते रह सकेंगे—कांटोंमें चले जाने के लिये, उन्हींको छोड़ कर तुम किस मुँह से जाना चाहते हो ? बेटा, तुम क्या बुड्ढे बापकी इतनी-सी बात नहीं मानोगे ?"

"पिताजी, आप व्यर्थ क्यों चिन्ता करते हैं ? यदि आप तनिक स्वस्थ होकर सोचेंगे तो मुझे सहर्ष आज्ञा देंगे। मैं क्या कुछ आपकी विशेष सहायता कर पाता हूँ ? शारीरिक सेवा मुझसे आपकी कितनी बनती है ? क्या मैं, दिन-दिन आते वार्धक्यको रोक सका हूं ? जब रोग आता है, तो क्या मैं उसे आपसे हटा कर अपने ऊपर ले सकता हूं ? किसी भी असाताके उदयको बाँट सकता हूं ? मतलब कि आप मेरी केवल उपस्थिति से ढाढस पाते हैं, और आपका कोई प्रयोजन उससे सिद्ध नहीं होता। मैं आपके ही आपके सामने उपस्थित रहूं, सन्निकटसे सन्निकट रहूं—यही आपका भाव है। यह कैसे भी क्या सर्वथा संभव है ? क्या जब-तब आपको मुझसे और मुझको आपसे अलग होना नहीं पड़ता ? फिर इस भाव की रक्षा भविष्यमें केवल परमित काल तक हो सकती है। उस बातके संबंधमें कातर और आतुर होनेसे क्या परिणाम जो एक न एक दिन टूटनी तो है ही। फिर क्या पिताजी, यह सच नहीं है कि आप मुझे सुखी देखकर ही अधिक प्रसन्न होते हैं ? तो फिर मेरा सुख किसमें है, यह जान कर भी आप मेरे सुखकी राहमें आकर क्यों खड़े होते हैं ? पिताजी, आप देखते हैं, जीवनमें दुःख इतना परिपूर्ण और सुख इतना क्षीण है कि जीवनसे ममता होना विस्मय-जनक जान पड़ता है। और एक-दूसरे के संबंध में व्यक्ति इतना हीन और असमर्थ है कि परस्पर ममत्व पैदा करके, 'मैं-उसका' 'वह-मेरा' आदि धारणाओंकी सहायतासे अपने परिणामोंको संक्लेशित करना मूर्खता जान पड़ती है। इसी कारण किसी के लिये इस दंभका भी अवकाश नहीं कि वह अपनेको दूसरे का सहायक और उपकारी समझे। पिताजी, कर्मों से जकड़ा हुआ मैं इतना हीन हूँ, कि आपका ज़रा दुःख टाल सकूंगा, ऐसा संबोधन मेरी आत्माको नहीं हो पाता। अपने कर्मों के हाथमें व्यक्ति कितना अपदार्थ है ! जो करता है, जो सोचता है, उन्हीं का बंधन, उन्हींका परिणाम, व्यक्तिको जो करवावे, करना होगा। इन कर्मों पर स्वामित्व प्राप्त करना, उनकी अधीनतासे मुक्त हो जाना; जीवनके इसी ध्येय पर मैं चलने की आप से आज्ञा चाहता हूं। तब मैं अपदार्थ नहीं रहूंगा। शक्ति मेरी निस्सीम हो जायगी, बंधन निश्शेष हो जायेंगे, आनंद अव्याबाध हो जायगा। पिताजी, इसीमें जगतका और मेरा प्रकृत कल्याण है।"

× × ×

पिता इस हठ को मोड़ या तोड़ सकनेमें अकृत-कार्य ही रहे। अंतमें पितृत्व के अधिकारके नाम पर, कुछ दिनकी मोहलत अवश्य स्वामी जंबुकुमार को देनी पड़ी।

तब इसकी सूचना उन वाग्दत्ता चार कन्याओं के पिताओंके पास पहुँचाई गई। पिताओं को क्षोभ हुआ, पर उन्होंने खैर मानी। सोचा, ब्याहसे पहिले ही स्वामी की यह इच्छा प्रगट हो गई, चलो अच्छा ही हुआ। कन्याओंके भाग्य तो फूटनेसे बच गये। ब्याहके बाद कहीं ऐसा होता तो उनके सिर वैधव्य... !

इसकी सूचना कन्याओं को बुला कर दे दी गई। साथ ही यह आश्वासन भी दे डाला गया कि पिता उनके लिये, स्वामीसे भी सुंदर, सुयोग्य, सुपात्र वरकी खोज कर देंगे और इस लिये कन्याओं को खिन्न और चिंतत होने की आवश्यकता नहीं है।

किंतु यह उस कालकी बात है जहाँसे बीसवीं सदी २५ शताब्दी दूर थी। कन्याओंने पिताओं द्वारा दिये गये आश्वासन को अवहेला के साथ फेर दिया। उन्होंने सांत्वना नहीं चाही, पति के जीवित रहते भी कटने वाला वैधव्य उन्होंने सुहाग के रूप में अपना लेना स्वीकार किया।

पद्मश्री ने कहा — परिणय होगया। परिणय के साथ खेल हमसे अब नहीं होगा। स्वामी जायेंगे, तो उनकी स्मृतिको लेकर हम रहेंगी। पर वह वीतरागी होकर जाँय और हम उनकी स्मृति पर कलंक डालें ! —न-अ, कभी नहीं।

विनयश्रीने कहा—पिताजी, हमारी बिडम्बना न करें। ब्याह ही जीवन की कृतार्थता है क्या ? फिर उसके संबंधमें इतने उत्साहसके साथ चिंता करने क्यों बैठते हैं ?

कनकश्री बोली—परिणीता नहीं हूं—वाक् परिणय के बाद मैंने ऐसा समझा ही नहीं। विवाह का शेष अंश सम्पन्न होने से रह जाय तो यह मेरे भाग्य का दोष है।

रूपश्रीने बोलना चाहा, पर बोल नहीं पाई। पिता के वक्तव्य पर जब और अंगों पर फैल कर लाज भीतर जाने लगी, तो जा नहीं पाई, घूंट बन कर गले में अटक बैठी। तब कपोल सिन्दूरिया होकर फूल से गये, और बात निकलते-निकलते भी न निकली। पर उस लज्जा ने, उस बात को, और ही ढंग से व्यक्त कर देने का जो आयोजन कर दिया था, उसे पढ़ने में भूल संभव ही नहीं हो सकती। कोई पढ़ देखता, उस रूप-श्री के रूप पर और श्री पर, भाव में, भंगी में, और चेष्टा में, आँखों के झँप जानेमें और देह के कंटकित होजानेमें, असंदिग्ध रूपमें लिखा था कि—यह कन्या चुपचाप ही अपना सर्वस्व किसी के चरणोंमें छोड़कर और उसके नामका सुहाग ओढ़ कर, उस नाम के अक्षरोंका बैठी-बैठी जाप करती रही है, और अब पिताकी बात पर कह रही है—न, न, नहीं।

× × ×

तो उन चारों कन्याओं ने, इस आकस्मिक संवाद पर, मिल बैठने का संयोग निकाल लिया। और चारों जनियों ने बैठ कर निर्णय किया कि कुछ हो, विवाह तुरंत हो जाय। विवाह के अगले दिन ही स्वामी चाहें और सकें तो दीक्षा ले जाँय। उन्होंने सोचा—ब्याह होजाने दो, फिर देखें वह दीक्षाकी बात पर कैसे क़ायम रहते हैं ! कन्याओं के सर्व सम्मत इस निर्णय पर उन पिताओंको भी एक सम्मत हो जाना पड़ा; और वे इस संदेशको लेकर श्रेष्ठिवर अर्हद्दास की सेवा में पहुँचे।

श्रेष्ठि अर्हद्दास मुर्झाई मन स्थिति में खिन्न बैठे थे। इन लोगों के निवेदन पर जैसे उन्हें संतोष का अवसर दीखा। उन्होंने इन चारों पिताओंकी बात स-हर्ष सम्मत करली।

जम्बुकुमार तो मांगी हुई मोहलत के कालके लिये अपने को सर्वथा पिता की आज्ञाओंपर छोड़ चुके थे। उन्हें कहने को कुछ शेष न था।

परिणामानुक्रम से स्वामी जम्बुकुमार का विवाह पद्मश्री, विनयश्री, कनकश्री, और रूपश्री इन चार कन्याओंके साथ, एक साथ, सधूमधाम संपन्न होगया।

(९)

सुहाग रातकी रात। संभोग-सज्जाके सब सामानों से बिलसित; मणि-माणिक के दीपों की दीप्ति से परि-

दीप्त; स्वर्ग से चुरा कर लाये हुए इन्द्र के विलास-कक्ष सा मनोरम; नंदन-सा सुरभित; मूर्छाग्रस्त रमणी-सा सुकोमल, सुशांत और लोभनीय; जिसमें स्वप्न तैरते रहते हैं, और कामदेव अलकसाया पड़ा रहता है, वह अवर्णनीय कमरा। यहाँ का सब कुछ जैसे, बाहें फैला कर तुम्हें आलिंगन-पाश में बांध लेने को, लालसा से आकुल और मद-मूर्छामें विकल पड़ा है। उसी में पड़ी हैं चार रमणियाँ जो, जलमें मीनकी तरह, मानों इसी वातावरण में खिलने-खेलने को बनी हैं; जिनका परिधेय हठात्, यहाँ-वहाँ से खिसक पड़ा है। ये रमणियाँ उस धार के न इस ओर हैं न उस ओर जो कैशोर और तारुण्य इन दो तलोंके मिलनेसे बन जाती है, वे ठीक उसी धारके ऊपर खड़ी हैं। इसीसे ये उन कलियोंकी तरह ताज़ा हैं जो इसी क्षण फूल बनने पर आ गई हैं, जिनके प्रस्फुटन की सम्पूर्णता बस अभी-अब सम्पन्न हो रही है। मानों ये बालाएँ आज ही रात स्त्रीत्व-लाभ करनेकी ओर उन्मुख हैं। आज इनमें वह तारुण्य फूला है कि बस। मानों अपने प्रस्फुटनके सौंदर्य को छिपा कर नहीं रख सकतीं—वह उघड़ा जो आता है; छिपानेसे अन्याय जो होगा; इसीसे आवरण इधर-उधर खिसक खिसक पड़ता है। उसे सिमटाना तो होता ही है, पर वह फिर भी तनिक अस्त-व्यस्त हुए बिना नहीं रहता।···आज क्या होना है!

ये चारों, इस स्वर्ग-कक्ष में, अपने ही आपमें व्यस्त हैं। मानों किसी की प्रतीक्षा में हैं; और उसके आने पर वे किस पद्धतिसे वार आरंभ करेंगी, प्रत्येक इसको, अपने-अपने मन में स्पष्ट करने में लगी है।···वह प्रतीक्षित सौभाग्यशाली कौन है ?··· उसका क्या भाग्य होगा ?

मानों द्युतिमान् स्त्रीत्व, दल-बल और छल के भी साथ, लज्जाके सब पुष्प-शर और निर्लज्जता के सब विष-शर तय्यार रखके, इन्द्र के पौरुषको चुनौती देने के लिये, उसके अखाड़े में, स्पर्द्धा के साथ उसकी बाट जोह रहा है!— या तो पौरुष लुंठित होगा और गल जायगा, या स्त्रीत्व ही कुंठित होगा और नतमस्तक हो जायगा।—क्या होगा?—जो सदासे होता आया है, वही होगा,—या नहीं? क्या होगा—देखें ?

इन अप्सराओं से बोलो मत,—चिहुँक पड़ेंगी। उन्हें एकाग्रतासे च्युत किया तो तुम क्षम्य न होगे। उन्हें अपने में व्यस्त रहने दो।—और आओ, हमारे साथ दूसरी ओर मुड़ो।

(१०)

कुमार इधर शाम को टहल कर लौटे हैं कि बन्धु-बान्धवों ने घेर लिया है। कोई ठठोली करते हैं, कोई बधाई देते हैं, कोई तरह-तरह की चर्चा छेड़ते हैं। ऐसे भी हैं जो इस समय भी शास्त्र-चर्चा करना चाह रहे हैं। कुमार यथा शक्य सबमें योग देते हैं।—किंतु इस प्रत्यक्ष सुहँस वाचालता के भीतर जो एक विमल गंभीरता है, वह छिप नहीं पाती।

एक—(कुमार की ओर बात ढालते हुए) अब इन्हें ज्यादे नहीं रोकना चाहिये। इन्हें आज सोने की जल्दी लगी होगी।

दूसरा—ठीक तो है। हमारे रोकने से यह रुक भी तो नहीं सकते···

कुमार—रोकने की फ़िक्र में न पड़ें। मुझे खुद सबका ख़याल है।

तीसरा—मैं आपको चौगुनी बधाई देना चाहता हूँ।

कुमार—आप चाहे जितने गुना धन्यवाद वापिस ले लीजिये।

एकने इन बातों पर स्वरमें ज़रा झल्लाहट लाकर कहा—किंतु इन बातोंमें लगना अधर्म है। आत्मा का स्वभाव···

कुमार—···निश्चित है। बातों में बहक नहीं सकता।

वह व्यक्ति—सराग चर्चा पापमूलक है।

कुमार—सराग चर्चा पापमूलक है; किन्तु वीतरागता चर्चामें नहीं होती। वीतरागता भीतर उत्पन्न होती है, और हो जाती है तो कृत्यमें परिणत हुए बिना नहीं रहती।

× × ×

आदि-आदि व्यस्तताओं में उनका समय जा रहा है, और उधर सद्य-परिणीता बधुएँ उनकी प्रतीक्षा में होंगी—इस सबका ख़याल कुमार को है। पर उनकी

प्रवृत्ति उन्हें शयनागार में जाने की जल्दी कराने में सफल नहीं होती।

× × ×

अंत में पहुँचे।

कुमारके आने की आहट उन्हें मिली, पर जैसे नहीं मिली। वे निश्चेष्ट वैसी ही रहीं।

उनका कमरे में प्रवेश करना था कि पद्मश्री हड़-बड़ा कर उठ बैठी। विनय जैसे असंमजस में पड़ गई और कनक, लेटे-लेटे तनिक उठ कर मुँह नीचे करके बैठ रही। रूपश्री उठी, भागी और सबसे दूर के कोने में, परली तरफ मुँह फेर कर, नखोंसे क़ालीन की ऊन को कुरेदती हुई खड़ी होगई।

कुमार क्या करें ?

कमरे में, जैसे आजकल की कोचें होती हैं लग-भग उसी प्रकार की सेजें, और पर्यंक मानों अव्यव-स्थित, फिर भी एक विशिष्ट व्यवस्थामें, बिछे हैं। बीचों-बीच पाँव-फैलाए-हुए मोरकी शक्लका एक सिंहासन रक्खा है; पंख-ही रल-मिल कर उस सिंहासनके चंदोवे का काम देते हैं—उनमें बहुमूल्य हीरे और मोती इस अंदाज से टँके हैं कि वे मोरके सच्चे पंख से ही जान पड़ते हैं। मोरकी चोंच नीचेको झुकी हुई है, मानों वह कुछ चुगना चाहता है। पर उस चोंच से, वास्तव में, मोर संगमरमर के एक छोटे से जीने को संभाले है। उन पैड़ियों पर चढ़नेके बाद, उस मयूरकी कलगी आती है। सिंहासनासीन व्यक्तिको पैर टेकने के लिये यही जगह है। सिंहासन के बैठने का भाग काफी प्रशस्त, बहुमूल्य वस्त्रोंसे सजा, बहुत ही मुलायम है। आदि।

कुमार उसी स्थान पर पहुँचे, और बैठ गये। बोले—

'तुम लोग इतना डरती क्यों हो ?'

पद्मश्री ने सुना। स्वरने उसका गात सिहरा दिया, शब्दोंने गुदगुदी सी उठा दी।

विनयने सुना। आशा बँधी।

कनक तो सुन कर, मुखर हो रहना चाहती है। उसका जी होता है अभी कुमारसे उलझ उठे।

और वह रूपश्री उसी कोनेमें गड़ी-गड़ी घूँगट-से के भीतर ही हलकी हँसीसे मुस्करा दी।

कुमार ने कहा—

"तुम लोग इतना डरती हो!—मुझसे डरती हो?—डरनेका अब मौक़ा कहाँ है? तुम अपना वक्त खो दोगी, तो मेरा दोष न होगा। और वक्त ज्यादे नहीं है।"

सब चुप रहीं। कुछ देर कुमार भी चुप रहे।

फिर पद्मश्री ने आकर कुमारके चरण पकड़े—

"नाथ!"

विनय और कनक ने भी ऐसा ही किया, पैरों से माथा रगड़ कर करुणार्त-स्वर में कहा—"नाथ!"

किंतु रूप तो अब भी हिल न सकी। वह इन परिचित तीन स्वरों के 'नाथ' सम्बोधनको सुन कर भी पीछे मुड़ कर देखने और कुछ करने का साहस न कमा सकी।

कुमार ने एक-एक को उठाकर कहा—

"हैं-हैं, यह क्या ग़जब करती हो। छि-छिः, पैर नहीं छुआ करते। तुम मेरे पैर छू कर यों देखोगी, या बात करोगी?...और, वह तुम्हारी सखी,—उसे क्या हुआ है?"

कुमार गये, धीमे-से उसे कंधे पर छुआ—

"सुनो—

पर वह तो एक झमकसे मुरड़ गई, हाथ छूते ही छिटकसे दूर भाग गई—

कुमारने कहा—"सुनो—सुनो तो...।"

पद्म आदि ने देखा यह रूप ने खूब विजय पाई। पद्म बोली "अजी, उसे छोड़ो। वह आप आयगी।—सुनो तो।" किंतु कुमार के साथ ही रूपने भी पद्म की यह बात सुन ली, और अबके कुमारके छूने पर वह उस तरह छिटक कर दूर न जा सकी।

कुमार ने कहा—

"तुम यों अलग क्यों रहती हो। आओ,—चारों मेरी बात सुनो।"

तब वह कुमार के साथ ही आकर उन तीनों से सट कर और इस तरह अपना मुँह दुबका कर, बैठ गई। कुमार भी अब, सिंहासन से पर्यंक पर आगये।

× × ×

जो तब बातें हुईं, फिर बतायेंगे।

'अनेकान्त' पर लोकमत

१. श्री० सत्यांशुमोहनजी मुखोपाध्याय, एम.ए., एल.टी., असिस्टेंट लाइब्रेरियन गवर्नमेंट-संस्कृत-कालिज, बनारस—

"I am very grateful to you for kindly giving me an opportunity to read a collection of some very very valuable articles on Jainism, a subject the study of which is very dear to my heart.

I therefore welcome the Samantabhadrashrama of Delhi and congratulate its distinguished founders on taking up the works of the collection of Jaina works and research in Jaina literature

The Anekant is the sort of journal the want of which was beeing felt by the public for a long time. The first numbers, by the richness of the articles which have appeared in them, convince one of its permanent utility in the field of Jaina Dharma. Those that have contributed hitherto appear to be genuinely intersted and painstaking scholars of Jaina Shastra The ideal of toleration which the journal has set before it is truly Jain and does every credit to its learned editor. In fact you have not left anything to make the journal useful to Jains and Non-Jains engaged in the study of Jainism.

The articles are suggestive of new lines of work which, I hope, will be taken up by distinguished Jainists all over the world. Of the innumerable difficulties in the way of the study of Jainism, the most harassing are the want of critical editions of Jain works in Sanskrit & Prakrit, and their authoritative translations in any modern language. Dictionaries and Encyclopaedias collecting materials scattered over a vast field are badly required and a Jaina Catalogus catalogorum is an immediate necessity. I hope the Samantabhadrashama & the Anekanta will take up the compilation of these under your able guidance.

With thanks to you and hopes to see the Ashrama and the Journal prospering"

अर्थात्—मैं आपकी इस कृपाके लिये बहुत आभारी हूँ कि, आपने मुझे जैनधर्म-विषय पर, जिसका अध्ययन मेरे हृदयको बड़ा ही प्रिय है, कुछ अतीव बहुमूल्य लेखोंके संग्रहको पढ़नेका अवसर दिया है।

अतः मैं देहलीसमन्तभद्राश्रमका अभिनंदन करता

हूँ और उसके विशिष्ट संस्थापकोंको धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने जैनग्रंथोंके संग्रह और जैनसाहित्यके अनुसंधानका कार्य अपने हाथमें लिया है।

'अनेकान्त' उस प्रकारका पत्र है जिसकी पबलिक को अर्सेसे जरूरत थी। पहले दो अंक, उन लेखोंकी समृद्धिताके कारण जो उनमें प्रकट हुए हैं, जैनधर्मके क्षेत्रमें इस पत्रकी स्थायी उपयोगिताका विश्वास दिलाते हैं। जिन्होंने अब तक इसमें योग दिया है-लेखों से सहायता की है—वे जैनशास्त्रोंके सच्चे प्रेमी और परिश्रमशील विद्वान् जान पड़ते हैं। सहिष्णुताका जो आदर्श इस पत्रने अपने सामने रक्खा है वह सच्चा जैन आदर्श है और उसका सारा श्रेय पत्रके विद्वान् सम्पादकको प्राप्त है। वास्तवमें आपने इस पत्रको उन जैनों तथा अजैनोंके लिये उपयोगी बनानेमें कोई भी बात उठा नहीं रक्खी, जो जैनधर्मका अध्ययन करनेमें प्रवृत्त हैं।

लेख नये कार्यक्रमोंके सूचक हैं, जिनकी बाबत मुझे आशा है कि वे संसार भरके विशिष्ट जैनों द्वारा अंगीकार किये जावेंगे। जैनधर्मके अध्ययनके मार्गमें जो असंख्य कठिनाइयाँ उपस्थित हैं, उनमें से सब से अधिक कष्टकर संस्कृत तथा प्राकृत जैनग्रन्थोंके गुण-दोष-विवेचनात्मक संस्करणों का अभाव और मौजूदा किसी भी भाषामें उनके प्रामाणिक अनुवादोंका न होना है। विशाल क्षेत्र पर बिखरी हुई सामग्री को संग्रह करने वाली डिक्शनरियाँ (शब्दकोश) और इन्साइक्लोपीडियाएँ (विद्या-कोश) बुरी तरहसे उपयुक्त होती हैं और एक 'जैनकैटेलोगस कैटेलोगोरम' की फौरन जरूरत है। मुझे आशा है कि 'समन्तभद्राश्रम' और 'अनेकान्त' आपके पटुत्वमें इनके संकलन-कार्य को अपने हाथमें लेंगे।

मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और आश्रम तथा पत्रको समुन्नत होता हुआ देखना चाहता हूँ।

२५ बाबू अजितप्रसादजी एम.ए. एल.एल.बी. जज हाईकोर्ट, बीकानेर—

"मुझको तो विदित होता है कि बरसों तक गुप्त रूपसे मौनस्थ रह कर अपनी विचारशक्ति और व्याख्यानबलको बढ़ा कर 'जैनहितैषी' ही 'अनेकान्त' का रूप धरके प्रादुर्भूत हुआ है। विचारशील जैन-तत्त्वोंके वेत्ताओं और जैन-समाजके हितैषियोंका कर्तव्य है कि 'अनेकान्त' को अपनावें। जिस किसीको भी जैनधर्ममें भक्ति और जैनसमाजमें प्रेम है, उसको उचित है कि इस पत्र का ग्राहक बने, इसको आद्योपान्त पढे और पढ़ कर उन विषयों पर विचार और मनन करे। इस पत्रमें गूढ़ विषयोंको मथकर तत्त्वका सार निकालने का प्रयत्न किया गया है। यह पत्र सम्यक्दर्शनको दृढ करने, सम्यक्ज्ञानको बढ़ाने और सम्यक्चारित्रको उन्नत करनेका एक अद्वितीय साधन है।"

२६ प्रोफेसर हीरालालजी एम.ए.एलएल.बी. अमरावती—

"'अनेकान्त' के अब तक दो अंक प्राप्त हुए। अवलोकन कर बड़ा आनन्द हुआ। 'जैनहितैषी' के बन्द हो जानेसे जैन-मासिक-पत्रोंमें समाज जिस कमीका अनुभव कर रहा था उसकी आपने अनेकान्त-द्वारा बड़ी ही अच्छी तरहसे पूर्ति करदी इस हेतु आपको बधाई है। मुझे पूर्ण आशा है कि समन्तभद्राश्रमके उदात्त उद्देश्योंकी पूर्तिमें यह पत्र बहुत कार्यकर होगा।···मैं वीर-सेवक-संघका सभासदी फार्म भर कर भेज रहा हूँ। इस संघके

सभासद होनेसे मुझे कुछ गौरवका अनुभव होता है।"

२७ **निहालकरणजी सेठी, बी.ए., एम.एस.सी. बनारस—**

"यह जैनसमाज के लिये परम सौभाग्य की बात है कि अब उसे आपके महत्त्वपूर्ण लेखोंको पढ़ने का फिर से अवसर मिलेगा। जबसे 'जैनहितैषी' बन्द हुआ था तब से इस प्रकारके ऐतिहासिक खोजसे पूर्ण लेखोंका सर्वथा अभाव था। पत्र तो जैनसमाजमें बहुतसे निकलते हैं किंतु एक दो को छोड़ कर जो स्वतंत्रता पूर्वक दो एक विषयों पर कुछ लिखते हैं बाक़ी व्यर्थही समाजका समय तथा द्रव्य नष्ट करते हैं। उनसे आपसका वैमनस्य बढ़ता है और सामाजिक उन्नतिके मार्गमें बाधा होती है। मुझे अत्यन्त हर्ष है कि अब उन सबसे भिन्न प्रकारके पत्रका फिरसे उदय हुआ है। यद्यपि स्वयं मेरी रुचि ऐतिहासिक खोज की ओर नहीं है तथापि मुझे यह कहते तनिक भी संकोच नहीं कि यह कार्य बड़े महत्व का है। मैंने 'अनेकांत' के दो अङ्क देखे हैं। उनके लेखोंके विषयमें कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। आपके जिस व्यक्तित्वसे जैनसमाज वर्षोंसे परिचित है वही उन सबमें स्पष्ट झलक रहा है। मैं विश्वास करता हूँ कि यह पत्र उत्तरोत्तर उन्नत होकर जैन-समाजकी सेवा बराबर करता रहेगा।"

२८ **मुनि श्री पुण्यविजय जी, पाटण—**

"आपने जो आश्रमकी योजना की है वह बहुत ही स्तुत्य है। उसमें मैं अपनी सम्पूर्ण सहानुभूति रखता हूँ। आपने जो 'अनेकान्त' पत्रिका निकाली है वह बहुत ही अच्छा काम किया है। जिस समय जैन-समाजमें अनेक साहित्यविषयक पत्रिकायें निकल निकलकर मृत्युवश हो चुकी हैं ऐसे समयमें आपने अत्यन्त महत्वपूर्ण 'अनेकान्त' मासिक निकाल कर जैनसमाज पर महान् उपकार किया है। जैन समाज आपको जितना धन्यवाद दे उतना कम है। मुखपृष्ठ पर जो चित्र दिया है वह तो कमाल किया है। लेखोंके महत्वको गाना सूर्यको पहचान कराने सा है।"

२९ **मुनि श्री परमानन्द जी, शेखालपीपरी—**

"अनेकान्त पत्रका प्रथमांक मिला।... ..आपने पत्रका नाम मेरी आत्माके अनुकूल ही रक्खा है तदर्थ मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। उपर्युक्त पत्र निकालने की मेरी स्वयं इच्छा कुछ समय से हो रही थी; पर आपने मेरे पहिलेही यह मेरी शुभेच्छा कार्यरूपमें परिणत कर दिखादी, इसके बदलेमें तो मैं आपको जितना आशीर्वाद दूँ उतना थोड़ा ही है। लेख सभी पठनीय है। आशा है आगे इनसे भी विशेष अच्छे पठनीय रहेंगे।"

३० **बाबू कीर्तिप्रसादजी बी.ए., एल.एल.बी., अधिष्ठाता श्रीआत्मानंदजैन-गुरुकुल, गुजराँवाला—**

"दार्शनिक, सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक—सब तरहके लेखोंसे सुसज्जित 'अनेकान्त' पत्रका अवलोकन कर मुझे विशेष प्रसन्नता हुई। मेरा विश्वास है कि इसी प्रकारके युक्तिपूर्ण लेख जैन-सिद्धान्त के तत्त्वों का भली भान्ति प्रचार और प्रसार कर सकते हैं। यद्यपि यह पत्र जैनियोंका है तथापि इसके लेख साफ बता रहे हैं कि यह सभी धर्मों के मानने वालों को लाभदायक सिद्ध होगा। मेरी यही हार्दिक इच्छा है कि यह 'अनेकान्त' पत्र अनेकान्तवादके असदाक्षेपोंका समाधान करता हुआ इस पुण्यपावन स्याद्वाद के तात्त्विक अर्थके पप्रोधनरूप कार्यमें सफलता प्राप्त करे।"

३१ श्री० रमणीकलालजी, शिक्षण विभाग, अ० भा० चर्खासंघ, साबरमती—

"'अनेकान्त' के दो अंक मिले। श्रीसुखलाल जीका लेख पढ़ कर आनन्द हुआ। पुरानी वस्तु आज के हिन्दुस्तान के प्रश्नों पर मदद देगी तब उसमें नया प्राण संचार होगा। आपका प्रयत्न समाजको बल देगा।"

३२ पं० शोभाचंद्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थ, बीकानेर

"'अनेकान्त' के दर्शन हुए। आभारी हूँ। मुख पृष्ठका चित्र देखते ही हृदय प्रफुल्लित हो गया। दूसरा चित्रभी अत्यन्त आकर्षक और मोहक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि समाज घोराति-घोर अंधकारमें पड़ा है। उसका उद्धार 'अनेकान्त' सूर्यका उदय होनेसे ही होगा। यह पहली किरण इस विश्वासको पुष्ट करने वाली है। मेरी हार्दिक भावना है कि अनेकान्तको संसार अपनावे और उससे उसका कल्याण हो। मैं आपके सदुत्साह और श्रमकी प्रशंसा नहीं कर सकता।"

३३ पं० मुन्नालालजी "चित्र" बीकानेर—

"अनेकान्त अतिकान्त, भ्रान्तिको हरने वाला;
सत्य-शान्तिका बीज, अहो! मन-भरने वाला।
तत्व-विवेचन, दोष-दलन नित करने वाला,
अपने ढंगका अति उदार गुण रखने वाला॥
दो किरणें ही 'कान्त'की भव्यभाव हैं भर रहीं।
'मुख्य-तार'से बज उठीं, गगन मधुर हैं कर रहीं॥"

३४ पं० बी० शान्तिराजजी शास्त्री, न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, नागपुर—

"'अनेकान्त' का सम्पादन सुन्दर हुआ। लेख गवेषणापूर्ण हैं, विद्वानोंके मनन करनेकी चीज़ है। विश्वमें 'अनेकान्त' द्वारा अनेकान्तका प्रसार हो यही मेरी हार्दिक भावना है।"

३५ पं० विद्यानंदजी शर्मा, उपदेशक दि० जैन महासभा—

"मेरठ में पं० वृजवासीलालजी के पास मैंने 'अनेकान्त' सूर्यकी पहली किरण देखी, हृदय कमलवत् प्रफुल्लित हो गया।···सादर प्रार्थना है कि पत्र देखते ही 'अनेकान्त' मेरे पास भेज दीजिये।"

३६ बा० शिवचरणलालजी रईस, जसवन्तनगर—

"जिस समय कवर पर 'अनेकान्त' लिखा देखा चित्त प्रफुल्लित हो गया और कवर खोलनेको अधीर हो गया। खोलते ही 'अनेकान्त' के दर्शन किए। दर असल अब जैनसमाजके सुदिन शुरू हुए हैं, ऐसा प्रतीत हुआ है।"

३७ बा० नाहरसिंहजी एम.ए., बी.एल. वकील हाईकोर्ट, कलकत्ता—

"अब समय परिवर्तन हुआ है और इस शांतिमय कालमें भारतके सर्व सम्प्रदाय अपनी अपनी उन्नतिमें अग्रसर हो रहे हैं। ऐसे समयमें साम्प्रदायिक और अन्तर्जातीय भिन्नताको अलग रखकर पूर्णरूपसे विषयों पर स्वतंत्र विचार प्रकट करने वाले पत्रकी विशेष आवश्यकता थी। आशा है मुख्तारजी उन त्रुटियोंकी अपनी पत्रिकासे दूर करेंगे। सम्पादक महोदयकी शुभेच्छा और योग्यताका परिचय तीर्थंकरों के चिन्ह के प्रबन्ध पर सम्पादकीय टिप्पणीसे ही पाठकोंको अच्छी तरह उपलब्ध होगा। पत्रिकामें ऐतिहासिक और खोज की दृष्टिसे लिखे गये लेख सर्वत्र और सब समय में उपयोगी होंगे। पत्रिकाके विषयमें अधिक लिखना मात्र पिष्टपेषण के होगा।"

३८ सम्पादक 'जैनमित्र', सूरत—

"हम इस पत्रका हृदयसे स्वागत करते हैं। इसके मुख पत्र पर अनेकान्तका सूर्य अद्भुत छटा दिखा रहा है व भीतर श्रीमहावीर-जिनदीक्षा का रंगीन चित्र बहुत ही बढ़िया है। महावीरस्वामी की मूर्त्ति यथार्थ ही दिखलाई गई है।···यह चित्र हर एक मंदिरमें रखने योग्य है। सम्पादकद्वारा लिखित 'भगवान महावीर और उनका समय' लेख बहुत विद्वत्तापूर्ण व उपयोगी है।······ पं० सुखलालजी शास्त्रीका लेख अनेकान्तकी मर्यादा पर बहुत ही पठनीय है। इसमें दिखलाया है कि सामाजिक प्रश्नोंकी गाँठको भी अनेकान्तकी पद्धति से खोलना उचित है।···यह पत्र अपने ढंग का अपूर्व ही है।

३९ सम्पादक दैनिक 'अर्जुन', देहली—

"'अनेकान्त' का पहला अंक हमारे सामने है। जैन-दर्शनका आधार अनेकान्त-सिद्धान्त है उसी अनेकान्तके सिद्धान्तको स्पष्ट और प्रचलित करने के उद्देश्यसे इस पत्रका जन्म हुआ है। इस अंक की भीतर की सामग्री से पत्र होनहार जान पड़ता है। लेख सभी अच्छे हैं। कवितायें भी साधारणतः अच्छी हैं। साम्प्रदायिक पत्र होते हुए भी इसकी भाषा शुद्ध और साहित्यिक है यह संतोषकी बात है। साहित्य-प्रेमी और दर्शन-प्रेमियोंके लिये यह पत्र बड़े कामका सिद्ध हो सकता है। सम्पादक पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार पहलेसे साहित्य क्षेत्रसे परिचित हैं और जैनसाहित्य संबंधी उनकी खोजोंके लिये जैनसमाजमें उनका विशेष मान और स्थान है। हम उनके इस नये प्रयत्न पर साधुवाद देते हैं।"

४० सम्पादक 'जैनजगत', अजमेर—

"अनेकान्तके सम्पादक जुगलकिशोरजी मुख्तार के नामसे जैनजनता काफी परिचित है। वे एक इतिहासज्ञ और मार्मिक समालोचक विद्वान् हैं। आपने समन्तभद्राश्रम नामक एक संस्था की स्थापना की है। उसीका यह पत्र है। इसके दो अंक हमारे सामने हैं। पत्रका शरीर भी सुन्दर और आत्मा भी सुन्दर है। प्रथम अंकमें 'अनेकान्त की मर्यादा' शीर्षक लेख बहुत अच्छा है। 'भगवान महावीर और उनका समय' शीर्षक मुख्तार साहब का लेख है तो लम्बा परन्तु आवश्यक है। भगवंत गणपति गोयलीय की 'नीच और अछूत' शीर्षक कविता बहुत शिक्षाप्रद है। दूसरा अंक पहले अंक से भी अधिक कामका है। इस अंकमें 'पात्रकेसरी और विद्यानन्द' 'कर्नाटक जैनकवि' 'हमारी शिक्षा' 'जैनधर्मका प्रसार कैसे होगा' 'जाति भेद पर अमितिगति आचार्य' शीर्षक लेख विशेष पठनीय हैं। गोयलीयजी की कविताएँ बहुत बढ़िया हैं। 'अनुरोध' शीर्षक कविता तो बहुत भावपूर्ण है। इसमें रवीन्द्रकी गीतांजलीका रंग है। 'अतीत गीत' शीर्षक कविता भी इसी ढंग की है, 'वीर वाणी' भी अच्छी है।······ऐसे पत्रकी जरूरत थी इस लिये हम सहयोगीका सहर्ष स्वागत करते हैं।"

४१ सम्पादक श्वेतांबरजैन, आगरा—

इस मासिक पत्रके दो अंक हमारे सामने हैं। इनके सब ही लेख उपयोगी हैं। प्रथम अंक में पण्डित सुखलालजीका 'अनेकान्तवादकी मर्यादा' शीर्षक लेख सर्वोपरि है। श्रीयुत् गोयलीयजी की 'नीच और अछूत' कविता बड़े मार्के की है। द्वितीय अंकमें 'जैनधर्म का प्रसार कैसे होगा' और 'हमारी शिक्षा' शीर्षक लेख बहुत ही अच्छे हैं। इन दो अंकोंकी सामग्री और सम्पादकके स्थान पर मुख्तार साहबका नाम देख कर विश्वास होता है कि आगे चल कर यह जैनसमाजमें एक उच्चकोटि का पत्र होगा। हिन्दी जानने वाले भाइयों को ग्राहक बनना चाहिये।

❀ वीरजयंती उत्सव ❀

हर सालकी तरह इस वर्ष श्रीमहावीर जयंती उत्सव ११, १२ और १३ अप्रैल '३० या चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४५६ के दिनोंमें उसी समारोह और सजधजके साथ मनाया जायगा। आपसे निवेदन है कि कृपा कर उस अवसर के अनुकूल अपनी कुछ रचना निम्न विषयोंमेंसे किसी एक पर भेजने का अनुग्रह करें। आशा तो यह है कि आप स्वयं उस अवसर पर पधार कर और उत्सवमें शामिल होकर धर्म प्रभावना में भाग लेंगे और हमारी उत्साह-वृद्धि करेंगे, किन्तु यदि यह संभवनीय न हो तो कृपाकर लिखे हुऐ शब्द अवश्य भेजें। उनकी हमें प्रतीक्षा रहेगी।

अपने अनुग्रही लेखकों और कवियों की कृतियां के उपलक्ष्य में मित्रमंडल उन्हें मानपत्र अर्पण कर सन्मानित करना अपना कर्तव्य समझेगा ।

कृपाकर अपनी कृति ११ मार्च '३० तक अवश्य भेजने का ध्यान रक्खें। विश्वास है कि हमें निराश न करेंगे।

विषय—विश्वप्रेमी महावीर — जैनवीरोंका इतिहास
हमारी शिक्षा पद्धति — हमारे उत्थानका मार्ग

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

—श्रीअमृतचंद्रसूरिः ।

वर्ष १ | समन्तभद्राश्रम, क़रौलबाग, देहली । | किरण ४

फाल्गुन, संवत् १९८६ वि०, वीर-निर्वाण सं० २४५६

महापुरुष

[लेखक—श्री० सा० रत्न पं० दरबारीलालजी]

जो विपत्ति में धैर्य क्षमा रखते ऊँचे बन ।
जगत्प्रलोभन देख नहीं होते चंचल मन ॥
सभा-भूमि में वचनकुशल हैं गौरवशाली ।
युद्ध-भूमि में दिखलाते वीरता निराली ॥
सदाचार सन्न्याय पर मरने को तैयार हैं ।
महापुरुष वे ही यहाँ ईश्वरके अवतार हैं ॥

सम्पति आई हर्ष नहीं पर आया मन में ।
आई अगर विपत्ति क्षीणता नहीं बदन में ॥
सत्तू पावें कभी, कभी या मोदक पावें ।
पर घबरावें नहीं, नहीं मन में इतरावें ॥
ऐसी जिन की रीति है पुरुष सदा वे धन्य हैं ।
उन समान सौभाग्य जो कभी न पाते अन्य हैं ॥

स्वदेश-सन्देश

[ले०—श्रीयुत भगवन्त गणपति गोयलीय]

(१)

महावीर के अनुयायी प्रियपुत्र हमारे—
श्वेताम्बर, ढूँढिया, दिगम्बर-पंथी सारे।
उठो सवेरा होगया, दो निद्रा को त्याग;
कुक्कुट बाँग लगा चुका, लगा बोलने काग।
अँधेरा गत हुआ॥

(२)

उदयाचल पर बाल-सूर्यकी लाली छाई;
उषासुन्दरी अहो, जगाने तुमको आई।
मन्द मन्द बहने लगा, प्रातः मलय-समीर;
सभी जातियाँ हैं खड़ी, उन्नति-नदके तीर।
लगाने डुबकियाँ॥

(३)

उठो उठो, इस तरह कहाँ तक पड़े रहोगे;
कुटिल कालकी कड़ी धमकियाँ अरे! सहोगे।
मेरे प्यारो! सिंहसे, बनो न कायर स्यार;
तन्द्रामय-जीवन बिता, बनो न भारत-भार।
शीघ्र शय्या तजो॥

(४)

मत इसकी परवाह करो क्या कौन कहेगा;
तथा सहायक कौन, हमारे संग रहेगा।
क्या चिन्ता तुम हो वही, जिसकी शक्ति अनंत;
जिसका आदि मिला नहीं, और न होगा अन्त।
अटल सिद्धान्त है॥

(५)

यद्यपि कुछ कुछ लोग, मार्ग रोकेंगे आकर;
किन्तु शीघ्र ही भाग जायँगे धक्के खाकर।
यदपि मिलेंगे मार्गमें, तुमको कितने शूल;
पग रखते बन जायँगे वे सबके सब फूल।
यही आश्चर्य है॥

(६)

युद्ध स्वार्थ अथवा असत्यसे करना होगा;
जीने ही के लिये, तुम्हें अब मरना होगा।
तब न मरे अब ही मरे, मरना निस्सन्देह;
अब न मरे सब कुछ रहे, रहे न केवल देह।
देह-ममता तजो॥

(७)

सुनो-सुनो! जो आज, कहीं साहस तुम हारे;
डूबोगे यों, नहीं लगोगे कभी किनारे।
तन-मन-धनसे देश-हित, करो प्रमाद विसार;
सबके सँग मिलकर सहो, भूख प्यास या मार।
पुनः आनन्द भी॥

(८)

पिछड़ गये हो बहुत, लड़ रहे हो आपसमें;
पकड़ पकड़ रूढ़ियाँ, घोलते हो विष रसमें।
ऐसा ही करते रहे, तो विनाश है पास;
बस भविष्यमें देखगा, तव-परिचय इतिहास।
एक मृत-जाति कह॥

पुरानी बातों की खोज

(६)

एक और 'भगवती आराधना'

'भगवती आराधना' नामका जो प्राचीन ग्रंथ जैन-समाजमें प्रसिद्ध है और जिसका परिचय 'अनेकान्त' की तीसरी किरणसे पाठक पढ़ रहे हैं उससे भिन्न एक औरभी 'भगवती आराधना' नाम का ग्रन्थ है । यह ग्रंथ प्राकृत भाषामें नहीं किन्तु संस्कृत भाषा में है और इसे समाजके प्रसिद्ध विद्वान् अमितगति आचार्यने रचा है । ये आचार्य माधवसेनके शिष्य और नेमिषेणाचार्य के प्रशिष्य हैं और इसलिये ११वीं शताब्दी के विद्वान वे ही अमितगति हैं जो धर्मपरीक्षा, उपासकाचार, सुभाषितरत्नसंदोह आदि ग्रंथोंके प्रसिद्ध रचयिता हैं। इनके रचे हुए अभी तक जितने ग्रंथ उपलब्ध हुए थे अथवा सुहृद्वर पं०नाथूरामजी प्रेमी-द्वारा विद्वद्रत्नमाला में इनके और जितने ग्रन्थोंकी सूचना दी गई थी उन सबसे यह एक जुदा ही ग्रन्थ है । इसे आचार्य महोदय ने बड़े उद्यमके साथ चार महीने में बना कर समाप्त किया है । परंतु कौनसे संवतमें बना कर समाप्त किया, यह ग्रन्थप्रति परसे मालूम नहीं हो सका। हाँ, इतना जरूर मालूम हुआ है कि इसकी रचना उन्होंने अपने पहलेके बने हुए किसी जिनागम पर से की है, जो संभवतः वही प्राचीन 'भगवती आराधना' जान पड़ता है जो प्राकृत भाषामें निबद्ध है तथा छप कर प्रकाशित भी हो चुका है, और इसे उसकी अपेक्षा ऐसे ही महार्घ (बहुमूल्य) बतलाया है जैसे कि दूध से निकला हुआ घी । ११ वीं शताब्दीमें इस दूसरे 'भगवती आराधना' ग्रंथकी रचना हो जाने के कारण ही पं०आशाधरजीने पहले ग्रन्थकी टीका लिखते हुए उसे 'मूलाराधना' नाम दिया है और अपनी टीका(विवरण)का नाम 'मूलाराधना-दर्पण' रक्खाहै, ऐसा मालूम होता है । अस्तु; इस ग्रन्थकी एक प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन, बम्बई में मौजूद है, जिसकी पत्र संख्या ८१ है परंतु उसमें पहला पत्र नहीं है । इसी से मंगलाचरण आदि का कुछ हाल मालूम नहीं हो सका । यह प्रति बहुत अशुद्ध है और जिस ग्रंथप्रति परसे उतारी गई है उसे वि०सं० १५६८ की लिखी हुई बतलाया है । ग्रन्थके अन्तिम भागके नामादिक सूचक कुछ पद्य इस प्रकार हैं:—

आराधना भगवती कथिता स्वशक्त्या,
चिन्तामणिर्वितरतु बुधचिन्तितानि ।
आम्हाय जन्मजलधिं तरितुं तरण्डं,
अध्यात्मनां गुणवती ददतां समाधिं ॥१२॥

× × ×

माधवसेनोऽजनि मुनिनाथो
ध्वंसित-माया-मदन-कदर्पः ।
तस्य गरिष्ठो गुरुरिव शिष्य-
स्तत्त्वविचार-प्रवण-मनीषः ॥ १७॥

शिष्यस्तस्य महीयसो
ऽमितगतिर्मार्गप्रयाणं विनी-
मेनां कल्मषमोषिणीं
भगवतीमाराधनां श्रेयते ।...१८ ॥
आराधनैषा यदकारि पूर्णा
मासैश्चतुर्भिर्न तदस्ति चित्रं ।
महोद्यमानां जिनभक्तिकानां
सिद्धयन्ति कृत्यानि न कानि सद्यः॥१९॥
स्फुटीकृता पूर्वजिनागमादियं
मया जने यास्यति गौरवं परं ।
प्रकाशितं किं न विशुद्धबुद्धिना
महार्घतां गच्छति दुग्धतो घृतं ॥ २० ॥

इस ग्रन्थको पूरा देखनेका मुझे अभी तक अवसर नहीं मिला। विद्वानोंको चाहिये कि वे उक्त प्राचीन भगवती आराधनाके साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन करें और इस बातको मालूम करके प्रकाशित करें कि इस ग्रन्थमें मूलाराधना की किन किन बातों को छोड़ा गया और किन किन बातोंमें विभिन्न मतका प्रतिपादन किया गया है। अथवा दोनों ग्रंथों में किस किस बात की परस्पर विशेषता है। क्या इस ग्रन्थमें पहले ग्रन्थ का उस वक्त की लोकरुचिके अनुसार महज सार ही खींचा गया है अथवा इसके रचे जानेका और ही दूसरा कोई हेतु है ?

जहाँ कहीं के भंडारमें इस ग्रन्थ की पूरी प्रति हो वहाँ के कोई भी सज्जन भाई यदि इस ग्रन्थ के पहले पत्र की नकल मेरे पास भेजेंगे तो मैं उनका आभारी हूँगा। और तुलनात्मक लेख भेजने वाले विद्वान् तो विशेष धन्यवादके पात्र होंगे।

(७)

श्रुतमुनि का निश्चित समय

दक्षिण में 'श्रुतमुनि' नामके एक जैन विद्वान् हो गये हैं, जिन्होंने प्राकृत भाषामें कुछ जैन-ग्रन्थों की रचना की है। आपके अणुव्रत-गुरु बालचन्द्र मुनि, महाव्रत (जिनदीक्षा)-गुरु अभयचंद्र सैद्धान्तिक और शास्त्रगुरु अभयसूरि तथा प्रभाचंद्र मुनि थे। अभी तक आपके बनाये हुए 'भावत्रिभंगी' (भावसंग्रह) और 'आस्रवत्रिभंगी' नामके दो ग्रन्थोंका ही पता चला था, जो माणिकचंद ग्रन्थमाला के 'भावसंग्रहादि' नामक ग्रन्थ नं०२० में मुद्रित हो चुके हैं हैं। इन ग्रन्थोंमें ग्रन्थ की रचना का कोई समय न होने से आपका समय दूसरे विद्वानोंके समय पर से ही अनुमान किया जाता था। परंतु गत वर्ष बम्बई के उक्त सरस्वती भवनको देखते हुए मुझे आपका एक और ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, जिसका नाम है 'परमागमसार'। इस ग्रन्थ मे रचनाका स्पष्ट समय देते हुए लिखा है:—

इदि परमागमसारं
सुयमुणिणा कहियमप्पबोहेण ।
सुदणिउणा मुनिवसहा
दोसचुदा सोहयंतु फुडं ॥ २२३ ॥
सगगाले हु सहस्से
विसयतिसट्ठी १२६३ गदे दु विसवरिसे ।
मगसिरसुद्धसत्तमि
गुरुवारे गंथ संपुण्णो ॥ २२४ ॥

अर्थात्—अल्पज्ञानके धारक मुझ श्रुतमुनि ने इस 'परमागमसार' की रचना की है, जो शास्त्र-निपुण और दोषरहित मुनिवृषभ हैं वे इसका भले प्रकार शोधन करें। यह ग्रन्थ शाक संवत् १२६३ 'वृष' संवत्सरमें मंगसिर सुदि सप्तमी गुरुवारके दिन लिख कर पूर्ण हुआ है।

इससे श्रुतमुनि का सुनिश्चित अस्तित्वसमय वि० संवत् १३९८ तक पाया जाता है। इसके बाद मालूम नहीं कि वे और कितने समय तक जीवित रहे हैं और उन्होंने और कौन कौन से ग्रन्थों की रचना की है। श्रवणबेल्गोलके मंगराज लिखित शिलालेख नं० १०८ (२५८) में जिन श्रुतमुनि की निषद्या की प्रतिष्ठा का समय शाक संवत् १३५५ दिया है वे इन श्रुतमुनिसे भिन्न

हैं क्योंकि उसमें उनके दीक्षागुरु का नाम 'सिद्धान्तयोगी' दिया है—अभयचंद्र नहीं। और इसलिये यह कल्पना नहीं की जा सकती—कि वह निषिद्या इन्हीं श्रुतमुनि की लग भग १०० वर्षके बाद प्रतिष्ठित हुई होगी। अस्तु।

ग्रन्थमें उक्त गाथाओंके बाद प्रशस्तिकी जो छह गाथाएँ दी हैं वे सब प्रायः वे ही हैं जो भावत्रिभंगी के अंतमें पाई जाती हैं और माणिकचंद-ग्रन्थमाला के ग्रन्थ नं० २०की भूमिकामें प्रकाशित हो चुकी हैं। हाँ, उनमेंसे 'णादणिखिलत्थसत्थो' नामकी गाथा यहाँ नहीं है।

यह ग्रन्थ १ पंचास्तिकाय, २ षद्द्रव्य, ३ सप्ततत्त्व, ४ नवपदार्थ, ५ बंध, ६ बंधकारण, ७ मोक्ष और ८ मोक्षकारण, ऐसे आठ अधिकारोंमें विभक्त है और सब मिलाकर कुल २३० गाथाओं में पूरा हुआ है। ग्रन्थ अच्छा है। इसे भी माणिकचंद ग्रन्थमाला को प्रकाशित कर देना चाहिये।

(८)

प्रभाचन्द्र का एक और ग्रंथ

'प्रभाचंद्र' नाम के यद्यपि, बीसियों आचार्य जैन-समाज में हो गये हैं * परंतु यहाँ पर वे ही प्रभाचंद्र विवक्षित हैं जो पद्मनंदि आचार्यके शिष्य तथा 'प्रमेय-कमलमार्तंड' और न्यायकुमुदचंद्र' नामक ग्रन्थों के प्रसिद्ध रचयिता हैं। अभी तक इनके बनाये हुए उक्त दो ही ग्रन्थों का निश्चित रूप में पता चला था किंतु अब एक और ग्रन्थका भी पता चला है और वह है 'तत्त्वार्थवृत्तिपद'। इसमें पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' नामक वृत्तिके अप्रकटित पदोंको व्यक्त किया गया है। इस ग्रन्थका प्रारंभ निम्नप्रकार से होता है:—

"सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिममबोधं
त्रैलोक्यवंद्यमभिवंद्य गतप्रबन्धं।
दुर्वारदुर्नयतमःप्रविभेदनार्कं
तत्त्वार्थवृत्तिपदमप्रकटं प्रवक्ष्ये॥

कश्चिद्भव्यः प्रसिध्येकनामा प्रत्यासन्ननिष्ठः निष्ठाशब्देन निर्वाणं चारित्रं चोच्यते प्रत्यासन्ना निष्ठा यस्यासौ प्रत्यासन्ननिष्ठः अवाग्विसर्ग......"

यहाँ जिन पदोंके नीचे लाइन दी गई है वे सर्वार्थसिद्धिके पद हैं और उनके आगे उनका व्यक्तीकरण है। इसी तरह पर वृत्तिके खास खास पदों की व्याख्या की गई है पहले पदके व्यक्तीकरणमें जिस भव्य पुरुषके प्रश्नपर तत्त्वार्थसूत्रकी रचना हुई है उसका नाम दिया गया है परंतु वह पाठकी अशुद्धि के कारण कुछ स्पष्ट नहीं होसका। १३ वीं शताब्दीमें बालचंद्र मुनि-द्वारा तत्त्वार्थसूत्र की जो कनडी टीका लिखी गई है उसमें उस प्रश्नकर्ता भव्यपुरुषका नाम 'सिद्धय्य' दिया है। बहुत संभव है कि वही नाम यहाँ पर सूचित किया गया हो और प्रतिलेखककी कृपासे वह 'प्रसिध्येक' रूपसे गलत लिखा गया हो। यदि ऐसा है तो इस 'सिद्धय्य'के प्रश्न पर ग्रन्थोत्पत्ति की मान्यताका पता ९ वीं शताब्दी तक चल जाता है। अतः मूडबिद्री की उस प्रति परसे इस की जाँच होनी चाहिये जिस पर से कापी होकर बम्बई के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें यह ग्रंथ आया है। ग्रंथ के अंतमें 'इतिदशमोऽध्यायः समाप्तः' के बाद प्रशस्तिके जो पद्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

ज्ञानस्वच्छजलस्सुरत्ननिकर(क र)श्चारित्रवीचीचयः
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः।
तच्छिष्यादखिलप्रबोधजननं तत्त्वार्थवृत्तेः पदं
सुव्यक्तं परमागमार्थविषयं जातं प्रभाचन्द्रतः॥(१)

श्रीपद्मनंदिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः।
प्रभाचंद्रश्चिरं जीयात् पादपूज्यपदे रतः॥(२)

मुनीन्दुर्नंदितादिंदशिमानंदमंदिरं।
सुधाधारोद्गिरन्मूर्तिः काममामोदयज्जनं॥(३)

इनमें पहला पद्य तो प्रभाचन्द्राचार्य-द्वारा रचित है और वह अपने साहित्यादि पर से प्रमेयकमलमार्तण्ड

* परिचय पाने के लिये देखो, माणिकचन्द-ग्रन्थमाला में प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी लेखक-द्वारा लिखी हुई प्रस्तावना।

तथा न्यायकुमुदचंद्र के अन्तिम पद्योंके साथ ठीक तुलना किया जा सकता है। शेष दोनों पद्य दूसरे विद्वान-द्वारा इस ग्रन्थ पर लिखी हुई टीका-टिप्पणी के पद्य जान पड़ते हैं। और वे संभवतः उसी विद्वानके पद्य हैं जिसने प्रमेयकमलमार्तण्ड पर टीका लिखी है और जिसके अन्तिम दो पद्यों पर गत किरण में पृष्ठ १३०के फुटनोटद्वारा विचार प्रस्तुत किया जा चुका है। दूसरा पद्य तो यहाँ और वहाँ दोनों ही ग्रन्थों की प्रशस्तियोंमें प्रायः समानरूप से पाया जाता है—सिर्फ चौथे चरण में 'रत्ननन्दि' की जगह यहाँ 'पादपूज्य' का परिवर्तन है। और यह परिवर्तन इस बात को साफ़ बतला रहा है कि जब प्रभाचंद्र की टीका माणिक्यनंदीके ग्रन्थ पर थी तब तो प्रशस्ति लेखकने उन्हें रत्न (माणिक्य)नन्दिपदे रतः लिख दिया और जब टीका पूज्यपाद के ग्रन्थ पर देखी तब उन्हें 'पादपूज्यपदे रतः' विशेषण दे दिया है। साथ ही, इस विषय में भी कोई सन्देह नहीं रहता कि 'रत्ननन्दी' परिक्षामुख के कर्ता 'माणिक्यनन्दी से भिन्न कोई दूसरे विद्वान नहीं हैं—दोनों ही एक दूसरेके पर्यायनाम हैं। और प्रभाचंद्र न तो पूज्यपादके साक्षात् शिष्य थे और न माणिक्यनन्दीके, किन्तु पद्मनन्दी के ही शिष्य थे।

यह ग्रन्थ बहुत छोटा है। छोटे साइजके कुल ९२ पत्रोंमें यह समाप्त हुआ है। एक प्रौढ विद्वानकी प्राचीन कृति होने से अच्छा महत्व रखता है। अतः जो भाई सर्वार्थसिद्धि को पुनः प्रकाशित कराएँ उन्हें इस ग्रंथको भी उसके साथमें लगादेना चाहिए अथवा विद्यार्थियों आदिके उपयोगार्थ अलग ही छपाकर प्रकाशित कर देना चाहिए।

(९)

तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता कुन्दकुन्द !

सब लोग यह जानते हैं कि प्रचलित 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक मोक्षशास्त्र के कर्ता 'उमास्वाति' आचार्य हैं, जिन्हें कुछ समय से दिगम्बरपरम्परा में 'उमास्वामी' नाम भी दिया जाता है और जिनका दूसरा नाम 'गृध्रपिच्छाचार्य' है। इस भावका पोषक एक श्लोक भी जैनसमाजमें सर्वत्र प्रचलित है और वह इस प्रकार है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितं।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वातिमुनीश्वरं॥

परंतु पाठकोंको यह जान कर आश्चर्य होगा कि जैनसमाज में ऐसे भी कुछ विद्वान होगये हैं जो इस तत्त्वार्थसूत्र को कुन्दकुन्दाचार्यका बनाया हुआ मानते थे। कुछ वर्ष हुए, तत्त्वार्थसूत्रकी एक श्वेताम्बर-टिप्पणी *को देखते हुए, सबसे पहले मुझे इसका आभास मिला था और तब टिप्पणीकार के उस लिखने पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ था। टिप्पणीके अन्तमें तत्त्वार्थसूत्र के कर्तृत्वविषय में 'दुर्वादापहार' नाम से कुछ पद्य देते हुए लिखा था:—

"परमेतावच्चतुरैः कर्तव्यं शृणुत वच्मिसविवेकः।
शुद्धो योऽस्य विधाता सदूषणीयो न केनापि॥ ४
यः कुंदकुंदनामा नामांतरितो निरुच्यते कैश्चित्।
ज्ञेयोऽन्य एव सोऽस्मात्स्पष्टमुमास्वातिरितिविदितात्

टिप्पणी—"एवंचाकर्ण्य वाचको ह्युमास्वातिर्दिगंबरो निन्हव इति केचिन्मावदन्नदः शिक्षार्थं परमेतावच्चतुरैरितिपद्यं ब्रूमहे शुद्धः सत्यः प्रथम इति यावत् यः कोप्यस्य ग्रन्थस्य निर्माता स तु केनापि प्रकारेण न निंदनीय एतावच्चतुरैर्विधेयमिति। तर्हि कुंदकुंद एवैतत्प्रथम कर्त्तेति संशयापोहाय स्पष्टं ज्ञापयामः यः कुंदकुंदनामेत्यादि अयं च परतीर्थिकैः कुंदकुंद इडाचार्यः पद्मनंदी उमास्वातिरित्यादिनामांतराणि कल्पयित्वा पठ्यते सोऽस्मात्प्रकरणकर्तुरुमास्वातिरित्येव प्रसिद्धनाम्नः सकाशादन्य एव ज्ञेयः किं पुनः पुनर्वेदयामः।"

इसमें अपने सम्प्रदाय वालोंको दो बातोंकी शिक्षा

---

* इस टिप्पणी का विशेष परिचय फिर किसी समय दिया जायगा।

की गई है—एक तो यह कि इस तत्त्वार्थसूत्रके विधाता वाचक उमास्वातिको कोई दिगम्बर अथवा निन्हव न कहने पाए, ऐसा चतुर पुरुषों को यत्न करना चाहिये। दूसरे कुन्दकुन्द, इडाचार्य, पद्मनंदी, और उमास्वाति ये एक ही व्यक्ति के नाम कल्पित करके जो लोग इस ग्रन्थका असली अथवा आद्यकर्ता कुंदकुन्दको बतलाते हैं वह ठीक नहीं, वह कुन्दकुन्द हमारे इस तत्त्वार्थसूत्र-कर्ता प्रसिद्ध उमास्वाति से भिन्न ही व्यक्ति है।

इस पर से मुझे यह खयाल हुआ था कि शायद पट्टावलि-वर्णित कुंदकुंदके नामोंको लेकर किसी दन्त-कथा के आधार पर ही यह कल्पना की गई है। और इस लिये मैं उसी वक्त से इस विषय की खोज में था कि दिगम्बर-साहित्य में किसी जगह पर कुन्दकुन्दाचार्यको इस तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता लिखा है या कि नहीं। खोज करने पर गत वर्ष बम्बई के ऐलक-पन्नालाल-सरस्वतीभवन में 'अर्हत्सूत्रवृत्ति' नामका एक ग्रंथ उपलब्ध हुआ, जो कि तत्वार्थसूत्र की टीका है—'सिद्धान्तसूत्रवृत्ति' भी जिसका नाम है—और जिसे 'राजेन्द्रमौलि' नाम के भट्टारक ने रचा है। इसमें तत्वार्थसूत्र को स्पष्टतया कुंदकुंदाचार्य की कृति लिखा है। जैसा कि इसके निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

" अथ अर्हत्सूत्रवृत्तिमारभे। तत्रादौ मंगलाद्यानि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथ्यंते। तदस्माकं विघ्नघाताय अस्मदाचार्यो भगवान् कुन्दकुन्दमुनिः स्वेष्टदेवतागुणोत्कर्षकीर्तनपूर्वकं तत्स्वरूपवस्तुनिर्देशात्मकं च शिष्टाचारविशिष्टेष्टजीववादं सिद्धान्तीकृत्य तद्गुणोपलब्धिफलोपयोग्यवन्दनानुकूलव्यापारगर्भं मंगलमाचरति—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

एतद्गुणोपलक्षितं समवसृतावुपदिशंतं भगवंतमर्हदाख्यं केवलिनं तद्गुणानां नेतृत्व-भेतृत्व-ज्ञातृत्वादीनां सम्यगुपलब्धये वंदेनतोऽस्मि ॥ सूत्र ॥ "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः॥" अत्र बहुवचनत्वात्समुदायार्थवाचकत्वेन त्रयाणां समुदायो मोक्षमार्गः।"

× × ×

"इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सिद्धान्तसूत्रवृत्तौ दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥
"मूलसंघबलात्कारगणे गच्छे गिरां शुभे॥
राजेंद्रमौलि-भट्टार्कः सागत्य-पट्टराडिमां।
व्यरचीत्कुंदकुंदार्यकृतसूत्रार्थदीपिकाम् ॥"

जहाँ तक मैंने जैनसाहित्यका अन्वेषण किया है और तत्त्वार्थसूत्रकी बहुत सी टीकाओंको देखा है, यह पहला ही ग्रन्थ है जिसमें तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता 'उमास्वाति' को न लिख कर 'कुन्दकुन्द' मुनिको लिखा है। यह ग्रंथ कब बना अथवा राजेंद्रमौलि का अस्तित्व समय क्या है, इसका अभी तक कुछ ठीक पता नहीं चल सका—इतना तो स्पष्ट है कि आप मूलसंघ-सरस्वतीगच्छके भट्टारक तथा सागत्य पट्टके अधीश्वर थे। हाँ; उक्त श्वेताम्बर टिप्पणिकार रत्नसिंह के समयका विचार करते हुए, राजेंद्रमौलि भ०का समय संभवतः १४-वीं शताब्दी या उससे कुछ पहले-पीछे जान पड़ता है। मालूम नहीं भट्टारकजीने किस आधार पर इस तत्त्वार्थ-सूत्रको कुंदकुन्दाचार्य की कृति बतलाया है! उपलब्ध प्राचीन साहित्य परसे तो इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता। हो सकता है कि पट्टावली(गुर्वावलि)-वर्णित कुन्दकुन्दके नामोंमें * गृद्धपिच्छ का नाम देख कर और यह मालूम करके कि उमास्वाति का दूसरा नाम 'गृद्धपिच्छाचार्य' है, आपने कुंदकुंद और उमास्वाति दोनोंको एकही व्यक्ति समझ लिया हो और इसी लिये

* ततोऽभवत्पंचसुनामधामा श्रीपद्मनंदी मुनिचक्रवर्ती।
आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दीति तन्यते॥
—नन्दिसंघगुर्वावली।

तत्वार्थसूत्रके कर्तृत्वरूपसे कुंदकुन्दका नाम दे दिया हो। यदि ऐसा है, और इसी की सबसे अधिक संभावना है, तो यह स्पष्ट भूल है। दोनोंका व्यक्तित्व एक नहीं था। उमास्वाति कुंदकुंदके वंशमें एक जुदे ही आचार्य हुए हैं, और वे ही गृद्धपत्रों की पीछी रखने से गृद्धपिच्छ कहलाते थे। जैसा कि कुछ श्रवणबेल्गोलके निम्न शिलालेखोंसे भी पाया जाता है:—

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः। तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥
तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुन्दोदितचंडदंडः
अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन
समाणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान्
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छं॥

यहाँ शिलालेख नं० ४७ में कुंदकुंदका दूसरा नाम 'पद्मनंदी' दिया है और इसी का उल्लेख दूसरे शिलालेखों आदि में भी पाया जाता है। बाकी पट्टावलियों (गुर्वावलियों) में जो गृद्धपिच्छ, एलाचार्य और वक्रग्रीव नाम अधिक दिये हैं उनका समर्थन अन्यत्र से नहीं होता। गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) की तरह एलाचार्य और वक्रग्रीव नामके भी दूसरे ही आचार्य हो गये हैं। और इस लिये पट्टावली की यह कल्पना बहुत कुछ संदिग्ध तथा आपत्ति के योग्य जान पड़ती है।

जुगलकिशोर मुख्तार

संशोधन और सूचन

गत माघ मास के 'अनेकान्त' पत्र में पं० जुगल किशोर जी का 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षक लेख छपा है, जो ध्यान देने योग्य है। उसमें से एक बातका संशोधन करना जरूरी है। उसमें कहा गया है कि, सिद्धिविनिश्चयका प्रभावक ग्रन्थके रूपमें श्वेताम्बरीय साहित्य में निर्देश है और वही ग्रन्थ अकलंकदेव का है।

आज तक हम भी क़रीब २ ऐसाही समझ रहे थे। पर आजकल जो नये उल्लेख मिले और नया विचार हुआ इससे उस मन्तव्यमें परिवर्तन करना पड़ता है। बात यह है कि, जिस पुरातन श्वेताम्बरीय ग्रन्थ में सिद्धिविनिश्चयका प्रभावक रूपसे उल्लेख है, वह ग्रन्थ श्वेताम्बरों का 'निशीथचूर्णि' नामक है। यह चूर्णि विक्रमकी छठी शताब्दी के उत्तरार्ध और सातवीं शताब्दी के पूर्वार्धके मध्यवर्ती किसी समय रची गई है, यह अन्य सुनिश्चित प्रमाणोंसे सिद्ध है। इस चूर्णिमें निर्दिष्ट सिद्धिविनिश्चय अकलङ्कदेवका तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वे उक्त चूर्णिके रचयिता जिनदास गणि महत्तरके बादही हुए हैं। अतएव चूर्णिसूचित सिद्धिविनिश्चय अकलंकका नहीं। यह अन्य किसीका रचा होना चाहिये और वे अन्य संभवतः श्वेताम्बरीय विद्वान् होंगे। इस संभावना के मुख्य दो कारण हैं—एक तो श्वेताम्बरीय किसी ग्रन्थमें निश्चित दिगाम्बरीय ग्रन्थका प्रभावकके तौर पर अन्यत्र उल्लेख न मिलना। दूसरे सन्मतितर्क जो श्वेताम्बरीय प्रतिष्ठित ग्रन्थ है उसके साथ और उससे पहले सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख होना।

इसमें शक नहीं कि एक नामके अनेक ग्रन्थ अनेक विद्वानोंके द्वारा रचे जाते थे। कुछ बौद्ध-साहित्य देखने से यह पुष्ट कल्पना होती है कि सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय आदि नाम बौद्ध-साहित्यमें से ही जैन विद्वानों के द्वारा लिये गये हैं। आश्चर्य नहीं कि पहले सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ किसी श्वेताम्बर विद्वान् ने रचा होगा जो सिद्धसेनकृत सन्मतितर्कसे कुछ पुराना अवश्य होगा। इसके बाद अकलंकदेवने भी सिद्धिविनिश्चय रचा हो। हाँ, सिद्धिविनिश्चयटीका की जो लिखितप्रति पुरातत्त्वमंदिरमें मौजूद है उसका विशेष अंतरंग परीक्षण अब करना होगा और उससे यह मालूम करना होगा कि क्या वह सिद्धिविनिश्चय वस्तुतः चूर्णिनिर्दिष्ट है या अकलंकदेव-विरचित है? अथवा चूर्णिदिष्ट एक ही सिद्धिविनिश्चय पर अकलंकदेवकी कोई छोटी भाष्यवृत्ति है, जिस पर अनन्तवीर्यकी यह लंबी टीका है*।

पंडितजीके उक्त खोज-विषयक लेखमें कहा गया है कि 'किसी सेठ ने सन्मतितर्कके उद्धारार्थ २५ या ३० हजार जितनी बड़ी रकम गुजरात-पुरातत्वमंदिरको दी थी, ऐसा सुना गया है' परन्तु ऐसी बात नहीं है। सन्मतितर्कका सब खर्च गुजरातविद्यापीठने किया है और कर रहा है। अलबत्ता इस कार्यमें बाहरसे अनेक प्रकार की मदद जरूर मिली है, अब भी मिलती है। अनेक विद्वान सहृदय मुनियोंने इस कार्यके लिए ग्रन्थोंकी, बुद्धिकी, शरीरकी और थोड़ी बहुत धनकी भी मदद की है तथा कराई है। अनेक साहित्यप्रेमी गृहस्थोंने भी वैसी ही मदद बड़े भाव से की है, जिसका सूचन उस उस भागके प्रारम्भमें छप चुका है।

दिगम्बरसंप्रदायमें विद्वानोंकी संख्या बड़ी है, वह काम भी चाहती है। पुरातन महत्त्वपूर्ण साहित्य दिगम्बर-परम्परामें कम नहीं है। पंडितगण निरर्थक विक्षेपोंको छोड़ विद्याका कार्य लेलें तो धन और शक्ति नाशमार्गमें न लगकर पवित्र काममें लगे।

ता०१०-२-३०] सुखलाल तथा बेचरदास

* अनन्तवीर्य आचार्यकी टीका जिस 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थ पर है वह अकलंकदेव का मूल ग्रन्थ है, यह बात टीका के निम्न प्रारंभिक पद्यों से स्पष्ट जानी जाती है:—

अकलंकं जिनं भक्त्या गुरुं देवीं सरस्वतीं।
नत्वा टीकां प्रवक्ष्यामि श्रद्धां सिद्धिविनिश्चये ॥ १ ॥
अकलंकवचः काले कलौ न कलयापि यत्।
नृषु लभ्यं क्वचिल्लब्ध्वा तत्रैवास्तु मतिर्मम ॥ २ ॥
देव स्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः।
न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥ ३ ॥
अकलंकवचोऽम्भोधेः सूक्तरत्नानि यद्यपि।
गृह्यन्ते बहुभिः स्वैरं सद्रत्नाकर एव सः ॥ ४ ॥
सर्व धर्म [स्य] नैरात्म्यं कथयन्नपि सर्वथा।
धर्मकीर्तिः पदं गच्छेदाकलंकं कथं ननु ॥ ५ ॥

यहाँ, टीकाकारने पहले पद्यमें अकलङ्कदेव को खास तौर से नमस्कार किया है और जिस ग्रंथ की टीका लिखने की प्रतिज्ञा की है उसका नाम 'सिद्धिविनिश्चय' दिया है—न कि कोई भाष्यवृत्ति। दूसरे पद्यमें अकलङ्कदेवके वचनों का दुर्लभपना प्रकट किया है और उनके प्रति अपनी असाधारण श्रद्धा व्यक्त की है। तीसरेमें इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि अनन्तवीर्य होकर भी मैं अकलङ्कदेवके शास्त्रको पूरी तौरसे व्यक्त करना नहीं जानता हूँ। चौथेमें अकलङ्कदेवके वचन समुद्रसे बहुतोंने सूक्त रत्न ग्रहण किये हैं और वह वास्तवमें रत्नाकर है, ऐसा प्रकट किया है। और पांचवें पद्यमें यह कहा गया है कि सर्वथा सर्वधर्मके नैरात्म्यका कथन करने वाला धर्मकीर्ति (बौद्धगुरु जो कि अकलङ्कदेवके समकालीन था) अकलङ्कदेवके पद को कैसे पहुँच सकता है? इस सब कथन पर से इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि मूल 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रंथ अकलङ्कदेव का बनाया हुआ है। हो सकता है कि निशीथचूर्णि-वर्णित 'सिद्धिविनिश्चय' कोई दूसरा भी हो, बशर्ते कि चूर्णिके निर्माण का जो समय अनुमान किया गया है वह ठीक हो और चूर्णिमें वह उल्लेख कोई क्षेपक न हो—'जीतकल्पचूर्णि' की टीका परसे ही किसीके द्वारा उद्धृत न किया गया हो।

—सम्पादक

विद्युच्चर

ले०—श्री० जैनेन्द्रकुमारजी

(११)

पद्म कुमारके बराबर ही पलंग पर बैठी है। वह अपनी योग्यतामें संदेह नहीं करती। विनय और कनक ने चरणों के पास बैठ कर ही अपना स्थान अधिकृत करना उचित समझा है। और रूप, विनय और कनक के बीच में, झूठ मूँठ अपना मुँह छिपा कर, ऐसी सिमटती-हुई बैठी है कि मानों आधी विनय और आधी कनक में बँट कर, लुप्त हो रहना चाहती है।

सब स्तब्धता है। समय भी, जाते-जाते, मानों उत्सुक, अवसन्न इनकी बातचीत सुनने की प्रतीक्षा में ठैर गया है।

बालाओं को बोल सूझता नहीं; और कुमार रूप पर विस्मित हो रहे हैं। —कैसी अल्हड़ है यह रूप! जब देखना और दीखना चाहिये तभी मुँह दुबकाती है! देखती नहीं तो अपने को तो दीखने दे, अपने को तो दिखाये! पर वह इन सब मोहनीय व्यापारों से, अपने अल्हड़पन में, विमुख होकर बैठ रही है!—कुमार रूप के इस रूप पर विमुग्ध और मानों लुब्ध हैं। विमोह और लोभ से छुट्टी पायें तब तो कुछ कह पायें। उनकी दृष्टि शेष सब ओर से हठात् फिसल-फिसल कर, अवगुंठनावृत उसी मुख की ओर जाती है जो अपने को प्राणपण से उस दृष्टिसे ओझल रखना चाहता है। पद्म, विनय और कनक जो आमंत्रण देती हुई, भोज्य से सजा कर अपना थाल लिये खड़ी हैं, जो थाल सामने ही, प्रणय से अभिषिक्त और आकाँक्षा से उद्दीप्त होते हुए, खुले धरे हैं; जो बस यह जोह रहे हैं कि कब वे स्वीकृत हों और धन्य हों,——कुमार की दृष्टि उन पर पड़ती है, पर हट-हट कर, उस रूपके अवगुंठन का पार पाने की चेष्टा करने के लिये भाग छूटती है।

यह मनुष्य का स्वभाव कैसा है? सहज-प्राप्य की प्राप्तिको रास्ते में ही छोड़कर वह क्यों अपनी चेष्टाएँ अप्राप्य और दुष्प्राप्य पर ही गाड़ता है? चेष्टाएँ जब व्यर्थ होती हैं, तभी वह क्यों सचेष्ट होता है? या चेष्टाको व्यर्थ करने के लिये ही सचेष्टता की आवश्यकता है?

पर रूप अपने आवेष्टन के भीतर यों ही बंद रहेगी। प्यास को उकसा कर खुद लुक रहना, इस तरह उत्सुकताको उत्सुक रखना और खिझाते रखना, विधाता जिसको रूप देता है उसको यह स्वभाव भी क्यों देता है—कुमार खिझ-खिझ कर यह सोचते हैं। —कैसी जुगत से चारों ओर से आवरण कस कर लपेट हैं कि उँगली के नख का आभास भी तो नहीं मिल सकता। —वह उंगली का नख—नन्हा-नन्हा, गुलाबी सा—कैसा होगा?

इधर रूप का दुबकना निरपेक्ष है, यह हम नहीं मानेंगे। वह तो कुमार के लिये ही यों दुबक रही है, उतनी कुमार से लुकने के लिये शायद नहीं। कोई उसके भीतर से कह रहा है—कुमार की दृष्टि उसी के सिर पर पड़ी ओढ़नी के सिरेके चारों ओर मडरा रही है, कि कैसे भी भीतर आनेका कहीं मौक़ा मिल जाय। इसी विश्वास में रस है, और रूप उसी रस को यों दुबकी-दुबकी चूस रही है। वह भीतर-ही-भीतर बड़ी मगन है। उसका सारा मन जैसे कुमार के मन के भीतर पैठ रहा है और कुमार के मन की खिजलाहट और उत्कंठा को पाकर उसके साथ खेलने, उसे खिझाने और रिझाने, में आनंद ले रहा है। दुनिया का मूल्य पाकर भी वह घूंघट नहीं उघाड़ेगी, उघड़ने पर आनन्द बिखर जायगा। वह अपने परिवेष्टन से परिबद्ध करके उसे संचय करने में लगी है।

पर देखें तो कुमार कैसे हैं?—यों तो लुकी-छिपी नजरसे एकसे अधिक बार कम-ज्यादा उन्हें देख चुकी

हैं, पर अब कैसे लग रहे हैं, यह भी जरा देख लेना चाहिये।

जहाँ-तहाँ से, यत्नपूर्वक, जो ओन्नी में सिकुड़न पड़ने लगी, और किसी विशिष्ट बिन्दु पर अवकाश छूटने लगा कि... फिर वह ओन्नी झटपट तान ली गई, और वस्त्रावृत मुख झुमक कर नीचे हो गया..

चौकसी देती हुई कुमार की दृष्टि ने यह देखा— बोले—'हाँ, हाँ, इसमें क्या हर्ज है ?'

किंतु रूप के लिये तो बहुत बड़ा हर्ज है। वह कैसे कपड़ा हटादे ?—फिर तो उसके गड़ने के लिये सामान हो जायगा। रूप, इसलिये, और कपड़े को चिपटाकर और शरीर को सिमटा कर बैठ गई।

पद्म बोली—'रूपश्री, ये क्या करती हो ? शऊर भी नहीं है। और सबकी तरह से ठीक से क्यों नहीं बैठती।'

इसी तरह की कुछ बातें विनय और कनक के मन में से निकलीं। मनसे निकलीं, मुंह में रह गईं। मुंह से निकली नहीं तो मुंह की भंगी को जरा खट्टा बना गईं।

कुमार ने कहा—'यह रूप तुम्हारी सहेली, तुम सबसे अलग है। मालूम होता है रूठी है। क्यों ?

तीनों को इस निर्मूल आक्षेप का प्रतिवाद करने की जल्दी हो आई। तीनों ने जो कहा, तीखापन नष्ट करके, उसका भाव यह है— 'रूठने की कोई बात भी ?'

कुमार—बिना बात के ही रूठना सही। पर अब मना तो लो।

जब रूठना ही संदिग्ध है, तब मनाने का निश्चय क्यों किया जाय। इस अनावश्यक कार्य के लिये वे तीनों तैयार न थीं।

कुमार—मनाने में क्या हर्ज है। फिर वह तो छोटी है। छोटे, न रूठें तो भी, मनने के लिये यों बन जाते हैं। ...तो, मना न लो उसे।

फिर वही बात ! यह कार्य नितांत अनावश्यक है। और अप्रिय है। और जब कुमार इसके लिये आग्रह करते हैं, तब तो अप्रियता कटु हो जाती है। वे तीनों क्यों कर यह काम कर सकती हैं। ऐसी ही सब आपत्तियों को स्त्री-भाषा में पेश किया गया।

लेकिन कुमार को भी क्या सूझा है—

"कुछ कहो, कुछ हर्ज तो मुझे दीखता नहीं।"

तब कुमार को यह मान लेने को कहा गया कि रूप का स्वभाव ही ऐसा है, और उस पर कुमार क्यों व्यर्थ समय खोयें।

"लेकिन मैं तो चारों से बात करना चाहता हूं।"

तीनों की प्रतिनिधि होकर पद्म ने ही उत्तर दिया—

"चौथी का जिम्मा हम पर क्यों पड़े ?"

"जब मुझे केवल तीनसे कुछ कहना ही न हो तो ?'

"तो मनाओ उसे। हमें क्यों बैठाल रक्खा है।"

"लेकिन तुमसे उतना ही कहना है जितना उससे।"

"पर उसे सुनना भी हो। यों तो बैठी है, और तुम उसके पीछे ही पड़े जाते हो। कहते हैं,छोड़ो उसे, वह आप सुनेगी। पर नहीं,...सुनाना तो उसे है, हमें क्या। ... हम क्या ..." "३"

और वाक्य को यों बीच में तोड़ कर शेष बात दृष्टि से और भंगी से और पैना कर कही गई और कुछ-कुछ...

इस तरह वातावरण में आर्द्रता-सी ले आई गई।

पर कुमार के सामने एक ही बिंदु है। कहा—

'नहीं-नहीं। यों कैसे बैठेगी ? योंही बैठे रहने से तो काम चलेगा नहीं।' और स्नेह में थोड़ी हुक्म की ध्वनि भर कर कहा—'रूप ! —देखो।'

रूप, देखने के बजाय देखने को और असंभव बनाकर, सकुच गई।

कुमार ने तब औरों से कहा—'तो तुम लोग सचमुच सहायता नहीं करोगी ?'

पद्म उत्तर में बोली—'तुम बहुत उस रूप से बोलना चाहते हो तो बोल क्यों नहीं लेते। ...हाँ—लो...।'

इस संक्षिप्त 'हाँ-तो' में पद्मा ने न जाने क्या क्या भर दिया। अवज्ञा भी, उत्कंठा भी। भर्त्सना भी, चाहना भी।

लेकिन कुमार उस तारे से खिंच रहे हैं, जो अपनी चमक को झिलमिली, अंधेरे-की-परत में से झंका दिखा कर, और भी चमकीला बना कर, गुप चुप, मानों हँस रहा है। कहा—

'तो फिर अपनी सहायता मुझे आप करनी होगी।' और कह कर पलंग से उतर आये, तनिक बढ़के दोनों हाथों से रूप की श्री को निरावृत कर दिया।

रूपकी वह अरुण श्री काँपती, सहमती, मानों उस खुले मुख पर कोई ओटकी जगह पाने के लिये चक्कर खाती घूमने लगी। कपोल सिंदूरिया हुए, फिर लाली ओठों पर दौड़ आई, पलकों ने तारों को कसकर मींच लिया, वदन पर पुलक और रोमाँच प्रगट हो आया। ... आह, ओह, नहीं...,—मानों यही कहती हुई वह रूपश्री गड़ कर खत्म हो जाना चाहती है।

(१२)

दीक्षा ले जाने को उद्यत कुमार को इतने आग्रह-पूर्वक रूप को स्पष्ट देखने का लोभ क्यों हुआ?

अंधे होने से पहले किसी उन्मत्त को भरी-दुपहरी के सूरज की ज्योति देखने का लालच क्यों होता है? जब आँखें अंधी हो जायँगी तो सूर्य-रश्मि से फिर संबंध ही उसका क्या रहेगा, फिर भी दिव्य-प्रकाश के प्रति आँखों का मोह क्यों है? चाहे आँखें फूटे ही क्यों न, फिर भी क्यों चाह होती है कि फूटने से पहले एक बार बहुत-से प्रकाशको खींच कर भीतर संचित कर लिया जाय? जिससे संबंध टूटना है और तोड़ना है, उसी को इतने निकट लाकर, स्पष्ट, प्रत्यक्ष देखनेकी ममता क्यों?

इस शाश्वत क्यों का उत्तर हम क्या दें? और कोई क्या दे? लेकिन निकट लाये बिना स्पष्ट दीखता नहीं, स्पष्ट देखे बिना सांत्वना नहीं मिलती, अवबोध नहीं प्राप्त होता, अवबोध के बिना फिर अपना और उसका अंतर ठीक-ठीक नहीं जान पड़ता—इसी प्रकार की शृंखला के जरिये दूर करनेके लिये पास लाने की आवश्यकता हो जाती है। बससे जाती है—'क्यों' का झंझट अंतिम सत्य (absolute fact) के बाद नहीं चलना चाहिये।

रूप जब तक दूर है, जब तक झिलमिला होकर, छिपकर, लुककर, लजा कर, पूर्ण रूपसे अपने आपको सामने प्रत्यक्ष नहीं होने देता, तब तक उसका आकर्षण अनिवार्य है। घूंघट में बंद रूप की ओर कुमार की दृष्टि हठात् न पहुँचे, यह वैज्ञानिक असंभावना (physical imposibility) है। तब तक चैन नहीं मिलता, क्यों कि सम्पूर्ण-ज्ञान और सम्पूर्ण-अनुभूति में ही चैन है। असम्पूर्णता में चैन का अभाव है। निश्चयरूप में कहना कठिन है कि उन कन्याओं में रूपश्री, पद्मा, विनय और कनक आदिसे सुंदर थी। विशेष कर पद्मा आदि सौंदर्य को परिष्कृत और परिसज्जित करके प्रस्तुत थीं। किंतु रूप के संबंध में अप्राप्य के आकर्षण ने जो रूपश्री के सौंदर्यको लावण्य और स्पृहणीयता प्रदान कर दई, उसी ने स्वामी के अंतर को कुरेदने में सफलता पाई।

और यदि रूप का घूँघट न खुल पाता तो कुमार की दीक्षा का निश्चय कहाँ तक ठैरता, कहना कठिन है।

और यदि कुमार उस रूपकी वस्त्रावृत श्री की ओर इतनी विवशता और प्रगल्भता से आकृष्ट न होते, तो उन्हें, इतनी उच्छृंखलता और लालच से उसका घूंघट खोलने का अवसर आता या नहीं, इसमें संदेह है।

× × ×

घूंघट खुलने पर भरपूर देखा, चाह की धार इस बीच थोथरी हो गई, कुमार ने कहा—

'रूप, इसी को तुम छिपाती थीं? छिपाने की क्या बात है? यह तो प्रदर्शन के योग्य वस्तु हो सकती है। या तुमने समझा, इसके प्रदर्शन का यही तरीक़ा है। जैसे सहसा खुल कर रत्न सामने नहीं आते,—प्रदर्शिनियों में उनके मखमल के बक्स ही सजा कर रक्खे जाते हैं। लेकिन जिनको रत्न मिलते हैं, वे क्या उन्हें मखमल में ढके-ढके देख कर ही संतुष्ट हो लें?— सो तुम नाराज़ तो नहीं हो न। ...अच्छा सुनो।

× × ×

'घूँघट के पट खोल री, तोहि राम मिलेंगे।' —कबीर

(क्रमशः)

जैनों की अहिंसा

[ले०—श्री० व्याख्यानवाचस्पति पं० देवकीनंदनजी. सिद्धान्तशास्त्री]

महात्मा गान्धीने जबसे देशोद्धारके लिये बिगुल बजाया है और उसका साधन अहिंसाको बताया है, तबसे भारत का लोकमत हिंसा-अहिंसा के स्वरूप समझने में सजग हो रहा है। और उसकी उपयोगिता—अनुपयोगिताके विषय में ऊहापोह करने लगा है। जैनधर्मानुसार अहिंसा तत्त्वका खास महत्व है—वह उसका एक उत्तम सिद्धान्त है। जब उसकी सम्यक् आराधनासे आत्मा परमात्मा हो सकता है—कर्मबन्धन से छूट सकता है—तब अन्य राष्ट्रीय पारतंत्र्य से छूटना कौन बड़ी बात है? वह तो अहिंसाकी सम्यगाराधना के द्वारा सहज साध्य है। अतः आज जैनदृष्टिसे अहिंसाविषयमें ही कुछ विचार प्रस्तुत किया जाता है।

प्रमादके योगमें प्राणोंके व्यपरोपणको 'हिंसा' कहते हैं *। 'प्रमाद' शब्दका अर्थ काम-क्रोधादिक विकार, 'प्राण' शब्दका अर्थ आत्माके स्वाभाविक विवेक आदि सद्गुण, और 'व्यपरोपण' शब्द का अर्थ घात है। अर्थात् क्रोधादि विकारोंके योगसे आत्माके विवेकादि गुणों का जो घात होता है उसे हिंसा कहते हैं। हिंसा के द्रव्य और भाव के भेद से 'द्रव्यहिंसा' और 'भावहिंसा' ऐसे दो भेद हैं, और ये भी फिर स्व-पर के भेदसे दो दो भेदरूप हो जाते हैं। इनमें से भावहिंसा की साधक बाह्य क्रियाओंको अथवा द्रव्यप्राणोंके घात को 'द्रव्य-हिंसा' और उसके निमित्तादि से रागादिक भावों की उत्पत्ति होकर जो भावप्राणों का घात होता है उसे 'भावहिंसा' कहते हैं। वास्तव में यह भावहिंसा ही हिंसा है, बिना भावहिंसा के कोरी द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कही जाती × है। अस्तु; इस हिंसाके न होनेका ही नाम अहिंसा है। यह अहिंसा श्रावक और यतियों के भेद से दो प्रकार की है। राष्ट्रोद्धारका मुख्य संबंध गृहस्थाश्रममें होनेके कारण इस लेखमें श्रावकों अथवा गृहस्थधर्म के अनुरागी जैनोंकी अहिंसा पर ही विचार किया जाता है।

* "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।"

—तत्त्वार्थसूत्र।

× "अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

गृहस्थाश्रम में दो प्रकार की हिंसा हो सकती है एक आरम्भजा और दूसरी अनारम्भजा। आरंभजा हिंसा कूटना, पीसना, रसोई आदि गृहिकर्मों के अनुष्ठान तथा आजीविका के उपार्जन आदिसे सम्बन्ध रखती है, और अनारम्भजा हिंसा गृहस्थों के योग्य आरम्भ को छोड़ कर शेष मन-वचन-कायके संकल्प-द्वारा होनेवाले त्रस-जीवोंके घातको अपना विषय करती है। और इस दूसरी हिंसाको संकल्पी हिंसा भी कहते हैं।

आरम्भजा हिंसा का त्यागना गृहस्थ-जीवन की दृष्टि से अशक्य है। इसी लिये, वैसा जीवन व्यतीत करते हुए, गृहस्थाश्रममें उसके त्यागका आम तौर पर विधान नहीं है †। बल्कि एक जगह तो गृहस्थधर्मका वर्णन करते हुए यहाँ तक लिखा है कि—

सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते ।
विशिष्येते परं भावावत्र मुख्यानुषङ्गिकौ ॥
अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥

—यशस्तिलक, उ० पृ० ३३५

अर्थात्—'ऐसी कोई भी क्रिया नहीं है जिसमें हिंसा न होती हो; परन्तु यहाँ पर मुख्य और आनुषंगिक भावों की विशेषता से विशेष है (उसी के आधार पर हिंसा-अहिंसाकी व्यवस्था की जाती है)। एक मनुष्य दूसरे प्राणीका घात न करते हुए भी हिंसापरिणाम के कारण पापी होता है और दूसरा अन्य जीवों का घात करते हुए भी हिंसा परिणाम की मुख्यता न होने से पापका भागी नहीं होता—अथवा हिंसक नहीं कहलाता; जैसे धीवर और किसान। धीवर जिस समय जाल हाथ में लेकर मछलियाँ पकड़ने के लिये जाता है उस समय बाह्यमें हिंसा न करते हुए भी हिंसापरिणामकी मुख्यताके कारण वह हिंसक है और किसान खेतको जोतने तथा खेती-संबंधी अन्य आरंभों के करने में प्रचुर जीव घात करते हुए भी उन जीवोंके घात का मुख्याभिप्राय न रखने से अहिंसक है।' इसी से गृहस्थोंके लिये जीवनोपायके रूपमें कृष्यादि कर्मों के अनुष्ठानका विधान है। युगकी आदि में खुद भगवान् ऋषभदेवने प्रजाजनों को उसकी शिक्षा दी है; जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के निम्न वाक्य से भी प्रकट है :—

"प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

—स्वयंभूस्तोत्र।

गृहस्थों की आजीविका छह प्रकार की × है, जिनमेंसे असिवृत्ति भी गृहस्थ की एक आजीविका है, और उसका प्रधान लक्ष्य है सेवा †। इसी से उसके करते समय जो शस्त्र उठाये जाते हैं अथवा स्वाभिमान की रक्षाके लिये प्रयत्न किये जाते हैं वे सब अपने तथा अन्य दीन-दुर्बलोंके प्रति होने वाले अन्याय-

---

† "हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरंभानारंभजत्वतो दक्षैः।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते तां च ॥
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायप्रवर्तितारम्भः।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियमात्"॥

—उपासकाचारे, अमितगतिः।

× असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥

—आदिपुराणे, जिनसेनः।

† "तत्रासिकर्म सेवायां"

—आदिपुराणे, जिनसेनः।

अत्याचार के परिमार्जनके लिये ही होते हैं। इसलिये उचित कोटिके अन्तर्गत होने से उन्हें गृहस्थाश्रम में अत्याज्य बतलाया है। उनसे मानसिक विकार-परम्परा का एक प्रकारसे अभाव होता है, आत्मिक विकासको अवसर तथा उत्तेजन मिलता है और आदर्श पुरुषत्व का आविर्भाव होता है। ऐसे ही पुरुषत्व से विशिष्ट अन्याय-प्रतिशोधक वीरोंकी छत्र-छायाका लोग आश्रय लेते हैं और उनके अनुयायी बनकर एक ऐसे बलवान समुदायकी सृष्टि कर डालते हैं जिसके द्वारा दुर्बलोंको बल प्राप्तहोकर अविवेक तथा अन्याय-पूर्ण कृतियोंका सत्यानाश होता है अथवा अन्याय-परम्पराका उच्छेद होता है। ऐसे ही पुरुषों का पुरुषत्व दीन-दुर्बलों के भयभीत अन्तःकरण में होने वाली क्लेश-परम्परा का उद्धार करता है, इसीसे उसको दयाभाव कहा गया है *। सारांश, गृहस्थाश्रम में वीरों की इस न्यायानुरूप प्रवृत्तिको उचित और व्यापक दयाका आसन प्राप्त है। जो इस भावकी रक्षा न करते हुए वैयक्तिक दया का स्वांग करते हैं वे गृहस्थ वास्तवमें दयालु-पद के अधिकारी नहीं हैं। दया की समीचीन मर्यादा को ठीक न समझने के कारण ही पृथ्वीराजने महोम्मद गोरी को छोड़कर निःसन्देह वैयक्तिक दया का दुरुपयोग किया था और उससे राष्ट्र को भयंकर हानि पहुँची है।

इस विषय में सोमदेवाचार्यका निम्न वाक्य भी खास तौरसे ध्यान में रखने योग्य है—

> यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्
> यः कण्टको वा निजमंडलस्य।
> अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति
> न दीन-कानीन-शुभाशयेषु ॥
>
> —यशस्तिलक उ० पृ० ९६

इसमें बतलाया है कि—'जो रणाङ्गणमें युद्ध करने को सन्मुख हों अथवा अपने देशके कंटक—उसकी उन्नतिमें बाधक—हों क्षत्रिय वीर उन्हीं के ऊपर शस्त्र उठाते हैं—दीन, हीन और साधु आशय वालोंके प्रति नहीं।'

इससे यह साफ़ ध्वनित होता है कि दीन, हीन तथा शुभाशय वालोंपर शस्त्र उठाना जैसे अन्याय एवं हिंसा है वैसे ही अपने देशके कंटकों (शत्रुओं) पर उसका न उठाना भी अन्याय और हिंसा है। अन्याय का सदा ही प्रतिरोध होना चाहिये, प्रतिरोध न होनेसे अन्याय बढ़ जाता है और उसके कारण धर्म-कर्म के अनुष्ठानकी सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है अथवा उसके आचरणमें बाधा उपस्थित होती है। अतः किसी भी प्रकार की आजीवका के करते समय न्यायमार्गका कभी भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये।

पं० आशाधरजी ने गृहस्थ-धर्मकी पात्रताके लिए जिन गुणोंका होना आवश्यक बतलाया है उनमें भी न्यायपूर्वक आजीविका को प्रथम स्थान दिया है ※। और यह ठीक ही है; क्योंकि आजीविकाके उपार्जन करते समय, जिसमें कि गृहस्थोंके उपयोगका बहुभाग लगा रहता है, जिन व्यक्तियों का चित्त उचित अनुचित का खयाल नहीं रखता उनका चित्त स्वच्छ तथा

* "दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम्।
—यशस्तिलके, सोमदेवः।

※ न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून्सद्गीस्त्रिवर्गं भज-
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥

विवेकवान नहीं रह सकता, और जब चित्त विवेक से रहित होता है तब फिर वह कैसे धर्मध्यान का अधिकारी हो सकता है ? अतः आजीविका की प्राप्ति में न्यायमार्ग का ध्यान रखना पहला कर्तव्य है। सब आजीविकाओं में क्षत्रियवृत्ति (असिकर्म) को प्रथम स्थान दिया है, वह दुर्बलोंके ऊपर होने वाले अन्यायों की रक्षाका साधन है, इसी लिये उपादेय है। जो विवेकपूर्वक उसका आचरण करते हैं वे जग को अभयदान के दाता हैं, दुर्बलों के आत्मविकास और उत्थान के साधक हैं। अत एव उनकी वह क्षत्रियवृत्ति अहिंसा की पोषक ही है—घातक नहीं। घातक तो वह तब हो जाती है जब कि उनके मदोन्मत्त होने पर उनकी अनुचित अधिकार-लोलुपता, मनोविनोद के लिए आखेट खेलना, दुर्बलों का सताना और अपने कर्तव्यमें प्रमाद करना आदि बढ़ जाते हैं। इसी लिये जैनाचार्यों ने "निरर्थकवधत्यागेन क्षत्रिया व्रतिनो मताः" जैसे वाक्यों द्वारा निरर्थक वध त्यागको ही क्षत्रियोंका अहिंसाव्रत कहा है—सार्थक अथवा सापराध जीवोंके वध त्यागको नहीं। इसीसे जैनी राजा अपराधियों के लिये अनेक प्रकारके वध-बन्धनोंका विधान करते तथा युद्धोंमें लड़ते आये हैं। खेद है जबसे जैनियों ने इस क्षत्रियवृत्तिको छोड़ दिया है तभी से उनका पतन हो गया है और वे अपनेधर्म तथा समाजके गौरवको भी क़ायम नहीं रख सके हैं।

अब मैं यहाँ पर इतना और बतला देना चाहता हूँ कि विवेक-शून्य होकर दुर्बलों पर अत्याचार करना जैसे हिंसा है वैसे ही लौकिक स्वार्थवश स्वाभिमानको खोकर दूसरों के अत्याचार सहना भी हिंसा है। क्योंकि जिस प्रकार अन्याय करते समय क्रोधादि विकारों के आवेश में आत्माकी कोमलता तथा सदसद्विवेकबुद्धि आदि उत्तम गुणों का घात होता है उसी प्रकार अत्याचार सहनेमें भी स्वाभिमान का लोप होकर आत्मबल के तिरस्कार तथा भयके संचार और कायरता आदि के प्रादुर्भाव के कारण सदसद्विवेकबुद्धि आदि आत्मा के सद्गुणोंका घात हो जाता है। इस लिये गृहस्थोंके इस अत्याचारसहन को भी हिंसा ही कहते हैं। और इस कहने में तो कुछ भी आपत्ति मालूम नहीं होती कि अहिंसक पुरुषमें ही वास्तविक पुरुषत्व प्रकट हो सकता है—हिंसक में नहीं। अहिंसक ही, वास्तव में, स्व-पर-अन्यायका विरोधी होनेसे वीर, विवेकी, सहिष्णु और उदार अन्तःकरण वाला व्यक्ति हो सकता है; उसे ही स्वयं अन्याय-पापाचरण न करनेके कारण संयम की, मनोनिग्रह-पूर्वक अनुचित तृष्णाओं के निरोध से तप की और दूसरे के ऊपर होने वाले अन्याय का परिहार करते रहने से विश्वबन्धुता की प्राप्ति होती है।

अतः गृहस्थधर्मोपयोगी अहिंसाके स्वरूपको ठीक समझ कर उसकी सम्यक् आराधना करनी चाहिये—बराबर उसके अनुष्ठान में लगा रहना चाहिये। इसीसे अपना और देशका उद्धार हो सकेगा।

भगवती आराधना और उसकी टीकाएँ

[लेखक—श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी]

(गतांक से आगे)

१–विनयोदया टीका

पूनेके भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधक मन्दिरमें इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ मौजूद हैं जिन्हें मैंने देखा है *। इन में से पहली सवाई जयपुर नगरमें संवत् १८०० में और दूसरी मथुरामें संवत् १८८५ में लिखी गई थी ×। इस टीकाके कर्त्ता अपराजित सूरि हैं। जो चन्द्रनन्दि नामक महाकर्मप्रकृत्याचार्य के प्रशिष्य और बलदेव सूरिके शिष्य थे, आरातीय आचार्यों के चूड़ामणि थे, जिनशासनका उद्धार करनेमें धीरवीर तथा यशस्वी थे और नागनन्दि गणिके चरणों की सेवासे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। श्रीनन्दिगणिकी प्रेरणा से उन्होंने यह विनयोदया टीका लिखी थी। ग्रन्थके आद्यन्त अंश नीचे दिये जाते हैं—

प्रारंभ—

ओं नमः सिद्धेभ्यः। दर्शनज्ञान चारित्रतपसामाराधनायाः स्वरूपं विकल्पं तदुपायसाधकान् सहायान् फलं च प्रतिपादयितुमुद्यतस्य (स्यास्य) शास्त्रस्यादौ मंगलं स्वस्य श्रोतॄणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूह-निराकृतौ क्षमं शुभपरिणामं विदधता तदुपायभूतेयमरचि गाथा सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिका।

अन्त—

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशकनमहौजसे
भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥ १ ॥
श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्धर्मांशवे तथा।
केवलज्ञानसाम्राज्यभाजे भव्यैकबान्धवे ॥२॥ +

चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्य-प्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेणापराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिना वचोदितेन रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदया नाम्ना समाप्ता ॥ छ ॥ एवं भगवती आराधना समाप्ता। इति श्रीभगवती आराधनाटीकायां श्रीविजयोदया नाम्ना समाप्ता॥ छ ॥ शुभंभवतु।

---

* नं०१११४ आफ़ १८९१-९५ और नं० १११५ आफ़ १८९१-९५

× उदयपुरके पास बाठरडा ग्रामके अग्रवालोंके जैनमन्दिर में कुछ प्राचीन ग्रन्थोंका भण्डार है। उसमें भी इस विनयोदया टीकाकी एक प्रति मौजूद है, जो संवत् १७८६ में सागवाड़ेमें लिखी गई थी। दि० जेठ बदी २ संवत् २४४६ के जैनमित्रमें ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने इसकी प्रशस्ति प्रकाशित की है। एक और प्रति बम्बई के 'ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन' में है, जो अपूर्ण है और हाल ही की लिखी हुई है।

+ ये दोनों श्लोक भगवती आराधनाकी भाषा वचनिकामें भी वचनिकाकारके पद्यबद्ध परिचयके बाद मुद्रित हैं।

संवत् १८८५ वर्षे श्रीसूर्ये उत्तरायणे हेमन्तऋतौ महामांगल्यप्रतिमरसोत्तममासे पौषमासे शुभे शुक्लपक्षे तिथौ तृतीयायां ३ गुरुवासरे धनिष्ठानक्षत्रे सिद्धयोगे तद्दिनसमाप्तमिदम् श्रीभगवती आराधना शास्त्रं । छ । श्री मथुरापुरे अंग्रेजराज्यप्रवर्त्तमाने । श्लोक संख्या १३००० । ×

दूसरी प्रतिमें आदि और अन्तके अंश इसी प्रमाण हैं। उसमें विजयोदयाकी जगह विनयोदया नाम टीका है और यही नाम शुद्ध मालूम होता है*। बाठरडा की प्रति में भी विनयोदया ही है। इस दूसरी प्रतिमें लेखककी प्रशस्ति इस प्रकार है—

"संवत् १८०० मिती आसोज वदि १२ आदितवार दिने शुभं लिषतं यती नैणसार श्रीसवाई जयपुर मद्धये: ॥ श्रीरस्तु।"

इस टीकाके कर्त्ता आरातीय आचार्यों में शिरोमणि थे। 'आरात' जिससे कि 'आरातीय' शब्द बना है, दूर और समीप दोनों अर्थों का द्योतक है। सर्वार्थसिद्धि टीका से मालूम होता है कि भगवान के साक्षात् शिष्य गणधर और श्रुतकेवलियों के बाद जो आचार्य हुए हैं और जिन्हों ने दश वैकालिक आदि सूत्र बनाये हैं, वे आरातीय कहलाते थे*। सर्वार्थसिद्धिवचनिकाके कर्त्ता कहते हैं—" वक्ता तीन प्रकार हैं। प्रथम तो सर्वज्ञ हैं तहाँ तीर्थंकर तथा सामान्य केवली बहुरि श्रुतकेवली। बहुरि तिनिके पीछले सूत्रकार टीकाकार ताई भये आचार्य तिनिकूं आरातीय ऐसा नाम कहिए।" इन्द्रनन्दिकृत 'श्रुतावतार' के अनुसार महावीर भगवान् के निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद तक—लोहाचार्य तक—अंग ज्ञान की प्रवृत्ति रही। उनके बाद

विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते ।
आरातीयाः यतयस्ततोऽभवन्नङ्गपूर्वधराः ॥ ८४

विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त नामके आरातीय यती हुए, जो अंग पूर्वों के एक देश के धारण करने वाले थे। इनके बाद आरातीय मुनियों का श्रुतावतार में अथवा अन्य किसी पट्टावली में कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि यह शब्द इतना संकुचित नहीं रहा होगा कि उन चार मुनियों तक ही सीमित रहे। सर्वार्थसिद्धि वचनिकाकारके कथनानुसार इन चारके बादके भी सूत्रकार टीकाकार आरातीय कहे जाते होंगे और अपराजितसूरि उन्हीं में से एक होंगे। यदि कोई ऐसा उल्लेख होता कि अमुक समय तक के ही आचार्य आरातीय कहलाते हैं, तो यह निश्चय होजाता कि

× नं० १११५ आफ़ १८९१-९५ वाली प्रति।

* क्यों शुद्ध मालूम होता है? यह भी यदि यहां बतला दिया जाता तो अच्छा होता। यदि महज़ दो प्रतियोंमें 'विनयोदया' और एक में 'विजयोदया' नाम उपलब्ध होने से ही ऐसा अनुमान कर लिया गया हो तो, वह ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि देहली की प्रतिमें भी 'विजयोदया' नाम है और और भी प्रतियोंमें उस नामके होनेकी संभावना है। मुझे तो 'विजयोदया' नाम ही ज्यादा ठीक मालूम होता है; क्योंकि एक तो इस ग्रन्थमें कई प्रकृतियों पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख है और दूसरे टीकाकार 'अपराजित' के नामके साथ भी इस नामका अच्छा सम्मेलन है। एक प्राचीन टीकाका 'विजयधवला' नाम भी 'विजय' शब्दके प्रयोग की उपयोगिताको कुछ अधिक सूचित करता है। —सम्पादक

* तदेतत् श्रुतं द्विविधमनेकभेदं द्वादशभेदमिति । किं कृतोऽयं विशेषः ? वक्तृविशेषकृतः । त्रयो वक्तारः । सर्वज्ञस्तीर्थंकरः इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति । ...तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृत्य ग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणं तत्प्रमाणं तत्प्रामाण्यात् । आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धं तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति । —अध्याय १ सूत्र २०

अपराजितसूरि अमुक समयके बाद नहीं हुए हैं; परन्तु ऐसा कोई उल्लेख देखने में नहीं आया। फिर भी यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे प्राचीन आचार्य हैं और उस आचार्यपरम्पारा में नहीं हैं जो श्रीकुन्दकुन्दाचार्यसे प्रारंभ होती है—उससे निराली कोई दूसरी ही परम्परा है और आश्चर्य नहीं जो उससे पहले की भी हो।

टीकाकारके गुरु बलदेवसूरि* चन्द्रनन्दि महाकर्म प्रकृत्याचार्य ×, नागनन्दि गणि और सधर्मा श्रीनन्दि-गणि आदि का भी समय मालूम नहीं है, जिससे उनके समयनिर्णयमें कोई सहायता मिल सके।

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे मालूम होता है कि नन्दि-देव आदिके समान अपराजित भी एक प्रकारकी संज्ञा (सरनेम) थी, जो आचार्योंके नामों के अन्तमें व्यवहृत होती थी। उसमें लिखा है कि जो यति गिरिगुहा से आये, उनमें से किसीको 'नन्दि' किसीको 'वीर' और जो प्रसिद्ध अशोकवाटसे आये उनमें किसी को 'अपराजित' और किसीको 'देव' बनाया‡। संभव है कि यह संज्ञा अपराजित सूरि से ही प्रारंभ हुई हो, अथवा अपराजित सूरि का पूरा नाम कुछ और हो, अपराजित केवल नामन्त संज्ञा हो।

पं० सदासुखजी ने भगवती आराधना की जिस संस्कृत टीका के आधारसे अपनी भाषा वचनिका लिखी है, उसे श्वेताम्बराचार्य कृत बतलाया है। परन्तु अभी तक किसी भी श्वेताम्बर भंडार में इस ग्रन्थ की टीकाका पता नहीं लगा है और न किसी श्वेताम्बर विद्वान से ही यह सुना कि उनके सम्प्रदाय के किसी आचार्यने इस ग्रंथ पर टीका लिखी है *। यद्यपि इस प्रकारकी टीका का होना असंभव नहीं है, परन्तु फिर भी पं०सदासुखजीके सामने वैसी किसी टीकका होना नहीं पाया जाता और न आपके निवास-स्थान जयपुरके शास्त्रभंडारसे ही उसकी उपलब्धि होती है। उनके सामने यही टीका थी, और यह बात नीचे लिखे प्रमाणोंसे भले प्रकार जानी जाती है।

(१) पूर्वोद्धृत गाथा नं०६६५, ६६६ का अर्थ देते हुए पं० सदासुखजीने जो यह बतलाया है कि, "इस ग्रंथकी टीका करनेवालेने 'उपकल्पयन्ति' का 'आनयन्ति' ऐसा अर्थ लिखा है, सो प्रमाण रूप नहीं" वह अर्थ इसी टीका में दिया हुआ है।

(२) गाथा नं०१६४४ का अर्थ देते हुए, जो एक पदका अर्थ समझमें न आनेके कारण नीचे लिखी संस्कृत टीका उद्धृत की गई है वह इसी टीकाका अंश है:-

* श्रवण बेल्गोलके सातवें शिलालेखमें धर्मसेनके शिष्य बलदेव गुरुके और पन्द्रहवें शिलालेखमें कनकसेनके शिष्य बलदेव मुनिके समाधिमरणका उल्लेख है। पहला लेख शक संवत् ६२२ के लगभग का और दूसरा ५७२ के लगभगका अनुमान किया गया है।

× श्रवणबेल्गोलके ५४ वें शिलालेखमें एक कर्मप्रकृति नामक आचार्यका उल्लेख है—

यशमर्मकर्मप्रकृति प्रथामावस्योप कर्मप्रकृतिप्रमोक्षः।
तथाभिन कर्मप्रकृतिकमामां भट्टारकं दष्टकृतान्तपारम् ॥ २२ ॥

‡ प्रथितादशोकवाटात्समागता ये मुनीश्वरास्तेषु।
कौश्चिदपराजिताख्यान्कांश्चिद्देवाह्वयानकरोत् ॥ ६४

* इस टीकासे पहले इस ग्रन्थ पर दूसरे (श्वे०) सम्प्रदाय वालों की भी कोई टीका थी, ऐसा पहली गाथाकी निम्न टीकासे साफ़ ध्वनित होता है:—

"सिद्धे जयप्प सिद्धे इत्यादिका—अत्रान्ये कथयन्ति निरस्तविषयस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य क्षीणायुषस्साधकस्याराधनाविधानावबोधनार्थमिदं शास्त्रं तस्याविप्रसिद्धयर्थमियंमंगलस्य कारिका यथिते (?) असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयत-प्रमत्तसंयताऽप्रमत्तसंयतादयोऽप्यत्राराधका एव सतिमुच्यते निरस्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य यतिनाऽसंयत सम्यग्दृष्टेः संयतासंयतस्य वा निरस्तविषयरागता सकल ग्रन्थपरित्यागो वास्ति क्षीणायुष इतिचानुपपन्न अक्षीणायुषोऽप्याराधकतां दर्शयिष्यति सूत्र- "अणुलोमा वा सत्तू चारित्तविणासया हवे जस्संति।" —सम्पादक

"णासदि बुद्धी— बुद्धिर्नश्यति, आहार-लम्पटतया युक्तायुक्तविवेकाकरणात् । कस्य ? जिह्वावशस्य । तीक्ष्णाऽपि सती पूर्वं बुद्धिः कुण्ठा भवति । रसरागमलोपप्लुता अर्थयाथात्म्यं न पश्यंतीति पारशीकल्केशलग्न [लिंग] इव भवति पुरुषोऽनात्मवशः ।"

(३) गाथा नं० १५७५ की बाबत पं० सदासुखजी ने जो यह लिखा है कि "इस गाथाका अर्थ हमारे जाननेमें नहीं आया वा टीकाकार हू नहीं लिख्या है।" वह भी इसी टीकासे सम्बंध रखता है; क्योंकि इस टीकामें वस्तुतः इस गाथाका कुछ भी अर्थ नहीं दिया है।

(४) इसी विनयोदया टीकाके अन्त मंगलके "नमः सकलतत्वार्थ" आदि जो दो श्लोक ऊपर दिये जा चुके हैं उन्हें भी पं० सदासुखजीने अपनी वचनिकाके अन्तमें ज्योंका त्यों उद्धृत किया है।

जान पड़ता है इस टीकामें 'उपकल्पयन्ति' का 'आनयन्ति' अर्थ जैसी कुछ ऐसी बातें होनेके कारण ही जो पं० सदासुखजी जैसे कट्टर तेरहपंथी विद्वानके गले नहीं उतर सकतीं उन्हें इसमें दिगम्बरत्वका अभाव नज़र आया है और इसी लिये उन्होंने इसको श्वेताम्बरत्व का सर्टिफिकेट दे दिया है। अन्यथा, यह टीका प्राचीन दिगम्बराचार्यप्रणीत है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ×।

इस महत्वपूर्ण टीकाके प्रकाशित होनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि कोई जिनवाणी-भक्त धनी सज्जन लगभग तीन हज़ार रुपये खर्च करनेको तय्यार हों तो यह कार्य सम्पादित हो सकता है।

२—मूलाराधनादर्पण

इसके कर्ता सुप्रसिद्ध पण्डितप्रवर आशाधरजी हैं, जिनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और जिनके समय आदिके विषयमें काफी लिखा जा चुका है*। इस टीका की दो अपूर्ण प्रतियाँ कारंजा के सरस्वती भंडार में हैं और उन दोनोंको मिलानेसे एक ग्रन्थ पूरा होजाता है। एक प्रति २२९ पत्रोंकी है जिसमें पहलेसे पांचवें तक आश्वास हैं × और दूसरी १३४ पत्रों की है जिसमें छठे से लेकर आठवें आश्वास तक हैं। अन्तप्रशस्तिका एक पत्र नहीं है। पं० आशाधरजी विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हुए हैं और चौदहवींके प्रारंभ तक रहे हैं। इस टीकाके प्रारंभ और अन्तके अंश इसप्रकार हैं—

प्रारंभ—

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

नत्वार्हतः प्रबोधाय मुग्धानां विवृणोम्यहं ।
श्रीमूलाराधनागूढपदान्याशाधरोऽर्थतः ॥

तत्रादावेवेदं युगीनश्रमणगणोपयुज्यमान-प्रवचन-निष्पन्दामृतमाधुर्यः तत्र भगवान्शिवकोट्या-

× गाथा नं० ४२७ की टीकामें पं०सदासुखजीने जो यह लिखा है कि—"इस ग्रंथकी टीकाका कर्ता श्वेताम्बर है। इस ही गाथाके अर्थमें वस्त्र पात्र कम्बलादि पोषे है कहे है तातें प्रमाणरूप नाहीं है" वह कितना भ्रमपूर्ण है, इसे बतलाने के लिये पाठकोंको गाथाकी पूरी टीकाका अलग ही परिचय दिया जायगा। टीका बहुत बड़ी तथा महत्वपूर्ण है और इसलिये उसका एक जुदा ही लेख होगा। —सम्पादक

* देखो मेरी लिखी हुई विद्वद्रत्नमालाका 'पण्डितप्रवर आशाधर' शीर्षक विस्तृत लेख।

× बम्बईके ऐलक पन्नालाल जी सरस्वतीभवनमें जो प्रति कारंजा से लिखवाकर मँगाई गई है, वह जान पड़ता है कि इसी ५ आश्वासवाली अपूर्ण प्रतिसे नकल की गई है और इसीलिए उसमें ५ आश्वास होते हुए भी अन्तमें सम्पूर्ण टीका लिख दिया गया है। भवन के संचालकोंको चाहिए कि वे शेषकी तीन आश्वासोंकी टीकाको और भी नकल कराके मँगालें जिससे ग्रन्थ सम्पूर्ण हो जाय।

चार्यवर्यः शिष्टाचारं प्रमाणयितुं मंगलपुरस्सरमुपदेश्यं वस्तुनिर्दिशन श्रोतृप्रवृत्यंगतया प्रयोजनादित्रयमवबोधयन् सिद्धेत्यादिसूत्रं चतुर्विंशतिगाथामयपीठिका प्रथमावयवभूतमासूत्रयामास ।

अंत—

इदानीमात्मनः साम्प्रदायिकत्वमप्रधानपरत्वं च प्रकाशयन्नात्मकर्तृकत्वेनास्य शास्त्रस्य विनेयजनविश्वासनाय प्रमाणानां व्यवस्थापयितुं गाथाद्वयमाह—

अज्जजिणणंदिगणि सव्वगुत्तगणि अज्जमित्तणंदीणं । उवगमियपायमूले सम्मं सुत्तं च अत्थंच ॥ १२६ ॥

अज्जजिणणंदिगणि मुमुक्षुजनाभिगम्यमानजिननन्द्याचार्यः । सव्वगुत्तगणी सर्वगुप्ताचार्यः अज्जमित्तणंदीणं आचार्यमित्रनन्दी ।

पुव्वापरिय कयाणिय उवजीवित्ता इमा स सत्तीए । आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइया ॥ १२७

× × × ×

इमामष्टाश्वासीमस्कुदनतं त्रिस्त्रिचतुरैनिर्बन्धैष्टीकाद्यैः स्थविरवचनैरर्थवितथैः ।
कृतां संवच्योर्भिः शिववचनमीक्षंत इह ये
व्रजंत्यच्चार्थाशाधर पुरुषदूरं पदमिमं ॥ ॥

इत्याशाधरनुस्मृत ग्रन्थ सन्दर्भे मूलाराधना दर्पणे पदप्रमेयार्थ प्रकाशीकरण प्रवणऽष्टम आश्वासः॥ ६॥

(सिद्धस्तव १० गाथा)

अथ प्रशस्ति—

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषये......
.....................कलिकालिदासः ॥३॥
इत्युदयकीर्तिमुनिना...मदनकीर्तियतिपतिना ॥४॥
म्लेच्छेशेन ...... महावीरतः ॥ ५ ॥

(अन्तिम पृष्ठ नहीं है)

आराधना-पञ्जिका

पूनेके भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधक मन्दिर में इसकी एक प्रति है *। लग भग ६ वर्ष पहले मैंने इस टीका को देखा था और इसकी अन्तिम प्रशस्तिके अंश को अपनी डायरीमें लिख भी लिया था । वह इस प्रकार है।

कुन्दावदातयशसा महवासिवंश-
पद्माकरद्युमणिना गुणिनां वरेण ।
श्रीदेवकीर्तिविबुधाय बुधप्रियाय
दत्तं यशोधवलनामधुरंधरेण ॥

श्रीदेवकीर्तिपण्डितच्छात्रेण काहल्याकनाम्ना लिखितमिति ।

संवत् १४१६ वर्षे चैत्रसुदिपञ्चम्यां सोमवासरे सकलराजशिरोमुकुटमाणिक्य मरीचिपिंजरीकृतचरणकमलपादपीठस्य श्रीपेरोजसाहेः सकलसाम्राज्यधुरीविभ्राणस्य समये श्री दिल्ल्यां श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे भट्टारक श्रीरत्नकीर्तिदेवपट्टोदयाद्रितरुणतर णित्वमुर्वीकुर्वाणं भट्टारकश्रीप्रभाचन्द्रदेव-तच्छिष्याणां ब्रह्मनाथूराम् । इत्याराधना पंजिकायां (?) ग्रन्थ आत्मपठनार्थं लिखापितम् । शुभमस्तु मंगलमहाश्रीः समस्तसंघस्य शुभम् ।

अग्रोतकान्वये साधुनयपाल तत्पुत्र कुलधरः तथा लोहिलगोत्रसाधुखेतल साधुराजा तस्यपुत्र वीरपाल लिखापितम् ।

इससे यह मालूम नहीं होता है कि इस टीका के कर्त्ता कौन हैं। इसके न तो मंगलाचरणादि प्रारंभिक

* नं० ६७१ आफ १८९५-९६, ९८-९९

अंशको मैं नोटकर सका और न टीकाकर्त्ताके अन्तिम उल्लेख को। पूर्वोक्त प्रशस्तिसे तो इस टीकाके लिखने लिखाने वालों का ही पता लगता है। यह एक विचित्र बात है कि इसमें तीन बार के लिपिकारों का उल्लेख सुरक्षित है। इसकी एक प्रति श्रीदेवकीर्ति पण्डित के विद्यार्थी काइरयाक ने लिखी थी और सहवासीवंशके यशोधवल नामक धुरंधर या पण्डितने बुद्धिमानोंके प्यारे श्रीदेवकीर्ति पण्डित को भेट दी थी। इस प्रतिके लिखे जाने का समय नहीं दिया है। इस प्रति परसे जो दूसरी प्रति लिखी गई, वह रत्नकीर्ति भट्टारक के पट्टशिष्य श्रीप्रभाचन्द्र देवके शिष्य ब्रह्मचारी नाथूराम ने संवत् १४१६ की चैत सुदी ५ सोमवार को अपने पढ़ने के लिये दिल्लीमें लिखाई, जिस समय कि बादशाह फीरोजशाह तुगलक का राज्य था।

इस दूसरी प्रतिपर से तीसरी प्रति अग्रोतक या अग्रवालवंशके नयपाल साहू के पुत्र कुलधर और गोहिलगोत्री साहू—खेतल साहू—राजा के पुत्र वीरपाल ने लिखाई। किस समयमें लिखाई गई, यह नहीं लिखा है।

यह पद्धति बहुत ही अच्छी है। इस प्रकार यदि ग्रन्थ-लेखक (लिपिकर्त्ता) अपने पहले की मातृका प्रतियोंकी लेखकप्रशस्तियाँ भी लिख दिया करें, तो बहुत लाभ हो।

दूसरे लिपिकर्त्ता ने अपना संवत १४१६ दिया है और उसने वह प्रति अपने से पहलेकी प्रति पर से की है। इससे टीका के निर्माणकाल के समय में इतनी बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि यह टीका विक्रम की चौदहवीं शताब्दि के बाद की नहीं है। इस टीका के सम्बंध में विशेष जानने का प्रयत्न किया जा रहा है मालूम होने पर पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जायगा।

भावार्थदीपिका टीका

यह टीका भी पूने के भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधक मन्दिर में है*। इसका प्रारंभ का और अन्तका अंश इस प्रकार है—

श्रीमन्तं जिनदेवं वीरं नत्वामरार्चितं भक्त्या
वृत्तिं भगवत्याराधनाख्यग्रन्थस्य कुर्वेऽहम् ॥१॥
धनघटित कर्मनाशं गुरुं च वंशाधिपं च कुन्दाख्यं
वंदे शिरसा तरसा ग्रन्थसमाप्तिं समीप्सुरहम् ॥२॥
वाग्देवीं श्रीजैनीं नत्वा संप्रार्थ्य ग्रन्थसंसिद्धिं।
सरलां मुग्धां विरचे वृत्तिं भावार्थदीपिकासंज्ञां ॥३॥

अथातो भगवान् शिवकोटिमुनिः समन्तभद्र-चरणाराधनात्प्राप्तसम्यग्दर्शनः पूर्वानुभूतराज्य-सुखोऽपि स्वयं चानुरक्ततपोवनमुखः सन्नात्म-संबोधनं कुर्वन् भव्यसम्बोधनार्थं ग्रन्थं रचनादौ विघ्न वि०—

अथ प्रशस्तिः

कृतेऽयंसद्वृत्तिः शिवजिदरुणाख्येन विदुषा
गुणानां सत् व्याप्तिर्व्यपहृतसमस्ताघनिकरा।
प्रवक्तुः श्रोतुर्या वितरति दिवं मुक्तिमपरां
चिरं जीयादेषा बुधजनमनोरंजनकरी ॥१॥
महासंघे गच्छे गिरिगणबलात्कारपदके
गुरौ नन्द्याम्नायेन्वयवरगुरौ कुन्दमुनिपे।

× × ×

सुजातो वै सूरिर्जयपुरपदस्थो मुनिवरः ॥२॥
महेन्द्रस्तत्पट्टे गुरु गुणनिधिः क्षेमसुवृषा
तदीयः सच्छिष्यो बुधवर निहालेतिपदभाक्।
तदीयः सच्छिष्यो गुणनिधिदयाचन्द्रविबुधः
तदीयः सत्तेजा दिलसुखबुधो ज्ञाननिरतः ॥३॥

---

* नं० १११३ आफ १८९१-९५।

तदीयः सच्छिष्यः शिवजिदरुणो भक्तिनिरतः
गुरूणामाज्ञावान् धृतजिनसुधर्मोभवदिह ।
तदीयः सत्पुत्रो मणिजिदरुणाख्यो लघुमति-
स्तदर्थं वृत्तिर्वा प्रकटितयथाकारि रुचिरा ॥४॥
ममेवस्वेकार्येंदुमिति शुभपक्षे शुचिभवे ।
त्रयोदश्यह्नोंत्ये चरमसमये वारधिषणेऽ-
नुराधानक्षत्रे शुभसुयशर्द्धिप्रजननी
चिरं जीयादेषा भुविजिनमतोद्योतनकरी ॥
इति भगवती आराधना टीका समाप्ता ।

यह टीका शिवजिदरुण अर्थात् पं० शिवजीलाल ने अपने सत्पुत्र मणिजिदरुण (मणिजीलाल या मणिलाल) के लिए बनाई है। वे जयपुरके भट्टारककी गद्दी के पण्डित थे। उन्होंने अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है— भट्टारक महेन्द्रकीर्तिके शिष्य भट्टारक क्षेमकीर्ति, उनके पं० निहालचन्द, निहालचन्दके शिष्य दयाचन्द्र, दयाचन्द्रके दिलसुख और दिलसुखके शिवजीलाल। प्रशस्तिके पाँचवें पद्यमें टीकानिर्माण का समय दिया हुआ है, परन्तु उसका पहला चरण कुछ अशुद्ध सा होगया है। इस कारण वह ठीक नहीं बतलाया जा सकता। संभवतः संवत् १८१८ की जेठ सुदी १३ गुरुवारको टीका समाप्त हुई है। पं० शिवजीलाल पं० सदासुख जीके ही समकालीन विद्वान थे और एक प्रकारसे उनके प्रतिपक्षी थे। उस समय तेरह पन्थ और बीस पन्थमें बहुत कटुता बढ़ी हुई थी। शिवजीलालका एक तेरह पन्थ खण्डन नामका ग्रन्थ है। उन्होंने रत्नकरण्ड, चर्चासंग्रह, बोधसार, दर्शनसार, अध्यात्म-तरंगिणी आदि अनेक ग्रन्थोंकी भाषा वचनिकायें भी लिखी हैं। वे कट्टर बीस पन्थी थे, साथ ही संस्कृतके अच्छे विद्वान।

क्या ही अच्छा हो कि ये चारों संस्कृत टीकाएँ एक साथ मुद्रित करा दी जायें, जिस से विद्वानोंके लिए मूलग्रन्थ का समझना और तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करना सुगम हो जाय। इति।

घाटकोपर (बम्बई) ता०२२-१२-२९

स्वार्थ

(१)

खिल खिल कलियाँ मनको हरतीं मन्द मन्द मुसकाती हैं।
अपनी सुन्दर छटा दिखा कर भौरों को ललचाती हैं॥
देख ऊपरी सुन्दरता को भौंरे नहीं ललचते हैं।
मधु पाकर ही मधुप मनोहर-कलियोंको आ छलतेहैं॥

(२)

कैसा सुन्दर मधुर स्वार्थ है मीठा रस इसमें रहता।
स्वार्थ-हेतु कट जाय शीश भी तो भी नर इसको गहता।
प्यारे भाई! स्वार्थ-मस्त-नर संभिवाद के योग्य नहीं।
दुखही दुख है स्वार्थ-समरमें सुखकी मात्रा कहीं नहीं॥

—"मित्र"

"आह च गन्धहस्ती—निद्रादय: समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते दर्शनावरणचतुष्टयं तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति"

—प्रवचनसारोद्धारकी सिद्धसेनीय वृत्ति पृ० ३५८ प्र० पं० ५

उपर्युक्त प्रवचनसारोद्धारकी वृत्तिमें का पाठ तेरहवीं शताब्दीके देवेन्द्रसूरिके प्रथम कर्मग्रंथकी १२वीं गाथाकी टीकामें भी गंधहस्ती नामके साथ है।

(२) "या तु भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगाऽयोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीयसप्तकक्षयादपायसद्द्रव्यक्षयाच्चोदपादि सा सादिरपर्यवसाना" इति

—१, ७ की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ६० पं० १

"यदाह गंधहस्ती—भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगायोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीयसप्तकक्षयाविर्भूता सम्यग्दृष्टि: सादिरपर्यवसाना इति।"

—नवपदवृत्ति पृ० ८८ द्वि०

(३) "तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी श्रेणिकादीनां सद्द्रव्यापगमे च भवति अपायसहचारिणी सा सादिसपर्यवसाना।"

—१, ७ की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ०५६ पं० २७

"यदुक्तं गंधहस्तिना-तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी अपायो—मतिज्ञानांश: सद्द्रव्याणि—शुद्धसम्यक्त्वदलिकानि तद्वर्तिनी श्रेणिकादीनां च सद्द्रव्यापगमे भवत्यपायसहचारिणी सा सादिसपर्यवसाना इति"

—नवपदवृत्ति पृ० ८८ द्वि०

(४) "प्राणापानावुच्छ्वासनि:श्वासक्रियालक्षणौ"

—८, १२ की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० १६१ पं० १३

"यदाह गंधहस्ती—प्राणापानौ उच्छ्वासनि:श्वासौ इति"

—धर्मसंग्रहणीवृत्ति (मलयगिरि) पृ० ४२, पं० २

(५) "अतएव च भेद: प्रदेशानामवयवानां च, ये न जातुचिद् वस्तुव्यतिरेकेणोपलभन्ते ते प्रदेशा: ये तु विशकलिता: परिकलितमूर्तय: प्रज्ञापथमवतरन्ति तेऽवयवा इति"

—५, ७-८ की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ३२८ पं० २१

"यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति"

—स्याद्वादमंजरी पृ० ६३ श्लो० ६

इससे इतनी बात निर्विवाद रूपसे सिद्ध होती है कि 'गंधहस्ती' प्रचलित मान्यतानुसार सिद्धसेनदिवाकर नहीं किंतु उपलब्ध तत्त्वार्थभाष्यकीवृत्तिके रचयिता भास्वामिशिष्य सिद्धसेन ही हैं। नामकी समानतासे और प्रकांडवादी तथा कुशल ग्रन्थकारके तौर पर प्रसिद्धिप्राप्त सिद्धसेनदिवाकर ही गंधहस्ती हो सकते हैं, इस संभावनामेंसे उ० यशोविजयजी की दिवाकरके लिये गंधहस्ती विशेषण के प्रयोग की भ्रान्ति जन्मी हो, ऐसा संभव है।

ऊपरकी दलीलों परसे हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि श्वेताम्बरपरम्परा में जो गंधहस्ती प्रसिद्ध हैं वे तत्त्वार्थसूत्रके भाष्यकी उपलब्ध विस्तीर्ण वृत्तिके रचने वाले सिद्धसेन ही हैं। इस परसे हमें यह माननेका भी कारण मिलता है कि सन्मति टीकाकार १०वीं शताब्दीके विद्वान् अभयदेवने अपनी टीकामें दो स्थानों पर 'गंधहस्ती' पद का प्रयोग करके जो उनकी रची हुई तत्त्वार्थव्याख्या को देख लेने की सूचना की है × वे गंधहस्ती दूसरे कोई नहीं किन्तु उपलब्ध भाष्यवृत्तिके रचयिता उक्त सिद्धसेन ही हैं। अत: सन्मति-टीकामें अभयदेव ने तत्त्वार्थसूत्र पर की जिस गंधहस्ति-कृत व्याख्याको देख लेने की सलाह दी है उस व्याख्याके लिये अब

× 'सन्मति' के द्वितीय कांडकी प्रथम गाथाकी व्याख्यामें टीकाकार अभयदेवने तत्वार्थके प्रथम अध्यायके ६, १०, ११ और १२ ऐसे चार सूत्रोंको उद्धृत किया है और वहां इन सूत्रोंकी व्याख्यामें गन्धहस्तीका परामर्श देते हुए उन्होंने बतलाया है कि—

"अस्य च सूत्रसमूहस्य व्याख्या गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विहितेति न प्रदर्श्यते"।

—पृ० ५९५ पं० २४

इसीके अनुसार तृतीय कांडकी ४४ वीं गाथामें प्रयुक्त हुए 'हेतुवाद' पदकी व्याख्या करते हुए उन्होंने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (१,१) यह सूत्र देकर इसके लिये भी "तथा गन्धहस्ती प्रभृतिभिर्विक्रान्तमिति नेह प्रदर्श्यते विस्तरभयात्"—पृ० ६५१ पं० २०

नष्ट या अनुपलब्ध साहित्य की तरफ नज़र दौड़ाने की ज़रूरत नहीं। इसी अनुसंधान-द्वारा यह भी मानना पड़ता है कि ९वीं १०वीं शताब्दी के ग्रन्थकार × शीलांकने 'आचारांग' सूत्र की अपनी टीका में जिन गंधहस्ति-कृत विवरणों ❀ का उल्लेख किया है वे विवरण भी तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन के ही होने चाहियें। क्योंकि यह संभवित नहीं कि बहुत ही थोड़ा अन्तर रखने वाले शीलांक और अभयदेव ये दोनों भिन्नभिन्न आचार्यों के लिये गंधहस्तिपदका प्रयोग करें और अभयदेव जैसे बहुश्रुत विद्वान् के विषयमें यह कल्पना करनी भी कठिन है कि उन्होंने जैनागमों में प्रथम पद धरावने वाले आचारांग सूत्रकी अपने समीपमें ही पहले रची गई शीलांकसूरि की टीका को न देखा हो। बल्कि शीलांक ने खुद ही अपनी टीकाओंमें जहाँ जहाँ सिद्धसेन दिवाकरकृत सन्मतिकी गाथाएँ उद्धृत की है वहाँ किसी भी स्थान पर गंधहस्ति-पदका प्रयोग नहीं किया, इससे शीलांकका 'गंधहस्ती' भी 'दिवाकर' नहीं, यह स्पष्ट है।

गंधहस्ति-विषयक उपर्युक्त विचार परसे यहाँ दो उपयोगी नतीजे निकलते हैं। पहला यह कि तत्त्वार्थ-सूत्र पर गंधहस्ति-रचित मानी जाने वाली व्याख्या मात्र श्वेताम्बरपरम्परा में ही है—दिगम्बरपरम्परा में नहीं। और दूसरा यह कि यह व्याख्या नष्ट या अनुपलब्ध नहीं किन्तु वर्तमान में सर्वत्र सुलभ तत्त्वार्थभाष्यकी वृहद्वृत्ति ही है।

नोट—

मेरी रायमें ये दोनों ही नतीजे कुछ ठीक प्रतीत नहीं होते। क्योंकि एक तो 'धवला' टीका जैसे प्राचीन ग्रन्थमें भी गंधहस्ति-भाष्यका उल्लेख है—जैसा किपीछे फुटनोटमें उद्धृत किया गया है—और वह उल्लेख सिद्धसेनकी उक्त वृहद्वृत्ति में नहीं पाया जाता, जिस से इस उल्लेखको उक्त वृहद् वृत्ति का ही समझ लिया जाता। वृत्तिमें 'अनुत्तरोपपादिकदशाः' का लक्षण सिर्फ "अनुत्तरोपपादिका देवा येषु ख्याप्यन्ते ताः अनुत्तरोपपादिकदशाः" (पृ०९१) इतना ही दिया है। और यह लक्षण धवला टीका में उद्धृत गंधहस्तिभाष्य के लक्षण से भिन्न है और इस लिये दोनों भाष्योंकी भिन्नताका सूचक है। दूसरे लघु समन्तभद्रने 'अष्टसहस्री-विषमपद-तात्पर्यटीका' के निम्न प्रस्तावना-वाक्यमें स्वामी समन्तभद्र-द्वारा उमास्वातिके तत्त्वार्थ-सूत्र पर 'गंधहस्ति-महाभाष्य' के रचे जानेका स्पष्ट उल्लेख किया है।

"भगवद्भिरुमास्वातिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गंधहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नंतः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याः......"

ऐसी हालतमें यह सुनिश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि दिगम्बरपरम्परा में तत्त्वार्थसूत्र पर गंध-हस्ति-भाष्य नामकी कोई व्याख्या है ही नहीं अथवा कभी लिखी ही नहीं गई। हाँ, दूसरा नतीजा श्वेताम्बरीय गंधहस्ति-व्याख्याकी दृष्टि से ठीक हो सकता है। परंतु समन्तभद्र का गंधहस्ति-भाष्य यदि उपलब्ध हो जाय और उसमें वे सभी अवतरण पाये जाते हों जिनकी तत्त्वार्थभाष्य-वृत्तिके साथ विद्वान लेखक ने तुलना की है, तो फिर इस नतीजेके लिये ही नहीं किन्तु वृत्तिलेखक सिद्धसेन को 'गंधहस्ती' कहनेके लिये भी कुछ आधार नहीं रहेगा; क्योंकि ये सिद्धसेन विक्रमकी ७वीं और १०वीं शताब्दीके मध्यवर्ती किसी समयमें हुए हैं और उन्होंने अपनी कृति अथवा प्रशस्ति में कहीं भी अपने को गंधहस्ती नहीं लिखा है और न उक्त अवतरणों में ही 'गंधहस्ती' के साथ सिद्धसेन नाम का उल्लेख है।

—सम्पादक

× देखो, मा० श्रीजिनविजयजी संपादित 'जीतकल्प' की प्रस्तावना पृ० १६ परिशिष्ट, शीलांकाचार्य-विषयक विशेष वर्णन।

❀ "शास्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनंच गन्धहस्तिकृतम्"
तथा "शास्त्रपरिज्ञाविवरणमतिगहनमितीव किल वृतं पूज्यैः। श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम्॥"

—आचारांगटीका पृ० १ तथा ८२ की शरुआत।

प्रसिद्ध देशभक्त पं० अर्जुनलाल जी सेठी का पत्र

बन्धुवर, अनेकान्त-साम्यवाद की जय

अनेक द्वन्द्वों के मध्य निर्द्वन्द्व 'अनेकान्त' की दो किरणें सेठी के मोह तिमिराच्छन्न बहिरात्मा को भेद कर भीतर प्रवेश करने लगीं तो अन्तरात्मा अपने गुणस्थान-द्वन्द्व में से उनके स्वागतके लिये साधन जुटाने लगा। परन्तु प्रत्याख्यानावरण की तीव्र उदयावली ने अन्तराय के द्वारा रूखा जवाब दे दिया; केवल अपायविचय की शुभ भावना ही उपस्थित है। आधुनिक भिन्न भिन्न एकान्ताग्रह—जनित साम्प्रदायिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विरोध व मिथ्यात्वके निराकरण और मथनके लिए अनेकान्त-तत्ववाद के उद्योतन एवं व्यवहार रूप में प्रचार करने की अनिवार्य आवश्यकता को मैं वर्षों से महसूस कर रहा हूं। परन्तु तीव्र मिथ्यात्वोदय के कारण आम्नाय-पंथ-वाद के रागद्वेष में फँसे हुए जैन नामाख्य जनसमूह को ही जैनत्व एवं अनेकान्त-तत्व का घातक पाता हूँ; और जैन के अगुआ वा समाज के कर्णधारों को ही अनेकान्त के विपरीत प्ररूपक वा अनेकान्ताभास के गर्त में हठ रूप से पड़े देखकर मेरी अब तक यही धारणा रही है कि अनेकान्त वा जैनत्व नूतन परिष्कृत शरीर धारण करेगा जरूर परन्तु उसका क्षेत्र भारत नहीं किन्तु और ही कोई अपरिग्रह-वाद से शासित देश होगा।

अस्तु, अनेकान्तके शासनचक्रका उद्देश्य लेकर आपने जो झंडा उठाया है उसके लिए मैं आपको और अनेकान्त के जिज्ञासुओं को बधाई देता हूँ और प्रार्थनारूप भावना करता हूँ कि आपके द्वारा कोई ऐसा युग-प्रधान प्रगट हो, अथवा आप ही स्वयं तद्रूप अन्तर्बाह्य विभूतिसे सुसज्जित हों जिससे एकान्त हठ-शासनके साम्राज्य की पराजय हो, लोकोद्धारक विश्व-व्यापी अनेकान्त शासनकी व्यवस्था ऐसी दृढतासे स्थापित हो कि चहुँओर कमसेकम षष्ठ गुणस्थानी जीवोंका धर्मशासन-काल मानवजातिके—नहीं नहीं जीवविकासके इतिहास में मुख्य आदर्श प्राप्त करे, जिससे प्राणी मात्र का अक्षय्य कल्याण हो।

इसके साथ यह भी निवेदन करदेना उचित समझता हूँ कि अब इस युग में सांख्य, न्याय, बौद्ध आदि एकान्त दर्शनोंसे अनेकान्तवादका मुकाबिला नहीं है, आज तो साम्राज्यवाद, धनसत्तावाद, सैनिकसत्तावाद, गुरुडमवाद, एकमतवाद, बहुमतवाद, भाववाद, भेषवाद, इत्यादि भिन्न२ जीवित एकान्तवादसे अनेकान्तका संघर्षण है। इसी संघर्षण के लिए गान्धीवाद, लेनिनवाद, मसोलिनीवाद, आदि कतिपय एकान्त पक्षीय नवीन मिथ्यात्व प्रबल वेगसे अपना चक्र चला रहे हैं।........

अतः इस युग के समन्तभद्र वा उनके अनुयायियोंका कर्तव्यपथ तथा कर्म्म उक्त नव-जात मिथ्यात्वोंको अनेकान्त अर्थात् नयमाला में गूंथकर प्रगट करना होगा, न कि भूनमें गड़े हुए उन मिथ्यादर्शनोंको कि जिनके लिए एक जैनाचार्यने कहा था कि षड्दर्शन पशुग्रामको जैनवाटिकामें चराने ले जारहा हूँ। महावीरको आदर्श-अनेकान्त-व्यवहारी अनुभव करने वालों का मुख्य कर्तव्य है कि वे कटिबद्ध होकर जीवों को और प्रथमतः भारतीयोंको माया-महत्व-वादसे बचाकर यथार्थ मोक्षवाद तथा स्वराज्य का आग्रह-रहित उपदेशदें। और यह पुण्यकार्य उन्हीं जीवों से सम्पादित होगा जिनका आत्म-शासन शुद्ध शासनशून्य वीतरागी हो चुका हो।

अन्त में आप के प्रशस्त उद्योगमें सफलता की भावना करता हुआ

अजमेर । आपका चिरमुमुक्षु बन्धु
२१—१—३० । अर्जुनलाल सेठी

'लोकविभाग' का रचना-स्थान

[लेखक—श्री० बाबू कामताप्रसाद जी]

सर्वनन्दिकृत 'लोकविभाग' जैनभूगोलका एक अच्छा प्राचीन ग्रन्थ है जिसके रचना-काल और रचना-स्थान का स्पष्ट उल्लेख सिंहसूरिके उपलब्ध लोक विभाग में निम्न प्रकार से पाया जाता है :—

वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे,
राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे ।
ग्रामे च पाटलि (क) नामनि पाणराष्ट्रे,
शास्त्रं पुरा लिखितवान् मुनिसर्वनन्दी ॥१॥
संवत्सरे तु द्वाविंशे कांचीशसिंहवर्मणः ।
अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छतत्रये ॥२॥

अर्थात्—"जिस समय उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें शनिश्चर, वृषराशि में बृहस्पति और उत्तराफाल्गुनी में चन्द्रमा था, तथा शुक्लपक्ष था (अर्थात् फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा थी) उस समय पाणराष्ट्र के पाटलि ग्राम में इस शास्त्रको पहले सर्वनन्दी नामक मुनि ने लिखा। कांची के राजा सिंहवर्मा के २२ वें संवत्सर में और शकके ३८० वें वर्ष में यह ग्रंथ समाप्त हुआ।"

यहाँ पद्य नं०२ में प्रकृत ग्रन्थका रचना-स्थान पाणराष्ट्रका पाटलि ग्राम लिखा है, जिसके विषयमें श्रीयुत पं०नाथूरामजी प्रेमीने "जैनहितैषी" भा० १३ पृ० ५२६ में आधुनिक पटना तथा प्राचीन पाटलिपुत्र की संभावना व्यक्त की थी। परन्तु हमने पाटलिपुत्र में पाणराष्ट्र का अस्तित्व न मिलने के कारण इस ग्राम को सिन्धुनदवर्ती पाटल ग्राम अनुमान किया था और वहीं एक पाणराष्ट्र का होना मान लिया था (वीर, वर्ष५ पृ०९२)। अब हमें अपना यह मत भी ठीक नहीं मालूम होता। क्योंकि पाणराष्ट्र सिंधुदेशमें न होकर कहीं काञ्ची के आसपास होना चाहिये जहाँ के राजा और उसके राज्यकालका इसमें उल्लेख है। सौभाग्यसे प्रो०कृष्णस्वामी अयंगरकी पुस्तक "सम कन्ट्रीब्यूशन्स आफ् साउथ इन्डिया टू इन्डियन कलचर" के देखनेसे हमें इस स्थानका ठीक पता मिल गया है। उसमें पाणराष्ट्रको 'बाण' देश कहा गया है और आधुनिक नगर कडूलोर (Cuddalore) को प्राचीन पाटलिग्राम बताया गया है। साथही, इसे त्रिप्पादिरिपुलियूर (Trippadirippuliyur) भी कहा गया है। राजा सिंहवर्मन पल्लव-वंशके थे। अतः लोकविभाग का रचना-स्थान दक्षिण भारतका उक्त स्थान मानना ही ठीक जँचता है।

तौलवदेशीय प्राचीन जैनमंदिर

ले०—श्री०पं०लोकनाथजी शास्त्री, मूडबिद्री

अनेकांतकी दूसरी किरणमें मूडबिद्रीके १८ मंदिरोंमें से (१) गुरुबस्ति तथा (२) होसबस्ति नामके दो प्रधान मंदिरोंके बारेमें कुछ परिचय दिया गया था, फिर क्रम से लेख देने में मुझे स्वास्थ्याभावके कारण विलंब होगया। अतः इस बार शेष मंदिरों का परिचय संक्षेप से दिया जाता है:—

(३) **बडगबस्ति**—उत्तर दिशामें होनेके कारण इस मंदिर को 'बडगबस्ति' कहते हैं। यह भी तीन सौ वर्ष पहले का शिलामय मंदिर है। यहाँ पर श्वेत-पाषाणमय खड्गासन तीन फुट ऊँची श्रीचन्द्रप्रभ भगवान्की मूर्ति अतीव मनोज्ञ है। साथ ही, इस मंदिरके अंगणमें शिलामय एक मानस्तंभ भी है।

(४) **शेट्टबस्ति**—यहाँ धातुमय पद्मासन मूल प्रतिमा श्रीवर्धमान भगवान् की है। इस मंदिरके प्राकार में एक दूसरा मंदिर है जिस में कृष्ण पाषाणमय चौबीस भगवान् की मूर्तियाँ बहुत ही चित्ताकर्षक हैं। इसकी दोनों तरफ शारदा और पद्मावती देवी की मूर्तियाँ विराजमान हैं। इसको यहाँके पंचोंने बनवाया है।

(५) **हिरेबस्ति**— इस मंदिरमें श्रीशांतिनाथ भगवान की मूल प्रतिमा है। मंदिर के प्राकार के अंदर पद्मावती देवी का मंदिर है, जिसमें मृत्तिका (मिट्टी) से निर्मित चौबीस भगवान्की मूर्तियाँ तथा सरस्वती और पद्मावती की मूर्तियाँ भी बहुत ही मनोज्ञ हैं। इस प्रकार की मृण्मय मूर्तियाँ अन्यत्र कहीं पर देखने में नहीं आईं। इस में कारीगरने बहुत सुंदर काम किया है। इस मंदिर को "अम्मनवरबस्ति" अर्थात् पद्मावती देवी का मंदिर भी कहते हैं।

(६) **बेटकेरीबस्ति**—यह विशाल मंदिर सजावटके साथ सुंदर है। इसमें श्रीवर्धमान स्वामीकी पाँच फुट ऊँची पद्मासनकी मनोहर प्रतिमा शिलामय है। इसको भी यहाँके श्रावकोंने बनवाया था।

(७) **कोटिबस्ति**— इस मंदिर को 'कोटिश्रेष्ठी' नामक सेठ ने बनवाया था। यहाँ श्रीनेमिनाथ भगवान की खड्गासन मूलनायक प्रतिमा एक फुट ऊँची है और अन्यान्य प्रतिमाएँ भी बहुत ही मनोज्ञ हैं। इस मंदिरका दो चार वर्षके पहले यहाँ के राजवंशीय श्रीमान चौटर धर्मसाम्राज्यजीने जीर्णोद्धार कराकर पंचकल्याण महोत्सव भी कराया था। अभी भी इसका सब इंतजाम वेही करते रहते हैं। यह मंदिर देखनेमें रमणीय तथा स्वच्छता पूर्वक है।

(८) **विक्रमसेट्टिबस्ति**— यह मंदिर भी शिलामय है। इस भवन का विक्रम नामके सेठने निर्माण कराया था। इस में आदिनाथ भगवान्की मूल प्रतिमा है और मंदिरके प्राकार के अंदर चौबीस भगवान् का एक चैत्यालय है, जिसमें धातुमय २४ मूर्तियाँ अतीव मनोज्ञ हैं। और मूर्तियाँ सभी

खड्गासन हैं। इस मंदिरके आगे मानस्तंभ भी है।

(९) लेप्यदबस्ति—यहाँपर लेप्य निर्मित श्रीचंद्रनाथ भगवान्‌की मूल प्रतिमा है। मिट्टीसे निर्मित होनेके कारण इस मूल प्रतिमाका अभिषेक वगैरह नहीं किया जाता है। यहाँ पर (मूडबिद्रीमें) कई मंदिरों में मिट्टीकी प्रतिमाएँ विराजमान हैं; तो भी उनका प्रक्षालण और अभिषेक नहीं होता है। इस प्रकार की प्रतिमाओंसे क्या फायदा है? पूर्वजों ने इनको क्यों बनवाया? कौन जाने! लेप्यमय मूर्ति होनेसे ही इस मंदिरको लेप्पदबस्ति कहते हैं। यहाँ उक्त लेप्य से निर्मित श्रीज्वालामालिनी देवीकी मूर्ति भी बहुत ही चित्ताकर्षक है। साल भरमें हजारों लोग उक्त देवीकी पूजा या उपासना करनेके लिये आया करते हैं और अपनी अपनी इष्टसिद्धि के लिये पूजा करवाते हैं। यह एक अंधश्रद्धाका नमूना है। इस मंदिरके आगे एक विशाल मानस्तंभ भी है। यहाँ हरसाल चैत्रबदी २को विशाल मंडप बनाकर यहाँ के चौटर धर्मसाम्राराज्यजी अभिषेक पूजा वगैरह महोत्सव करवाते हैं। यह महोत्सव देखने योग्य है।

(१०) कल्लुबस्ति—यह मंदिर शिलामय होनेके कारण इसका 'कल्लुबस्ति' अन्वर्थक नाम है। कनडीमें पत्थरको 'कल्लु' बोलते हैं। इस मंदिरमें यद्यपि शिलालेख वगैरह नहीं हैं, तथापि बहुत प्राचीनसा मालूम पड़ता है। इसमें श्रीचन्द्रप्रभ स्वामीकी खड्गासन दो फुटकी मूल प्रतिमा है। इस मंदिरके भूगृहमें प्राचीन ताडपत्र-ग्रन्थ-भंडार था, जिसको अभी मठमें विराजमान किया गया है।

(११) देरमसेट्टि बस्ति—इसको 'देरम्म' नामक एक वैश्यने बनवाया था। 'लोग कहते हैं कि, उक्त वैश्य पहले अतीव गरीब था, उस समय उसके मनमें इच्छा हुई कि 'सभी लोग मंदिर बनवाते हैं मैं भी बनवाऊँ' इस प्रकार मनमें संकल्प करके उसने अपनी कमाईका एक चतुर्थांश संग्रह करते करते इसको बनाया है। यह भी अत्यन्त प्रसिद्ध तथा मनोहर है। इसमें अरनाथ, मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथ भगवान्‌की कृष्णपाषाणकी पद्मासन प्रतिमायें अतीव चित्ताकर्षक हैं। मूलनायक प्रतिमा तीन फुट ऊँची कमलासन पर है। इस मंदिरको रत्नत्रय मंदिर भी कहते हैं। मूल प्रतिमाके नीचेके भागमें श्वेतपाषाणमय २४ भगवान् की मूर्तियाँ बहुत ही मनोरंजक हैं। ऊपर दूसरा खंड भी है यहाँ मल्लिनाथ भगवान की पद्मासन मूर्ति विराजमान है।

(१२) चोलसेट्टिबस्ति— इस मंदिरको 'चोलसेट्टि' नामक एक सेठने बनवाया था इसी लिये इसे चोलसेट्टिबस्ति कहते हैं। यह भी १०० वर्ष पहले का और शिलामय है। यहाँ सुमति, पद्मप्रभ, और सुपार्श्वजिन की तीनों ही मूर्तियाँ चार चार फुट ऊँची हैं। ये कृष्णपाषाणमय पद्मासन प्रतिमायें बहुत ही मनोज्ञ तथा देखने योग्य हैं। इस मंदिरके अगले भागमें—दांये बांये वाले कोठों में—२४ भगवानकी मूर्तियाँ विराजमान हैं, इसीसे इसको 'तीर्थंकरबस्ति' या 'ग्रेडवलबस्ति' भी कहते हैं।

(१३) महादेवसेट्टिबस्ति—इसको महादेव सेठने बनवाया था। इसमें कृष्ण पाषाणमय ५ फुट ऊँची खड्गासन मूर्ति विराजमान है जो बड़ी मनोज्ञ है। इस प्रतिमाके चारों ओर २४ भगवानकी प्रतिमायें विराजमान हैं।

(१४) **बंकिबस्ति**— इसको 'बैंकणधिकारी' ने कराया था, इसीलिये इसे बैंकणधिकारी या रूढि में बंकिबस्ति भी कहते हैं। इसमें श्रीअनंतनाथ स्वामी की खड्गासन शिलामय मूर्ति है।

(१५) **केरेबस्ति**—इस मंदिरके अगले भागमें तालाब होनेसे इसको 'केरेबस्ति' कहते हैं। इसमें कृष्ण पाषाण मय ५ फुटकी श्रीमल्लिनाथ भगवान्की मूर्ति अतीव मनोज्ञ है।

(१) **पडुबस्ति**—यह मंदिर पश्चिम दिशामें होनेसे इसको पडुबस्ति कहते हैं। यहाँ मूलनायक प्रतिमा श्रीअनंतनाथ भगवानकी है, जो शिलामय पद्मासनस्थ क़रीब चार फुट ऊँची है। इस मंदिरके भूग्रहमें अनेक शिलामय संदूकोंमें काव्य, धर्मशास्त्र, न्याय, व्याकरण वगैरहके कई हजार ताडपत्र ग्रन्थ पूर्वाचार्यों ने विराजमान किये थे। उनकी पहले किसी को खबर न होने से हजारों ग्रंथ क्रिमि कीटादि-भक्षणसे लुप्तप्राय होगये। परंतु संतोषके साथ लिखना पड़ता है कि आरा निवासी श्रीयुत बाबू देवकुमारजीने कीटभक्षणसे बचे हुए ग्रंथोंकी सूची वगैरह अपने स्वद्रव्यसे बनवाकर उन्हें सुरक्षित रीतिसे अलमारियोंमें विराजमान कराये थे। अब उक्त अवशिष्ट हजारों ताडपत्र ग्रंथ श्रीभट्टारक जीके मठ में हैं, जिसका सब श्रेय उक्त बाबूजी महाशय को प्राप्त है।

इस श्रुत भंडारसे ही मैंने कई अप्राप्य तथा दुःप्राप्य ग्रंथोंकी प्रतिलिपि कराकर उन्हें मुंबई, आरा, कलकत्ता, इन्दौर और सहारनपुर वगैरह स्थानोंके सरस्वतीभंडारोंको भेज दिया है, तथा अभी भी उक्त काम चालू है आठ दस वर्षों में करीब सौसे अधिक ताडपत्र ग्रंथोंकी नकल कराई गई है। प्रतिलिपिकी अब तककी श्लोक-संख्या दो लाखसे भी ऊपर हो गई है। यहाँके श्रुत-भंडारसे प्रतिलिपि कराके अन्यत्र भेजे हुए ग्रंथोंकी सूची यदि आवश्यक होगी तो प्रकट की जायगी। परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि मेरे मित्रवर्य 'अनेकाँत' के संपादक महाशय श्रीयुत जुगलकिशोरजी मुख्तारने समंतभद्राचार्य-कृत 'प्रमाण पदार्थ' नामक ग्रंथको जो सूचीमें दर्ज है तलाश करनेके लिये मुझे कई बार लिखा है लेकिन यह हमारा दुर्भाग्य है जो अब यहाँ के ताडपत्र ग्रंथ अस्त व्यस्त होरहे हैं—सूचीके अनुसार ठीक ठीक व्यवस्थित रीतिसे नहीं रक्खे गये हैं। इसी से मेरे बहुत परिश्रम करके अन्वेषण करनेपर भी वह ग्रन्थ अभी तक नहीं मिल सका और इस लिये मैं संपादक जी की मनोवांछा को पूरा करनेमें असमर्थ हो गया। खेद है कि यहाँके भंडारमें हजारों प्राचीन तथा अन्यत्र अप्राप्य ग्रन्थ होने पर भी यहाँ के भाई या श्रीभट्टारकजी उनका जीर्णोद्धार नहीं करते और न योग्य रीतिसे अच्छी सूची वगैरह बनवा कर उन्हें विराजमान ही कराते हैं। सूची वगैरह तथा ग्रन्थके रखनेकी व्यवस्था ठीक ठीक न होनेसे समय पर पुस्तक मिलना अति कष्टसाध्य हो रहा है। मुंबई तथा आरा-सरस्वतीभवनोंके प्रधानाधिकारियों (मंत्रियोंसे) विशेषतया बाबू निर्मलकुमारजी आरा वालोंसे आग्रह पूर्वक प्रार्थना है कि, इस श्रुतभंडारकी योग्य रीति से सूची बनवाके ग्रन्थोंको सुव्यवस्थित रूपसे विराजमान करने का प्रबन्ध करावें, जिससे यथावसर आवश्यकता पड़ने पर ग्रन्थ शीघ्र मिल जाया करें। यहाँ पर अन्यत्र अलभ्य ऐसे अपूर्व तथा दुष्प्राप्य श्रीधवलादि ग्रन्थोंको संदूकों में बंद करके रक्खा जाता है, किसीको भी उनसे यथेष्ट लाभ उठाने नहीं दिया जाता, यह अत्यंत दुःखकी बात है। यद्यपि श्रीधवल, जयधवल ग्रन्थों की नक़ल अन्यत्र

(सहारनपुर आदि) स्थानोंमें यहाँ से पहुँचगई हैं फिर भी यहाँ के लोगों की गाढनिद्रा अभी तक भी नहीं खुलती, सो सखेदाश्चर्य है। क्या करें? कलिकाल की लीला अपार है!! कौन रोक सकता है!!!

(१७) **श्रीमठदबस्ति।** यहाँ बहुत सुंदर कृष्णपाषाणमय १॥ फुट ऊँचाई की श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मूल नायक प्रतिमा है। अन्यान्य प्रतिमायें भी यथायोग्य सजावट के साथ विराजमान की गई हैं। यहां श्री भट्टारक महाराज रहते हैं, वे शांत तथा अतिसरल परिणाम वाले हैं। इस मंदिर तथा अन्यान्य मंदिरोंकी देख रेख भी वे ही करते हैं और यहाँकी दि०जैन संस्कृत पाठशाला में पढ़ने वाले ३०—४० विद्यार्थियों के भोजनका प्रबंध भी करते हैं।

(१८) **पाठशालाका मंदिर।** उक्त मठके सामने जैन-पाठशाला है। इसमें विद्यार्थियोंके दर्शनार्थ तथा पूजन के लिये अमृतशिलामय १॥ फुट ऊंची श्री मुनिसुव्रतस्वामी की मूर्तिको विराजमान किया गया है। हमेशा अष्टमी तथा चतुर्दशीके दिन सब विद्यार्थीलोग अध्यापकों के साथ पूजा करते हैं। इस पाठशालामें तीन विभाग हैं (१) कन्नड विभाग (२) संस्कृत विभाग। तथा (३) अंग्रेजी विभाग। इन तीनों विभागों में क़रीब १५० विद्यार्थी पढ़ रहे हैं और ११ अध्यापक हैं। यहाँ पर प्रचलित भाषा कर्नाटक होनेसे, कन्नड आठवीं कक्षा तक पढाई जाती है। अंग्रेजी थर्ड फॉर्म Third Form तक पढ़ाई जाती है, और संस्कृत विभागमें प्रवेशिका, विशारद तथा शास्त्री कक्षा तक पढाई होती है। व्यावहारिक परिज्ञानके लिये थोड़ा बहुत हिन्दी भाषाका ज्ञान भी कराया जाता है। इस पाठशालाका वेतन वगैरह के लिये ३००) रु० मासिक खर्च लगता है। परन्तु ध्रुव फंड बहुत कम है। गवर्नमेंटसे सालाना १०००) रु० मिलता है। दातारोंको चाहिये कि वे दान देने के शुभावसरों पर इस विद्यालयको न भूलें—योग्य सहायता करते रहें।

अन्त में इतना और बतलाना चाहता हूं कि आज से क़रीब ४०० वर्ष पहले यह मूडबिद्री नगर अतीव उन्नति शिखरको पहुँचा हुआ था। उस समय यहाँ पर जैनियों के ७०० घर थे, अब केवल ५० घर ही रहे हैं। उस समयके लोग देश-विदेशमें जाकर बड़े बड़े व्यापार करते थे, जिसका प्रत्यक्षभूत निदर्शन यहां के बड़े बड़े शिलामय मंदिर और अपूर्व तथा अलभ्य रत्न प्रतिमायें हैं। परन्तु खेदके साथ लिखना पड़ता है कि इस समय यहाँ पर १०० में एक व्यापार करनेवाला जैनी भी अतीव कष्ट साध्य है। विद्या, बुद्धि और विभवादिक सभीमें यह पीछे हैं, जिसका बड़ा ही अफ़सोस है। 'भवितव्यं भवत्येव' इस नीतिके अनुसार जो कुछ होने वाला है सो होता ही है। नहीं मालूम इन लोगोंका भाग्योदय कब होगा। भगवान जाने!

इस प्रकार यहाँके जिनमंदिरादिका यह थोड़ा सा संक्षेपमात्र परिचय दिया गया है। शेष वेणुर, कार्कल वगैरहके जैनमंदिरों का भी यथावसर परिचय दिया जायगा।

राजा खारवेल और उसका वंश

[लेखक—श्री० मुनि कल्याणविजयजी]

पाटलिपुत्रीय मौर्यराज्य-शाखा को पुष्यमित्र तक पहुँचाने के बाद 'हिमवंत-थेरावली' कारने कलिंगदेश के राजवंश का वर्णन दिया है। हाथीगुफा के लेख से कलिंगचक्रवर्ती खारवेल का तो थोड़ा बहुत परिचय विद्वानोंको अवश्य मिला है, पर उसके वँश और उनकी संततिके विषयमें अभी तक कुछ भी प्रामाणिक निर्णय नहीं हुआ था। हाथीगुफा-लेखके "चेतवसवधनस" इस उल्लेख से कोई कोई विद्वान् खारवेल को 'चैत्रवंशीय' समझते थे तब कोई उसे 'चेदिवंश' का राजा कहते थे। हमारे प्रस्तुत थेरावली-कारने इस विषयको बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। थेरावली के लेखानुसार खारवेल न तो 'चैत्रवंश्य' था और न 'चेदिवंश्य', किन्तु वह 'चेटवंश्य' था। क्योंकि वह वैशाली के प्रसिद्ध राजा 'चेटक' के पुत्र कलिंगराज 'शोभनराय' की वंश-परम्परामें जन्मा था।

अजातशत्रु के साथकी लड़ाई में चेटक के मरने पर उसका पुत्र शोभनराय वहाँ से भाग कर किस प्रकार कलिंगराजा के पास गया और वह कलिंग का राजा हुआ इत्यादि वृत्तान्त थेरावली के शब्दों में नीचे लिखे देते हैं, विद्वान् गण देखेंगे कि कैसी अपूर्व हक़ीक़त है।

"वैशाली का राजा चेटक तीर्थंकर महावीरका उत्कृष्ट श्रमणोपासक था। चम्पानगरीका अधिपति राजा कोणिक-जोकि चेटकका भानजा था—(अन्य श्वेताम्बर जैनसंप्रदाय के ग्रन्थों में कोणिकको चेटकका दोहिता लिखा है) वैशाली पर चढ आया और लड़ाईमें चेटक को हरा दिया। लड़ाई में हारने के बाद अन्न-जलका त्याग कर राजा चेटक स्वर्गवासी हुआ।

चेटक का शोभनराय नाम का एक पुत्र वहाँसे (वैशाली नगरी से) भागकर अपने श्वशुर कलिंगाधिपति 'सुलोचन' की शरण में गया। सुलोचनके पुत्र नहीं था इस लिये अपने दामाद शोभनरायको कलिंग-देश का राज्यासन देकर वह परलोकवासी हुआ।

भगवान् महावीरके निर्वाण के बाद अठारह वर्ष बीते तब शोभनरायका कलिंग की राजधानी कनकपुर*में राज्याभिषेक हुआ। शोभनराय जैनधर्म का उपासक था, वह कलिंग देश में तीर्थस्वरूपकुमार पर्वत पर यात्रा करके उत्कृष्ट श्रावक बन गया था।

शोभनराय के वंश में—पांचवीं पीढ़ी में—'चण्डराय' नामक राजा हुआ जो महावीरके निर्वाण से १४९ वर्ष बीतनेपर कलिंगके राज्यासन पर बैठा था।

चण्डरायके समयमें पाटलिपुत्र नगर में आठवाँ नन्दराजा राज्य करता था। जो मिथ्याधर्मी और अति लोभी था। वह कलिंगदेशको नष्ट-भ्रष्ट करके तीर्थस्वरूप कुमरगिरि पर श्रेणिकके बनवाये हुए जिनमन्दिर को तोड़ उसमें रही हुई ऋषभदेव की सुवर्णमयी प्रतिमा को उठाकर पाटलिपुत्र में ले आया।

* अन्य जैनशास्त्रोंमें भी "कंचणपुरं कलिंगा" इत्यादि उल्लेखोंमें कलिंग देशकी राजधानीका नाम 'कञ्चनपुर' (कनकपुर) ही लिखा है।

इसके बाद शोभनराय की ८वीं पीढ़ीमें खेमराज* नामक कलिंग का राजा हुआ, वीरनिर्वाण के बाद २२७दो सौ सत्ताईस वर्ष पूरे हुए तब कलिंगके राज्यासन पर खेमराज का अभिषेक हुआ और निर्वाणसे २३९ दो सौ उनतालीस वर्ष बीते तब मगधाधिपति अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की× और वहाँ के राजा खेमराजको अपनी आज्ञा मनाकर वहाँ पर उसने अपना गुप्त संवत्सर चलाया †।

महावीर निर्वाणसे २७५ दो सौ पचहत्तर वर्ष के बाद खेमराज का पुत्र बुद्दराज ‡ कलिंग देशका राजा हुआ, बुद्दराज जैनधर्म का परम उपासक था, उसने कुमरगिरि और कुमारीगिरि नामक ¶ दो पर्वतों पर श्रमण और निर्ग्रन्थियों के चातुर्मास्य करने योग्य ११ ग्यारह गुफायें खुदवाई थीं।

भगवान् महावीरके निर्वाणको ३०० तीनसौ वर्ष पूरे हुए तब बुद्दरायका पुत्र भिक्खुराय कलिंगका राजा हुआ। भिक्खुरायके नीचे लिखे तीन नाम कहे जाते हैं—

निर्ग्रन्थ भिक्षुओं की भक्ति करने वाला होनेसे उसका एक नाम "भिक्खुराय" था।

पूर्वपरम्परागत "महामेघ" नाम का हाथी उसका वाहन होनेसे उसका दूसरा नाम "महामेघवाहन" था।

उसकी राजधानी समुद्र के किनारे पर होनेसे उसका तीसरा नाम "खारवेलाधिपति" था *।

भिक्षुराजअतिशय पराक्रमी और अपनी हाथी आदि की सेनासे पृथवीमण्डलका विजेता था, उसने मगध देशके राजा पुष्यमित्र× को पराजित करके अपनी आज्ञा मनाई, पहिले नन्दराजा ऋषभदेवकी जिस प्रतिमाको उठा कर लेगया था उसे वह पाटलिपुत्र नगरसे वापिस अपनी राजधानी में लेगया † और कुमरगिरि तीर्थमें श्रेणिक के बनवाये हुए जिनमन्दिर का पुनरुद्धार कर के आर्य सुहस्ती के शिष्य सुस्थित—सुप्रतिबुद्ध नाम के स्थविरों के हाथ से उसे फिर प्रतिष्ठित कराकर उस में स्थापित की।

---

* हाथीगुफा वाले खारवेलके शिलालेखमें भी पंक्ति १६वीं में "खेमराजा स" इस प्रकार खारवेलके पूर्वजके तौरसे खेमराजका नामोल्लेख किया है।

× कलिंग पर चढ़ाई करनेका जिकर अशोकके शिलालेख में भी है, पर वहां पर अशोकके राज्याभिषेकके आठवें वर्षके बाद कलिंग विजय करना लिखा है। राज्य-प्राप्तिके बाद ३ या ४ वर्ष पीछे अशोकका राज्याभिषेक हुआ मान लेने पर कलिंग का युद्ध अशोकके राज्यके १२--१३वें वर्षमें आयगा। थेरावलीमें अशोक की राज्यप्राप्ति निर्वाणसे २०६ वर्षके बाद लिखी है, अर्थात् २१० में इसे राज्याधिकार मिला और २३९ में कलिंग विजय किया, इस हिसाबसे कलिंगविजय वाली घटना अशोकके राज्यके ३० वें वर्षके अन्तमें आती है। जो कि शिलालेखसे मेल नहीं खाती।

† अशोकके गुप्त संवत्सर चलानेकी बात ठीक नहीं जँचती। मालूम होता है, थेरावली लेखकने अपने समयमें प्रचलित गुप्त राजाओंके चलाये गुप्त संवत् को अशोकका चलाया हुआ मान लेने का धोखा खाया है। इसी उल्लेखसे इसकी अति प्राचीनताके सम्बन्धमें भी शंका पैदा होती है।

‡ 'बुड्ढराज' का भी खारवेलके हाथीगुफा वाले लेखमें "वढ-राजा स" इस प्रकार का उल्लेख है।

¶ उड़ीसा प्रान्तमें भुवनेश्वरके निकटके 'खण्डगिरि' और 'उदयगिरि' पर्वत ही विक्रमकी १०वीं तथा ११वीं शताब्दी तक क्रमशः 'कुमरगिरि' और 'कुमारीगिरि' कहलाते थे।

* हाथीगुफा वाले लेख में भी 'भिखुराजा' 'महामेघवाहन' और 'खारवेलसिरि' इन तीनों नामों का प्रयोग खारवेलके लिये हुआ है।

× खारवेलके शिलालेखमें भी मगधके राजा बहस्पतिमित्र को जीतनेका उल्लेख है।

† नन्दराजा द्वारा ले जाई गई जिनमूर्तिको वापिस कलिंगमें लेजाने का हाथीगुफा-लेखमें नीचे लिखे अनुसार ग्पष्ट उल्लेख है:—

"नन्दराजनीतं च कालिंगजिनं संनिवेसं...गहरतनान पडिहारेहि अंगमागध-वसुं च नेयाति [।]"

—हाथीगुफालेख-पंक्ति १२वीं: बिहार-ओरिसा जर्नल, वाल्युम ४, भाग ४।

पहिले जो बारह वर्ष तक दुष्काल पड़ा था उसमें आर्यमहागिरि और आर्यसुहस्तीके अनेक शिष्य शुद्ध आहार न मिलनेके कारण कुमरगिरि नामक तीर्थमें अनशन करके शरीर छोड़चुके थे, उसी दुष्काल के प्रभावसे तीर्थकरों के गणधरों द्वारा प्ररूपित बहुतेरे सिद्धान्त भी नष्टप्राय होगये थे, यह जानकर भिक्खुरायने जैनसिद्धान्तों का संग्रह और जैनधर्मका विस्तार करनेके वास्ते संप्रति राजा की तरह श्रमण निर्ग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थियोंकी एक सभा वहीं कुमारी पर्वत नामक तीर्थ पर इकट्ठी की, जिसमें आर्य महागिरिजी की परम्पा के बलिस्सह, बोधिलिंग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदिक २०० दो सौ जिनकल्पकी तुलना करनेवाले जिनकल्पी साधु तथा आर्य सुस्थित, आर्यसुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति *, श्यामाचार्य प्रभृति ३०० तीन सौ स्थविरकल्पी निर्ग्रन्थ उस सभा में आये, आर्या पोइणी आदिक ३०० तीनसौ निर्ग्रन्थी साध्वियां भी वहां इकट्ठी हुई थीं। भिक्खुराय, सीवंद, चूर्णक, सेलक आदि ७०० सात सौ श्रमणोपासक और भिक्खुराय की स्त्री पूर्णमित्रा आदि सातसौ श्राविकायें; ये सब उस सभामें उपस्थित थे।

पुत्र, पौत्र और रानियोंके परिवारसे सुशोभित भिक्खुरायने सब निर्ग्रंथों और निर्ग्रंथियों को नमस्कार करके कहा 'हे महानुभावो! अब आप वर्धमान तीर्थंकर-प्ररूपित जैनधर्मकी उन्नति और विस्तार करने के लिये सर्व शक्ति से उद्यमवन्त हो जायँ।'

भिक्खुरायके उपर्युक्त प्रस्ताव पर सर्व निर्ग्रंथ और निर्ग्रन्थियोंने अपनी सम्मति प्रकट की और भिक्षुराजसे पूजित, सत्कृत और सम्मानित निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ मगध, मथुरा, वंग, आदि देशोंमें तीर्थंकरप्रणीत धर्म की उन्नति के लिये निकल पड़े।

उसके बाद भिक्खुरायने कुमरगिरि और कुमारीगिरिनामक पर्वतों पर जिन प्रतिमाओंसे शोभित अनेक गुफायें खुदवाईं, वहाँ जिनकल्प की तुलना करने वाले निर्ग्रन्थ वर्षाकालमें कुमारी पर्वत की गुफाओं में रहते और जो स्थविरकल्पी निर्ग्रन्थ होते वे कुमर पर्वतकी गुफाओं में वर्षाकालमें रहते, इस प्रकार भिक्खुराय ने निर्ग्रन्थों के रहनेके वास्ते विभिन्न व्यवस्था करदी थी।

उपर्युक्त सर्व व्यवस्थासे कृतार्थ हुए भिक्खुराय ने बलिस्सह, उमास्वाति, श्यामाचार्यादिक स्थविरों को नमस्कार करके जिनागमों में मुकुटतुल्य दृष्टिवाद—अंग का संग्रह करने के लिये प्रार्थना की।

भिक्खुराय की प्रेरणासे पूर्वोक्त स्थविर आचार्यों ने अवशिष्ट दृष्टिवादको श्रमणसमुदायसे थोड़ा थोड़ा एकत्र कर भोजपत्र, ताड़पत्र और बल्कल पर अक्षरों से लिपिबद्ध करके भिक्खुरायके मनोरथ पूर्ण किये और इस प्रकार करके वे आर्य सुधर्म-रचित द्वादशांगी के संरक्षक हुए।

उसी प्रसंगपर श्यामाचार्यने निर्ग्रन्थसाधुसाध्वियों के सुखबोधार्थ 'पन्नवणा सूत्र' की रचना की *।

स्थविर श्रीउमास्वातिजी ने उसी उद्देश से निर्युक्ति सहित 'तत्वार्थसूत्र' की रचना की ×।

स्थविर आर्य बलिस्सहने विद्याप्रवादपूर्वमें से 'अंग विद्या' आदि शास्त्रों की रचना की +।

* तत्वार्थसूत्रके कर्ता 'उमास्वाति' भी भिक्खुराय खारवेलकी इस सभामें उपस्थित थे, यह बात बहुत ही संदिग्ध तथा आपत्तिके योग्य जान पड़ती है। —सम्पादक

* श्यामाचार्य-कृत 'पन्नवणा' सूत्र अब तक विद्यमान है।

× उमास्वातिकृत 'तत्वार्थसूत्र' और इसका स्वोपज्ञ 'भाष्य' अभी तक विद्यमान हैं। यहां पर उल्लिखित 'निर्युक्ति' शब्द संभवतः इस भाष्यके ही अर्थमें प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है।

+ 'अंगविद्या' प्रकीर्णक भी हाल तक मौजूद है। कोई ९००० नौ हजार श्लोक प्रमाणका यह प्राकृत गद्य-पद्यमें लिखा हुआ 'सामुद्रिक विद्या' का ग्रन्थ है।

इस प्रकार जिनशासन की उन्नति करनेवाला भिक्खुराय अनेक विध धर्मकार्य करके महावीर निर्वाण से ३३० तीन सौ तीस वर्षोंके बाद स्वर्गवासी हुआ।

भिक्खुराय के बाद उसका पुत्र 'वक्रराय' कलिंग का अधिपति हुआ ❀।

वक्रराय भी जैनधर्मका अनुयायी और उन्नति करने वाला था, धर्माराधन और समाधिके साथ यह वीर निर्वाण से ३६२ तीन सौ बासठ वर्षके बाद स्वर्गवासी हुआ।

* कलिंग देशके उदयगिरि पर्वत की मानिकपुर गुफा के एक द्वार पर खुदा हुआ 'वक्रदेव' के नामका शिलालेख मिला है जो इसी 'वक्रराय' का है। लेख नीचे दिया जाता है—

"वेरस महाराजस कलिंगाधिपतिनो महामेघवाहन 'वकदेपसिरि' नो लेणं"

—मुनि जिनविजयसंपादित प्राचीन जैनलेखसंग्रह भा०१ पृ०४६

वक्रराय के बाद उसका पुत्र 'विदुहराय' कलिंगदेश का अधिपति हुआ ×।

विदुहरायने भी एकाग्रचितसे जैनधर्मकी आराधना की। निर्ग्रन्थ-समूह से प्रशंसित यह राजा महावीर निर्वाण से ३९५ तीनसौ पंचानवे वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुआ।" ❀

× उदयगिरि की मध्यपुरी गुफाके सातवें कमरेमें 'विदुराय' के नामका एक छोटा लेख है, उसमें लिखा है कि यह 'लयन' (गुफा) कुमार विदुरावका है।' लेखके मूल शब्द नीचे दिये जाते हैं—

"कुमार वदुरवस लेनं"

—एपिग्राफिका इंडिका जिल्द १३।

* कुछ महीनों पहिले 'हिमवंत-थेरावली' नामक एक प्राकृत भाषामयी प्राचीन स्थविरावलीका गुजराती अनुवाद मेरे देखनेमें आया था, जिसका परिचय मैंने अपने (अप्रकाशित) निबन्ध "वीर संवत् और जैन कालगणना" के अन्तमें परिशिष्टके तौर पर दिया है, उसी परिशिष्ट मेंका 'राजा खारवेल और उसका वंश' यह एक प्रकरण है।

वीर-वाणी

सोता था जब सकल विश्व अज्ञान-निशा में,
होता था अन्याय अकारण दिशा दिशा में;
करुणा, रक्षा, दया, प्रेम, व्याकुल रोते थे,
हिन्सा, रोदन, रक्तपात, अविरल होते थे।
× × ×
तभी 'वीर-वाणी' खिरी आलोकित जग हो गया।
ज्ञान-दिवाकर-उदयसे मिथ्यातम सब खो गया॥

—कल्याणकुमार जैन 'शशि'

सिरि खारवेल के शिलालेख की १४वीं पंक्ति

[ले०—श्री० बाबू कामताप्रसादजी]

माघमासके 'अनेकान्त' में श्रीमुनिपुण्यविजयजीने सम्राट् खारवेलके हाथीगुफा वाले शिलालेख की १४वीं पंक्ति पर प्रकाश डाला है और उससे यह ध्वनित किया है कि श्वेताम्बर ग्रंथों के वाक्यों से इस पंक्तिके वाक्योंका सादृश्य है। किन्तु शिलालेखके अक्षरों का ठीक अध्ययन किये बिना मुनिजी का बताया हुआ पाठ * स्वीकार किया जाना कठिन है। तिस पर स्वयं महोपाध्याय पं० काशीप्रसाद जायसवालने क़रीब दस वर्ष के परिश्रमके बाद इसे नये रूपमें पढ़ा है और उनका यह पाठ बहुत ठीक जँचता है। उन्होंने इस पंक्ति को पहले इस रूपमें उपस्थित किया था :—

"सुपवत विजयि-चके कुमारी-पवते अरहिते य [।]प-खिम-व्यसंताहि-काय्य निसीदीयाय याप-आवकेहि राज-भितिनि चिनवतानि वोसासितनि [।] पूजानि कत-उवासा खारवेलसिरिना जीव-देवसिरि-कल्पम् राखिता [।]

किन्तु अब वे इसी को यूं प्रकट करते हैं —

"सुपवत विजयिचक(+ अ) कुमारी-पवते अरहयते (य) प-खीन-सं (सि) तन (˘) हि काय निसीदीयाय यापञावकेहि राजभितनि चिनवतानि वासासितानि पूजाय-रत-उवास खारवेल-सिरिना जीव-देह-सीरिका-परिखिता ।" ×

और इस नये पाठ के विषय में जायसवालजी लिखते हैं कि:—

"After Khina one letter was unread in the rock... The expression seems to stand for "Yapa-kshina-samsita"='reduced (expiated) and emaciated by 'Yapa' practices." Another possible reading (if we neglect the 'Ya' below the line) would be Pakhina-samsita=Prakshina-samsita =thoroughly reduced and emaciated." Taking Samsita or Samsata =Sanskrit Samsrita (round of births), Khina-samsita would mean "those who have ended their course of births (by austerities)," that is the perfect ideal Jaina ascetes, who are believed to have freed themselves by means of austerities. This is so much idealised in Jain philosophy." (पूजायरत etc) state that Kharvela having finished layman's Vow (rata-uvasa-Kharvela-Sirina) realised (experienced) the beauty of (i-e the distinction bet:) 'Soul' (Jiva) and matter (Deha)" (JBORS. XIII. P.233-234)

इस वक्तव्यसे उक्त पंक्तिका सम्बन्ध ठीक खारवेलसिरि

* यह पाठ मुनिजी का बताया हुआ नहीं किन्तु खुद के० पी० जायसवालजीका बताया हुआ है। मुनिजीने तो महज़ उसके अर्थ पर अपना विचार प्रस्तुत किया है, जिस पर लेखक महाशय ने कोई आपत्ति नहीं की। —सम्पादक

× इस पाठसे मुनिजी द्वारा उद्धृत अंश कुछ भी विभिन्नताको लिये हुए नहीं जान पड़ता। फिर नहीं मालूम इसे तथा इसके साथ जायसवालजीके अंग्रेजी वक्तव्यको उद्धृत करनेका लेखक महाशयने व्यर्थ ही क्यों परिश्रम उठाया है! —सम्पादक

मे होजाता है "धर्मका निर्वाह करने वालों" से नहीं। अतः मुनिजी का पाठ सहसा स्वीकार कर लेना कठिन प्रतीत होता है। जो हो; यह तो निस्संदेह है कि यह शिलालेख दिगम्बर-श्वेताम्बर प्रभेदसे प्राचीन है और उस में अखंड जैनसंघका दर्शन होता है—किसी संप्रदाय विशेष का नहीं। विद्वानों को इसका अध्ययन करना चाहिये।

नोट—

यह लेख कुछ बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है। जब मुनिजी-द्वारा उद्धृत पाठ जायसवालजीका ही पाठ है, बल्कि उनके नये पाठका ही अविकल रूप है, और उसके "कायनिसीदीयाय यापञावकेहि" शब्दों के अर्थविरोध में जो विचार मुनिजी-द्वारा प्रस्तुत किया गया था उसपर भी यहाँ कोई आपत्ति नहीं की गई और न उसका समर्थन ही किया गया, तब समझमें नहीं आता कि लेखक महाशयने यह लेख लिखनेका कष्ट क्यों उठाया? लिखकर क्या लाभ निकाला? अथवा किस धुनमें वे इसे लिख गये हैं? आपका यह लिखना भी कुछ अर्थ नहीं रखता अथवा निःसार जान पड़ता है कि "इस वक्तव्यसे उक्त पंक्तिका सम्बन्ध ठीक खारवेलसिरि से होजाता है—'धर्म का निर्वाह करनेवालों' से नहीं।" क्या जायसवालजीके इस वक्तव्यसे पहलेके उनके वक्तव्यद्वारा इस पंक्ति का सम्बन्ध खारवेल से नहीं होता था? जरूर होता था। और क्या इस पंक्तिमें "कायनिसीदीयाय यापञावकेहि राजभितिनि चिनवतानि वासा सितानि" पदोंके मौजूद होते हुए भी यह कहा जासकता है कि इसका दूसरोंसे, बिलकुल ही सम्बंध नहीं है? कदापि नहीं। खुद जायसवालजी हालके अपने एक लेख* में, इस पंक्तिके उसी अंशको उद्धृत करते हुए जिसको मुनिजीने उद्धृत किया है और जिसे लेखक महाशय ने अपनी जाँच में "बहुत ठीक" पाठ बतलाया है, लिखते हैं:—

"इस लेखकी १४वीं पंक्तिमें लिखा है कि राजा ने कुछ जैन साधुओं को रेशमी कपड़े और उजले कपड़े नज़र किए—अरहयते पखीनसंसितेहि कायनिसीदीयाय यापञावकेहि राजभितिनि चिनवतानि वासा सितानि अर्थात् अर्हयतं प्रक्षीणसंसृतिभ्यः कायनिषीद्यां यापज्ञायकेभ्यः राजभृतीश्चीनवस्त्राणि वासांसि सितानि।

इससे यह विदित होता है कि श्वेताम्बर वस्त्रधारण करने वाले जैन साधु, जो कदाचित् "यापज्ञापक" कहलाते थे, खारवेल के समय में अर्थात् प्रायः १७० ई० पू० (११० विक्रमाब्दपूर्व) भारत में वर्तमान थे, मानो श्वेताम्बर जैनशाखाके वे पूर्वरूप थे।"

ऐसी हालतमें लेखक महाशय का उक्त नतीजा निकालना और मुनिजीके पाठको स्वीकार करने में कठिनता का भाव दर्शाना कहाँ तक उचित है इसे सहृदय पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। मुनिजी ने अपने लेखद्वारा यदि यह ध्वनित किया है कि "श्वेताम्बर ग्रन्थों के वाक्योंसे इस पंक्तिके वाक्यों का सादृश्य है" और वह आपको इष्ट नहीं तो उसके असरको दूर करनेका यह तरीक़ा नहीं जो अख्तियार किया गया है। उसके लिये शिलालेख का परिश्रम करके स्वतः अध्ययन करना चाहिये और यदि हो सके तो जायसवालजी के पाठको बेठीक सिद्ध करना चाहिये, जिसे अभी बिना गहरी जाँच के "बहुत ठीक" बतला दिया गया है! अथवा जायसवाल तथा मुनिजीद्वारा प्रतिपादित अर्थों को ही गलत साबित करना चाहिये और दिगम्बर ग्रन्थों के साथ इस पंक्ति के उन शब्दोंका अधिक सादृश्य तथा सम्बंध स्थापित करके बताना चाहिये। तभी कुछ कहना अथवा लिखना वज़नदार हो सकेगा।

सम्पादक

* देखो, 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' भाग १० अङ्क ३ पृ० ५०१ यह पूरा लेख भी पाठकोंके परिचयके लिये अन्यत्र उद्धृत किया गया है।

सुभाषित मणियाँ

प्राकृत—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

—कुन्दकुन्दाचार्य।

'बन्धुवर्ग और शत्रुवर्गके प्रति जिसका समानभाव है—एक को अपना और दूसरे को पराया जो नहीं समझता—, सुख या दुःखके समुपस्थित होने पर जिसका साम्यभाव स्खलित नहीं होता—एकको पाकर हर्षित और दूसरेको पाकर संक्लेशित जो नहीं होता—, प्रशंसा और निन्दा के अवसरों पर जो समचित्त रहता है—एक से अपना उत्कर्ष और दूसरे से अपना अपकर्ष नहीं मानता—, मिट्टी के ढेले और सोनेके डलेमें जो समताभाव रखता है—एकको अकिंचित्कर और दूसरेको अपना उपकारक नहीं समझता, इसी तरह जीना और मरना भी जिसकी दृष्टिमें बराबर है—एकमें आत्मधारण और दूसरे से अपने अत्यंत विनाशका जो अनुभव नहीं करता, वही 'श्रमण' अर्थात् समताभावमें लीन सच्चा जैनसाधु है।

(इसमें जैनसाधुका जो स्वरूप बतलाया गया है वह बड़े महत्वका है। ऐसे ही साधुओंसे जैनसमाज कभी गौरवान्वित था। आज कल जो कतिपय साधु रागद्वेषके वशीभूत हुए दलबन्दियां करते हैं, साम्यभावको भुलाकर निन्दा प्रशंसा तथा सामाजिक झगड़े-टंटोंमें भाग लेते हैं उन्हें इस साधुस्वरूपके सामने जैनसाधु माननेमें बड़ा ही संकोच होता है। निःसन्देह ऐसे लोग जैनसाधुके पवित्र नामको बदनाम करते हैं।)

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज। जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विवहेहिं॥

—कुन्दकुन्दाचार्य।

'यदि साधु अज्ञानी है—आत्मज्ञान से पराङ्मुख है—तो वह अवश्य ही परपदार्थ को प्राप्त होकर राग, द्वेष या मोहरूप प्रवर्तता है—अथवा उसकी ऐसी प्रवृत्ति उसके अज्ञानी होनेको सूचित करती है—और वह उसके कारण नाना प्रकारके कर्मोंसे बँधता है। ऐसे साधुकी मुक्ति नहीं होती।'

उत्तमधम्मेण जुदो होदि तिरक्खो वि उत्तमो देवो।
चंडालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण संभवदि॥

—स्वामिकार्तिकेय।

उत्तम धर्मसे युक्त हुआ—उसे पालन करता हुआ—तिर्यंच भी उत्तम देवगतिको प्राप्त होता है और चांडाल भी उत्तमधर्मका अनुष्ठान करनेसे देवोंका इन्द्र होता है।'

(इससे यह स्पष्ट है कि चाण्डाल जैसे हीन समझे जाने वाले मनुष्य भी जैन दृष्टिमें उत्तम धर्मके अधिकारी तथा पात्र हैं और इस लिये वे उत्कृष्ट जैनाचारका अनुष्ठान कर सकते हैं।)

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हुवाहं, पुज्ज चढ़ावउं कस्स॥

—योगीन्द्रदेव।

'जब मन परमेश्वरसे मिलगया—तन्मय होगया—और परमेश्वर मनमें लीन होगया, दोनों ही समरस हो गये; तब मैं पूजा किसको चढ़ाऊँ? किसीको भी पूजा चढ़ाने का उस वक्त कुछ प्रयोजन नहीं रहता।

जेण णिरंजणि मणु धरिउ, विसयकसायहिं जंतु।
मोक्खहं कारण एत्तडउ, अण्णु ण तंतु ण मंतु॥

—योगीन्द्रदेव।

'जिसने विषय-कषायों से अपने मनको हटा कर परमात्मामें—निजशुद्ध स्वरूपमें—लीन किया है वही मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्षप्राप्तिका यही एक उपाय है। इससे भिन्न दूसरा कोई मंत्र या तंत्र उसके लिये नहीं है।

पंचहं णायकु वसि करहु, जेण होंति वसि अण्ण।
मूल विणट्ठइ तरुवरहं, अवसइं सुक्कहिं पण्ण॥

पांचों इंद्रियोंके नायकको—मनको—वशमें करो, जिसके वशमें होनेसे अन्य सभी इंद्रियाँ वश में हो जाती हैं; जैसे कि मूलके नष्ट होनेपर वृक्षके पत्ते खुद ही सूख जाते हैं।

संस्कृत—

तत्त्वज्ञानविहीनानां नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलम् ।
न हि स्थाल्यादिभिः साध्यमन्नमन्यैरतण्डुलैः ॥
—वादीभसिंहसूरि ।

'जो लोग तत्त्वज्ञानसे रहित हैं उनका निर्ग्रन्थ साधु बनना भी निष्फल है; क्योंकि यदि तण्डुलादिक भोजनकी सामग्री नहीं है तो महज़ पतीली आदि पात्रोंका संग्रह कर लेनेसे ही भोजन निष्पन्न नहीं हो सकता ।'

(इससे स्पष्ट है कि जैन मुनियोंके लिये तत्त्वज्ञान सबसे अधिक ज़रूरी है, वह यदि नहीं है तो उनका निर्ग्रन्थ वेष धारण करना भी निरर्थक है ।)

"भावहीनस्य पूजादितपोदानजपादिकम् ।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव ॥"

'बिना भावके पूजा आदिकका करना, तप तपना, दान देना, जाप्य जपना—माला फेरना—और यहाँतक कि दीक्षादिक धारण करना भी ऐसा ही निरर्थक है जैसा कि बकरी के गलेका स्तन । अर्थात् जिस प्रकार बकरी के गले में लटकते हुए स्तन देखने में स्तनाकार होते हैं परन्तु वे स्तनों का कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार बिना भावकी पूजनादिक क्रियाएँ भी देखने की ही क्रियाएँ होती हैं, पूजादिकका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता ।'

(जो भाव इन सब क्रियाओंका जीवन और प्राण है वह तत्त्वज्ञानके बिना नहीं बन सकता इसलिये तत्त्वज्ञानका होना—इन क्रियाओंके मर्मको पहचानना—सर्वोपरि मुख्य है । इसीसे जैनाचार्योंने चारित्रसे पहले सम्यग्ज्ञानके आराधनका उपदेश दिया है और उस चरित्रको मिथ्या चरित्र एवं संसार-परिभ्रमण का कारण बतलाया है, जो सम्यग्ज्ञान पूर्वक नहीं है ।)

धैर्यं शौर्यसहिष्णुते सरलता संतोषसत्याग्रहौ
तृष्णाया विलयः कषायविजयः प्रोत्साहनं मानसं ।
शांतिर्दान्तिरुदारता च समता न्यायेपरार्थेरति-
श्चैते यत्र गुणाः स्फुरन्ति हृदये तत्रैव मानुष्यकम् ॥
——मुनिरत्नचन्द्र ।

'जिस हृदयमें धैर्य, शौर्य, सहिष्णुता, सरलता, संतोष, सत्याग्रह, तृष्णात्याग, कषायविजय, उत्साह, शान्ति, इन्द्रियदमन, उदारता, समता और न्याय तथा परमार्थमें रति, ये गुण स्फुरायमान हों वहीं मनुष्यताका वास है । अर्थात् मनुष्यता की प्राप्ति अथवा उसके उदयके लिये हृदय इतने गुणों से संस्कारित होना चाहिये ।'

शूद्रे चैव भवेद्वृत्तं ब्राह्मणेऽपि न विद्यते ।
शूद्रोऽपि ब्राह्मणो ज्ञेयो ब्राह्मणः शूद्र एव च ।
—महाभारत ।

'एक शूद्रमें सदाचार पाया जाता है जब कि एक ब्राह्मणमें वह नहीं देखा जाता । अतः सदाचार-संयुक्त शूद्रको भी ब्राह्मण और सदाचार से रहित ब्राह्मणको भी शूद्र समझना चाहिये ।

(इससे शूद्र सदाचारका पात्र ही नहीं किन्तु उसके प्रभाव से ब्राह्मण बननेका भी अधिकारी है ।)

"पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥"

'मनुष्य पुण्यका फल सुख तो चाहते हैं परन्तु पुण्य कृत्य करना नहीं चाहते!—उसके लिये सौ हीले बहाने बना देते हैं—और पापका फल—दुख—कभी चाहते नहीं—उसके नामको सुनकर ही घबरा जाते हैं—फिर भी पाप को बड़े यत्न से करते हैं !!'

(यह संसारी जीवोंकी कैसी उलटी रीति है !! ऐसी हालतमें कारण-विपर्यय होनेसे दुखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसी बातको कविने इस पद्यमें सखेद ध्वनित किया है।)

"अनुगंतुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगंतव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥"

'सत्पुरुषों के मार्ग पर यदि तुम पूरी तौर से नहीं चल सकते तो भी थोड़ा तो चलना ही चाहिये; क्योंकि जो मार्गपर लग जाता है वह दुःख नहीं पाता—अन्यथा मार्ग भटक कर ठोकरें ही खानी पड़ती हैं ।'

हिन्दी—

बिना भाव के बाह्य-क्रियासे धर्म नहीं बन आता है,
रक्खो सदा ध्यानमें इसको, यह आगम बतलाता है।
भाव-बिना जो व्रत-नियमादिक करके ढोंग बनाता है,
आत्म-पतित होकर वह मानव ठग-दंभी कहलाता है॥
× × —'युगवीर'

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो दहुँ दिस फिरै, यह तो सुमरन नाहिं॥
× × —कबीर।

दादू दीया है भला, दिया करो सब कोय।
घर में दिया न पाइये, जो कर दिया न होय॥
× × —दादूदयाल।

सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल-सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय॥
× × —'वृन्द'

अरि हुँ दन्त तृन गहहिं ताहि मारत नहिं जग कोइ।
हम संतत तृन चरहिं वचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमृत-पय नित स्रवहिं वत्स महि-थंभन जावहिं,
हिन्दुहिं मधुर न देहिं कटुक तुरकहिं न पिवावहिं॥
कह नरहरि अकबर सुनो, बिनवत गउ जोरे करन।
केहि अपराध मारियत मोहे, मुयेहु चाम सेवत चरन॥
× × —नरहरि।

तोड़ने दूँ क्या इसे नक़ली क़िला मैं मान के।
पूजते हैं भक्त क्या प्रभु-मूर्ति को जड़ जान के॥
अज्ञजन उस को भले ही जड़ कहें अज्ञान से।
देखते भगवान को धीमान उस में ध्यान से॥
× × —मैथिलीशरण।

कानन में बसै ऐसो आन न ग़रीब जीव,
प्रानन सौं प्यारौ प्रान पूंजी जिस यहै है।
कायर सुभाव धरै काहू सौं न द्रोह करै,
सब ही सौं डरै दाँत लिये 'तिन' रहै है।
काहू सौं न रोष पुनि काहू पै न पोष चहै,
काहू के परोष परदोष नाहिं कहै है।
नेकु स्वाद सारिबे कौं ऐसे मृग मारिबे कौं,
हा हा रे कठोर! तेरो कैसे कर बहै है!!
× × —भूधरदास।

उर्दू—

दया वह धर्म है जिसपै कि कुदरत[1] नाज़[2] करती है।
सदाक़त[3] नाज़ करती है, क़दामत[4] नाज़ करती है॥
असूलों[5] पर इसी के शाने वहदत[6] नाज़ करती है।
हक़ीक़त में अगर पूछो हक़ीक़त[7] नाज़ करती है॥
× × —'नाज़'

"किसी दुनिया के बन्दे को अगर शौक़े हुकूमत हो।
तो मेरा शौक़ दुनियामें फ़क़त[8] इन्सॉंकी ख़िदमत हो॥
× × ×

"नहीं कुंजेख़िलवत[9] की उस को ज़रूरत।
जो महफ़िल को ख़िलवतसरा[10] जानता है॥"
× × ×

"इस घरको आग लग गई घर के चिराग़ से।
दिल के फफोले जल उठ सीने[11] के दाग़ से॥
× × ×

"ऐ फूट! तूने हिन्द की तुर्की तमाम की।
लोगों का चैन खो दिया राहत[12] हराम की॥"
× × ×

किसी बेकस[13] को ऐ बेदादगर! मारा तो क्या मारा?
जो ख़ुद ही मर रहा हो उसको गर मारा तो क्या मारा?
न मारा आपको जो ख़ाक हो अक्सीर बन जाता।
अगर पारे को ऐ अक्सीरगर! मारा तो क्या मारा?
बड़े मूज़ी को मारा [14]नफ़्सेअम्मारा को गर मारा?
नहंगो अज़दहाओ[15] शेरेनर मारा तो क्या मारा?
× × —'ज़ौक़'

"ज़ेवर पिन्हाना बच्चों को हरगिज़[16] भला नहीं।
पर क़िस्म सीमोज़र[16] से न हो तो बुरा नहीं॥
जिस हाथ में कड़ा हो वह टूटे तो क्या अजब?
हँसली हो जिस गले में समझ लो गला नहीं॥"
× × ×

अबस[17] अपनी हस्ती पै फूला हुआ है।
जियेगा हमेशा न कोई जिया है॥
है दो साँस पर ज़िन्दगानी बशर[18] की।
कि एक आ रहा दूसरा जा रहा है॥
× × 'दास'

१ प्रकृति. २ गर्व. ३ सत्यता. ४ नित्यता. ५ सिद्धान्तों. ६ ईश्वरत्व ७ वास्तविकता. ८ केवल. ९ एकान्त कोण. १० एकान्त स्थान. ११ छाती. १२ सुख-शांति. १३ ग़रीब-निःसहाय. १४ इंद्रियविषय. १५ नागराज. १६ सोना-चांदी-जवाहरात. १७ व्यर्थ. १८ मनुष्य.

महाकवि श्रीहरिचन्द्रका राजनीति वर्णन

[लेखक—श्रीयुत पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्री]

प्राचीन संस्कृतसाहित्य-सागर का मन्थन करने से संस्कृत-कवियों के विशाल अध्ययन, सार्वविषयक पांडित्य, तथा बहुदृष्टिता का अपूर्व दिग्दर्शन मिलता है। जहाँ उन्होंने कविता-कामिनी को शृंगार रससे शृंगारित किया है वहाँ समाज-शास्त्र, प्रकृति वर्णन, अध्यात्म, एवं राजनीति जैसे विद्वत्प्रिय मनोहारि अलंकारों से अलंकृत भी किया है। कविगण राष्ट्र के प्राण होते हैं, उनके शब्दोंमें वह अपूर्व शक्ति होती है जो मुर्दा दिलों को जिन्दा, कायरको वीर और रणसे भागती हुई सेना को "मृत्वा वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीं" की स्मृति करा कर रण विजयिनी बनाती है। वास्तव में कविके सदृश राजा का सच्चा मित्र दूसरा नहीं। इसीसे धर्मशर्माभ्युदय में राजनीति का वर्णन करते हुए, कवि महोदय लिखते हैं—

विचारयंतद्यदि केऽपि बान्धवा-
महाकविभ्योऽपि परे महीभुजः।
यदीयसूक्तामृतसीकरैरसौ
गतोऽपि पञ्चत्वमिहाशु जीवति ॥ १८-४१

'महाकवियों से अधिक नरेशों का कोई बांधव नहीं है, जिनके वचनामृत के सिंचन से मुर्दादिल भी जिन्दा हो जाते हैं, अथवा मृत्यु को प्राप्त होने पर भी लोकमें उनका जीवन—यशःशरीर—बना रहता है।'

अब ज़रा उन्हीं मृतों को जिलाने वाले महाकवियों में गणनीय कविश्रेष्ठ श्रीहरिचन्द्रजी की राजनीति का कुछ वर्णन सुनिये। यह वर्णन उन्होंने धर्मशर्माभ्युदयके १८वें सर्ग में राजा महासेन के मुखसे धर्मनाथ के प्रति कराया है। अर्थात्,

राजा महासेन क्षणभंगुर सांसारिक भोगों से विरक्त होकर अपने पुत्र श्रीधर्मनाथ को राज्यतिलक करके बनको जाना चाहते हैं। श्रीधर्मनाथ, यद्यपि, तीर्थंकर होने के कारण जन्मसे ही मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञान से युक्त हैं, फिर भी राजा पुत्रमोह के कारण या राजनीतिके नियमानुसार उन्हें राज्याभिषेक से पूर्व कुछ राजनीति के रहस्यों से परिचित करा देना अपना कर्तव्य समझते हुए उपदेश करते हैं—

उपात्ततंत्रोप्यखिलाङ्ग रक्षणे
न मंत्रिसान्निध्यमपेतुमर्हसि।
श्रिया पिशाच्येव नृपत्वचत्वरे
परिस्खलन् कश्छलितो न भूपतिः ॥१६॥

'समस्त देशके रक्षण करनेमें समर्थ चतुरङ्ग सैन्य के होते हुए भी कभी मंत्रिविहीन नहीं रहना अथवा मंत्रियोंका तिरस्कार नहीं करना। इस त्रुटि के कारण राजत्व रूपी चौराहे पर लक्ष्मी पिशाचिनी के द्वारा कौन भूपति नहीं ठगा गया।'

[illegible] है विपत्ति के समय योग्य मंत्रिमंडल ही राष्ट्र तथा राजा की रक्षा करता है—यहाँ तक कि प्रजातंत्र राज्य भी बिना मंत्रिमंडल के नहीं चल सकते, फिर स्वछंद राजतंत्र राज्योंका तो कहना ही क्या? जिनको राज्यसत्ता का मद पद पद पर मदान्ध बनाने के लिये प्रस्तुत रहता है ॐ।

> न बद्धकोषं स तथा यथाम्बुजं
> विकोषमाक्रामति षट्पदोच्चयः।
> पराभिभूति-प्रतिबन्धन-क्षमं
> नृपो विदध्यादिति कोषसंग्रहम् ॥ १७ ॥

'भ्रमरकुल जैसे विकोष—खिले हुए—कमल पर उसका रसपान करने के लिये आक्रमण करते हैं वैसे बद्धकोष—मुकुलित अथवा बन्द—कमल पर नहीं करते। इस लिये राजा को दूसरे शत्रुओं से अपनी रक्षा करनेके लिये कोषका—खजानेका—संग्रह करना चाहिये।'

यहाँ पर कविने कोष शब्दका साम्य लेकर कमल का दृष्टान्त देते हुए, राजा लोगों को कोषसंग्रह का उपदेश किया है। यथार्थ में कोष राजसत्ता का जीवन है। कोष न रहने से कर्मचारियों को समय पर वेतन नहीं मिलता, जिससे सैन्य विद्रोही होकर शत्रु पक्षमें जा मिलती है। और धन संग्रह के लिये अनुचित टैक्स लगाने पर राष्ट्र में विप्लव खड़ा हो जाता है। इतिहास में भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं ॐ।

यद्यपि कोष राज्यसत्ता का मुख्य अंग ही नहीं किन्तु स्वयं राज्यसत्ता है तथापि जो राजा कोष से समृद्ध होने पर भी स्वावलम्बी नहीं होता—प्रत्येक कार्य में दूसरों का मुँह ताकना है—वह राजश्रेणी में अपना गौरव नहीं रख सकता। इसी बात को लेकर कवि ने कहा है—

> स्थितेऽपि कोषे नृपतिः पराश्रयी
> प्रपद्यते लाघवमेव केवलम् ॥ २२ ॥

'कोष होने पर भी परावलम्बी राजा सर्वदा नीचा ही देखता है। अतः राजा को आत्म-निर्भर होना चाहिये।'

इस छोटे से वाक्य से कविने राजाओंके ही लिये नहीं किन्तु पददलित राष्ट्रोंके लिये भी बड़ी गूढ़ शिक्षा की बात कही है। सच है जो राष्ट्र स्वतंत्र होकर भी आत्म-निर्भरताका पाठ नहीं सीख सका है उसकी स्वतन्त्रता क्षणिक है; फिर जो दूसरे के बन्धनमें जकड़ा हुआ है और स्वतंत्र होने की—अपना अधिकार पुनः प्राप्त करनेकी—इच्छा रखता है उसको तो स्वावलम्बी

---

* प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ आचार्य सोमदेव तो बिना मन्त्री के राजा होना ही नहीं मानते। आप लिखते हैं—

चतुरंगयुतोऽपि नाममात्यो राजाऽस्ति किं पुनरन्यः॥ नीतिवा०पृष्ठ १८५

'चतुरंग सैन्य से युक्त होने पर भी बिना मन्त्रीके राजा नहीं हो सकता। फिर सैन्यरहित (निर्बल) का तो कहना ही क्या।'

* कोष-विषयमें श्री सोमदेवाचार्य-प्रणीत 'नीतिवाक्यामृत' के निम्न वाक्य भी जानने योग्य हैं:—

क्षीणकोशो हि राजा पौरजनपदानन्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्रशून्यता स्यात्।

'कोषहीन राजा धन संग्रह करने के लिये प्रजाजन पर अन्याय पूर्वक अनुचित कर लगाता है जिससे प्रजा में विप्लव होता है और देश वीरान हो जाता है।'

कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरम्।

'कोश को ही राजा कहते हैं, राजाओं के शरीरको नहीं।'

यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति।

'दो राजाओं का परस्पर संग्राम छिड़ने पर धनवान की ही विजय होती है।'

होना ही पड़ेगा। बिना आत्मनिर्भरता के केवल दूसरों का मुख जोहने से न तो कोई स्वतंत्र हुआ है और न हो सकता है—भले ही वह राष्ट्र कितना ही धन-जन संपन्न क्यों न हो। ग़रीब देश की तो फिर बात ही अलग है।

अनुज्झित स्नेहभरं विभूतये
विधेहि सिद्धार्थसमूहमाश्रितम्।
स पीडितः स्नेहमपास्य तत्क्षणात्
खली भवन्केन निवार्यते पुनः॥ १८॥

'अपने से प्रेम दर्शाने वाले आश्रित जनोंकी मनोवाञ्छा पूर्ण करनी चाहिये, इसी में राजा का हित है। क्योंकि यदि उनके साथ अनुचित व्यवहार किया गया और उन्होंने दुःखित होकर प्रेम त्याग दुर्जनता का अवलम्बन लिया तो फिर उन्हें वैसा करने से कौन रोक सकता है? *

यहाँ तक तो हुआ राज्यसत्ताको जमानेके उपयुक्त साधनों का वर्णन, अब ज़रा दिग्विजय-सम्बन्धी राजनीति का भी वर्णन देखिये—

विशुद्धपार्ष्णिः प्रकृतीरकोपयन
जयाय यायादरिमण्डलं नृपः।
बहिर्व्यवस्थामिति बिभ्रदान्तरा-
ञ्जयी कथं स्यादनिरुध्य विद्विषः॥२६॥
ततो जयेच्छुर्विजिगीषुरान्तरा-
न्यतेत जेतुं प्रथमं विरोधिनः।
कथं प्रदीप्तानवधीर्य वन्हिना
गृहानिहान्यत्र कृती व्यवस्यति॥ २७॥

'जिस राजा को (दूसरे देश पर चढ़ाई करने के बाद स्वदेश पर) समीपवर्ती राष्ट्रोंके आक्रमण करनेका भय न हो तथा जिसका प्रकृतिवर्ग—मंत्री, सेना प्रजा आदि—उसके इस कार्यसे असन्तुष्ट न हो वही राजा शत्रुदेशको विजय करने के लिये प्रस्थान करे। क्योंकि बाह्य सेना आदि के होते हुए भी आभ्यंतर शत्रुओंका निग्रह किये बिना जयलाभ कैसे हो सकता है? अतः सबसे प्रथम जय-इच्छुक विजिगीषु × राजा को आभ्यंतर शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये। अपने घरको अग्निमे धधकता हुआ छोड़कर कौन बुद्धिमान पुरुष है जो अन्यत्र कार्य करना स्वीकार करेगा?' *

* महाकवि भारविभी किरातार्जुनीयमें, दुर्योधनकी राज्यव्यवस्था का दिग्दर्शन कराते हुए, राजाके व्यवहारका ऐसा ही भाव दर्शाते हैं—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः। स सततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधुबन्धुताम्॥

'राजा दुर्योधन राजमद को त्याग कर (पाण्डवों के भयसे) सर्वदा सेवकों के साथ गाढ़ प्रेमी मित्रों के सदृश, मित्रों के साथ सहोदर भाई के सदृश और सहोदर भाईयों के साथ अभिषिक्त राजाओं के सदृश व्यवहार दिखलाता है।'

प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ आचार्य कौटिल्य ने भी राजा को स्वाश्रित जनों के साथ प्रेम पूर्ण व्यवहार करने की ही सम्मति दी है।

× राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो-
नयविक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषुः।
—नी०वा०पृष्ठ ३१८

अर्थात्—आत्म—राज्याभिषेक, दैव—भाग्य, द्रव्य—कोष, प्रकृति—मंत्री आदि राजपुरुष, इन चार पदार्थों से युक्त तथा राजनीति विशारद पराक्रमी राजा को 'विजिगीषु' कहते हैं।

* इस विषयमें आचार्य कौटिल्यका कहना है कि—

'कोप या विद्रोह दो प्रकारका होता है—एक आभ्यन्तर कोप और दूसरा बाह्य। आभ्यन्तर कोप से तात्पर्य मन्त्री, पुरोहित, सेनापति तथा युवराज आदिके कोप या विद्रोहसे है। राष्ट्रमुख्य—राष्ट्रों के मुखिया, अन्तपाल—सीमारक्षक, आटविक—जंगल का प्रबन्ध कर्ता, तथा पराजित राजाका विद्रोह बाह्यकोप कहाता है। बाह्यकोप

राजा को त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का साधन क्यों और किस प्रकार करना चाहिये इसे भी अब सुनिये और देखिये कि एक जैनकवि केवल धर्मावलम्बी राजा को किस प्रकार फटकार बतलाता है—

मुखं फलं राजपदस्य जन्यते
तदत्र कामेन स चार्थसाधनः ।
विमुच्य तौ चेदिह धर्ममीहसे
वृथैव राज्यं वनमेव सेव्यताम् ॥ ३८ ॥

'राज्यासनका फल सुखोपभोग है, सुखकी उत्पत्ति काम से—विषय सेवनसे—होती है और कामसेवनके लिये पैसा चाहिये। अतः अर्थ और काम को छोड़कर यदि केवल धर्मसेवन ही करना चाहते हो तो छोड़ो इस राजसम्पदा को, वनमें जाकर तपस्या करो। राज्य भोगियों के लिये है योगियों के लिये नहीं।' ❀

यहाँ पर आशंका होती है कि यदि राजाओं का मुख्य कर्म भोग-विलास ही है और इसी का राजनीति समर्थन करती है तब तो आज कल के देशी नरेश पूरे राजनीतिज्ञ हैं और तन-मन-धन से इस राजनीतिका पालन करते हैं, फिर क्यों भारतवासी रात दिन उनके पीछे पड़े रहते हैं ? इसका उत्तर कवि के ही शब्दों में सुनिये :—

इहार्थकामाभिनिवेशलालसः
स्वधर्ममर्माणि भिनत्ति यो नृपः ।
फलाभिलाषेण समीहते तरुं
समूलमुन्मूलयितुं स दुर्मतिः ॥ ३२ ॥

'जो राजा अर्थ और कामकी तीव्र लालसामें लिप्त होकर अपने धर्म के मर्म का छेदन करता है—राजधर्म को भूल जाता है । वह राज कुलकलंक दुर्बुद्धि फल खानेकी इच्छासे वृक्षको ही जड़से उखाड़ना चाहता है।'

यहाँ पर कवि ने 'लालसा' और मर्म' शब्द देकर कमाल किया है—किसी की तीव्र लालसा ही अन्य

से आभ्यन्तर कोप भयंकर होता है । यदि राजा को (दूसरे देश पर चढ़ाई करने के बाद) स्वदेश में आभ्यन्तर कोपकी आशंका हो तो संशयास्पद (जिन पर विप्लव करने की आशङ्का हो) लोगों को चढ़ाई करते समय अपने साथमें ले लेवे । यदि उसको बाह्यकोप (शत्रु का आक्रमण) की सम्भावना हो तो संशयास्पद लोगों के परिवार अपने पास रखकर और भिन्न भिन्न सेनाओंके वर्गों का मुखिया भिन्न भिन्न व्यक्तियों को बना कर तथा स्थान स्थान पर शून्यपाल को नियुक्त कर चढ़ाई करे या उचित न समझे तो चढ़ाई न करे ।'

—कौटलीय अर्थ शास्त्र

महाकवि भारवि भी इसी बात को दर्शाते हुए लिखते हैं —

अणु रप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तःप्रकृतिप्रकोपजः ।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः

—किरा० द्वि० स० ४२

अर्थात्—जिस प्रकार वृक्षों की शाखा की रगड़ से उत्पन्न हुई आग अपने आश्रय पर्वत को भी जला कर खाक कर डालती है उसी प्रकार थोड़ा सा भी आभ्यन्तर विप्लव राजाको नष्ट कर देता है ।

* इस विषय में सोमदेवाचार्य लिखते हैं—

यः कामार्थावुपहत्य धर्ममेवोपास्ते स पक्वक्षेत्रं परित्यज्यारण्यं कृषति ॥

—नी० वा० पृष्ठ २४

अर्थात्—जो मनुष्य काम और अर्थ का त्याग कर केवल एक धर्म का ही साधन करता है वह (धान्य प्राप्ति के लिये) पके हुए खेत को छोड़कर अरण्य (जंगल) को जोतता है। अर्थात् अर्थ और काम पके हुए खेत के सदृश तुरन्त फलदाई हैं और धर्म अरण्य-कर्षण— वन जोतनेके—सदृश कालान्तर में फलदायी है और उसका भी मिलना न मिलना दैवाधीन है । इस लिये सुखार्थी पुरुष को अर्थ काम के साथ धर्म का साधन करना चाहिये ।

का मर्म-भेदन करवाती है ❀।

अतः राजा को समयानुकूल धर्म, अर्थ और काम का परस्पराविरोध रूपसे सेवन करना चाहिये।

नृपो गुरूणां विनयं प्रकाशयन्
भवेदिहामुत्र च मङ्गलास्पदम्।
स चाविनीतस्तु तनूनपादिव
ज्वलन्नशेषं दहति स्वमाश्रयम् ॥ ३४ ॥

'गुरुजन में विनययुक्त व्यवहार करने वाला राजा इस लोक तथा परलोक में सुखी रहता है और अविनीत—उद्धतस्वभाव—राजा अग्नि की तरह देश को नष्ट करने के बाद अपनी राज्य सत्ताको भी खो बैठता है। अतः राजाको विनयी होना चाहिये।' ×

धनं ददानोऽपि न तेन तोषकृत्
तथा यथा साम समीरयन्नृपः।
तदर्थं सिद्धावपरैरुपायकै-
र्न सामसाम्राज्यतुलाधिरुह्यते ॥ ३५ ॥

'राजपुरुष धन देने वाले राजा से उतने प्रसन्न नहीं रहते जितने मिष्टभाषी से। अतः कार्यसिद्धि के लिये साम-सदृश दूसरा उपाय नहीं है।' ×

सुमन्त्रबीजोपचयः कुतोऽप्यसौ
परप्रयोगादिह भेदमीयिवान्।
सुरक्षणीयो निपुणैः फलार्थिभि-
र्यतः स भिन्नो न पुनः प्ररोहति ॥ ३८ ॥

'फलार्थी राजा को गुप्तविचार—मंत्रणा—जो कि कार्य सिद्धि का बीज है बड़े यत्न से गुप्त रखना चाहिये—किसी भेदिये के द्वारा वह गुप्त विचार प्रगट न हो जाय। क्योंकि प्रगट हुई मंत्रणा भिन्न—फटे—हुए बीज की तरह फलदायी नहीं होती।' ❀

---

* जैनाचार्य सोमदेव भी इसी बातको शब्दछल से दिखलाते हुए कहते हैं—

योऽनङ्गेनापि जीयते सः कथंपुष्टाङ्गानरातीन् जयेत् ॥
—नी०वा०पृ०३६।

अर्थात्—जो राजा अनङ्ग—कामदेव—से पराजित हो जाता है वह पुष्टांग—राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सैन्य आदि राजसामग्रीसे बलवान—शत्रुओं को कैसे जीत सकता है? अनङ्ग से—अशरीर से—हारने वाला पुष्टांगको—हृष्ट पुष्ट शरीर वाले को—जीते, यह असंभव है।

× महाकवि भारवि भी, अविनीत राजा का वर्णन करते हुए, लिखते हैं—

मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः।
सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसंपदः ॥

'बुद्धिमान पुरुष अविनीत शत्रु की उन्नति की भी उपेक्षा ही करे। क्योंकि अपने अधिकारी वर्ग के साथ असभ्य व्यवहार करने वाला राजा कर्मचारियों में थोड़ा सा भी गोल माल होने पर सरलता से जीता जा सकता है। सच है, दुर्विनीत की सम्पत्ति भी अन्त में विपत्ति ही लाती है।'

× आचार्य सोमदेव भी सामका माहात्म्य बतलाते हुए, लिखते हैं—

सामसाध्यं युद्धसाध्यं न कुर्यात् ॥ नी०वा०पृष्ठ ३५१

'जो कार्य साम से—शान्ति से—सिद्ध होता है उसके लिये युद्ध न करना चाहिये।'

गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत ॥ नी०वा०

'यदि गुड़के खाने से ही काम हो जाता है तो कौन बुद्धिमान विष भक्षण करेगा?'

* आचार्य कौटिल्य भी मन्त्र को गुप्त रखने की सम्मति देते हुए कहते हैं—'मन्त्र भवन (वह स्थान जहां सलाह मशवरा किया जाय) सब ओर से सुरक्षित तथा गुप्त होना चाहिये। वहां से कोई भी खबर बाहिर न जा सके। पक्षी तक उस स्थानको न देख सके। किंवदंती है कि तोता, मैना, कुत्ता तथा अन्य जीवों ने मन्त्र (गुप्त विचार) को दूसरे पर प्रगट कर दिया। यही कारण है कि संरक्षण तथा प्रबन्ध किये बिना मन्त्रभवन में प्रवेश न करे। मन्त्र-भेदी को मृत्यु दंड दिया जाय। दूत, अमात्य तथा स्वामी लोगों के इशारे से मन्त्रभेदका—गुप्त विचारके खुलने का—अनुमान करे।...

पथि प्रवृत्तं विषमे महीभृतां
नितान्तमप्रस्थाननिवेशिनं भ्रमात् ।
स्वमन्यथाक्षाति नियामयत्यपि
प्रसह्य दण्डः खलु दण्डधारकम् ॥

'राजमार्ग बड़ा कठिन है, उसमें पैर रखकर जो न्यायाधीश भ्रम से निर्दोष पुरुष को जबरन दण्ड देता है वह अन्यायमुक्त दण्ड उस न्यायाधीश को बदनाम ही नहीं करता किन्तु उसको पदच्युत भी कर डालता है।' ❀

इस प्रकार राजमार्ग के पथिक को पद पद पर विचार और सहिष्णुता से कार्य करना चाहिये। जो नरेश स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्रकी नीतिको गुप्तचरों के द्वारा जान कर राजकर्मचारियों पर प्रेमपूर्ण बर्ताव के साथ कड़ी दृष्टि भी रखता है वही भावि-विपत्तियोंसे बच सकता है। इसके विपरीत जो नृप भोग विलास में आसक्त होकर अपना कर्तव्य भूल जाता है उसके सिर पर विपत्तियों के बादल सर्वदा मंडराते रहते हैं।

जब राजमार्ग इतना कण्टकाकीर्ण है तब तो राजा को कुलक्रमागत संपदा के अतिरिक्त अन्य देशों के विजय करने का कष्ट न उठाना चाहिये, जिसमें प्राणोंतक की आशंका रहती है। यदि जीवित रहेंगे तो थोड़े से राज्य में ही यथेष्ट सुखोपभोग कर सकेंगे। मरनेके बाद विजित देश साथ तो जायँगे नहीं। इस आशंकाका उत्तर कवि के ही शब्दों में पढ़िये—

इहोपभुक्ता कतमैर्न मेदिनी
परं न केनापि जगाम सा समम् ।
फलं तु तस्याः सकलादिपार्थिव-
स्फुरद्गुणग्रामजयोर्जितं यशः ॥

'इस पृथ्वी का उपभोग सैकड़ों पृथ्वीपति कर गये किन्तु यह किसीके साथ नहीं गई। फिर भी सकल-गुणशाली पृथ्वीपतियों को जीत कर पृथ्वी पर अपना यशविस्तार करना ही इसके जीतनेका फल है, जो कि राजन्यों का मुख्य धर्म है।'

वास्तव में जो राजा—

धिनोति मित्राणि न पाति न प्रजा—
विभर्ति भृत्यानपि नार्थसंपदा ।
न यः स्वतुल्यान्विदधाति बान्धवान्
स राजशब्दप्रतिपत्तिभाक्कथम् ॥ ४० ॥

'अपने मित्रोंको प्रसन्न नहीं रखता, प्रजा का रक्षण नहीं करता, आश्रित सेवकों की धनसम्पदा से सहायता नहीं करता और अपने बन्धुओं को अपने सदृश ऐश्वर्यशाली नहीं बनाता वह 'राजा' कहलाने का पात्र ही नहीं है।'

.........जब तक काम न हो जाय तब तक मन्त्र में सम्मिलित लोगों पर कड़ी नज़र रक्खे। इसी से मन्त्र की रक्षा होती है। प्रमाद, शराब, स्वप्न में बोलना तथा प्रलाप करना, काम के वश में होकर किसी स्त्री में फँस जाना आदि अनेक कारणों से मन्त्र खुल जाता है। छिपे हुए स्वभाव वाले दुश्मन तथा राजा द्वारा बेइज्जत किये गये लोग मंत्र खोल देते हैं। अतः राजा इनसे मन्त्र की रक्षा करे। राजा या कर्मचारियों द्वारा मन्त्र के खुलने पर दुश्मनों को ही लाभ पहुँचता है।' (कौ० अ० पृष्ठ २२)

* इसी प्रकार नीतिवाक्यामृतकार सोमदेव कहते हैं—

दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेषं करोति ॥

'काम, क्रोध तथा मूर्खतासे दिया हुआ अन्याययुक्त दण्ड राजा का सर्वनाश कर देता है।'

श्रीखारवेल-प्रशस्ति और जैनधर्मकी प्राचीनता

[लेखक—श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल]

> इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् जायसवाल जी का यह लेख नागरीप्रचारिणी पत्रिकाके हाल के (भाग १० के) अंक नं०३ में प्रकट हुआ है। इसमें जैनसम्राट् खारवेल, उनके शिलालेख तथा जैनधर्म की प्राचीनता आदि के विषय में जो कुछ कहा गया है वह जैन विद्वानों के जानने तथा विचार करने योग्य है। लेखक महाशय भी कुछ नामों की बाबत उनसे यह जानना चाहते हैं कि वे किसी जैन ग्रन्थ में उल्लेखित मिलते हैं या कि नहीं। उनकी इस इच्छा को कुछ अंशोंमें पूरा करने वाला मुनि कल्याणविजयजीका एक लेख भी इस किरणमें प्रकाशित हो रहा है और दूसरे बा० कामताप्रसादजी के लेख पर भी इससे कुछ प्रकाश पड़ता है। इन सब बातोंकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही यह लेख यहाँ पर दिया जाता है।

चक्रवर्ती अशोक मौर्य्यके शिलालेखमें जैन भिक्षुओं की चर्चा (निगंठ अर्थात्) निर्ग्रंथ नामसे आई है। पर वह उल्लेख मात्र है। वस्तुतः सबसे पहला जैन शिलालेख वह है जो उड़ीसाके भुवनेश्वर-समीपवर्ती खंडगिरी-उदयगिरि नामक पहाड़की हाथीगुफा नामधेय गुहा पर खुदा हुआ है। यह कलिंगाधिपति चेदिवंश-वर्द्धन महाराज खारवेल का लिखाया हुआ है। इस राजा का प्रताप एक बार चन्द्रगुप्त और अशोकका सा चमका। सारे भारतवर्ष में, पांड्य-देश के राजा से लेकर उत्तरापथ, तथा मगध से लेकर महाराष्ट्र देश तक इस की विजय वैजयंती फहराई। मौर्य्य साम्राज्य के पतन के साथही भारतवर्षके साम्राज्य सिंहासन पर चढ़ने की कामना चार आदमियोंको हुई। एक तो पटनेके मौर्य्य सेनापति पुष्यमित्र शुंगवंशीय ब्राह्मण थे जो नालंदामें पैदा हुए थे। दूसरे सातवाहनीय शातकर्णी जो दक्षिणापथके राजा कहलाते थे, तथा महाराष्ट्र देश और आंध्र देशके बीच पश्चिम देशमें राज्य करते थे। इनका भी एक ही पुश्तका नया राज्य था, वेभी ब्राह्मण थे। दोनों ने अर्थात् सेनापति पुष्यमित्रने और शातकर्णी सातवाहनने दो दो बार अश्वमेध किया यह शिलालेखोंसे साबित है। तीसरे, श्रीखारवेल कलिंगवाले को भी भारतमें चक्रवर्ती पद प्राप्त करनेकी लालसा हुई। मगधके राजा नंदवर्द्धन और अशोकने कलिंग जीता था, इसका बदला भी इन्होंने चुकाया और कलिंगसे नंदराजा द्वारा आई हुई जिन-मूर्तियाँ वे मगध से वापिस ले गए तथा मगध के तोशकखाने से अंग-मगधके रत्न प्रतिहारों समेत उठा ले गए। इसी समय दमेत्रिय नामक यवनराज, जो अफग़ानिस्तान और बाल्हीक का राजा था, भारत पर टूट पड़ा और मथुरा, पंचाल, साकेत को जो मगध साम्राज्य के सूबे थे, लेता हुआ पटने तक पहुँच गया। इसने भी मौर्य्य सिंहासन पर बैठने का पूरा मंसूबा किया था। यह अपनी कामनामें प्रायः सिद्धार्थ हो चुका था कि उधरसे खारवेल झारखंड-गयासे होते हुए मगध पहुँचे और उन्होंने राजगृह तथा बराबर (गोरथगिरि) के गिरिदुर्गोंके चारों ओर घेरा डाला। उन्होंने गोरथगिरि सर किया। दमेत्रिय पटनेकी क़िलाबंदी तोड़ न सका और खारवेलकी चढ़ाई का हाल सुन तथा अपने खास राज्यमें विद्रोह

का उपद्रव उठते देख पटना, साकेत, पंचाल आदि छोड़ता हुआ * मथुरा भागा और मध्य देश मात्र छोड़ वहाँसे निकल गया। मैदानमें खारवेल और पुष्यमित्र तथा शातकर्णि रह गए। पुष्यमित्रने फिरसे अश्वमेध मनाया। अपने लड़कों द्वारा उन्होंने वैराज्य स्थापित किया ×, अर्थात् स्वयं सम्राट् न हुए, उपराजाओं या गवर्नरों द्वारा मुल्क और धर्मके नाममें स्वयं अपने को सिर्फ सेनापति कहते हुए राज्य करने लगे। यहाँ भी चढ़ाईके चार वर्ष बाद खारवेल ने अपने घरसे निकल कर फिर मगध पर धावा किया और पटनेमें पहुँच हाथियों सहित सुगांगप्रासादमें डेरा डाला और मगधके प्रांतिक शासक बृहस्पतिमित्र से, जो पुष्यमित्रके आठ बेटोंमें मालूम होता है, अपने पैरकी वन्दना कराई। इस महाविजयके बाद जब कि शुंग और सातवाहन तथा उत्तरापथके यवन सब दब गए, खारवेलने, जो राजसूय पहले ही कर चुके थे एक नये प्रकारका पूर्त ठाना। उसे जैनधर्मका महा धर्मानुष्ठान कहना चाहिए।

उन्होंने भारतवर्ष भरके जैनयतियों, जैनतपस्वियों, जैनऋषियों और पंडितोंको बुलाकर एक धर्मसम्मेलन किया। इसमें इन्होंने जैन आगमको अंगोंमें विभक्त करा पुनरुत्पादित कराया। ये अंग मौर्य कालमें कलिंग देश तथा और देशों में लुप्त होगए थे। अंगसप्तिक और तुरीय अर्थात् ११ अंग प्राकृत में, जिसमें ६४ अक्षर की वर्णमाला मानी जाती थी, सम्मेलन में संकलित किये गए। खारवेल को 'महाविजयों' की पदवी के साथ 'खेमराजा' 'भिखुराजा' 'धर्मराजा' की पदवी अखिल भारतवर्षीय जैन-संघने मानो दी। क्योंकि शिलालेखमें सबसे बड़ा और अंतिम परमकार्य राजाका यही माना गया है और जैन संचयन और अंगसप्तिक तुरीय संपादनके बाद ये पदवियाँ जैन-लेखकने उनके नामके साथ जोड़ी हैं।

* यह गर्गसंहिता, हाथीगुफा और महाभाष्यसे साबित है।

× पुष्यमित्रस्तु, सेनानीरुद्धृत्य सबृहद्रथम्।
कारयिष्यति वैराज्यं समाः षष्टिं सवैव तु॥
(वायु०—किंतु दूसरे पुराणोंमें (यथा मत्स्य०) 'षट्त्रिंशति समा' है)
पुष्यमित्रसुतारचाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः। (वायु०)

लिखने वाला भी जैन था। यह लेखके श्रीगणेश नमो अरहतानं नमो सवसिधानं से साबित है।

इस लेखकी १४ वीं पंक्तिमें लिखा है कि राजा ने कुछ जैनसाधुओं को रेशमी कपड़े और उजले कपड़े नजर किए—अरहयते पखीन संसितेहि कायनिसीदीयाय यापञावकेहि राजभितिनि चिन-वतानि वासासितानि अर्थात् अर्हयते प्रक्षीणसंसृतिभ्यः कायनिषीद्यां यापज्ञापकेभ्यः राजभृतीश्चीनवस्त्राणि वासांसि सितानि।

इससे यह विदित होता है कि श्वेताम्बर वस्त्रधारण करने वाले जैन साधु, जो कदाचित यापज्ञापक कहलाते थे, खारवेल के समय में अर्थात् प्रायः १७० ई०पू० (११० विक्रमाब्द पूर्व) भारत में वर्त्तमान थे, मानो श्वेतांबर जैनशाखाके वे पूर्वरूप थे। चीन गिलगिट की एक जातिको कहते थे। इन्हें अब शीन कहते हैं। ये सदा से रेशम बनाते हैं। खारवेलने कुमारीपर्वतपर, जहाँ पहले महावीर स्वामी या कोई दूसरे जिन उपदेश दे चुके थे क्योंकि उस पर्वत को सुपवतविजय-चक (सुप्रवृत्तविजयचक्र) कहा है, स्वयं कुछ दिन तपस्या, व्रत, उपासक रूप से किया और लिखा है कि जीव देह का भेद उन्होंने समझा। इससे यह सिद्ध हुआ कि तपस्या, जीवदेहका दार्शनिक विचार आदि उसी समय से अथवा उसके आगे से जैनधर्म में चला आता है।

नंदराज अर्थात् नन्दवर्द्धन कलिंगसे "कालिंगाजिन" ले आए थे। इससे जिनबिम्बोंका होना तथा जैनधर्मका पौने तीन सौ वर्ष खारवेल के भी पहले कलिंगमें प्रचलित रहना और जैनधर्म की प्राचीनता प्रतिष्ठित होती है।

खारवेलके पूर्वपुरुष का नाम महामेघवाहन और वंश का नाम ऐल चेदिवंश था। इनकी दो रानियों का नाम लेखमें है—एक वजिरघरवाली थीं, वजिरघर अब वैरागढ़ (मध्यप्रदेश) कहा जाता है और दूसरी सिंहपथ या सिंहप्रस्थकी सिंधुडानामक थीं जिनके नाम पर एक गिरिगुहाप्रासाद, जो हाथीगुफाके पास है, उन्होंने बनवाया। इसे अब रानीनौर कहते हैं। इन नामोंका पता किसी जैनग्रन्थमें मिले तो मुझे उसकी सूचना कृपा कर दी जावे।

व्यक्तित्व

[अनुवादक—श्री० बाबू माईदयालजी जैन बी.ए.]

"त्रुटिपूर्ण व्यक्तित्व प्रत्येक स्थान पर हानिकारक होता है।"

—निटशे।

व्यक्तित्वकी शक्ति और महत्ता के विषय में जितना भी कहा जाय थोड़ा है। यह सारी सफलताओं का आधार और सारी सफलताओं की जड़ है। स्त्रियों और पुरुषों को आप संसार के किसी भी क्षेत्र में देखिये, व्यक्तित्व के बिना वे प्रत्येक स्थान में असफल होते हैं, उनकी मनोकामनाएँ पूरी नहीं होतीं। फिर यह कितने आश्चर्य की बात है कि हम अपने व्यक्तित्व को समझने की पर्वाह ही नहीं करते, इस ओर ध्यान ही नहीं देते। माता पिता अपने बच्चों की शिक्षा पर खूब धन लुटाते हैं, परन्तु क्या उन्होंने कभी इस बात को सोचने की चिन्ता भी की कि, जिसे वे लोग शिक्षा समझते हैं वह वास्तव में क्या वस्तु है? यदि ज़रा भी बाहरी दृष्टि से देखा जाय और कुछ विचार किया जाय तो मालूम होगा, कि बच्चों और नवयुवकों को ऐसी ऐसी बातें रटा देना ही आधुनिक शिक्षा है, जिनका आदमी के अमली जीवन से या तो बिल्कुल ही सम्बन्ध नहीं होता अथवा बहुत ही कम सम्बन्ध होता है। कभी कभी तो यह भी देखा गया है, कि इस शिक्षा के देते समय बच्चों के व्यक्तित्व के चिन्हों को ही दबा दिया जाता है और उन्हें कृत्रिम सहायताओं, परावलम्बनों और निर्बल सहारों के भरोसे से पीछे फेंक दिया जाता है। बच्चोंको आरम्भ से ही इस प्रकार जकड़ दिया जाता है और इस प्रकार के शब्द हर वक्त उनसे कहे जाते हैं जिससे उनकी शक्तियोंका पूर्णरूपसे विकास ही नहीं होने पाता है। इस प्रकारका व्यवहार बच्चों की आत्माओं के उस भाग को नष्ट करदेता है, जिसे व्यक्तित्व कहा जा सकता है। जिस प्रकार एक मूर्ख माली एक पौदे को बार बार काट कर उसे बढ़ने नहीं देता उसी प्रकार यदि दूसरे आदमियों द्वारा बच्चों का हर समय विरोध हो और उन्हें अपनी आन्तरिक न्याय-बुद्धि को व्यवहारमें लाने तथा विकसित करने का अवसर न दिया जाय तो उनके लिये दुर्बल तथा परावलम्बीके सिवाय और कुछ बनना असम्भव है। इस ढँगसे बच्चोंके प्रारँभिक अधिकारोंका गला घोट दिया जाता है, कलियोंको खिलनेसे पूर्व ही तोड़ मरोड़ कर मिट्टीमें मिला दिया जाता है, और बच्चों का व्यक्तित्व त्रुटिपूर्ण और दुर्बल बना दिया जाता है। जिन बच्चों को 'हौवा' 'भूतप्रेत' और 'बाबाजी' का डर हर घड़ी दिखाया जाता है और जिनके सिर पर धमकी और मारका भूत हर समय सवार रहता है, वे क्या शूरवीर बनेंगे? नये नये कार्योंमें हाथ डालनेका वे क्या साहस करेंगे? इस महान् पापके लिये क्या बच्चोंके माता पिता सदा उत्तरदायी नहीं होते? निःसन्देह, छोटे छोटे बच्चों को प्रभावशाली तथा शक्ति सम्पन्न न बना कर प्रारम्भमें

ही उनको जीवन शक्तिसे वञ्चित करना, उनकी सर्वांग उन्नति न होने देना और उन्हें दुर्बल तथा शक्तिहीन बनाना पाप ही है।

बालकों की आन्तरिक न्याय-बुद्धि का किस प्रकार नाश हो जाता है और फिर वह किस प्रकार पुनरुज्जीवित हो सकती है, इस बात को निम्न लिखित घटना-द्वारा स्पष्ट रूपसे समझा जा सकता है। एक बच्चा था। उसके माता पिता इस बात को जानते थे कि बच्चे के हृदय में सिद्धान्तों को समझने की शक्ति पूर्णतया विद्यमान होती है और यदि बच्चे को अपनी न्यायबुद्धिको व्यवहारमें लानेका अवसर दिया जाय तो वह स्वभाव से अपने हित-अहितकी बात अच्छी तरह सोच सकता है। अतएव वे दोनों बाल्यावस्था से ही अपने बच्चे के आन्तरिक गुणों और शक्तियोंको प्रोत्साहित करते, उत्तेजना देते, और उन्हें बढ़ाने का प्रयत्न करते थे। ऐसे प्रयत्न का जो फल होना चाहिये था वही हुआ। सात वर्षकी छोटी सी आयुमें उस बच्चे का व्यक्तित्व दृढ़ हो गया। वह बिना किसी झिझक, आनाकानी और दलीलके दृढ़ निश्चयपूर्वक 'न' और 'हाँ' कहता था। उसके माता पिता उसके फ़ैसले, निश्चयका सदा आदर करते थे और उसको स्वीकार करते थे। इसके पश्चात् वह स्कूलमें भरती किया गया, परन्तु वहाँ जाते अभी थोड़े ही दिन हुये थे कि उससे उसकी बिना झिझकके निश्चय करने की वह अपूर्व शक्ति विदा होने लगी। उसकी सुन्दर और स्पष्ट विचारशक्ति मन्द पड़ गई, मानों उस पर बादल छा गये। सहज सहज उसके मुखसे वे निश्चित 'न' और 'हाँ' निकलने बन्द हो गये, जिनकी सब आदमी प्रशंसा किया करते थे। बात यहीं समाप्त नहीं हुई उसकी आत्मा गिर गई, निश्चय स्थिर करते समय उसके मनमें झिझक प्रकट होने लगी और स्वयँ उसे अपनी सत्यताके विषयमें सन्देह होने लगा। सचमुच यह एक बड़ा भारी दुर्भाग्य था और उसके माता पिता भी उसे दुर्भाग्य ही समझते थे। जिस समय वह बच्चा घर में होता था, उस समय वे उसे अपने निश्चय पर दृढ़ रहने और प्रत्येक बात में स्वयँ सोचने के वास्ते प्रोत्साहित करके उसके इस भयँकर पतन को रोकने का प्रयत्न करते थे। वे केवल कर भी यही सकते थे। सौभाग्य से बचपन के संस्कारों ने उसके हृदय पर इतनी गहरी छाप लगादी थी कि स्कूल छोड़ने के पश्चात् शीघ्र ही उसके मन परसे परावलम्बन, आत्मसन्देह और अपने निश्चयों में अविश्वासके भाव मिटने लगे। उसने अपना व्यक्तित्व फिरसे प्राप्त करलिया। उसके माता पिता उसके उन दृढ़ निश्चयों को सुनकर प्रसन्न होते थे जिनसे आत्मा का प्रभुत्व स्पष्ट प्रकट होता है।

यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि व्यक्तित्व क्या है? इसके विषय में हमारे मनमें कोई सन्देह नहीं रहना चाहिये। अभिमान, दुराग्रह और घमण्ड से चिल्लाना व्यक्तित्व नहीं है। मूर्खता से मन को वशमें रखना, बिना विचारे कुछ ही कहना, अक्खड़ता और उच्छृँखलता का नाम भी व्यक्तित्व नहीं है। अतिसाहसी तथा अतिआत्मविश्वासी बालक अथवा युवक या युवती सच्चे व्यक्तित्व को छोड़ किसी दूसरी ही वस्तु के द्योतक हैं। ये तो प्रत्येक बात में टांग अड़ाने वालों के अज्ञान और उनके निकृष्ट संस्कारों के द्योतक होते हैं। सम्भवतया यदि बच्चों को उनकी अपनी ही समझ पर छोड़दिया जाय तो उनमें यह बातें अपेक्षाकृत कम ही होंगी, कारण कि अल्पकालिक अतिसाहसी आक्रमणकारी तथा बातूनी बच्चोंको न तो कोई प्रेम ही करता है। और न कोई आदमी उनकी प्रशंसा

ही करता है। विकाशमान व्यक्तित्व को प्रकट करने वाले कुछ गुण होते हैं और उनका अभाव व्यक्तित्वकी कमीका सच्चा द्योतक है। व्यक्तित्वके अभावको प्रकट करने वाले प्रधान अवगुण हठ, बड़ोंका अनादर, माता पिता की उचित तथा हार्दिक इच्छाओं का उल्लँघन और अहम्मन्यता हैं। अहम्मन्यता आत्मविश्वासके सर्वथा विरुद्ध है। व्यक्तित्वयुक्त आदमीके लिए अपने व्यक्तित्व को दूसरोंको दिखानेकी आवश्यकता नहीं है। जहाँ कहीं यह होता है वहाँ वह स्वयँ ही प्रकट हो जाता है। व्यक्तित्व और इसके अप्रकट प्रभावको सब ही अनुभव कर लेते हैं तथा स्वीकार कर लेते हैं। उसको अधिक बोलने अथवा दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने तथा अपने महत्वको अंकित करनेका प्रयत्न करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है, कारण कि वह अपने प्रभावशाली मौन के द्वारा ही वे सब बातें कह देता है जो कि समस्त अवस्थाओं तथा समस्त परिस्थितियों में अपने आपको सँतुष्ट और ठीक प्रमाणित करने के वास्ते उसके लिए आवश्यक हैं। वह अपने कार्य, मार्ग तथा इच्छा की चिन्ता ही नहीं करता; क्योंकि वह स्वयँ अपनी इच्छा का स्वामी और अपने मार्ग का निर्माता है। अपने सुख, आराम और सम्भोगों को पूर्णतया भूल कर वह अपने स्वभाव तथा प्रकृति से उन आदमियों को सुख और विश्वास तथा शक्ति और वैभव प्रदान करता है जो कि उसके सम्पर्क में आते हैं। वह अपने बड़ों का कितना आदर करता है और कितने प्रेम तथा पूर्णता के साथ वह अपने माता, पिता, मित्रों तथा साथियोंके सुख और आनन्दके वास्ते अपने आपको निछावर करता है, और सब ही आदमी समस्त विभागों में उस की इस महती शक्ति को कितनी शीघ्रता के साथ स्वीकार कर लेते हैं।

एक समय दो कुशल गवैय्योंने किसी प्रसिद्ध गानमण्डली में किसी पद के वास्ते प्रार्थनापत्र भेजा उनमें से एक दुर्बल शक्ल-सूरत वाला तथा हाव, भाव से जनाना और प्रभावहीन था। वह व्यक्तित्वहीन था। जब वह गान-मञ्च-स्टेज पर आया तब मालूम हुआ कि उसकी आवाज़ तो अच्छी है किन्तु उसमें कोई मोहिनी शक्ति और प्रभुत्व नहीं है। परन्तु दूसरे आदमी की आवाज़ और स्वर हलके थे तथा उनमें उतना रस भी न था, किन्तु वह व्यक्तित्व रखता था। यद्यपि उसके शरीर की रचना अच्छी न थी तथापि उसके प्रत्येक क़दम और चालमें गम्भीरता, वज़न और आत्माधिकार था। उसकी दृष्टि पड़ते ही दर्शकगण उसके प्रभावमें आ गये और उनको उसके आत्मविश्वासका बोध होगया। वह व्यक्तित्वयुक्त आदमी था और उसने वह पद शीघ्र ही प्राप्त कर लिया। और सुरीली आवाज़ वाले परन्तु व्यक्तित्वहीन आदमी को वहाँ से निराश लौटना पड़ा। और इस लिये यह ठीक ही है कि 'त्रुटिपूर्ण व्यक्तित्व प्रत्येक स्थानमें हानिकारक है'।

हम अपने जीवनमें प्रतिदिन ही देखते हैं कि सभा-सुसाइटियोंके प्लेटफार्मों पर एक दुबला पतला और मन्द आवाज़ वाला व्याख्यान दाता सब श्रोताओं को अपने वश में करलेता है और खूब ज़ोरसे व्याख्यान देने वालोंको इसमें कोई सफलता प्राप्त नहीं होती। बहुत से वकीलों की शक्ल देखते ही हाकिम उनके प्रभाव में आजाते हैं और उसके पक्ष में फ़ैसला दे देते हैं। परन्तु दूसरे वकील क़ानूनी पोथियों के हवाले देते देते तथा चिल्लाते चिल्लाते थक जाते हैं किन्तु हाकिम पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वे विरुद्ध फ़ैसला दे देते हैं। प्रत्येक स्थान पर प्रभावशाली तथा व्यक्तित्वयुक्त पुरुषों और स्त्रियोंको ही सफलता मिलती है,

दूसरों को नहीं। बहुत से बड़े और प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुषों के सामने जाते आदमी घबड़ा जाता है। घरसे जो कुछ सोचकर आता है उसका आधा भी ठीक रूप से उनके सामने नहीं कह सकता। कारण यही है कि वे पुरुष तथा स्त्रियाँ प्रभावशाली होते हैं और आगन्तुक लोग उनके प्रभावसे दब जाते हैं। कई बार हम सुनते भी हैं कि अमुक पुरुष रौब वाला तथा प्रभावशाली है और अमुक स्त्री रौब वाली तथा प्रभावशालिनी है। धन, उपाधि, उच्च जन्म, प्रसिद्धि और दूसरी ऐसी वस्तुएँ व्यक्तित्व के सामने नहीं ठहर सकतीं जिनको शक्ति-सम्पन्न तथा प्रभावशाली बनानेवाला समझा जाताहै। व्यक्तित्व इन सबसे बड़ा है। मध्यकाल में धनी आदमी शक्तिसम्पन्न समझे जाते होंगे। वास्तव में अबसे कुछ ही पहले धनबल को सभी मानते थे परन्तु एक समय आया जब कि लोगों ने धन को विशेष सम्मान तथा महत्वकी दृष्टिसे न देखा। उसे साधारण तथा तुच्छ वस्तु समझ कर ठुकरा दिया। फिर विद्वताका युग आया और विद्वत्ता की पूजा होने लगी। जो आदमी दूसरे आदमियों और दूसरी वस्तुओं के विषयमें अधिक बातें जानता था वह धनिक पुरुष से भी अधिक बलवान समझा जाने लगा। लोग ज्ञानको ही शक्ति कहने लगे (Knowledge is power) अब कुछ समयसे ज्ञान बल के स्थान पर वास्तविक शिक्षाकी मान्यता होने लगी। निस्सन्देह, जिस पुरुषके पास बहुतसी डिगरियां हैं और जो आदमी कुछ कालेजों के चिन्हरूप वस्त्र पहिने हुये हैं वह सम्मानके योग्य हैं। किन्तु बहुतसी उपाधियों डिगरियों के होनेपर भी यह सम्भव है कि वे आदमी शिक्षाके वास्तविक अर्थों में शिक्षित न हों, कारण कि विद्वत्ता-प्राप्ति और बहुत सी परीक्षाओं को पास करने का अर्थ सदा सत्शिक्षा और संस्कार नहीं होता। किन्तु अब तो ज्ञान-बल भी व्यक्तित्व के बलके वास्ते स्थान छोड़ता जा रहा है। अब तो व्यक्तित्वयुक्त पुरुष और स्त्रियाँ ही संसार में महान् शक्तिशाली हैं। यह इनका आरम्भ मात्र है उसका यह प्रभात ही है। जो पुरुष और स्त्रियां अपने साथियोंके वास्ते उपयोगी होना चाहते हैं, जो भविष्य में महान, प्रभावशाली और प्रतिष्ठित पदों पर पहुँचना चाहते हैं उन्हें निश्चय से अपने व्यक्तित्व को दृढ़ करना होगा, व्यक्तित्व को बनाना होगा।

इस अद्भुत शक्ति को सभी आदमी समान रूप से प्राप्त कर सकते हैं। यह किसीके देने से प्राप्त नहीं हो सकती, इसे प्रदान भी कौन कर सकता है? यह बाज़ार से ख़रीदी भी नहीं जा सकती। व्यक्तित्व कुछ बड़े बड़े आदमियों का ही अधिकार नहीं है, उनकी पैतृक सम्पत्ति या मौरूसी जायदाद नहीं है। किसीके नाम इसका पट्टा भी नहीं लिखा हुआ है। यदि आज कुछ आदमी दूसरे आदमियों से अपेक्षाकृत अधिक व्यक्तित्व युक्त हैं तो इसका अर्थ यही है कि उन्होंने पूर्व जन्म में इसकी प्राप्ति के वास्ते अधिक प्रयत्न किया था। जो आदमी इसको प्राप्त करते हैं उन सब का इस पर समान अधिकार है। जिस बच्चेके माता पिता व्यक्तित्वके महत्व तथा मूल्यको समझते हैं और अपने बच्चेके व्यक्तित्वके विकाशकी ओर उसकी बाल्यावस्थासे ही समुचित ध्यान देते हैं, सचमुच उस बच्चे का जन्म धन्य है।

जिन आदमियों को बाल्यकाल में व्यक्तित्व-प्राप्ति तथा उसको विकसित करनेके सुभीते प्राप्त न थे, अब यदि उनकी युवावस्था भी ढल चुकी हो, तो भी उन्हें यह समझने की आवश्यकता नहीं है कि अब उनके लिये व्यक्तित्व प्राप्त करने में देर हो गई है, उसका समय निकल गया है। व्यक्तित्व की महती शक्ति के

बिना अपने जीवन में बहुत आदमी पीछे रह गये हैं और बहुत आदमी संसारकी रंग-भूमिमें विफल मनोरथ होगये हैं। क्या आप भी उनमेंसे एक हैं? नहीं, आपको ऐसा न रहना चाहिये। यदि आप व्यक्तित्वप्राप्ति की तीव्र इच्छा करें तो आप भी इस शक्ति को पा सकते हैं। अब भी आपके जीवन का अन्तिम भाग दृढ और सुन्दर बन सकता है। यदि भूतकाल में आप इस महती शक्ति के अभाव से असफल होते रहे हैं, यदि आपको अपने त्रुटिपूर्ण व्यक्तित्व के कारण हानियाँ उठानी पड़ी हैं, तो भी आपके लिये यही उचित तथा उपयोगी है कि आप प्रयत्न करके उस वस्तुको प्राप्त कर लो जिसका तुम्हारे जीवन में अभाव था और जिसके बिना जीवन-पथ में दूसरे आदमियोंको अपने से आगे निकलता देखते हुए भी तुम सबसे पीछे रह गये। जिसके अभावसे तुम अपनी मनोवांछित वस्तुओं को प्राप्त नहीं कर सके जब कि दूसरे आदमी तुम्हारे सामने ही उनको प्राप्त कर गये।

जब हम यह बात याद करते हैं कि मानव-जीवन कुछ साठ सत्तर वर्षोंमें ही परिमित नहीं है, यह जीवन बहुत से जीवनों में से एक है और नवीन जीवन सदा वहाँ से आरम्भ होता है जहाँ प्राचीन जीवन समाप्त होता है, तब हम यह जानते हैं कि यदि हम अपने जीवन-पथ के अन्तिम भाग पर भी पहुँच गये हैं—बिल्कुल वृद्ध होगये हैं—तब भी यही अच्छा है कि हम व्यक्तित्व-प्राप्ति का प्रयत्न करें। कारण कि इससे हम अपने नवीन जीवन में बहुत से सुभीतों के साथ प्रवेश करेंगे और उन वस्तुओंको प्राप्त करेंगे जिनके लिये इस जीवन में हमारे हृदय लालायित रहे थे किन्तु जिन्हें हम न पासके थे। *

* हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली 'व्यक्तित्व' नामक पुस्तक का प्रथम परिच्छेद।

अनुवादक

मेवाड़ोद्धारक भामाशाह

स्वाधीनताकी लीलास्थली वीर-प्रसवा मेवाड़-भूमि के इतिहासमें भामाशाह का नाम स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित है। हलदीघाटी का युद्ध कैसा भयानक हुआ, यह पाठकों ने मेवाड़ के इतिहास में पढ़ा होगा। इसी युद्धमें राणा प्रतापकी ओर से वीर भामाशाह और उसका भाई ताराचन्द भी लड़ा था ×। २१ हजार राजपूतोंने असंख्य यवन-सेनाके साथ युद्ध करके स्वतंत्रता की वेदी पर अपने प्राणों की आहुति दे दी, किन्तु दुर्भाग्य कि वे मेवाड़को यवनों द्वारा पदूदलित होने से न बचा सके। समस्त मेवाड़ पर यवनोंका आतंक छा गया। युद्ध-परित्याग करने पर राणा प्रताप मेवाड़ का पुनरुद्धार करने की प्रबल आकांक्षा को लिये हुये वीरान जंगलों में भटकते फिरते थे। उनके ऐशोआराम में पलने योग्य बच्चे भोजनके लिये उनके चारों तरफ रोते रहते थे। उनके रहने के लिये कोई

× देखो, उदयपुर राज्यका इतिहास पहली जिल्द पृष्ठ ४३१।

सुरक्षित स्थान न था। अत्याचारी मुग़लोंके आक्रमणों के कारण बना बनाया भोजन राणाजी को पाँच बार छोड़ना पड़ा था। इतने पर भी आन पर मर मिटने वाले समर-केसरी प्रताप विचलित नहीं हुए। वह अपने पुत्रों और सम्बन्धियोंको प्रसन्नतापूर्वक रणक्षेत्र में अपने साथ रहते हुये देख कर यही कहा करते थे कि राजपूतोंका जन्म ही इस लिये होता है। परन्तु उस पर्वत जैसे स्थिर मनुष्यको भी आपत्तियोंके तीव्र थपेड़ोंने विचलित कर दिया। एक समय जंगली अन्न के आटे की रोटियाँ बनाई गई, और प्रत्येक के भागमें एक एक रोटी—आधी उस समय के लिये और आधी दूसरे समय के लिये—आई। राणा प्रताप राजनैतिक पेचीदा उलझनों को सुलझाने में व्यस्त थे, मातृभूमि की परतंत्रता के दुख से दुःखी होकर गर्म निश्वास छोड़ रहे थे कि, इतने में लड़की के हृदयभेदी चीत्कार ने उन्हें चौंका दिया। बात यह हुई कि एक जंगली बिल्ली लड़कीकी रक्खी हुई रोटी को उठा ले गई। जिससे मारे भूखके वह चिल्लाने लगी। ऐसी ऐसी अनेक आपत्तियों से घिरे हुये, शत्रु के प्रवाहको रोकने में असमर्थ होनेके कारण, वीर-चूड़ामणि प्रताप मेवाड़ छोड़ने को जब उद्यत हुए तब भामाशाह राणाजी के स्वदेश निर्वासन के विचार को सुनकर रो उठा!

हल्दीघाटी के युद्ध के बाद भामाशाह कुम्भलमेर की प्रजा को लेकर मालवे में रामपुरे की ओर चला गया था, वहाँ भामाशाह और उसके भाई ताराचंदने मालवे पर चढ़ाई करके २५ लाख रुपये तथा २० हज़ार अशर्फियाँ दण्डस्वरूप वसूल कीं। इस संकट-अवस्था में उस वीरने देशभक्ति तथा स्वामिभक्ति से प्रेरित होकर, कर्नल जेम्स टॉडके कथनानुसार, राणा प्रताप को जो धन भेंटकिया था वह इतना था कि २५ हज़ार सैनिकोंका १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकता था*। भामाशाह के इस अपूर्व त्याग के सम्बन्धमें भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने लिखा है:—

> जा धन के हित नारि तजै पति,
> पूत तजै पितु शीलहि सोई।
> भाई सों भाई लरै रिपु से पुनि,
> मित्रता मित्र तजै दुख जोई।
> ता धन को बनियाँ है गिन्यो न,
> दियो दुख देश के आरत होई।
> स्वारथ अर्थ तुम्हारो ई है,
> तुमरे सम और न या जग कोई॥

देशभक्त भामाशाहका यह कैसा अपूर्व स्वार्थ-त्याग है! जिस धनके लिये औरंगज़ेब ने अपने पिता को क़ैद कर लिया, अपने भाईको निर्दयतापूर्वक मरवा डाला, जिस धनके लिये बनवीरने अपने भतीजे—मेवाड़के उत्तराधिकारी बालक उदयसिंह×—को मरवा डालनेके अनेक प्रयत्न किये, जिस धनके लिये मारवाड़ के कई राजाओंने अपने पिता और भाइयोंका संहार किया, जिस धनके लिये लोगोंने मान बेचा, धर्म

* देखो, टाड राजस्थान जि० १ पृ० ४०२-३।

× यह उदयसिंह राणा प्रतापके पिता थे, इन्हीं ने अपने नाम पर उदयपुर बसाया था। बचपन में जब इनका चचा बनवीर इनके रक्तका प्यासा हो उठा तब पन्ना दाईने बालक उदयसिंहको जिसके आश्रयमें रक्खा था उसका नाम आशाशाह था। यह जैनधर्मानुयायी था। राजा के शत्रु को अपने यहां रख कर अवश्य ही उस समय आशाशाह ने साहस का काम किया था। सन ईस्वी की १२ वीं शताब्दी में आशाशाह के पूर्वज दिल्ली नगरी से समरकेशरी के साथ मेवाड़में आए थे। इससे पहिले वह भारतके सम्राट् महाराज पृथ्वीराज की सभा में एक ऊँचे पद पर विराजमान थे। देखो, टाड-राजस्थान, प्रथम भाग।

बेचा, कुल-गौरव बेचा साथ ही देश की स्वतंत्रता बेची; वही धन भामाशाह ने देशोद्धारके लिये प्रतापको अर्पण कर दिया। भामाशाहका यह अनोखा त्याग धनलोलुपी मनुष्यों की बलात् आँखें खोल कर उन्हें देशभक्तिका पाठ पढ़ाता है।

× × ×

भामाशाहका जन्म कावड्या संज्ञक ओसवाल जैनकुल में हुआ था। इसके पिता का नाम भारमल था। महाराणा साँगा ने भारमल को वि० सं० १६१० ई० स० १५५३ में अलवरसे बुलाकर रणथम्भोरका क़िलेदार नियत किया था। पीछेसे जब हाड़ा सूरजमल बून्दीवाला वहाँ का क़िलेदार नियत हुआ, उस समय भी बहुत सा काम भारमलके ही हाथमें था। वह महाराणा उदयसिंहके प्रधान पदपर प्रतिष्ठित था। भारमलके स्वर्गवास होने पर राणा प्रतापने भामाशाह को अपना मंत्री नियत किया था। हल्दीघाटी के युद्ध के बाद जब भामाशाह मालवे की ओर चला गया था तब उसकी अनुपस्थितिमें रामा सहाणी महाराणाके प्रधानका कार्य करने लगा था। भामाशाह के आने पर रामासे प्रधानका कार्य-भार लेकर पुनः भामाशाह को सौंप दिया गया उसी समय किसी कविका कहा गया प्राचीन पद्य इस प्रकार है:—

भामो परधानो करे, रामो कीधो रद्द *।

भामाशाह के दिये हुए रुपयों का सहारा पाकर राणा प्रताप ने फिर बिखरी हुई शक्ति को बटोर कर रण-भेरी बजादी। जिसे सुनते ही शत्रुओं के हृदय दहल गए कायरों के प्राण पखेरू उड़ गये, अकबर के होश-हवास जाते रहे। राणाजी और वीर भामाशाह अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर जगह जगह आक्रमण करते हुए यवनों द्वारा विजित मेवाड़ को पुनः अपने अधिकार में करने लगे। पं० झाबरमल्लजी शर्मा सम्पादक दैनिक हिन्दुसंसार ने लिखा है:— "इन धावों में भी भामाशाह की वीरता के हाथ देखने का महाराणाको खूब अवसर मिला और उससे वे बड़े प्रसन्न हुए *। महाराणाने भामाशाहके भाई ताराचंद×को मालवेमें भेज दिया था, उसे शहबाजखां ने जा घेरा। ताराचंद उसके साथ वीरता से लड़ाई करता हुआ बसी के पास पहुँचा और वहाँ घायल होने के कारण बेहोश होकर गिर पड़ा। बसी का राव साईदास देवड़ा घायल ताराचंद को उठाकर अपने क़िले में लेगया और वहाँ उसकी अच्छी परिचर्या की। इसी प्रकार महाराणा अपने प्रबल पराक्रान्त वीरों की सहायता से बराबर आक्रमण करते रहे और संवत् १६४३ तक उनका चित्तौड़ और माण्डलगढ़को छोड़कर समस्त मेवाड़पर फिरसे अधिकार होगया। इस विजयमें महाराणा की साहसप्रधान वीरता के साथ भामाशाह की उदार सहायता और राजपूत सैनिकों का आत्म-बलिदान ही मुख्य कारण था। आज भामाशाह नहीं है किन्तु उसकी उदारता का बखान सर्वत्र बड़े गौरव के साथ किया जाता है।"

"प्रायः साढे तीनसौ वर्ष होने को आये,—भामाशाहके वंशज आज भी भामाशाहके नाम पर सम्मान

* देखो, उदयपुर राज्य का इतिहास पहली जिल्द पृष्ठ ४३१

* श्री ओझाजी ने भी लिखा है:—महाराणा भामाशाह की बड़ी खातिर करता था और वह दिवेरके शाही थाने पर हमला करनेके समय भी राजपूतोंके साथ था। (उ० पु० रा० का० इ० प० जि० पृ० ४३१)।

× ताराचन्द गोडवाड़ का हाकिम भी रहा था और उस समय सादड़ीमें रहता था। उसने सादड़ीके बाहर एक बारादरी और एक बावड़ी बनवाई, उसके पास ही ताराचन्द, उसकी चार औरतें, एक खवास, छः गायने, एक गवैया और उस गवैये की औरत की मूर्तियां पत्थरों पर खुदी हुई हैं।

(उ० पु० रा० का० इ० जि० प० पृ० ४३१)।

पा रहे हैं। मेवाड़-राजधानी उदयपुरमें भामाशाह के वंशज को पंच पंचायत और अन्य विशेष उपलक्षों में सर्वप्रथम गौरव दिया जाता है। समय के उलट फेर अथवा कालचक्र की महिमा से भामाशाह के वंशज आज मेवाड़के दीवानपद *पर नहीं हैं और न धन का बल ही उनके पास रह गया है। इसलिये धन की पूजा के इस दुर्घट समय में उनकी प्रधानता, धन-शक्ति सम्पन्न उनकी जाति बिरादरी के अन्य लोगों को अखरती है। किन्तु उनके पुण्यश्लोक पूर्वज भामाशाह के नाम का गौरव ही ढाल बनकर उनकी रक्षा कर रहा है। भामाशाह के वंशजों की परम्परागत प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये संवत् १९१२ में तत्सामयिक उदयपुराधीश महाराणा सरूपसिंह को एक आज्ञापत्र निकालना पड़ा था जिसकी नक़ल ज्यों की त्यों इस प्रकार है:—

"श्री रामोजयति

श्री गणेशजीप्रसादात् श्रीएकलिंगजी प्रसादात्

भाले का निशान

[सही]

स्वस्तिश्री उदयपुर सुभसुथाने महाराजाधिराज महाराणाजी श्रीसरुपसिंघ जी आदेशात् कावड्या जेचन्द कुनणो वीरचन्दकस्य अप्रं थारा बडा वासा भामो कावड्यां ई राजम्हे सामधमासु काम चाकरी करी जी की मरजाद ठेठसूंग्या है म्हाजना की जातम्हे बावनी त्था चौका को जीमण वा सीग पुजा होवे जीम्हे पहेली तलक थारे होतो हो सो अगला नगर सेठ बेणीदास करसो कर्यो अर बेदर्याफत तलक थारे न्हीं करवा दीदो अबारू थारी सालसी दीखी सो नगे कर सेठ पेमचन्द ने हुकम की दो सो वी भी अरज करी अर न्यात म्हे हकसर मालम हुई सो अब तलक माफक दसतुरके थे थारो कराय्या जाजो आग पुथारा बंस को होवेगा जी के तलक हुवा जावेगा पंचाने बी हुकुम करदीग्यो है सो पेली तलक थारे होवेगा। प्रवानगी म्हेता सेरसीघ संवत् १९१२ जेठसुद १५ बुधे।" ×

इसका अभिप्राय यही है कि—"भामाशाह के मुख्य वंशधर की यह प्रतिष्ठा चली आती रही कि, जब महाजनोंमें समस्त जाति-समुदाय का भोजन आदि होता, तब सबसे प्रथम उसके तिलक किया जाता था, परन्तु पीछे से महाजनों ने उसके वंशवालों के तिलक करना बन्द करदिया, तब महाराणा स्वरुपसिंह ने उसके कुल की अच्छी सेवा का स्मरण कर इस विषय की जांच कराई और आज्ञा दी कि—महाजनों की जाति में बावनी (सारी जाति का भोजन) तथा चौके का भोजन व सिंहपूजा में पहिले के अनुसार तिलक भामाशाह के मुख्य वंशधर के ही किया जाय इस विषय का एक परवाना वि० सं० १९१२ ज्येष्ठ सुदी १५ को जयचन्द कुनणा वीरचन्द कावड़िया के नाम करदिया, तब से भामाशाह के मुख्य वंशधर के तिलक होने लगा।"

"फिर महाजनों ने महाराणा की उक्त आज्ञा का पालन न किया, जिससे वर्तमान महाराणा साहब के समय वि० सं० १९५२ कार्तिक सुदी १२ को मुक़दमा

* भामाशाह के घरानेमें चार पीढ़ियों तक दीवान पद रहा। राणा उदयसिंहका प्रधान भारमल, प्रतापसिंहका प्रधान मंत्री भामाशाह और राणा अमरके समय तीन वर्ष तक भामाशाह ही प्रधान बना रहा। वि० सं० १६५६ माघ सुदी ११ (ई० स० १६०० ता० १६ जनवरी को उसका देहान्त हुआ। उसके पीछे महाराणा ने उसके पुत्र जीवाशाह को अपना प्रधान बनाया। उसका देहान्त हो जाने पर महाराणा कर्णसिंह ने उसके पुत्र अक्षयराज को मंत्री नियत किया। इस प्रकार ४ पीढ़ियोंमें स्वामि-भक्त भामाशाहके प्रधान पद रहा (उ० पु० का० इ० पृ० ४७५)।

× हिन्दुसंसार दीपावली-अङ्क कार्तिक कृ० ३० सं० १९८२ वि०

होकर उसके तिलक किये जानेकी आज्ञा दी गई" ×।

वीर भामाशाह ! तुम धन्य हो !! आज प्रायः साढ़े तीनसौ वर्षसे तुम इस संसार में नहीं हो परन्तु यहाँ के बच्चे बच्चे की जबान पर तुम्हारे पवित्र नामकी छाप लगी हुई है। जिस देश के लिये तुम ने इतना बड़ा आत्म-त्याग किया था, वह मेवाड़ पुनः अपनी स्वाधीनता प्रायः खो बैठा है। परन्तु फिर भी वहाँ तुम्हारा गुण गान होता रहता है। तुमने अपनी अक्षय-कीर्ति से स्वयं को ही नहीं किन्तु समस्त जैन-जातिका मस्तक ऊँचा कर दिया है। निःसन्देह वह दिन धन्य होगा जिस दिन भारत वर्ष की स्वतंत्रता के लिये जैन-समाज के धन-कुबेरों में भामाशाह जैसे सद्भावों का उदय होगा।

× × ×

जिस नर-रत्नका ऊपर उल्लेख किया गया है, उसके चरित्र, दान आदि के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों की चिरकाल से यही धारणा रही है। किन्तु हाल में रायबहादुर महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा ने अपने उदयपुर राज्य के इतिहास में "महाराणा प्रताप की सम्पत्ति" शीर्षक के नीचे महाराणा के निराश होकर मेवाड़ छोड़ने और भामाशाह के रुपये दे देने पर फिर लड़ाई के लिये तैयारी करने की प्रसिद्ध घटना को असत्य ठहराया है।

इस विषय में आपकी युक्ति का सार 'त्यागभूमि' के शब्दों में इस प्रकार है :—

"महाराणा कुम्भा और साँगा आदि द्वारा उपार्जित अतुल सम्पत्ति अभी तक मौजूद थी, बादशाह अकबर इसे अभी तक न ले पाया था। यदि यह सम्पत्ति न होती तो जहाँगीर से सन्धि होने के बाद महाराणा अमरसिंह उसे इतने अमूल्य रत्न कैसे देता? आगे आने वाले महाराणा जगतसिंह तथा राजसिंह अनेक महादान किस तरह देते और राजसमुद्रादि अनेक वृहत-व्यय-साध्य कार्य किस तरह सम्पन्न होते? इस लिये उस समय भामाशाह ने अपनी तरफ से न देकर भिन्न-भिन्न सुरक्षित राज-कोषोंसे रुपया लाकर दिया *।"

इस पर त्याग भूमि के विद्वान् समालोचक श्रीहंस जी ने लिखा है :—

"निस्सन्देह इस युक्ति का उत्तर देना कठिन है, परन्तु मेवाड़ के राजा महाराणा प्रताप को भी अपने खजानों का ज्ञान न हो, यह मानने को स्वभावतः किसीका दिल तैयार न होगा। ऐसा मान लेना महाराणा प्रताप की शासन-कुशलता और साधारण नीतिमत्ता से इन्कार करना है। दूसरा सवाल यह है कि यदि भामाशाह ने अपनी उपार्जित सम्पत्ति न देकर केवल राजकोषों की ही सम्पत्ति दी होती तो इसका और उसके वंश का इतना सम्मान, जिसका उल्लेख श्री ओझाजी ने पृ० ७८८ पर किया है ×, हमें बहुत संभव नहीं दीखता। एक खजांची का यह तो साधारण सा कर्तव्य है कि वह आवश्यकता पड़ने पर कोष से रुपया लाकर दे। केवल इतने मात्र से उसके वंशधरों को यह प्रतिष्ठा (महाजनों के जाति-भोज के अवसर पर पहले उसको तिलक किया जाय) प्रारंभ हो जाय, यह कुछ बहुत अधिक युक्ति-संगत मालूम नहीं होता †।"

×उदयपुरराज्यका इतिहास जिल्द पहली, पृष्ठ सं० ४७५-७६ से।

* देखो उदयपुर राज्यका इतिहास जिल्द पहली पृष्ठ ४६३-६६

× सम्मान की वह बात इसी लेख में अन्यत्र उक्त इतिहाससे उद्धृत कर दी गई है।

† त्यागभूमि वर्ष ३ अङ्क ४ पृ० ४८५।

इस आलोचना में ओझाजी की युक्ति के विरुद्ध जो कल्पना की गई है वह बहुत कुछ ठीक जान पड़ती है। इसके सिवाय, मैं इतना और भी कहना चाहता हूँ कि यदि श्री ओझाजी का यह लिखना ठीक भी मान लिया जाय कि 'महाराणा कुम्भा और सांगा आदि द्वारा उपार्जित अतुल सम्पत्ति प्रताप के समय तक सुरक्षित थी—वह खर्च नहीं हुई थी', तो वह संपत्ति चित्तौड़ या उदयपुर के कुछ गुप्त खज़ानों में ही सुरक्षित रही होगी। भले ही अकबर को उन खज़ानों का पता न चल सका हो परन्तु इन दोनों स्थानों पर अकबर का अधिकार तो पूरा हो गया था और ये स्थान अकबरकी फौज से बराबर घिरे रहते थे, तब युद्ध के समय इन गुप्त खज़ानोंसे अतुल संपत्ति का बाहर निकाला जाना कैसे संभव हो सकता था। और इस लिये हलदीघाटी के युद्ध के बाद जब प्रतापके पास पैसा नहीं रहा तब भामाशाह ने देश हित के लिये अपने पास से—खुदके उपार्जन किये हुए द्रव्यमे—भारी सहायता देकर प्रताप का यह अर्थ-कष्ट दूर किया है; यही ठीक जँचता है। रही अमरसिंह और जगतसिंह द्वारा होने वाले खर्चों की बात, वे सब तो चित्तौड़ तथा उदयपुरके पुनः हस्तगत करने के बाद ही हुए हैं और उनका उक्त गुप्त खज़ानोंकी सम्पत्ति से होना संभव है, तब उनके आधार पर भामाशाह की उस सामयिक विपुल सहायता तथा भारी स्वार्थ त्यागपर कैसे आपत्ति की जा सकती है? अतः इस विषयमें ओझाजीका कथन कुछ अधिक युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। और यही ठीक जँचता है कि भामाशाह के इस अपूर्व त्याग की बदौलत ही उस समय मेवाड़ का उद्धार हुआ था, और इसी लिये आज भी भामाशाह मेवाड़ोद्धारकके नामसे प्रसिद्ध है।

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

समस्या-पूर्ति

[लेखक—सा०रत्न पं० दरबारीलालजी]

हा! संसार अपार दुःख-मय है, आपत्ति तो साथ है;
कोई भी बलवान दीन-जनका होता नहीं नाथ है।
जीता ही रहता नहीं यदपि है एकान्त माला-जपी,
१कालो हि व्यमनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥

१(काल बुरी तरहसे हाथ फैलाए हुए दूरसे ही पकड़ लेता है।)

छाने से नभ में सनीर घन के आनन्द है मोर को,
रागीको प्रिय है वसन्त, प्रिय है काली निशा चोरको।
सेवा-धर्म-सुलग्न साधु जनको सेवा यथा है भली,
२घर्मार्तं न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली ॥

२(घाम से पीड़ित मनुष्य को शीतल जल का स्नान या मुक्तावली भी वैसी भली मालूम नहीं होती।)

आत्मन्! मानव देह धार करके रक्खी न तूने दया,
तो चिन्तामणि-तुल्य जन्म मिलना हा! व्यर्थ तेरा गया।
जो पाके नरजन्म है न करता कल्याण मोही वृथा,
३पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥

३(वह जराजीर्ण होकर पश्चात्तापसे युक्त हुआ शोकाग्निसे जलता है।)

देवेन्द्रादिक भी नहीं बच सके आपत्ति पीछे लगी,
आया प्रात कि चन्द्रकी कुमुदकी देखी न आभा जगी।
दुःखापन्न कहाँ नहीं जगत में आपन्न आत्मा कँपी;
४वध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि ॥

४(उपायकुशल मनुष्यों द्वारा अगाध जल समुद्र से भी मत्स्य पकड़े और मारे जाते हैं।)

कैसे हैं? बस दुःख-द्वंद-मय हैं, आपत्ति के साथ हैं;
ये संसार महीप मोह-रिपु के साम्राज्य के हाथ हैं।
आके और विमोह पूर्ण करके धोखा दिया सर्वदा;
५न त्वं निर्घृण! लज्जसेऽत्र जनने भोगेषु रन्तुं सदा ॥

५(तो भी, हे निर्दय! भोगो में सदा रमते हुए तुझे इस संसारमें लज्जा नहीं आती।)

समन्तभद्राश्रम-विज्ञप्ति नं० ४

लुप्तप्राय जैनग्रंथोंकी खोजके लिये—
वृहत् पारितोषिक की योजना

समन्तभद्राश्रममें 'साहित्यिक पारितोषिक फंड' नामका एक विभाग खोला गया है, जिसका पहला काम है लुप्तप्राय जैनग्रंथोंकी खोज। इसके लिये आश्रमकी विज्ञप्ति नं०३ द्वारा २७ ऐसे प्राचीन संस्कृत ग्रंथोंके नाम प्रकट किये गये थे जिनके नामादिकका तो पता चलता है—कितनों के वाक्य भी उद्धृत मिलते हैं— परन्तु वे ग्रंथ मिलते नहीं। और न इस बातका अभी तक कुछ पता ही चल पाया है कि वे कहाँ के भंडार में मौजूद हैं—किस भंडार की काल कोठरी में पड़े हुए अपना जीवन शेष कर रहे हैं अथवा कर चुके हैं। साथ ही, उनकी खोजके लिये १५००) रु० के पारितोषिक तजवीज़ करके धर्मात्मा सज्जनों से प्रार्थना की गई थी कि वे अपनी अपनी तरफ़से जिस जिस ग्रन्थ पर पारितोषिक दे कर उसका उद्धार करना चाहें उससे शीघ्र सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे खोजका काम प्रारंभ हो सके। हर्षका विषय है कि आश्रम की यह आवाज़ सुनी गई और अधिकांश मित्रोंकी कृपासे सभी ग्रंथों पर पारितोषिक भरा जा चुका है। अतः आज, इन ग्रंथोंका कुछ विशेष परिचय देते हुए, इनकी खोज को समुचित उत्तेजन देनेके लिये पारितोषिककी निश्चित योजनाके साथ यह विज्ञप्ति प्रकट की जाती है।

साथ ही, इस काम में दिलचस्पी लेने वाले सभी सज्जनोंसे प्रार्थना की जाती है कि वे अपने अपने नगर ग्रामों तथा आसपास के शास्त्रभंडारों में इन ग्रन्थोंकी पूरी खोज करें। इसके लिये दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके भंडारोंको खूब टटोला जाना चाहिये। बौद्धों तथा हिन्दुओंके शास्त्रभंडार भी देखे जाने की ज़रूरत है; क्योंकि समय समय पर बहुतसे अजैन विद्वानों ने जैनका विशेष परिचय पाने अथवा खंडन-मंडनादिककी दृष्टि से जैन ग्रन्थोंका संग्रह किया है। जिस प्रकार जैनभंडारोंसे कितने ही अजैन ग्रन्थों का पता चल कर उनका उद्धार हुआ है उसी प्रकार अजैनभंडारोंसे भी कुछ जैन ग्रन्थों का पता चलनेकी बहुत बड़ी संभावना है। कितने ही ग्रन्थ विद्वानोंके घरों पर उनके निजी संग्रह में अथवा साधुओंके मठोंमें होते हैं उनसे भी मिल कर इनका पता चलाना चाहिये। और जर्मनी-योरुपादि विदेशोंकी लायब्रेरियोंमें तो खास तौर से ढूँढ-खोज होनी चाहिये; क्योंकि वहाँ सब ओरसे ही हस्तलिखित ग्रन्थोंकी प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रतियाँ पहुँची हैं। किसी भी अप्रसिद्ध शास्त्रभंडार अथवा हस्तलिखित प्राचीन ग्रन्थोंके संग्रह वाली लायब्रेरी से दो चार या दस बीस ग्रन्थोंका इनमें से एक साथ मिल जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, और इस लिये खोज करने वालोंके सामने २७ ग्रन्थोंकी एक लम्बी लिस्ट होनेसे उन्हें अपनी खोजमें सफलता मिलने की काफ़ी संभावना है। समन्तभद्रादिके जीवसिद्धि आदि मूल ग्रन्थ परिमाणमें छोटे होंगे, उनके गुटकोंमें मिलनेकी अधिक संभावना है, इससे जिन गुटकोंमें ग्रन्थ-सूची या विषय-सूची लगी हुई न हो उनके सभी पन्ने पलट कर देखने चाहियें।

खोजका यह काम वास्तवमें साहित्य-सेवाका एक खास काम है और इस लिये धर्मका अंग है। जो लोग प्राचीन कीर्तियोंके संरक्षण और उद्धार जैसे पुण्य कृत्यों के महत्वको समझते हैं उन्हें इस विषयमें कुछ भी कहने अथवा बतलानेकी ज़रूरत नहीं है। इसीसे इस सेवाकार्यमें पारितोषिककी मात्रा पर कोई ख़याल न

होना चाहिये। यह तो एक प्रकार का पुरस्कार और सत्कार है—सेवाका कोई मूल्य नहीं। और इस लिये सभीको किसी न किसी रूपसे सहायक होकर इस पुण्य यज्ञमें भाग लेना चाहिये। भण्डारोंके अधिपतियों अथवा प्रबन्धकोंको चाहिये कि वे खुद खोज कराएँ तथा खोज करने वालोंको उनके इस कार्यमें पूरी सहूलियतें देवें। जो परिश्रम शील सज्जन किसी ग्रंथ की खोज लगाएँगे वे ही मुख्यतया उसके उद्धारक समझे जायँगे।

पारितोषिक-सम्बंधी नियम

१ जो कोई भी सज्जन इस विज्ञप्तिमें दिये हुए किसी भी ग्रन्थ की खोज लगा कर सबसे पहले उसकी सूचना आश्रम को नीचे लिखे पते पर देंगे और फिर बादको ग्रन्थकी कापी भी देवनागरी अक्षरोंमें भेजेंगे या खुद कापीका प्रबन्ध न कर सकें तो मूल ग्रन्थ ही कापीके लिये आश्रमको भेजेंगे, तो वे उस पारितोषिकको पाने के अधिकारी होंगे जो उस ग्रन्थ के लिये नियत किया गया है।

२ उक्त सूचनाके साथमें ग्रंथके मंगलाचरण तथा प्रशस्ति (अन्तिम भाग) की और एक संधिकी भी (यदि संधियाँ हों तो) नक़ल आनी चाहिये। यदि सूचना तार-द्वारा दी जाय तो उक्त नक़ल उसके बाद ही डाक रजिस्टरीसे भेज देनी चाहिये। ऐसी हालतमें तारके मिलने का समय ही सूचना-प्राप्ति का समय समझा जायगा।

३ ग्रंथकी श्लोकसंख्या यदि २०० से ऊपर हो तो कुल कापीकी उजरत पाँच रुपये हजारके हिसाब से पारितोषिकसे अलग दी जायगी।

४ कापी यदि ग़लत अथवा अन्य प्रकार से संदिग्ध होगी तो उसकी मूल कापीसे जाँच कराना प्रेषकका कर्तव्य होगा।

५ कापी अथवा मूल ग्रन्थकी प्राप्तिके बाद यह निश्चित हो जाने पर कि ग्रंथ वही है जिसके लिये पारितोषिक निकाला गया है, पारितोषिककी रक़म खोजकर्त्ता महाशयको भेंट करदी जायगी—उनके पास मनीआर्डर आदि द्वारा भेज दी जायगी।

६ जो भाई पारितोषिकके अधिकारी होकर भी पारितोषिक न लेना चाहें उनके पारितोषिककी रक़म 'साहित्यक पारितोषिक फंड' में जमा की जायगी और वह उनकी ओरसे किसी दूसरे ग्रंथकी खोज अथवा रचनाके पारितोषिकमें काम लाई जाएगी।

७ आश्रमको ग्रंथप्राप्तिकी सूचना देनेकी अवधिका समय ३१ अगस्त सन् १९३० तक है। परंतु पारितोषिक-प्राप्तिके लिये अवधिके खयालमें अधिक न रह कर शीघ्रसे शीघ्र सूचना देने का यत्न करना चाहिये।

खोज-कर्ताओं से निवेदन

जो भाई ग्रन्थोंकी खोजका काम प्रारंभ करें उनसे निवेदन है कि, वे एकतो जिन जिन शास्त्रभंडारोंका अवलोकन करें उनमें उन्हें प्रकृत गून्थोंके अतिरिक्त दूसरे जो कोई भी अश्रुतपूर्व गून्थ मालूम पड़ें उनको भी वे जरूर नोट करते जायँ और उसकी सूचना आश्रमको देनेकी कृपा करें; दूसरे यह कि, खोज करने पर उन्हें इन गून्थोंमेंसे यदि कोई गून्थ न भी मिले तो भी वे इस बातकी सूचना आश्रम को जरूर देवें कि उन्होंने अमुक अमुक शास्त्रभंडारोंको इस कामके लिये खोजा है और उनमें ये गून्थ नहीं मिले, जिससे खोजका कुछ विशेष अनुभव हो सके और उसे व्यवस्थित रूपसे चलानेमें सहायता मिल सके।

खोजके ग्रंथोंका परिचय और पारितोषिक

(१) जीवसिद्धि— यह ग्रंथ स्वामी समन्तभद्र का रचा हुआ है। जिनसेनाचार्य ने 'हरिवंशपुराण' में इसे भगवान् महावीरके वचनों जैसा महत्वशाली बतलाया है—

जीवसिद्धि-विधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते ॥

—पारितोषिक, १००)

(२) तत्त्वार्थसूत्र-टीका (तत्त्वार्थालंकार) शिवकोटि आचार्यकृत—श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ के निम्न पद्यसे इस टीका का पता चलता है और इसमें प्रयुक्त हुआ 'एतत्' शब्द इस बात को सूचित करता है कि यह टीका परसे ही उद्धृत किया हुआ पद्य है—

तस्यैव शिष्यः शिवकोटि-
सूरिस्तपो लतालम्बनदेहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेत-
त्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

—पारि०, १००)

(३) नवस्तोत्र— यह वज्रनन्दी आचार्यका बनाया हुआ है जो संभवतः पूज्यपादस्वामीके शिष्य थे। श्रवण बेल्गोलके मल्लिषेण प्रशस्ति नामक शिलालेख नं० ५४ (६७) में जो शक संवत् १०५० का लिखा हुआ है, इसे सकलार्हत्प्रवचनके भावको लिए हुए बड़ा ही सुन्दर ग्रंथ बतलाया है—

नवस्तोत्रं येन व्यरचि सकलार्हत्प्रवचन-
प्रपंचान्तर्भाव-प्रवण-वर-सन्दर्भ-सुभगम् ॥

—पारि०, १००)

(४) सुमतिसप्तक —यह सुमतिदेवाचार्य का ग्रंथ है। उक्त शिलालेखके निम्न वाक्यमें इसका उल्लेख है और इसे कुमार्ग को हटा कर सुमति-कोटि का विकाशक तथा भवार्तिका हरने वाला लिखा है। शांतरक्षित-रचित बौद्धों के 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थ में सुमतिदेवके बहुतसे वाक्यों का उल्लेख है। आश्चर्य नहीं जो वे इसी ग्रंथके वाक्य हों—

सुमतिदेवममुं स्तुत येन व-
स्सुमतिसप्तकमाप्ततया कृतम्।
परिहृतापथ-तत्त्व-पथार्थिनां
सुमति-कोटि-विवर्ति भवार्तिहृत् ॥

—पारि०,५०)

(५) अथशब्दवाच्य—यह महावादिमुनि वक्रग्रीव-द्वारा छह महीनेमें रचा हुआ ग्रन्थ है। इसमें विस्तारके साथ 'अथ' शब्द का अर्थ बतलाया है। इसका भी उक्त शिलालेखमें उल्लेख है—

...ग्रीवोऽस्मिन्नाथ-शब्द-वाच्य-
मवदद्द्वा मासान्समासेन षट् ॥

—पारि०, ५०)

(६) चूडामणि—यह श्रीवर्द्धदेव-कृत एक सेव्य काव्य है, जिसका उल्लेख भी उक्त शिलालेखमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है। इसके रचयिता श्रीवर्द्धदेव की दंडी कविने स्तुति की है और उन्हें जिह्वाग्र पर सरस्वतीको धारण करने वाले लिखा है। इससे यह काव्य प्राचीन तथा महत्व का जान पड़ता है—

चूडामणिःकवीनां चूडामणि नामसेव्यकाव्यकविः।
श्रीवर्द्धदेव एव हि कृतपुण्यः कीर्तिमाहर्तुम्।

—पारि०, ५०)

(७) तत्त्वानुशासन—यह ग्रंथ स्वामी समन्तभद्र-कृत है और इसलिये रामसेनकृत उस तत्त्वानुशासनसे भिन्न है जो माणिकचंद-ग्रंथमालामें प्रकट हुआ है। इसका उल्लेख 'दिगम्बर जैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामकी सूचीके अतिरिक्त 'जैनग्रंथावली' में भी पाया जाता है, जिसमें वह सूरतके उन सेठ भगवानदास कल्याणदासजी की प्राइवेट रिपोर्टसे लिया गया है जो कि पिटर्सन साहब की नौकरी में थे। 'नियमसार' की पद्मप्रभ-मलधारिदेव-कृत टीकामें 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने' इस वाक्यके साथ नीचे लिखा पद्य उद्धृत किया गया है, जो रामसेनके उक्त तत्त्वानुशासनमें नहीं है और इस लिये संभवतः इसी तत्त्वानुशासन का जान पड़ता है—

उत्सर्ज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणं।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥

—पारितो०, १००)

(८) जल्पनिर्णय--'तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक' के निम्न उल्लेखसे पाया जाता है कि यह ग्रंथ ६३ वादियोंके विजेता श्रीदत्ताचार्य का बनाया हुआ है और इस लिये बहुत प्राचीन है—

द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरं ।
त्रिषष्ठेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥

—पारि०, ५०)

(९) वादन्याय---यह ग्रन्थ कुमारनन्दि आचार्य का बनाया हुआ है। इसके तीन पद्यों को विद्यानन्द आचार्य ने अपनी 'पत्रपरीक्षा' में निम्न वाक्यके साथ उद्धृत किया है—

"तथैव हि कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्व-वादन्याये निगदितत्वात्तदाह—"

—पारि०, ५०)

(१०) प्रमाणसंग्रह-भाष्य --यह अनन्तवीर्य आचार्य का रचा हुआ 'प्रमाणसंग्रह' गून्थ का भाष्य है। स्वयं अनन्तवीर्य ने अपनी 'सिद्धिविनिश्चय-टीका' में इसका कितने ही स्थानों पर उल्लेख किया है।

यथा—"इति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये"।
"इत्युक्तं प्रमाणसंग्रहालंकारे।"
"शेषमत्र प्रमाणसंग्रहभाष्यात्प्रत्येयं।"
"ईश्वरस्य सकलोपकरणादिज्ञानं प्रमाण-संग्रहभाष्ये निरस्तं"

—पारि०, ५०)

(११) प्रमाणसंग्रह, स्वोपज्ञभाष्यसहित—यह मूल गून्थ अकलंकदेव-कृत है, अकलंकदेवके स्वोपज्ञ भाष्यकी भी इस पर संभावना पाई जाती है। इसी मूल गून्थ पर अनन्तवीर्यका उक्त भाष्य है।

—पारि०, ५०)

(१२) सिद्धिविनिश्चय, स्वोपज्ञ भाष्यसहित—यह भी अकलंकदेवका गून्थ है जिस पर अनन्तवीर्य की टीका उपलब्ध है। परन्तु टीकाकी उपलब्ध प्रतिके साथमें मूल गून्थ लगा हुआ नहीं है—मूल कारिकाओंके आद्याक्षर दिये हैं। मूल पर स्वोपज्ञ-भाष्यका होना भी उक्त टीका से पाया जाता है।

—पारि०, ५०)

(१३) न्यायविनिश्चय, स्वोपज्ञ भाष्यसहित—यह ग्रन्थ भी अकलङ्क देव-कृत है। इस पर वादिराजसूरि की टीका मिलती है परन्तु उससे मूल ग्रंथ पूरा उपलब्ध नहीं होता—कोई कोई कारिका ही पूरी मिलती है। इस पर भी खुद अकलंकदेव-कृत भाष्य की संभावना है। —पारि०, ५०)

(१४) त्रिलक्षणकदर्थन-- यह गून्थ स्वामी पात्रकेसरीका रचा हुआ है। सिद्धिविनश्चय-टीका और न्यायविनिश्चय-विवरण में इसका उल्लेख है। इसका विशेष परिचय 'अनेकान्त' की दूसरी किरण में दिया है। वादिराजसूरिने न्यायवि०में लिखा है—

"त्रिलक्षणकदर्थने वा शास्त्रे विस्तरेण श्री-पात्रकेसरिस्वामिना प्रतिपादनादित्यलम-भिनिवेशेन।" —पारि०, २५)

(१५) स्याद्वादमहार्णव — यह गून्थ कौनसे आचार्यका बनाया हुआ है, यह अभी तक मालूम नहीं हो सका। परंतु न्यायविनिश्चय-विवरणमें वादिराजने इसके एक वाक्यका निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

"यथोक्तं स्याद्वादमहार्णवे--

सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनं ।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे॥"

यह पद्य 'अष्टसहस्री' और 'सन्मतितर्क'के भाष्यमें भी, बिना किसी गून्थनामके, उद्धृत पाया जाता है और इससे गून्थकी प्राचीनता तथा महत्ता प्रकट होती है। —पारि०, २५)

(१६) विद्यानंदमहोदय — यह विद्यानंदाचार्य का ग्रन्थ है, जिसका उल्लेख खुद उनके ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। जैसा कि 'अष्टसहस्री' के निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

'इति तत्त्वार्थलंकारे विद्यानन्दमहोदये च प्रपंचतः प्ररूपितम्' —पारि०, ५०)

(१७) कर्मप्राभृत-टीका— यह श्रीपुष्पदन्त-भूतबल्याचार्य-विरचित कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) के पाँच खण्डोंकी ४८ हजार श्लोकपरिमाण टीका है। इस टीकाके कर्त्ता स्वामी समन्तभद्र हैं इन्द्रनन्दि-कृत श्रुतावतारमें इसका उल्लेख इस प्रकार है :—

श्रीमान्समन्तभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यधीत्य तंद्विविधं।
सिद्धान्तमतः षट्खण्डागमगतखंडपंचकस्य पुनः॥
अष्टौचत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रंथरचनया युक्तां।
विरचितवानतिसुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम्॥
—पारि०, १००

(१८) सन्मति-टीका— यह सिद्धसेन के सन्मतितर्क नामक ग्रन्थकी टीका है। इसके रचयिता सन्मति आचार्य हैं, जिसका उल्लेख वादिराजसूरि के पार्श्वनाथचरित में इस प्रकार है :—

नमः सन्मतये तस्मै भव कूपनिपातिनां।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधामप्रवेशिनी॥—पारि०,१००)

(१९) जीवसिद्धि— यह दूसरा 'जीवसिद्धि' ग्रंथ अनन्तकीर्ति आचार्यका बनाया हुआ है। उक्त पार्श्वनाथचरित में इसका उल्लेख इस प्रकारसे है—

आत्मनैवाद्वितीयेन जीवसिद्धिं निबध्नता।
अनन्तकीर्तिना मुक्तिरात्रिमार्गवलक्ष्यते॥
—पारि०, २५)

(२०) सिद्धिभूपद्धति टीका— यह टीका वीरसेन आचार्यकी बनाई हुई है, जिसका उल्लेख गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराणमें निम्नप्रकारसे पाया जाताहै—

सिद्धिभूपद्धतिर्यस्य टीकां संवीक्ष्य भिक्षुभिः।
टीक्यते हेलयान्येषां विषमापि पदे पदे॥—पारि०,२५)

(२१) सुलोचना — यह सुन्दर कथा महासेन आचार्य-रचित है। जिनसेन-कृत 'हरिवंशपुराण' में इसका उल्लेख इस प्रकार है— —पारि०, २५)

महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना॥

(२२) वरांगचरित— यह पद्मपुराणके कर्ता रविषेणाचार्य-कृत है। उक्त हरिवंशपुराणमें पद्मपुराण के बाद इसका भी उल्लेख निम्न प्रकारसे किया है और इसे अच्छा मनोमोहकचरित लिखा है—

वरांगनेव सर्वांगै र्वरांगचरितार्थवाक्।
कस्य नोत्पादयेद्गाढमनुरागं स्वगोचरम्॥
—पारि०, २५)

(२३) मार्गप्रकाश— यह ग्रन्थ किस विद्वान् की रचना है, यह अभी तक मालूम नहीं हो सका। परंतु पद्मप्रभ मलधारिदेव ने नियमसारकी टीका में इसके कितने ही पद्योंको 'उक्तंच मार्गप्रकाशे' आदि वाक्योंके साथ उद्धृत किया है और उनपर से यह ग्रन्थ अच्छे महत्वका मालूम होता है। एक पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है—

कालाभावे न भावानां परिणामस्तदन्तरात्।
न द्रव्यं नापि पर्यायः सर्वाभावः प्रसज्यते॥
—पारि०, २५)

(२४) श्रुतबिन्दु— यह ग्रन्थ चन्द्रकीर्ति आचार्य-रचित है, ऐसा श्रवणबेल्गोलके उक्त शिलालेख नं०५४ से पाया जाता है। यथा:—

[व]र्ण्यः कथं नु ... यः श्रुतबिन्दुनावरुरुधे भावं कुशाग्रीयया:...।
[अ]स्तं वा चार्चित चन्द्रकीर्तिगणिनं चन्द्राभकीर्तिं बुधाः॥

नियमसार की पद्मप्रभ-विरचित टीकामें 'जयति विजयदोषो' नाम का जो एक पद्य 'तथाचोक्तं श्रुतबिन्दौ' शब्दोंके साथ उद्धृत मिलता है वह संभवतः इसी ग्रन्थ का जान पड़ता है। —पारि०, २५)

(२५) राद्धान्त— यह ग्रन्थ आर्यदेवाचार्यकृत है, ऐसा उक्त शिलालेख नं० ५४ के निम्न वाक्यसे पाया जाता है—"आचार्यवर्यो यतिरार्यदेवो राद्धान्तकर्ता ध्रियतां स मूर्ध्नि"

और वीरनन्दि-कृत 'आचारसार' में इसका एक पद्य भी 'उक्तंच राद्धान्ते' वाक्यके साथ उद्धृत मिलता है, जिससे यह ग्रन्थ अच्छे महत्वका जान पड़ता है। वह पद्य इस प्रकार है :—

स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयंभवेत्। प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः ॥ —पारि०, ५०)

(२६) सिद्धान्तसार (तर्कग्रन्थ)—श्रीजयशेखर सूरि-विरचित 'षड्दर्शनसमुच्चय' नामक श्वेताम्बर ग्रंथ के निम्न वाक्योंसे मालूम होता है कि दिगम्बर जैनों को जयश्री दिलाने वाले ग्रन्थोंमें 'सिद्धान्तसार' नामक भी ग्रन्थ है और वह 'अष्टसहस्री' तथा 'न्यायकुमुदचन्द्र' की जोड़का बड़ा ही कर्कश तर्क ग्रन्थ है—

स्याद्वादविद्याविद्योतात्प्रायः साधर्मिका अमी ।
परमष्टसहस्री या न्यायकैरवचन्द्रमाः ॥ २८ ॥
सिद्धान्तसार इत्याद्यास्तर्काः परमकर्कशाः ।
तेषां जयश्रीदानाय प्रगल्भन्ते पदेपदे ॥ —पारि०,५०)

(२७) वागर्थसंग्रह पुराण— यह ग्रन्थ कविपरमेष्ठी नामके आचार्य का बनाया हुआ है, जिन्हें कविपरमेश्वर भी कहते हैं, ऐसा भगवज्जिनसेन-प्रणीत आदिपुराणके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

स पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः ।
वागर्थसंग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः समग्रहीत् ॥
—पारि०, १००)

विशेष सूचना— इन ग्रंथोंमें नं० ११, १२, १३ के तीन ग्रन्थ यदि स्वोपज्ञ भाष्य-सहित न मिल कर मूलमात्र मिलें तो पारितोषिक प्रत्येक का आधा अर्थात् पच्चीस २ रुपये होगा। और यदि तीनों मूल ग्रंन्थ 'बृहत्त्रय' आदिके रूपमें एक ही व्यक्ति-द्वारा प्राप्त हो जायँ तो पारितोषिक ७५) के स्थान में १००) रु० भेट किया जायगा। 'बृहत्त्रय' के नामसे प्रसिद्ध होने वाले अकलङ्कदेवके ग्रन्थमें इन्हीं तीनों ग्रन्थोंके संग्रहकी बहुत बड़ी संभावना है।

पारितोषिक दाताओंके नाम

५००) सेठ पद्मराजजी रानी वाले, कलकत्ता। ग्रन्थ नं० ३, ४, ८, ९, ११, १२, १३, १४, २४, २५,
२००) जुगलकिशोर मुख्तार, सरसावा। ग्रन्थ नं० १, २; प्रत्येक पर १००) १००)
१००) ला० मक्खनलालजी ठेकेदार, देहली। ग्रन्थ नं० १०, २६, प्रत्येक पर ५०) ५०)
१००) बाबू रघुवरदयाल एम. ए., लाहौर। ग्रन्थ नं० १७
१००) पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई। ग्रन्थ नं० १८
१००) बाबू राजकृष्णजी, कोलमर्चेंट, देहली। ग्रन्थ नं०५, १६; प्रत्येक पर ५०) ५०)
१००) राजवैद्य शीतलप्रशादजी, देहली। ग्रन्थ नं०७
१००) बाबू सुमेरचन्दजी, एडवोकेट, सहारनपुर। ग्रन्थ नं० २७
५०) ला०जम्बूप्रसादजी जैन रईस, नानौता। ग्रन्थ नं०६
२५) ला०मूलचंद नेमचंदजी लोणंद (सतारा) ग्रन्थनं०१५
२५) राय ब०बा०छोटेलालजी, मुरादाबाद। ग्रन्थ नं०२३
२५) बाबू शिवचरणलालजी, जसवन्तनगर। ग्रन्थ नं०१९
२५) प्रोफेसर मोतीलालजी एम.ए., बनारस। ग्रन्थ नं०२२
२५) ला० मथुराप्रसादजी, कनखल। ग्रन्थ नं० २१
२५) अयोध्याप्रसादजी गोयलीय, देहली। ग्रन्थ नं०२२

१५२०)

संपूर्ण पत्र व्यवहार का पताः—जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'समन्तभद्राश्रम' करौलबाग़, देहली।

'अनेकान्त' पर लोकमत

४२-श्री० जैनेन्द्रकुमारजी, देहली—

"अनेकान्त' देखा। अखबार आज कल बहुत से निकल रहे हैं। पर गिनतीके ऐसे हैं जो लोक-रुचिके प्रवाहमें बहते नहीं, उस प्रवाह के बीच में और विरोध में एक आदर्श (Standard) को प्रतिष्ठित करने के प्रणमें दीक्षित होते हैं। होता है तो उसी यत्न में मिट जाते हैं, पर (Standard) से नहीं डिगते। मैं समझता हूँ, ऐसे ही पत्रों का अस्तित्व सार्थक है, भले ही वे चाहे थोड़ा ही जीवन रख पायें। यों तो बहुतेरे उगते हैं, और बहुतेरे जीते रहते हैं, बिकते भी रहते हैं और मालिकोंको नफ़ा भी देते रहते हैं, पर उनका होना-न-होना, मेरी दृष्टिमें एकसा है। क्योंकि वे दुनियाँ को ज़रा लाभ और ज़रा पुष्टि नहीं पहुँचाते। 'अनेकान्त', मैंने स्पष्ट देखा, एक आदर्श लेकर चला है। इसके लिये संपादक पंडित जुगलकिशोर जी अभिनंदनीय हैं। वह लोकरुचि में बहना नहीं चाहता, बहती हुई रुचि को मोड़ना चाहता है। पत्र के सभी लेख, स्पष्ट, उसी आदर्शमें पिरोये हुए हैं। जिसे भर्ती कह सकते हैं, वैसे लेख इसमें नहीं हैं। लोकरुचि, जो स्वभावतः नीचेकी ओर बहती है, और साधारणतः नीचे की ओर बह रही है, संभवतः इसे न अपनाये। पर वे जो उस से ऊपर उठ गये हैं, और उठना चाहते हैं, बहुत कुछ अपनी सत्प्रवृत्तियाँ और सदिच्छाएँ 'अनेकान्त'की पंक्तियोंमें प्रतिबिम्बित और प्रतिफलित पायेंगे। और इसे सराहेंगे। उन्हीं की सराहना, मेरी दृष्टिमें क़ीमती है; और मेरा विश्वास है वही अनेकान्तको प्राप्त है। मेरी कामना है 'अनेकान्त' अपने लक्ष्य पर बिना डिगे-चले बढ़ता रहे। भव्य-जनों का इससे बड़ा उपकार होगा।"

४३-प्रोफ़ेसर मोतीलालजी एम. ए., बनारस

"जबसे 'जैनहितैषी' की असामयिक मृत्यु हुई तब से मैंने यह समझ लिया था कि जैन समाज की रही सही जीवन-शक्ति भी लुप्त हो गई। परन्तु 'अनेकान्त' को पाकर वह भ्रम दूर हो गया, मुरझाई हुई आशालता फिर हरी हो गई। एकान्तमें बैठ कर बहुत ध्यान पूर्वक अनेकान्त का मनन किया और अपनी चिरकालिक ज्ञानपिपासा को शान्त किया। सभी लेखों में विचार-गम्भीरता और श्रमपूर्ण गवेषणा व्यक्त होती है। आश्रम और पत्रके उद्देश्य सराहनीय हैं। यह समाज का सौभाग्य है कि आपने एक बार फिर साहित्यिक पुनरुत्थान का मार्ग खोल दिया है। मेरी यह हार्दिक भावना है कि पत्र चिरजीवी हो और अपने उच्च उद्देश्योंके अनुकूल उन्नति करता रहे।"

४४-बा० हुकमचन्दजी नारद, जबलपुर—

"अनेकान्त" की प्रथम किरणके दर्शन हुए। आपने जिस गम्भीरता एवं विद्वत्ताके साथ पत्र निकालनेका संकल्प किया है। वह सचमुच में अभिनन्दनीय है। आशा करता हूँ कि आपके "अनेकान्त" की प्रचण्ड किरणें इस फैले हुये निविड़ अन्धकार को मिटाने में सफल होंगी। अन्त में आपके साधु संकल्प की हृदय से सफलता चाहता हूँ।"

४५–पं० पन्नालालजी काव्यतीर्थ, चौरासी (मथुरा)–

" अनेकान्त की १-२ किरणें पढ़ कर चित्त अतीव आल्हादित हुआ, चिरकाल से मुरझाई हुई आशालता उसके दर्शन मात्र से पल्लवित हुई।"... खोज और ऐतिहासिक निबन्ध सर्वोत्कृष्ट हैं।"

४६–ब्र० पार्श्वसागरजी अधिष्ठाता श्री दे० कु० ब्रह्मचर्याश्रम कुन्थलगिरि—

"आपका प्रयत्न प्रशंसनीय है। जैनसमाज में ऐसे पत्र की अतीव जरूरत थी। उसकी पूर्ति आप ने की है; इसलिये मैं सहर्ष धन्यवाद देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि 'अनेकान्त' पत्र द्वारा जैन-समाज का सुधार होगा। मैं यथाशक्ति तन, मन, धन से सेवा बजाने की कोशिश करूँगा।"

४७ श्री सुलतानमलजी सकलेचा, विल्लुपुरम् (मदरास)—

'अनेकान्त' की प्रथम किरणको पढ़कर मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ। पण्डित सुखलालजीका 'अनेकान्त-वाद की मर्यादा' और आपका 'भगवान महावीर और उनका समय' शीर्षक लेख बहुत ही महत्त्व-पूर्ण हैं। बाक़ी लेख भी अच्छे हैं।...'अनेकान्त' सिद्धान्तका प्रकाश करके संसारमें मिथ्यैकान्तरूपी अन्धकारको हटाने वाला है। निःसन्देह जैनसमाजमें यह एक सुन्दर उच्चकोटिका साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पत्र है। इस सर्वांगपूर्ण पत्र का प्रत्येक जैनको ग्राहक बनना चाहिये। मेरी भावना है कि अनेकान्त को संसार अपनावे जिससे उस का कल्याण हो।

४८ सम्पादक 'सुदर्शन', एटा—

"श्री जुगलकिशोरजी जैन समाज के उन गिने हुए नररत्नों में से हैं जिन्होंने समाज में धार्मिक विचार स्वातंत्र्य का प्रादुर्भाव कर अन्धश्रद्धा और लोक-मूढ़ता को दूर भगा दिया है। जिन महानुभावोंने आपके लेख 'जैनहितैषी' में पढ़े होंगे वे हमारे इस कथन को अतिशयोक्ति न समझेंगे। आज जैन-समाजके युवकोंमें जो धार्मिक विचार-स्वातन्त्र्य दृष्टि पड़ रहा है उसमें बहुत कुछ आपका हाथ है। हमें हर्ष है कि आप पुनः अनेकान्तद्वारा कार्यक्षेत्र में पदार्पण कर रहे हैं। 'अनेकांत' का प्रथमांक और द्वितियांक हमने पढे हैं। दोनों अंक सुन्दर सुपाठ्य और जैन एवम् अजैन सभी के संगृह्योग्य हैं। लेख और कविताएँ सभी उच्चादर्श को लिये हुये हैं। आशा है कि सहयोगी 'जैन-हितैषी' की कमीको समाज के लिये पूरी करेगा।"

४९ सम्पादक 'विज्ञान' प्रयाग—

"यह अनेकान्तवादकी प्रचारक जैनधर्मीय पत्रिका है।...इसमें सम्पादकजीका 'पात्रकेसरी और विद्यानन्द' सम्बन्धी लेख तथा नाथूराम प्रेमी का 'कर्नाटक-जैन-कवि' निबन्ध मननशील हैं। कविताओंका चुनाव भी साधारणतः अच्छा ही है। हमारी शिक्षा नामक लेख भी उपयोगी है। हमें आशा है कि यह सुंदर पत्रिका जैनसमाज में जागृति एवं स्फूर्ति उत्पन्न करनेमें सफल होगी। हम इसकी हृदयसे उन्नति चाहते हैं।"

५० सम्पादक 'राजस्थान सन्देश', अजमेर—

"इस मासिक पत्रको जैन पत्रों में सर्वोत्तम कहा जा सकता है। इसका विषय-सम्पादन तो अच्छा होता ही है, लेख भी मार्के के होते हैं। पुरानी बातें काफ़ी खोज के साथ पाठकोंके सामने रक्खी जाती हैं जैन भाइयों को इसे अवश्य अपनाना चाहिये।"

५ –सम्पादक 'वीर' मेरठ—

" 'अनेकान्त' की दो संख्यायें हमारे सामने हैं और दोनों ही की छपाई और भाव-भूषा उत्तरोत्तर बढ़ी चढ़ी है। जैनसमाजमें एक ऐसे ही मार्मिक साहित्यालोचन करने वाले मासिक पत्र की आवश्यकता थी। 'अनेकांत' उसकी पूर्ति अच्छी तरह कर सकेगा, इसमें शक नहीं।"

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

—श्रीअमृतचन्द्रसूरिः ।

वर्ष १ | समन्तभद्राश्रम, क़रौलबाग़, देहली । चैत्र, संवत् १९८६ वि०, वीर-निर्वाण सं० २४५६ | किरण ५

हृदय की तान

[ले०—पं० दरबारीलाल जी, न्यायतीर्थ]

हृदयमें गूँजे ऐसी तान ।

न्याय-मार्ग से नहीं डरें हम, अनुत्साहको नहीं धरें हम,
प्राणिमात्र से प्रेम करें हम, करें देश-उत्थान;
हृदयमें गूँजे ऐसी तान ।

दीनोंके सब दुःख दूर हों, कार्य-क्षेत्रमें हम सुशूर हों,
अन्यायीके लिये क्रूर हों, रक्खें अपना तान;
हृदयमें गूँजे ऐसी तान ।

कायर-वचन न मुखसे बोलें, ज्ञान-सुधारस घट घट घोलें,
सत्य-तुलामें सब कुछ तोलें, जब तक तनमें प्रान;
हृदयमें गूँजे ऐसी तान ।

निर्बल कहीं न समझे जावें, जगमें कभी न दीन कहावें,
विघ्न करोड़ों सिर पर आवें, मेलें सब शुभ आन,
हृदयमें गूँजे ऐसी तान ।

सद्धर्म-सन्देश

[लेखक—श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी]

(१)

मन्दाकिनी दयाकी, जिसने यहाँ बहाई;
हिंसा-कठोरताकी, कीचड़ थी धो बहाई।
समता-सुमित्रताका, ऐसा अमृत पिलाया;
द्वेषादि रोग भागे, मदका पता न पाया॥

(२)

उस ही महान् प्रभुके, तुम हो सभी उपासक;
उस वीर वीरजिनके सद्धर्मके प्रचारक।
अतएव तुम भी वैसे, बननेका ध्यान रक्खो;
आदर्श भी उसीका, आँखोंके आगे रक्खो॥

(३)

संकीर्णता हटाओ, दिल को बड़ा बनाओ;
निज कार्यक्षेत्रकी अब, सीमाको कुछ बढ़ाओ।
सब ही को अपना समझो, सबको सुखी बनादो;
औरोंके हेतु अपने, प्रिय प्राण भी लगा दो॥

(४)

ऊँचा उदार पावन, सुख-शान्ति-पूर्ण प्यारा।
यह धर्मवृक्ष सबका, निजका नहीं तुम्हारा।
रोको न तुम किसीको, छायामें बैठने दो।
कुल-जाति कोई भी हो, संताप मेटने दो॥

(५)

जो चाहता हो अपना, कल्याण मित्र! करना—
जगदेकबन्धु जिनकी, पूजा पवित्र करना।
दिल खोल करके उसको, करने दो कोइ भी हो;
फलते हैं भाव सबके, कुल-जाति कोइ भी हो॥

(६)

सन्तुष्टि शान्ति सच्ची, होती है ऐसी जिससे,
ऐहिक क्षुधा-पिपासा, रहती है फिर न जिससे।
वह है प्रसाद प्रभु का, पुस्तक-स्वरूप इसको,
सुख चाहते सभी हैं, चखने दो चाहे जिसको॥

(७)

यूरुप अमेरिकादिक, सारे ही देशवाले,
अधिकारि इसके सब हैं, मानव सफ़ेद-काले।
अतएव कर सकें वे, उपभोग जिस तरहसे,
यह बाँट दीजिए उन, सबको ही उस तरहसे॥

(८)

यह धर्मरत्न धनिको! भगवानकी अमानत;
हो सावधान सुनलो, करना नहीं ख़यानत।
दे दो प्रसन्न मनसे, यह वक्त आ गया है;
इस ओर सब जगत का, अब ध्यान जा रहा है॥

(९)

कर्तव्यका समय है, निश्चिंत हो न बैठो;
थोथी बड़ाइयोंमें, उन्मत्त हो न ऐंठो।
सद्धर्मका सँदेशा, प्रत्येक नारि नरमें,
सर्वस्व भी लगाकर, फैला दो विश्वभरमें॥

जैनोंकी प्रमाण-मीमांसा-पद्धतिका विकासक्रम

[लेखक—श्रीमान् पं० सुखलालजी]

आज तक तत्त्व-चिन्तकोंने ज्ञानविचारणा एवं प्रमाण-मीमांसामें जो विकास किया है उसमें जैनदर्शनका कितना हाथ है? इस प्रश्नका उत्तर प्राप्त करनेके लिये जब जैनसाहित्यको अधिक गहराईसे देखा जाता है, तब हृदयमें साश्चर्य आनन्द होनेके साथ साथ जैन तत्त्वचिन्तक महर्षियोंके प्रति बहुमान हुए बिना नहीं रहता, और उनके तत्त्वचिन्तन मननरूप ज्ञानोपासनाकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करनेके लिये मन ललचाता है।

जैनसाहित्यमें ज्ञान-निरूपणकी दो पद्धतियाँ नज़र पड़ती हैं—पहली 'आगमिक' और दूसरी 'तार्किक'। आगमिक पद्धतिमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल इस प्रकार पाँच भेद करके समग्र ज्ञानवृत्तिका वर्णन किया गया है। तार्किक पद्धतिके दो प्रकार वर्णन किये गये हैं—(१) पहला प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदोंका, और (२) दूसरा प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार भेदोंका है।

पहली पद्धति को 'आगमिक' कहनेके मुख्य दो कारण हैं:—

(अ) एक तो यह कि, किसी भी जैनेतर दर्शनमें प्रयुक्त नहीं हुए ऐसे मति, श्रुत, अवधि आदि ज्ञानविशेषवाची नामों द्वारा ज्ञानका निरूपण किया गया है; और

(आ) दूसरा यह कि, जैनश्रुत के खास विभागरूप कर्मशास्त्रमें कर्म प्रकृतियोंका जो वर्गीकरण है उसमें ज्ञानावरणीय कर्म के विभाग रूपसे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण (न कि प्रत्यक्षावरण, परोक्षावरण, अनुमानावरण, उपमानावरण आदि) ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

दूसरी पद्धति को 'तार्किक' कहने के भी मुख्य दो कारण हैं:—

(क) एक तो यह कि, उसमें प्रयुक्त हुए प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान, उपमान आदि शब्द न्याय, बौद्ध आदि जैनेतर दर्शनोंमें भी साधारण हैं; और

(ख) दूसरे यह कि, प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि रूपसे समग्र ज्ञान वृत्तिका पृथक्करण करनेमें तर्कदृष्टि प्रधान रक्खी गई है।

गणधर श्रीसुधर्म-प्रणीत मूल आगमोंसे लेकर उपाध्याय यशोविजयजीकी कृतियों तक ज्ञाननिरूपण-विषयक समग्र श्वेताम्बर-दिगम्बर वाङ्मयमें (मात्र कर्मशास्त्र को छोड़ कर) आगमिक और तार्किक दोनों पद्धतियोंको स्वीकार किया गया है। इन दोनोंमें आगमिक पद्धति ही प्राचीन मालूम पड़ती है; क्योंकि जैनतत्त्वचिन्तनकी खास विशिष्टता और भिन्न प्रस्थान वाले कर्मशास्त्रमें वही पद्धति स्वीकार की गई है। इस लिये यह भी कहा जा सकता है कि भगवान महावीरके स्वतंत्र विचारका व्यक्तित्व आगमिक पद्धतिमें ही है। दूसरी तार्किक पद्धति जो कि, यद्यपि, अत्यंत प्राचीन कालसे जैन वाङ्मयमें प्रविष्ट हुई मालूम होती

है, तो भी उसे आगमिक पद्धतिके पीछे ही अनुक्रमसे दार्शनिक संघर्षण तथा तर्कशास्त्रके परिशीलन की वृद्धिके परिणामस्वरूप योग्य स्थान प्राप्त हुआ है, ऐसा भासता है।

मूल अंग-ग्रन्थोंमेंसे तीसरे 'स्थानांग' नामके आगममें तार्किक पद्धतिके दोनों प्रकारों का निर्देश है। 'भगवती' नामक पाँचवें अंगमें चार भेद वाले द्वितीय प्रकारका निर्देश है। मूल अङ्गोंमें आगमिक और तार्किक दोनों पद्धतियोंसे समग्र ज्ञानवृत्तिका निरूपण होने पर भी कहीं इन दोनों पद्धतियों का समन्वय कराया गया हो ऐसा दृष्टि गोचार नहीं होता। श्रीमद्-भद्रबाहु-कृत दशवैकालिकनिर्युक्ति (प्रथमाध्ययन) में न्यायप्रसिद्ध परार्थ अनुमानका अति विस्तृत और अति स्फुट वर्णन जैनदृष्टिसे किया गया है, उस पर से इतना तो मालम होता है कि निर्युक्तकारके पहले ही तार्किक पद्धति ने जैनशास्त्रमें स्थान प्राप्त किया होगा। फिर भी निर्युक्तिपर्यंत इन दोनों पद्धतियोंका समन्वय हुआ हो ऐसा जानने में नहीं आता।

परंतु कालक्रमसे ज्यों ज्यों दार्शनिक संघर्ष और तर्क का अभ्यास बढ़ता गया त्यों त्यों पहले से ही आगममें प्रचलित इन दोनों पद्धतियोंके समन्वय का प्रश्न अधिक स्पष्ट रूपसे उपस्थित होने लगा। आगम में मूल ज्ञानके मति, श्रुत आदि ऐसे पाँच विभाग हैं, उसी प्रकार प्रत्यक्ष, परोक्ष ऐसे दो; और प्रत्यक्ष, अनुमान आदि ऐसे चार भी हैं, उनमें कोई विरोध है कि नहीं? और यदि नहीं तो उसका समन्वय किस प्रकार? यह प्रश्न उठने लगा। इसके उत्तर देने का प्रथम प्रयास वाचक उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें हुआ जान पड़ता है। समग्र आगमों को दोहन करके समस्त जैनपदार्थों को, लोकप्रिय दार्शनिक संस्कृत सूत्रशैली में, सबसे पहले गूँथने वाले जैनाचार्य वाचक उमास्वाति हैं। इससे वे उक्त प्रश्न का समाधान किये बिना नहीं रहें यह स्पष्ट है। तत्त्वार्थके पहले अध्यायमें मुख्यरूप-से ज्ञान का निरूपण है। उसमें वाचकश्री उमास्वाति ने आगमिक पद्धति की भूमिकाके ऊपर तार्किक पद्धति को घटित किया है। ज्ञानके मति, श्रुत, आदि पाँच भेद बता कर उन्हें तार्किक पद्धतिके प्रथम प्रकार में घटित करते हुए वाचकश्री कहते हैं—पहले दो ज्ञान परोक्ष, और बाक़ीके तीन प्रत्यक्ष हैं। परोक्ष और प्रत्यक्ष इन दो भेद वाली प्रथम प्रकार की तार्किक पद्धति को आगमिक पद्धतिमें घटित करने वाले आग-माभ्यासी वाचकश्री आगमोंमें उल्लिखित चार भेद वाली दूसरी तार्किक पद्धति को भूल जायँ ऐसा होना असंभव है, इससे ही उन्होंने अपने तत्त्वार्थ भाष्य× में 'चतुर्विधमित्येके' कह कर चार प्रमाणों को भी सूचित किया है। परंतु जिस तरह पाँच ज्ञानों को परोक्ष और प्रत्यक्ष ऐसे दो प्रमाणभेदोंमें सूत्र-द्वारा घटित किया है, उस प्रकार इन पाँच ज्ञानोंको प्रत्यक्ष, अनुमान आदि चार प्रमाणोंमें सूत्र या भाष्य-द्वारा घटित नहीं किया। मात्र कोई चार प्रमाण मानते हैं इतना ही 'चतुर्विधमित्येके' इस भाष्य-वाक्य-द्वारा सूचित किया है। यह सूचन करते समय वाचकश्री के सामने "दूसरी चार भेद वाली तार्किक पद्धति जो आगम में निर्दिष्ट हुई है वह जैन दर्शन को मान्य है कि नहीं; और मान्य है तो उसमें भी पाँच भेदों को घटित क्यों नहीं किया?" ऐसा जिज्ञासु शिष्यों का अथवा प्रतिवादियोंका प्रश्न था। इस प्रश्नका निरा-

× तत्त्वार्थभाष्य खुद उमास्वाति-कृत है, यह विषय अभी बहुत कुछ संदेहास्पद तथा विवादग्रस्त है और विशेष निर्णय की अपेक्षा रखता है। —सम्पादक

करण 'कोई चार प्रकारका प्रमाण मानते हैं' इतना कह देनेसे नहीं हो जाता। अधिकतर तो इस कथन-द्वारा इतना ही फलित होता है कि आगमोंमें स्थानप्राप्त यह चार प्रमाणों का विभाग कोई दूसरे दर्शनकारों द्वारा मान्य किया हुआ विभाग है; परंतु वह जैनदर्शन को अनिष्ट नहीं, इस बातको सूचित करनेके लिये वाचकश्री आगे चल कर कहते हैं कि **'नयवादान्तरेण'** अर्थात् चतुर्विध प्रमाणके विभाग को अपेक्षाविशेष से समझना। इसी संक्षिप्त सूचना को वे फिर आगे चल कर नय-सूत्रके भाष्यमें स्पष्ट करके कहते हैं कि—शब्दनय की अपेक्षासे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चारों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। वाचकश्रीके इस पूर्वापर कथन का सार इतना ही निकल सकता है कि प्रथम प्रकार की तार्किक पद्धति ही जैन दर्शनके अधिक अनुकूल बैठती है और चार भेद वाली तार्किक पद्धति आगम में निर्दिष्ट होनेपर भी मूलमें यह दूसरे दर्शनकी चीज़ है; परन्तु जैनदर्शनको अमुक अपेक्षासे उसका स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। इसी कारणसे उन्होंने प्रथम प्रकार की तार्किक पद्धति में जिस तरह पाँच ज्ञान के विभाग को घटाया है उसी तरह दूसरे प्रकार की तार्किक-पद्धति में उसे भाष्य तक में भी नहीं घटाया।

वाचकश्री उमास्वाति ने प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद वाली तार्किक पद्धति के मुख्यरूपसे जैनदर्शन-सम्मत होने की जो छाप मारी उसे ही आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वीकृत की *। उन्होंने भी प्रवचनसारके प्रथम प्रकरण में तत्त्वार्थसूत्र की तरह पहले दो ज्ञानोंको परोक्ष और शेष तीन ज्ञानोंको प्रत्यक्षरूपसे वर्णित किया है। आगमिक और तार्किक पद्धतियोंके समन्वय का इतना प्रयत्न होने के बाद भी जिज्ञासुओं की शंका के लिये अवकाश तो था ही। इससे फिर प्रश्न होने लगा कि आप (जैनाचार्य) तो मति और श्रुतको परोक्ष कहते हो जब कि जैनेतर दार्शनिक विद्वान मतिज्ञानरूपसे वर्णन किये हुए इंद्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, तो इस विषय में सत्य क्या समझना? क्या आपके कथनानुसार मतिज्ञान यह ठीक परोक्ष ही है या दर्शनान्तर विद्वानों के कथनानुसार यह प्रत्यक्ष ही है?" यह प्रश्न एक तरह पर उमास्वाति के समन्वय मेंसे ही उद्भूत होने वाला है और वह प्रकट रूपसे विकट भी मालूम होता है। परन्तु इसका समाधान वाचकश्री उमास्वाति और कुन्दकुन्दाचार्य के बाद होता हुआ दिखलाई देता है।

इस समाधान के दो प्रयत्न आगमों में नज़र पड़ते हैं—पहला प्रयत्न अनुयोगद्वारमें और दूसरा 'नन्दिसूत्र में'। दोनों की रीति जुदी जुदी है। अनुयोगद्वार में प्रत्यक्ष, अनुमान आदि चार प्रमाणोंके उल्लेखकी भूमिका बाँध कर, उनमेंसे प्रत्यक्ष के दो भाग किये, एक भाग में मतिज्ञान को प्रत्यक्ष रूपसे मान्य रक्खा गया और दूसरे भागमें वा०उमास्वाति द्वारा स्वीकृत अवधि आदि तीन ज्ञानोंका प्रत्यक्षपणा स्वीकार किया गया। जब कि नन्दिसूत्रका समाधान-प्रयत्न दूसरे ही प्रकारका है। उसमें प्रमाणके प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ये दो भेद ले कर और प्रत्यक्ष भेदके दो भाग करके, पहले भागमें मतिज्ञानको और दूसरेमें अवधि आदि तीनों ज्ञानोंको

* लेखक महोदयका यह निर्णय कुछ ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य उमास्वातिसे पहले हो गये हैं। उन्हीं के वंशमें उमास्वाति हुए हैं, जिसका उल्लेख बहुत से ग्रंथों, शिलालेखों तथा दिगम्बर पट्टावलियोंमें पाया जाता है। और इस लिये उपलब्ध साहित्य की दृष्टिसे इन दोनों पद्धतियोंके प्रथम समन्वय का श्रेय कुन्दकुन्दाचार्य को प्राप्त है, ऐसा कहा जा सकता है।

—सम्पादक

अनुयोगद्वार की सदृश प्रत्यक्ष रूपसे बतलाया है सो तो ठीक, परन्तु फिर आगे चल कर जहाँ परोक्ष भेद का वर्णन करनेका प्रसंग आता है वहाँ नन्दिकार श्रुत-ज्ञान की साथ मतिज्ञान को भी परोक्षरूपसे वर्णन करता है, जो वर्णन अनुयोगद्वारमें नहीं। अनुयोगद्वार और नन्दिसूत्र के कर्ताओं ने एक जैसी ही रीतिसे दर्शनान्तरमें और लोक में प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध इंद्रिय-जन्य (मति) ज्ञान को प्रत्यक्षके एक भाग रूपसे वर्णन करके जैन और लोकके बीच का विरोध तो दूर किया परन्तु उतने मात्रसे इस समन्वय का विचार बिलकुल स्पष्ट और असंदिग्ध नहीं हो पाया। एक तरह तो उलटा गोटोला सा हो गया। लोकमान्यताका संग्रह करते हुए इंद्रियजन्य (मति) ज्ञान को प्रत्यक्षका एक भाग रूपसे नंदि और अनुयोगद्वारमें किये हुए समन्वयके अनुसार नंदिकार ने उसे परोक्ष का एक भेदरूप भी वर्णन किया। इससे फिर शंका होने लगी कि "इंद्रिय-जन्य (मति) ज्ञान को आप (जैनाचार्य) प्रत्यक्ष कहते हो और परोक्ष भी कहते हो; तब क्या आप लौकिक संग्रह और आगमिक संग्रह दोनों करनेके लिये एक ही ज्ञानको प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे विरोधीरूपसे स्वीकारते हो या संशयशील हो? इसका बिलकुल स्पष्टरूप से निराकरण हमें उसके बादके श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रंथोंमें देखना चाहिये।

उपलब्ध साहित्य को देखते हुए, इसका निराकरण करने वाले श्वेताम्बर आचार्योंमें सबसे पहले जिन-भद्रगणी क्षमाश्रमण और दिगम्बर आचार्योंमें भट्टाकलङ्कदेव मालूम होते हैं। क्षमाश्रमणजी अपने 'विशेषावश्यक-भाष्य' में उक्त प्रश्न का निराकरण करते हुए कहते हैं कि—इंद्रियजन्य (मति) ज्ञान को जो प्रत्यक्ष कहा जाता है उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष समझना। भट्टाकलंकदेव अपने 'लघीयस्त्रय' में अधिक स्पष्टताके साथ कहते हैं, कि प्रत्यक्षके मुख्य और सांव्यवहारिक ऐसे दो भेद हैं, जिनमें अवधि आदि तीन ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष और इंद्रियजन्य (मति) ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष समझना। दोनों आचार्यों का कथन प्रस्तुत प्रश्नका अन्तिम निराकरण करता है। दोनोंके कथन का स्पष्ट आशय संक्षेपमें इतना ही है कि जैनदर्शन की तात्विक दृष्टिसे अवधि, मनःपर्याय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्षरूपसे मान्य हैं। मति और श्रुत वस्तुतः परोक्ष ही हैं तो भी मति (इंद्रियजन्य) ज्ञान को जो प्रत्यक्ष कहा जाता है वह तात्विक दृष्टिसे नहीं किन्तु लोकव्यवहार की स्थूल दृष्टिसे। तात्विक दृष्टिसे तो यह ज्ञान श्रुतज्ञान की तरह परोक्ष ही है। इन दोनों आचार्योंका यह स्पष्टीकरण इतना ज्यादा असंदिग्ध है कि उनके बाद आज तक लगभग बारह सौ वर्षके भीतर किसी भी ग्रंथकार को उसमें कुछ भी वृद्धि या परिवर्तन करनेकी ज़रूरत नहीं पड़ी।

क्षमाश्रमण जिनभद्रके बाद प्रस्तुत विषयसम्बंधमें खास उल्लेखयोग्य श्वेताम्बर आचार्य चार हैं—जिनेश्वर सूरि, वादिदेव सूरि आचार्य हेमचन्द्र और उपाध्याय यशोविजयजी। भट्टाकलंकदेवके बाद प्रस्तुत विषयमें उल्लेखयोग्य दिगम्बराचार्योंमें माणिक्यनन्दी, विद्यानन्दी, आदि मुख्य हैं। दोनों सम्प्रदायोंके इन सभी आचार्योंने अपनी अपनी प्रमाण-मीमांसा-विषयक कृतियोंमें कुछ भी फेर-फार किये बिना एक ही जैसी रीतिसे अकलङ्कदेवकी की हुई योजना और ज्ञानके वर्गीकरण को स्वीकार किया है—इन सबों ने प्रत्यक्षके मुख्य और सांव्यवहारिक ऐसे दो भेद किये हैं। मुख्यमें अवधि आदि तीन ज्ञानों को और सांव्-

व्यवहारिकमें मतिज्ञान को लिया है। परोक्षके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद करके उक्त प्रत्यक्षके सिवाय और सब प्रकारके ज्ञान को परोक्षके पाँच भेदोंमेंसे किसी न किसी भेदमें समाविष्ट कर दिया है।

परंतु यहाँ एक महान् प्रश्न उत्पन्न होता है, और वह यह कि—आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने, जो कि जैनतार्किकोंमें प्रधान माने जाते हैं, आगमिक और तार्किक पद्धतियोंके परस्पर समन्वय तथा उसके संबंध में उत्पन्न होने वाले प्रश्नोंके प्रति क्या विचार किया है? इसका खुलासा उनकी उपलब्ध कृतियों परसे नहीं मिलता। प्रमाणशास्त्रके खास लेखक इन आचार्य की प्रतिभा, प्रमाणसम्बंधी इस खास विषय को स्पर्श न करे ऐसा होना संभव नहीं। इससे कदाचित् ऐसा होना योग्य जान पड़ता है कि उनकी अनेक नष्ट हुई कृतियोंके साथ ही प्रस्तुत विचारसे सम्बंध रखने वाली कृति भी नाश को प्राप्त हो गई है।

जैनवाङ्मयमें आगमिक और तार्किक इन दोनों पद्धतियोंके परस्पर समन्वय का प्रश्न किस रीतिसे उत्पन्न हुआ तथा विकास को प्राप्त हुआ इसका अवलोकन हम संक्षेपमें कर गये हैं। इसका सार यह है कि ज्ञानके पाँच प्रकारों को प्रत्यक्ष और परोक्ष इन भेदोंमें सबसे पहले* वाचक उमास्वातिने 'तत्त्वार्थ' में घटाया है और इसके द्वारा यह दो भेद वाली तार्किक पद्धति जैनदर्शनके अधिक अनुकूल है ऐसी अपनी सम्मति प्रकट की है। वाचकवर्य (उमास्वाति) की इस सम्मतिको ही दिवाकरजीने न्यायावतारमें मान्य रक्खा है और उसके द्वारा अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है कि उक्त दो भेद वाली तार्किक पद्धति ही जैनदर्शन के लिये ठीक बैठती है।

* 'सबसे पहले' इन शब्दोंका साथमें प्रयोग उस वक्त तक ठीक मालूम नहीं होता जबतक कि यह सिद्ध न हो जाय कि उमास्वाति कुन्दकुन्दाचार्यसे पहले हुए हैं। शिलालेखों आदिमें उमास्वाति का कुन्दकुन्दके बाद होना पाया जाता है। —सम्पादक

एक विद्वान्के हृदयोद्गार

मद्रास प्रान्तीय दक्षिण कनाडा जिलेके मंजेश्वर नगर निवासी श्रीयुत एम० गोविन्द पै नामके एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं, जो कि पुरातत्त्व विषयके प्रेमी होने के साथ साथ अच्छे रिसर्चस्कॉलर हैं। आप कनड़ी, संस्कृत तथा अंग्रेजी आदि कई भाषाओंके पंडित हैं और जैनग्रंथोंका भी आपने कितना ही अभ्यास किया है। अंग्रेजी तथा कनडी आदि भाषाओंके पत्रोंमें आपके गवेषणापूर्ण लेख अक्सर निकला करते हैं। और 'अनेकान्त' के आप प्रेमी पाठक हैं। उसकी चार किरणोंको देख कर आपने जो अपने हृदयोद्गार एक संस्कृतपत्र-द्वारा व्यक्त किये हैं वे अनेकान्तके अन्य पाठकों और खास कर जैनसमाजके विद्वानों तथा श्रीमानोंके जाननेके योग्य हैं। यद्यपि अजैन विद्वानोंके कितने ही पत्र तथा विचार अनेकान्तकी गत किरणोंमें 'लोकमत' शीर्षकके नीचे प्रकट होते रहे हैं और वे सब, 'अनेकान्त' के विषयमें उनकी ऊँची भावना तथा दृष्टि और आकांक्षा को व्यक्त करते हुए, प्रकारान्तरसे जैन समाजको उसके कर्तव्यका बोध करानेमें बहुत कुछ

बहारिकमें मतिज्ञान को लिया है । परोक्षके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद करके उक्त प्रत्यक्षके सिवाय और सब प्रकारके ज्ञान को परोक्षके पाँच भेदोंमेंसे किसी न किसी भेदमें समाविष्ट कर दिया है ।

परंतु यहाँ एक महान् प्रश्न उत्पन्न होता है, और वह यह कि—आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने, जो कि जैनतार्किकोंमें प्रधान माने जाते हैं, आगमिक और तार्किक पद्धतियोंके परस्पर समन्वय तथा उसके संबंध में उत्पन्न होने वाले प्रश्नोंके प्रति क्या विचार किया है? इसका खुलासा उनकी उपलब्ध कृतियों परसे नहीं मिलता । प्रमाणशास्त्रके खास लेखक इन आचार्य की प्रतिभा, प्रमाणसम्बंधी इस खास विषय को स्पर्श न करे ऐसा होना संभव नहीं । इससे कदाचित् ऐसा होना योग्य जान पड़ता है कि उनकी अनेक नष्ट हुई कृतियोंके साथ ही प्रस्तुत विचारसे सम्बंध रखने वाली कृति भी नाश को प्राप्त हो गई है ।

जैनवाङ्मयमें आगमिक और तार्किक इन दोनों पद्धतियोंके परस्पर समन्वय का प्रश्न किस रीतिसे उत्पन्न हुआ तथा विकास को प्राप्त हुआ इसका अवलोकन हम संक्षेपमें कर गये हैं । इसका सार यह है कि ज्ञानके पाँच प्रकारों को प्रत्यक्ष और परोक्ष इन भेदोंमें सबसे पहले* वाचक उमास्वातिने 'तत्त्वार्थ' में घटाया है और इसके द्वारा यह दो भेद वाली तार्किक पद्धति जैनदर्शनके अधिक अनुकूल है ऐसी अपनी सम्मति प्रकट की है । वाचकवर्य (उमास्वाति) की इस सम्मतिको ही दिवाकरजीने न्यायावतारमें मान्य रक्खा है और उसके द्वारा अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है कि उक्त दो भेद वाली तार्किक पद्धति ही जैनदर्शन के लिये ठीक बैठती है ।

* 'सबसे पहले' इन शब्दोंका साथमें प्रयोग उस वक्त तक ठीक मालूम नहीं होता जबतक कि यह सिद्ध न हो जाय कि उमास्वाति कुन्दकुन्दाचार्यसे पहले हुए हैं । शिलालेखों आदिमें उमास्वाति का कुन्दकुन्दके बाद होना पाया जाता है ।—सम्पादक

एक विद्वान्‌के हृदयोद्‌गार

मद्रास प्रान्तीय दक्षिण कनाडा जिलेके मंजेश्वर नगर निवासी श्रीयुत एम० गोविन्द पै नामके एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं, जो कि पुरातत्त्व विषयके प्रेमी होने के साथ साथ अच्छे रिसर्चस्कॉलर हैं । आप कनड़ी, संस्कृत तथा अंग्रेजी आदि कई भाषाओंके पंडित हैं और जैनग्रंथोंका भी आपने कितना ही अभ्यास किया है । अंग्रेजी तथा कनडी आदि भाषाओंके पत्रोंमें आपके गवेषणापूर्ण लेख अक्सर निकला करते हैं । और 'अनेकान्त' के आप प्रेमी पाठक हैं । उसकी चार किरणोंको देख कर आपने जो अपने हृदयोद्‌गार एक संस्कृतपत्र-द्वारा व्यक्त किये हैं वे अनेकान्तके अन्य पाठकों और खास कर जैनसमाजके विद्वानों तथा श्रीमानोंके जाननेके योग्य हैं । यद्यपि अजैन विद्वानोंके कितने ही पत्र तथा विचार अनेकान्तकी गत किरणोंमें 'लोकमत' शीर्षकके नीचे प्रकट होते रहे हैं और वे सब, 'अनेकान्त' के विषयमें उनकी ऊँची भावना तथा दृष्टि और आकांक्षा को व्यक्त करते हुए, प्रकारान्तरसे जैन समाजको उसके कर्तव्यका बोध करानेमें बहुत कुछ

समर्थ हैं। फिर भी यह पत्र अपनी एक जुदी ही विशेषता रखता है और इसलिये इसे नीचे अनुवाद-सहित प्रकट किया जाता है। समाजके विद्वान और श्रीमान देखें तथा सोचें कि, जब उनके इस चार महीनेके बालक 'अनेकान्त' को उच्च कोटिके अजैन विद्वान भी इतनी गौरव भरी दृष्टिसे देख रहे हैं और इससे भविष्य में अपनी जिज्ञासापूर्ति की बहुत कुछ आशा लगाए हुए हैं तब इसे सब प्रकारसे उन्नत तथा सफल बनाने और इसका सर्वत्र प्रसार करनेके लिये उनका कर्तव्य कितना अधिक हो जाता है। उन्हें चाहिये कि वे अब तककी अपनी उपेक्षा पर लज्जित हो कर इस ओर सारी शक्ति को केंद्रित करें और इसे इसके नाम तथा नीति के अनुरूप समन्ततः अभिनन्दनीय एक आदर्श पत्र बना कर छोड़ें। अस्तु; । पै महाशय का वह पत्र इस प्रकार है:—

मंजेश्वर—१९-३-१९३०

भवता सानुरागं यत्प्रहितं च मदन्तिकम्।
तदनेकान्तपत्रस्य प्राप्तमंशुचतुष्टयम् ॥ १ ॥
तुष्टस्तुष्टतरोस्मीदं यथाधीतं मया तथा।
गृहाणार्य मुदा दत्तान्धन्यवादांश्च तत्कृते ॥२॥
मनोहराश्च सर्वेपि लेखा बोधमयाश्च ते।
कान्तस्येन्दोर्यथा तेजो मनोज्ञं च सुधामयम् ॥३॥

नास्त्यत्र किंचिज्जिनजन्मभूमौ
जैनाध्वदर्शीति सुलभ्यपत्रम्।
विश्रंभणीयं च भवत्यनेन
दूरीकृता वै वचनीयताद्य ॥ ४ ॥

वाञ्छितं यच्च विद्वद्भिरेकान्तेभ्यासकोष्ठके।
तदवाप्तमनेकान्ते लब्धकामा भवन्तु ते ॥ ५ ॥
प्रत्यङ्मृगजले येषां नोपशाम्यति हृत्तृषा।
जिज्ञासूनामत्र तेषामनेकान्ते प्रशाम्यतु ॥ ६॥
विश्वेषां धर्ममार्गाणां प्रभवोन्तश्च यो विभुः।
तस्यानन्तस्य कृपया चिरायुष्यं भवेदिदम् ॥७॥

इति भवभिरन्तरस्नेहाकांक्षी

M. Govind Pai

अर्थात—'अनुरागके साथ भेजे हुए आपके 'अनेकान्त' पत्रकी मुझे चार किरणें मिलीं ॥ इस पत्रको जैसे जैसे मैं पढ़ता गया हूँ तैसे तैसे अधिकाधिक संतुष्ट होता गया हूँ। अतः इसके लिये प्रसन्न चित्तसे दिये हुए मेरे धन्यवादोंको स्वीकार कीजिये ॥ कान्तिमान् चंद्रमाका तेज जिस प्रकार मनोज्ञ और अमृतमय होता है उसी प्रकार इस पत्रके सभी लेख मनोहर और बोधमयी हैं॥ जिनेन्द्रकी इस जन्मभूमि (भारतवर्ष) में जैनमार्ग को दिखलाने वाला कोई भी सुलभ्य तथा विश्वसनीय पत्र नहीं है' इस निन्दा अथवा कलङ्क को, निःसन्देह, आज इस पत्र ने दूर कर दिया है॥ अपनी अभ्यासकुटीके एकान्तमें विद्वान लोग जिस चीजकी वांछा किया करते हैं वह अनेकान्तमें प्राप्त है अतः इसे पाकर वे लोग अपनी कामना पूरी करें॥ पश्चिमी मृगजलमें जिनके हृदयकी प्यास नहीं बुझती उन जिज्ञासुओंकी वह प्यास इस 'अनेकान्त' में शान्तताको प्राप्त होवे॥ संपूर्ण धर्ममार्गोंका जो आदि और अन्त है उस अनन्त विभु की कृपासे यह पत्र चिरायु होवे॥

आपका निरन्तर स्नेहाकांक्षी

एम० गोविन्द पै

पुरानी बातों की खोज

(१०)

उमास्वाति या उमास्वामी ?

दिगम्बर सम्प्रदायमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम आजकल आम तौरसे 'उमास्वामी' प्रचलित हो रहा है। जितने ग्रन्थ और लेख आम तौरसे प्रकाशित होते हैं और जिन में किसी न किसी रूपसे तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नामोल्लेख करनेकी जरूरत पड़ती है उन सबमें प्रायः उमास्वामी नामका ही उल्लेख किया जाता है। बल्कि कभी कभी तो प्रकाशक अथवा सम्पादक जन 'उमास्वाति' की जगह 'उमास्वामी' या 'उमास्वामि' का संशोधन तक कर डालते हैं! तत्त्वार्थसूत्रके जितने संस्करण निकले हैं उन सबमें भी ग्रन्थकर्त्ताका नाम उमास्वामी ही प्रकट किया गया है। प्रत्युत इसके, श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ग्रन्थकर्त्ताका नाम पहलेसे ही 'उमास्वाति' चला आता है और वही इस समय प्रसिद्ध है। अब देखना यह है कि उक्त ग्रन्थकर्त्ताका नाम वास्तवमें उमास्वाति था या उमास्वामी और उसकी उपलब्धि कहाँ से होती है। खोज करनेसे इस विषय में दिगम्बर साहित्यसे जो कुछ मालूम हुआ है उसे पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे प्रकट किया जाता है—

(१) श्रवणबेल्गोलके जितने शिलालेखों में आचार्य महोदयका नाम आया है उन सबमें आपका नाम 'उमास्वाति' ही दिया है। 'उमास्वामी' नामका उल्लेख किसी शिलालेखमें नहीं पाया जाता। उदाहरणके लिए कुछ अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

> अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसा-
> वाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः।
>
> —शिलालेख नं०४७
>
> श्रीमानुमास्वातिरयं यतीश-
> स्तत्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
>
> —शि० नं० १०५
>
> अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे
> वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
> सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं
> शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥
>
> —शि० नं० १०८

इन शिलालेखोंमें पहला शिलालेख शक संवत १०३७ का, दूसरा १३२० का और तीसरा १३५५ का लिखा हुआ है। ४७वें शिलालेखवाला वाक्य ४०, ४२, ४३ और ५० नम्बरके शिलालेखोंमें भी पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि आजसे आठ सौ वर्षसे भी पहले से दिगम्बर सम्प्रदायमें तत्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम 'उमास्वाति' प्रचलित था और वह उसके बाद भी कई सौ वर्ष तक बराबर प्रचलित रहा है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उनका दूसरा नाम गृध्रपिच्छाचार्य था। विद्यानन्द स्वामी ने भी, अपने 'श्लोकवार्तिक में, इस पिछले नामका उल्लेख किया है।

(२) 'ऐपिग्रेफिया कर्णाटिका' की ८ वीं जिल्द में प्रकाशित 'नगर' ताल्लुके ४६ वें शिलालेख में भी 'उमास्वाति' नाम दिया है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारमुमास्वाति मुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देहं गुणमन्दिरम् ॥

(३) नन्दिसङ्घकी 'गुर्वावली' में भी तत्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम 'उमास्वाति' दिया है। यथा—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वप्रकटीकृतसन्मतिः।
उमास्वातिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान ॥ *

जैनसिद्धान्तभास्करकी ४थी किरणमें प्रकाशित श्रीशुभचन्द्राचार्यकी गुर्वावली में भी यही नाम है और यही वाक्य दिया है। और ये शुभचन्द्राचार्य विक्रम की १६ वीं और १७ वीं शताब्दीमें हो गये हैं।

(४) नन्दिसङ्घकी 'पट्टावली' में भी कुन्दकुन्दाचार्य के बाद छटे नम्बर पर 'उमास्वाति' नाम ही पाया जाता है ※।

(५) बालचन्द्र मुनिकी बनाई हुई तत्वार्थसूत्रकी कनडी टीका भी 'उमास्वाति' नामका ही समर्थन करती है और साथ ही उसमें 'गृध्रपिच्छाचार्य' नाम भी दिया हुआ है। बालचन्द्र मुनि विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान हैं।

(६) विक्रमकी १६ वीं शताब्दीसे पहले का ऐसा कोई ग्रन्थ अथवा शिलालेख आदि अभी तक मेरे देखने में नहीं आया जिसमें तत्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम 'उमास्वामी' लिखा हो। हाँ, १६ वीं शताब्दीके बने हुए श्रुतसागर सूरि के ग्रन्थों में इस नामका प्रयोग जरूर पाया जाता है। श्रुतसागर सूरिने अपनी श्रुतसागरी टीकामें जगह जगह पर यही (उमास्वामी) नाम दिया है और 'औदार्यचिन्तामणि' नामके व्याकरण ग्रन्थ में 'श्रीमानुमाप्रभुरनन्तरपूज्यपादः' इस वाक्यमें आपने 'उमा' के साथ 'प्रभु' शब्द लगाकर और भी साफ़ तौर से 'उमास्वामी' नामको सूचित किया है। जान पड़ता है कि 'उमास्वाति' की जगह 'उमास्वामी' यह नाम श्रुतसागर सूरिका निर्देश किया हुआ है और उनके समय से ही यह हिन्दी भाषा आदिके ग्रन्थोंमें प्रचलित हुआ है। और अब उसका प्रचार इतना बढ़ गया कि कुछ विद्वानों को उसके विषयमें बिलकुल ही विपर्यास हो गया है और वे यहाँतक लिखनेका साहस करने लगे हैं कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम दिगम्बरोंके अनुसार 'उमास्वामी' और श्वेताम्बरोंके अनुसार 'उमास्वाति' है *।

(७) मेरी रायमें, जब तक कोई प्रबल प्राचीन प्रमाण इस बातका उपलब्ध न हो जाय कि १६ वीं शताब्दीसे पहले भी 'उमास्वामी' नाम प्रचलित था, तब तक यही मानना ठीक होगा कि आचार्य महोदयका असली नाम 'उमास्वाति' था और 'उमास्वामी' यह नाम श्रुतसागर सूरिका निर्देश किया हुआ है। यदि किसी विद्वान महाशयके पास इसके विरुद्ध कोई प्रमाण मौजूद हो तो उन्हें कृपाकर उसे प्रकट करना चाहिए।

(११)

तत्वार्थसूत्र की उत्पत्ति

उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर 'तत्वरत्नप्रदीपिका' नाम की एक कनडी टीका बालचन्द्र मुनि की बनाई हुई है, जिसे तत्वार्थ-तात्पर्य-वृत्ति' भी कहते हैं। इस टीका × की प्रस्तावनामें तत्त्वार्थसूत्र की उत्पत्ति जिस

※ देखो जैनहितैषी भाग ६ अंक ७—८

* देखो तत्वार्थसूत्रके अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावना।

× यह टीका आराके जैनसिद्धान्त-भवनमें देवनागरी अक्षरोंमें मौजूद है।

प्रकारसे बतलाई है उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है:— "सौराष्ट्र देशके मध्य उर्जयन्त गिरिके निकट गिरिनगर (जूनागढ़?) नामके पत्तनमें आसन्न भव्य, स्वहितार्थी, द्विजकुलोत्पन्न, श्वेताम्बरभक्त ऐसा 'सिद्धय्य' नाम का एक विद्वान् श्वेताम्बरमतके अनुकूल सकल शास्त्र का जानने वाला था। उसने 'दर्शनज्ञानचारित्राणि-मोक्षमार्गः' यह एक सूत्र बनाया और उसे एक पाटिये पर लिख छोड़ा। एक समय चर्यार्थ श्रीगृध्रपिच्छाचार्य 'उमास्वति' नामके धारक मुनिवर वहाँ पर आये और उन्होंने आहार लेनेके पश्चात् पाटिये को देखकर उसमें उक्त सूत्रके पहले 'सम्यक्' शब्द जोड़ दिया। जब वह (सिद्धय्य) विद्वान बाहर से अपने घर आया और उसने पाटिये पर 'सम्यक्' शब्द लगा देखा तो उसने प्रसन्न होकर अपनी मातासे पूछा कि, किस महानुभावने यह शब्द लिखा है। माताने उत्तर दिया कि एक महानुभाव निर्ग्रंथाचार्य ने यह बनाया है। इस पर वह गिरि और अरण्य को ढूँढता हुआ उनके आश्रममें पहुँचा और भक्तिभावसे नम्रीभूत हो कर उक्त मुनि महाराज से पूछने लगा कि, आत्मा का हित क्या है? (यहाँ प्रश्न और इसके बाद का उत्तर-प्रत्युत्तर प्रायः सब वही है जो 'सर्वार्थसिद्धि' की प्रस्तावनामें श्रीपूज्यपादाचार्यने दिया है।) मुनिराजने कहा 'मोक्ष' है। इस पर मोक्षका स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय पूछा गया जिसके उत्तररूपमें ही इस ग्रन्थका अवतार हुआ है।

इस तरह एक श्वेताम्बर विद्वानके प्रश्न पर एक दिगम्बर आचार्यद्वारा इस तत्वार्थसूत्र की उत्पत्ति हुई है, ऐसा उक्त कथानकसे पाया जाता है। नहीं कहा जा सकता कि उत्पत्तिकी यह कथा कहाँ तक ठीक है। पर इतना जरूर है कि यह कथा सात सौ वर्षसे भी अधिक पुरानी है; क्योंकि उक्त टीकाके कर्ता बालचंद्र मुनि विक्रम की १३ वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें होगये हैं। उनके गुरु 'नयकीर्ति' का देहान्त शक सं० १०९९ (वि० सं० १२३४) में हुआ था *।

मालूम नहीं कि इस कनड़ी टीकासे पहलेके और किस ग्रंथमें यह कथा पाई जाती है। तत्वार्थसूत्र की जितनी टीकाएँ इस समय उपलब्ध हैं उनमें सबसे पुरानी टीका 'सर्वार्थसिद्धि' है। परन्तु उसमें यह कथा नहीं है। उसकी प्रस्तावनासे सिर्फ इतना पाया जाता है कि किसी विद्वानके प्रश्न पर इस मूल ग्रन्थ (तत्वार्थसूत्र) का अवतार हुआ है। वह विद्वान् कौन था, किस सम्प्रदाय का था, कहाँ का रहने वाला था और उसे किस प्रकारसे ग्रंथकर्ता आचार्य महोदय का परिचय तथा समागम प्राप्त हुआ था, इन सब बातोंके विषयमें उक्त टीका मौन है। यथा—

कश्चिद्भव्यः † प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुर्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषन्मध्ये सन्निषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रंथाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छति स्म, भगवन् किं खलु आत्मनो हितं स्यादिति। स आह मोक्ष इति। स एव पुनः प्रत्याह किं स्वरूपोऽसौ मोक्षः कश्चास्य प्राप्त्युपाय इति। आचार्य आह . . .।"

* देखो श्रवणबेल्गोलस्थ शिलालेख नं० ४० ।

† इस पदकी वृत्तिमें प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रश्नकर्ता भव्यपुरुष का नाम दिया है जो पाठकी अशुद्धिसे कुछ गलत सा हो रहा है, और प्रायः 'सिद्धय्य' ही जान पड़ता है, (देखो, इसी लेखमालाका नं० ८)। और इससे इस कथाका सम्बन्ध ११ वीं शताब्दी तक पहुँच जाता है।

संभव है कि इस मूलको* लेकर ही किसी दन्त-कथाके आधार पर उक्त कथा की रचना की गई हो; क्योंकि यहाँ प्रश्नकर्ता और आचार्य महोदयके जो विशेषण दिये गये हैं प्रायः वे सब कनड़ी टीकामें भी पाये जाते हैं। साथ ही प्रश्नोत्तर का ढँग भी दोनों का एक ही सा है। और यह संभव है कि जो बात सर्वार्थ-सिद्धिमें संकेत रूपसे दी गई है वह बालचंद्र मुनि को गुरुपरम्परा से कुछ विस्तार के साथ मालूम हो और उन्होंने उसे लिपिबद्ध कर दिया हो; अथवा किसी दूसरे ही ग्रन्थसे उन्हें यह सब विशेष हाल मालूम हुआ हो। कुछ हो, बात नई है जो अभी तक बहुतों के जानने में न आई होगी और इससे तत्वार्थसूत्र का संबन्ध दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके साथ स्थापित होता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उस समय दोनों सम्प्रदायोंमें आज कल जैसी खींचातानी नहीं थी और न एक दूसरे को घृणा की दृष्टिसे देखता था।

(१५)

तत्त्वार्थराजवार्तिकका अन्तिम वाक्य

सनातन-जैनग्रन्थमालामें श्रीयुत पं० पन्नालालजी बाकलीवालने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' नामका जो ग्रन्थ प्रकाशित कराया है उसके अन्तमें ३२ श्लोक 'उक्तंच' रूपसे दिये हैं और उनके साथ ही ग्रंथ समाप्त कर दिया है। इन श्लोकोंके बाद ग्रन्थकी समाप्तिसूचक कोई पद्य नहीं दिया; यह बात मुझे बहुत खटकती थी और इसलिये मैं इस बातकी खोजमें था कि ग्रंथकी अन्यान्य हस्तलिखित प्रतियों परसे यह मालूम किया जाय कि उनका भी ऐसा ही हाल है अथवा किसीमें कुछ विशेष है। खोज करते हुए जैनसिद्धान्तभवन, आरा की एक प्रतिमें, जिसका नम्बर ५१ है, उक्त ३२ श्लोकों के बाद, एक पद्य इस प्रकार मिला है:—

इति तत्त्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुत्तमैः।
यत्र संनिहितस्तर्कन्यायागमविनिर्णयः॥

इस पद्यके द्वारा तत्त्वार्थसूत्रोंके—अर्थात्, तत्त्वार्थ शास्त्र पर बने हुए वार्तिकोंके—भाष्यकी समाप्तिको सूचित किया है और यह बतलाया है कि इस भाष्यमें तर्क, न्याय और आगमका विनिर्णय अथवा तर्क, न्याय और आगमकेद्वारा विनिर्णय संनिहित है इसमें संदेह नहीं कि यह पद्य तत्त्वार्थवार्तिक भाष्यका अन्तिम वाक्य मालूम होता है। परंतु अनेक प्रतियोंमें यह वाक्य नहीं पाया जाता, इसे लेखकोंकी करामात समझना चाहिये।

(१३)

न्यायदीपिकाकी प्रशस्ति

आराके जैनसिद्धान्तभवनमें 'न्यायदीपिका' की जो प्रति नं० १५६ की है उसके अन्तमें निम्नलिखित प्रशस्ति पाई जाती है:—

मद्गुरोर्वर्धमानेशो वर्धमानदयानिधेः।
श्रीपादस्नेहसम्बंधस्सिद्धेयं न्यायदीपिका॥१॥

और इसके बाद अन्तिम संधि इस प्रकार दी है:—

इति श्रीमद्वर्धमानभट्टारकाचार्यगुरुकारुण्य-सिद्धसारस्वतोदयश्रीमदभिनवधर्मभूषणाचार्य-

* श्रुतसागरी टीकामें भी इसी मूलका प्रायः अनुसरण किया गया है और इसे सामने रख कर ही ग्रन्थकी उत्थानिका लिखी गई है। साथ ही, इतना विशेष है कि उसमें प्रश्नकर्ता विद्वान्का नाम 'द्वैयाक' अधिक दिया है। कनड़ी टीकावाली और बातें कुछ नहीं दीं। यह टीका कनड़ी टीकासे कई सौ वर्ष बादकी बनी हुई है।

विरचितायां न्यायदीपिकायामागमप्रकाशः समाप्तः।

यह सन्धि और उक्त प्रशस्ति दोनों चीजें, सन् १९१३ में, जैनग्रंथरत्नाकर-कार्यालय-द्वारा प्रकाशित हुई 'न्यायदीपिका' में नहीं हैं और न इससे पहलेकी छपी हुई किसी प्रतिमें हैं। बाद की छपी हुई जो एक प्रति मिली उसमें भी इनका दर्शन नहीं हुआ। अनेक हस्तलिखित प्रतियों में भी ये नहीं देखी गईं। हाँ, दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके भंडारमें जो इस ग्रन्थकी दो प्रतियाँ हैं उनका अन्तिमभाग एक बार जैनहितैषी में प्रकाशित हुआ था* वह उक्त सन्धिसे मिलता जुलता है, कुछ थोड़ा सा भेद है। मालूम नहीं प्रशस्तिका उक्त पद्य भी उनमें है या नहीं।

अस्तु; इस पद्यसे ग्रंथकी वह त्रुटि पूरी हो जाती है जोकि एक गद्यात्मक ग्रन्थके प्रारंभमें मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञाविषयक श्लोकको देखकर अन्तमें समाप्ति आदि विषयक कोई पद्य न देखने से खटकती थी। साथ ही, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ग्रन्थकके गुरु वर्धमानेश अर्थात् वर्धमान भट्टारक थे और उन्हींके श्रीपादस्नेहसम्बन्धसे यह न्यायदीपिका सिद्ध हुई है। ग्रन्थकर्ताने प्रारम्भिक पद्यमें अर्हन्तका विशेषण 'श्रीवर्धमान' देकर("श्रीवर्धमानमर्हन्तं नत्वा" लिखकर) उसके द्वारा भी अपने गुरुका स्मरण और सूचन किया है। ये वर्धमानभट्टारक कौन थे और उन्होंने किन किन ग्रन्थोंका प्रणयन किया है, यह बात, यद्यपि, अभी तक स्पष्ट नहीं हुई तो भी 'वरांगचरित्र' नामका एक ग्रंथ × वर्धमान भट्टारकका बनाया हुआ उपलब्ध है और उसकी संधियोंमें भट्टारक महोदयका 'परवादिदंतिपंचानन' विशेषण दिया है; जैसा कि उसकी निम्नलिखित अन्तिम सन्धिसे प्रकट है:—

इति परवादिदन्तिपंचाननश्रीवर्धमानभट्टारकदेवविरचिते वराङ्गचरिते सर्वार्थसिद्धिगमनो नाम त्रयोदशमः सर्गः।

जान पड़ता है 'परवादिदन्तिपंचानन' यह वर्धमान भट्टारकका बिरुद था अथवा उनकी उपाधि थी; और इससे वे एक नैय्यायिक विद्वान् मालूम होते हैं। न्यायदीपिकाके कर्ता धर्मभूषणके गुरु भी नैयायिक विद्वान् होने चाहियें और उन्हें न्यायदीपिकाकी उक्त संधिमें 'भट्टारक' भी लिखा है। इसलिये, मेरे खयाल से, ये दोनों एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। यदि यह सत्य है तो धर्मभूषणके गुरु मूलसंघ, बलात्कारगण और भारती गच्छके आचार्य थे; जैसा कि वरांगचरित्र की प्रशस्तिके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

स्वस्ति श्रीमूलसंघे भुवि विदितगणे श्रीबलात्कारसंज्ञे। श्रीभारत्यादिगच्छे सकलगुणनिधिर्वर्धमानाभिधानः॥ आसीद्भट्टारकोऽसौ...

न्यायदीपिकाकी उक्त संधिसे यह साफ़ ज़ाहिर है कि इस ग्रंथके कर्तासे पहले कोई दूसरे 'धर्मभूषण' नामके आचार्य भी हो गये हैं और इस लिए ये 'अभिनव धर्मभूषण' कहलाते थे। इन्हें गुरुके अनुग्रहसे सारस्वतोदयकी सिद्धि थी।

(१४)

अठारह लिपियों के नाम

जैनसिद्धान्तभवन आरामें, धर्मदाससूरि का

* देखो जैनहितैषी भाग ११ अङ्क ७—८।

× तत्त्वनिर्णय और द्वाङ्गाङ्गचरित नामके दो ग्रंथ भी वर्धमान भट्टारकके बनाये हुए कहे जाते हैं परन्तु उनका कोई प्रमाण अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आया।

बनाया हुआ 'विदग्धमुखमंडन' नामका एक बौद्ध ग्रंथ है। इस ग्रंथकी समाप्तिके बाद पत्रके खाली स्थान पर कुछ संस्कृत प्राकृतके पद्य लिखे हुए हैं; जिनमेंसे पहले पद्यके बाद ज़रासा संस्कृत गद्य देकर अठारह लिपियों की सूचक दो गाथाएँ दी हैं, जो इस प्रकार हैं:—

"शुभं भवतु श्रीसंघस्य भद्रं ।

हंसलिवी भूयलिवी जक्खी रक्खसी य बोधव्वा
ऊही जवणि तुरुक्की कीरी दाविडि य सिंधविया १
मालविणी नडि नागरि लाडलिवीपारसी यबोधव्वा
तह अनिमित्तीय लिवी चाणक्की मूलदेवी य ॥ २

अष्टादशः लिप्यः ॥"

इनसे अठारह लिपियोंके १ हंसलिपि, २ भूतलिपि, ३ यक्षी, ४ राक्षसी ५ ऊही (उड़िया?), ६ यवनानी (यनानी), ७ तुरुकी, ८ कीरी (काश्मीरी), ९ द्राविडी १० सिंधवी, ११ मालविणी, १२ नडि (कनड़ी?), १३ देवनागरी, १४ लाडलिपि (लाटी, गुजराती), १५ पारसी (फ़ारसी), १६ अमात्रिकलिपि, १७ चाणक्यी (गुप्तलिपि), और १८ मूलदेवी, (ब्राह्मी?) ये नाम पाए जाते हैं। इनमेंसे अनेक लिपियों का विशेष परिचय मालूम करने और उनके उदय-अस्तको जानने की ज़रूरत है।

(१५)

तत्त्वविचार और वसुनन्दी

बम्बईके 'ऐलक-पन्नालाल-सरस्वती-भवन' में तत्त्वविचार' नामका एक प्राकृत ग्रन्थ है जिसमें १ णवकार फल, २ धर्म, ३ एकोनत्रिंशद्भावना, ४ सम्यक्त्व, ५ पूजाफल, ६ विनयफल, ७ वैय्यावृत्य, ८ एकादशप्रतिमा, ९ जीवदया, १० सावयविहि, ११ अणुव्रत और १२ दान ऐसे बारह प्रकरण हैं और ये सब विषय ग्रन्थकी ९५ गाथासंख्याके भीतर ही वर्णित हैं। पहली दो गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

णमिय जिणपासपयं विग्घहरं पणयवंछियत्थपयं।
वुच्छं तत्तवियारं संखेवेण णिसामेह ॥ १ ॥
सुयसायरो अपारो आऊं थोयं वयं च दुम्मेहा ।
तं किंपि सिक्खियव्वं जं कज्जकरं च थोवं च ॥

पहली गाथामें पार्श्वजिनको नमस्काररूप मंगलाचरणके बाद संक्षेपमें 'तत्त्वविचार' नामक ग्रंथ रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है और दूसरी में यह बतलाया है कि श्रुतसागर तो अपार है किन्तु आयु अल्प और बुद्धि मंद है इस से थोड़े में ही जो कार्यकारी है वही शिक्षणीय है। इसके बाद पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके नवकार (नमस्कार) मंत्र का माहात्म्य वर्णन किया है जिसकी एक गाथा इस प्रकार है—

जो गुणइ लक्खमेगं पूयविही जिणणमोकारं ।
तित्थयरनामगोत्तं सो बंधइ णत्थि संदेहो ॥ १५

इसमें 'णमोकार मंत्रके एक लाख जाप से निःसंदेह तीर्थंकर गोत्रका बंध होना है' ऐसा बतलाया है। इसी तरह दूसरे प्रकरणोंका भी वर्णन करते हुये अन्त में लिखा है:—

एसो तच्चवियारो सारो सज्जन जणाणसिवसुहदो
वसुनंदिसूरिरइउ भव्वाणं पबोहणट्ठं खु ॥ ९४
जो पढइ सुणइ अक्खइ अण्णं पाढेइ देइ उवएसं
सो हणइ णिय य कम्मं कमेण सिद्धालयं जाइ ९५

अर्थात्—सज्जनों को शिवसुख के देने वाले इस तत्त्वविचार नामके सारग्रन्थ को वसुनन्दिसूरिने भव्यजनों के प्रबोधनार्थ रचा है। जो इसे पढ़ते हैं, सुनते हैं

दूसरों को पढ़ाते हैं, अथवा सुनाते हैं वे सब अपने कर्मोंका नाश करते हैं और क्रमशः सिद्धालय को जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ ग्रंथकर्ताका नाम 'वसुनन्दिसूरि' देने और ग्रंथ की समाप्तिसूचक संधि में* उन्हें 'सिद्धान्ती' भी प्रकट करने से एक दम यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या यह ग्रन्थ उन्हीं वसुनन्दी आचार्यका बनाया हुआ है जो 'वसुनन्दिश्रावकाचार (उपासकाध्ययन)' के कर्ता हैं और विक्रम की १२ वीं शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए हैं? इस प्रश्न का उत्तर पानेके लिये ग्रंथ पर जो सरसरी नजर डाली गई तो मालूम हुआ कि, इसके प्रतिमा, विनय और वैय्यावृत्य जैसे प्रकरणोंमें, यद्यपि, बहुत-सी गाथाएँ वसुनन्दि श्रावकाचार की पाई जाती हैं परन्तु फिर भी यह ग्रंथ उन वसुनन्दिआचार्य का बनाया हुआ नहीं है; क्योंकि इसका कितना ही कथन वसुनन्दिश्रावकाचारके विरुद्ध है, जिसके उदाहरणस्वरूप दो गाथाएँ नीचे दी जाती हैं:—

दिसिविदिसिपच्चक्खाणंअणत्थदंडाणहोइपरिहारो।
भोओवभोयसंखा एए हु गुणव्वया तिण्णि॥५९
देवे थुवइ तियाले पव्वे पव्वे य पोसहोवासं।
अतिहीणसंविभाओ मरणंते कुणइ सल्लिहणं॥६०

इनमें से पहली गाथामें तीन गुणव्रतोंके नाम १ दिग्विदिक्प्रत्याख्यान, २ अनर्थदंडपरिहार और ३ भोगोपभोगसंख्या दिये हैं। और दूसरी गाथामें चार शिक्षाव्रतोंके नाम १ त्रिकालदेववन्दना (सामायिक), २ प्रोषधोपवास, ३ अतिथिसंविभाग, और ४ सल्लेखना बतलाए हैं। परन्तु वसुनन्दिश्रावकाचार का विधान इसके विरुद्ध है। उसमें गुणव्रतों को १ दिग्विरति, २ देशविरति और ३ अनर्थदण्डविरतिके रूपमें वर्णन किया है और शिक्षाव्रतोंके नाम १ भोगविरति, २ परिभोगनिवृत्ति, ३ अतिथिसंविभाग और ४ सल्लेखना ये चार नाम दिये गये हैं। यथा:—

"पुव्वुत्तरदक्खिणपच्छिमासु काऊण जोयणपमाणं
परदो गमणणियत्ती दिसिगुणव्वयं पढमं॥
वयभंगकारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण
कीरइ गमणणियत्ती तं जाण गुणव्वयं बिदियं॥
अयदंडपासविक्कय कूडतुलामाण कूरसत्ताणं।
जं संगहो ण कीरइ तं जाण गुणव्वयं तिदियं॥

×

"तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते।
"तं परिभोयणिवुत्ति बिदियं सिक्खावयं जाणे।
"अतिहिस्स संविभागो तिदियं सिक्खावयं मुणेयव्वं
"सल्लेखणं चउत्थं सुत्ते सिक्खावयं भणियं।

इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ वसुनन्दिश्रावकाचार के कर्ताका नहीं है। उक्त दोनों गाथाएँ (नं० ५९, ६०) इस ग्रन्थकर्ताकी अपनी चीज भी नहीं हैं बल्कि वे देवसेनाचार्यके 'भावसंग्रह' ग्रन्थ की गाथाएँ हैं, जो उसमें क्रमशः ३५४, ३५५ नम्बर पर दर्ज हैं†। इसी तरह और भी कितनी ही गाथाएँ दूसरे ग्रंथों की जान पड़ती हैं। मालूम होता है यह ग्रन्थ कुछ तो वसुनन्दिश्रावकाचारके कतिपय प्रकरणोंकी काट-छाँट करके, कुछ इधर उधर से लेकर और कुछ अपनी तरफ़से मिला कर बनाया गया है। आश्चर्य नहीं जो यह ग्रंथ किसी व्यक्तिविशेषके द्वारा प्रयोजनविशेष की सिद्धिके लिये

*"इतिवसुनन्दिसिद्धान्तीविरचिततत्त्वविचारः समाप्तः।"

† देखो, माणिकचन्द्रग्रंथमाला का 'भावसंग्रहादि' नाम का २० वाँ ग्रंथ।

वसुनन्दी आचार्यके नामसे रचा गया हो और इसके रचयिताका नाम खुद 'वसुनन्दी' न हो। यदि ऐसा न हो कर किसी दूसरे ही वसुनन्दिसूरि ने इसकी रचना की है तो कहना होगा कि वे कोई साधारण व्यक्ति थे, उन्होंने दूसरों की कृतियोंको चुराकर जो उन्हें अपनी कृति प्रकट किया है वह एक सूरिपदके योग्य नहीं है। और ऐसी हालतमें यह मालूम होने की जरूरत है कि वे कब हुए हैं और किसके शिष्य थे? ग्रन्थ की शैली को देखते हुए वह कुछ महत्त्व की मालूम नहीं होती।

(१६)

योगसार और अमृताशीति।

पिटर्सन साहब की पाँचवीं रिपोर्टमें, नं० ५० पर, 'योगसर' नामके एक ग्रंथ का आदि और अन्त इस प्रकार दिया हुआ है:—

Begins:

ॐनमो वीतरागाय
विश्वप्रकाशि महिमानमपानपंक-
मोमकाराद्यखिलवाङ्मयहेतुभूतम्।
यं शंकरं सुगतमीशमनीशमाहु-
रर्हन्तमूर्जितमहंतमहं नमामि ॥ १ ॥

Ends:

श्रीजयकीर्तिसूरीणां शिष्येणामलकीर्तिना।
लेखितं योगसाराख्यं विद्यार्थिवामकीर्तिनात् ॥१॥
संवत् ११९२ ज्येष्ठशुक्लपक्षे त्रयोदश्यां पंडित साल्हणेन-लिखितमिदमिति ॥

साथ ही, यह भी लिखा है कि यह ग्रंथ प्रति ताड़-पत्रोंके ऊपर अनहिलवाड़पाटनके भण्डारमें सुरक्षित है। परन्तु मूल ग्रन्थका कर्ता कौन है और वह कब बना है इस विषयमें कोई सूचना नहीं दी। ग्रन्थका अन्तिम भाग भी जिसे कहना चाहिये वह नहीं दिया—अन्तिम भागके नामसे जो कुछ दिया है उसे प्रति लिखाने और लिखने वाले की प्रशस्ति अथवा परिचय कह सकते हैं और इससे प्रायः इतना ही मालूम होता है कि 'योगसार' की यह ग्रंथप्रति जयकीर्ति सूरिके शिष्य अमलकीर्ति ने लिखवाई है और पं० साल्हण ने उसे सं० ११९२ की ज्येष्ठ सुदि त्रयोदशी को लिखा है। अस्तु; इस ग्रंथका जो मंगलाचरण दिया है वही मङ्गलाचरण 'अमृताशीति' नामके योगग्रन्थ का है, जो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालाके 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' नामक २१ वें ग्रन्थमें छप चुका है और जिसमें ग्रन्थ कर्ता का नाम योगीन्द्रदेव दिया हुआ है; जैसा कि उसके निम्न अन्तिम भागसे प्रकट है:—

चञ्चच्चन्द्रोरुरोचिरुचिरतरवचः क्षीरनीरप्रवाहे
मज्जन्तोऽपि प्रमोदं परमपरनरा संगिनोगुर्यदीये।
योगज्वालायमानज्वलदनलशिखाक्लेशवल्लीविहीना
योगीन्द्रो वःस चन्द्रप्रभविभुरविभुर्मङ्गलं सर्वकालम्
॥ ८२ ॥

इति योगीन्द्रदेवकृताऽमृताशीतिः समाप्ता।

यदि पाटन की वह ग्रन्थप्रति और अमृताशीति दोनों एक ही हों तो कहना होगा कि 'अमृताशीति'का दूसरा नाम 'योगसार' भी है और वह संवत् ११९२ से पहले का तो बना हुआ जरूर ही है। परंतु ये दोनों ही नाम ग्रन्थके किसी पद्य परसे उपलब्ध नहीं होते। आशा है श्रीमुनि पुण्यविजयजी अथवा दूसरे कोई सज्जन, जिन्हें पाटन की इस ग्रन्थप्रति को देखने का अवसर मिला हो, वे दोनों की तुलना करके ठीक हाल से सूचित करने की कृपा करेंगे।

जुगलकिशोर मुख्तार

जैनधर्म में अहिंसा

[लेखक—श्री०सा०रत्न पं० दरबारीलालजी]

जो जन्म लेता है वह एक-न-एक दिन मरता अवश्य है। या तो एक प्राणी दूसरे प्राणीको मार डालता है अथवा प्रकृति ही उसका जीवन समाप्त कर देती है। इनमेंसे प्राणीको प्रकृतिकी अपेक्षा दूसरे प्राणीका डर ज्यादा है। एक प्राणी दूसरे प्राणीके खूनका प्यासा है। इसलिये नीतिवाक्य भी बन गया है—"जीवो जीवस्य जीवनम्"। अर्थात, एक जीव दूसरे जीवके जीवनका आधार है। मनुष्य सबमें श्रेष्ठ प्राणी है। बुद्धिमान होनेसे बलवान् भी है। इसी लिये यह उपर्युक्त नीतिवाक्यका सबसे ज्यादा दुरुपयोग कर सका है। अपने स्वार्थके लिये वह ऐसी हिंसा भी करता है जो आवश्यक नहीं कही जा सकती। परन्तु यह कार्य प्राणिसमाज और मनुष्यसमाज की शान्ति में बाधक है। इससे आत्मिक उन्नति भी रुक जाती है। इसलिये प्रत्येक धर्म में थोड़े-बहुत-रूप में हिंसा के त्याग का उपदेश दिया गया है और इसीलिये 'अहिंसा परमो धर्मः' प्रत्येक धर्मका मूल मंत्र बन गया है।

> + अहिंसा-तत्त्वको प्रकाशित करना 'अनेकान्त'को खास तौरसे इष्ट है। पहली किरण से ही इसका प्रयत्न जारी है। पिछली किरण में 'जैनों की अहिंसा' नाम से एक खास लेख पं० देवकीनन्दनजी का पाठक पढ़ चुके हैं। आज उनकी सेवामें समाजके एक दूसरे लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् की कृति प्रस्तुत की जाती है। यह लेख कुछ समय पहले 'जैन-जगत्' में प्रकट हुआ था और वही लेख है जिस पर महात्मा गांधी जी ने लिखा था—
> "लेख पढ़कर मुझको आनन्द हुआ। उसमें बहोत सी बातें हैं जिनसे मैं महमत हूँ।" —सम्पादक

लेकिन जैनधर्मने इस मंत्र की जैसी सूक्ष्म व्याख्या की है वह बेजोड़ है। जैन धर्मकी अहिंसा, अहिंसाका चरम रूप है। जैनधर्म के अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े मकोड़े आदि के अतिरिक्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिमें भी जीव हैं। मिट्टीके ढेले में कीड़े आदि जीव तो हैं ही, परन्तु मिट्टी का ढेला स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर का पिंड है। इसी तरह जलबिन्दु में यन्त्रों के द्वारा दिखने वाले अनेक जीवों के अतिरिक्त वह स्वयं जलकायिक जीवों के शरीरका पिंड है। यही बात अग्निकाय आदि के विषयमें भी समझनी चाहिये।

इस प्रकारका कुछ विवेचन पारसियोंकी धर्मपुस्तक 'आवस्ता' में भी मिलता है। जैसे हमारे यहाँ प्रतिक्रम-

या का रिवाज है उसी तरह उनके यहाँ भी 'पश्चात्तापकी क्रिया' करने का रिवाज है। उस क्रियामें जो मंत्र बोले जाते हैं उनमें से कुछका भावार्थ इस तरह है:—

"धातु-उपधातुके साथ जो मैंने दुर्व्यवहार (अपराध) किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ"। "ज़मीन के साथ मैंने जो अपराध किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ"। "पानी अथवा पानीके अन्य भेदोंके साथ जो मैंने अपराध किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करताहूँ"। "वृक्ष और वृक्षके अन्य भेदोंके साथ जो मैंने अपराध किया हो उसका मैं प्रायश्चित्त करता हूँ"। "महताब, आफताब, जलती अग्नि आदि के साथ मैंने जो अपराध किया हो उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ"।

पारसियोंका विवेचन जैनधर्मके प्रतिक्रमण-पाठसे मिलता जुलता है जो कि पारसी धर्मके ऊपर जैनधर्मके प्रभावका सूचक है। मतलब यह है कि जैनधर्ममें अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया गया है। एक दिन था जब संसारने इस सूक्ष्म अहिंसाको आश्चर्य और हर्षके साथ देखा था और अपनाया था।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि जब जैनधर्मकी अहिंसा इतनी सूक्ष्म है तो उसका पालन कदापि नहीं हो सकता वह अव्यवहार्य है। इसलिये उसका विवेचन व्यर्थ है। परन्तु जैनधर्मने हिंसा और अहिंसाका विवेचन इतने अच्छे रूप में किया है कि वह जितना ही उत्कृष्ट है उतना ही व्यवहार्य भी है।

जैनधर्मके अनुसार अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जानेसे या दुःखी हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसार में सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी रहते हैं। फिर भी जैनधर्म इस प्राणिघात को हिंसा नहीं कहता। वास्तवमें हिंसारूप परिणाम ही हिंसा है। द्रव्यहिंसाको तो सिर्फ इसलिये हिंसा कहा है कि उसका भावहिंसाके साथ सम्बन्ध है। फिर भी यह बात याद रखना चाहिये कि द्रव्यहिंसाके होने पर भावहिंसा अनिवार्य नहीं है।

अगर द्रव्यहिंसा और भावहिंसाको इस प्रकार अलग न किया गया होता तो जैनधर्मके अनुसार कोई भी अहिंसक न बन सकता और निम्नलिखित शंका खड़ी रहती—

जले जंतुः स्थले जंतुराकाशे जंतुरेव च।
जंतुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥

'जल में जंतु हैं, स्थल में जंतु हैं और आकाश में भी जंतु हैं। जब समस्त लोक जंतुओं से भरा हुआ है तब कोई भिक्षु (मुनि) अहिंसक कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर यों दिया गया है:—

सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्त्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥

'सूक्ष्म जीव (जो अदृश्य होते हैं तथा न तो किसी से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं) तो पीड़ित नहीं किये जा सकते, और स्थूल जीवोंमें जिनकी रक्षा की जा सकती है उनकी की जाती है; फिर मुनि को हिंसा का पाप कैसे लग सकता है?' इससे मालूम होता है कि जो मनुष्य जीवोंकी हिंसा करने के भाव नहीं रखता अथवा उनको बचाने के भाव रखता है उसके द्वारा जो द्रव्यहिंसा होती है उसका पाप उसे नहीं लगता है। इसीलिये कहा है—

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।

अर्थात्—प्राणों का वियोग कर देने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता। इस बात को शास्त्रकारों ने और भी अधिक स्पष्ट करके लिखा है—

उच्चालिदम्हि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।

आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥
णहितस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिदो समये

अर्थात्—जो मनुष्य देख देखके रास्ता चल रहा है उसके पैर उठाने पर अगर कोई जीव पैरके नीचे आ जावे और कुचल कर मर जावे तो उस मनुष्यको उस जीवके मरनेका थोड़ा से भी थोड़ा पाप नहीं लगता।

हिंसा का पाप तभी लगता है जब वह यत्नाचार से काम न लेता हो—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

अर्थात–जीव चाहे जिये चाहे मरे, परन्तु जो अयत्नाचार से काम करेगा उसे अवश्य ही हिंसाका पाप लगेगा। लेकिन जो मनुष्य यत्नाचार से काम कर रहा है उसे प्राणिवध हो जाने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता।

आशाधरजी ने भी इसी विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। लिखा है—

विष्वग्जीवचिते लोके क चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत ।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥

—सागारधर्मामृत।

अर्थात्—जब कि लोक, जीवोंसे खचाखच भरा है तब यदि बन्ध और मोक्ष भावोंके ऊपर ही निर्भर न होते तो कौन आदमी मोक्ष प्राप्त कर सकता ?

जब जैन धर्मकी अहिंसा भावोंके ऊपर निर्भर है तब उसे कोई भी समझदार अव्यवहार्य कहने का दुःसाहस नहीं कर सकता। जैनधर्मके समाधिमरण व्रत के ऊपर विचार करनेसे तो साफ़ मालूम होता है कि मरनेसेही हिंसा नहीं होती। इस सल्लेखना व्रतके महत्व और स्वरूप को न समझकर किसी आदमीने एक पत्र में लिखा था कि जैनी लोग महीनों भूखों रह कर मरनेमें पुण्य समझते हैं। अगर इस भाई ने सल्लेखना का रहस्य समझा होता तो कभी ऐसा न लिखता, और न सल्लेखनाको आत्महत्याका रूप देता। सल्लेखना ऐसी अवस्थाओंमें की जाती है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

—समन्तभद्र।

अर्थात्—जब कोई उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग ऐसी हालतमें पहुँच जायँ कि धर्मकी रक्षा करना मुश्किल हो तो धर्मके लिये शरीर छोड़ देना सल्लेखना या समाधिमरण है।

समाधि लेलेने पर उपर्युक्त आपत्तियोंको दूर करने की फिर चेष्टा नहीं की जाती—उपचार वगैरह बन्द करके वह अंतमें अनशन करते करते प्राणत्याग करता है। सम्भव है कि उपचार करनेसे वह कुछ दिन और जी जाता। परंतु जिस कार्य्यके लिये जीवन है, जब वही नष्ट हो जाता है तब जीवनका मूल्य ही क्या रहता है? यह याद रखना चाहिये कि आत्माका साध्य शांति और सुख है। सुखका साधन है धर्म और धर्मका साधन है जीवन। जब जीवन धर्मका बाधक बन गया है तब जीवनको छोड़ कर धर्म की रक्षा करना ही उचित है। हर जगह साध्य और साधनमें विरोध होने पर साधन को छोड़ कर साध्यकी रक्षा करना चाहिये। समाधिमरण में इसी नीतिका पालन किया जाता है। इसी बातको अकलंकदेवने यों स्पष्ट किया है :—

"यथा वणिजः विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य गृहविनाशोऽनिष्टः तद्विनाशकारणे चोपस्थिते यथाशक्ति परिहरति दुष्परिहारे च पण्याविनाशो यथा भवति तथा यतते। एवं

गृहस्थोऽपि व्रतशीलपुण्यसंचयप्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति तदुप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतति कथमात्मवधो भवेत्" ।

—तत्त्वार्थराजवार्तिक ।

भावार्थ—कोई व्यापारी अपने घरका नाश नहीं चाहता। अगर घरमें आग लग जाती है तो उसके बुझानेकी चेष्टा करता है। परंतु जब देखता है कि इसका बुझाना कठिन है तब वह घरकी पर्वाह न करके धनकी रक्षा करता है। इसी तरह कोई आदमी शरीरका नाश नहीं चाहता। परंतु जब उसका नाश निश्चित हो जाता है तब वह उसे तो नष्ट होने देता है और धर्मकी रक्षा करता है। इसलिये यह आत्मवध नहीं कहा जा सकता।

इस पर कहा जा सकता है कि सर्वज्ञके बिना यह कौन निश्चित कर सकता है कि यह मर ही जायगा, क्योंकि देखा गया है कि जिस जिस रोगीकी अच्छे अच्छे चिकित्सकोंने आशा छोड़ दी वह भी जी गया है; इसलिये संशयास्पद मृत्युको सल्लेखनाके द्वारा निश्चित मृत्यु बना देना आत्मवध ही है। दूसरी बात यह है कि चिकित्सासे कुछ समय अधिक जीवनकी आशा है, जबकि सल्लेखनासे वह पहिले ही मर जायगा। अतः यह भी आत्मवध कहलाया और सल्लेखना कराने वाले मनुष्यघातक कहलाये।

निःसन्देह हम लोग सर्वज्ञ नहीं हैं; परंतु दुनिया के सारे काम सर्वज्ञके द्वारा नहीं कराये जा सकते। हम लोग तो भविष्य के एक क्षणकी भी बात निश्चित नहीं जान सकते, परंतु काम तो ऐसे भी किये जाते हैं जिनका सम्बंध भविष्यके क्षणोंसे ही नहीं, युगोंसे होता है। मनुष्यके पास जितना ज्ञान और शक्ति है उसका उचित उपयोग करना चाहिये। सर्वज्ञता प्राप्त नहीं है और थोड़े ज्ञानका उपयोग नहीं किया जा सकता, ऐसी हालत में मनुष्य बिलकुल अकर्मण्य हो जायगा। इसलिये उपलब्ध शक्तिका शुभ परिणामोंसे उपयोग करनेमें कोई पाप नहीं है। दूसरी बात यह है कि भौतिक जीवन ही सब कुछ नहीं है—भौतिक जीवन को सब कुछ समझने वाले जीना ही नहीं जानते; वे जीते हुए भी मृतकके समान हैं। ऐसे भी अनेक अवसर आते हैं जब मनुष्यको स्वेच्छा से जीवनका त्याग करना पड़ता है। युद्ध में आत्मसमर्पण कर देनेसे या भाग जानेसे जान बच सकने पर भी सच्चे वीर ये दोनों काम न करके मर जाते हैं। वह चीज़, जिसके लिये वे जीवन का त्याग कर देते हैं, अवश्य ही जीवनकी अपेक्षा बहुमूल्य है। इसलिये उनका यह काम आत्महत्या नहीं कहलाता। बहुत दिन हुए किसी पत्रमें हमने एक कहानी पढ़ी थी, उसका शीर्षक था "पतिहत्या में पातिव्रत्य"। उसका अंतिम कथानक यों था—युद्धक्षेत्र में राजा घायल पड़ा था, रानी पास में बैठी थी। यवनसेना उन्हें कैद करनेके लिये आ रही थी। राजाने बड़े करुणस्वरमें रानीसे कहा "देवि! तुम्हें पातिव्रत्यकी कठिन परीक्षा देनी पड़ेगी"। रानीके स्वीकार करने पर राजाने कहा कि "मेरा जीवित शरीर यवनोंके हाथमें जावे इसके पहिले मेरे पेट में कटारी मारदो"। रानी घबराई, किन्तु जब शत्रु बिलकुल पास आगये, तब राजा ने कहा "देवि! परीक्षा दो! सच्ची पतिव्रता बनो!" रानी ने राजाके पेट में कटारी मारदी और उसी कटारीसे अपने जीवनका भी अंत कर दिया। यह था 'पतिहत्यामें पातिव्रत्य'। इस से मालूम होता है ऐसी भी चीजें हैं जिनके लिये

जीवन का त्याग करना पड़ता है। आत्महत्या कायरता है परन्तु उपर्युक्त घटनाएँ वीरता के जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। इन्हीं उदाहरणोंके भीतर समाधिमरणकी घटनाएँ भी शामिल हैं।

हाँ, दुनिया में प्रत्येक सिद्धान्त और प्रत्येक रिवाज का दुरुपयोग हो सकता है और होता भी है। बंगालमें कुछ दिन पहिले 'अंतक्रिया' का बहुत दुरुपयोग होता था। अनेक लोग वृद्धा स्त्रीको गंगाके किनारे ले जाते थे और उससे कहते थे—'हरि बोल'। अगर उसने 'हरि' बोल दिया तो उसे जीते ही गंगा में बहा देते थे। परंतु वह हरि नहीं बोलती थी इससे उसे बार बार पानीमें डुबा डुबा कर निकालते थे और जब तक वह हरि न बोले तब तक उसे इसी प्रकार परेशान करते रहते थे जिससे घबरा कर वह 'हरि' बोल दिया करती थी और वे लोग उसे स्वर्ग पहुँचा देते थे। 'अंतिमक्रिया' का यह कैसा भयानक दुरुपयोग था। फिर भी दुरुपयोगके डर से अच्छे कामका त्याग नहीं किया जाता, किन्तु यथासाध्य दुरुपयोगको रोकने के लिये कुछ नियम बनाये जाते हैं। अपने और परके प्राणत्यागके विषयमें निम्न लिखित नियम उपयोगी हैं:—

(१) रोग अथवा और कोई आपत्ति असाध्य हो।

(२) सबने रोगीके जीवनकी आशा छोड़ दी हो।

(३) प्राणी स्वयं प्राणत्याग करनेको तैयार हो। (यदि प्राणीकी इच्छा जानने का कोई मार्ग न हो तो इस क्रिया करानेवाले को शुद्ध हृदय से विचारना चाहिये कि ऐसी परिस्थिति में यह प्राणी क्या चाह सकता है।)

(४) जीवनकी अपेक्षा उसका त्याग ही उसके लिये श्रेयस्कर (धर्मादिकी रक्षाका कारण) सिद्ध होता हो।

इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हो सकते हैं जैसे परिचर्या न हो सकना आदि; परंतु उपर्युक्त कारण तो अवश्य होने ही चाहियें। इस कार्यमें एक बात सब से अधिक आवश्यक है। वह है परिणामोंकी निर्मलता, निःस्वार्थता आदि। जिस जीवको प्राणत्याग करना है उसीकी भलाईका ही लक्ष्य होना चाहिए। इससे पाठक समझे होंगे कि प्राणत्याग करने और करानेसे ही हिंसा नहीं होती—हिंसा होती है तब, जब हमारे भाव दुःख देनेके होते हैं। मतलब यह कि कोरी द्रव्यहिंसा, हिंसा नहीं कहला सकती। साथमें इतना और समझ लेना चाहिए कि कोरा प्राणवियोग हिंसा तो क्या, द्रव्यहिंसा भी नहीं कहला सकता। प्राणवियोग स्वतः द्रव्यहिंसा नहीं है परन्तु वह दुःखरूप द्रव्यहिंसा का कारण होता है इसलिए द्रव्यहिंसा कहलाता है। अकलंकदेव की निम्नलिखित पंक्तियों से भी यह बात ध्वनित होती है—

"स्यान्मतं प्राणेभ्योऽन्य आत्मा अतःप्राणवियोगेन आत्मनः किञ्चिद्भवतीत्यधर्माभावःस्यात् इति, तन्न, किं कारणं? तद्दुःखोत्पादकत्वात् प्राणव्यपरोपणे हि सति तत्संबंधिनो जीवस्य दुःखमुत्पद्यते इत्यधर्मसिद्धिः।"

—तत्त्वार्थराजवार्तिक।

इनमें बतलाया है कि 'आत्मा तो प्राणोंसे पृथक् है इसलिये प्राणोंके वियोग करने पर भी आत्माका कुछ (बिगाड़) न होनेसे अधर्म न होगा, यदि ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि प्राणवियोग होने पर दुःख होता है इसलिए अधर्म सिद्ध हुआ।'

इससे मालूम हुआ कि द्रव्यहिंसा तो दुःखरूप है। प्राणवियोग दुःखका एक बड़ा साधन है इसलिये वह द्रव्यहिंसा कहलाया। यह द्रव्यहिंसा भी भावहिंसाके

बिना हिंसा नहीं कहला सकती। जो लोग बाह्यरूप देख कर ही हिंसा-अहिंसाकी कल्पना कर लेते हैं वे भूलते हैं। इस विषयमें आचार्य अमृतचंद्र की कुछ कारिकाएँ उल्लेखनीय हैं—

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥
कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलं ॥
हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥
अवबुध्यहिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसा फलानि तत्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय।

'एक मनुष्य हिंसा (द्रव्यहिंसा) न करके भी हिंसक हो जाता है—अर्थात, हिंसा का फल प्राप्त करता है। दूसरा मनुष्य हिंसा करके भी हिंसक नहीं होता॥ एक की थोड़ीसी हिंसा भी बहुत फल देती है और दूसरेकी बड़ी भारी हिंसा भी थोड़ा फल देती है॥ किसी की हिंसा हिंसाका फल देती है और किसीकी अहिंसा हिंसाका फल देती है॥ हिंस्य (जिसकी हिंसा की जाय) क्या है? हिंसक कौन है? हिंसा क्या है? और हिंसा का फल क्या है? इन बातों को अच्छी तरह समझ कर हिंसाका त्याग करना चाहिये॥

यहाँ तक सामान्य अहिंसा का विवेचन किया गया है जिसके भीतर महाव्रत भी शामिल हैं। पाठक देखेंगे कि इस अहिंसा महाव्रत का स्वरूप भी कितना व्यापक और व्यवहार्य है। अब हमें अहिंसा अणुव्रत के ऊपर भी थोड़ासा विचार करना है जिसका पालन गृहस्थोंके द्वारा किया जाता है।

हिंसा चार प्रकारकी होती है—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। बिना अपराधके, जान बूझकर, जब किसी जीवके प्राण लिये जाते हैं या उसे दुख दिया जाता है तो वह संकल्पी हिंसा कहलाती है, जैसे कसाई पशुवध करता है। झाड़ने-बुहारने में, रोटी बनाने में, आने-जाने आदि में यत्नाचार रखते हुए भी जो हिंसा होजाती है वह आरम्भी हिंसा कहलाती है। व्यापार आदि कार्य में जो हिंसा हो जाती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं; जैसे अनाजका व्यापारी नहीं चाहता कि अनाज में कीड़े पड़ें और मरें परन्तु प्रयत्न करने पर भी कीड़े पड़ जाते हैं और मर भी जाते हैं। आत्म-रक्षा या आत्मीय रक्षा के लिये जो हिंसा की जाती है वह विरोधी हिंसा है।

गृहस्थ स्थावर जीवोंकी हिंसा का त्यागी नहीं है, सिर्फ त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी है। लेकिन त्रस जीवों की उपर्युक्त चार प्रकार की हिंसामेंसे वह सिर्फ संकल्पी हिंसाका त्याग करता है। कृषि, युद्ध आदिमें होने वाली हिंसा संकल्पी हिंसा नहीं है, इसलिये अहिंसाणुव्रती ये काम कर सकता है। अहिंसाणुव्रतका निर्दोष पालन दूसरी प्रतिमा में किया जाता है और कृषि आदि का त्याग आठवीं प्रतिमामें होता है। किसी भी समय जैन समाजका प्रत्येक आदमी आठवीं प्रतिमाधारी नहीं हो सकता। वर्तमान जैनसमाजमें हजार पीछे एक आदमी भी मुश्किल से अणुव्रतधारी मिल सकेगा। आठवीं प्रतिमाधारी तो बहुत ही कम हैं। जैनियों ने जो कृषि आदि कार्य छोड़ रक्खा है वह जैनी होनेके कारण नहीं किन्तु व्यापारी होने के कारण छोड़ा है। दक्षिण

प्रान्तमें जितने जैनी हैं, उनका बहुभाग कृषिजीवी ही है।

कुछ लोगों का यह खयाल है कि जैनी हो जाने से ही मनुष्य, राष्ट्रके काम की चीज़ नहीं रहता—वह राष्ट्रका भार बन जाता है। परन्तु यह भूल है। यद्यपि इस भूल का बहुत कुछ उत्तरदायित्व वर्तमान जैन-समाज पर भी है, परंतु है यह भूल ही। राष्ट्रकी रक्षा के लिये ऐसा कोई कार्य नहीं है जो जैनी न कर सकता हो, अथवा उस कार्यके करने से उसके धार्मिक पदमें बाधा आती हो। जैनियोंके पौराणिक चित्र तो इस विषय में आशातीत उदारता का परिचय देते हैं। युद्ध का काम पुराने समय में क्षत्रिय किया करते थे। प्रजा की रक्षाके लिये अपराधियोंको कठोरसे कठोर दंड भी क्षत्रिय देते थे। इन्हीं क्षत्रियों में जैनियोंके प्रायः सभी महापुरुषोंका जन्म हुआ है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण, नव बलभद्र ये ६३ शलाका पुरुष क्षत्रिय थे। २४ कामदेव तथा अन्य हजारों आदर्श व्यक्ति क्षत्रिय थे। इन सभी को युद्ध और शासनका काम करना पड़ता था। धर्मके सबसे बड़े प्रचारक तीर्थंकर होते हैं। जन्मसे ही इनका जीवन साँचे में ढला हुआ होता है। इनका सारा जीवन एक आदर्श जीवन होता है। लेकिन तीर्थंकरोंमें शान्तिनाथ कुंथुनाथ अरनाथ ने तो आर्यखण्ड तथा पाँच म्लेच्छ खण्डों की विजय की थी। भगवान नेमिनाथ भी युद्ध में शामिल हुए थे। इस युगके प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरतका वैराग्यमय जीवन प्रसिद्ध है। लेकिन प्राणदण्ड की व्यवस्था इन्होंने निकाली थी। जैनियोंके पुराण तो युद्धोंसे भरे पड़े हैं; और उन युद्धोंमें अच्छे अच्छे अणुव्रतियों ने भी भाग लिया है। पद्मपुराण में लड़ाई पर जाते हुए क्षत्रियों के वर्णनमें निम्न लिखित श्लोक ध्यान देने योग्य है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः शूरः कश्चिदणुव्रती ।
पृष्ठतो वीक्ष्यते पत्न्याः पुरस्त्रिदशकन्यया ॥ ७२।१५८

इसमें लिखा है कि 'किसी सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती सिपाही को पीछे से पत्नी और सामने से देव-कन्याएँ देख रही हैं।'

अगर जैनधर्म बिलकुल वैश्योंका ही धर्म होता तो उसके साहित्यमें ऐसे दृश्य न होते। इसलिये यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि अपनी, अपने कुटुम्बियों की अपने धन और आजीविका की रक्षाके लिये जो हिंसा करनी पड़ती है वह संकल्पी हिंसा नहीं है, उसका त्यागी साधारण जैनी तो क्या अणुव्रती भी नहीं होता। इससे साफ़ मालूम होता है कि जैनधर्मकी अहिंसा न तो अव्यवहार्य है, न संकुचित है, और न ऐहिक उन्नति की बाधक है। वर्तमानके अधिकांश जैनी अपनी कायरता या अकर्मण्यता को छिपानेके लिये बड़ी बड़ी बातें मारा करते हैं परंतु वास्तवमें अहिंसाके साधारण रूपके पालक भी नहीं होते। हाँ, ढोंग कई गुणा दिखलाते हैं। इन्हें देखकर अथवा इनके आचरण पर से जैनधर्मकी अहिंसा नहीं समझी जा सकती।

महाराज खारवेल

[ले०—श्री० बाबू छोटेलालजी जैन, कलकत्ता]

यह बात सत्य है कि जिस जातिका इतिहास नहीं वह जाति प्रायः नहीं-के-तुल्य समझी जाती है। कुछ समय-पूर्व जैनियोंकी गणना हिन्दुओंमें होती थी, किंतु जबसे जैनपुरातत्त्वका विकास हुआ है तबसे संसार हमें एक प्राचीन, स्वतंत्र और उच्च सिद्धान्तानुयायी समझने लगा है। साथही, हमारा इतिहास कितना अधिक विस्तीर्ण और गौरवान्वित है यह बातभी दिन-पर-दिन लोकमान्य होती चली जाती है। वह समय अब दूर नहीं है जब यह स्वीकार करना होगा कि 'जैनियों का इतिहास सारे संसार का इतिहास है'। गहरी विचार-दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आज जैनसिद्धान्त सारे विश्वमें अदृश्य रूपसे अपना कार्य कर रहे हैं। जैनसमाज अपने इतिहासके अनुसंधान तथा प्रकाशनमें यदि कुछ भी शक्ति व्यय करता तो आज हमारी दशा कुछ और ही होती। इतिहाससे यह सिद्ध हो चुका है कि निर्ग्रंथ दिगम्बर मत ही मूल धर्म* है। यदि हमारे समस्त तीर्थोंका इतिहास प्रकाशित हो जाता तो आज उन धर्मवर्धक तीर्थोंके झगड़ों में समाज की शक्तियों और समय का अपव्यय न होता। सामाजिक और धार्मिक उलझनें इतिहासकी सहायतासे जल्दी और सुगमतासे सुलझ जाती हैं।

'अनेकान्त' की तृतीय किरणमें श्रीमुनि पुण्यविजयजीने, अपने लेखमें, खारवेलको श्वेताम्बर सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। मैं इस बातसे सहमत नहीं हूँ कि यदि कोई खास वाक्य या पाठ श्रीमान् पं० नाथूराम जी प्रेमी और श्रद्धेय पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारकी दृष्टिमें अभी तक नहीं आया हो तो इससे दिगम्बर साहित्यमें उसका अभाव मान कर उसे श्वेताम्बर ही मान लिया जाय×।

* अच्छा होता यदि यहां 'मूल' की मर्यादा का भी कुछ खोलासा कर दिया जाता, जिससे पाठकों को उस पर ठीक विचार करनेका अवसर मिलता। —सम्पादक

× वह पाठ 'श्वेताम्बर हो' है—दिगम्बर नहीं; ऐसा मुनिजी का उनके लेखसे कोई दावा मालूम नहीं होता। वे तो स्पष्ट लिख रहे हैं कि—"दिगम्बर जैनसम्प्रदायके ग्रन्थोंमें '**कायनिसीदीयाय यापञावकेहि**' अंशके साथ तुलना की जाय एसे पाठ हैं या नहीं यह जब तक मैंने दिगम्बर साहित्य का अध्ययन नहीं किया है तब तक मैं नहीं कह सकता हूँ।" इससे दिगम्बर-साहित्यमें मुनिजीके द्वारा इस पाठकी संभावनाका कोई निषेध न होने से यह आपत्ति व्यर्थ जान पड़ती है। इसी तरह खारवेलके श्वेताम्बर होने का भी उनकी तरफ़से कोई दावा नहीं किया गया। उन्होंने तो जो वाक्य उद्धृत किया है उसके उस अंश का अर्थ भी नहीं दिया जिससे खारवेल-द्वारा वस्त्रधारी साधुओं का कुछ सत्कारित होना पाया जाता है। और यदि देते भी तो वे उसके द्वारा उससे अधिक और कुछ प्रतिपादन न कर सकते जितना कि उस पाठके पुनराविष्कर्ता महाशय काशीप्रसादजी जायसवाल ने किया है और जिनका तद्विषयक एक लेख अनेकान्त की ४ थी किरणमें प्रकाशित भी किया जा चुका है। खारवेल महाराजके दिगम्बर होने पर भी उनके द्वारा अपने श्वेताम्बर भाइयों का सत्कारित होना कोई अनोखी बात नहीं कहा जा सकता—खासकर उस ज़मानेमें जब कि परस्परके मतभेद ने आज-कल-जैसा कोई उग्र रूप धारण नहीं किया था और ऐसी हालतमें जब कि खारवेल खुद एक उदार हृदय सम्राट थे, सर्व-मतोंके प्रति आदर भाव रखते थे, उन्होंने ब्राह्मणों तकका सत्कार किया है और वे अपनी पैंतीस लाख प्रजा को अनुरंजित (प्रसन्न) रखने का शिलालेखमें ही उल्लेख करते हैं। अतः इस सत्कारमात्रसे, यदि वह पाठके आपन्न न होने पर ठीक भी हो तो, खारवेलके दिगम्बर होनेमें कोई बाधा नहीं आती, जिसकी किसी को चिन्ता करनी पड़े। —सम्पादक

ऐतिहासिक विषयों पर बहुत ही सावधानीसे विचार कर मत प्रकट करना उचित है और तिस पर महाराज खारवेलके शिलालेख पर तो अभी तक पुरातत्त्ववेत्ताओं की लेखनी चल ही रही है *।

इस शिलालेखके अस्तित्त्व का पता सबसे पहिले स्टर्लिंग साहब को सन् १८२५ में लगा था, तबसे आज तक अनेक पुरातत्त्वान्वेषि-गण इस पर नित-नया प्रकाश डालते आरहे हैं और अभीतक अन्वेषण का अन्त नहीं हुआ है। हाँ, यह बात सिद्ध हो चुकी है कि महाराज खारवेल जैनधर्मावलंबी थे तथा इस शिलालेखमें बहुतसी जैनधर्मसंबंधी बातों का उल्लेख है। इस विषय में आज मैं कुछ अधिक न लिखकर केवल दो एक बातें ही पाठकोंको बताना चाहता हूँ।

कलिंगदेश (उड़ीसा) में खंडगिरि-उदयगिरि नामक प्रसिद्ध दिगम्बरजैन क्षेत्र भुवनेश्वर स्टेशन से ३ मील पर है। यहाँ अनेक गुफायें, शिलालेख और दीवार में लगी हुई मूर्तियाँ हैं। यहीं हाथीगुफामें महाराज खारवेल का वह २१०० वर्ष का प्राचीन प्रसिद्ध शिलालेख भी है। जो प्रायः पाँच गज़ लम्बा और दो गज़ चौड़ा है। इस में १७ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्तिमें ९० से १०० तक अक्षर हैं। इसकी भाषा, कुछ स्थलों को छोड़कर, विशेषतः धर्मग्रन्थोंमें व्यवहृत पाली है। इस की लिपि (अक्षर) खृष्टाब्द पूर्व १६० वर्ष की उत्तरीय ब्राह्मी है। अनेक अक्षर नष्टप्राय हो चुके हैं तो भी अधिक भाग भली भाँति पढा जाता है। प्रथम ही इस में प्रसिद्ध णमोकार मंत्रानुसार अर्हन्तों और सिद्धोंको नमस्कार किया गया है।

खृष्टाब्दके पूर्व की शताब्दियों की भारतीय ऐतिहासिक सामग्रियों में यह लेख एक अद्वितीय स्थान रखता है। काल-क्रम से तो भारत कुलपति सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र महाराज अशोकके बादका यही दूसरा शिलालेख है। जैन-इतिहासकी दृष्टि से आज तक इस रत्नगर्भा भारत वसुंधरा पर जितने भी लेख उत्कीर्ण हुए पाये गये हैं उन सब में यही शिलालेख आर्यप्रतिपादकत्व अधिक रखता है। इस लेख से यह भी प्रमाणित होता है कि अंतिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान महावीरस्वामी के निर्वाण से सौ सवासौ वर्ष के बाद भी जैनधर्म का प्रकाश कलिंग देश में जोरों के साथ था और जैनधर्म राजधर्म था।

महाराज खारवेलने १५ वर्षकी अवस्थामें युवराज पद प्राप्त किया था तथा २४ वर्ष की अवस्था में इनका महाराज्याभिषेक (आज से २११२ वर्ष पहिले) हुआ था। ३१ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हुआ था। इन्होंने सातकर्णी, राष्ट्रिक, भोजक, मूषिक, पांड्य इत्यादि राज्यों पर विजय प्राप्त की थी। मगध और भारतवर्ष (उत्तर भारत) पर इन्होंने अपनी विजय पताका फहराई थी। सर्वविजय के पश्चात् ये अपना समय धर्माचरण में बिताने लगे और तभी कुमारी पर्वत (उदयगिरि) पर इन्होंने अर्हन्तचैत्यालयों का जीर्णोद्धार कराया था। आपकी ऐर, महाराज, महामेघवाहन, कलिंग-अधिपति, धर्मराज, भिक्षुराज, क्षेमराज आदि उपाधियाँ थीं। खारवेल की महारानी ने अपने शिलालेखमें महाराज को 'कलिंग चक्रवर्ती' भी लिखा है।

राज्याभिषेक के १२ वें वर्ष में महाराज खारवेल की तृतीय चढ़ाई मगध पर हुई थी—यहाँ इतनी चतु-

* जिस हद तक उनकी लेखनी चल रही है उसी हद तक दूसरे विद्वानोंका उस पर विचार भी चल रहा है और चलना चाहिये। उसी से पुरातत्त्वज्ञोंको अनुसंधान विशेष करने और अपनी भूल को सुधारने तक का अवसर मिलता है। इसमें आपत्तिकी कोई बात नहीं और न अपने प्रतिकूल विचार को सुनकर अधीर होने की ही ज़रूरत है।　　—सम्पादक

राई से विजय प्राप्त की गई कि खून-खराबी की नौबत ही न आई। मगधाधिपति महाराजा नन्द इस विजयसे तीन शताब्दी पूर्व कलिंग विजय कर भगवान श्रीऋषभदेव (आदितीर्थंकर) की मूर्ति जो कलिंगराजाओं की कुलक्रमागत बहुमूल्य अस्थावर सम्पत्ति थी, जय-चिन्ह स्वरूप मगध ले गया था। उसे मगधाधिपति पुष्यमित्र ने खारवेल को लौटा कर राजी कर दिया।

यह बात प्रायः सभी विद्वान् जानते हैं कि हिन्दुओं के प्राचीन ग्रंथ वेदों में मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं है। और यह भी सिद्ध है कि बौद्धों के यहाँ पहले मूर्तिपूजा नहीं थी किंतु वे बुद्धदेव का दाँत या किसी अंगविशेष की अस्थि ही स्वर्ण पात्र में बन्द कर स्तूपों में रख कर उसकी पूजा किया करते थे। किंतु इस लेख से जब आदि तीर्थंकर की ऐसी प्रतिमा का उल्लेख मिलता है जो एक राज्य की कुलक्रमागत अस्थावर सम्पत्ति थी और जो कम से कम अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीके समय की या उनसे भी पहले की निर्मित थी तब एक हद तक इसमें संदेह नहीं रहता कि मूर्तियों-द्वारा मूर्तिमान की उपासना-पूजा का आविष्कार करने वाले जैनी ही हैं*।

इस शिलालेखसे यह भी स्पष्ट विदित होता है कि महाराज खारवेल से बहुत पहिले उदयगिरि पर अर्हन्-मंदिर थे जिनका जीर्णोद्धार खारवेल ने किया था। अस्तु; मंदिरों के विषय में तो इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि जैनशास्त्रोंमें समवसरणकी रचनाका जो बहुत विशेषता के साथ वर्णन पाया जाता है उसे देखते हुए, मंदिरोंमें (क्या हिन्दू और क्या बौद्ध सभीमें) जो गोपुर प्राकारादि बनाये जाते हैं वे ठीक जैनियोंके समवसरण की शैली पर ही जान पड़ते हैं।

* यह विषय अभी बहुत कुछ विवादग्रस्त है और इस लिये इस पर अधिक स्पष्ट रूप में लिखे जाने की ज़रूरत है। सम्पादक

इस २१०० वर्ष के प्राचीन जैन शिलालेखसे स्पष्ट पता चलता है कि मगधाधिपति पुष्यमित्रके पूर्वाधिकारी राजा नन्द श्रीऋषभदेवकी प्रतिमा कलिंगदेशसे मगध ले गये थे और वह प्रतिमा खारवेल ने नन्द राजा के ३०० वर्ष बाद पुष्यमित्र से प्राप्त की। जब एक पूज्य वस्तु ३०० वर्षोंसे जिस राजघराने में सावधानी से रखी हुई चली आई है, तो अवश्य ही मगधके नन्द राजागण उसे पूजते थे। यदि और कोई वस्तु होती तो इतने दीर्घ कालमें अवश्य ही किसी न किसी तरह वह विलीन हो जाती*। 'मुद्राराक्षस' में भी यह उल्लेख है कि नन्दराज और उसके मंत्री राक्षसको विश्वासमें फाँसनेके लिये एक दूतको क्षपणक बना कर चाणक्य ने भेजा था। कोषग्रन्थों में क्षपणकका अर्थ दिगम्बर-जैनसाधु है तथा महाभारत में भी 'नग्नक्षपणक' का व्यवहार हुआ है। इससे नन्दराजा जैन थे और वह प्रतिमा (श्रीआदिनाथकी) भी अवश्य दिगम्बर थी।

जो लोग यह मानते हैं कि जैनधर्म के आदि प्रवर्त्तक महावीर स्वामी या श्रीपार्श्वनाथजी थे उनका भी समाधान इस शिलालेख पर से हो जाता है। क्योंकि यदि ये ही दोनों तीर्थंकर जैनधर्म के चलाने वाले होते तो उनके समय की या उनसे कुछ ही समय बाद की प्रतिमा उन्हींकी होती। परंतु ऐसे प्राचीन शिलालेखमें जब आदि तीर्थंकरकी प्रतिमाका स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख इतिहासको साथमें लिये हुए मिलता है तो जैन-धर्मके प्राचीनत्व में संदेह नहीं रहता।

राज्याभिषेकके ९वें वर्षमें कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेलने "कल्पद्रुममह" किया था जिसमें हाथी, घोड़े, रथ, मकान, भोजन, वस्त्र आदि किमिच्छक दान दिया था। जैसा कि शिलालेखकी निम्न ९वीं पंक्तिसे प्रकट है:—

* यह अनुमान कुछ प्रौढ मालूम नहीं होता। —सम्पादक

कप्परुखे हय-गज-रथ-सहयंते सवघरावास-परिवसने स-अगिणठिये। सव-गहनं च कारयितुं बम्हणानं जाति-पंतिं परिहारं ददाति। अरहतो...व...न...गिय।

इस पंक्ति में 'कप्परुखे' आदि शब्दोंमें जो उल्लेख हुआ है उसी विषयको अब पाठकों के समक्ष स्पष्ट करने का यत्न किया जाता है।

मेरे देखनेमें जितने भी आचार-शास्त्र या चारित्र-ग्रन्थ आये हैं और जिनमें पूजाभेदों का वर्णन है उन सभी में इस "कल्परुख" (कल्पवृक्ष) मह का विधान समान मिलता है। नमूने के तौर पर यहाँ इसके दो तीन उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

गृहस्थस्येज्या, वार्ता, दत्तिः स्वाध्यायः, संयमः, तप इत्यार्यषट् कर्माणि भवंति। तत्रार्हत्पूजेज्या, सा च नित्यमहश्चतुर्मुखं कल्पवृक्षोऽष्टान्हिक ऐन्द्रध्वज इति। तत्र नित्यमहो नित्यं यथाशक्ति जिनगृहेभ्यो निजगृहाद् गंधपुष्पाक्षतादिनिवेदनं चैत्यचैत्यालयं कृत्वा ग्रामक्षेत्रादीनां शासनदानं मुनिजनपूजनं च भवति। चतुर्मुखं मुकुटबद्धैः क्रियमाणा पूजा सैव महामहः सर्वतोभद्र इति। कल्पवृक्षोऽर्थिनः प्रार्थितार्थैः संतर्प्य चक्रवर्तिभिः क्रियमाणो महः।

—चामुण्डरायकृत, चारित्रसार।

दत्त्वाकिमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते
कल्पद्रुममहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः ॥३८-३१

—श्रीजिनसेनप्रणीत, आदिपुराण।

पूजा मुकुटबद्धैर्या क्रियते सा चतुर्मुखः।
चक्रिभिः क्रियमाणा या कल्पवृक्ष इतीरिता॥९-३०

पं० मेधावीकृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार।

किमिच्छकेन दानेन जगदाशाप्रपूर्य यः।
चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञः कल्पद्रुमो महः॥२-२८

—पं० आशाधरकृत, सागारधर्मामृत।

कल्पद्रुम मह के सम्बंधमें इन सबका तात्पर्य यह है कि—याचक लोगों को 'तुम्हें क्या चाहिये' इस प्रकार पूछ कर उन्हें उनकी इच्छानुसार दान देकर जो महोत्सव सम्राट् या चक्रवर्ती करते हैं वह जगत की इच्छा पूर्ण करने वाला कल्पद्रुम मह कहलाता है।

इससे पाठकों को मालूम होगा कि धर्मराज महाराज खारवेल ने भी जैनशास्त्रानुसार श्रावकोचित तथा आर्यकर्मरूप यह यज्ञ किया था। जैनशास्त्रों में इस यज्ञ के करनेकी आज्ञा केवल सम्राट् या चक्रवर्ती को ही दी गई है। और यह बात इतिहाससिद्ध है कि महाराज खारवेल अपने समय के सबसे बड़े शासन-कर्ता थे। महाराज ने जितनी विजय प्राप्त की थी (जिसका शिलालेखमें पूर्ण उल्लेख है) वह उस समय चक्रवर्त्योचित थी। इसी लिये महारानी ने भी अपने शिलालेख में महाराज को "कलिंगचक्रवर्ती" लिखा है। महाराज खारवेलके समय भारतीय राज्य-सिंहासन पर मगधाधिपति महाराज पुष्यमित्र शासन कर रहे थे। उस समय मगधाधिपतिको बिना परास्त किये कोई भी अपने को चक्रवर्ती घोषित नहीं कर सकता था। अस्तु; खारवेल ने मगध विजय करके ही चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था।

कई विद्वानोंका कहना है कि उस समय जैनधर्म वैदिकों हिन्दुओंके पन्थ की तरह एक धर्मपंथ होने की अपेक्षा पांडित्य की वस्तु होनेमें ही विशेष महत्त्व रखता था। इसी लिये खारवेलका महाराज्याभिषेक वैदिक रीत्यानुसार हुआ था और खारवेलने स्वर्ण-वृक्षादिके रूपमें महादान ब्राह्मणों को दिये थे। किंतु मैं जिन आचार-ग्रन्थोंके प्रमाण ऊपर उद्धृत कर चुका हूँ उनसे पाठक स्पष्ट समझ गये होंगे कि खारवेलके नेगचार जैनविधि-अनुसार ही थे न कि वैदिक विधिके अनुसार। उन विद्वानों ने अन्य कई बातों

की तरह इस ९ वीं पंक्तिके "कल्परुखे' पदका भी उचित अर्थ नहीं किया है। इसीसे वे इस पंक्तिका आशय 'स्वर्णकल्पवृक्षादिके दान का' लगाते हैं; किंतु इसका आशय होना चाहिये—(कल्पद्रुममह की पूर्णता के लिये या) कल्पद्रुम यज्ञमें हाथी घोड़े आदि किमिच्छक दानका।*

खारवेलके इस कल्पद्रुममह आदिके उल्लेखसे चार प्रकार की जैनपूजा पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है और इस पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। किंतु विषयान्तर होनेके भयसे इस समय मैं पाठकों से क्षमा चाहता हूँ। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि इतने प्राचीन कालमें भी हमारा पूजाविधान जब इतना परिपूर्ण था कि इस २०वीं शताब्दी तक उसमें किसी प्रकार का सुधार या विकार नहीं हुआ× तब यदि हम पाश्चात्य रीत्यानुसार गणना कर उसकी प्रारंभिक अवस्था या उत्पत्तिकाल पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे तो वैदिक कालसे पूर्व नहीं तो बराबर अवश्य पहुँच जायँगे। मैं तो कहूँगा कि यह विधान वैदिक कालसे बहुत पूर्व समय का है; कारण हमारे अंतिम 'चक्रवर्ती श्रीब्रह्मदत्त' श्रीनेमिनाथजी २२वें तीर्थंकरके बाद और श्रीपार्श्वनाथजी २३वें तीर्थंकरके बहुत पहिले हुए हैं।÷

महाराज खारवेल नूतन मंदरादिके निर्माण की अपेक्षा जीर्णोद्धारमें ही विशेष महत्त्व समझते थे। यह भी इस शिलालेखसे स्पष्ट हो जाता है। क्या हमारे जैनी भाई भी उन महाराज खारवेल का अनुसरण कर इस पवित्र जैन-धर्म की प्राचीन कीर्त्तियोंकी रक्षा करेंगे?

इस शिलालेखमें और भी जैनधर्म-संबंधी अनेक बातें हैं, जिनका दिग्दर्शन पाठकोंको फिर किसी समय कराया जायगा।

* ऐसा आशय क्यों होना चाहिये, और दूसरे विद्वानों का वह आशय अथवा अर्थ उचित क्यों नहीं? इसे बतलाने की लेखक महाशयने कोई कृपा नहीं की! मालूम नहीं आपका यह कथन किस आधार पर अवलम्बित है। मूलमें '**कल्परुखे**' पदके साथ '**मह**' शब्द का कोई प्रयोग नहीं है, न किमिच्छक दान का ही पंक्ति भर में कहीं उल्लेख है, लेखकी भाषामें द्वितीयाके बहुवचन का रूप भी 'कल्परुखे' बनता है जिसका संस्कृत रूप 'कल्पवृक्षान्' होता है और वह '**सहयंते**' यथा '**परिवसने**' जैसे दूसरे बहुवचनान्त द्वितीयान्त रूपोंके साथ समानता रखता है, उसके पहले ८ वी पंक्तिके अन्तमें '**पलवभरे**' विशेषण भी उसके बहुवचनांत द्वितीयाका रूप होनेको ही सूचित करता है—सप्तमीके एकवचनका रूप नहीं। इसके सिवाय हिन्दु ग्रन्थोंमें ब्राह्मणोंको कल्पवृक्ष बनाकर दान देनेका विधान पाया जाता है, और इस पंक्तिमें ब्राह्मणों को ही दान देने का उल्लेख है, जब कि कल्पद्रुममहमें ब्राह्मणों का ही दान दिये जाने की कोई खसूसियत नहीं हो सकती थी। ऐसी हालतमें अपने अर्थ की यथार्थता का कोई आधार-प्रमाण न बतलाते हुए दूसरोंके अर्थ को बिना किसी युक्तिके अनुचित ठहराना मुझे तो कुछ समुचित प्रतीत नहीं होता। —सम्पादक

× तबसे अब तक "उसमें किसी प्रकार का सुधार या विकार नहीं हुआ" यह कहना निःसन्देह एक बड़े ही साहस का कार्य है। जैनसाहित्य को देखते हुए, मुझे तो यह कथन बहुत ही आपत्तिके योग्य जान पड़ता है। —सम्पादक

÷ ब्रह्मदत्त के इस होने से लेखक महाशय जो नतीजा निकालना चाहते हैं वह यदि किसी तरह निकाला भी जा सके तो उस वक्त तक नहीं निकाला जा सकता जब तक कि अधिक प्राचीन साहित्य पर से यह सिद्ध न कर दिया जाय कि ब्रह्मदत्तने भी 'कल्पद्रुममह' नाम का वैसा पूजाविधान किया था। अधिक प्राचीन साहित्य की बात तो दूर, १०वीं शताब्दीके विद्वान् गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराण में भी उसका कोई उल्लेख नहीं है। अधिक प्राचीन साहित्य में तो इन चार या पांच प्रकार के पूजाभेदों का भी कुछ उल्लेख नहीं मिलता, और शायद यही वजह हो जो लेखक महाशय जिनसेनके आदिपुराण (९वीं शताब्दी) से पहलेका कोई प्रमाण कल्पद्रुममहके स्वरूपादि-सम्बन्ध में उपस्थित नहीं कर सके हैं। यदि यह कहा जाय कि चक्रवर्ती तो सभी नियमसे कल्पद्रुममह किया करते हैं, तब या तो यह कहना होगा कि खारवेल ब्रह्मदत्त या भरत की कोटिका चक्रवर्ती न होने से कल्पद्रुममहका अधिकारी नहीं था और या खारवेल की कोटि के चन्द्रगुप्त, अशोक और अकबर जैसे सम्राटोंकी बाबत भी यह बतलाना होगा कि उन्होंने भी 'कल्पद्रुममह' किया है, जो इतिहाससे सिद्ध नहीं है। दोनों ही तरहसे कुछ बात ठीक नहीं बनेगी। अतः जिस आधार पर उक्त नतीजा निकालने का प्रयत्न किया गया है वह कुछ समुचित प्रतीत नहीं होता। —सम्पादक

राजा खारवेल और उसका वंश

[लेखक—श्री० बाबू कामताप्रसादजी]

'अनेकान्त' की ४थी किरणमें (पृष्ठ २२६-२२९) उक्त शीर्षकके नीचे मुनि कल्याणविजयजी (श्वे०) ने राजा खारवेलके वंशका कुछ परिचय कराया है। उसमें मान्य लेखकने हाथीगुफाके लेखमें आये हुए 'चेतवसवधनस' (अब इस वाक्य को मि० जायसवाल ने 'चेतिराजवसवधनेन' पढ़ा है और उन्हें 'चेति' अथवा 'चेदि' वंशज बताया है) वाक्य से जो विद्वान उन्हें 'चैत्र' अथवा 'चेदि' वंशज बतलाते हैं, उनसे असहमतता प्रकट की है; क्योंकि मुनिजी को कहीं से एक 'हिमवंत-थेरावली' नामक श्वेताम्बर पट्टावली मिल गई है और उस में राजा खारवेल को लिच्छिविसंघके राष्ट्रपति राजा चेटकका वंशज प्रगट किया है! इस थेरावलीकी प्रामाणिकता और प्राचीनताके विषय में न तो मुनिजी ने ही कुछ लिखा है और न संपादक महोदयने ही कुछ छानबीन की है*। इस साहित्यिक डाकेजनीके जमानेमें इस प्रकार एक शिलालेखकी सब बातोंसे मेल खानेवाले साहित्यका यकायक निकल आना, कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। सो भी उस दशा में जब कि श्वेताम्बर और दिगम्बर संप्रदायोंमें पवित्र तीर्थोंके नाम पर झगड़े चल रहे हैं और श्वेताम्बर संप्रदायकी ओरसे पहले भी जाली दस्तावेज़ें पेश की जा चुकी हैं; जैसे कि शिखिरजी केसके 'जजमेन्ट'से प्रकट है※। अतएव उक्त थेरावलीके परिचयको बिलकुल गुप्त रखते हुए उसकी कुछ बातोंको बिना कोई विशेष शोध-परिशोध किये ही एक दम प्रकट कर देना कुछ ठीक नहीं जँचता ×। वह थेरावली किस आचार्य ने किस जमानेमें, लिखी, उसकी प्रतियाँ कहाँ कहाँ किस रूपमें मिलती हैं और ग्रन्थके जाली न होनेमें कोई संदेह तो नहीं, ये सब बातें जब तक प्रकट न हों तब तक इस थेरावली पर विश्वास किया जाना कठिन है। निम्न बातों को देखते हुये तो यह थेरावली जाली प्रतीत होती है अथवा उस पर जाली होने का बहुत बड़ा संदेह पैदा होता है.—

(१) थेरावलीमें राजा चेटकके वंशका जो परिचय दिया है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। कमसे कम दिगम्बर जैनशास्त्रों में उसका उल्लेख नहीं है और जहाँतक मुझे श्वेताम्बर शास्त्रोंका परिचय है मैं कहने

* छानबीन चल रही है। नतीजा निकलने पर प्रकट किया जायगा। अभी तक मूल ग्रन्थ या उसका अनुवाद भी प्राप्त नहीं हो सका। —सम्पादक

※ They (Firmans) will appear to be matlabi on the face of them and to have been got up for the purpose of disputes
P. H. Judg. p 32

× एक विद्वानका जो बातें जिस रूपमें कहीं से प्राप्त हों उन्हें उस रूपमें विशेष अनुसंधानको उत्तेजन देनेके लिये प्रकट कर देना तो कुछ आपत्ति के योग्य मालूम नहीं होता। विशेष जाँच-पड़ताल अधिक समय तथा साधन-सामग्रीकी अपेक्षा रखती है और वह प्रायः बादको अनेक विद्वानोंके सहयोगसे हो पाती है। —सम्पादक

को बाध्य हूँ कि उनमें भी ऐसा वर्णन शायद ही मिले।

(२) थेरावली का जो अंश प्रकट हुआ है उस से मालूम होता है कि उसमें तत्कालीन भारतके अन्य राज्यों का भी पूर्ण वर्णन होगा। यदि यह बात है, तो बिना किसी अधिक विलम्बके उक्त थेरावलीको पूर्णत: प्रकट करना चाहिये। फिर भी जो अंश प्रकट हुआ है उसका सामञ्जस्य केवल जैनशास्त्रों से ही ठीक नहीं बैठता, बल्कि जैनेतर साहित्यसे भी वह बाधित है; जैसा कि आगे चल कर प्रकट होगा। और यदि उसमें उक्त राजवंशके वर्णनके अतिरिक्त अन्य किसी राजवंश का वर्णन नहीं है, तो उसे सहसा स्वीकार कर लेना सुगम नहीं है।

(३) राजा चेटकके नामकी अपेक्षा किसी 'चेट' वंशका अस्तित्व इससे पहले के किसी साहित्यग्रंथ या शिलालेखसे प्रगट नहीं है। और चेटकका वंश 'लिच्छिवि' प्रसिद्ध था जो उत्तर भारतमें गुप्त काल तक विद्यमान रहा, यह बात निर्विवाद सिद्ध है। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त प्रथमका विवाह लिच्छिवि वंशीय कुमारदेवीसे हुआ था[1]। कौटिल्यने सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके जमाने तक लिच्छिवि वंशजोंको उत्तरभारतमें राज्याधिकारी लिखा है[2]। और इतिहाससे यह पता चलता है कि अजातशत्रुके द्वारा परास्त किये जाने पर भी लिच्छिवि अपने राज-संघके अस्तित्व को बनाये रख सके थे[3]। इसके साथ ही, इतिहास और स्वयं श्वेताम्बर-ग्रन्थों से यह सिद्ध है कि चेटक कोई परम्परागत राजा नहीं था[3]। विदेह देशमें तब साम्राज्यवाद के स्थान पर एक प्रकार का प्रजातंत्रवाद प्रचलित था। चेटक उस राष्ट्र के राष्ट्रपति नियुक्त थे[3]। अतः यह हार उनकी निजी न होकर राष्ट्र की थी और राष्ट्रका प्रत्येक प्रतिनिधि तब 'राजा' कहलाता था, यह बात भी स्पष्ट है। इस हालत में चेटक के पुत्र का भाग कर कलिंग पहुँचना और वहाँ पर नया राज्य और वंश स्थापित करना बाधित है। श्वेताम्बरीय शास्त्र 'निर्यावली' और 'भगवती सूत्र' में अजातशत्रु और चेटक की उक्त लड़ाई का वर्णन है। उसमें साफ लिखा है कि 'चेटकने इस आपत्ति को आया जान कर नौ मल्लिक, नौ लिच्छिवि और ४८ काशी-कौशलके गणराजों (गणरायालो) को तैयार किया।'[4] इससे स्पष्ट है कि इन गणराजों का नेतृत्व राजा चेटक ग्रहण किये हुए थे।

(४) चेटक का लिच्छिवि वंश पहले से ही बहुत प्रख्यात था और उस समय अन्य क्षत्रिय लोग उनसे विवाहसम्बन्ध करनेमें अपना अहो-भाग्य समझते थे[5]। इस दशामें यदि शोभनराय भाग कर कलिंग गया होता तो उसने अपने इस सर्वमान्य वंश का नाम कदापि न पलटा होता और उसे अपने उस पिताके नाममें परिवर्तित न किया होता जो कोई बहादुरी न दिखा कर उलटा मगध राजके हाथ अपना राज्य गँवा बैठा था।

(५) दिगम्बर जैनशास्त्र 'उत्तरपुराण' में राजा चेटकके दस पुत्र बतलाये हैं और उनके नाम ये दिये हैं—धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त वाक्, सिंहभद्र, सुकुंभोज, अकंपन, सुपतंग, प्रभंजन और प्रभास (पृ० ६३४)। इनमें शोभनराय नामका कोई पुत्र नहीं है।

१. भारतके प्राचीन राजवंश, भा० २, पृ०२४२

२. लिच्छिविकवृजिकमल्लकमद्रककुकुरकुरुपाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः संघाः। —इति कौटिल्यः।

३. सम क्षत्री क्लेन्स इन एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ०१३५-१३६

३. सम क्षत्री क्लेन्स इन एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ०१३५-१३६

४. भगवती ७। ९—इण्डियन एन्टीक्वेरी भा०२१,पृ०२१

५. भगवान महावीर पृ० ५७

(६) दिगम्बर जैनग्रन्थ 'हरिवंशपुराण' से प्रकट है कि भगवान महावीरके समयमें कलिंगका राजा जितशत्रु था[६] —सुलोचन नहीं था। अतः अन्य श्वेताम्बर और जैनेतर साहित्यसे इस 'सुलोचन'का अस्तित्व जब तक प्रमाणित न हो जाय, तब तक उसको तत्कालीन कलिंगाधिपति स्वीकार करना कठिन है।

(७) उपर्युक्त प्रकारसे इस थेरावलीके प्रकट अंश के प्रारंभिक भागकी अनैतिहासिकता को देखते हुए, उसमें खेमराज, बुड्डराज, कुमारीगिरि आदि ऐतिहासिक पुरुषों तथा वार्ताका उल्लेख मिलना, उसके संदिग्ध रूप को असंदिग्ध नहीं बना देता। क्या यह संभव नहीं है कि खारवेलके अति प्राचीन शिलालेखको श्वेताम्बर साहित्यसे पोषण दिला कर उसे श्वेताम्बरीय प्रकट करने के लिये ही किसी ने इस थेरावलीकी रचना कर डाली हो और वही रचना किसी शास्त्रभण्डार से उक्त मुनिजीको मिल गई हो? * इस बातको संभवनीय हम इस कारण और मानते हैं कि इसमें शिलालेख के पिछले रूपके अनुसार कई उल्लेख हैं, परंतु अब विद्वानोंने उन अंशोंको दूसरे रूपमें पढ़ा है ×। जैसे कि थेरावली में 'खारवेलाधिपति' नाम मात्र एक उपाधि रूपमें है, परंतु अब वह ख़ास नाम प्रकट हुआ है[७]। शिलालेखमें खारवेल ने एक बृहस्पतिमित्र राजा को परास्त किया लिखा है। इस बृहस्पतिमित्रको ही मि० जायसवाल पुष्यमित्र मानते हैं[८]। थेरावलीमें स्पष्टतः पुष्यमित्रका नामोल्लेख कर दिया गया है। किन्तु अब विद्वान् बृहस्पतिमित्रको पुष्यमित्र माननेके लिये तैयार नहीं हैं[९]। इसी प्रकार दृष्टिवाद अंगके पुनरुत्थान किये जाने की बात भी अब असंगत है; क्योंकि कोई कोई विद्वान उसे विपाकसूत्र ग्रन्थ बतलाते हैं, जो दिगम्बरमतानुसार विलुप्त है और श्वेताम्बरों में मिलता है।[१०]

(८) थेरावली-द्वारा प्रकट किया गया है कि कुमारगिरि पर खारवेल ने आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध नामक स्थविरों के हाथ से जिनमन्दिर का पुनरुद्धार कराके प्रतिष्ठा कराई और उसमें जिनकी मूर्ति स्थापित कराई। साथ ही, वीरनिर्वाणसे ३३० वर्षों के बाद ये सब कार्य करके खारवेलका स्वर्गवासी हुआ लिखा है। किन्तु श्वेताम्बरीय तपागच्छ की 'वृद्ध पट्टावली' में यह बात बाधित है। उसके अनुसार उक्त स्थविर-द्वय का समय वीरनिर्वाणसे ३७२ वर्ष बादका है[११]। इस हालतमें खारवेलका उनसे साक्षात् होना कठिन है ×। अतः हो सकता है कि यह बात मात्र इस गर्ज़से लिखी गई हो कि उक्त तीर्थको किसी समय श्वेताम्बरोंका सिद्ध किया जा सके।

---

६. भ० महावीर और म० बुद्ध, पृ० ४३

* मुनिजी को अभी तक मूल ग्रन्थकी प्राप्ति नहीं हुई। उन्होंने उसके गुजराती अनुवाद पर से ही वह लेख लिखा है, जिसकी सूचना लेखके अन्तिम फुटनोट में पाई जाती है, और अपने १६ फरवरी के पत्र में वे मुझे भी लिख गये हैं। वह अनुवाद 'अचलगच्छनी म्होटी पट्टावली' में छपा है —सम्पादक

× उनका वह हालका पढ़ना ही ठीक है यह अभी कैसे मान लिया जाय? —सम्पादक

७. JBORS. IV 434.

८ Ibid p. 442.

९ Indian Historical Quarterly Vol V p 587-613

१०. Ibid p. 592.

११ जैनसाहित्यसंशोधक, भाग १, परिशिष्ट पृ० ८

× भले ही कठिन जान पड़े, किन्तु असंभव नहीं है, क्योंकि उक्त ३७२ वर्षका समय सुस्थित सूरि के स्वर्गारोहण का समय है। उससे ५०-६० वर्ष पहले उनका मौजूद होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। उनके गुरु सुहस्ती की आयु तो पट्टावलीमें ही १०० वर्ष की लिखी है। —सम्पादक

(९) इसी प्रकार खारवेल-द्वारा एकत्र की गई सभामें देवाचार्य, बुद्धिलिंगाचार्य, धर्मसेनाचार्य तथा नक्षत्राचार्यका सम्मिलित होना भी असंभव है; क्योंकि ये आचार्य कोई श्वेताम्बराचार्य तो थे नहीं—श्वे०पट्टावलीमें तो ये नाम देखनेको भी नहीं मिलते। हाँ, दिगम्बर पट्टावलीमें ये नाम अवश्य पाये जाते हैं। किन्तु यहाँ ये सब आचार्य समकालीन प्रकट नहीं किये गये हैं। इनका समय एक दूसरेसे नितान्त भिन्न है। धर्मसेनाचार्य वीर नि०सं०३२५ और नक्षत्राचार्य ३४५ में हुये बतलाये गये हैं[१२]। अतः उक्त थेरावलीके अनुसार दिगम्बराचार्य धर्मसेनाचार्य ही केवल उस सभामें उपस्थित हुए कहे जा सकते हैं *। इन सब आचार्योंको थेरावली भी दिगम्बर (जिनकल्पी) प्रकट करती है। रही बात सवस्त्र साधुओंकी, सो थेरावलिमें ये सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति व श्यामाचार्य प्रभृति बताए हैं। इनमें से पहले दो इस सभामें शामिल नहीं हो सकते, यह हम देख चुके (!)। रहे शेष दो, सो ये भी उक्त सभामें नहीं पहुँच सकते, क्योंकि उमास्वाति इस घटनाके कई शताब्दी बाद हुए हैं और श्यामाचार्य उनसे भी पीछेके आचार्य मालूम होते हैं। अतः थेरावली का यह वक्तव्य प्रामाणिक नहीं है।

इन सब बातोंको देखते हुए 'हिमवंत-थेरावली' को एक प्रामाणिक ग्रन्थ मान लेना सत्यका खून करना है और इस हालतमें उसमें बताया हुआ खारवेलका वंश-परिचय भी ठीक नहीं माना जा सकता। अतः आइए पाठकगण, अब स्वाधीनरूपमें * खारवेल सिरिके वंश का परिचय प्राप्त करें।

सबसे पहले हाथीगुफा वाले उनके शिलालेखको लीजिए। उसमें साफ तौरसे उन्हें **'ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतिराजवसवधनेना .... कलि (ङ) ग अधिपतिना सिरि खारवेलेन'** लिखा है। इसमें प्रयुक्त हुए 'ऐरेन' शब्द का भाव 'ऐल-वंशज' के रूपमें और 'ऐर' (आर्य) रूपमें भी लिया जाता है[१३]। इनका ऐल-वंशज होना न केवल हिन्दू पुराणों से ही सिद्ध है; बल्कि दिगम्बरजैन हरिवंशपुराणके कथनसे भी प्रमाणित है[१४]। हिन्दू पुराणों के अनुसार ई०पू० २१३ के बाद जिन राजवंशोंका वर्णन है, उनमेंसे एकका वर्णन निम्न प्रकार है[१५] :—

(१) यह कौशल (दक्षिण कौशल) का राजवंश था।
(२) यह साधारणतः 'मेघ' (Meghas) (मेघा इति समाख्याताः) नामसे विख्यात था।
(३) यह विशेष शक्तिवाला और विद्वान था, और

१२ Indian Antiquary XX, pp 345-346.

* यह सब निर्णय ठीक नहीं है; क्योंकि इन आचार्योंके दशपूर्वादिके पाठी होने का समय भिन्न होने पर भी इनका समकालीन होना कोई बाधक मालूम नहीं होता—यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त ज्ञानकी प्राप्तिसे पहले वे मुनि या आचार्यादि कुछ नहीं थे। बुद्धिलिंगको दशपूर्व ज्ञानकी प्राप्ति वीरनिर्वाणसे २६५ वर्ष बाद हुई और २० वर्ष तक रही बतलाई गई है। उनके बाद देवाचार्यको यह सिद्धि हुई। और खारवेलकी राज्यप्राप्ति थेरावलिकारने वीरनिर्वाणसे ३०० वर्ष बाद लिखी है। इससे खारवेलकी सभामें इन दोनों आचार्योंकी उपस्थिति बाधक नहीं हो सकती और नक्षत्राचार्य भी एकादशांग-ज्ञान की प्राप्तिसे पहले उस सभामें सम्मिलित हो सकते हैं। लेखक महाशय ने योंही बिना अच्छी तरहसे विचार किये, उनके समयको नितान्त भिन्न बतलाते हुए, उनके सम्मिलित होने को असम्भव ठहराया है!

—सम्पादक

* 'स्वाधीन' शब्दका प्रयोग बड़ा ही बेढब जान पड़ता है। जिस परिचय के लिये लेखक महाशय खुद शिलालेख के आधुनिक रीडिंग, उसके अर्थों, पुराणों और दूसरे विद्वानोंके वचनोंका सहारा ले रहे हैं उसे पाठकोंको स्वाधीनरूपमें प्राप्त कराना चाहते हैं यह एक बड़ी ही विचित्र बात है!

—सम्पादक

१३ JBORS. IV. 1434-435. १४ Ibid. XIII 277-279 १५ Ibid. IV. 480-432.

(४) इसके कुल नौ राजा थे।

इस वंशका मेघ नाम खारवेलकी 'मेघवाहन' उपाधिका द्योतक है, यह मि०जायसवाल प्रकट करते हैं। इसका समर्थन एक प्राचीन उड़िया काव्यसे होता है, जो 'इंडियनम्युजियम' में मौजूद है। उसमें लिखा है कि 'कलिङ्गको मगधके नंद राजाओं ने जीत लिया था; किन्तु बादको ऐर राजाने नंद राजाको हरा कर उसका उद्धार किया। यह नन्द कट्टर वैदिक धर्मावलम्बी था, किन्तु ऐर पाखण्डी था। ऐरका विरोध अशोकसे भी विशेष था। पहले ऐर की राजधानी दक्षिण कौशल की कौशला नगरी थी, बादको उन्होंने अपनी राजधानी खण्डगिरि पर बनाई*।' इस उल्लेख से भी खारवेल के पूर्वजोंका दक्षिण कौशल से आना सिद्ध होता है। और यह बात हिन्दू पुराणोंके उपर्युक्त उल्लेखके अनुकूल है। इसके अतिरिक्त ऐर अर्थको पुष्ट करने वाला कोई उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, जैन हरिवंशपुराणसे उत्तर कौशलके हरिवंशीय राजा दक्षके द्वारा खारवेलका ऐलवंशज होना प्रकट है और यह भी प्रकट है कि वह उनके वंशज उत्तरसे आकर दक्षिणकी ओर विन्ध्याचल पर्वतके पृष्ठ भागमें चेदिराष्ट्र बना कर वहाँ शासन करने लगे थे। वह कथा इस प्रकार है:—

'हरिवंशीय राजा दक्षका एक ऐलेय नामका पुत्र और मनोहरी नामकी सुंदर कन्या थी। दक्ष मनोहरी पर आसक्त हो गया और उस नीचने उसे अपनी पत्नी बना लिया। इस कारण रानी इला अपने पतिसे इस दुष्कर्मके कारण रुष्ट हो गई और अपने पुत्र ऐलेय को लेकर दूसरे देशको चली गई। ऐलेय दुर्ग देश में पहुँचा और वहाँ उसने 'इलावर्द्धन' नामक नगर स्थापित किया। इसके बाद वह अङ्गदेश में ताम्रलिप्ति नामक नगरी भी स्थापित करनेमें सफल हुआ। ऐलेय एक राजा बन गया और फिर वह दिग्विजयको निकला। इस दिग्विजयमें ऐलेय ने नर्मदा तट पर माहिष्मतीनगरी की नींव डाली। अन्तको वह दिगम्बर मुनि हो गया और उसका पुत्र कुणिम राजा हुआ। कुणिमने विदर्भदेशमें कुन्डिनपुरको बसाया। यह भी मुनि हो गया और इसके बाद पुलोम राजा हुआ, जिसने पौलोम नगर बसाया। इसके उत्तराधिकारी इनके दो पुत्र—पुलोम और चरम हुये; जिन्होंने इन्द्रपुर की नींव डाली। इनकी सन्तानमें बहुत राजाओं के बाद जिनके नाम गिनाना फिजूल है, एक राजा अभिचन्द्र हुआ। इसने विन्ध्याचल पर्वतके पृष्ठ भाग में चेदिराष्ट्र की स्थापना की। इसकी रानी उग्रवंशी वसुमती नामक थी।'

(हरिवंशपुराण, सर्ग १, श्लोक १–३५)

इस कथन से राजा खारवेलके वंशका ठीक परिचय मिलता है और इसके अनुसार उनकी 'ऐर' उपाधिका अर्थ 'ऐलवंशज' होना ठीक है। तथापि ऐलवंशज अभिचन्द्रने ही 'चेदिराष्ट्र' की स्थापना की, इस लिये खारवेलका "चेतिराजवसवधेन" होना ठीक ही है; क्योंकि उनके पूर्वज विन्ध्याचल पर्वतके निकटवर्ती महाकौशलसे आये थे, और वे चेदिराष्ट्रके उत्तराधिकारी थे। अत: 'हिमवंत-थेरावली' के अनुसार राजा खारवेल का जो वंश परिचय उपस्थिति किया गया है, वह ठीक नहीं है। उसके स्थान पर उक्त प्रकार से जो दिगम्बर जैनपुराण, हिन्दू-पुराण, और स्वयं खारवेल के शिलालेखके अनुसार वंश वर्णन किया गया है वह विशेष प्रामाणिक है अर्थात् उत्तर कौशलके राजपुत्र ऐलेय हरिवन्शीकी सन्तान चेदि कुलकी जो थी, और जो विन्ध्याचलके पास दक्षिण कौशलमें आ रही थी, उसी के वंशज खारवेल थे। ता० १७–३–१९३०

* Ibid. V. 480-482.

नोट-

इस लेखकी विचारसरणी, यद्यपि, बहुत कुछ स्खलित जान पड़ती है, सत्यकी अपेक्षा साम्प्रदायिकता की रक्षाकी ओर वह अधिक झुकी हुई है और इसीसे इसमें कितनी ही विवादस्थ-अनिर्णीत बातों अथवा दूसरे विद्वानों के कथनों को, जिन्हें अपने अनुकूल समझा, यों ही—बिना उनकी खुली जाँच किये—एक अटल सत्यके तौर पर मान लिया गया है, और जिन्हें प्रतिकूल समझा उन्हें या तो पूर्णतया छोड़ दिया गया है और या उनके उतने अंश से ही उपेक्षा धारण की गई है जो अपने विरुद्ध पड़ता था। और इसका कुछ आभास पाठकोंको सम्पादकीय फुटनोटोंसे भी मिल सकेगा। फिर भी इस लेख परसे उक्त 'थेरावली' की स्थिति संदिग्ध जरूर हो जाती है—भले ही उसे अभी जाली न कहा जा सके—और इस बातकी खास जरूरत जान पड़ती है कि उसे जितना भी शीघ्र हो सके पूर्ण परिचयके साथ प्रकाशमें लाया जाय। और इस लिये मुनिजी जैसे इतिहासप्रिय विद्वानोंको उसके लिये खास तौर से प्रयत्न करना चाहिये। उसके प्रकाश में आने पर ही उसके सब गुण-दोष खुल सकेंगे और यह भी मालूम हो सकेगा कि वह असली चीज है या नकली और जाली। श्रीयुत बा० काशीप्रसादजी जायसवाल भी यथार्थ निर्णयके लिये उसकी मूल प्रतिको जल्दी देखना चाहते हैं। इस विषयमें एक पत्र उनका मुनिजीके नाम भी आया था जो उन्हें भिजवा दिया गया है।

इसके सिवाय, मैं अपने पाठकों को इतना और बतला देना चाहता हूँ कि इस लेखके अंत में लेखक महाशयने हरिवंसपराकी जिस कथामें प्रयुक्त हुए 'ऐलेय' नामके आधार पर खारवेलके वंशकी कल्पना कर डाली है वह मुनिसुव्रत भगवानके तीर्थकी और इस लिये आजसे ग्यारह लाख वर्षसे भी अधिक पहले की पुरानी बतलाई जाती है। 'ऐलेय' राजा मुनिसुव्रत भगवानका प्रपौत्र था और इस लिये हरिवंशी था। उसकी वंशपरम्परा में जितने भी राजाओंका उल्लेख मिलता है उन सबको हरिवंशी लिखा है—ऐलवंशी या ऐलेयवंशी किसीको भी नहीं लिखा और न इस नामके वंशका शास्त्रोंमें कोई उल्लेख ही मिलता है। ऐसी हालतमें महज़ शब्दछलको लिये हुए लेखक महाशयकी यह कल्पना एक बड़ी ही विचित्र मालूम होती है, जिसका कहींसे भी कोई समर्थन नहीं होता। जब तक आप प्राचीन साहित्य पर से स्पष्ट रूप में यह सिद्ध न करदें कि 'ऐल' वंश भी कोई वंश था और राजा खारवेल उसी वंश में हुआ है तब तक आपकी इस कल्पना का कुछ भी मूल्य मालूम नहीं होता। यह भी सोचने की बात है कि खारवेल यदि ऐलेयकी वंश परम्परा में होने वाला हरिवंशी होता तो वह अपने को ऐलवंशी कहने की अपेक्षा हरिवंशी कहने में ही अधिक गौरव मानता, जिस वंशमें मुनिसुव्रत और नेमिनाथ जैसे तीर्थंकरोंका होना प्रसिद्ध है। और यदि 'ऐलेय' राजाके बाद वंशका नाम बदल गया होता तो नेमिनाथ भी ऐलवंशी कहलाते परन्तु ऐसा नहीं है—स्वामी समन्तभद्र जैसे प्राचीन आचार्य भी

'हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायकः'

(स्वयंभू स्तो०) जैसे विशेषणोंके द्वारा उन्हें हरिवंशी ही प्रकट कर रहे हैं। अतः लेखककी उक्त कल्पना निर्मूल जान पड़ती है।

—सम्पादक

थेरावली-विषयक विशेष नोट—

पिछले नोटको प्रेसमें देने और उसके कम्पोज़ हो जाने के बाद हिमवंत-थेरावलीके गुजराती अनुवादको अंचल-गच्छकी पट्टावलीमें प्रकाशित करने वाले पं० हीरालाल हंसराजजी जामनगर वालोंकी ओरसे प्राप्त हुए उत्तर पत्रसे मालूम हुआ कि हिमवन्तसूरि-कृत मूल थेरावली भी अब भाषान्तर सहित छप रही है। इससे उसके शीघ्र प्रकट हो जाने की आशा है। साथ ही, श्वेताम्बर समाजके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् पं० सुखलालजीसे, जो इस समय आश्रममें तशरीफ़ रखते हैं, मालूम हुआ कि उन्होंने संदेह होने पर थेरावलीके अनुवादक उक्त पं० हीरालाल हंसराजजीसे ग्रंथकी मूल प्राचीन प्रतिकी बाबत दर्यापत किया था और यह भी पूछा था कि अनुवादके साथमें कुछ गाथाएँ देकर जो व्याख्या की गई है वह व्याख्या उनकी निजी है या किसी टीकाका अनुवाद है। उत्तरमें उनके यह लिखने पर कि वह व्याख्या टीकाका ही अनुवाद है और मूलप्रति कच्छके अंचलगच्छीय धर्मसागरजीके भंडारमें मौजूद है, जो नागौर या बीकानेरसे वहाँ पहुँची है, उस भंडारसे उसकी प्राप्तिके लिये कोशिश की गई। परंतु अनेक मार्गों से छह सात महीने तक बराबर प्रयत्न करने पर भी वह मूल प्रति अभी तक देखने को नहीं मिल सकी और न यही मालूम हो सका कि वह प्रति वहाँ मौजूद भी है या कि नहीं। अन्यत्र भी तलाश जारी है। ऐसी हालतमें जब तक मूलप्रति देखनेको न मिलजाय और उस परसे ग्रंथके असली होनेका निश्चय न हो जाय तब तक उसके प्रकाशित होने पर भी उस पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता, ऐसी उनकी तथा पं० बेचरदासजी और जिनविजयजीकी राय है। और यह ठीक ही है। सत्यके निर्णयार्थ मूल प्रतिके दिखलानेमें किसीको भी संकोच न होना चाहिये। तद्विषयक संदेहको दूर करना उसके प्रकाशकोंका पहला कर्तव्य है।

सम्पादक

युवकों से

[लेखक—श्री० कल्याणकुमार जैन 'शशि']

युवक, अब बनो न भू पर भार !

१ उठ कर शुभ सन्देश सुनाओ,
वीरों-सा नव वेश सजाओ,
क्यों सोता है देश ? उठाओ,
नवल शक्ति सञ्चार।

२ समय हुआ अति सोते सोते,
कायर बन कर रोते रोते,
गौरव-वैभव खोते खोते,
सहते अत्याचार।

३ आओ, करुणा-हस्त बढ़ाओ,
पतितों-दलितों को अपनाओ,
सब समान हैं गले लगाओ,
तज अनुदार विचार।

४ पहिन भीरुपन का जो बाना,
पड़े हुए हैं किये बहाना,
अब न छोड़ना उन्हें उठाना,
करके पाद प्रहार !

५ किन्तु सामने कई कटक हैं,
पग, पग पर उनमें कण्टक हैं,
उन्नति-मार्ग न निष्कण्टक हैं,
करना उनको प्यार।

६ सत्य मार्ग में यदपि प्रलय हो,
उसका तुम्हें न किञ्चित भय हो,
मार्ग तुम्हारा मंगल-मय हो,
सब को सुख दातार !

७ उथल-पुथल 'गुरुडम' में करना,
विपदाओं से रंच न डरना,
'शशि' बन ज्योति जगत में भरना,
करना नित्य सुधार !

युवक, अब बनो न भू पर भार !

अवतारवाद और महावीर

[ले०—श्रीमान् बा० पद्मराजजी जैन]

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

गीता का यह वाक्य एक तरह बिलकुल सत्य प्रतीत होता है, जब कि भारतवर्षमें भिन्न भिन्न मत-मतान्तरों और सम्प्रदायोंके उत्थान और पतनके इतिहास की ओर ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जाता है। यद्यपि गीताके इस वाक्यका बहुतसे विद्वानोंने अवतारवादकी पुष्टिमें उपयोग किया है तो भी अवतारवाद की नींवमें भी वही ऐतिहासिक सत्यकी झलक दिखलाई देती है। संसारमें जब जब राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक अथवा सामाजिक अत्याचारोंकी पराकाष्ठा हो जाती है, तब तब उस शक्तिसम्पन्न प्रचलित अत्याचारिणी शक्तिके विरुद्ध खड़े होनेकी भावना किसी एक व्यक्तिविशेषके हृदयमें सविशेष रूपसे जागृत हुआ करती है। और समय आने पर—उसी जन्मसे अथवा जन्मान्तर लेकर—जब उस प्रतिबन्धक शक्तिका क्रम-विकाश अथवा क्रान्तिके रूपमें प्रादुर्भाव होता है तभी संसार उस शक्तिशाली व्यक्ति को अवतार, साक्षात् ईश्वर आदि कह कर उसका अभिनंदन किया करता है। अन्यथा, एक ईश्वर जैसे अनिश्चित व्यक्ति अथवा पदार्थमें न तो कोई सन्तानका होना बन सकता है, न खुद उसका किसीकी सन्तान बनना संभव है और न शक्ति के आंशिक टुकड़े ही बन सकते हैं। भिन्न भिन्न न्यायकारोंने अपने अपने न्यायग्रन्थों में, इस विषयका विस्तृत विवेचन अनेक स्थानों पर किया है, जिसकी चर्चा की यहाँ जरूरत नहीं। अस्तु।

आजसे लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले भारतवर्ष की इस पवित्र भूमि पर दो महान् पुरुषोंका अस्तित्व दिखाई देता है—एक जैनधर्मके अधिनायक भगवान् 'महावीर' और दूसरे बौद्धधर्मके अधिष्ठाता महाराज 'बुद्ध'। इन दोनों महापुरुषोंने उस समय भारतवर्षमें प्रज्वलित हिंसाग्नि पर अहिंसाके रूपमें शान्तिकी अनंत वृष्टि कर जनताके संतप्त हृदयको शान्त करनेका पूरा प्रयत्न किया था। यदि खोजकी जाती है तो मालूम होता है कि यह अहिंसात्मक मनोवृत्ति अथवा भारतवर्ष में धर्मके नाम पर प्रचलित हिंसाके विरुद्ध एक आन्दोलन—भले ही वह आन्दोलन कितना ही क्षीण क्यों न हो—पहलेसे प्रारंभ हो चुका था। थोड़े ही दिनों बाद इन दोनों महापुरुषोंने उसी प्रतिवादात्मक मनोवृत्तिको क्रान्तिके रूपमें परिणत कर सारे देशमें अहिंसा एवं दयाकी अटल ध्वजा फहरायी थी। इसी लिये इन दोनों धर्मों के तात्कालिक रूपको यदि हम प्रतिवा-

त्मक अथवा एक प्रकार से प्रोटेस्टेन्ट (Protestant) धर्म कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

कौरव-पाण्डवोंकी सम्मिलित शक्तिसे जब भारतवर्षका साम्राज्य अत्यन्त समृद्ध तथा शक्तिशाली हो चुका था और उसके वर्तमान अधिकारियोंको अपनी शक्तिका पूर्ण अभिमान होगया था और वे समझने लगे थे कि अब संसारमें उनकी शक्तिका मुकाबला करने वाली दूसरी शक्ति नहीं है तब उनकी इस मनोवृत्तिका साक्षात् प्रमाण उस समय मिला जब कि संधि करनेके निमित्त गये हुये श्रीकृष्ण को स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया गया कि 'सूच्यग्रे न केशव' अर्थात्— 'हे केशव, हम सूई के अग्रभाग मात्र भी भूमि देनेको तैयार नहीं हैं।' उसी समय श्रीकृष्णकी प्रतिभामयी शक्ति उस अत्याचारके विरुद्ध प्रतिवाद रूपमें खड़ी हुई थी। महाभारत आज भी इस बातकी साक्षी दे सकता है कि कौरवोंकी शक्तिको परास्त करनेमें कृष्णने कोई भी बात उठा नहीं रक्खी थी। धर्मके मोटेसे मोटे और सूक्ष्मसे सूक्ष्म सिद्धान्तोंका उल्लंघन किया गया, युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी राजाको मिथ्याभाषण करनेके लिये बाध्य किया गया, शिखंडीको सामने रख अर्जुन से भीष्मकी हत्या कराई गई, सूर्यके अस्त होने पर भी अप्राकृतिक सूर्य्य दिखला कर अर्जुनसे जयद्रथका वध कराया गया, इत्यादि अनेक विषय पाए जा सकेंगे कि, जो साधारण अवस्थामें अत्यन्त ही अन्यायपूर्ण कहे जा सकते थे। परंतु वहाँ तो ध्येय केवल एकमात्र उस प्रबल शक्तिका दमन ही था, इसलिए ये सारी ही क्रियायें न्याय, उचित और विधेय समझी गयीं। यद्यपि उस समय श्रीकृष्ण एक शक्तिशाली और प्रभावशाली राजाके सिवाय और कुछ भी न थे तो भी चूंकि आगे चल कर उन्होंने एक प्रबल शक्तिके प्रतिवादकी हिरोल अपने हाथमें सँभाली थी इसी लिये उनकी गणना अवतारोंमें की गई। इस अवतारदृष्टिसे ठीक यही अवस्था भगवान महावीर और बुद्धदेवकी भी हुई। वे भी अपनी असाधारण प्रतिभा, प्रतिवादात्मक शक्ति और लोकनेतृत्वके कारण अवतार कहलाये। अन्यथा, उनके अनुयायी उन्हें सिद्धान्ततः किसी एक ईश्वरका अवतार (Incarnation) नहीं मानते।

महाभारत युद्धके बाद जब भारतवर्षमें कर्म्मकांडका प्राबल्य था, तब चारों ओर यज्ञोंकी धूम मची हुई थी, जिधर देखो उधर रक्तपातको लिये हुए बलिदान ही बलिदान दिखलाई देता था और वह भी निरीह मूक पशुओं का। जिसके पास थोड़ीसी भी शक्ति हुई, थोड़ासा भी धन हुआ, थोड़ासा भी जनबल हुआ, तो वह भी अपना जीवन तभी कृतार्थ समझता था जब कि वह कोई बड़ा सा मेध-यज्ञ करके उसमें सैकड़ों और हजारों पशुओंको बलि दे दे।

जिस समय महर्षि वेद-व्यासने महाभारतका सर्वप्रथम रूप "जय" लिखना प्रारंभ किया उस समय भी इस घोर हिंसाके विरुद्ध एक क्षीण सी प्रतिवादध्वनि उनकी लेखनी, गीता और कई उपनिषदों * में भी पायी जाती है। परन्तु संभव है उस समयके समाज के भयसे अथवा अन्य विद्वानोंके प्रतिवादके भयसे वे उस प्रतिवादको निश्चित रूप न दे सके हों, तो भी यह निश्चित है कि उस प्रतिवादध्वनि की एक क्षीण-सी मधुर झंकार सुनाई देने लगी थी। इसी ग्रंथको जब 'महाभारत' का रूप प्राप्त हुआ तब तो वह क्षीण आवाज यथेष्ट रूपमें तेज हो चुकी थी, यहाँ तक कि उसकी प्रतिध्वनि सर्वत्र नहीं तो बहुतसे स्थानोंमें अव-

* मुण्डकोपनिषद् १,२; ईशभाष्य, ६,१२; कठोपनिषद् २,५;

श्य ही सुनाई पड़ा करती थी। यद्यपि अभी तक गीता के निर्माणका समय निर्विवाद नहीं है तो भी बहुत से विद्वानोंका यह कथन है कि गीताका वर्तमानरूप ईसा से १२ सौ से ७०० सौ वर्ष पहले तकका होना चाहिये। गीता में वेदोंके क्रियाकाण्ड, यज्ञ आदिके प्रति जो प्रतिवाद ध्वनि है मैं उसे यहाँ उद्धृत कर देना चाहता हूँ। जैनधर्म के अन्यान्य महत्वपूर्ण विषयोंका सूक्ष्म-सा प्रारंभ गीताके कई स्थानोंमें देखने में आता है। इस समय बड़ी आवश्यकता है कि कुछ निष्पक्ष विद्वान् गीता का तुलनात्मक अध्ययन और तुलनात्मक समालोचन करने का प्रयत्न करें। मेरी इच्छा है और यदि मुझे समय मिला तो आगामी किसी अंकमें इस विषय पर लिखने का प्रयत्न भी करूँगा। गीता के वे श्लोक नीचे दिये जाते हैं—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥२-४२
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥-४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥-४४

इन तीनों श्लोकों का मिल कर एक वाक्य बनता है, जिसका अर्थ यह है—

'हे पार्थ! वेदों के वाक्यों में भूले हुए और यह कहने वाले मूढ़ लोग कि इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, बढ़ा कर कहा करते हैं कि "अनेक प्रकारके कर्मोंसे ही जन्मरूप फल मिलता है और भोग तथा ऐश्वर्य्य मिलता है।" स्वर्गके पीछे पड़े हुये वे काम्य बुद्धि वाले (लोग), उल्लिखित भाषणकी ओर ही उनके मन आकर्षित हो जाने से, भोग और ऐश्वर्यमें ही रा रहते हैं, इस कारण उनकी व्यवसायात्मक और कार्य-अकार्यका निश्चय करने वाली बुद्धि समाधिस्थ अर्थात् एक स्थानमें स्थिर नहीं रह सकती।'

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥२-४५

'हे अर्जुन! वेद त्रैगुण्यकी बातोंसे भरे पड़े हैं, इस लिये तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् त्रिगुणोंसे अतीत, नित्य सत्वस्थ और सुख-दुख आदि द्वंद्वोंसे अलिप्त हो एवं योग-क्षेम आदि स्वार्थों में न पड़कर आत्मनिष्ठ हो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥२-४६

'चारों ओर पानी की बाढ़ आ जाने पर कुएँ का जितना अर्थ या प्रयोजन रहता है, उतना ही प्रयोजन ज्ञानप्राप्त ब्राह्मणको सब वेदों का रहता है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥

'उस विशाल स्वर्ग लोकका उपभोग करके, पुण्य क्षय हो जाने पर वे मृत्यु लोकमें आते हैं। इस प्रकार त्रयी धर्म अर्थात् तीनों वेदोंके यज्ञ-याग आदि श्रौत धर्मके पालने वाले और काम्य उपभोगकी इच्छा करने वाले लोगोंको आवागमन प्राप्त होता है।'

जिस समय भारतवर्षके धार्मिकक्षेत्रमें उपर्युक्त मनोवृत्तिका क्रमविकाश हो रहा था, दबी आवाजसे सभी ओर अहिंसाकी भावना झलक रही थी; उसी समय भगवान् महावीरने—और महात्मा बुद्धने भी—साहसपूर्वक समाजों तथा विद्वानों और कुटुम्बियों तथा रूढियों की पर्वाह न कर हिंसाके विरुद्ध इस दबी हुई प्रतिवादात्मक मनोवृत्तिमें क्रांति उत्पन्न कर दी। इससे साधारण

व्यक्तियोंकी जो विचारधाराएँ अभी तक दबी हुई बह रही थीं वे सब महावीरकी वेगमयी सप्तभंगी वाणीके साथ पूर्ण प्रवाहके साथ बह निकलीं। उस समय जाति-पांति और छूआछूत का जो भयंकर भूत हिन्दू जातिके सर पर सवार हो गया था उसे भगवान् महावीरने दूर भगा कर संतप्त हृदय हिन्दुओंको आश्वासन-वाणी सुनाई और खड़े होकर कहा, 'ठहरो! मूक निर्बोध तथा निरपराध और निरीह पशुओंकी हत्या धर्म नहीं हो सकती। इसी तरह धार्मिक विषयोंमें जाति-पांतिका भेद भी आगे नहीं आसकता। भगवान् महावीरकी इस अभय-वाणीने धार्मिक क्षेत्रमें क्रान्ति उत्पन्न करदी। जनता तब लाखों और करोड़ों की संख्यामें एकत्र होकर महावीर के प्रतिवादात्मक अहिंसामयी झंडेके नीचे महावीरकी मधुर वाणी सुना करती थी। इसी लिये महावीरके समवसरणका वर्णन जहाँ आया है वहाँ जैनऋषियोंने चक्रवर्ती सम्राट्के बैठनेके स्थानके साथ ही साथ कुत्ते और बिल्लियों जैसे क्षुद्र प्राणियों के बैठनेके स्थानका भी निर्देश किया है। और यह उस समवसरणकी एक खास विशेषता थी जो महावीर के उदार तथा सर्वहितकारी शासनका ज्वलन्त उदाहरण बनी हुई थी और पुकार पुकार कर कह रही थी कि इस शासन में हीनसे हीन समझे जाने वाले प्राणियोंके लिए भी स्थान, त्राण और उनके उत्थानका प्रयत्न है। इसके सिवाय, महावीर ने अपनी अहिंसामयी देशनाकी घोषणा उस समय की प्रचलित अर्द्ध मागधी भाषा में की—विद्वानों तक महदूद रहने वाली संस्कृत भाषामें नहीं। और यह आपकी सर्व हितसाधनकी भावनाकी दूसरी विशेषता थी, जो बहुत रुचिकर तथा उपयोगी सिद्ध हुई। और इसीसे आज तक यह कहावत चली आती है कि महावीरके उपदेशोंको सभी लोग अपनी अपनी भाषा में समझ लिया करते थे।

इस तरह भगवान् महावीर अहिंसाके पूर्ण अवतार और लोकहितकी सच्ची मूर्ति थे। आज भी जैनियों अथवा भगवान महावीरके उपासकोंको उनके आदर्श पर चलना चाहिये, उनके मिशनको आगे बढ़ाना चाहिये, और उनकी उदारता, दृष्टि-विशालता तथा लोकहित की भावनाको अपनाकर अहिंसा की विजयपताका सर्वत्र फहरानी चाहिये। संसारमें आज भी अहिंसाके प्रचारकी खास जरूरत है।

प्यारी दाँतन

(१)

आहा! दाँतन कैसी प्यारी;
मुख-विशुद्धि करती है सारी।
दाँतों को मजबूत बनाती;
जिह्वा का मल दूर भगाती॥

(२)

नीम की हो या हो कीकर की;
उपयोगी वा काष्ठेतर की।
ताजी तरुसे लाई होवे;
धो-धा साफ बनाई होवे॥

(३)

कोमल कूर्चसहित जब फिरती;
दाँतों पर सुनृत्य-सा करती।
दन्त-मैल तब चुग चुग हरती;
निर्मल कर सुदृष्टि-रस भरती॥

(४)

मुखसे सब दुर्गन्ध बहाती,
ईश-भजनके योग्य बनाती।
हलका रखती रोग नशाती;
फिर वह कौन जिसे नहीं भाती?

—'युगवीर'

जैन-भूगोलवाद

[ले०—श्री० बाबू घासीरामजी जैन एम.एस.सी. प्रोफेसर 'भौतिकशास्त्र']

" Modern Orientalists have found it difficult to dentify these 'Continents' and 'seas' and failing to understand the text, have jumped to the conclusion that the Jains were hopelessly ignorant of geography.

—Key of Knowledge

(जैनभूगोल में वर्णन किए हुए द्वीप-समुद्रों का पता लगाना इतना कठिन हो गया है कि आधुनिक विद्वान, शास्त्रों को पूर्ण रूप से न समझ सकने के कारण, इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जैनाचार्यों को भूगोलविषय का बिलकुल भी ज्ञान नहीं था)

निस्संदेह इस विद्युत्, वायु और वाष्प के युग में जैनभूगोल का जितना अपवाद हुआ है और उसके कारण से जो क्षति पहुँची है वह किसी से छिपी नहीं। जब कि समाज के बड़े बड़े पंडितों से भी प्रकृत विषयका गहरा अभ्यास न होनेके कारण, इस विषय की अनेक शंकाओं का यथेष्ट उत्तर नहीं दिया जाता तो जैनधर्मके साधारण अभ्यासियोंकी श्रद्धा यदि डगमगा जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? कोई २ तो नासमझीसे अथवा द्वेषवश अभी तक इस चर्चाकी अच्छी मखौल उड़ाया करते हैं। आज हम केवल इस विषय पर अपने विचार प्रकट करना चाहते हैं कि जैन-भूगोलके इस विरोध व अवमानता का सम्भवतः क्या कारण विशेष हो सकता है।

विश्व की मूल आकृति तो कदाचित् अपरिवर्तनीय हो किन्तु उसके भिन्न भिन्न अंगों की आकृतिमें सर्वदा परिवर्तन हुआ करते हैं। ये परिवर्तन कुछ छोटे मोटे परिवर्तन नहीं किन्तु कभी २ भयानक हुआ करते हैं। उदाहरणतः भूगर्भशास्त्रियोंको हिमालय पर्वतकी चोटी पर वे पदार्थ उपलब्ध हुए हैं जो समुद्र की तली में रहते हैं। जैसे सीप, शंख, मछलियों के अस्थिपञ्जर प्रभृति। अतएव इससे यह सिद्ध हो चुका है कि अब से ३ लाख वर्ष पूर्व हिमालय पर्वत समुद्र के गर्भमें था। स्वर्गीय पंडित गोपालदासजी वरैय्या अपनी "जैनजागरफी" नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"चतुर्थ कालके आदिमें इस आर्यखंडमें उपसागर की उत्पत्ति होती है जो क्रमसे चारों तरफको फैल कर आर्य्य खण्ड के बहुभाग को रोक लेता है। वर्तमानके एशिया, योरोप, अफ्रिका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया यह पांचों महाद्वीप इसी आर्य्यखंड में हैं। उपसागरने चारों ओर फैलकर ही इनको द्वीपाकार बना दिया है। केवल हिंदुस्तान को ही आर्य्यखंड नहीं समझना चाहिये।"

अबसे लेकर चतुर्थकालके आदि तककी लगभग वर्ष संख्या १४३ के आगे ६० शून्य लगाने से बनती है। अर्थात् उपसागर की उत्पत्ति से जो भयानक परिवर्तन धरातल पर हुआ उसको इतना लम्बा काल बीत गया, और तब से भी अबतक और छोटे २ परिवर्तन भी हुए ही होंगे। जिस भूमि को यह उपसमुद्र घेरे हुए है वहाँ पहले स्थल था ऐसा पता आधुनिक भू-शास्त्रवेत्ताओंने भी बताया है जो गौंडवाना लैंड-सिद्धान्त Gondwa-

...land Theory के नामसे सुप्रसिद्ध है। अभी इस गोंडवाना लैंडके सम्बन्धमें जो जो विवाद ब्रिटिश ऐसोशिएशनकी भूगर्भ, जन्तु व वनस्पति विज्ञानकी सम्मिलित मीटिंग में हुआ है उसका मुख्य अंश हम पाठकों की जानकारी के लिये उद्धृत करते हैं। सिद्धान्त इस प्रकार है कि किसी समय में, जिसकी काल गणना शायद अभी तक नहीं की जासकी, एक ऐसा द्वीप विद्यमान था जो दक्षिणी अमेरिका और अफ्रिका के वर्तमान द्वीपोंको जोड़ता था और जहाँ आजकल दक्षिणी अटलांटिक महासागर स्थित है। इस खोए हुए द्वीप को गोंडवाना-लैंड के नाम से पुकारते हैं और इसमें हमारे उपसागर-उत्पत्ति सिद्धान्त की पुष्टि होती है:—

"Professor Watson, president of the Zoology Section, treated the question from the biological point of view. He traced certain marked resemblances in the reptile life in each of two existing continents, quoting among other examples, the case of the decynodon, the most characteristic of the snakes of the Karroo, which was found also in South America, Madagaskar, India and Australia. He went on to deduce from the peculiar similarity in the flora, reptiles and glacial conditions that there must have been some great equational continent between Africa & South America, possibly extennding to Australia. The professor mentioned, further, an interesting resemblance in animal life to bear out the Gondwanaland theory, the ling fish, which can live out of water as well as in it, is found in fresh water only in South Africa and South America, the two species being almost indistinguishable. Dr. Du Toit (South Africa) declared that the former existence of Gondwanaland was almost indisputable......"

'अर्थात्—प्रोफेसर वाटसन ने प्राणि-विज्ञान की अपेक्षादृष्टि से विवेचन करते हुए बतलाया कि इन द्वीप-महाद्वीपोंमें पाए जानेवाले कृमियों (Reptiles) में बड़ी भारी समानता है। उदाहरणस्वरूप कारूका विचित्र सांप दक्षिणी अमेरिका, मैडागास्कर (अफ्रिका का निकटवर्ती अन्तरद्वीप) हिन्दुस्तान और आस्ट्रेलिया में भी पाया जाता है। अतएव उन्होंने इन प्रमाणोंद्वारा यह परिणाम निकाला कि दक्षिणी अमेरिका अफ्रिका और सम्भवतः आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ भूमध्यरेखाके निकटवर्ती कोई महाद्वीप अवश्य था जो अब नहीं रहा। इसी के समर्थनमें उन्होंने एक विशेष प्रकार की मछली का भी बयान किया जो जल के बाहर अथवा भीतर दोनों प्रकार जीवित रहती है। तत्पश्चात् दक्षिण अफ्रिका के डा० डुटोने अनेक प्रमाणों सहित इस बात को स्वीकार किया कि गौंडवाना लैंड की स्थिति के सम्बन्ध में अब कोई विशेष मत भेद नहीं है।'

समय समय पर और भी अनेक परिवर्तन हुए हैं यह दिखलाने के लिए "वीणा" वर्ष ३ अंक ४ में प्रकाशित एक लेखका कुछ अंश उद्धृत करते हैं जिसका हमारे वक्तव्य से विशेष सम्बन्ध है:—

"सन १८१४में "अटलांटिक" नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसमें भारतवर्षके चार चित्र बनाए गए हैं......पहले नकशे में ईसा के पूर्व १० लाख से ८ लाख वर्ष तक की स्थिति बताई गई है। उस समय

सुभाषित-मणियाँ

प्राकृत—

भावरहिओ न सिज्झइ जइवि तवं चरइ कोडि-
कोडीओ। जम्मंतराइं बहुसो लंबियहत्थो ग-
लियवत्थो ॥ —कुन्दकुन्दाचार्य।

'भाव रहितको सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती, भले ही वह बिलकुल नग्न हुआ हाथोंको लम्बे किये करोड़ों जन्म तक नाना प्रकार के तपश्चरण ही क्यों न करता रहे।'

परिणामम्मि असुद्धे गंथं मुंचेई बाहरे य जई।
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥
—कुन्दकुन्दाचार्य।

'यदि परिणाम अशुद्ध है—राग, द्वेष अथवा विषय कषायादिकसे मैला है—और बाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है तो वह बाह्य परिग्रहका त्याग उस आत्मभावनासे रहित साधुके किस कामका है? — उससे आत्मसिद्धिकी कुछ भी प्राप्ति नहीं हो सकती।'

ए पंचेंदियकरहडा जिय मोकला म चारि।
चरिवि असेसु वि विसयवणु, पुणु पाडहिं संसारि॥
—योगीन्द्रदेव।

'हे आत्मन्, इन पंचेन्द्रिय रूपी ऊँटोंको स्वच्छंदता से मत चरने दे—अपने वशमें रख। नहीं तो ये संपूर्ण विषय-वनको चर कर तुझे योंही संसारमें पटक देंगे।'

जइ देवो वि य रक्खइ मंतो तंतो य खेत्तपालो य।
मियमाणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होंति ॥
—स्वामिकार्तिकेय।

'मरते हुए मनुष्यकी यदि कोई देव, मंत्र, तंत्र या क्षेत्रपाल रक्षा कर सकता तो ये मनुष्य अक्षय—अमर—हो जाते।'

(इससे स्पष्ट है कि मरण अवश्यभावी है—मरनेसे बचाने वाला कोई नहीं है। अतः मृत्यु से भयभीत होकर किसी भी देवी-देवता के शरण में जाना या मन्त्र तन्त्रादिकका आश्रय लेना निरर्थक है।)

भल्लाहं वि णासंति गुण, जहं संसग्ग खलेहिं।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ, तें पिट्टियइ घणेहिं ॥
—योगीन्द्रदेव।

'दुर्जनोंके संसर्गसे भले आदमियोंके भी गुण नष्ट हो जाते हैं। सो ठीक ही है, अग्नि जब लोहे से मिलती है तो वह घनों से पीटी जाती है।'

कोधो माणो माया लोभो य दुरासया कसायरिऊ।
दोससहस्सावासा दुक्खसहस्साणि पावंति ॥
—वट्टकेराचार्य।

'क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय-शत्रु दुष्टाश्रयको लिये हुए सहस्रों दोषोंके निवासस्थान हैं, (और इस लिये) ये ही जीवोंको सहस्रों दुःख प्राप्त कराते हैं।'

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥
—दशवैकालिक सूत्र।

'धर्म उत्कृष्ट मंगल है और वह अहिंसा, संयम तथा तपरूप है। जिसका मन धर्ममें सदा लीन रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।'

(इससे अपना मंगल चाहने वालोंको सदा अहिंसा, संयम और तपकी आराधना करनी चाहिये।).

संस्कृत—

हृतोऽपि चित्ते प्रसभं सुभाषितैः
न साधुकारं वचसि प्रयच्छति ।
क्व शिष्यमुत्सेकभियावजानतः
पदं गुरोर्धावति दुर्जनः क्व सः ॥

—महाकवि धनंजय ।

'दूसरेके सुभाषितोंसे—उसके अच्छे सुन्दर हृदय-ग्राही वचनोंको सुन कर—चित्तके बलात् हरे जाने—पूर्ण संतुष्टिलाभ करने—पर भी एक दुर्जन वचनसे उसकी प्रशंसा नहीं करता है तो, इसमे वह उस गुरु की पदवी को प्राप्त नहीं हो जाता जो शिष्यके सुभाषितसे संतुष्ट होकर भी इस भयसे उसकी सराहना न करके अवगणना करता है कि कहीं अपनी प्रशंसाको सुनकर उसमें अहंकारका उदय न हो जाय—जो पतनका कारण एवं भावी उन्नतिका बाधक है ।' (क्योंकि दुर्जनका ऐसा अभिप्राय नहीं हो सकता। उसके प्रशंसा न करने का दूसरा ही हेतु है और वह है ईर्षा, डाह आदि—वह दूसरे के कीर्तिप्रसर को देख नहीं सकता, सह नहीं सकता और इसलिये उसमे किसी प्रकार से भी सहायक होना नहीं चाहता । इससे स्पष्ट है कि संतुष्टिलाभ और प्रशंसा न करने का कार्य उभयत्र समान होने पर भी गुरु गुरु ही है और दुर्जन दुर्जन ही, दोनोंके परिणामोंमें ज़मीन आस्मानका सा अन्तर है ।)'

अपकुर्वति कोपश्चेत् किं न कोपाय कुप्यसि ।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने ॥

—वादीभसिंहाचार्य ।

'यदि अपकार करने वाले पर कोप करना है तो फिर कोप पर ही कोप क्यों नहीं करते, जो कि त्रिवर्गका—धर्म-अर्थ-कामका —, अपवर्गका— मोक्षका—और जीवनका ही नाश करने वाला है ?—उससे अधिक अनिष्ट करने वाला और कौन है ?'

('क्रोधो मूलमनर्थानां' जैसे वाक्योंके द्वारा कोपको अनर्थोंका मूल कहा गया है । कोप पर कोप करना ही वास्तवमें क्षमा धारण करना है, जो सर्व सुख-शांतिका मूल है ।)

"यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा ।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥"

'यदि तुम एक ही कर्म द्वारा जगत्को वशमें करना चाहते हो तो अपनी वाणी रूपी गौको परापवाद रूपी धान्य को चरने से रोको—अर्थात् द्वेषभावको लेकर दूसरोंकी निन्दा, अपवाद अथवा बुराई मत किया करो ।'

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता ।
कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि ॥

—वादीभसिंहाचार्य ।

'दूसरोंके दोषोंकी तरह जो अपने दोषों को भी अच्छी तरह से देखता है—उनकी सम्यक् आलोचना करता है—उसकी बराबरी करने वाला कौन है ? वह तो शरीरसे युक्त होने पर भी वास्तवमें मुक्त है—मुक्त होने की योग्यतासे युक्त है ।'

(जो लोग अपने दोषोंको ही नहीं पहचानते वे उनसे मुक्त भी नहीं हो सकते ।)

"न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं तु पुनरारुह्य यदि जीवति स पश्यति ॥"

'मनुष्य संशयमें पड़े बिना—खतरा, जोखम या संकट उठाए बिना—कल्याणका दर्शन नहीं करता है । हाँ, संशयमें पड़नेके बाद यदि जीवित रहता है तो वह अवश्य उसका दर्शन करनेमें समर्थ हो जाता है ।

संस्कृत—

हृतोऽपि चित्ते प्रसभं सुभाषितैः
न साधुकारं वचसि प्रयच्छति ।
क्व शिष्यमुत्सेकभियावजानतः
पदं गुरोर्धावति दुर्जनः क्व सः ॥

—महाकवि धनंजय ।

'दूसरेके सुभाषितोंसे—उसके अच्छे सुन्दर हृदयग्राही वचनोंको सुन कर—चित्तके बलात् हरे जाने—पूर्ण संतुष्टिलाभ करने—पर भी एक दुर्जन वचनसे उसकी प्रशंसा नहीं करता है तो, इससे वह उस गुरु की पदवी को प्राप्त नहीं हो जाता जो शिष्यके सुभाषितमें संतुष्ट होकर भी इस भयसे उसकी सराहना न करके अवगणना करता है कि कहीं अपनी प्रशंसाको सुनकर उसमें अहंकारका उदय न हो जाय—जो पतनका कारण एवं भावी उन्नतिका बाधक है।' (क्योंकि दुर्जनका ऐसा अभिप्राय नहीं हो सकता। उसके प्रशंसा न करने का दूसरा ही हेतु है और वह है ईर्षा, डाह आदि—वह दूसरे के कीर्तिप्रसर को देख नहीं सकता, सह नहीं सकता और इसलिये उसमें किसी प्रकार से भी सहायक होना नहीं चाहता। इससे स्पष्ट है कि संतुष्टिलाभ और प्रशंसा न करने का कार्य उभयत्र समान होने पर भी गुरु गुरु ही है और दुर्जन दुर्जन ही, दोनोंके परिणामोंमें जमीन आस्मानका सा अन्तर है।)'

अपकुर्वति कोपश्चेत् किं न कोपाय कुप्यसि ।
त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने ॥

—वादीभसिंहाचार्य ।

'यदि अपकार करने वाले पर कोप करना है तो फिर कोप पर ही कोप क्यों नहीं करते, जो कि त्रिवर्गका—धर्म-अर्थ-कामका —, अपवर्गका—मोक्ष का—और जीवनका ही नाश करने वाला है?—उस से अधिक अनिष्ट करने वाला और कौन है?'

('क्रोधो मूलमनर्थानां' जैसे वाक्योंके द्वारा कोपको अनर्थोंका मूल कहा गया है। कोप पर कोप करना ही वास्तवमें क्षमा धारण करना है, जो सर्व सुख-शांतिका मूल है।)

"यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा ।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥"

'यदि तुम एक ही कर्म द्वारा जगत्को वशमें करना चाहते हो तो अपनी वाणी रूपी गौको परापवाद रूपी धान्य को चरने से रोको—अर्थात् द्वेषभावको लेकर दूसरोंकी निन्दा, अपवाद अथवा बुराई मत किया करो।'

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता ।
कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि ॥

—वादीभसिंहाचार्य।

'दूसरोंके दोषोंकी तरह जो अपने दोषों को भी अच्छी तरह से देखता है—उनकी सम्यक् आलोचना करता है—उसकी बराबरी करने वाला कौन है? वह तो शरीरसे युक्त होने पर भी वास्तवमें मुक्त है—मुक्त होने की योग्यतासे युक्त है।'

(जो लोग अपने दोषोंको ही नहीं पहचानते वे उनसे मुक्त भी नहीं हो सकते।)

"न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं तु पुनरारुह्य यदि जीवति स पश्यति ॥"

'मनुष्य संशयमें पड़े बिना—खतरा, जोखम या संकट उठाए बिना—कल्याणका दर्शन नहीं करता है। हाँ, संशयमें पड़नेके बाद यदि जीवित रहता है तो वह जरूर उसका दर्शन करनेमें समर्थ हो जाता है।

हिन्दी—

चेतन चित-परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ ।
कन बिन तुस जिमि फटकतैं, आवै कछु न हत्थ ॥
× × —रूपचंद ।

बालपनै न सँभार सक्यो कछु, जानत नाहिं हिताहित हीको;
यौवनवैस वसी वनिता उर, कै नित राग रह्यो लछमीको ।
यों पन दोय विगोइ दये नर, डारत क्यों नरकै निज जीको;
आये हैं 'सेत' अजौं मठ चेत, 'गई सुगई अब राख रहीको' ॥
× × —भूधरदास ।

मनमें प्रण हो पक्का, फिर विघ्नोंका जरा नहीं डर है ।
कायर-क्षुद्रहृदय को, विघ्न भयंकर पिशाच बनते हैं ॥
साधन हैं यदि थोड़े, तो भी अपना सुलक्ष्य मत छोड़ो ।
आगे क़दम बढ़ाओ, वहीं मिलेंगे अवश्य ही साधन ॥
× × —दरबारीलाल ।

कोटि करम लागे रहें, एक क्रोधकी लार ।
किया कराया सब गया, जब आया हंकार ॥
× × —कबीर ।

बड़ी नीत लघु नीत करत है, बाय सरत बदबोय भरी ।
फोड़ा आदि फुनगनी मंडित, सकल देह मनो रोग-दरी ॥
शोणित-हाड़-मांसमय मूरत, तापर रीझत घरी-घरी ।
ऐसी नारि निरखकर केशव, 'रसिकप्रिया' तुम कहा करी ?
× × —भैयाभगवतीदास ।

करत करत अभ्यासके, जड़मति होत सुजान ।
रसरी आवत जात तैं, सिल पर परत निसान ॥
× × —वृन्द ।

तुलसी साथी विपतके, विद्या विनय विवेक ।
साहस सुकृत सत्यव्रत, राम भरोसो एक ॥
× × —तुलसीदास ।

क्या मुँह ले हँसि बोलिये, दादू दीजे रोय ।
जनम अमोलक आपणा, चले अकारथ खोय ॥
× × दादूदयाल ।

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षोंतक जीऊँ या मृत्यु आज ही आजावे ।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्यायमार्गसे मेरा कभी न पद डिगने पावे ॥
× × —'युगवीर'

उर्दू—

होती है सचकी क़द्र[1] पै बेक़द्रियों के बाद ।
इसके ख़िलाफ़[2] हो तो समझ उसको शाज़[3] है ॥
× × —'हाली' ।

"ज़िंदगी ज़िन्दादिली का नाम है ।
मुर्दादिल ख़ाक जिया करते हैं !"
× × ×

दुश्मन से बढ़ के कोई नहीं आदमी का दोस्त ।
मंज़ूर अपने हाल की इसलाह[4] हो अगर ॥
× × —'हाली' ।

"जो छिपाते हैं हक़[5] अंदेशा-ए-रुसवाई[6] से ।
घात में उनके लगी बैठी है रुसवाई भी ॥"
× × —'हाली' ।

दोस्त अगर भाई न हो दोस्त है तो भी लेकिन ।
भाई गर दोस्त नहीं, तो नहीं कुछ भाई भी ॥
× × —'हाली' ।

जानो दिल क़ौम पै अपना जो फ़िदा[7] करते हैं ।
कहीं रुसवाई से वे लोग डरा करते हैं ?
क़ौमे मुर्दा में किसी तरह से जाँ पड़ जाए ।
हम शबोरोज़[8] इसी धुन में रहा करते हैं ॥
× × —मंगतराय ।

फल तो दो दिन बहारे ज़िन्दगी दिखला गये ।
हसरत[9] उन ग़ुंचों[10] पै है जो बिन खिले मुरझा गये ॥
× × —'ज़ौक़' ।

"क़िस्मत की ख़ूबी देखो कि टूटी कहाँ कमन्द[11] ।
दो एक हाथ जब कि लबे बाम[12] रह गया ॥"
× × ×

यह चमन[13] यों ही रहेगा और हज़ारों जानवर
अपनी अपनी बोलियाँ सब बोलकर उड़ जायँगे ॥
× × ×

दस्तेसवाल[14] सैकड़ों ऐबों[15] का ऐब है ।
जिस दस्त में यह ऐब नहीं वह दस्तेग़ैब है[16] ॥
× × —ग़ालिब ।

१ प्रतिष्ठा २ विरुद्ध. ३ असाधारण. ४ सुधारणा. ५ सत्यको ६ अपकीर्ति के भय से ७ बलिदान ८ रात दिन. ९ अफसोस-खेद १० कलियों. ११ रस्सी १२ कोठे के निकट. १३. उपवन-बाग़ १४ याचना का हाथ १५ दोषों. १६ अदृश्य का हाथ ।

'अनेकान्त' पर लोकमत

५२ पं० हंसराजजी शर्म्मा, बिलगा (जालंधर)—

"'अनेकान्त' के दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। अनेकान्त पत्ररूप भास्करकी इन चार किरणों ने मेरे हृदय को इतना प्रफुल्लित किया है कि उसका वर्णन करना इस मूक लेखिनी के सामर्थ्य से बाहिर है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि आपके सम्पादकत्त्व में नियमित रूपसे इस पत्र का प्रकाशन होता रहा तो वर्तमान जैन-समाजमें चिरकाल से घुसा हुआ मोहान्धकार दूर होगा, इतना ही नहीं किन्तु जैनधर्म का सदियोंसे खोया हुआ तात्त्विक और व्यावहारिक गौरव भी उसे फिरसे प्राप्त होगा। एवं प्राचीन समयकी भान्ति संसारके सभी प्रतिष्ठित धर्मों में उसका आसन अपने विशिष्ट गुणों द्वारा एक असाधारण स्थानको ग्रहण करेगा। मुझे विश्वास है कि 'अनेकान्त' की उज्वल नीति, सुचारु सम्पादन और सद्भावसे प्रेरित अन्तःकरण की निर्मलवृत्ति अपना प्रभाव दिखाये बिना न रहेगी। अनेकान्तके गवेषणापूर्ण लेखों और सारगर्भित हृदयग्राहि-टिप्पणियों आदिके सम्पादन द्वारा आपने जैन-समाजकी पवित्र सेवाका जो श्रेय प्राप्त करनेकी मनमें ठानी है तदर्थ आपको अनेकानेक साधुवाद। अन्तमें जैनसमाजके नेताओं विशेषतः वदान्य व्यक्तियों और प्रतिष्ठित विद्वानोंसे भी मैं सविनय निवेदन करता हूँ कि वे सज्जन धन और ज्ञानका दिल खोल कर इस महा ज्ञान सत्रमें पर्याप्त रूपसे उपयोग करें।"

५३ पं० प्रज्ञारत्नजी, न्यायतीर्थ, धर्मशास्त्री (भूतपूर्व कमलकिशोर), खुरई—

"मैंने 'अनेकान्त'(सूर्य)की ४ किरणोंसे जब जैनपत्रों को (तुलनाकरके) देखा तो तमाम जैनपत्र दीप किरण नजर आये। मुझे इन किरणोंसे जो रोशनी मिली है उससे मेरा इतिहास-सम्बन्धी अंधकार दूर होता जाता है। यह पत्र यदि सामाजिक झगड़ोंमें बिना पड़े आगे बढ़ा तो मुझे विश्वास है कि संसारमें इसकी किरणें अपूर्व रोशनी पैदा कर देंगी। आपने इस पत्रको निकाल कर जो अनेकान्तकी सेवाका भार उठाया है उसके लिये मैं हृदयसे स्वागत करता हूँ और आशा रखता हूँ कि यह पत्र दिन दूना उन्नतिशील होगा।"

५४ लाला मूंगालाल हज़ारीलालजी बज़ाज़, खुरई जि० सागर—

"'अनेकान्त' की चार किरणोंके अवलोकन से हमें जो आनन्द हुआ है वह लिखा नहीं जा सकता। जैनहितैषी के अभावसे जो साहित्य-पिपासा झुलसी गई थी वह फिर हरी भरी हो गई है। आपके इस सत्प्रयासकी क़दर इस समयकी बहकी हुई

बूढ़ी चंदेरी और हमारा कर्त्तव्य

[लेखक—धर्मरत्न पं० दीपचंदजी वर्णी]

पाठक 'अनेकान्त'की दूसरी किरणमें 'देवगढ़' का हाल पढ़ चुके हैं, मैं भी अर्सेसे वहाँके मंदिर-मूर्तियोंकी भूरि भूरि प्रशंसा पत्रों द्वारा तथा दर्शकोंके मुखसे सुनता आ रहा था और उससे प्रेरित हो कर मुझे भी वहाँ के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। दर्शन करने पर मुझे उस सुनी हुई प्रशंसाका मूल्य मालूम पड़ा और मैंने उन मंदिर-मूर्तियोंको उससे कहीं सहस्रगुणी प्रशंसाके योग्य पाया है। परंतु उनके दर्शनसे जितना आनन्द हुआ उससे अधिक दुःख तथा खेद समाजकी उदासीनता और अकर्मण्यता को देख कर हुआ, जिसके कारण वह अभी तक उस पवित्र क्षेत्र की रक्षार्थ कुछ भी उल्लेखयोग्य कार्य नहीं कर सका है। निःसन्देह समाजकी यह उदासीनता और अकर्मण्यता उसके प्राचीन गौरव को लुप्त करनेके लिये बहुत बड़ा काम कर रही है और इससे धर्म तथा धर्मायतनोंके प्रति उसके भक्तिभाव की स्थिति बहुत ही दयनीय जान पड़ती है। अस्तु; आज मैं अनेकान्तके पाठकों को एक ऐसे ही दूसरे क्षेत्रका परिचय कराना चाहता हूँ जो देवगढ़से कुछ कम महत्व नहीं रखता और जिसकी हालत और भी ज्यादा शोचनीय हो गई है। यह क्षेत्र है 'बूढ़ी चँदेरी'।

चंदेरीके नामसे, यद्यपि, हमारे भाई आम तौरसे परिचित हैं और जो लोग थोबनजी आदि की यात्रा को जाते हैं वे रास्तेमें चन्देरीके भी जरूर दर्शन करते हैं; परंतु 'बूढ़ी चँदेरी' से, जिसे राजा शिशुपालकी 'पुरानी चंदेरी' भी कहते हैं, बहुतही कम भाई परिचित होंगे। यह क्षेत्र जङ्गली कच्चे रास्ते पर वर्तमान चंदेरीसे १०–१२ मीलके फ़ासले पर स्थित है। २० अप्रेल सन् १९२४को मुझे इसके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस पुरातन क्षेत्रका पता मुझे चंदेरीके एक बालकने दिया था, और जब मैंने वहाँके दर्शनोंकी इच्छा प्रकट की तो चंदेरीके भाईयोंने मुझे यह डरावा दिया कि स्थान बहुत दूर है, वहाँ कुछ नहीं है, जंगल है, शेर लगता है, रास्ता नहीं है, इत्यादि। परंतु जब मेरा अत्याग्रह देखा तो १०–१२ भाई बैल गाड़ियाँ लेकर मेरे साथ हो लिये। सौभाग्यसे उन दिनों मार्ग सुधारा गया था; क्योंकि कुछ ही दिन पहले ग्वालियरनरेश वहाँ शेरके शिकार को गये थे और उन्हें वहाँके अतिशय अथवा दैवयोगसे शिकारकी प्राप्ति नहीं हुई थी—वे दो तीन दिन यों ही भटक-भटकाकर खेदित हुए लौट आये थे। इसमें शक नहीं कि रास्ता खराब तथा जंगली है, जंगली जानवरोंका संचार भी रहता होगा; क्योंकि यह स्थान अब बिलकुल जनशून्य बियाबान जंगल हो गया है। परन्तु ऐसा नहीं है कि वहाँ जा न सकें।

हम लोग लगभग १२ बजे दिनके वहाँ पहुँच गए थे। पहुँचते ही प्रथम एक भग्नावशेष कोट मिला, उसमें होकर आगे बढ़े, तब दूसरा कोट मिला, फिर और आगे बढ़ने पर तीसरा कोट मिला। इन कोटों की दीवारें पत्थर की हैं जो गिरते गिरते मनुष्य के बराबर रह गई हैं। इन्हें पारकर जब अंदर गए तो देखा कि जहाँ तहाँ बड़े बड़े चौकोर तथा लम्बे पत्थरोंके ढेर के ढेर पड़े हुए हैं। हमलोग यह समझकर उनपर चढ़ गए थे कि पुराने इमारती पत्थर होंगे जो कि इमारतों

के गिरनेसे गिर गये होंगे, और उनके अलग अलग ढेर लगा दिये गये होंगे इसलिये इन ढेरों पर चढ़कर देखें कि यहाँ जिन मंदिरों और जिनप्रतिमाओंके कोई चिन्ह मिलते हैं या कि नहीं। परंतु अनजानमें हम लोगोंसे एक बड़ा पाप बन गया। वास्तवमें वे पत्थर निरे पत्थर ही नहीं थे किन्तु उनकी दूसरी ओर जिन-प्रतिमाएँ भी उकेरी हुई थीं, जो कि बिलकुल देवगढ़ केही सदृश उसी प्रकारके शिल्पको लिये हुए अत्यन्त मनोज्ञ थीं। बहुत सी प्रतिमाएँ तो उनमें प्रायः सांगोपांग पूजने योग्य थीं; मात्र किसी का नख किसीका नासाग्रभाग तथा किसी की अँगुलीका पोरा भग्न था और कोई कोई बिलकुल अखंडित भी थीं। इनके सिवाय कोई मस्तकविहीन, कोई पदविहीन और कोई करविहीन भी थीं; जिन सबके आकार और कारीगरी को देख कर हृदय गद्गद हो जाता था। जान पड़ता था कि देवगढ़ और यहाँका निर्माता कोई एक ही महापुरुष होगा। यहाँ ऐसे अनेकों ढेर दूर दूर तक पड़े हैं। कितने ही ढेरोंमें से मूर्ति-पाषाणोंको उठा उठा कर देखा गया और फिर यह समझ कर उन्हें ज्योंका त्यों रख दिया गया कि कहीं कोई आततायी उन्हें कुछ और न बिगाड़ देवे। कई छोटे छोटे मंदिर अभी तक खड़े भी हैं जिनमें तीन तरफ वैसे ही पत्थर लगे हैं जो कि बाहरकी ओर तो सपाट और भीतर की तरफ जिनपर मूर्तियाँ उकेरी हुई हैं, सामने जिनके चौखट तथा ऊपर पत्थरोंका शिखराकार पटाव है और जो पत्थरोंकी संधियों को बिना चूनेके ही परस्पर मिलाकर खड़े किये गये हैं। मालूम होता था कि इसी प्रकारके मंदिरोंके गिरनेसे मूर्ति वाला भाग नीचे दब गया और सपाट पृष्ठ भाग ऊपर रह गया तथा शिखरके पत्थर भी ऊपर गिर गये,जिससे पत्थरों जैसे ढेर हो गये और इस तरह कितने ही ढेर बन गये जो दूर तक चले गये हैं।

इन मंदिरोंसे आगे बढ़ कर नीचे की ओर एक सुन्दर पहाड़ी पर नदी बह रही है और ऊपरकी ओर तीनों तरफ पहाड़ी दृश्य है। यह स्थान बहुत रम्य तथा सुरक्षित है। हम लोग वहाँ दो तीन घंटे फिर कर देखते रहे, वहीं नदीके किनारे सबने भोजन-पान किया और फिर संध्या हो जाने तथा जंगलके कारण वहाँसे वापिस चंदेरी आगये।

यदि कोई पुरातत्त्ववेत्ता सज्जन इस स्थान पर पधारें और खोजका कार्य करें तो उनको यहाँ से बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री मिल सकती है। खेद है समाज का इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं है। समाजका कर्तव्य है कि वह शीघ्र ही इस क्षेत्र की खोज कराए और ग्वालियर सरकारसे अधिकार प्राप्त करके उसका प्रबन्ध करे। वहाँ हजारों की संख्यामें मनोज्ञ प्रतिमाएँ हैं जो दर्शनीय तथा पूजनीय भी हैं। पूछने पर यह भी मालूम हुआ कि वहाँ आसपासके जंगलोंमें और भी बहुत सी प्रतिमाएँ इधर उधर पड़ी तथा मिट्टी आदिके नीचे दबी हुई हैं, जिन सबके खोज करने की और उन्हें व्यवस्थित रूपसे रखने की बड़ी आवश्यकता है।

इसी तरह छत्तीसगढ़ डिवीजन तथा कटककी ओर भी जंगलों में बहुत जैन प्रतिमाएँ पाई जाती हैं जो अत्यन्त प्राचीन हैं। रायपुर व उसके पास आरंगमें, अलकतराके पास रतनगढ़में, सहडोलमें, बिलासपुरमें, डोंगरगढ़में, बामोराके एक कुएँमें और और भी अनेक स्थानों पर पहाड़ियों में, जंगलों में, गुफाओंमें दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ मौजूद हैं, जो सब जैनियोंके प्राचीन गौरव तथा उनके अभ्युदयको सिद्ध करने वाली हैं और भू-गर्भ में भी जैनियोंके इतिहासकी बहुतसी सामग्री

भरी पड़ी है। ईडर से १२ मीलके क़रीब, केशरिया (ऋषभदेव) को जाते हुए मार्गमें एक भीलोडा ग्राम है, वहाँका मंदिर अति विशाल ५२ शिखरका केशरियाके मंदिरसे भी बड़ा है। उसके दर्वाजे पर चार खन की भूलौनी सकलकीर्ति-द्वारा प्रतिष्ठित है। इस विषय में यदि अधिक खोज की जाय तो जैनियोंकी बहुतसी पुरातन कीर्तियोंका पता चल सकता है और उससे जैनियोंकी प्राचीनता ही नहीं किन्तु उनकी व्यापकता, समृद्धता और लोकमान्यता भी सिद्ध होगी। इसके लिये जैनियों का कर्तव्य है कि वे अपना एक जुदा ही पुरातत्त्वविभाग खोलें और जो शक्ति इधर उधर अनावश्यक कार्मोंमें लग रही है उसे धर्म तथा समाजका गौरव क़ायम रखने वाले और मृतप्राय हृदयोंमें फिरसे प्राण तथा नवजीवनका संचार कराने वाले ऐसे ठोस कार्मोंमें लगाएँ।

उसी पुरातत्त्वविभागके द्वारा प्राचीन जैनसाहित्य की खोज और उसके उद्धारका कार्य भी होना चाहिये नागौर, आमेर आदिके प्राचीन शास्त्रभंडारोंको खुलवाना चाहिये। यदि प्रबंधक न खोलें तो राज्यकी मदद लेकर खुलवाना चाहिये; क्योंकि जैनशास्त्र भले ही किसी के पास सुरक्षित रखनेके लिए सौंपे गये हों परंतु वे उनकी निजी सम्पत्ति कभी नहीं हो सकते, उन पर उन सभी जैनियों का हक़ है जो उनका सदुपयोग कर सकते हैं। अर्थात्, वे ग्रंथ जैन पब्लिककी सम्पत्ति हैं। जो कोई उनको दबा कर अपना ही स्वामित्व रखते हैं, न दूसरों को दिखलाते हैं और न नक़ल करने देते हैं उन्हें ज्ञान-दर्शनावरणीय कर्मों का तीव्र आस्रव और बन्ध तो होगा ही परंतु वर्तमान में वे पबलिकके अपराधी भी हैं। रक्षक मालिक नहीं होता, वह तो पबलिकका एक अनपेड विश्वासी सेवक होता है। उसके पास शास्त्रोंकी अमानत रक्खी गई, इस लिये उसका काम शास्त्रों की रक्षा करना मात्र है, जो भाई उन्हें पढ़ना लिखना चाहें उन्हें बिना उज्र उसी समय देना चाहिये। हाँ, यदि उनके बिगड़ जाने या खोये जानेका भय हो तो बाँचने वालों के पाससे कुछ रक़म डिपाज़िट के तौर पर ली जा सकती है या अपने विश्वासी आदमियों की देख रेखमें उन्हें पढ़ने अथवा नक़ल करने के लिये दिया जा सकता है, जिससे मूल के सुरक्षित रहनेमें कोई बाधा उपस्थित न हो। बाकी सुरक्षा का यह अर्थ नहीं है कि ग्रंथ किसी भंडारमें यों ही रक्खा हुआ जीर्ण शीर्ण होता रहे और किसीके भी उपयोगमें न आवे किंतु उसका अर्थ है सदुपयोग के साथ यथा-स्थान क़ायम रहना। परोपकारी आचार्योंने ग्रंथ सबके हितार्थ निर्माण किए हैं, ऐसा समझ कर उनको प्रकाश में लाना चाहिये।

इस समय हमारे सौभाग्यसे देहली के क़रौलबाग में 'समन्तभद्राश्रम' खुल गया है जिसके अधिष्ठाता समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं, आप निस्पृह होकर तन-मन-धनसे इस कार्यमें कटिबद्ध हुए काम कर रहे हैं और जिन महत्त्व के कार्योंको आप हाथमें लेना चाहते हैं वे आश्रमकी विज्ञप्ति नं० १ में दर्ज हैं। यदि इस आश्रमको पूर्णरीत्या द्रव्यसे तथा अपना समय देकर सहायता पहुँचाई गई तो इसके द्वारा इतिहास-पुरातत्त्व का बहुत कुछ उद्धार हो सकेगा। साथ ही, जैनधर्मका प्राचीन गौरव और उसकी समीचीनता भी भले प्रकार सिद्ध हो सकेगी। मुख्तार साहबको अन्तरंगसे इस विषयकी लगन है और उनके विचार तथा खोजें इस विषयमें सराहनीय हैं। आशा है समाज ज़रूर इस ओर ध्यान देगा और इस आश्रममें ऊँचे पैमाने पर पुरातत्त्वका एक विभाग खोल कर उसे सब ओरसे सफल बनानेका पूर्ण उद्योग करेगा।

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥
—श्रीअमृतचन्द्रसूरिः ।

वर्ष १ | समन्तभद्राश्रम, क़रौलबाग़, देहली । वैशाख, ज्येष्ठ, संवत् १९८७ वि०, वीर-निर्वाण सं०२४५६ | किरण ६, ७

❋ प्रार्थना ❋

मुझे है स्वामी ! उस बलकी दरकार ।

(१)

अड़ी खड़ी हों अमित अड़चनें,
आड़ी अटल अपार ।
तो भी कभी निराश निगोड़ी,
फटक न पावे द्वार ॥ मुझे० ॥

(२)

सारा ही संसार करे यदि,
दुर्व्यवहार-प्रहार ।
हटे न तो भी सत्यमार्ग-गत,
श्रद्धा किसी प्रकार ॥ मुझे० ॥

(३)

धन-वैभवकी जिस आँधीसे,
अस्थिर सब संसार ।
उससे भी न कभी डिग पावे,
मन बन जाय पहार ॥ मुझे० ॥

(४)

असफलता की चोटों से नहिं,
दिलमें पड़े दरार ।
अधिकाधिक उत्साहित होऊँ,
मानूं कभी न हार ॥ मुझे० ॥

(५)

दुख-दरिद्रता-कृत अति श्रमसे,
तन होवे बेकार ।
तो भी कभी निरुद्यम हो नहिं,
बैठूं जगदाधार ॥ मुझे० ॥

(६)

जिसके आगे तन-बल धन-बल,
तृणवत् तुच्छ असार ।
महावीर जिन ! वही मनोबल,
महामहिम सुखकार ॥
मुझे है स्वामी, उस ही की दरकार ॥

नाथूराम 'प्रेमी'

सम्पादकीय

१ श्रद्धांजलि

गांधीजी आज जेलमें हैं। उनकी इस जेल-यात्रा के संबंधमें कर्तव्यानुरोधसे मैं 'अनेकान्त' के पाठकोंके सामने अपने कुछ विचार रखना चाहता था परंतु प्रेस जमानत माँगे जानेकी आशंकासे इस प्रकार की चर्चा तथा विचारोंको छापना नहीं चाहता। प्रेसकी इस परतन्त्रताके कारण मैं अपने विचारोंको 'अनेकान्त' के पाठकोंके सामने न रखनेके लिये मजबूर हो गया हूँ; और इसलिए इस समय मैं गांधीजीके चरणोंमें, निम्न पद्यके साथ, केवल अपनी श्रद्धांजलि ही अर्पण करता हूँ :—

महामना, निष्पाप, राष्ट्रहितु, जगके प्यारे,
हिंसासे अतिदूर, सौम्य, बहुपूज्य हमारे—
गाँधी-से नररत्न जेल में ठेल दिये हैं !!
क्या आशा वे धरैं नहीं जो जेल गये हैं ?

---

२ दुःसह वियोग

कैराना जि० मुजफ्फरनगरके प्रसिद्ध जैन रईस ला० मुकन्दलालजीके पौत्र और ला० जीयालालजीके सुपुत्र चि०बाबू त्रिलोकचंदजी वकील आज इस संसार में नहीं हैं परन्तु उनकी सौम्य मूर्ति आज भी मेरी आँखों के सामने स्थित है और उनके हँसमुख चेहरे, उनकी नम्रता तथा सज्जन प्रकृतिका स्मरण करा कर मुझे कष्ट देती है। इस नवयुवकके साथ मेरी एक बहन 'जयवन्ती' का विवाहसम्बंध हुआ था। यह बहन नानौता जि०सहारनपुरके जैन रईस ला०प्रभुदयालजीकी सुपुत्री है, जो कि मेरे एक क़रीबी रिश्तेदार (पिताके मामूंजाद भाई) ही नहीं किन्तु बहुत बड़े प्रेमी तथा मित्र थे। इसका जन्म मेरे सामने हुआ—मैं उस समय वहीं था—छोटी सी अबोध शैशवावस्थामें ही इसके पिता-माता इसे एक मात्र दादी तथा बूआके आधार पर—उन्हींकी गोदमें—छोड़कर क्रमशः चल बसे! तब इस के पालन पोषण तथा शिक्षणादिका कितना ही काम मुझे करना पड़ा, मैंने अपने पास देवबन्द में रख कर इसको शिक्षा दी, फिर घरके बिगड़ जाने पर पंडिता चंदाबाईके आश्रममें आरा भेज कर ऊँची शिक्षा दिलाई—जहाँ इसकी सती साध्वी बूआ 'गुणमाला' बराबर छायाकी तरह इसके साथ रही और दादीजी ने इस अनाथ बालिकाकी हितसाधनाके लिये कोई भी बात उठा नहीं रक्खी—उन्होंने इस वृद्धावस्थामें अपने सुख-आरामकी सारी बलि देकर और वियोगादिजनित कितने ही कष्टोंको खुशीसे सह कर बड़ी ही स्तुत्य वीरताका परिचय दिया। इस तरह अच्छी शिक्षा दिलाकर १६ वर्षकी अवस्थामें मैंने इस बहनका विवाह उक्त सुयोग्य वरके साथ किया था, जिसकी अवस्था उस समय २२ वर्षकी थी और जो कुछ महीने बाद ही बी०ए० की परीक्षामें उत्तीर्ण हो गया था तथा बादको एल.एल.बी. का इम्तिहान पास कर वकील भी बन गया था। इस प्रकार यह एक सुयोग्य जोड़ी मिली थी और सभी इस सम्बंधकी प्रशंसा करते थे। मुझे भी अपने कर्तव्यके ठीक पालन होने पर आनंद था। जोड़ी के फलस्वरूप एक सुन्दर पुत्रका भी लाभ हो गया था और इससे दोनों ओर खूब आनन्द बढ़ गया था तथा आशालताएँ पल्लवित होने लगी थीं। परंतु दैवसे इन का यह सब सुख चंदरोज़ भी देखा नहीं गया! बच्चा बीमार होकर कुछ महीनोंके बाद ही चलता बना! उस का यहीं देहलीमें इलाज कराते हुए त्रिलोकचंदजी बीमार पड़े, देहली, सहारनपुर, मेरठ आदि अनेक जगह महीनों ठहर कर इलाज कराया गया, अच्छे अच्छे डाक्टरों वैद्यों तथा हकीमोंकी दवाई की गई परंतु किसी से भी स्थायी लाभ कुछ नहीं हुआ। अन्तको पानीका इलाज करते हुए आप बिजनौरमें सोतीजीके पास गये, वहाँ 'जलोदर' की नई शिकायत मालूम हुई, कुछ आराम

होता न देखकर उनके पिता एक विशिष्ट इलाजके लिये उन्हें देहलीमें ही मेरे पास ले आए, लाते समय रास्ते में जहाँ रेल बदलती थी तबीयत ज्यादा खराब हो गई, सरसाम पड़ गया और इसलिये वे १७ अप्रेलको सुबह यहाँ बेहोशीकी बड़ी नाज़ुक हालतमें ही पहुँच पाए। सब कुछ इलाज, जो बन सकता था, किया गया, अगले दिन दो घंटे के लिये होश भी आगया परन्तु आखिर २० अप्रेल सन् १९३० को ११ बजे दिनके आपका प्राण पखेरू इस नश्वर शरीरसे उड़ गया !! और आप ढाई वर्षके करीब बीमार रह कर २८ वर्षकी इस युवावस्थामें ही सारे कुटुम्बी जनोंको दुःख सागरमें बिलबिलाते छोड़कर स्वर्धामको सिधार गये !!! आप अपने पिताके एक ही पुत्र थे और इधर बहन जयवन्ती भी अपने पिताकी एक ही पुत्री है, इससे आपके इस दुःसह वियोगसे दोनों ओर दारुण दुःख छा गया है!! सबों की आशालताओं पर तुषार ही नहीं पड़ा किन्तु वज्रका प्रहार हो गया है !!! समझमें नहीं आता कि किसीको कैसे सान्त्वना दी जाय ! संसारके स्वरूपका चिन्तवन और सद्धर्मका एक शरण ही सबोंको शांति तथा धैर्य प्रदान करे।

३ दो चमकते हुए तारों का अस्त

समाज-गगन पर कुछ अर्सेसे दो तारे चमक रहे थे, उनका उदय समाजके लिये बड़ा ही शुभरूप हुआ था, लोग उन्हें देख कर प्रसन्न होते थे, उनसे स्फूर्ति ग्रहण करते तथा शक्ति प्राप्त करते थे; और वे भी अपनी चमक, अपने तेज एवं अपनी सेवाओं से लोगोंका मन मुग्ध किये हुए थे। परंतु आज यह देखकर दुःख होता है कि उनका एकाएक अस्त हो गया है !! इनमें (१) एक थे मेरठ सदरके पं० बृजवासीलालजी और (२) दूसरे थे मेरठ शहरके बाबू ऋषभदासजी वकील। वकील साहब बराबर हिन्दी तथा उर्दूके पत्रोंमें लिखा करते थे, सभा-सोसाइटियों में खासा भाग लेते थे और जैन समाजके सुधार तथा उत्थानका ही सदा ध्यान रखते थे। समय-समय पर आप अपनी उदारता से कुछ संस्थाओंको आर्थिक सहायता भी प्रदान किया करते थे। पिछले दिनों समन्तभद्राश्रम को भी आपने २१) रु० भेजे थे। और पंडित जी पक्के सुधारक थे, निर्भयप्रकृति थे, व्याख्याता थे तथा साथ ही लेखक भी थे। कुछ अर्सेसे आप 'वीर' का प्रकाशनकार्य भी करते थे और उसे करते हुए जहाँ तहाँ सभा सोसाइटियोंमें उपदेशके लिये भी पहुँच जाया करते थे। वीर-सेवक-संघके आप सदस्य थे और कुछ अर्से के लिये आपने आश्रममें आकर सेवाकार्य करनेका भी वचन दिया था परन्तु किसी कारणवश अभी आ नहीं सके थे। अन्त को इलाज करानेके लिये आप देहली आए और एक महीने के करीब आश्रम में ही ठहरे। जब इलाजसे कुछ फ़ायदा न देखा तब मेरठ वापिस चले गये और वहाँ जाकर आठ दस दिन बाद ही ता० १९ मई सन् १९३० को रातके १०॥ बजे आप अपनी यह सब लीला समाप्त करके परलोकवासी होगये !!! वकील साहबका भी देहावसान आपके बाद मई मासमें ही ता० २४ को दिनके १२ बजे हुआ है !! इन दोनों सज्जनोंके वियोगसे निःसन्देह समाजको बड़ी हानि पहुँची है। दोनोंके कुटुम्बीजनों तथा मित्रोंके इस दुःखमें मेरी हार्दिक सहानुभूति है। श्रीजिनधर्मके प्रसादसे उन्हें धैर्य तथा शान्तिकी प्राप्ति होवे। और सद्गत आत्माएँ फिर से भारतमें जन्म लेकर नये शरीर, नये बल और नये उत्साहके साथ अपने सद्विचारोंको कार्यमें परिणत करें।

४ एक और वियोग

दुःखके साथ लिखना पड़ता है कि देहलीके सुप्रसिद्ध जैन रईस राय बहादुर ला० सुलतानसिंहजी का भी ता० २ जून सन १९३० को, ५७ वर्षकी अवस्थामें, स्वर्गवास हो गया है !!! आप समाजके एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, बड़ी धारा सभाके कई बार सदस्य रह चुके हैं और कई बार आपने सपत्नीक विदेश-यात्रा भी की थी। आपके वियोगसे समाजकी भारी क्षति हुई है—देहली जैनसमाज का तो एक स्तंभ ही गिर गया है ! इस वियोगजनित दुःखमें आपके कुटुम्बियों तथा मित्रों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति है।

पुरानी बातों की खोज

(१७)

चातुर्मास का नियम

बहुत प्राचीन कालसे साधुजन वर्षाकालमें, जिसे चातुर्मास अथवा चौमासा कहते हैं, अपने विहार को रोककर एक स्थान पर ठहरते आए हैं और इसमें उनकी प्रधान दृष्टि अहिंसाकी रक्षा रही है। इस नियम का पालन केवल जैन साधु ही नहीं बल्कि हिन्दुधर्मके साधु भी किया करते थे। उनके शास्त्रोंमें भी इस विषय की स्पष्ट आज्ञाएँ पाई जाती हैं; जैसा कि अत्रि ऋषि के निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते ।
आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन् भिक्षुश्चरेन्महीम् ॥"

× × ×

असति प्रतिबन्धे तु मासान्वै वार्षिकानिह ।
निवसामीति संकल्प्य मनसा बुद्धिपूर्वकम् ॥
प्रायेण प्रावृषि प्राणिसंकुलं वर्त्म दृश्यते ।
आषाढ्यादिचतुर्मासं कार्तिक्यन्तं तु संवसेत् ॥"

—यतिधर्मसंग्रह ।

अर्थात्—वर्षाकाल में भिक्षुको पुण्य जल से घिरे हुए किसी एक स्थान पर रहना चाहिये और सर्व प्राणियोंको आत्मवत समझते हुए पृथिवी को देख-शोध कर चलना चाहिये ॥ 'कोई खास प्रतिबन्ध न होने पर वर्षा काल के महीनों में मैं यहाँ रहूँगा' ऐसा उसे बुद्धिपूर्वक संकल्प करना चाहिये। वर्षाकाल में मार्ग प्रायः जीवजन्तुओं से घिरा रहता है, इससे आषाढी पौर्णमासी से कार्तिकी पौर्णमासी तक एक जगह ठहरे रहना चाहिये—विहार अथवा पर्यटन नहीं करना चाहिये।

हाँ, बुद्धदेवने शुरू शुरू में अपने साधुओं के लिये चातुर्मास का कोई नियम नहीं किया था, उनके साधु वर्षाकाल में इधर उधर विचरते और विहार करते थे तब जैनों तथा हिन्दुओं की तरफ़ से उन पर आपत्ति की जाती थी और कहा जाता था कि ये कैसे अहिंसावादी साधु हैं जो ऐसी रक्त-मांस मय हुई मेदिनी पर विहार करते हैं और असंख्य जीवों को कुचलते हुए चले जाते हैं। इस पर बौद्ध साधुओंने अपनी इस निन्दा और अवज्ञाको बुद्धदेव से निवेदन किया और उस वक्त से बुद्धदेव ने उन्हें भी चातुर्मास का नियम पालन करने की आज्ञा दे दी थी; ऐसा उल्लेख बौद्ध साहित्य में पाया जाता है। यह उल्लेख इस समय मेरे सामने नहीं परंतु इसका हाल मुझे विद्वद्वर पं० बेचरदासजी से मालूम हुआ है, जो प्राप्त होने पर प्रकट कर दिया जायगा। अस्तु।

दिगम्बर सम्प्रदायमें इस वर्षाकालीन नियमकी क्या मर्यादा है, इसका कुछ पता हालमें मुझे 'भगवती आराधना' की अपराजितसूरि विरचित 'विजयोदया'

नामकी प्राचीन टीकाके देखनेसे चला है। इस टीकामें, भगवती आराधनाकी **"अचेलक्कुद्देसिय"** नामकी गाथामें वर्णित जैनमुनियोंके दस स्थितिकल्पोंका वर्णन करते हुए, **पज्जो** (पर्या) नामके दसवें स्थितिकल्पका स्वरूप इस प्रकार दिया है:—

"पज्यो श्रमणकल्पो नाम दशमः वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेष्वेकत्रावस्थानं भ्रमणत्यागः। स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिस्तदा भ्रमणं महानसंयमः, वृष्ट्या शीतवातपातेन चात्मविराधना पतेद्वा (?) वाप्यादिषु स्थाणुकंटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यते, इति विंशत्यधिकं दिवसशतमेकत्रावस्थानमित्युत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनमधिकं वाऽवस्थानं। संयतानामाषाढशुद्धदशम्यां स्थितानामुपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं वृष्टिबहुलतां श्रुतग्रहणं शक्त्यभावं वैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टः कालः। मार्यां दुर्भिक्षे ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति, अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति। पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य। एष दशमस्थितिकल्पः।"

अर्थात्—वर्षाकालके चार महीनोंमें भ्रमणत्यागरूप जो एकत्र अवस्थान है वह पज्यो (पर्या) नामका दसवाँ श्रमणकल्प है। उन दिनों में पृथिवी स्थावर-जंगम जीवों से आकुलित होती है इससे उस समय भ्रमण करने में महान् असंयम होता है, वृष्टि तथा ठंडी हवा लगने से आत्मविराधना होती है और प्रच्छन्न स्थाणु-कंटकादि के द्वारा तथा जल और कर्दम से बाधा पहुँचती हैं; इस लिये एकसौ बीस दिन का यह एकत्र अवस्थानरूप उत्सर्ग कालका विधान है। कारणकी अपेक्षासे हीनाधिक अवस्थान भी होता है। आषाढ़ सुदि दशमी को स्थिति होने वाले साधुओंका अधिक अवस्थान कार्तिकी पौर्णमासी से तीस दिन बाद तक होता है; यह अवस्थान वर्षाकी अधिकता, श्रुतग्रहण, शक्तिके अभाव और वैय्यावृत्यकरण नाम के प्रयोजनों में से किसी प्रयोजन को लेकर होता है और यह अवस्थानका उत्कृष्ट काल है। मरी पड़ने, दुर्भिक्ष फैलने, ग्राम तथा नगर के चलायमान होने अथवा गच्छनाश का निमित्त उपस्थित होने पर साधुजन यह समझ कर देशान्तरको चले जाते हैं कि वहाँ ठहरने से रत्नत्रयकी विराधना होगी। आषाढी पौर्णमासी के बीत जाने पर श्रावण की प्रतिपदा आदि तिथियों में बीस दिन तक जो अवस्थान हो वह सब हीन काल समझना चाहिये।

इस स्वरूपकथन पर से निम्न बातें फलित होती हैं:—

१ चातुर्मास का यह नियम महाव्रती श्रमणों—निर्ग्रंथ साधुओं—के लिये है, अणुव्रती श्रावकों अथवा ब्रह्मचारियोंके लिये नहीं। चातुर्मासके जो हेतु 'महान् असंयम' तथा 'आत्मविराधना' आदि कहे गये हैं उन का भी सम्बंध श्रमणों से ही ठीक बैठता है।

२ चातुर्मास का उत्सर्ग (सर्वसाधारण) काल १२० दिनका है और वह आषाढी पौर्णमासीसे कार्तिकी पौर्णमासी तक रहता है।

३ कुछ कारणों के वश अधिक तथा कमती दिनों का भी चौमासा होता है। अधिक दिनों वाले चौमासे का उत्कृष्ट काल आषाढ सुदि दशमी से प्रारंभ होकर

कार्तिकी पौर्णमासीके बाद तीस दिन तक—तीसवें दिन की समाप्ति तक—है। और कमती दिनों वाले चौमासे का हीन काल अषाढी पूर्णमासीके बाद श्रावणकी प्रतिपदासे बीस दिनके भीतर किसी वक्त प्रारंभ होता है।

४ अधिक दिनके चौमासेके कारण ये हैं—१ वर्षाकी अधिकता, २ श्रुतग्रहण (किसी खास शास्त्र के अध्ययनकी समाप्ति आदि का इष्ट होना), ३ शक्तिका अभाव (रोग आदि के कारण उस समय गमन की शक्ति न होना) और ४ वैयावृत्यकरण (दूसरे बीमार साधुकी सेवाके लिये रुक जाना)। कमती दिन वाले चौमासे के कारण यद्यपि स्पष्टरूपसे बतलाये नहीं गये परन्तु प्रकारान्तरसे ये ही जान पड़ते हैं। इन कारणों से उस स्थान पर पहुँचने में कुछ विलम्बका होना संभव है जहाँ चौमासा करना इष्ट हो।

५ चातुर्मास का नियम ग्रहण करनेके बाद कुछ कारणों से साधु अन्यत्र भी जा सकते हैं अथवा उन्हें रत्नत्रय की रक्षा के लिये जाना चाहिये। वे कारण हैं—१ मरी पड़ना, २ दुर्भिक्ष फैलना, ३ ग्राम या नगर का चलायमान होना (भूकम्प, राष्ट्रभंग या राजकोपादि कारणों से जनताका नगर-ग्रामको छोड़ छोड़ कर भागना) अथवा ४ अपने गच्छ के नाश का कोई निमित्त उपस्थित होना। और इसलिये चातुर्मास का नियम लेते समय साधुको यह स्पष्ट रूपसे संकल्प कर लेना उचित्त मालूम होता है कि यदि ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा तो मैं इतने दिनोंतक यहाँ निवास करूँगा। हिन्दुओंके यहाँ भी **'असति प्रतिबन्धे तु'** शब्दों के द्वारा संकल्प में ऐसा ही विधान पाया जाता है। जैसा कि 'अत्रि' ऋषिके ऊपर उद्धृत किये हुए वाक्यसे प्रकट है।

(१८)

महावीरके वस्त्र-त्याग-विषयमें श्वेताम्बरीय मान्यताएँ

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आम तौर पर यह मान्यता पाई जाती है कि भगवान महावीरके आभूषणादिक को त्याग कर दीक्षा लेनेके समय इन्द्र ने 'देवदूष्य' नामका एक बहुमूल्य वस्त्र उनके कन्धे पर डाल दिया था जिसे वे तेरह महीने तक धारण किये रहे। इसके बाद उन्होंने उसे भी त्याग दिया और तबसे वे पूर्णरूप से नग्न दिगम्बर अथवा जिनकल्पी ही रहे। हेमचंद्राचार्यके 'महावीरचरित' आदि कुछ श्वेताम्बरीय ग्रंथों पर से मुझे भी अभी तक इसी एक मान्यताका परिचय मिलता रहा है। परन्तु हालमें भगवती आराधना की उक्त अपराजितसूरि-विरचित 'विजयोदया' नाम की टीका को देखनेसे मालूम होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस मान्यतासे भिन्न कुछ दूसरी प्रकारकी मान्यताएँ भी प्रचलित रही हैं। इस टीकामें, 'आचेलक्य' नामके श्रमण-स्थिति-कल्प की व्याख्या करते हुए, जैन साधुओंके लिये अचेलता (वस्त्ररहितता) का विधान करने और उसकी उपयोगिताको दिखलाने पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय की ओरसे किये जाने वाले कुछ प्रश्नोंका उल्लेख किया है और फिर उनका उत्तर दिया है। प्रश्नोंमें आगमादि पुरातन ग्रन्थोंके वस्त्रादिकके उल्लेख वाले कुछ वाक्योंको उद्धृत करके पूछा गया है कि, तब इन सूत्रवाक्यों की उपपत्ति कैसे बनेगी? इन्हीं प्रश्नोंमें एक प्रश्न 'भावना' नामक किसी श्वेताम्बरीय ग्रन्थके एक वाक्यसे सम्बंध रखता है, जिस में भ० महावीर के साल भर तक वस्त्र धारण करने और तत्पश्चात उसके त्याग करनेका उल्लेख है। इस

ग्रन्थ सम्बंधी प्रश्न का उत्तर देते हुए टीकाकार लिखते हैं :—

'यच्च भावनायामुक्तं 'वरिसं चीवरधारी तेणपरमचेलगो जिणो त्ति' विप्रतिपत्तिबहुलत्वात् कथं? केचिद्वदन्ति तस्मिन्नेवदिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलंबनकारिणा गृहीतमित्यन्ये षण्मासाच्छिन्नं कंटकशाखादिभिरिति साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खंडलकब्राह्मणेन गृहीतमिति कथयन्ति केचिद्वातेनपतितमुपेक्षितं च जिनेनेत्यपरे वदन्ति विलंबनकारिणा जिनस्य स्कंधे तदारोपितमिति। एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यात्र दृश्यते तत्त्वं सचेललिंगप्रकटनार्थं।''

अर्थात्—'भावना' में जो यह कहा गया है कि "वरिसं चीवरधारी तेणपरमचेलगो जिणो त्ति"—महावीर जिन एक वर्ष तक वस्त्रधारी रहे उसके बाद अचेलक (वस्त्रत्यागी दिगम्बर) हुए वह विप्रतिपत्तियोंके बाहुल्यके कारण कैसे मान्य किया जा सकता है? इस सम्बंधमें बहुतसे विरोधी कथन पाये जाते हैं—कुछ आचार्य तो कहते हैं कि उस वस्त्रको उसी दिन महावीरके पाससे विलंबनकारी ने ले लिया था, दूसरे कहते हैं कि वह छह महीनेके भीतर कण्टकों तथा शाखादिसे छिन्न-भिन्न हो कर अलग हो गया था; कोई बतलाते हैं कि उसे एक वर्षसे भी कुछ अधिक समयके बाद खंडलक ब्राह्मणने ले लिया था, और दूसरे कहते हैं कि वह हवामें गिर पड़ा था, फिर महावीरने उसे नहीं उठाया। इसी प्रकार कुछ आचार्योंका कथन है कि वह वस्त्र महावीरके कँधे पर विलंबनकारीने डाला था (इन्द्र ने नहीं)। इस तरह बहुतसे विरोधी कथनोंके मौजूद होनेसे सचेललिंगको प्रकट करनेके लिये इस युक्तिमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता।

इसके बाद टीकामें युक्तिवाद तथा श्वेताम्बरीय आगमोंके दूसरे वाक्योंके आधार पर इस कथन की असंभावना को सिद्ध किया गया है। अस्तु; टीकाके उक्त उल्लेखसे महावीरके वस्त्रत्याग-विषयमें श्वेताम्बरों की कितनी ही परस्पर विरोधी मान्यताओंका पता चलता है, जो संक्षेपमें इस प्रकार है:—

१ उसी दिन वह वस्त्र त्याग दिया गया, २ छह महीने तक उसका सम्बंध बना रहा और वह कंटकशाखादिसे छिन्न-भिन्न हो कर खुद अलग हुआ, ३ महावीरने वर्ष भर तक उसे रक्खा और फिर अलग किया, ४ एक वर्षसे कुछ दिन या महीने और बीतने पर (संभवतः १३ महीनेके बाद) वह त्यागा गया, ५ खुद त्यागा या किसी को दिया नहीं गया किन्तु हवासे उड़ गया और फिर उसकी तरफ़से उपेक्षा धारण की गई ६ विलंबनकारी ने उसे महावीरके पाससे लिया, ७ खंडलक ब्राह्मणने लिया, ८ इन्द्रने उसे महावीर भगवानके कँधे पर डाला था। ९, विलम्बनकारीने उसे महावीरके कन्धे पर डाला था।

अब इस बात की खोज होने की जरूरत है कि ये सब विभिन्न मान्यताएँ कौन कौनसे श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें इस समय उपलब्ध हैं। आशा है हमारे श्वेताम्बरीय विद्वान इस पर कुछ विशेष प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे और यह भी सूचित करेंगे कि 'भावना' नामका उक्त ग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध है या नहीं।

(१८)

छठा महाव्रत

महाव्रतों की रूढ संख्या पाँच हैं, तदनुसार अणुव्रतों की भी रूढ संख्या पाँच ही हैं। परन्तु प्राचीनकालमें 'रात्रिभोजनविरति' नामका छठा अणुव्रत भी माना जाता है, जिसका उल्लेख पूज्यपाद आचार्य की 'सर्वार्थसिद्धि' तकमें पाया जाता है। 'जैनाचार्यों का शासन भेद' नामक ग्रंथमें, मैंने इस छठे अणुव्रत की कुछ विस्तृत चर्चा और विवेचन करते हुए यह कल्पना की थी कि इस नाम का छठा महाव्रत भी होना चाहिये। उस वक्त तक छठे महाव्रतका कोई स्पष्ट विधान कहींसे भी मेरे देखनेमें नहीं आया था,

और इस लिये मैंने अपनी उस चर्चा तथा विवेचना का नतीजा निकालते हुए लिखा था:—

"इस संपूर्ण कथनसे यह बात भले प्रकार समझ में आ सकती है कि 'रात्रिभोजनविरति' नामका व्रत एक स्वतंत्र व्रत है। उसके धारण और पालनका उपदेश मुनि और श्रावक दोनों को दिया जाता है—दोनों से उसका नियम कराया जाता है—वह अणुव्रतरूप भी है और महाव्रतरूप भी। महाव्रतोंमें भले ही उसकी गणना न हो—वह छठे अणुव्रतके सदृश छठा महाव्रत न माना जाता हो—और मुनियोंके मूल गुणोंमें भी उसका नाम न हो परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उस का अस्तित्व पंच महाव्रतोंके अनन्तर ही माना जाता है और उनके साथ ही मूलगुणके तौर पर उसके अनुष्ठानका पृथक्रूपसे विधान किया जाता है; जैसा कि इस लेखके शुरूमें उद्धृत किये हुए 'आचारसार' के वाक्य * और 'मूलाचार'के निम्न वाक्यसे भी प्रकट है:—

तेसिं चेव वदाणं रक्खट्टं रादिभोयणविरत्ति"

ऐसी हालत में रात्रिभोजनविरति को यदि छठा महाव्रत मान लिया जाय अथवा महाव्रत न मान कर उसके द्वारा मुनियों के मूलगुणों में एक की वृद्धि की जाय—वे २८ के स्थानमें २९ स्वीकार किये जायँ—तो इसमें जैनधर्म के मूलसिद्धान्तोंमें कोई विरोध नहीं आता।"

हालमें भगवती आराधनाकी उक्त अपराजितसूरि-विरचित 'विजयोदया' नामकी टीका के देखनेसे मुझे स्पष्ट मालूम हो गया है कि 'रात्रिभोजनविरति' नामक छठा महाव्रत भी बहुत पहले से माना जाता है। इस टीकामें दस स्थितिकल्पोंका वर्णन करते हुए पंच महाव्रतोंके वर्णनमें साफ लिखा है:—

"तेषामेव पंचानां व्रतानां पालनार्थं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं व्रतम्"

अर्थात्—उन पाँचों व्रतों (महाव्रतों) के पालने के लिये 'रात्रिभोजनविरमण' नामका छठा व्रत (महाव्रत) कहा गया है।

इतना ही नहीं, बल्कि यहाँ तक बतलाया है कि—'पंच महाव्रतों में 'रात्रिभोजनविरमण' को शामिल करके जो छह महाव्रत होते हैं उनका विधान आदि और अन्तके दो तीर्थोंमें हुआ है—अर्थात् भ० ऋषभदेव और महावीरने उनका उपदेश दिया है'। यथा:—

"इति आद्यपाश्चात्यतीर्थयोः रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि पंचमहाव्रतानि।"

इस कथन से मूलगुणों की संख्या—संख्या की अस्थिरता,—जैन तीर्थंकरों के शासनभेद और रात्रिभोजनत्याग-विषय पर कितना ही प्रकाश पड़ता है; और 'जैनाचार्योंका शासन भेद' नामक ग्रन्थ*में जो कल्पनाएँ इस सम्बंध में मेरे द्वारा की गई हैं अथवा नतीजे निकाले गये हैं उन सबका बहुत कुछ समर्थन होता है। साथ ही, इसका भी रहस्य और खुल जाता है कि वीरनन्दि आचार्यने अपने 'आचारसार' के उस वाक्य में, जो पीछे फुटनोट में उद्धृत है, रात्रिमें मात्र अन्नके त्याग को ही छठा अणुव्रत क्यों बतलाया है। उनका वह कथन 'रात्रिभोजनविरमण' नामके महाव्रत की अपेक्षा से है—महाव्रती जब रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है तब अणुव्रतीके लिये मात्र अन्न के त्यागका विधान किया जाना कुछ बेजा नहीं है।

खेद है कि हमारी बहुतसी पुरानी बातें—प्राचीन आम्नायें—नई नई बातोंके पर्दे के नीचे छिप गई हैं, उनका पता लगाना बड़ा कठिन हो रहा है! प्राचीन साहित्य ही इस विषयमें एक मात्र हमारा मार्गदर्शक हो सकता है और इस लिये उसके अन्वेषण तथा प्रकाशन में हमें खास तौर से योग देना चाहिये।

जुगलकिशोर मुख़्तार

* वह वाक्य इस प्रकार है:—

व्रतत्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वथान्ननिवृत्तेस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम्॥
—आचारसार।

* यह ग्रन्थ 'जैनग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय, हीराबाग, पो० गिरगांव, बम्बईने प्रकाशित किया है और पांच आने मूल्यमें मिलता है।

आचार्य जयकीर्त्ति का 'छन्दोऽनुशासन'

[लेखक—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी]

'अनेकान्त' की पाँचवीं किरण में 'योगसार और अमृताशीति' नाम का एक नोट प्रकाशित हुआ है, जिसमें डा० पिटर्सन की पाँचवीं रिपोर्ट के आधार से योगसार की उस प्रति का उल्लेख किया है, जो संवत् ११९२ की ज्येष्ठ सुदी १३ को जयकीर्त्ति सूरि के शिष्य अमलकीर्त्तिने लिखवाई थी—

श्रीजयकीर्त्तिसूरीणां शिष्येणामलकीर्त्तिना ।
लेखितं योगसाराख्यं विद्यार्थिवामकीर्त्तिना ॥

अमलकीर्त्ति के इन्हीं गुरु जयकीर्त्ति का बनाया हुआ 'छन्दोऽनुशासन' नामका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जैसलमेर के सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर पुस्तकभंडार में है, जिसका प्रारंभिक और अन्तिम अंश इस प्रकार है:—

प्रारंभ—

श्रीवर्द्धमानमानम्यच्छंदसां पूर्वमक्षरं ।
लक्ष्यलक्षणमावीक्ष्य वक्ष्ये छन्दोऽनुशासनं ॥१
छन्दःशास्त्रं वहित्रं तद्विवित्सोः काव्यसागरं ।
छन्दोभाग्वाङ्मयं सर्वं न किंचिच्छन्दसो विना ॥२

अन्त— **माण्डव्य-पिंगल-जनाश्रय-सेतवाख्य-**
श्रीपूज्यपाद-जयदेव-बुधादिकानां ।
छन्दांसि वीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान् ।
छन्दोऽनुशासनमिदं जयकीर्त्तिनोक्तम् ॥

इति जयकीर्त्तिकृतौ छन्दोऽनुशासन— संवत् ११९२ आषाढ शुदि १० शनौ लिखितमिदमिति ।

ये दोनों अंश 'बड़ौदाकी गायकवाड़-संस्कृत-सीरीज में प्रकाशित होनेवाली 'जेसलमेर-भाण्डागारीय ग्रंथानां सूची' में प्रकट हुए हैं। इस सूचीके सम्पादक महाशयने जयकीर्त्ति सम्बन्धमें अपना नोट पृष्ठ ६१ पर इस प्रकार दिया है—

"वर्द्धमाननमस्कारमङ्गलकरणेनायं कविर्जैनः प्रतिभाति । माण्डव्य पिंगल-जनाश्रय-सेतव-पूज्यपाद-जयदेव बुधादीनां छन्दांसि वीक्ष्यैतच्छंदोऽनुशासनं विहितमिति प्रान्ते दर्शितम् । सं० ११९२ वर्षे योगसारलेखयिता ऽमलकीर्त्तिरस्य शिष्यो ज्ञायते । प्रा० शिलोपदेशमालायाः प्रणेता जयकीर्त्तिः स्वं जयसिंहसूरिशिष्यत्वेन परिचाययतिस्म, स तस्माद्भिन्नो विज्ञायते।"

अर्थात्—वर्द्धमानको नमस्कार करने से यह कवि जैन मालूम होता है। उसने अन्त में बतलाया है कि **मांडव्य, पिङ्गल, जनाश्रय, सेतव, पूज्यपाद, जयदेव** आदि विद्वानों के छन्दों को देखकर यह ग्रंथ बनाया। सं०११९२ में योगसारके लिखाने वाले अमलकीर्त्ति इसके शिष्य जान पड़ते हैं। प्राकृत शिलोपदेशमालाका प्रणेता जयकीर्त्ति इससे भिन्न है, क्योंकि वह आपको जयसिंह सूरिका शिष्य प्रकट करता है।

हमारी समझ में जयकीर्त्ति दिगम्बर सम्प्रदायके विद्वान् हैं। क्योंकि एक तो वे पूज्यपाद का उल्लेख करते हैं, दूसरे योगसार ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय का है जिसे उनके शिष्य ने लिखवाया है, तीसरे जयकीर्त्ति, अमलकीर्त्ति, रामकीर्त्ति इस प्रकारकी कीर्त्त्यन्त नाम-परम्परा दिगम्बर सम्प्रदायमें ही अधिक देखी जाती है*।

जहाँ तक हम जानते हैं, यह ग्रंथ किसी दिगम्बर पुस्तकभंडारमें नहीं है। जेसलमेरसे इसकी प्रति करा कर मंगानेका प्रयत्न होना चाहिए। श्वेताम्बर सम्प्रदायके भंडारोंमें दुर्लभ ग्रन्थोंका संग्रह बहुत अधिक है।

* यह विचार ठीक जान पड़ता है। जयकीर्त्तिका दिगम्बरत्व स्पष्ट उल्लेख मिलता है क्योंकि एक शिलालेखमें (Epigraphia Indica Vol. II) भी पाया जाता है। यह प्रशस्ति शिलालेख संवत् १२०७ का लिखा हुआ है और इसे जयकीर्त्तिके एक शिष्य रामकीर्त्तिने लिखा है; जैसा कि इसके निम्न अन्तिम भागसे प्रकट है:

"श्रीजयकीर्त्तिशिष्येण दिगंबरगणेशिना ।
प्रशस्तिरीदृशी चक्रे...श्रीरामकीर्त्तिना ॥
संवत् १२०७ सूत्रधा..."

इस शिलालेखके समयको देखते हुए छन्दोऽनुशासनके कर्ता जयकीर्त्ति शिलालेखमें उल्लेखित जयकीर्त्तिसे भिन्न मालूम नहीं होते **सम्पादक**

सुभाषित मणियाँ

प्राकृत—

मीलं वदं गुणो वा णाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ।
जीवे हिंसंतस्स हु सव्वे वि णिरत्थया होंति ॥

—शिवार्य।

'शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निःसंगता और सुखत्याग, ये सभी उस मनुष्यमें निरर्थक हो जाते हैं जो हिंसा करता है।'—क्योंकि इन सबका उद्देश्य खेतकी बाड़की तरह अहिंसाकी रक्षा ही होता है। जब वही न हुआ तब इनका वास्तवमें कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।

सव्वेसिमासमाणं हिदयं गब्भो हु सव्वसत्थाणं।
सव्वेसिं वदगुणाणं पिंडो सारो अहिंसा हु ॥

—शिवार्य।

'सर्व आश्रमोंका हृदय, सर्व शास्त्रोंका गर्भ, और सर्व व्रतों तथा गुणोंका पिंडीभूत सार एक 'अहिंसा' है।'

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥

—कुन्दकुन्दाचार्य।

'जो भाव रहित हैं—साधनाके भाव एवं आत्म-भावनासे शून्य हैं—उनका बाह्य परिग्रहका त्याग, पर्वतोंके ऊपर-नदियोंके तट पर तथा गिरिगुहा-कन्दराओं में निवास और संपूर्ण ज्ञानाध्ययन निरर्थक है—विडम्बना मात्र है।'

[बिना भावके इन परिग्रह त्यागादिक अनुष्ठानमें कुछ भी सार नहीं

जत्थ ण जाइ जरओ रोयग्गी जाण डहइ देहउडिं।
इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥

—कुन्दकुन्दाचार्य।

'जब तक जरा का आक्रमण नहीं होता—बुढ़ापा नहीं आता—, जब तक रोगाग्नि इस देह कुटीको नहीं जलाती और जब तक इन्द्रियबल नष्ट नहीं होता तब तक हे जीव! तू अपनी आत्मा का हित साधन कर।'—यदि इनमें से कोई कारण आ बना तो फिर इच्छा रहते भी तू अपना कल्याण नहीं कर सकेगा।

जहिं मइ तहिं गइ जीव तुहुं, मरणु वि जेण लहेहि।
तें परबंभु मुएवि मइं, मा परदव्वि करेहि ॥

—योगीन्द्रदेव।

'जहाँ मति वहीं गति' इस सिद्धान्तके अनुसार हे जीव! यदि तुझे मर कर परब्रह्म की प्राप्ति करना है तो परब्रह्मको छोड़ कर अपनी बुद्धिको अन्यत्र पर द्रव्य में मत लगा।'

[देह-परिग्रहादिकमें अनुराग बढ़ा कर उन्हीं की चिन्तामें ... रहनेसे जन्म-जन्मान्तरमें उन्हीं की प्राप्ति होती रहती है—परब्रह्म की अथवा शुद्धात्मभाव की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।]

जसु हरिणच्छी हियवडए, तसु णवि बंभुवियारि।
एक्कहिं केम समंति वढ, बे खंडा पडियारि ॥

—योगीन्द्रदेव।

'जिसके हृदय में हर समय मृगनयनी का—सुंदर स्त्रीका—वास है—उसीके अनुरागमें जो फँसा रहता है—उसके हृदयमें ब्रह्मका विचार प्रवेश नहीं करता। सो ठीक ही है एक म्यानमें दो खड्ग कैसे आ सकते हैं?'

इससे स्पष्ट जाना जाता है कि जो लोग ब्रह्मचर्यका ठीक पालन करते हैं वे ही ब्रह्मका यथेष्ट विचार कर सकते हैं दूसरे नहीं

सव्वत्थ वि पियवयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं गुणगहणं मंदकसायाण दिट्ठंता ॥

—स्वामिकार्तिकेय।

'सर्वत्र—शत्रुमित्रादि सबके साथ—प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन सुनकर भी दुर्जनके प्रति क्षमा धारण करना और सबों के गुण ग्रहण करना—दोष नहीं—ये सब मंदकषायी जीवों के चिन्ह हैं।

संस्कृत—

जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम् ।

—वादीभसिंहसूरि ।

'पराधीन जीवनसे जीवोंका मरण अच्छा है—गुलामीमें मौत भली है ।'

मा जीवन्यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याजननिरेवास्तु जननी क्लेशकारिणः ॥

—माघ ।

'उसके जीवन को धिक्कार है जो दूसरोंके द्वारा अपमानित हुआ दुःखके साथ जीवन व्यतीत करता है। ऐसे अपमानित जीवन व्यतीत करने वालोंका जन्म न होना ही अच्छा है। वे अपने जन्म से व्यर्थ ही जननी (माता) को क्लेश पहुँचाते हैं।'

मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने ?

—वादीभसिंह सूरि ।

'वनमें मृगेन्द्रको मृगेन्द्रता—स्वाधीनता—किसने अर्पण की? किसीने भी नहीं।'

[इससे मालूम होता है कि स्वाधीनता कभी किसी को उपहारमें नहीं मिलती, वह स्वयं अपने बलके आधार पर प्राप्त की जाती है और तभी टिकती है ।]

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।"

'मनुष्योंका मन ही उनके बन्ध-मोक्षका—उनकी पराधीनता-स्वाधीनता एवं दुःख-सुखका—कारण है।'

[मन जब निर्बल होता है, अपने विवेक को खो बैठता है तो वह खुद ही अपने विचारोंसे भयादिके संचारद्वारा अनेक प्रकार के बन्धनों तथा दुःखों की सृष्टि कर डालता है और जब सबल एवं सविवेक होता है तो अपनी वृत्तिको बदल कर—भय, कायरता और गलतफहमीको दूर भगा कर—उन बन्धनों तथा दुःखों से छुटकारा पा जाता है ।]

"सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे जनैः ।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः ॥"

'लोग तुम्हारी जो यह स्तुति करते हैं कि तुम सदा सब कुछ देने वाले हो वह मिथ्या है; क्योंकि शत्रुओंने कभी तुम्हारी पीठ नहीं पाई और न परस्त्रियोंने छाती।'

भावार्थ—शत्रुओं को पीठ देना और परस्त्रियों को छाती दान करना, ये दोनों ही प्रशंसा के कार्य नहीं किन्तु निन्दा के कार्य हैं, अतः इनके न देनेमें ही सच्ची प्रशंसा है ।

"मनुष्य हे दुर्बलदुःखदातः
कियच्चिरं स्थास्यति दोर्बलं ते ।
त्वज्जीवनात्किं फलमस्ति लोके
वरं मृतिस्ते परदुःखदानात् ॥"

'ए दुर्बलोंको सताने वाले मनुष्य ! तेरा यह भुजबल कब तक क़ायम रहेगा ?—कब तक तेरे अत्याचार का यह बाज़ार गर्म रहेगा ?—लोक में तेरे जीने से क्या फायदा है ? दूसरों को दुःख देनेसे तो तेरा मर जाना ही अच्छा है।'

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।"

'जो जो बातें, क्रियाएँ, चेष्टाएँ तुम्हारे प्रतिकूल हैं—जिनके दूसरोंद्वारा किये जानेवाले व्यवहारको तुम अपने लिये पसंद नहीं करते, अहितकर और दुःखदाई समझते हो—उनका आचरण तुम दूसरोंके प्रति मत करो।'

[यही धर्मका सर्वस्व अथवा पापोंसे बचाने वाला गुरुमंत्र है ।]

"यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेंद्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥"

'जब तक यह शरीर स्वस्थ तथा नीरोग है, जब तक बुढ़ापा नहीं आया है, जब तक इंद्रियों की शक्ति अप्रतिहत बनी हुई है और जब तक आयुका क्षय नहीं हुआ है तब तक ही विद्वानों को आत्मा के कल्याण-साधनका महान यत्न कर लेना चाहिये । अन्यथा—इनमेंसे किसी बातके हो जाने पर—फिर कुछ भी नहीं बन सकेगा । उस वक्तका उद्यम घरमें आग लगने पर कुआ खोदने-जैसा निरर्थक होगा ।'

हिन्दी—

जौ लौं देह तेरी काहू रोग सौं न घेरी जौ लौं,
जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परि है ।
जौ लों, जमनामा वैरी देय ना दमामा जौ लों,
मानै कान रामा बुद्धि जाइन बिगरि है ॥
तौ लौं मित्र मेरे निज कारज सँवार ले रे,
पौरुष थकैंगे फेर पीछै कहा करि है ।
अहो आग आयें जब झोंपरी जरन लागी,
कुआ के खुदाए तब कहा काज सरि है ॥

× × भूधरदास ।

"जिहँ लहि पुनि कछु लहनकी आस न मनमें होय ।
जयति जगत पावन करन 'प्रेम' बरण ये दोय ॥"

× × ×

पारस मणि के संगते काञ्चन भई तलवार ।
'तुलसी' तीनों ना तजे धार-मार-आकार ॥
मन अहरन अरु शब्द घन सद्गुरु मिले सुनार ।
'तुलसी' तीनों ना रहे धार-मार-आकार ॥

× × तुलसीदास ।

"सींचौ थौ हित जान कै इन की उलटी रीत ।
सिर ऊपर रस्ता कियौ यही नीच की प्रीत ॥
नीर न डोबै काठ को कहो कौन सी प्रीत ?
अपनौ सींचौ जानकै, यही बड़न की रीत ॥"

× × ×

मैं समझता था कहीं भी कुछ पता तेरा नहीं ।
आज 'शँकर' तू मिला तो कुछ पता मेरा नहीं ॥

× × ×

तिनका कबहुँ न निंदिये जो पाँवन तर होय ।
कबहूँ उड़ि आँखिन परै पीर घनेरी होय ॥

× × कबीर ।

विचारमें तो सबीर ही हैं, शुरू किया काम अधीर ही हैं।
विपत्तिमें जो बनते सुधीर हैं, प्रसिद्ध वे ही जगदेक वीर हैं॥

× × —दरबारीलाल ।

ईति-भीति व्यापे नहिं जगमें, वृष्टि समय पर हुआ करे,
धर्मनिष्ठ हो कर राजा भी न्याय प्रजा का किया करे।
रोग-मरी-दुर्भिक्ष न फैले प्रजा शान्ति से जिया करे,
परम अहिंसा-धर्म जगत में फैल सर्वहित किया करे॥

× × 'युगवीर'

उर्दू—

"खुशनसीबी[1] है फ़िदा[2] हुब्बे वतन[3] पर होना ।
नक़्शेहस्ती[4] तो बहरहाल[5] है मिट जाने को ॥"

× × ×

ऐब[6] यह है कि करो ऐब हुनर[7] दिखलाओ ।
वरना[8] याँ ऐब तो सब फ़र्दोबशर[9] करते हैं ॥

× × —'हाली'

एक दिन था जब मयेजुरअत[10] से दिल सरशार था
बुज़दिलीसे[11] हमको नफ़रत वीरता से प्यार था ॥

× × —'नाज़'

अपनी नज़र में भी याँ, अब तो हक़ीर[13] हैं हम ।
बेग़ैरती[14] की यारो ! अब ज़िन्दगानियाँ हैं ॥

× × —'हाली'

"हम ठोकरें खाते हुए भी जोश में आते नहीं ।
जड़ हो गये ऐसे कि कुछ भी जोश में आते नहीं ॥"

× × ×

रुका हाथ जब बन गये पारसा[15] तुम ।
नहीं पारसाई यह है नारसाई[16] ॥

× × —'हाली'

"कालों के सर पै वार है गोरों के बट का ।
फल पा रहा है मुल्क यह आपस की फट का ॥"

× × ×

जो कहिये तो झूठी जो सुनिये तो सच्ची ।
खुशामद भी हमने अजब चीज़ पाई ॥

× × —'हाली' ।

"किसीकी कुछ नहीं चलती कि जब तक़दीर फिरती है"

× × ×

"जो पत्थर पै पानी पड़ै मुत्तसिल[17] ।
तो बेशुबह घिस जाय पत्थर की सिल ॥"

× × ×

---

१ महोभाग्य. २ बलिदान. ३ देशप्रेम. ४ अस्तित्वचिन्ह ५ हर हालतमें. ६ दोष. ७ गुण. ८ नहीं तो यहां. ९ व्यक्ति तथा मनुष्य. १० वीरताके नशेसे. ११ घृणा. १२ कायरता. १३ हीन १४ बेशर्मी. १५ साधु त्यागी, १६ अप्राप्ति. १७ लगातार ।

कर्नाटक-जैनकवि

[अनुवादक—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी]

(किरण ३ से आगे)

४० मंगरस तीसरा (ईस्वी सन १५०८ *)

इसके पितामह का नाम 'माधव' और पिता का नाम 'विजयभूपाल' था, जो होय्सल देशान्तर्गत होसवृत्ति प्रदेशकी राजधानी कलहल्लि का महाप्रभु था और जिसके उद्भव कुलचूड़ामणि, शार्दूलाङ्क उपनाम थे। यदुवंशके महामंडलेश्वर चेंगाल्वनृप के सचिवकुलमें यह उत्पन्न हुआ था। इसकी माता का नाम 'देविले' था। इसके गुरु का नाम 'चिक्क प्रभेन्दु' था। प्रभुराज और प्रभुकुलरत्नदीप इसके उपनाम थे। 'विजयभूपाल' विशेषणसे मालूम होता है कि यह बड़ा भारी वीर योद्धा था। इसके बनाये हुए जयनृपकाव्य, प्रभंजनचरित, श्रीपालचरित, नेमिजिनेश संगति और सूपशास्त्र नामक ग्रन्थ हैं। इसने सम्यक्त्वकौमुदी की रचना ई०स० १५०८ में की है। इसने अपने पूर्ववर्ती कवियोंमेंसे आदिपुराणके कर्ता 'पंप', अजितचरितके कर्त्ता 'रन्न', चन्द्रप्रभपुराणके कर्त्ता 'श्रीविजय', पुष्पदन्तपुराणके कर्त्ता 'गुणवर्म', अनन्तनाथचरितके कर्त्ता 'जन्न', धर्मचरितके कर्त्ता 'मधुर', शान्तीशचरित के कर्त्ता 'पोन्न', रामायण और मल्लिनाथपुराण के कर्त्ता 'नागचंद्र', नेमिचरित के कर्त्ता 'कर्णप', लीलावतीके कर्त्ता 'नेमि' और हरिवंशाभ्युदयके कर्त्ता 'बन्धुवर्म' का स्मरण किया है। अपने इतर ग्रंथों में इसने 'अग्गल' और 'सुजनोत्तंस' का भी स्मरण किया है।

'जयनृपकाव्य' परिवर्द्धिनी षट्पदी में लिखा गया है, जिसमें १६ सन्धियाँ और १०३७ पद्य हैं। इस में कुरुजांगल देश के राजा राजप्रभदेवके पुत्र जयनृप की कथा वर्णित है। कविने लिखा है कि यह चरित पहले जिनसेन (?) ने रचा था और दूधमें शर्करा के मिश्रणके समान संस्कृतमें कनड़ी भाषा मिला कर इस ग्रन्थकी यह रचना की गई है। इसमें गुणभद्र, कविपरमेष्ठी, बाहुबलि, अकलंक, जिनसेन, पूज्यपाद, प्रभेन्दु और तत्पुत्र श्रुतमुनिका स्मरण किया गया है।

'श्रीपालचरित' सांगत्य छन्दमें है और इसमें १४ सन्धियाँ और १५२३ पद्य हैं। इसमें पुण्डरीकिणी पुरीके राजा गुणपाल के पुत्र की कथा है। मंगलाचरणके बाद सुभद्र, पूज्यपाद, भद्रबाहु, बाहुबलि, गौतम, गुणभद्र और कविपरमेष्ठी की प्रशंसा की गई है।

'प्रभंजनचरित' की एक अपूर्ण प्रति उपलब्ध हुई है। इसमें शुभदेश के संभापुरनरेश देवसेनके पुत्र प्रभंजनकी कथा है। ग्रंथारंभमें जिन, मध्यमगुरु, उपाध्याय, साधु, सरस्वती, यक्ष, नवकोटि मुनि और स्वगुरु चिक्क प्रभेन्दु का स्मरण किया गया है।

---

* पहले सन १६८० तक के कवियों का हाल आ चुका था, फिर यह सन् का नया सिलसिला शुरू किया गया, जिसका कुछ कारण मालूम नहीं हो सका। क्या इन कवियोंका हाल पहले सिलसिले में छूट गया था अथवा मूल पुस्तकमें भी ऐसा ही क्रमभंग पाया जाता है ? —सम्पादक

'सूपशास्त्र' वार्धिक षट्पदी के ३५६ पद्योंमें हैं। इसमें पिष्टपाक, कलमान्नपाक, शाकपाक आदि विषयों का प्रतिपादन है। संस्कृत सूपशास्त्रमें जो कहा गया है, वही कवि ने इसमें लिखा है और नल-भीम-गौरी के मतानुसार कहने की प्रतिज्ञा की है।

'नेमिजिनेशसंगति' में ३५ सन्धियाँ और १५३८ सांगत्य छन्द हैं। इसमें नेमितीर्थंकरका चरित्र वर्णित है। मंगलाचरणके बाद तत्त्वार्थवृत्ति (सूत्र ?) के उद्धारक गृद्धपिच्छाचार्य *, चतुर्विंशतितीर्थंकर-कथाकार कविपरमेष्ठी, गुणभद्र, कलियुगगणधर माघनन्दि, छन्दोलंकार-शब्द-शास्त्रकी प्रत्यक्ष मूर्त्ति देवनन्दि, बौद्धोंका पराजय करने वाले अकलंक, स्वगुरु प्रभेन्दु, तच्छिष्य श्रुतमुनि और उनके सहोदर विमलकीर्ति का स्मरण किया है।

'सम्यक्त्वकौमुदी' में १२ संधियाँ और ९२ पद्य (उद्दंड षट्पदी) हैं। अर्हद्दासश्रेष्ठी की स्त्रियों ने कही हुई कथायें सुन कर सम्यक्त्व प्राप्त किया और फिर दीक्षा लेकर स्वर्गलाभ किया, यही इसका कथानक है। मंगलाचरण के बाद गौतम, देवनंदि, गुणभद्र, जिनसेन, राउल, कोंडकुन्द, भुजबलि, हेमदेव, मुनिचन्द्र, पद्मप्रभ, मयूरपिच्छ नन्दिमित्र, समन्तभद्र, केशव, माघनन्दि, अकलंक, भद्रबाहु, कुमुदेन्दु, प्रभेन्दु का स्मरण किया गया है।

४१ पद्मकवि (ई०स० १५२८)

इसका बनाया हुआ 'वर्द्धमानचरित' है। यह सांगत्य छन्द में है और इसमें १२ सन्धियाँ हैं। इसके पिता का नाम नागय्य है। यह ग्रंथ ई०स० १५२८ में लिखा गया है।

४२ रत्नाकर वर्णी (ई० स० १५५७)

इसने 'त्रिलोकशतक', 'अपराजितशतक', 'भरतेश्वरचरित' आदि ग्रंथ लिखे हैं। इसके रत्नाकरसिद्ध और रत्नाकरअण्ण नाम हैं और निरंजनसिद्ध इसका उपनाम है। यह वेणुपुर (मूडबिदिरी) का रहनेवाला था और इसके दीक्षागुरु देशीयगणाग्रणी 'चारुकीर्त्ति योगी' तथा मोक्षगुरु 'हंसनाथ' थे। हंसनाथकी आज्ञा से इसने 'भरतेश्वरचरित' की रचना की है।

देवचंद्र की 'राजावलिकथे' में इस कविके विषय में एक कथा दी है।

'त्रिलोकशतक' में १२८ श्लोक हैं। इसमें जैनधर्मानुसार लोकस्थितिका वर्णन है।

'अपराजितेश्वर-शतक' में १२७ पद्य हैं। प्रत्येक पद्य के अन्तमें अपराजितेश्वर शब्द आया है। इसमें नीति, वैराग्य, आत्मविचार आदि विषय प्रतिपादित हैं।

'भरतेश्वरचरित' में ८० संधियाँ और ९९६९ पद्य हैं। भरतेशवैभव और भरतेशसंगति भी इसे कहते हैं। इसमें तत्त्वोपदेशप्रसंगमें कुछ जैन ग्रंथोंके नाम दिये हुए हैं जो इस प्रकार हैं—कुन्दकुंदाचार्यकृत प्राभृत और अनुप्रेक्षा, अमृतचंद्रसूरिकृत समयसारक नाटक, प्रभाकर भट्टकृत कथा (?), पद्मनंदिकृत स्वरूपसम्बोधन, पूज्यपादकृत समाधिशतक, ज्ञानवर्णन, योगरत्नाकर, सकलानिधि, रत्नपरीक्षा, आराधनासार, सिद्धान्तसार, इष्टोपदेश, अध्यात्मनाटक, अष्टसहस्री, नियमसार, अध्यात्मसार। भवसेन नामक एक गुरुका नाम भी आया है।

४३ पूज्यपाद योगी (ल० १६००)

पायणवर्णी के 'ज्ञानचंद्रचरित' से मालूम होता है कि इसने कनडी षट्पदी में 'ज्ञानचंद्रचरित' लिखा है।

* इन आचार्य की जिन शब्दों में जो उल्लेख है वह सब ज्यों का त्यों अविकल अनुवाद के साथ प्रकाशित होना चाहिये। —सम्पादक

पहले वासवचंद्र मुनिने 'प्राकृत ज्ञानचंद्रचरित' लिखा और उसका अनुवाद पूज्यपाद योगी ने किया। इसी अनुवाद परसे पायणवर्णीने ई०स०१६५९में 'ज्ञानचंद्र-चरित'की सांगत्य छन्दमें रचना की। अतएव यह कवि १६५९के पहलेका ई०स०१६००के लगभग हुआ होगा।

४४ भट्टाकलंकदेव (ई० स० १६०४)

इसने 'कर्णाटकशब्दानुशासन' नामक व्याकरण लिखा है और अपने गुरु का परिचय इन शब्दों में दिया है— **"मूलसंघ-देशीयगण-पुस्तकगच्छ-कुंडकुंदान्वय-विराजमान श्रीमद्रायराजगुरु मण्डलाचार्य महावादिवादीश्वरवादिपितामह सकलविद्वज्जनचक्रवर्तिवल्लालरायजीवरक्षापालकेत्यादि अनेकान्वतविरुदावलीविराजमान श्रीमच्चारुकीर्तिपण्डितदेवाचार्य शिष्यपरम्परायातश्रीसंगीतपुरसिंहासनपट्टाचार्य श्रीमदकलंकदेवेन"**। यह ग्रंथ शक संवत् १५२६ (ई०स०१६०४) में रचा गया है। बिलिगिया तालुके के एक शिलालेखमें इसकी परम्परा-विषयक बहुत बातें मालम होती हैं।

देवचन्द्रने अपनी 'राजावलिकथे' में लिखा है कि सुधापुरके 'भट्टाकलंक स्वामी' सर्वशास्त्र पढ़ कर महाविद्वान हुए। इसके बाद प्राकृत, संस्कृत, मागधी इत्यादि षड्भाषाकवि होकर उन्होंने कर्णाटक व्याकरण की रचना की और प्रसिद्धि प्राप्त की।

अपने ग्रंथ में इन्होंने पंप, होन्न, रन्न, नागचंद्र, नेमिचंद्र, रुद्रभट्ट, अग्गल, अंडय्य, मधुर आदि कवियों का स्मरण किया है।

'कर्णाटकशब्दानुशान' कनड़ी भाषाका व्याकरण है। इसमें ४ पाद और ५९२ सूत्र हैं। इन सूत्रों पर भाषामंजरी नामकी वृत्ति और मंजरीमकरंद नामका व्याख्यान है। सूत्र, वृत्ति और व्याख्यान तीनों ही संस्कृतमें हैं। प्राचीन कनड़ी कवियों के ग्रन्थों पर से उदाहरण दिये हैं। नागवर्म के 'कर्णाटकभाषाभूषण' की अपेक्षा यह विस्तृत है। 'शब्दमणिदर्पण'की अपेक्षा इसमें विषय अधिक हैं। कनड़ी भाषा का यह अत्युत्तम व्याकरण है।

४५ शान्तिकीर्ति मुनि (१६१९)

इन्होंने 'शांतिनाथचरित' की रचना की है, जिसमें २३ संधियाँ हैं। मि० राइस साहबके मतमें यह ग्रन्थ तुलुदेश के वेणुपुर के वृषभजिनालय में शक १४४० (ई० स०१५१९ *) में बनाया गया है।

४६ पायण वर्णी (१६५९)

इसने 'ज्ञानचंद्रचरित' लिखा है। यह चारुकीर्ति-पण्डिताचार्य का शिष्य था और बेलगोल के नागपय्य के वंशमें इसका जन्म हुआ था। शक सं०१५८१ (ई० स०१६५९) में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

पेनगोंडिदेशके नंदियपुरका रहनेवाला 'सम्यक्त्व-कौमुदी' का कर्ता पायण्ण वर्णी (१६००) और श्रीरंगपट्टणनिवासी 'सनत्कुमारचरित' का कर्ता पायण्ण मुनि ये दोनों पायण वर्णी से जुदा मालम होते हैं।

पूर्व कवियोंमेंसे जिनसेन, गुणभद्र, अकलंक, कनककीर्ति, रत्नाकर (भरतेश्वरचरित-कर्ता), कुमुदचन्द्र, प्रभाचंद्र, सोमदेवका इसने स्मरण किया है।

'ज्ञानचन्द्रचरित' सांगत्य छन्दमें है। इसमें ४६ अध्याय या सन्धियाँ और ६३३४ पद्य हैं। इसमें तपश्चर्या करके मोक्ष-प्राप्त करनेवाले चंद्रवंशी राजा 'ज्ञानचन्द्र' की कथा है। ग्रंथारंभमें सिद्ध, सरस्वती, गणधर

* यहां सन १५१८ और शालिवाहन शकमें १४४० दिया है तब क्या ग्रन्थकी समाप्तिका समय शक सं० १४४० है? – **सम्पादक**

की स्तुति करके भद्रबाहु, कविपरमेष्ठी, कुण्डकुन्द, मूलसंघ ही श्रेष्ठ है यह सिद्ध करके दुष्ट (?) श्वेताम्बर लोगों पर जय प्राप्त करने वाले उमास्वाति × मुनि अकलङ्क, भोजराज, अमावस्याके दिन पूर्णिमा कर दिखाने वाले प्रभाचन्द्र, पूज्यपाद, कोल्हापुरके माघनन्दि, लब्धि-गोमट-त्रिलोकसारके कर्ता नेमिचन्द्र, अद्वैतमतध्वंसक शुभचन्द्र, नच्छिष्य चारुकीर्ति, **गोम्मटसार पर सवालाख श्लोकपरिमित संस्कृत टीका* लिखने वाले पंडितराव,** पंडितार्य, देवता जिनकी पालकी उठाते थे वे पंडित मुनि ललितकीर्ति, बलात्कारगण के विद्यानन्दि, काणूरगणके देवकीर्ति और लक्ष्मीसेन का स्मरण किया गया है।

४७ पद्मनाभ (ल० १६८०)

इसने 'पद्मावतीचरित' की रचना की है, जिसके 'जिनदत्तरायचरित' और 'अम्मनवरचरित' नामान्तर हैं। कविने इसमें अपना और अपने आश्रयदाता का भी परिचय दिया है। तुलव देशमें 'किन्निग' नाम का राजा हुआ और उसके बाद 'तिरुमल राव' जिस को 'तिरुमल सामन्त' भी कहते थे, गद्दी पर बैठा। पद्मनाभ इस राजा का कोषाध्यक्ष था। 'पद्मावतीचरित' सांगत्य छंदमें लिखा गया है। इसमें १२ संधियाँ और १६७१ पद्य हैं और यह पार्श्वनाथ की शासनदेवी पद्मावती का चरित है।

× यह कथा तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता से भिन्न कोई दूसरे उमास्वाति हैं? इन्होंने श्वेताम्बरों पर कब क्या विजय प्राप्त की और किस साहित्य की रचना की? इन सब बातों की खोज होनी चाहिये।

—सम्पादक

* यदि सचमुच ही गोम्मटसार पर संस्कृतमें ऐसी कोई महती टीका लिखी गई है तो उसका, उसके लेखकके विशेष परिचयके साथ, शीघ्र ही पता लगाया जाना चाहिये। —सम्पादक

४८ नागव (ल० १७००)

इसने 'माणिकस्वामिचरित' की रचना की है। इसका पिता कोटिलाभान्वय का 'सोड्डेसेट्टि' था और माता 'चौडांबिका'। यह ग्रंथ भामिनी षट्पदीमें लिखा गया है और इसमें ३ संधियाँ और २९८ पद्य हैं। इस में 'माणिक्यजिनेश' का चरित्र निबद्ध है, जिसका सारांश यह है—देवेन्द्रने अपना माणिकजिनबिम्ब (प्रतिमा) रावणपत्नी मन्दोदरी को उसकी प्रार्थना करने पर दे दिया और वह उसकी पूजा करने लगी। रावणवध के बाद मन्दोदरी ने उस मूर्त्तिको समुद्रगर्भमें रख दिया। बहुत समय बीतने पर 'शंकरगंड' नामक राजा एक पतिव्रता स्त्री की सहायतासे उक्त मूर्तिको ले आया और कोल्लपाक* नामक ग्राममें उसकी स्थापना की। ग्रंथके आरम्भमें माणिकजिनकी और फिर सिद्ध, सरस्वती, गणधर, यक्ष, यक्षी की स्तुति है।

४९ चंद्रशेखर (ल० १७००)

इसने 'रामचंद्रचरित' का कुछ भाग लिखा है जिसकी पूर्त्ति पद्मनाभ ने ई० स० १७५० में की है। यह कवि 'लक्ष्मणवंग' राजाका आस्थानी (दरबारी?) था और पद्मनाभकी अपेक्षा विशेष प्रसिद्ध कवि था। ग्रन्थ अपूर्ण रहने का कारण उसका असमय मरण जान पड़ता है। यह ग्रन्थ हमको अपूर्ण ही मिला है।

५० देवरस (ल० १७००)

यह वर्द्धमान भट्टारक का शिष्य था और इसने 'श्रीपालचरित' की रचना की है, जो सांगत्य छंद में है। इसकी एक अपूर्ण प्रति मिली है जिसमें केवल दो संधियाँ हैं।

* निजाम स्टेट का कुल्पाक ग्राम का तीर्थस्थान।

मंगलमय महावीर

[लेखक—साधु श्री टी० एल० वास्वानी; अनुवादक—श्री हेमचंद मोदी]

चैत्रका परमपावन महीना महावीरका स्मारक है। इस पुण्य मासमें वे आजसे २५ शताब्दी पहले अवतीर्ण हुए। उन्होंने पटनाके समीपके एक स्थानको अपनी जन्मभूमि बनाया। अशोक और गुरु गोविन्दसिंहका भी स्मारक होनेके कारण पटना पवित्र है।

परम्परासे उन महाभागकी जन्म-तिथि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी मानी जाती है। यह दिन—महावीरकी वर्षगाँठ का दिन—युवकों के कैलेण्डर में स्मरणीय है। युवकों को याद रहे, यह तिथि अनेक महावीरोंकी जननी है।

यद्यपि भारत दरिद्र है, फिर भी वह श्री-सम्पन्न है। उसकी यह श्री उसके मनुष्योंमें है। उसके करोड़ों मनुष्य, यदि कुछ करनेका संकल्प करें, तो क्या नहीं कर सकते? और प्रत्येक शताब्दीमें भारतने ऐसे कितने महापुरुष पैदा नहीं किये, जो आत्माकी शक्तिमें महान् थे? क्योंकि वह, जिसकी कीर्तिका प्रसार यह चैत्र शुक्ला कर रही है, हमारे इतिहासका एकमात्र महावीर नहीं हुआ है; अन्य महावीर भी हुए हैं। वे हुए हैं अन्य युगोंमें। वे आत्मिक क्षेत्र के योद्धा थे। उन्होंने भारत-भूमिको पुण्य-भूमि बना दिया और उसे आध्यात्मिक आदर्शवादकी श्रीसे सम्पन्न कर दिया।

ये महावीर—अर्थात महान विजयी—ही इतिहास के सच्चे महापुरुष हैं। ये उद्धतता और हिंसा के नहीं, किन्तु निरभिमानता और प्रेमके महावीर थे।

रूसके महान् ऋषि टाल्स्टायने इस रागको बारबार अलापा है कि "जिस प्रकार अग्नि अग्निका शमन नहीं कर सकती, उसी प्रकार पाप पापका शमन नहीं कर सकता।" कहा जाता है कि इस पर ईसाके इस प्रवचनकी कि 'पापका प्रतिकार मत करो' छाप है, परन्तु ईसासे भी पाँच शताब्दी पहले अहिंसाकी यह शिक्षा भारतको दो आत्मज्ञों और ऋषियों—बुद्ध और महावीर—द्वारा उपदिष्ट और आचरित हो चुकी थी। जैन लोग भगवान, ईश्वर, महाभाग इत्यादि कह कर महावीरको पूजते हैं।

वे उन्हें तीर्थंकर भी कहते हैं। मैं जिसका अर्थ करता हूँ "सिद्ध पुरुष"। महावीरका स्मरण उन्हें चौबीसवें तीर्थंकर मानकर किया जाता है। उनके प्रथम तीर्थंकरका नाम ऋषभनाथ अथवा आदिनाथ है, जो अयोध्यामें जन्मे और कैलास पर्वत पर महत्तम आत्मज्ञान (कैवल्य) के अधिकारी हुए। वे उस धर्मके सब में प्रथम प्रवर्त्तक थे, जिसे इतिहासमें जैनधर्म कहा है। महावीर जैनधर्मके प्रवर्त्तकोंकी लम्बी सूचीमें २४वें हैं। उन्होंने इस बौद्धधर्मसे भी प्राचीनतर धर्मकी पुनर्घोषणा की और उसका पुनर्निर्माण किया।

महावीरके विषयमें मैंने जो कुछ जाना है, उससे मुझ पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। उनका जीवन अद्वितीय उदारता और अद्वितीय सौन्दर्यसे परिपूर्ण था। बुद्धके समकालीन होनेके कारण वे बुद्धके त्याग का, बुद्धके तपका और बुद्धके मानव-प्रेमका स्मरण दिलाते हैं।

वे ईसासे ५९९ वर्ष पूर्व बिहार-प्रान्तके एक शहर में जन्मे थे। उनके पिता 'सिद्धार्थ' एक क्षत्रिय राजा थे। उनकी जननी 'त्रिशला'—प्रियकारिणी-वज्जियोंके

प्रजातन्त्रके मुखिया चेटककी पुत्री थी। महावीर अन्य लड़कोंके समान पाठशाला में भेजे जाते थे, परन्तु जान पड़ा कि उन्हें शिक्षककी आवश्यकता नहीं है। उनके हृदयमें वह ज्ञान विद्यमान है, जिसे कोई भी विद्यालय नहीं प्रदान कर सकता। बुद्ध के समान ही वे इस जगतको त्याग देनेके लिए व्याकुल हो उठते हैं। अट्ठाईस वर्षकी अवस्था पर्यन्त वे कुटुम्बमें ही रहते हैं। अब उनके माता-पिता गुज़र जाते हैं और उन्हें संन्यास के प्रवाहमें प्रवेश करनेके लिए अन्तःप्रेरणा होती है। तब वे अपने ज्येष्ठ भ्राताके समीप अनुमतिके लिए जाते हैं। उनके भाई कहते हैं—"घाव अभी हरे हैं, ठहरो।" वे दो वर्ष और ठहर जाते हैं। अब वे तीस वर्षके हैं। ईसाके समान अब उन्हें अन्तःप्रेरणा होती है कि अब सब कुछ छोड़ कर सेवाके सुमार्गमें प्रवेश करना चाहिए। बुद्धके समान वे अपनी सब सम्पत्ति दरिद्रोंको दान कर देते हैं। कुटुम्बको त्यागनेके दिन वे अपना सारा राज्य अपने भाइयोंको और सारी सम्पत्ति गरीबोंको दे देते हैं। फिर वे तपश्चर्या और ध्यानका जीवन व्यतीत करते हैं। बुद्ध को ६ वर्ष की साधनाके बाद प्रकाशके दर्शन हुए थे। महावीरको यह ज्योति १२ वर्षके अन्तर्ध्यान और तपस्याके बाद दीखती है। ऋजुकूला नदीके किनारे जम्भक ग्राममें वे परम-आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। ग्रन्थोंकी भाषामें अब वे तीर्थंकर, सिद्ध, सर्वज्ञ अथवा महावीर हो जाते हैं। वे अब उस अवस्थाको प्राप्त करते हैं, जिसे उपनिषदों में कैवल्य-दृष्टाकी अवस्था कहा है। जैनग्रन्थोंके अनुसार अब उनका नाम 'केवली' हो जाता है।

तब वे बुद्धके समान धर्म-प्रचारके लिए एक महान् मिशन लेकर लोगोंमें ज्ञानका उपदेश देने निकलते हैं। तीस वर्ष तक वे यहाँ से वहाँ घूमते-फिरते हैं। बंगाल और बिहार में वे सच्चे सुख की सुवार्ता (Gospel) का सदुपदेश देते हैं। अपने सन्देश को वे जंगली जातियों तक भी ले जाते हैं, और इसमें वे उनके क्रूर व्यवहारों की पर्वाह नहीं करते। वे अपने मिशन में सवश? और हिमालय तक जाते हैं। अनेक पीड़कों और पीड़ाओंके बीच वे कितने गम्भीर और शान्त बने रहते हैं, और इस गम्भीरता तथा शान्ति में कितना सौन्दर्य है!

वे गुरु हैं और व्यवस्थापक भी। उनके ग्यारह प्रधान शिष्य हैं। चारसौ से ऊपर मुनि और अनेक श्रावक उनके धर्मको धारण करते हैं। ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों ही उनके समाजमें शामिल होते हैं। उनका विश्वास वर्ण और जातिमें नहीं है। वे दीवाली के दिन पावापुरी (बिहार) में ७२ वर्ष की आयु में ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इन महावीर का—जैनियोंके इस महापुरुषका—चरित्र कितना सुन्दर है! वे धनवान क्षत्रिय कुल में जन्म लेते हैं और गृहको त्याग देते हैं। वे अपना धन दरिद्रोंमें दान कर देते हैं, और विरक्त होकर जंगल में अन्तर्ध्यान और तपस्याके लिये चले जाते हैं। कुछ लोग उन्हें वहाँ ताड़ना देते हैं, परन्तु वे शान्त और मौन रहते हैं।

तपस्याकी अवधि समाप्त होने पर वे बाहर आते हैं। वे अपने सिद्धान्त की शिक्षा देने के लिये जगह जगह घूमते हैं, और बहुत से लोग उनका मज़ाक उड़ाते हैं। सभाओं में वे उन्हें तंग करते हैं, उनका अपमान करते हैं, परन्तु वे प्रशान्त और मौन बने रहते हैं!

उनका एक शिष्य उन्हें त्याग देता है और उनके विरुद्ध लोगों में मिथ्या प्रवाद फैलाता है, पर फिर भी वे शान्त तथा मौन रहते हैं।

वे एक महावीर—एक विजेता—एक महापुरुष हो जाते हैं, क्योंकि वे शान्ति की शक्ति का विकास करते हैं।

निःसन्देह ही उनके जीवनने उनके भक्तों पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने उनके संदेश को सब तरफ फैलाया। कहा जाता है कि पायरो (Pyrrho) नामक यूनानी विचारकने जिमिनोसोफिस्टोंके चरणोंमें दर्शनशास्त्र सीखा। मालूम होता है कि ये जिमिनोसोफिस्ट लोग जैन योगी थे, जैसा कि उनका यह नाम निर्देश करता है।

बचपनमें उनका नाम 'वीर' रक्खा गया। उस समय वे 'वर्द्धमान' भी कहलाते थे, परंतु आगे चल कर वे 'महावीर' कहलाये। महावीर शब्द का मूल अर्थ महान् योद्धा है। कहा जाता है कि एक दिन जब कि वे अपने मित्रोंके साथ क्रीड़ा कर रहे थे, उन्होंने एक बड़े काले सर्पको उसके फन पर पैर रख कर बड़े गौरवसे वशमें किया और तभीसे उन्हें यह विशेषण मिला। मुझे यह कथा एक रूपक मालूम पड़ती है, क्योंकि महावीर ने सचमुच कषाय-रूपी*सर्पको वश में किया था। वे दर असल एक महान् वीर—महान विजेता—थे। उन्होंने राग और द्वेषको जीत लिया था। उनके जीवनका मुख्य उद्देश्य चैतन्य था†। वह जीवन परम शक्तिका था। 'पीत वर्ण' और 'सिंह' ये दो उन के प्रिय चिह्न हैं। आधुनिक भारत को भी महान वीरों की आवश्यकता है। सिर्फ धन या ज्ञान बहुत कम उपयोगी है। आवश्यकता है ऐसे पुरुषार्थी पुरुषोंकी, जो अपने हृदय से डरको निर्वासित कर स्वातन्त्र्य की सेवा करें। महावीर की वीरता उनके जीवन और उन के उपदेशों में प्रतिबिम्बित है। वह जीवन अद्वितीय आत्म-विजयका है। उनका उपदेश भी वीरता-पूर्ण है। "सब जीवों को अपने समान समझो और किसी को कष्ट न पहुँचाओ।" इन शब्दोंमें अहिंसा के द्विगुण सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। एक स्पष्ट है और दूसरा गूढ़। इन में 'स्पष्ट' ऐक्यके सिद्धान्तों का अनुसरण करता है, अर्थात् अपनेको सबमें देखो; और 'गूढ़' उसमें से विकसित होता है, अर्थात् किसी की हिंसा मत करो। सब में अपने आपका दर्शन करनेका अर्थ ही किसीको कष्ट देनेसे रुकना है। अहिंसा सब जीवों में अद्वैतके आभास से ही विकसित होती है।

हमारे इतिहासके इस महान वीर का जीवन और उनका संदेश तीन बातों पर ज़ोर देता है:—

१ ब्रह्मचर्य—बहुत से साधु गोशालके नेतृत्व में नीति-भ्रष्ट जीवन व्यतीत करते थे। वे औरतोंके गुलाम थे। यह गोशाल उनका एक भागा हुआ शिष्य था, जो पीछेसे पागल होकर मरा। जो लोग सच्चा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना चाहें, उनके लिये महावीर ने ब्रह्मचर्य-व्रत अनिवार्य कर दिया है, इस लिये जो लोग भारत का पुनर्निर्माण एक महान देशके रूप में करना चाहें, उन्हें ब्रह्मचर्य की शक्ति से पूर्ण होना चाहिए।

२ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद—महावीरने सिखाया कि विश्व का कोई भी एक स्वरूप-सत्यका पूर्ण प्रतिपादन नहीं कर सकता, क्योंकि सत्य अनन्त है। इससे मुझे आइन्स्टीनके सापेक्षवाद (Doctrine of relativity) के आधुनिक संप्रयोगका स्मरण हो आता है। हमने अभी कुछ वर्षोंमें धर्मके नाममें वाद-विवाद और घृणाके कारण काफी कष्ट उठाया है। महावीर की

* कषाय=हिंसाका भाव—क्रोध, मान, माया, लोभ।

† The Central note of his life was 'Virya' Vitality.

वाणी युवकगण सुनें, और उन का सहानुभूति एवं समानता का संदेश ग्रामों और नगरोंमें ले जावें। विभिन्न धर्मों ने भेदों और झगड़ों का सृजन किया है। वे आध्यात्मिक जीवन-सम्बन्धी नये विचार, नूतन देशभक्ति और नवीन राष्ट्रीय जीवन का सृजन करें; क्योंकि सत्य असीम है और धर्मका उद्देश्य भिन्नता और झगड़ोंका उत्पादन करना नहीं, किन्तु उदारता और प्रेम का पाठ पढ़ाना है।

२ अहिंसा—यह वस्तु आलस्य और कायरताके परे है। अहिंसा सत्तात्मक है, निरी कल्पना नहीं। यह साधारण गुणों से उच्च श्रेणीकी वस्तु है। यह एक शक्ति है। यह शक्ति शान्ति की है—लड़ाकू दुनियामें शान्तिकी अन्तःप्रेरणा है।

बहुत दिनोंसे यूरोप में नित्य ही बलात्कार और हिंसाके नये-नये कार्यक्रम स्वीकृत हो रहे हैं। आज भारतमें भी बहुत लोगोंके लिए वे आकर्षक सिद्ध हुए हैं। एक फरासीसी ने अभी हालमें ही प्रकाशित एक पुस्तक में लिखा है—"हमें जर्मनीके नाश की ज़रूरत है।" एक भारतीयने भी रशियोद्धार-फण्डमें सहायता करनेके लिए आग्रह किये जाने पर कहा था—"हमें आवश्यकता है यूरोपियनों के नाश की।" इस तरह की बातें मेरे हृदय को पीड़ा पहुँचाती हैं। फिर मैं भारतके ज्ञानी महात्माओंका चिन्तन करता हूँ, जिन्हों ने आज से २५ शताब्दी पहले हिन्दुस्तान के लोगों को यह महान सदेश—द्वेषको सहानुभूति और निःस्वार्थता से जीतो—दिया था।

मैं इतिहास के पृष्ठोंको नाश और भयसे आच्छादित पाता हूँ। युद्ध ! नाश ! धार्मिक अत्याचार ! अपनी जीवनयात्रामें हम ने अहिंसा को अपना लक्ष्य नहीं रक्खा। हमारे भोजन में, हमारे व्यापारमें और सामाजिक जीवन में क्या अहिंसा से हिंसा अधिक नहीं है ?

और वर्तमान राजनीतिमें हम क्या देखते हैं, कषायों की मन्त्रणा या अहिंसा की शक्ति ?

एक बात का मैं और भी अनुभव करता हूँ, और वह यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलनोंको एक नवीन उदार आध्यात्मिक स्पन्दन (प्रोत्साहन) मिलता जाना चाहिए। एक भ्रातृत्वमय सभ्यता का निर्माण होना चाहिये। विद्वेष हमारी सहायता नहीं करेगा। आजकल राष्ट्र अपनी मानसिक शक्तियोंकी सम्पत्ति लड़ाई-झगड़ोंमें खर्च कर रहे हैं। हमें चाहिए कि हम ईश्वरको अपने राष्ट्रीय जीवनमें खींच लावें। मानव-विश्वके पुनर्निर्माण के लिए हमें आध्यात्मिक शक्तिकी आवश्यकता है।

यदि कोई मुझसे एक ही शब्दमें कहनेके लिए कहे कि भारतकी आत्मा क्या है? तो मैं कहूँगा—'अहिंसा'। भारतका अनन्त अन्वेषण अहिंसाको विचार, कला, उपासना और जीवनमें समाहृत करता रहा है।

अहिंसाके सिद्धान्तने भारतवर्षके सांसारिक सम्बंधों परभी प्रभाव डाला। उसने साम्राज्यों और विजयोंके स्वप्न नहीं देखे और वह जापान तथा चीनका भी गुरु हो गया। अपनी इस आध्यात्मिक उन्नतिके कारण यह अपरिचित देश उन देशोंका ईर्षापात्र हो गया। भारतवर्ष सैनिकवादियोंका देश नहीं था। मनुष्यताके प्रति आदरबुद्धि ने ही उसे साम्राज्यवादित्वकी आकांक्षा से बचा लिया। वह महान् राजनीतिक सत्य था, जिसे बुद्ध ने अपने वचनों में व्यक्त किया था कि "विजेता और विजित दोनों ही असुखी हैं। विजित अत्याचारके कारण और विजेता इस डरके मारे कि विजित कहीं फिर न उठ बैठे और उसपर विजय प्राप्त करे।" भारतवर्षने कभी किसी देश को गुलाम बनाने का प्रयत्न नहीं किया।

गुलाम बनाना ही हिंसाचरण है।

यद्यपि इस प्रकार पीड़ित है और संक्षोभमें भटकता फिर रहा है, और प्रायः लोग उस की शक्ति को भूलसे स्वतन्त्रता समझ बैठे हैं। साधनोंके बिना और नैतिक नियमोंके अभ्यासके बिना स्वातन्त्र्य नहीं हो सकता। यद्यपि अभी तक राष्ट्रीय और जातीय नियमसे अधिक और किसी नियम को नहीं मानता। इसके परिणाम हैं राष्ट्रीय संघर्ष और पश्चिमके राष्ट्रवाद। इनका परिणाम हुआ संसार-व्यापी युद्ध, और युद्धका अभी तक अन्त नहीं हुआ है।

मुझे मालूम है कि युवकोंको हिंसाके मूल्यके विषय में सन्देह है। वे प्रकृतिमें शक्ति—मदमत्त अनियन्त्रित शासन-द्वारा किये गये अपने देशके अपमानके कारण संक्षुब्ध हैं, परन्तु स्वतन्त्रताके युद्ध में शक्तिका रहस्य धैर्ययुक्त उद्यम और आत्म-यज्ञ का अभ्यास है। जिस अहिंसाकी चर्चा मैं कर रहा हूँ, वह निर्बलता नहीं है। सच्ची अहिंसा मृत्युका डर नहीं है, किन्तु मनुष्यताके प्रति आदर भाव है। मुझे गहरा विश्वास है कि भारत स्वतन्त्र हो जायगा, यदि वह अपने आपके प्रति सच्चा होगा। मुझे उपनिषदोंके इस उपदेश पर पूरा विश्वास है कि अहिंसा यज्ञ है, और यज्ञ अथवा बलिदान महान बल है। जब मैं अपने कामके लिए जाता हूँ, तब गीताके एक उद्गार को अपने आप गुनगुनाया करता हूँ "हे कौन्तेय, मेरा भारत कभी नष्ट न होगा!"

* छलना *

[लेखक—श्री० भगवन्त गणपति गोयलीय]

जब यौवन की प्रथम उषा में, मैंने आँखें खोलीं;
भवसागर के पार पूर्ति है हँस आशाएँ बोलीं।
सोचा, क्यों न चलूँ उस पार
बैठा तरि पर ले पतवार।

मैं था अनुभव हीन युवा, कैसे पतवार चलाता;
ऐसा नाविक मिला न जो उस पार मुझे पहुँचाता।
वे तब स्वर्ग-ज्योति-सी आई,
मुझे देखते ही मुसकाई।

बोलीं चिन्तित न हो युवा, दो मैं पतवार चलाऊँ;
अपने संग तुम्हें भी भव के उस तट पर पहुँचाऊँ।
मंत्र-मुग्ध-सा बैठा तरि पर;
तरी बढ़ चली जल पर सत्वर।

उदधि-ऊर्मियों से लड़ कर के तरणी इठलाई तब,
हम दोनों पर प्रेम-सुरा की मादकता छाई तब।
मैं बोला, तुम पर न्यौछावर;
वे बोलीं, प्रियतम प्राणेश्वर!

अकस्मात हो उठा क्षुब्ध सागर है दूर किनारा,
वे तो अन्तर्धान हुई बैठा हूँ मैं बेचारा।
कोई उन का पता बता दो
या कि किनारे तरी लगा दो।

राजा खारवेल और हिमवन्त-थेरावली

[लेखक— श्री० मुनि कल्याणविजय जी]

अनेकान्तकी ४थी किरणमें "राजा खारवेल और उसका वंश" इस हेडिंग से हमारा एक लेख छपा है, जो कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के जीवन-वृत्तान्त से संबद्ध है। इस लेख का आधार 'हिमवन्त-थेरावली' का गुजराती अनुवाद है, यह बात हमने उसी लेख के अन्त में फुटनोट देकर स्पष्ट करदी है।

इस विषय के अन्वेषक कतिपय विद्वानों के पत्रों से हमें ज्ञात हुआ कि उनको यह लेख बहुत ही पसन्द आया है। पर यह दुःख की बात है कि बा० कामताप्रसाद जी जैन को इस लेख से कुछ आघात पहुँचा मालूम होता है, जिस के परिणाम आपने 'अनेकान्त' की ५ वीं किरण में इसके खण्डन में इसी शीर्षक से एक आक्षेपक लेख प्रकाशित कराया है।

लेख के प्रारम्भमें 'हिमवन्त-थेरावली' को जाली ठहराने की धुन में आपने श्वेताम्बर जैन समाज पर जो आक्षेप किये हैं उन का उत्तर देना इस लेख का विषय नहीं है, पर लेखक महाशय इतना समझ रक्खें कि जो दोषारोपण आप श्वेताम्बर समाज पर करने जा रहे हैं उस से कहीं अधिक दोषारोप दिगम्बर समाज पर भी हो सकता है, पर इस दोष-दृष्टि में लाभ ही क्या है? इन दोषग्राहक-वृत्तियों से हमने हमारे समाज का जितना नुकसान किया है उतना शायद हमारे विरोधियों ने भी नहीं किया होगा। क्या ही अच्छा हो यदि अबभी हम हमारे समानधर्मियोंके ऊपर कीचड़ फैंकने के स्थान पर उनके साथ सहकार करना सीखें।

लेखककी शिकायत यह है कि 'हिमवन्त-थेरावली' की प्रामाणिकता और प्राचीनता की चर्चा किये बगैर उसमें लिखी हुई किसी भी हक़ीक़तका प्रकाशित करना ठीक नहीं जँचता।" क्या यह दलील है? भला जो कुछ ऐतिहासिक नई सामग्री उपलब्ध हो उसको सत्य प्रमाणित किये बगैर विचारार्थ उपस्थित न किया जाय तो उस पर ठीक विचार ही कैसे हो सकता है? खारवेल के हाथीगुफा के लेखका ही उदाहरण लीजिये, उसको अनेक विद्वानों ने पढ़ा और अपनी अपनी समझ के अनुसार एक दूसरे की विचारधारा को बदल कर अपनी सम्मतियां कायम कीं। यही क्यों, एक एक विद्वान ने प्रत्येक बार अपने विचारों को किस प्रकार बदला और नये परिष्कार किये यह बात कहने की शायद ही जरूरत होगी।

दूसरी बात यह है कि हमारा उक्त लेख 'हिमवन्त थेरावली' विषयक मौलिक लेख नहीं था कि उसमें हम अपना कुछ भी अभिप्राय देते, "वीर संवत् और जैन-कालगणना" नामक हमारा निबन्ध जो 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में अभी छपा है उस के पीछे इस थेरावली का सारांश परिशिष्ट के तौर पर दिया है उस का यह एक अंश मात्र था, मूल लेख के साथ जो कुछ लिखना उचित था वह हमने लिख भी दिया है, पर लेखके प्रत्येक अंश अथवा प्रकरणके साथ लेखक अपना अभिप्राय कैसे दे सकता है? यदि बा० कामताप्रसाद जी हमारे उस लेख के अन्त में दिये हुए फुटनोट को देख लेते तो यह आक्षेप करने का उन्हें शायद मौक़ा ही

नहीं मिलता। 'थेरावली किस आचार्य ने किस ज़माने में लिखी' इस बात पर ऊहापोह तभी हो सकता है कि जब वह मूल थेरावली उपलब्ध हो गई हो। केवल उसके भाषान्तर के आधार पर यह चर्चा किस प्रकार निर्दोषरीत्या चल सकती है? पर लेखक महोदय ज़रा धैर्य रक्खें, इन सब पहलुओं पर विचार हो जायगा, क्योंकि अब मूल स्थविरावली भी हमारे हस्तगत हो गई है।

अब हम कामताप्रसादजी की उन दलीलों की क्रमशः समालोचना करेंगे जो उन्होंने 'हिमवन्त थेरावली' की खारवेल-विषयक बातों को अप्रामाणिक और बाधित सिद्ध करने के लिये अपनी तरफ से उपस्थित की हैं।

(१) आपका यह कथन ठीक है कि 'चेटकके वंश का जो परिचय थेरावली में दिया है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता' पर इससे यह कैसे मान लिया जाय कि कोई भी बात एकसे अधिक ग्रन्थों में न मिलने से ही अप्रामाणिक या जाली है? दिगम्बर संप्रदायके मान्य ग्रन्थ मूलाचार अथवा भगवती आराधना का ही उदाहरण लीजिये, इन दोनों ग्रंथों में ऐसी अनेक बातें हैं जो दूसरे किसी भी दिगम्बराचार्यकृत ग्रन्थों में नहीं मिलतीं, क्या हम पूछ सकते हैं कि इन दोनों ग्रन्थों को अप्रामाणिक अथवा जाली ठहरानेका बाबूसाहब ने कभी साहस किया है? यदि नहीं, तो फिर क्या कारण है कि किसी बात का ग्रन्थान्तरसे समर्थन न होने की वजह से आप 'हिमवंत-थेरावली' को अप्रामाणिक ठहरानेके लिये दौड़ पड़े हैं?

(२) लेखक का यह कथन कि "जो अंश प्रकट हुआ है उसका सामञ्जस्य केवल जैन शास्त्रों से ही ठीक नहीं बैठता, बल्कि जैनेतर साहित्य से भी वह बाधित है, जैसा कि आगे चलकर प्रकट होगा।" कुछ भी सत्यता नहीं रखता, थेरावली वाली हकीकत का जैन शास्त्रों से कुछ भी असामञ्जस्य सिद्ध नहीं होता और न जैनेतर साहित्य से ही वह बाधित है, जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा।

हिमवंत-थेरावली में केवल खारवेल और उसके वंश का ही उल्लेख नहीं है, बल्कि उस में श्रेणिक, कूणिक, उदायी, नन्द और मौर्यवंशके राज्यकी कतिपय ज्ञातव्य बातों का भी स्फोट किया गया है, और संप्रति के समय में किस प्रकार मौर्य राज्य की दो शाखायें हुई तथा संप्रति के बाद विक्रमादित्य पर्यन्त कौन कौन उज्जयनी में राजा हुए, इन सब बातों का संक्षिप्त निर्देश इस थेरावली में किया गया है।

(३) लेखक की तीसरी दलील यह है कि "राजा चेटक के नाम की अपेक्षा किसी 'चेट' वंश का अस्तित्व इस से पहले के किसी साहित्य ग्रन्थ या शिलालेख से प्रगट नहीं है। और चेटक का वंश 'लिच्छिवि' प्रसिद्ध था।"

यह ठीक है कि चेटक के नाम से किसी वंश का अस्तित्व कहीं उल्लिखित नहीं देखा गया, पर इस खारवेल के लेख और थेरावली के संवाद से यह मानने में क्या आपत्ति है कि इस उल्लेख से ही चेटक वंश का अस्तित्व सिद्ध हो रहा है? चेटक की युद्ध निमित्तक मृत्यु हुई, उसकी राजधानी वैशाली का नाश हुआ और चेटक के वंशजों का अधिकार विदेह राज्य पर से उठ जाने के बाद वहाँ गणराज्य हो गया; इन कारणों से पिछले समय में चेटक और उसके वंश की अधिक प्रसिद्धि न रहने से उस की चर्चा ग्रन्थों में न मिलती हो तो इस से सशंक होने की क्या ज़रूरत है? चेटक बड़ा धर्मी राजा था, उस ने शरणागत की रक्षा

के निमित्त ही मगधपति कोणिक के साथ लड़ाई लड़ी थी और अन्त तक अपनी टेक रखते हुए उसने अपना वीरोचित समाधिमरण किया था, इस दशा में चेटक की कीर्ति और उसका महत्व उसके पुत्र शोभनराज की संतानके लिये एक गौरव का विषय हो इसमें क्या अनुचित है? शोभनराज भाग निकला और उस ने अपनी हीनता साबित की यह मान लेने पर भी चेटक की महत्ता में कुछ भी हीनत्व नहीं आता। अगर खारवेल सचमुच ही इस कीर्तिशाली चेटकका वंशज हो तो वह बड़े गौरव के साथ अपने पर्वजका नाम ले सकता है।

इस कथन मे भी कुछ प्रमाण नहीं है कि चेटक 'लिच्छिवि' वंशका पुरुष था। मुझे ठीक स्मरण तो नहीं है पर जहाँ तक खयाल है, श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पुराने साहित्य में चेटक का "हैहय" अथवा इस से मिलता जुलता कोई वंश बताया गया है *। पर 'लिच्छिवि' वंश तो किसी जगह नहीं लिखा। हाँ उस के समय में वहां 'लिच्छिवि' लोगों की एक शक्तिशाली जाति थी, उसके कई जत्थे थे और प्रत्येक जत्थे पर एक एक जत्थेदार—गणनायक—नियत था। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे जत्थेदार अथवा गणनायक बिलकुल स्वतंत्र थे। सिर्फ अपने गणों के आन्तरिक कार्यों में ही उनकी स्वतंत्रता परिमित थी। राज्य कारोबार में वे सब चेटक के मातहत थे, दुर्दवयोग से कोणिक के साथ की आखिरी लड़ाई के समय विदेह की 'लिच्छवि' और 'वज्जी' नामक दो प्रबल जातियों मेंसे दूसरी जाति ने चेटक को धोखा दे दिया, वह कोणिकके साथ मिल गई और काशी तथा कोसलके १८ गण राजोंके साथ चेटककी हार हो गई * और इस अपमानके मारे उसने अनशन करके देह छोड़ दिया।

इस प्रसंग में काशी के ९ गणराज और कोसल के ९ गणराज जो मल्ल और लिच्छिवि जाति की भिन्न भिन्न श्रेणियों के अगुआ थे उनके चेटक की मदद में लड़ने का उल्लेख × है, पर विदेह के किसी भी गण राजका जिक्र नहीं मिलता। इससे भी यह साबित होता है कि तब तक विदेह में गणराज्य स्थापित नहीं हुआ था। हाँ, अपनी श्रेणियों में वंशपरम्परागत एक एक नायक अवश्य माना जाता था, उन श्रेणिपतियों पर राजा चेटक का शासन था और सब कामों में वह

---

* जहां तक मुझे याद है, यह बात 'निरयावली' सूत्रमें है। इस फिक्रे का मैंने नोट तक किया है, लेकिन इस वक्त न तो मेरे पास 'निरयावली' सूत्र है और न उसका नोट ही।

* चेटक और कोणिक की यह लड़ाई जैनसूत्रोंमें 'महा शिला कण्टक' इस नामसे वर्णित है। इस लड़ाई में किसकी जीत हुई और किसकी हार ?, यह प्रश्न करके उत्तर दिया गया है कि इसमें 'वज्जी' और 'वैदेहीपुत्त' (कोणिक) की जीत हुई और नौ मल्लक और नौ लिच्छवि गणराजों की हार हुई। देखिये निम्न लिखित भगवतीसूत्र के शब्द—

"महा शिलाकंटए णं भंते संगामे वट्टमाणे के जइत्था के पराजइत्था ?, गोयमा ! वज्जी-विदेहपुत्ते जइत्था नव मल्लई नव लेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस विगणरायाणो पराजइत्था।" (भ० श० ७ उ०९ प० ३१५)

यहां टीका में 'वज्जी' शब्दका अर्थ 'वज्री' अर्थात् इन्द्र किया है, पर वस्तुतः यहां 'वज्जी' शब्द 'वृजिकजाति' का प्रबोधक है।

× इस प्रसंग पर बाबू कामताप्रसादजी ने अपने लेखमें नौ मल्लिक नौ लिच्छवि गणराजों के अतिरिक्त १८ काशी-कौशल के गणराजों का जो उल्लेख किया है वह बिलकुल गलत है। काशी कौशल के नौ मल्लिक और नौ लिच्छवि गणराजोंने चेटकको इस युद्ध में साहाय्य प्रदान किया था, दूसरे किसी ने नहीं।

महाराजा की हैसियत से उन पर हुक्म करता था। यद्यपि काशी और कोशल के राज्य भी उस समय विदेह राज्यसे सम्मिलित थे पर वहाँ की आन्तरिक शासन-व्यवस्था में विदेहराज का हस्तक्षेप नहीं था। अपने राज्यकारोबार में वहां के गणराज्य स्वतंत्र थे। हाँ, युद्ध जैसे प्रसंगों में वे एक दूसरेकी मदद के लिये खास नियमोंमे बंधे रहते थे, और इसी वजहसे उनने कोणिकके आक्रमणके समय चेटकका साथ दिया था।

चेटक विदेहका परम्परागत राजा था इस बातका यद्यपि स्पष्ट उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया, पर इस से यह भी निश्चित कैसे मान लिया जाय कि वह परम्परागत राजा नहीं था?, और यह भी कौनसा नियम है कि परम्परागत राजा हो वही राजा माना जाय और दूसरा नहीं? । लेखक महाशय जो यह कहते है कि "चेटक परम्परागत राजा नहीं था यह बात इतिहास और स्वयं श्वेताम्बर ग्रंथोंसे सिद्ध है" बिलकुल निराधार है। तर्कमात्रसे कुछ कल्पना कर लेना यह इतिहास नहीं कहा जा सकता। क्या लेखक यह बतानेकी तकलीफ़ उठाएँगे कि चेटकके परम्परागत राजा न होनेकी बात किस श्वेताम्बर ग्रंथमें लिखी है? अथवा क्या यह भी किसी प्राचीन ग्रंथ से बता सकते हैं कि चेटक वैशाली के नियुक्त राष्ट्रपति थे? इस बातको लेखक ध्यान मे रक्खें कि किसी आधुनिक विद्वान के कह देने मात्र से चेटक वैशाली के अथवा लिच्छवि वंश के नियुक्त राष्ट्रपति सिद्ध नहीं हो सकते। विदेह देश मे गणराज्यकी चर्चा थी इसी आधार पर चेटक को वहाँ का गणराज अथवा नियुक्त राष्ट्रपति मान लेना एक बात है और उसके संबन्धमें उस बातको साबित करने वाले प्रमाण देना दूसरी बात है। आज तक जो जो बातें चेटकके संबन्धमें हमने सोची हैं उन सब से तो यही सिद्ध होता है कि चेटक विदेहका सत्ताधारी राजा था। उज्जयनीके चण्डप्रद्योत, सिन्धु-सौवीर के उदायन, वत्स-कौशाम्बीके शतानीक और मगधपति श्रेणिक जैसे स्वतंत्र सत्ताशाली राजाओं से उसका वैवाहिक संबन्ध भी यही बता रहा है कि चेटक एक सत्ताशाली राजा था।

लड़ाईके समय 'वज्जी' जाति का उसके विरुद्ध कोणिकके पक्षमें मिल जाना भी यही बताता है कि आस पास के गणोंकी स्वतंत्रतासे प्रभावित होकर ही वज्जियन लोगोंने भी चेटकको राज्यधुरासे वंचित करने के लिये मगधपति का पक्ष लिया होगा। इन सब बातों के पर्यालोचनसे तो यही प्रमाणित होता है कि चेटक एक स्वतंत्र-सत्तावान राजा था *। इस हालतमें कोणिकके साथ की लड़ाईमें उसके पराजित होने पर उसका पुत्र शोभनराज कलिंगके राजा सुलोचनके पास

* बाबू कामताप्रसादजी स्वयं भी इस विषयमें पहिले संशयात्मा थे कि वैशालीमें गणराज्य था या राजराज्य। इस बातका कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता। देखिये उनकी 'भगवान महावीर' नामक पुस्तक का निम्न लिखित पैरेग्राफ़ —

"इस समयके अन्य प्रभावशाली राज्य [illegible] । यह ध्यान रखने के लिए बहुत संभव है कि इन राज्योंने इस प्रकार एक गणराज्य कायम कर लिया हो। किन्तु इस विषयमें कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं दिया जा सकता है जब तक कि उस जमाने के और हाल मालूम न हो जाय। अतएव [illegible] सिद्धार्थ [illegible] न किसी रूप में [illegible] वैशाली और कुण्डलपुरके अधिपति थे। [illegible] जैनशास्त्र प्रगट करते हैं।"

(भगवान महावीर पृ० ६ ८)

प्रश्न अब आप इस लेखमें निश्चयके साथ लिखते हैं कि "विदेह देशमें तब साम्राज्यवाद के स्थान पर एक प्रकार का प्रजातन्त्रवाद प्रचलित था। चेटक उस राष्ट्रके राष्ट्रपति नियुक्त थे।" क्या मैं पूछूँ कि बाबू साहब को अब कौन नये प्रमाण मिले हैं जिनके आधार पर आपने यह निश्चयात्मक निर्णय कर लिया कि चेटक नियुक्त राष्ट्रपति थे?

गया हो और वहां उसको राज्य मिला हो तो क्या आश्चर्य है ?

(४) चौथी दलीलका संपूर्ण उत्तर ऊपरके विवेचन में दिया जा चुका है।

(५) पांचवीं दलील यह है कि 'दिगम्बर जैनशास्त्र 'उत्तरपुराण' में राजा चेटक के दस पुत्रों के जो नाम लिखे हैं उनमें 'शोभनराज' नाम नहीं है,' ठीक है उत्तरपुराण में 'शोभनराय' नाम न सही, पर उत्तरपुराण कौनसा प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ है, कि जिसकी प्रत्येक बात पर हम अधिक वजन दे सकें। जो पुराण उदायनको कच्छ देशका राजा बता सकता है और कौशाम्बी के राजा शतानीक को 'मार' नामसे वर्णन कर सकता है उसके वचन पर कहाँतक विश्वास किया जाय, इसका लेखक स्वयं विचार करलें। कौशाम्बी के राजा सहस्रानीक के पुत्र का नाम श्वेताम्बर जैनसूत्रों और भास के स्वप्नवासवदत्ता में शतानीक लिखा मिलता है, तब दिगम्बराचार्यकृत श्रेणिकचरित्र में इसका नाम 'नाथ' और उत्तरपुराणमें 'मार' लिखा है। इस पर बाबू कामताप्रसाद जी अपनी 'भगवान महावीर' नामक पुस्तक (पृ० १४०) में लिखते हैं कि 'शतानीक' यह इस राजा का तीसरा नाम है। भला शतानीकके 'नाथ' और 'मार' जैसे अव्यवहार्य नामों का तो नामान्तर मान कर निर्वाह कर लेना और 'शोभनराय' नाम उत्तरपुराणमें न होने मात्रसे ही उसे अप्रामाणिक ठहरा देना यह कैसा न्याय है ?, यहाँ पर भी यही क्यों न मान लिया जाय कि यदि चेटक के उत्तरपुराणोक्त दस ही पुत्र थे तो 'शोभनराज' यह भी उनमें से किसी एक का नामान्तर हो सकता है।

(६) यह कहना कि 'हरिवंशपुराणके अनुसार महावीरके समयमें कलिंगका राजा जितशत्रु था, सुलोचन नहीं था,' केवल तर्काभास है। क्योंकि 'जितशत्रु' यह कोई विशेष नाम नहीं है, किंतु राजाका सम्माननीय विशेषण-मात्र है। क्या श्वेताम्बर क्या दिगम्बर किसी भी संप्रदायके ग्रंथोंमें जहाँ जहाँ राजाका नाम 'जितशत्रु' और रानीका नाम 'धारिणी' आता है वहाँ सर्वत्र बहुधा यही अर्थ समझना चाहिये*। इस दशामें कलिंगके राजाका नाम सुलोचन माननेमें कोई आपत्ति नहीं है।

(७) लेखककी सातवीं दलील तो सभी दलीलोंका मक्खन है। आप कहते हैं—"क्या यह संभव नहीं है कि खारवेलके अति प्राचीन शिलालेखको श्वेताम्बर साहित्यसे पोषण दिला कर उसे श्वेताम्बरीय प्रकट करनेके लिये ही किसी ने इस थेरावली की रचना कर डाली हो और वही रचना किसी शास्त्रभंडारसे उक्त मुनिजीको मिल गई हो ? "

प्रिय पाठक गण ! कितना गहन तर्क है ?, इससे आप लेखक महाशयका मनोभाव तो बखूबी समझ ही गये होंगे कि इस विषयमें उनके क़लम उठानेका कारण क्या है। जहाँ तक मैं समझता हूँ बाबू कामताप्रसादजी अपने संप्रदायके अनन्य रक्षक जान पड़ते हैं, अपनी कट्टर सांप्रदायिकताके विरुद्ध कुछ भी आवाज निकलते ही उसकी किसी भी तरह धज्जियाँ उड़ाना आपका सर्व प्रथम कर्तव्य है, यही कारण है कि हिमवंत थेरावलीको बगैर देखे और बगैर सुने ही उसको जाली ठहरानेकी हद तक आप पहुँच गये और जो कुछ मनमें आया लिख बैठे। अस्तु।

बाबू जी ! आप इतना भी नहीं सोच सकते कि यदि थेरावली वस्तुतः जाली होती और उसका मनशा आपके कथनानुसार होता तो उसमें कुमरगिरि पर जिनकल्पि-दिगम्बर साधुओंके होनेका उल्लेख ही

* अच्छा होता यदि लेखक महाशय इस विषयके समर्थन में कोई सबल प्रमाण भी साथमें उपस्थित कर देते। —सम्पादक

क्यों होता ?', खारवेलके लेखको श्वेताम्बरीय प्रकट करनेका और कुमार तथा कुमारी गिरि पर अपना स्वत्व साबित करनेके इरादेसे यदि थेरावलीका निर्माण हुआ होता तो उसमें यह ज़िक्र क्या कभी आता कि कुमारीगिरिकी गुफाओं में जिनकल्पी साधु रहते थे और कुमारगिरि पर स्थविरकल्पी ? इसके अतिरिक्त खारवेलने जो चतुर्विध संघको इकट्ठा किया था उसमें भी दो सौ जिनकल्पकी तुलना करने वाले साधुओंके एकत्र होने का जो निर्देश है वह कभी होता?

यह आपत्ति कि "थेरावलीमें कतिपय उल्लेख ऐसे हैं जो खारवेलके लेखमें पहले अन्य रूपमें पढ़े गये थे और अब वे नये रूपमें पढ़े जाते हैं, उदाहरणके तौर पर 'खारवेल' यह नाम पहिले उपाधि मानी गई थी परन्तु अब वह विशेष नाम साबित हुआ है। इसी प्रकार पहले बृहस्पतिमित्र पुष्यमित्रका ही नामान्तर माना गया था पर अब वैसे नहीं माना जाता।" परंतु यह आपत्ति भी वास्तविक नहीं है, क्योंकि अभी तक खारवेल का वह लेख पूरे तौरसे स्पष्ट पढ़ा नहीं गया है, प्रत्येक बार विद्वानोंने उसमें से जो जो विशेष बात समझ पाई वही लिख डाली है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि अब इस लेखमें कुछ भी संशोधन होगा ही नहीं, क्या आश्चर्य है कि प्रथम वाचना की जिन जिन बातोंको विद्वानोंने पिछले समय में बदला है उन्हीं को वे कालान्तर में फिर मंजूर भी कर लेवें ?

दृष्टिवादको दुर्भिक्षके बाद व्यवस्थित करनेका ज़िक्र इस लेखमें और थेरावलीमें ही नहीं, किन्तु दूसरे भी अनेक प्रामाणिक श्वेताम्बर जैन ग्रन्थोंमें आता* है इस वास्ते इस विषयका लेखक का अभिप्राय भी दोषरहित नहीं है।

(८) कुमारगिरि पर जिनमन्दिरका पुनरुद्धार करके सुस्थित-सुप्रतिबद्धके हाथसे प्रतिष्ठा करा कर जिन-मूर्ति स्थापित करनेके संबंधमें आप कहते हैं कि—

"वीर निर्वाणसे ३३० वर्षों के बाद ये सब कार्य करके खारवेलको स्वर्गवासी हुआ लिखा है। किन्तु श्वेताम्बरीय तपागच्छ की 'बृद्धपट्टावली' से यह बात बाधित है। उसके अनुसार उक्त स्थविर-द्वय का समय वीरनिर्वाणसे ३७२ वर्षका है। इस हालतमें खारवेल का उनसे साक्षात् होना कठिन है।"

खारवेल वीर संवत् ३३० में स्वर्गवासी हुआ यह बात तो ठीक है, पर 'सुस्थित-सुप्रतिबद्ध निर्वाणसे ३७२ वर्षके बाद हुए' यह लिखना गलत है, सभी श्वेताम्बर गच्छीय पट्टावलियोंमें आर्य सुहस्तिका स्वर्गवास निर्वाण से २९१ वर्षके बाद होना लिखा है, इस दशा में आर्य सुहस्ति के पट्टधर सुस्थित सुप्रतिबद्ध की विद्यमानता ३३० के पहिले मानने में कुछ भी विरोध नहीं है। इन स्थविरोंका ३७२ के बाद होने का लेख भ्रमपूर्ण है। अगर ऐसा तपागच्छकी पट्टावली में उल्लेख है तो वह अशुद्ध है इसमें कोई शक नहीं है। मालूम होता है, ३२७ के स्थानमें भूलसे ३७२ छप गया है, क्योंकि इन दोनों स्थविरों का स्वर्गवास निर्वाणसे ३२७ वर्षके बाद हुआ था और इन के नाम के लेखों वाले वहाँ पर दो स्तूप भी भिक्षुराज-खारवेल ने बनवाये थे ऐसा अप्रचल

* नन्द और मौर्यकालीन दुर्भिक्षोंका वर्णन और उस समय अव्यवस्थित हुए दृष्टिवादकी फिर व्यवस्था करनेका विस्तृत वर्णन 'तित्थोगाली पइन्नय' 'आवश्यकचूर्णि' प्रभृति प्राचीन कालीन श्वेताम्बर ग्रंथोंमें किया हुआ है, और उसके बादके दुर्भिक्षोंमें भी दृष्टिवादकी छिन्नभिन्नता और क्रमशः उसके विच्छेद होनेके उल्लेख श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें मिलते हैं। इसवास्ते खारवेलके समयमें दृष्टिवादका समुद्धार करनेके विषयमें जो हिमवंतथेरावलीमें उल्लेख किया गया है वह असंगत मालूम नहीं होता।

गच्छकी मेरुतुंगकृत पट्टावली में उल्लेख है। साथ ही, वहाँ यह भी लिखा है कि 'आर्य सुस्थित—सुप्रतिबुद्ध अधिकतर कलिंग देशमें ही विहार करते थे। परमार्हत भिक्षुराज इनका परम भक्त बना हुआ था, और इन स्थविरयुगल के उपदेश से उसने अनेक शासनोन्नति करने वाले धर्म कार्य किये थे। कलिंग देश में 'शत्रुंजयावतार' नाम से प्रसिद्ध कुमर पर्वत पर इन्होंने कोटिवारसूरिमंत्रका आराधन किया था अतएव इनका मुनिगण 'कोटिकशाखा' इस नामसे प्रसिद्ध हो गया था। इन दोनों ने अपना साधुसमुदाय इन्द्रदिन्न सूरि को समर्पण करके कुमरगिरि पर अनशन कर वीरनिर्वाण से २२७ वर्ष बीतने पर स्वर्गलाभ प्राप्त किया।'*

अचल गच्छकी पट्टावलीके इस उल्लेख से न केवल खारवेल और इन दो स्थविरोंकी समकालकता ही सिद्ध है, बल्कि इससे हिमवंत-थेरावली की भी कतिपय बातों का समर्थन होता है।

(९) इस फिक़रेमें लेखकका कहना है कि 'एक तो देवाचार्य, बुद्धिलिंगाचार्य, धर्मसेनाचार्य तथा नक्षत्राचार्य श्वेताम्बर नहीं थे, दूसरे ये नितान्त एक दूसरे से भिन्न कालीन होने से खारवेल की सभा में उनका एकत्र होना असंभव है।' यह ठीक है कि इन आचार्यों का श्वेताम्बर जैनों की विद्यमान पट्टावलियों में वर्णन नहीं है, परन्तु हिमवंत-थेरावलीकारने भी यह तो लिखा ही नहीं है कि ये स्थविर श्वेताम्बर-संप्रदायानुयायी थे। थेरावलीकार ने तो स्पष्ट लिख दिया है कि ये आचार्य जिनकल्प की तुलना करने वाले थे, और महागिरि की शाखा के स्थविर थे जो स्वयं भी जिनकल्प की तुलना करते थे। यदि ये नाम दिगम्बर पट्टावलियों में मिलते हैं तो इस में आपत्ति की बात ही क्या है? इस से तो उलटा थेरावली के लेख का ही समर्थन होता है। अब रही इनके नितान्त भिन्न कालीन होने की बात, सो यह भी आपत्ति वास्तविक नहीं जान पड़ती. दिगम्बरीय ग्रन्थोंके अनुसार देवाचार्य निर्वाणसे ३१५ वर्ष पीछे दशपूर्वधर बने थे तो इस समय के पहले भी वे विद्यमान थे इसमें तो शंका ही क्या है?, बुद्धिलिंगका दशवर्ष पूर्वधरत्व काल निर्वाणसे २९५ से ३१५ वर्ष तक लिखा है, धर्मसेनाचार्य का समय नि० सं० ३२९ लेखक स्वयं कबूल करते हैं, नक्षत्राचार्य ३४५ में एकादशांगधारी हुए माने जाते हैं। तो इसके पहले इनकी विद्यमानता स्वयं सिद्ध है। इस दशामें खारवेल द्वारा एकत्र की गई सभामें इन आचार्यों का सम्मिलित होना कुछ भी

* जिसका सारांश ऊपर दिया गया है वह अचल गच्छकी पट्टावलीका मूल पाठ इस प्रकार है—

"चम्पापुर्यां स्तम्भ्यौ सुस्थित-सुप्रतिबद्धाभिधानौ द्वावपि राजन्यकुलसमुद्भवौ भ्रातरौ प्राप्तसंवेगौ श्रीमदार्य सुहस्तिनां समीपे व्रतं जगृहतु प्रायेण कलिङ्ग-देशे विहारं कुर्वतोस्तयोस्तत्राय परमार्हतभिक्षुराजभूपोऽतीव भक्तः संजातः। तयोरुपदेशेन तेन भिक्षुराजभूपेनानेके (कानि) धर्मकार्याणि शासनोन्नतये कारितानि। ताभ्यां च तत्र कलिङ्गदेशे शत्रुंजयावतारापरनामप्रसिद्धकुमरपर्वतोपरि स्थाभ्यां कोटिवारं सूरिमन्त्राराधनं कृतम्। अतस्तदीयपरिवारमुनिगणः 'कोटिकशाखा' भिधानेन प्रसिद्धो बभूव। तौ द्वावपि भ्रातरौ निजपरिवारं श्रीमदिन्द्रदिन्नसूरिभ्यः समर्प्य कुमरगिरावनशनं विधाय श्रीवीरप्रभुनिर्वाणात् [illegible] वर्षेषु व्यतिक्रान्तेषु स्वर्गं जग्मतुः। भिक्षुराजभूपेन च तयोरुत्सवं निर्माय तदभिधानं लेख्यमूर्ती अपि कारितौ।"

(मेरुतुंगीयाचलगच्छीय-पट्टावली)

असंभवित अथवा अशक्य नहीं है। इस विषयमें विद्वान् संपादकजी ने भी फुटनोटमें अच्छा खुलासा कर दिया है जो विद्वानोंके पढ़ने योग्य है। इसी फ़िक़रेमें लेखक महाशय लिखते हैं कि "इन आचार्यों को थेरावली भी दिगम्बर (जिनकल्पी) प्रकट करती है। रही बात सवस्त्र साधुओंकी, सो थेरावलीमें ये सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति व श्यामाचार्य प्रभृति बताए हैं। इनमें से पहले दो इस सभामें शामिल नहीं हो सकते, यह हम देख चुके। रहे शेष दो, सो ये भी उक्त सभामें नहीं पहुँच सकते, क्योंकि उमास्वाति इस घटनाके कई शताब्दी बाद हुए हैं और श्यामाचार्य उनसे भी पीछेके आचार्य मालूम होते हैं। अतः थेरावलीका यह वक्तव्य प्रामाणिक नहीं है।"

थेरावली इन देवाचार्य प्रभृति को जिनकल्पी प्रकट करती है यही तो इसकी प्राचीनताका द्योतक है, यदि यह अर्वाचीन कालकी रचना होती तो दूसरी श्वेताम्बरीय पट्टावलियोंकी तरह इसमें भी देवाचार्य, बोधिलिंग, धर्मसेन प्रमुख आचार्योंका उल्लेख नहीं होता।

सुस्थित-सुप्रतिबुद्धि का समय निर्वाणसे २९१ से ३२७ पर्यन्त था इस वास्ते इनका खारवेल-द्वारा प्रस्तुत सभामें शामिल होना किसी तरह असंगत नहीं है, यह बात पहिले कही जा चुकी है। उमास्वाति और श्यामाचार्यमें से श्यामाचार्य तो खारवेलके समकालीन थे इसमें कुछ भी शंका नहीं है। क्योंकि श्वेताम्बर जैन पट्टावलियोंमें श्यामाचार्यके युगप्रधानत्व कालका प्रारंभ नि०सं०३३५ से माना गया है और जिस समय उन्हें युगप्रधानका पद मिला उस समय उनको दीक्षा लिए ३५ वर्ष हो चुके थे इस वास्ते श्यामाचार्य के खारवेल की सभामें शामिल होनेमें कोई विरोध नहीं है। अब रही उमास्वाति की बात, सो यह बात अवश्य विचारणीय है। यद्यपि इनके सत्तासमयके संबन्धमें श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थकार एक मत नहीं हैं, दिगम्बर संप्रदायके विद्वान इनको कुन्दकुन्दाचार्यके बादमें हुआ मानते हैं तब श्वेताम्बर संप्रदायकी पट्टावलियाँ इनको उपर्युक्त श्यामाचार्य के गुरु अथवा पुरोगामी और बलिस्सह के शिष्य 'स्वाति' आचार्य से अभिन्न मानती हैं। नन्दी थेरावली के "हारिअगुत्तं साइं च वंदमो हारिअं च सामज्जं" इस गाथार्धमें बताये हुए स्वाति आचार्य ही यदि हिमवंत थेरावलीके उमास्वाति हैं तब तो उनका खारवेल की सभामें शामिल होना कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है, पर इस संबन्धमें अभी कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता। श्वेताम्बरीय युगप्रधानपट्टावलियों में एक और भी उमास्वाति वाचक वीरनिर्वाणसे ११९५ के आस पासके समयमें हुए बतलाए हैं, आश्चर्य नहीं कि उमास्वाति नामके आचार्य दो हुए हों और पिछले समयमें इन दोनोंका अभेद मान लेनेसे यह गड़बड़ उत्पन्न हो गई हो। कुछ भी हो, पर इससे हिमवन्तथेरावलीकी अप्रामाणिकता कभी सिद्ध नहीं हो सकती।

अपनी तमाम दलीलों की वृष्टि करनेके बाद बाबूजी ने खारवेलके वंशके विषयमें अपना अभिप्राय निश्चित किया है कि 'खारवेल सिरि 'ऐल' वंशका पुरुष था। इस निर्णयमें खारवेलके हाथीगुफा वाले लेख का 'ऐरेन' इस शब्द और जैन हरिवंशमें दी हुई 'ऐलेय' राजा की कथा को आधार भूत माना है, पर यह कल्पना भी निर्मूल है, इसका स्पष्ट खुलासा अन्तिम फुटनोटमें विद्वान् संपादकजी ने ही कर दिया है। इस संबन्धमें यहाँ सिर्फ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्राचीन समयकी पूर्वदेशीय भाषाओंमें "र" का "ल" होने का विधान तो अवश्य था पर "ल"

का "र" करने वाला कोई विधान नहीं था, इस वास्ते "गेल" का स्थानापन्न "गेर" नहीं हो सकता। कोई कोई विद्वान "गेरेन" इस शब्द को "वेरेन" इस प्रकार भी पढ़ते हैं जिसका संस्कृत रूप "वज्रेण" होता है। क्या आश्चर्य है कि अन्य उपाधियोंकी तरह "वज्र" यह भी खारवेलकी कोई उपाधि हो ? और यदि उड़िया दन्तकथाके अनुसार यहाँ "गेर" पाठ ही ठीक मान लिया जाय तब भी उसको "ऐलेय" का वंशज मान लेनेके लिये क्या प्रमाण है ? जब 'गेल' नामसे कोई वंश ही प्रचलित नहीं था तो खारवेल अपने लेखमें उसका निर्देश कैसे कर सकते थे ?

हिमवन्त-थेरावली-गत खारवेल-विषयक वृत्तान्त को अप्रामाणिक ठहरानेके लिये बाबू कामताप्रसादजी जैन ने अपनी तरफसे जो जो दलीलें पेश की थीं उन का संक्षिप्त उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। अब हमारे मतसे तो यह बात निश्चित हो गई है कि 'हिमवंत-थेरावली' कोई आधुनिक रचना नहीं है किन्तु सैंकड़ों वर्षोंका पुराना निबन्ध है। इसकी मूल प्रति कच्छ-मांडवीके पुस्तकभण्डारसे हमें पण्डित सुखलालजी संघवीके द्वारा अभी मिली है, जिसका विस्तृत अवलोकन कभी मौका मिलने पर लिखा जायगा, पर इतना तो यहाँ कह देना प्रासंगिक होगा कि थेरावली पुराना ग्रन्थ है, यही नहीं वह एक अति महत्त्वका ऐतिहासिक ग्रन्थ है। अन्तमें इसको हिमवंत-कृत लिखा है पर अभी हम यह निश्चित नहीं कह सकते हैं कि यह हिमवंत-कृत थेरावली ही है या हिमवंत-थेरावली का सार ?, हिमवंत-थेरावली नामक प्राचीन थेरावली श्वेताम्बर जैन साहित्यमें एक प्रसिद्ध ग्रन्थ होने का प्रमाण हमें अञ्चलगच्छीय आचार्य मेरुतुंगकी विक्रम संवत् १४३८ में निर्मित पट्टावली में मिलता है *। यही नहीं, थेरावली की अनेक अप्रसिद्ध बातोंका समर्थन भी इस पट्टावली से होता है ×।

हमें जो थेरावलीकी पुस्तक हस्तगत हुई है वह अञ्चलगच्छपट्टावली की पुस्तकके प्रथमके ९ पत्रों में लिखी हुई है और इसके बाद अञ्चलगच्छकी वृहत्पट्टावली लिखी हुई है, यह संपूर्ण प्रतिसंवत् १८९३ में लेखक रामचन्द्र-द्वारा नागोर में लिखी गई थी यह बात इस पुस्तक के अन्तमें दिये हुए निम्न लिखित वचनोंसे जानी जाती है—

"संवत् १८९३ वर्षे मार्गसीर शुक्ल नवमी तिथौ नागोरनगरे लेखक साचीहर विप्र रामचंद्रेण लिखिता। चिरं नंदतु।"

हिमवन्त-थेरावलीके संबंधमें हम यहाँ अधिक नहीं लिखेंगे। इसकी विस्तृत आलोचना एक स्वतंत्र निबंध में हो सकती है जो अधिक समय और विचारणाकी अपेक्षा रखता है। यदि अनुकूलता प्राप्त हुई तो इसके लिये भी अवश्य ही उद्योग किया जायगा।

---

* बलिस्सह स्वर्गवासके प्रसंगमें पट्टावलीकारने एक जगह हिमवत-थेरावलीका स्पष्ट नामोल्लेख तक कर दिया है। जो इस प्रकार है—

"बलिस्सहमुनिवराश्च पश्चात् स्वपरिवारयुतास्थविरकल्पमभजन्। परं तेषां शाखा पृथगेव वाचकगणाख्यया प्रसिद्धा जाता। तत्परिवारश्च पूर्वमेवार्यहिमवद्विरचितस्थविरावल्यां कथितोऽस्ति ततोऽवसेयः।"

(अञ्चलगच्छपट्टावली, १५-२)

[यह उल्लेख पट्टावलीमें कहीं प्रक्षिप्त तो नहीं, इसे तथा और भी दूसरे उल्लेखोंको खास तौरसे जांचनेकी जरूरत है। क्योंकि थेरावली और पट्टावली दोनोंके प्रकाशक महाशय एक हैं और उनकी स्थिति पं० सुखलालजीसे बहुत कुछ संदिग्ध मालूम हुई है। —सम्पादक]

× आचार्य भद्रबाहु और आर्यमहागिरिका कुमरगिरि पर स्वर्गवास होनेका हिमवन्त-थेरावलीमें उल्लेख है और उसी बातका इस अञ्चलपट्टावलीसे भी समर्थन होता है। इसमें कई जगह कुमरगिरि और भिखुराजका नामोल्लेख भी है जो हिमवन्त-थेरावलीके कथनोंका ही समर्थन कर रहा है।

मुनि जिनविजयजी का पत्र
और
हिमंवत-थेरावली के जाली होने की सूचना

पटना.
ता० १२-४-३०

श्रीमान् बाबू जुगलकिशोरजी की सेवा में सादर जयजिनेन्द्र-पूर्वक विदित हो कि—मैं कुछ दिनोंसे इधर आया हुआ हूँ। अहमदाबादसे आते हुए रास्तेमें एक दो रोज दिल्ली ठहर कर आपके साथ सत्समागम का लाभ उठाने की खास इच्छा थी परंतु संयोगवश वैसा न हो सका।

यहाँ पर मित्रवर श्रीयुत काशीप्रसादजी जायसवाल से समागम हुआ और उन्होंने अनेकान्तमें आये हुए खारवेलके लेखोंके विषयमें चर्चा की। जिसमें खास तौर पर उस लेखके बारेमें विशेष चर्चा हुई जिसमें हिमवन्त-थेरावलि के आधार पर कुछ बातें लिखी गई हैं। यह थेरावली अहमदाबादमें पण्डितप्रवर श्रीसुखलालजीके प्रबन्धसे हमारे पास आगई थी और उसका हमने खूब सूक्ष्मताके साथ वाचन किया। पढ़ने के साथ ही हमें वह सारा ही ग्रन्थ बनावटी मालूम हो गया और किसने और कब यह गढ़ डाला उसका भी कुछ हाल मालूम हो गया। इन बातों के विशेष उल्लेखकी मैं अभी आवश्यकता नहीं समझता। सिर्फ इतना ही कह देना उचित होगा कि हिमवन्त-थेरावलिके कल्पकने, खारवेलके लेखवाली जो किताब हमारी (प्राचीन जैनलेखसंग्रह प्रथम भाग) छपाई हुई है और जिसमें पं० भगवानलालजी इन्द्रजी के पढ़े हुए लेखका पाठ और विवरण दिया गया है उसी किताबको पढ़ कर, उस पर से यह थेरावलि का वर्णन बना लिया है। उस कल्पक को श्रीजायसवालजी के पाठकी कोई कल्पना नहीं हुई थी इस लिये उस कल्पक की थेरावली अप-टु-डेट नहीं बन सकी। खैर। ऐसी रीति हमारे यहाँ बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है इससे इसमें हमें कोई आश्चर्य पानेकी बात नहीं।

आप जान कर प्रसन्न होंगे कि खारवेलके लेखका पुनर्वाचन हम दोनों—मैं और विद्यावारिधि जायसवाल जी—साथ मिल कर, हाल में फिर यहाँ पर बहुत परिश्रमके साथ कर रहे हैं। यहाँ पर—पटनेके म्युजियम में इस लेखके सब साधन उपस्थित हैं। सरकारके आर्किओ लाजिकल डिपार्टमेंटकी तरफसे आज तक जो जो प्रयत्न इस लेखके संशोधन और संरक्षण की दृष्टिसे किये गये उन सबका फलस्वरूप साहित्य यहाँ पर सुरक्षित है। श्रीमान् जायसवालजीकी अपने हाथसे ली हुई लेखकी असली छापें, और और पुराविदोंकी ली हुई प्रतिकृतियाँ और विलायती मिट्टी पर लिया हुआ अमूल्य कास्ट इत्यादि सब साधनों को सामने रखकर पाठकी वाचना की जा रही है। रोज ४-५ घंटे मैं, जायसवालजी और कभी म्युजियमके क्युरेटर रायसाहिब घोष बाबू पैरों खारवेल की इस महालिपिके एक एक

अक्षर को बहुत तत्त्वावधानके साथ पढ़ रहे हैं। एक एक पंक्ति को पढ़ने में कोई २-३ घंटे लगते हैं और किसी किसी अक्षर पर पूरा सामायिक भी कर लिया जाता है। मेरा इरादा है कि यहाँ पर लेख की जो सामग्री प्रस्तुत है उसे पूरा कर फिर खंडगिरि पर जाकर निश्चित किये हुए पाठको प्रत्यक्ष शिलाक्षरोंसे भी मिलान कर लिया जाय। इसके लिये खास तौर पर गवर्नमेंटको लिखा जायगा और फिर गवर्नमेंटके प्रबंध से वहाँ पर जाया जायगा। शिला पर पढ़ने के लिये बड़ी कठिनाई है और बहुत बेढब जगह पर यह लेख खुदा हुआ कहते हैं। श्रीयुत जायसवालजी कोई १५ वर्षसे इस लेख पर परिश्रम कर रहे हैं और उसी परिश्रम-का यह फल है कि आज हम इस लेखके रहस्य और महत्त्वको इस तरह वास्तविक रूपमें समझने के लिये उत्सुक हो रहे हैं।

इसके साथमें श्री जायसवालजी का नोट है वह अनेकान्तमें छपनेके लिये भेजा जारहा है। आप चाहें तो मेरी यह चिट्ठी भी छाप सकते हैं। अनेकान्त सुन्दर और सात्त्विक रूपमें प्रकाशित हो रहा है जो इसके नामको सर्वथा सार्थक बना रहा है।

लौटते हुए यदि मौका मिला तो मिलने की पूरी इच्छा तो है ही। भवदीय

जिनविजय

चक्रवर्ती खारवेल और हिमवन्त-थेरावली

[लेखक—श्री० काशीप्रसादजी जायसवाल]

मुनि श्री कल्याणविजयजीने सत्यगवेषणाबुद्धिसे गुजराती हिमवन्त-थेरावली से खारवेलका इतिहास दिया। इसमें साम्प्रदायिक आक्षेपकी कोई जगह नहीं है, जैसा कि अनेकान्त के सम्पादकजीने विवेचना कर दी है।

मेरे मनमें हिमवन्त-थेरावलिके विषयमें बहुत सन्देह पैदा हुआ। श्री० कल्याणविजयजीके देखनेमें यह मूल पुस्तक अभी नहीं आई है। पर जिस भाण्डार में यह पोथी है वहाँ से मेरे श्रद्धेय मित्र मुनि जिनविजयजी के पास आ गई है। उन्होंने पोथीमें खारवेल-विषयक अंश प्रक्षिप्त पाया। इस समय मुनिजी पटने में ही हैं। अतः खारवेलका इतिहास थेरावलिमें प्रामाणिक नहीं, प्रक्षिप्त, आधुनिक और कल्पित है।

मुनि श्री पुण्यविजयजी के लेख (अनेकान्त पृ० १४२) से यापज्ञापक शब्दका अर्थ साफ़ हो गया, जिसकी खोज मुझे बहुत दिनोंसे थी। कई वर्षों के अध्ययनसे यापनावक पाठ निश्चित किया गया था। पर अर्थका पता नहीं लगता था। मैं मुनिजीका बहुत अनुगृहीत हूँ।

चैत्र शु० ११ वी० २४५६ *

* वीरनिर्वाण सम्वत्‌के इस उल्लेख परसे, और भी लेखक महोदयके हालके पत्रोंमें इसी सम्वत् को लिखा देख कर, ऐसा मालूम होता है कि 'अनेकान्त' की १ ली किरणमें 'महावीरका समय' शीर्षकके नीचे जो इस सम्वत् की यथार्थता को सिद्ध किया गया है उसे अब जायसवालजी ने भी स्वीकार कर लिया है और इसी से आप अपने पत्रादिकों में उसका व्यवहार करने लगे हैं। अच्छा हो यदि जायसवालजी इस विषयमें अपना कोई स्पष्ट नोट देने की कृपा करें। —सम्पादक

जैनधर्मका अहिंसा-तत्त्व

[लेखक—श्री० मुनि जिनविजयजी]

जैनधर्म के सभी 'आचार' और 'विचार' एकमात्र 'अहिंसा' के तत्त्व पर रचे गये हैं। यों तो भारत के ब्राह्मण, बौद्ध आदि सभी प्रसिद्ध धर्मोंने अहिंसाको 'परम धरम' माना है और सभी ऋषि, मुनि, साधु, संत इत्यादि उपदेष्टाओंने अहिंसाका महत्त्व और उपादेयत्व बतलाया है, तथापि इस तत्त्वको जितना विस्तृत, जितना सूक्ष्म, जितना गहन और जितना आचरणीय जैनधर्मने बनाया है, उतना अन्य किसीने नहीं। जैनधर्मके प्रवर्तकोंने अहिंसा-तत्त्व कोचरमसीमा तक पहुँचादिया है। उन्होंने केवल अहिंसाका कथनमात्र ही नहीं किया बल्कि उसका आचरण भी वैसाही करदिखाया है। औरऔर धर्मों का अहिंसा-तत्त्व केवल कायिक बनकर रह गया है, परन्तु जैनधर्मका अहिंसा तत्त्व उससे कुछ आगे बढ़कर वाचिक और मानसिकमें भी पर—आत्मिकरूप बन गया है। औरोंकी अहिंसाकी मर्यादा मनुष्य, और उससे ज्यादह हुआ तो पशु-पक्षीके जगत् तक जाकर समाप्त हो जाती है; परन्तु जैनी अहिंसा की कोई मर्यादा ही नहीं है। उसकी मर्यादामें सारी सचराचर जीव-जाति समा जाती है और तो भी वह वैसी ही अमित रहती है। वह विश्वकी तरह अमर्याद—अनन्त—है और आकाशकी तरह सर्व-पदार्थ-व्यापिनी है।

> यह लेख श्वेताम्बर जैनसमाजके एक प्रसिद्ध विद्वानका लिखा हुआ है, जो कुछ समय पहले 'महावीर' पत्रमें प्रकट हुआ था। इसमें जैनोंके अहिंसा-तत्त्व पर कितना ही प्रकाश पड़ता है, और इसलिये इसे भी अहिंसाके समुचित विचारार्थ आज अनेकान्त-पाठकोंके सामने प्रस्तुत किया जाता है। —सम्पादक

परन्तु जैनधर्मके इस महान तत्त्वके यथार्थ रहस्य को समझनेके लिए बहुत ही थोड़े मनुष्योंने प्रयत्न किया है। जैनधर्मकी इस अहिंसाके बारेमें लोगोंमें बड़ी अज्ञानता और बेसमझी फैली हुई है। कोई इसे अव्यवहार्य बतलाता है, कोई इसे अनाचरणीय बतलाता है, कोई इसे आत्मघातिनी कहता है और कोई राष्ट्र नाशिनी कहता है। कोई कहता है कि जैनधर्मकी अहिंसा ने देशको पराधीन बना दिया और कोई कहता है कि इसने प्रजाको निर्वीर्य बना दिया है। इस प्रकार जैनी अहिंसाके बारेमें अनेक मनुष्योंके अनेक कुविचार सुनाई देते हैं। कुछ वर्ष पहले देशभक्त पंजाबकेशरी लालाजी तकने भी एक ऐसा ही भ्रमात्मक विचार प्रकाशित कराया था, जिसमें महात्मा गांधीजी द्वारा प्रचारित अहिंसाके तत्त्वका विरोध किया गया था, और फिर जिसका समाधायक उत्तर स्वयं महात्माजीने दिया था। लालाजी जैसे गहरे विद्वान् और प्रसिद्ध देशनायक होकर तथा जैन साधुओंका पूरा (?) परिचय रखकर भी जब इस अहिंसा-विषयमें वैसे भ्रान्तविचार रख सकते हैं, तो फिर अन्य साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या कही जाय। हाल ही में, कुछ दिन पहले, जी. के. नरीमान नामक एक पारसी विद्वानने महात्मा गांधीजीको सम्बोधन करके एक लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने जैनोंकी अहिंसाके

विषयमें ऐसे ही भ्रमपूर्ण उद्‌गार प्रकट किये हैं। मि० नरीमान एक अच्छे ओरिएन्टल स्कालर हैं, और उन को जैन-साहित्य तथा जैन-विद्वानोंका कुछ परिचय भी मालूम देता है। जैनधर्मसे परिचित और पुरातन इतिहाससे अभिज्ञ विद्वानोंके मुँहसे जब ऐसे अविचारित उद्‌गार सुनाई देते हैं, तब साधारण मनुष्योंके मनमें उक्त प्रकारकी भ्रांतिका ठस जाना साहजिक है। इसलिए हम यहाँ पर संक्षेपमें आज जैनधर्मकी अहिंसा के बारेमें जो उक्त प्रकारकी भ्रांतियाँ जनसमाजमें फैली हुई हैं उनका मिथ्यापन दिखाते हैं।

जैनी अहिंसाके विषयमें पहला आक्षेप यह किया जाता है कि—जैनधर्म-प्रवर्तकोंने अहिंसाकी मर्यादा इतनी लम्बी और इतनी विस्तृत बना दी है कि जिससे लगभग वह अव्यवहार्य की कोटिमें जा पहुँची है। यदि कोई इस अहिंसाका पूर्णरूपसे पालन करना चाहे तो उसे अपनी समग्र जीवन-क्रियायें बन्द करनी होंगी और निश्चेष्ट होकर देहत्याग करना होगा। जीवन-व्यवहारको चालू रखना और इस अहिंसाका पालन भी करना, ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। अतः इस अहिंसा के पालनका मतलब आत्मघात करना है; इत्यादि।

यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि जैनी अहिंसाकी मर्यादा बहुत ही विस्तृत है और इसलिए उसका पूर्ण पालन करना सबके लिये बहुत ही कठिन है, तथापि यह सर्वथा अव्यवहार्य या आत्मघातक है, इस कथनमें किञ्चित् भी तथ्य नहीं है। न तो यह अव्यवहार्य ही है और न आत्मघातक ही। यह बात तो सब कोई स्वीकारते और मानते हैं कि, इस अहिंसा-तत्त्वके प्रवर्तकों ने इसका आचरण अपने जीवनमें पूर्ण रूपसे किया था। वे इसका पूर्णतया पालन करते हुए भी वर्षों तक जीवित रहे और जगत्‌को अपना परम तत्त्व समझाते रहे। उनके उपदेशानुसार अन्य असंख्य मनुष्योंने आजतक इस तत्त्वका यथार्थ पालन किया है; परन्तु किसीको आत्मघात करनेका काम नहीं पड़ा। इस लिए यह बात तो सर्वानुभव-सिद्ध-जैसी है कि जैनी अहिंसा अव्यवहार्य नहीं है और इसका पालन करने के लिए आत्मघातकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। यह विचार तो वैसा ही है जैसा कि महात्मा गांधीजीने देशके उद्धारके निमित्त जब असहयोगकी योजना उद्‌घोषित की, तब अनेक विद्वान् और नेता कहलाने वाले मनुष्योंने उनकी इस योजनाको अव्यवहार्य और राष्ट्रनाशक बतानेकी बड़ी लम्बी लम्बी बातें की थीं और जनताको उससे सावधान रहनेकी हिदायत की थी। परन्तु अनुभव और आचरणसे यह अब निस्सन्देह सिद्ध हो गया कि असहयोगकी योजना न तो अव्यवहार्य ही है और न राष्ट्रनाशक ही। हाँ, जो अपने स्वार्थका भोग देनेके लिए तैयार नहीं, उनके लिए ये दोनों बातें अवश्य अव्यवहार्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आत्मा या राष्ट्रका उद्धार बिना स्वार्थ-त्याग और सुख-परिहारके कभी नहीं होता। राष्ट्रको स्वतन्त्र और सुखी बनानेके लिए जैसे सर्वस्व-अर्पणकी आवश्यकता है वैसे ही आत्माको आधि-व्याधि-उपाधिसे स्वतन्त्र और दुःख-द्वंद्वसे निर्मुक्त बनानेके लिए भी सर्व मायिक सुखोंके बलिदान कर देनेकी आवश्यकता है। इसलिए जो "मुमुक्षु" (बन्धनोंसे मुक्त होनेकी इच्छा रखने वाला) है—राष्ट्र और आत्माके उद्धारका इच्छुक है, उसे तो यह जैनी अहिंसा कभी भी अव्यवहार्य या आत्मनाशक नहीं मालूम देगी—स्वार्थ-लोलुप और सुखैषी जीवोंकी बात अलग है।

जैनधर्मकी अहिंसा पर दूसरा और बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि इस अहिंसाके प्रचारने भारत

को पराधीन और प्रजाको निर्वीर्य बना दिया है। इस आक्षेपके करने वालोंका मत है कि अहिंसाके प्रचारसे लोगोंमें शौर्य नहीं रहा। क्योंकि हिंसा-जन्य पापसे डरकर लोगोंने मांस-भक्षण छोड़ दिया, और बिना मांस भक्षणके शरीरमें बल और मनमें शौर्य नहीं पैदा होता। इसलिए प्रजाके दिलमेंसे युद्धकी भावना नष्ट हो गई और उसके कारण विदेशी और विधर्मी लोगों ने भारत पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन बना लिया। इस प्रकार अहिंसाके प्रचारसे देश पराधीन और प्रजा पराक्रम-शून्य हो गई।

अहिंसाके बारेमें की गई यह कल्पना नितान्त युक्ति-शून्य और सत्यसे पराङ्मुख है। इस कल्पनाके मूल में बड़ी भारी अज्ञानता और अनुभवशून्यता भरी हुई है। जो यह विचार प्रदर्शित करते हैं उनको न तो भारतके प्राचीन इतिहासका पता होना चाहिए और न जगत्के मानवसमाजकी परिस्थितिका ज्ञान ही होना चाहिए। भारतकी पराधीनताका कारण अहिंसा नहीं, किन्तु अकर्मण्यता, अज्ञानता और असहिष्णुता है। और इन सबका मूल हिंसा है। भारतका पुरातन इतिहास प्रकट रूप से बतला रहा है कि जब तक भारतमें अहिंसा-प्रधान धर्मोंका अभ्युदय रहा, तब तक प्रजामें शान्ति, शौर्य, सुख और सन्तोष यथेष्ट मात्रामें व्याप्त थे। अहिंसाधर्मके महान् उपासक और प्रचारक नृपति मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त और अशोक थे। क्या उनके समयमें भारत पराधीन हुआ था? अहिंसाधर्मके कट्टर अनुयायी दक्षिणके कदम्ब, पल्लव, और चालुक्य वंशों के प्रसिद्ध प्रसिद्ध महाराजा थे। क्या उनके राजत्वकाल में किसी परचक्रने आकर भारतको सताया था? अहिंसातत्त्वका अनुगामी चक्रवर्ती सम्राट् श्रीहर्ष था। क्या उसके समयमें भारतको किसीने पदद्दलित किया था? अहिंसामतका पालन करने वाला दक्षिणका राष्ट्रकूटवंशीय नृपति अमोघवर्ष और गुजरातका चालुक्य वंशीय प्रजापति कुमारपाल था। क्या उनकी अहिंसोपासनासे देशकी स्वतन्त्रता नष्ट हुई थी? इतिहास तो साक्षी दे रहा है कि भारत इन राजाओंके राजत्व कालमें अभ्युदयके शिखर पर पहुँचा था। जब तक भारतमें बौद्ध और जैन धर्मका जोर था और जब तक ये धर्म राष्ट्रीय धर्म कहलाते थे, तब तक भारतमें स्वतन्त्रता, शान्ति, सम्पत्ति इत्यादि पूर्ण रूपसे विराजती थीं। अहिंसाके इन परम उपासक नृपतियों ने अनेक अनेक युद्ध किये, अनेक शत्रुओंको पराजित किया और अनेक दुष्ट जनोंको दण्डित किया। इनकी अहिंसोपासनाने न देशको पराधीन बनाया और न प्रजाको निर्वीर्य बनाया। जिनको गुजरात और राजपूतानेका थोड़ा बहुत भी वास्तविक ज्ञान है, वे जान सकते हैं कि देशोंको स्वतन्त्र, समुन्नत और सुरक्षित रखनेके लिए जैनोंने कैसे कैसे पराक्रम किये थे। जिस समय गुजरातका राज्य-कार्यभार जैनोंके अधीन था—महामात्य, मन्त्री, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि बड़े बड़े अधिकारपद जैनोंके अधीन थे—उस समय गुजरातका ऐश्वर्य उन्नतिकी चरम सीमा पर चढ़ा हुआ था। गुजरातके इतिहासमें दण्डनायक विमलशाह, मन्त्री मुंजाल, मन्त्री शान्तु, महामात्य उदयन और बाहड़, वस्तुपाल और तेजपाल, आभु और जगड़; इत्यादि जैन राजद्वारी पुरुषोंका जो स्थान है वह औरोंका नहीं है। केवल गुजरातके ही इतिहासमें नहीं, किन्तु समूचे भारत के इतिहासमें भी इन अहिंसाधर्मके परमोपासकों के पराक्रमकी तुलना करनेवाले पुरुष बहुत कम मिलेंगे। जिस धर्मके परम अनुयायी स्वयं ऐसे शूरवीर और पराक्रमशाली थे और जिन्होंने अपने पुरुषार्थ से देश

और राज्यको खूब समृद्ध और सत्त्वशील बनाया था, उस धर्मके प्रचारसे देश या प्रजाकी अधोगति कैसे हो सकती है? देशकी पराधीनता या प्रजाकी निर्वीर्यतामें कारणभूत 'अहिंसा' कभी नहीं हो सकती। जिन देशोंमें 'हिंसा' का खूब प्रचार है जो अहिंसाका नाम तक नहीं जानते हैं, एक मात्र मांस ही जिनका शाश्वत भक्षण है और पशुसे भी जो अधिक क्रूर होते हैं, क्या वे सदैव स्वतन्त्र बने रहते हैं? रोमन साम्राज्यने किस दिन अहिंसाका नाम सुना था? और कब मांस-भक्षण छोड़ा था? फिर क्यों उसका नाम संसार से उठ गया? तुर्क प्रजामेंसे कब हिंसाभाव नष्ट हुआ और क्रूरताका लोप हुआ? फिर क्यों उसके साम्राज्य की आज यह दीन दशा हो रही है? आयर्लैण्डमें कब अहिंसाकी उद्घोषणा की गई थी? फिर क्यों वह आज शताब्दियोंसे स्वाधीन होनेके लिए तड़फड़ा रहा है? दूसरे देशोंकी बात जाने दीजिए—खुद भारतहीके उदाहरण लीजिये। मुग़ल साम्राज्यके चालकोंने कब अहिंसाकी उपासना की थी जिससे उनका प्रभुत्व नामशेष हो गया? और उसके विरुद्ध पेशवाओंने कब मांस-भक्षण किया था जिससे उनमें एकदम वीरत्वका वेग उमड़ आया? इससे स्पष्ट है कि देशकी राजनैतिक उन्नति-अवनतिमें हिंसा-अहिंसा कोई कारण नहीं है। इसमें तो कारण केवल राजकर्ताओंकी कार्यदक्षता और कर्तव्य-परायणता ही मुख्य है।

हाँ, प्रजा की नैतिक उन्नति-अवनति में तत्वतः अहिंसा-हिंसा अवश्य कारणभूत होती है। अहिंसाकी भावना से प्रजामें सात्विक वृत्ति खिलती है और जहाँ सात्विक वृत्तिका विकास है, वहाँ सत्वका निवास है। सत्वशाली प्रजा ही का जीवन श्रेष्ठ और उच्च समझा जाता है। इससे विपरीत सत्वहीन जीवन कनिष्ठ और नीचा गिना जाता है। जहाँ प्रजामें सत्व नहीं वहाँ सम्पत्ति, स्वतन्त्रता आदि कुछ नहीं। इस लिए प्रजा की नैतिक उन्नतिमें अहिंसा एक प्रधान कारण है। नैतिक उन्नतिके मुकाबलेमें भौतिक प्रगति को कोई स्थान नहीं है और इसी विचारसे भारतवर्षके पुरातन ऋषि-मुनियोंने अपनी प्रजाको शुद्ध नीतिमान बननेका ही सर्वाधिक सदुपदेश दिया है। यूरोपकी प्रजाने नैतिक उन्नतिको गौण कर भौतिक प्रगतिकी ओर जो आँख मींच कर दौड़ना शुरू किया था, उस का कटु परिणाम आज सारा संसार भोग रहा है। संसारमें यदि सच्ची शान्ति और वास्तविक स्वतन्त्रता के स्थापित होनेकी आवश्यकता है तो मनुष्योंको शुद्ध नीतिमान् बनना चाहिए।

शुद्ध नीतिमान वही बन सकता है जो अहिंसाके तत्त्व को ठीक ठीक समझ कर उसका पालन करता है। अहिंसा तो शान्ति, शक्ति, शुचिता, दया, प्रेम, क्षमा, सहिष्णुता, निर्लोभता इत्यादि सर्व प्रकारके सद्गुणोंकी जननी है। अहिंसाके आचरणसे मनुष्यके हृदयमें पवित्र भावोंका संचार होता है, वैर-विरोधकी भावना नष्ट होती है और सबके साथ बन्धुत्वका नाता जुड़ता है। जिस प्रजामें ये भाव खिलते हैं, वहाँ ऐक्यका साम्राज्य होता है। और एकता ही आज हमारे देशके अभ्युदय और स्वातन्त्र्यका मूल बीज है। इसलिए अहिंसा देशकी अवनतिका कारण नहीं है, बल्कि उन्नतिका एकमात्र और अमोघ साधन है।

'हिंसा' शब्द हननार्थक 'हिंसि' धातु परसे बना है। इसलिए 'हिंसा' का अर्थ होता है, किसी प्राणीको हनना या मारना। भारतीय ऋषि-मुनियोंने हिंसा की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार की है— 'प्राणवियोग-प्रयोजनव्यापारः' अथवा 'प्राणि दुःखसाधनव्यापारो

हिंसा,—अर्थात्, प्राणियोंके प्राणका वियोग करनेके लिए अथवा प्राणीको दुःख देनेके लिये जो प्रयत्न या क्रिया की जाती है, उसका नाम हिंसा है। इसके विपरीत किसी भी जीव को दुःख या कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। पातंजलि-योगसूत्रके भाष्यकार महर्षि व्यासने 'अहिंसा'का लक्षण यह दिया है—'सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः अहिंसा'; अर्थात सब तरहसे, सब समयोंमें, सभी प्राणियोंके साथ अद्रोह भाव वर्तने—प्रेमभाव रखने—का नाम अहिंसा है। इसी अर्थको विशेष स्पष्ट करनेके लिए ईश्वर-गीतामें लिखा है कि—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्ता अहिंसा परमर्षिभिः ॥

अर्थात्—मन, वचन और कर्मसे सर्वदा किसी भी प्राणीको क्लेश नहीं पहुँचानेका नाम महर्षियोंने 'अहिंसा' कहा है। इस प्रकारकी अहिंसाके पालनकी क्या आवश्यकता है, इसके लिए आचार्य हेमचन्द्रने कहा है कि—

आत्मवत् सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥

अर्थात्—जैसे अपनी आत्माको सुख प्रिय और दुःख अप्रिय लगता है, वैसे ही सब प्राणियोंको लगता है। इसलिए जब हम अपनी आत्माके लिए हिंसाको अनिष्ट समझते हैं, तब हमें अन्य आत्माओंके प्रति भी उस हिंसाका आचरण कभी नहीं करना चाहिए। यही बातें स्वयं श्रमण-भगवान श्रीमहावीर-द्वारा इस प्रकार से कही गई हैं—

"सव्वे पाणा पिया उया, सुहसाया, दुहपडिकूला, अप्पिय वहा, पियजीविणो, जीविउकामा। (तम्हा) णातिवाएज्ज किंचणं"

अर्थात्—सब प्राणियोंको आयुष्य प्रिय है, सब सुखके अभिलाषी हैं, दुःख सबको प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, जीवन सभीको प्रिय लगता है—सभी जीनेकी इच्छा रखते हैं। इसलिए किसीको मारना या कष्ट न देना चाहिए।

अहिंसाके आचरणकी आवश्यकताके लिए इससे बढ़कर और कोई दलील नहीं है—और कोई दलील हो भी नहीं सकती। परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, इस प्रकारकी अहिंसाका पालन सभी मनुष्य किस तरह कर सकते हैं। क्योंकि जैसा कि शास्त्रोंमें कहा है—

जले जीवाः स्थले जीवा जीवाः पर्वतमस्तके ।
ज्वालमालाकुले जीवाः सर्वं जीवमयं जगत् ॥

अर्थात्—जलमें, स्थलमें, पर्वतमें, अग्निमें इत्यादि सब जगह जीव भरे हुए हैं—सारा जगत जीवमय है। इसलिए मनुष्यके प्रत्येक व्यवहारमें—खानेमें, पीनेमें, चलनेमें, बैठनेमें, व्यापारमें, विहारमें इत्यादि सब प्रकारके व्यवहारमें—जीवहिंसा होती है। बिना हिंसाके कोई प्रवृत्ति नहीं की जा सकती। अतः इस प्रकारकी सम्पूर्ण अहिंसाके पालन करनेका अर्थ तो यही हो सकता है कि मनुष्य अपनी सभी जीवन-क्रियाओंको बन्द कर, योगीके समान समाधिस्थ हो, इस नरदेहका बलात् नाश कर दे। ऐसा न करके, अहिंसाका भी पालन करना और जीवनको भी बचाये रखना, यह आकाश-कुसुमकी गन्धकी अभिलाषाके समान ही निरर्थक और निर्विचार है। अतः पूर्ण अहिंसा केवल विचारका ही विषय हो सकती है, आचारका नहीं।

यह प्रश्न अच्छा है और इसका समाधान अहिंसा के भेद और अधिकारीका निरूपण करनेमें हो जायगा। इसलिए प्रथम अहिंसाके भेद बतलाये जाते हैं। जैनशास्त्रकारोंने अहिंसाके अनेक प्रकार बतलाये हैं; जैसे स्थूल अहिंसा और सूक्ष्म अहिंसा; द्रव्य अहिंसा और

भाव अहिंसा; स्वरूप अहिंसा और परमार्थ अहिंसा; देश अहिंसा और सर्व अहिंसा इत्यादि। किसी चलते फिरते प्राणी या जीवको जी-जानसे न मारनेकी प्रतिज्ञाका नाम स्थूल अहिंसा है, और सर्व प्रकारके प्राणियोंको सब तरहसे क्लेश न पहुँचानेके आचरणका नाम सूक्ष्म अहिंसा है। किसी भी जीवको अपने शरीरसे दुःख न देनेका नाम द्रव्य अहिंसा है और सब आत्माओंके कल्याणकी कामनाका नाम भाव अहिंसा है। यही बात स्वरूप और परमार्थ अहिंसाके बारेमें भी कही जा सकती है। किसी अंशमें अहिंसाका पालन करना देश अहिंसा कहलाता है और सर्व प्रकार—सम्पूर्णतया—अहिंसाका पालन करना सर्व अहिंसा कहलाता है।

यद्यपि आत्माको अमरत्वकी प्राप्तिके लिए और संसारके सर्व बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिए अहिंसाका सम्पूर्ण रूपसे आचरण करना परमावश्यक है, बिना वैसा किये मुक्ति कदापि नहीं मिल सकती; तथापि संसारनिवासी सभी मनुष्योंमें एक दम ऐसी पूर्ण अहिंसाके पालन करनेकी शक्ति और योग्यता नहीं आ सकती। इसलिए न्यूनाधिक शक्ति और योग्यता वाले मनुष्योंके लिए उपर्युक्त रीतिसे तत्त्वज्ञोंने अहिंसाके भेद कर क्रमशः इस विषयमें मनुष्यको उन्नत होनेकी सुविधा कर दी है। अहिंसाके इन भेदोंके कारण उसके अधिकारियोंमें भेद कर दिया गया है। जो मनुष्य अहिंसाका सम्पूर्णतया पालन नहीं कर सकते, वे गृहस्थ, श्रावक, उपासक, अणुव्रती, देशव्रती इत्यादि कहलाते हैं। जब तक किसी मनुष्यमें संसारके सब प्रकारके मोह और प्रलोभनको सर्वथा छोड़ देने जितनी आत्मशक्ति प्रकट नहीं होती, तब तक वह संसारमें रहता हुआ और अपना गृह-व्यवहार चलाता हुआ धीरे धीरे अहिंसा व्रतके पालनमें उन्नति करता चला जाय। जहाँ तक हो सके, वह अपने स्वार्थोंको कम करता जाय और निजी स्वार्थके लिए प्राणियोंके प्रति मारन-ताड़न-छेदन-आक्रोशन आदि क्लेशजनक व्यवहारोंका परिहार करता जाय। ऐसे गृहस्थके लिए कुटुम्ब, देश तथा धर्मके रक्षणके निमित्त यदि स्थूल हिंसा करनी पड़े तो उससे उसके व्रतमें कोई हानि नहीं पहुँचती। क्योंकि जब तक वह गृहस्थी लेकर बैठा है तब तक समाज, देश और धर्मका यथाशक्ति रक्षण करना भी उसका परम कर्तव्य है। यदि किसी भ्रान्तिवश वह अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट होता है तो उसका नैतिक अधःपात होता है; और नैतिक अधःपात एक सूक्ष्म हिंसा है, क्योंकि इससे आत्माकी उच्च वृत्तिका हनन होता है। अहिंसा धर्मके उपासकके लिए स्वार्थ—निजी लोभ—के निमित्त स्थूल हिंसाका त्याग पूर्ण आवश्यक है। जो मनुष्य अपनी विषय-तृष्णाकी पूर्तिकेलिए स्थूल प्राणियोंको क्लेश पहुँचाता है, वह कभी किसी प्रकार अहिंसा-धर्मी नहीं कहलाता। अहिंसक गृहस्थके लिए यदि हिंसा कर्तव्य है तो वह केवल परार्थक है। इस सिद्धान्तसे विचारक समझ सकते हैं कि, अहिंसा-व्रतका पालन करता हुआ भी, गृहस्थ अपने समाज और देशका रक्षण करनेकेलिए युद्ध कर सकता है—लड़ाई लड़ सकता है। इस विषयकी सत्यताके लिए हम यहाँ पर एक ऐतिहासिक प्रमाण भी दे देते हैं।

गुजरातके अन्तिम चौलुक्य नृपति दूसरे भीम (जिसको भोला भीम भी कहते हैं) के समयमें, एक बार उसकी राजधानी अणहिलपुर पर मुसलमानोंका हमला हुआ। राजा उस समय राजधानीमें मौजूद न था, केवल रानी मौजूद थी। मुसलमानोंके हमलेसे शहरका संरक्षण कैसे करना चाहिए, इसकी सब अधिकारियोंको बड़ी चिन्ता हुई। दण्डनायक (सेनापति) के पद पर उस समय आभु नामक एक श्रीमालिक वणिक श्रावक था। वह अपने अधिकार पर नया ही आया हुआ था, और साथमें वह बड़ा धर्माचरणी

पुरुष था। इसलिए उसके युद्ध-विषयक सामर्थ्यके बारेमें किसीको निश्चित विश्वास नहीं था। इधर एक तो राजा स्वयं अनुपस्थित था, दूसरे राज्यमें कोई वैसा अन्य पराक्रमी पुरुष न था और तीसरे राज्यमें यथेष्ट सैन्य भी नहीं था। इसलिए रानीको बड़ी चिन्ता हुई। उसने किसी विश्वस्त और योग्य मनुष्यसे दण्डनायक आभूकी क्षमताका कुछ हाल जान कर स्वयं उसे अपने पास बुलाया और नगर पर आई हुई आपत्तिके सम्बन्धमें क्या उपाय किया जाय, इसकी सलाह पूछी। तब दण्डनायकने कहा कि, यदि महारानीका मुझ पर विश्वास हो और युद्धसम्बन्धी पूरी सत्ता मुझे सौंप दी जाय तो, मुझे विश्वास है कि, मैं अपने देशको शत्रुके हाथसे बाल बाल बचा लूँगा। आभूके इस उत्साहजनक कथनको सुन कर रानी खुश हुई और उसने युद्धसम्बन्धी सम्पूर्ण सत्ता उसको देकर युद्धकी घोषणा कर दी। दण्डनायक आभूने उसी क्षण सैनिक संगठन कर लड़ाईके मैदानमें डेरा किया। दूसरे दिन प्रातःकालसे युद्ध शुरू होने वाला था। पहले दिन अपनी सेनाका जमाव करते करते उसे सन्ध्या हो गई। वह व्रतधारी श्रावक था, इसलिए प्रतिदिन उभय काल प्रतिक्रमण करनेका उसका नियम था। सन्ध्या पड़ने पर प्रतिक्रमणका समय हुआ। उसने कहीं एकान्तमें जाकर वैसा करनेका विचार किया। परन्तु उसी क्षण मालूम हुआ कि, उस समय उसका वहाँसे अन्यत्र जाना इच्छित कार्यमें विघ्नकर होगा। इसलिए उसने वहीं हाथीके हौदे पर बैठे ही बैठे एकाग्रतापूर्वक प्रतिक्रमण करना शुरू कर दिया। जब वह प्रतिक्रमणमें आनेवाले—"जे मे जीवा विराहियाएगिंदियाबेइंदिया" इत्यादि पाठका उच्चारण कर रहा था, तब किसी सैनिकने उसे सुन कर किसी अन्य अफ़सरसे कहा कि—देखिए जनाब, हमारे सेनाधिपति साहब तो इस लड़ाईके मैदानमें भी, जहाँ पर शस्त्रास्त्रकी झनाझन हो रही है, मारो मारो की पुकारें मचाई जा रही हैं, वहाँ "एगिंदिया बेइंदिया" कर रहे हैं। नरम नरम सीरा खानेवाले ये श्रावक साहब क्या बहादुरी दिखावेंगे। धीरे धीरे यह बात खास रानीके कान तक पहुँची।

वह सुनकर बहुत संदिग्ध हुई, परन्तु उस समय अन्य कोई विचार करनेका अवकाश नहीं था, इसलिए भावी के ऊपर आधार रख कर वह मौन रही। दूसरे दिन प्रातःकाल ही से युद्धका प्रारम्भ हुआ। योग्य सन्धि पाकर दण्डनायक आभूने इस शौर्य और चातुर्यसे शत्रु पर आक्रमण किया कि, जिससे क्षण भरमें शत्रुके सैन्यका भारी संहार हो गया और उसके नायकने अपने शस्त्र नीचे रख कर युद्ध बन्द करनेकी प्रार्थना की। आभूका इस प्रकार विजय हुआ देखकर अणहिलपुरकी प्रजामें जयजयका आनन्द फैल गया। रानीने बड़े सम्मानपूर्वक उसका स्वागत किया और फिर बड़ा दरबार करके राजा और प्रजाकी तरफ़से उसे योग्य मान दिया गया। उस समय हँसकर रानी ने दण्डनायकसे कहा कि—सेनाधिपति, जब युद्धकी व्यूह रचना करते करते बीच ही में आप—"एगिंदिया, बेइंदिया" बोलने लग गये थे, तब तो आपके सैनिकों को ही यह सन्देह हो गया था कि, आपके जैसा धर्मशील और अहिंसाप्रिय पुरुष मुसलमानोंके साथ लड़ने के इस क्रूर कार्यमें कैसे धैर्य रख सकेगा। परन्तु आप की इस वीरताको देखकर सबको आश्चर्य-निमग्न होना पड़ा है। यह सुनकर उस कर्तव्यदक्ष दण्डनायकने कहा कि—महारानी, मेरा जो अहिंसाव्रत है, वह मेरी आत्माके साथ सम्बन्ध रखता है। मैंने जो "एगिंदिया बेइंदिया" के वध न करनेका नाम लिया है, वह अपने स्वार्थकी अपेक्षासे है। देशकी रक्षाके लिए और राज्यकी आज्ञाके लिए यदि मुझे वध-कर्मकी आवश्यकता पड़े, तो वैसा करना मेरा कर्तव्य है। मेरा शरीर राष्ट्रकी सम्पत्ति है। इस लिए राष्ट्रकी आज्ञा और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग होना ही चाहिए। शरीरस्थ आत्मा या मन मेरी निजी सम्पत्ति है। उसे स्वार्थीय हिंसा भावसे अलिप्त रखना यही अहिंसाव्रतका लक्षण है, इत्यादि। इस ऐतिहासिक और रसिक उदाहरणसे विज्ञ पाठक भली भाँति समझ सकेंगे कि, जैन गृहस्थके पालने योग्य अहिंसाव्रतका यथार्थ स्वरूप क्या है।

उत्तरपुराण में पूर्वापर विरोध

[ले०—प्रो० बनारसीदासजी जैन, एम.ए., पी.एच. डी.]

एक दिन मैं आचार्य गुणभद्र रचित उत्तरपुराण¹ का स्वाध्याय कर रहा था और जब पर्व ७४ में यह पढ़ा कि राजा श्रेणिक राजा कूणिकका पुत्र था तो मुझे बहुत आश्चर्य हुआ क्योंकि श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें श्रेणिक को कूणिकका पिता बतलाया है। मैंने सोचा कि शायद दिगम्बर संप्रदायकी यही धारणा होगी परन्तु जब आगे के पर्व पढ़े तो मेरा यह विचार ठीक न निकला; क्योंकि पर्व ७६ में कूणिकको श्रेणिकका पुत्र लिखा है। पर्व ७४ में कूणिकको श्रेणिकका पिता कहना और पर्व ७६ में कूणिकको श्रेणिकका पुत्र कहना परस्पर विरोधी है। कभी कभी एक ही संप्रदायके दो लेखकोंमें या एक ही लेखक के दो ग्रन्थों में परस्पर विरोध पाया जाता है परन्तु एक ही कर्ता के एक ही ग्रन्थमें और एक ही प्रकरण में इस प्रकारका पूर्वापर विरोध विस्मयजनक है *।

अब पाठकोंकी सूचनाके लिये इन परस्पर विरोधी वचनोंको संक्षेपसे नीचे उद्धृत किया जाता है। दिगम्बर संप्रदाय की धारणा है× कि प्रत्येक तीर्थंकर ने अपने अपने शासनमें ६३ शलाका पुरुषोंका इतिहास वर्णन किया और इसको उनके गणधरोंने प्रकाशित किया। इस धारणाके अनुसार इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामीने भी ६३ शलाका पुरुषोंका इतिहास वर्णन किया जिसे उनके मुख्य गणधर गौतम मुनिने प्रकाशित किया। इस प्रकाशन-कार्यके लिये प्रार्थना राजा श्रेणिककी ओरसे हुई, इसी लिये पुराणोंमें कई स्थानों पर गौतम मुनि राजा श्रेणिकको संबोधन करते हैं।

जब ६३ शलाका पुरुषोंका इतिहास वर्णन करते करते गौतम मुनिने यह कहा कि हे राजन्! एक बार भगवान् महावीर स्वामी विहार करते हुए राजगृह के निकट विपुलाचल पर्वत पर आकर विराजमान हुए

१ स्याद्वाद ग्रन्थमाला नं० ८। पं० लालाराम जैनकृत हिंदी अनुवादसहित। इन्दौर, सं० १९७५।

* लेखक महाशयका इसे 'पूर्वापर विरोध' अथवा 'परस्पर विरोध' समझना और उस पर विस्मय तथा आश्चर्य प्रकट करना ठीक नहीं है। 'पूर्वापर विरोध' आदि दोषसे दूषित तो यह किसी तरह तब हो सकता जब कि ग्रंथकर्ताने श्रेणिकके पिताको एक जगह 'कूणिक' और दूसरी जगह कुछ और ही लिखा होता अथवा श्रेणिकके पिता और पुत्र दोनोंके व्यक्तित्वको एक ही सूचित किया होता। महज़ नाम की समानता से दोनोंका व्यक्तित्व एक नहीं हो जाता। एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं। राष्ट्रकूट आदि कितने ही राजवंशोंमें एक एक नामके कई कई राजा हो गये हैं। कितने ही राजघरानों तथा कुटुम्बों में जो नाम बाबाका होता है वही पोतेका रक्खा जाता है। आज भी दक्षिणमें जिधर ग्रंथकार हुए हैं ऐसी प्रथा पाई जाती है। इस समय मेरे सामने ट्रावनकोर के एक महाशय वेंकटाचलजी उपस्थित हैं, उनका यह नाम वही है जो उनके पितामह का था। हो सकता है कि ग्रन्थकारका यह नाम देना किसी प्रकारकी ग़लतीको लिये हुए हो क्योंकि दिगम्बर ग्रंथोंमें श्रेणिकके पिताके स्थान पर 'प्रश्रेणिक' नाम भी पाया जाता है। परन्तु ग्रंथकारके इस कथन पर 'पूर्वापर विरोध' का आरोप नहीं लगाया जा सकता। —सम्पादक

× क्या श्वेताम्बर सम्प्रदायकी ऐसी कोई धारणा नहीं है, जिस से एक सम्प्रदायविशेषके नाम के साथ उसके उल्लेख करनेकी ज़रूरत समझी गई? 'पउमचरिय' आदिके देखनेसे तो ऐसा कुछ मालूम नहीं होता। —सम्पादक

तो तू उनके दर्शनके लिये आया। यह सुनकर श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुआ और अपने पूर्व भवोंका वृत्तान्त पूछने लगा[२]। इस पर गौतम मुनि कहने लगे कि हे राजन तू अपने तीसरे भवमें खदिरसार नामी भील था और विन्ध्य पर्वतके कुटच नामी वन में रहता था। वहाँ से काल करके स्वर्ग में गया और देवायु पूर्ण होने पर कूणिक राजाकी श्रीमती रानीकी कूखसे पुत्र-रूपमें उत्पन्न हुआ[३]।

कूणिकको श्रेणिक बहुत प्यारा था और वह इसे अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, इसलिये उसने ज्योतिषियों से पूछा कि मेरे पीछे राजा कौन होगा। उन्होंने विचार करके कहा कि श्रेणिक। श्रेणिक को दूसरे भाई बन्धुओंकी ईर्ष्यासे बचानेके लिये कूणिकने उससे कृत्रिम रोषप्रकट किया और उसे देश-निकाला दे दिया। इस अवस्थामे श्रेणिकने एक ब्राह्मण कन्यासे विवाह किया जिसकी कूख से अभयकुमार उत्पन्न हुआ जो बहुत बुद्धिमान् और चतुर है। अब किसी निमित्त से कूणिक ने स्वयँ राज्य छोड़ दिया और श्रेणिकको राजा बना दिया[४]।

पर्व ७५ के प्रारंभमें लिखा है कि एक दिन अर्जिका चंदनाको देखकर श्रेणिकने गौतम गणधरदेवसे पूछा कि यह कौन है! तब गणधरदेवने कहा कि वैशालीके राजा चेटक की लड़की है? उसके सात लड़कियाँ हैं। उनमेंसे सबसे बड़ी प्रियकारिणी तो कुण्डनगरके राजा सिद्धार्थकी रानी है और चेलिनी तेरी पटरानी है। श्रेणिक ने चेलिनीसे विवाह किस प्रकार किया इसका वर्णन भी उत्तरपुराण में है परंतु यहाँ अनुपयुक्त होने के कारण उद्धृत नहीं किया[५]।

आगे चल कर पर्व ७६ में कूणिक को चेलिनीका पुत्र करके लिखा है वह प्रसंग इस प्रकार है:—

गौतम मुनि श्रेणिकको कहते हैं कि जब भगवान महावीर निर्वाणको प्राप्त हो जायँगे तो मुझे भी केवल ज्ञान हो जायगा। विहार करता हुआ एक बार मैं इसी नगरमें इसी पर्वत पर ठहरूँगा। मेरा आगमन सुनकर इस नगरका राजा चेलिनीका पुत्र कूणिक अपने परिवार-सहित आकर मेरा उपदेश सुनेगा और श्रावकधर्म अंगीकार करेगा[६]।

कुछ दूर और आगे चलकर लिखा है कि जब जम्बूकुमार दीक्षा लेगा तो कूणिक उसका निष्क्रमण-महोत्सव करेगा[७]।

ऊपर दिये हुए प्रसंगोंमें पर्व ७४ में कूणिक को श्रेणिक का पिता कहा है। पर्व ७५ में लिखा है कि श्रेणिककी पटरानी चेलिनी थी। पर्व ७६में कूणिकको चेलिनीका पुत्र बतलाया है। इससे सिद्ध हुआ कि पर्व ७४ में कूणिकको श्रेणिक का पिता माना है और पर्व ७६ में कूणिकको श्रेणिकका पुत्र माना है।

उत्तरपुराण के इस पूर्वापर विरोधका समाधान बहुत कठिन है। यह कहना कि शायद श्रेणिकके पिता और पुत्र दोनोंका ही नाम कूणिक हो, क्योंकि भारत के कई राजवंशोंमें एकही नामके दो या अधिक राजा हो गये हैं युक्तियुक्त नहीं। क्योंकि श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें श्रेणिकके पिताका नाम पसेणइ (प्रसेनजित)[८] लिखा

२. उत्तरपुराण, पर्व ७४, श्लोक ३८५-६।

३. ,, ,, श्लोक ३६०, ४१७, ४१८।

४. ,, ,, श्लोक ४१८-२०, ४२३-५, ४२६-२७, ४२६।

५. पर्व ७५ श्लोक १-२, ६-८, ३४।

६. ,, ७६ श्लोक ३८-४२।

७. ,, ,, श्लोक ११३-४। उत्तरपुराण में और सब जगह "कूणिक" लिखा है परन्तु यहाँ "कूणिक महाराज"

८. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १२८४ पर प्राकृत टीका

है ÷। यहाँ पर यह कहना असंगत न होगा कि श्रेणिक और कूणिक के इतिहासका वर्णन दिगम्बर ग्रन्थोंकी अपेक्षा श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें अधिक विस्तृत और प्रामाणिक है, जैसा कि ब्राह्मण पुराण और बौद्ध ग्रन्थोंसे तुलना करने पर प्रतीत होता है। श्वेताम्बर ग्रंथ निरयावलीमें लिखा है कि कूणिकने अपने पिता श्रेणिक को कैद करलिया था और उसने कैदखानेमें ही आत्महत्या करली। इससे कूणिकके नाम पर पितृहत्याका कलङ्क आया। बौद्ध ग्रन्थ महावंश अध्याय २ गाथा २६–३३ में कूणिकको मूर्ख और (पितृ)घातक लिखा है। इसी प्रकार निरयावली में कूणिकका अपने नाना चेटकके साथ घोर युद्धका वर्णन है परन्तु उत्तरपुराण में इन बातोंका उल्लेख नहीं है ×। श्वेताम्बर ग्रंथ औपपातिक सूत्रमें कूणिकको "भंभसारपुत्त" अर्थात् भंभसारका पुत्र लिखा है ९। भंभसार शब्दके आधार पर ब्राह्मण पुराणों और बौद्ध ग्रंथोंमें उल्लिखित बिम्बि (बिम्ब) सारका श्रेणिकसे और उसके पुत्र अजातशत्रु (पाली—अजातसत्तु) का कूणिकसे तादात्म्य संबन्ध स्थापित किया गया है। उत्तरपुराणमें "भंभसार" का भी उल्लेख नहीं है *।

इस दशामें इस विरोधके तीन समाधान* संभव हैं:—

(१) या तो श्रेणिकके पूर्व-भव-वर्णनवाला पाठ प्रक्षिप्त है। यह समाधान बलवान् प्रतीत होता है, क्योंकि जहाँ तक मुझे मालूम है श्वेताम्बर, ब्राह्मण और बौद्ध किसी भी ग्रंथमें श्रेणिकके पूर्व भवोंका वर्णन नहीं मिलता ×।

(२) या ग्रंथकर्ता की ही असावधानतासे विरोध आ गया है ‡।

(३) या पीछेके लिपिकारोंने प्रतिलिपी करनेमें भूल करदी है। श्रेणिकके पिताका नाम कुछ और होगा जिसे लिपिकारोंने असावधानतासे कूणिक लिख दिया है +। आशा है कि पुराण और इतिहासके अभ्यासी कोई सज्जन इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेंगे और निर्णय करने की चेष्टा करेंगे।

÷ महज श्वेताम्बर ग्रंथोंमें इस नामका उल्लेख मिलनेसे ही उसे (उत्तरपुराणके कथनको) अयुक्त नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि श्रेणिकके पिताके नाम भी एकसे अधिक हों, जैसा कि खुद श्रेणिक और श्रेणिकके पुत्र कूणिकके नाम एकसे अधिक थे। और उन्हीं नामोंमें से एक नाम उत्तरपुराण वाला भी हो।

—सम्पादक

× भले ही उत्तरपुराणमें इन बातोंका उल्लेख न हो परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरे दिगम्बर ग्रन्थों में भी उनका उल्लेख नहीं है। श्रेणिकचरित्रमें कूणिकद्वारा श्रेणिकके कैदखाने में डाले जाने और उसके आत्महत्या कर लेनेका स्पष्ट उल्लेख है। ऐसी हालतमें लेखक महाशयने दिगम्बर साहित्यके यत्किंचित् अवलोकनके आधार पर जो अनुमान बांधा है वह सदोष है।

—सम्पादक

९. बम्बई संस्करण पृ० १४ क, २३ क आदि।

* इसके होनेसे जो नतीजा लेखक महाशय निकालना चाहते हैं वह नहीं निकाला जा सकता। किसी ग्रन्थकारके लिये यह लाज़िमी नहीं कि वह एक व्यक्तिके सभी नामोंका उल्लेख अपने ग्रंथमें करे। खुद श्वेताम्बर ग्रंथोंमें भी एक व्यक्तिके सभी नामोंका एकत्र उल्लेख नहीं मिलता।

—सम्पादक

* जब पूर्वापर विरोध ही नहीं, जैसा कि शुरूके सम्पादकीय नोटमें प्रकट किया गया है, तब समाधानकी यह सारी कल्पना व्यर्थ हो जाती है।

—सम्पादक

× जिस हेतुके आधार पर यहां उस पाठको प्रक्षिप्त बतलानेका साहस किया जाता है वह बलवान् तो क्या होगा, उसमें कुछ भी जान मालूम नहीं होती। ब्राह्मणों और बौद्ध ग्रंथोंकी बातको तो रहने दिया जाय, उनमें न मिलनेका तो कोई असर ही नहीं—श्वेताम्बर ग्रंथोंमें यदि श्रेणिकके पूर्वभवोंका वर्णन नहीं है तो उससे भी यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि श्रेणिकके कोई पूर्वभव थे ही नहीं अथवा किसीने उनका वर्णन किया ही नहीं। जब श्वेताम्बरीय ग्रंथ पूर्वभवोंके वर्णनोंसे बहुत कुछ भरे हुए हैं तब उनमें श्रेणिक जैसे प्रधान पुरुषके पूर्वभवोंका वर्णन न होना तो एक आश्चर्यकी ही बात होगी।

—सम्पादक

‡ जब तक पूर्वापर विरोधको अच्छी तरहसे सिद्ध न कर दिया जाय तब तक ग्रंथकर्ताकी असावधानता कहनेका हमें कोई अधिकार ही नहीं।

—सम्पादक

+ अच्छा होता यदि लेखक महाशय यहां मूल पाठको उद्धृत करके उसमें लिपिकारों द्वारा हो सकने वाली भूलको कुछ स्पष्ट करके बतलाते।

—सम्पादक

पत्र का एक अंश

अध्यापक

श्रीयुत पं० धन्यकुमारजी जैन, उपसंपादक 'विशाल भारत' कलकत्ता, अपने ४ मई सन १९३० के पत्र में एक पाठशालाका उल्लेख करके अध्यापकादि-विषय में कुछ चर्चा करते हुए— अथवा यों कहिये कि उसके बहाने तत्सम्बंधी अपने हृद्गत विचारोंको यत्किंचित व्यक्त करते हुए—थोड़ीसी अलंकृत भाषा में लिखते हैं :—

"अध्यापक मामूली हैं। होने चाहिएं लड़कोंके हृदय तक पहुँचने वाले। सुधारप्रिय ही नहीं, बल्कि जो अपने छात्रों को भावी सुधारक बना सकें। मेरी समझमें तो अभी ऐसे शिक्षकोंकी बहुत जरूरत है जो बच्चोंको या विद्यार्थियोंको यथार्थ जैनधर्म की शिक्षा दे सकें। मैं तो समझता हूँ कि समाज जिस पटरी पर चल रहा है, वह यथार्थ जैनधर्मकी लाइन नहीं है। उसके व्यावहारिक जीवनमें ब्राह्मण्य धर्मकी ऐसी छाप लगी हुई है—और उसकी भयानकता इस लिए और भी बढ़गई है कि उसका हमें ज्ञान तक नहीं—कि जिस के कारण समाज अपने धर्म तक पहुँच ही नहीं पाता। केवल मंदिर तक पहुँचता है—केवल पाषाण प्रतिमा तक पहुँचता है—केवल 'पथापरे' में बंधे हुए शास्त्रोंके अक्षरों तक पहुँचता है; पहुँचना चाहिए धर्म मन्दिर तक—पहुँचना चाहिए प्रतिमाकी आत्मा तक—पहुँचना चाहिए आत्म-ज्ञान या भेद-विज्ञान तक। कहाँ पहुँचते हैं हम ?

बिना पहुँचे तो धर्मका रहस्य हम समझ नहीं सकते। कैसे पहुँचे ?

वैज्ञानिक रीतिसे जैनधर्मकी शिक्षा दी जानी चाहिए। व्यावहारिक ढंगसे अभ्यास कराना चाहिए।

कितने ही भावुक हृदय लेखक होंगे, जिनकी भाषा से उसके भाव तक पहुँचना, साधारण तो क्या अच्छे पढ़े-लिखे लोगों तक को कठिन पड़ता है। भीतर वे घुस नहीं सकते, या घुसना चाहते ही नहीं। दर्पण के सीधी ओर न देखकर उलटी ओर देखते हैं, और फिर उसमें अपना प्रतिबिम्ब न दीखने पर उसे नष्ट कर डालते हैं। सामने खड़ा हुआ दूसरा व्यक्ति—सम्भव है वह बालक ही हो—उस दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देख कर प्रसन्न होता है, परन्तु दूसरे ही क्षणमें जब प्रौढ पुरुषको उसे नष्ट करते हुए देखता है, तो वह मुरझा जाता है, प्रौढकी करतूत पर दुःखित होता है—और कभी कभी रोता भी है, हाँ रोता है; लेकिन तब तो उसकी विपत्ति और भी बढ़ जाती है—तब वह प्रौढ़ हृदयहीन दार्शनिक (शुष्क पाण्डित्य) दर्पणपरकी झुंझलाहट उस सहृदय बालक पर उतार देता है। बालक रोता है,—लेकिन उसी क्षण एक और वैयाकरणी उसके रोनेको व्याकरणसे अशुद्ध बतलाता है, और उसके अन्ध अनुयायी उसका मुँह दाब देते हैं और उसी हालतमें उसे बाहर निकाल कर इतनी दूर पहुँचा देते हैं कि फिर उसका हृदयपूर्ण रोना कोई भी नहीं सुन पाता।

सुधारकों की हालत यह है।

लेकिन, अब तो, इतनी दूरसे भी उसका क्रन्दन

लोग सुनने लगे हैं। दो-एक सत्यान्वेषी वहाँ तक पहुँचते हैं और वापस आकर समाजके एक कोनेमें उस की आलोचना करते हैं। मगर उसे बुला नहीं सकते। उन्हें अपने हृदयमें बल नहीं मिलता—"है जरूर" इस बातका भी उन्हें कुछ कुछ आभास मिला है। लेकिन वे इतने थोड़े हैं और क्षेत्र इतना बड़ा है कि उसे ढूंढने में असमर्थता प्रकट कर रहे हैं।

इन थोड़ोंकी संख्या बढ़ानी चाहिए। और यह हो सकता है महात्माजीके आश्रमकी भान्ति किसी वैज्ञानिक और सत्य खोजी संस्था से ही।

"समन्तभद्राश्रम"—हाँ "समन्तभद्राश्रम"—क्योंकि उसमें वह रोनेवाला बालक अब प्रौढ होकर दृढताके साथ रो रहा है और वह रोना अब हृदयसे ही है, उसमें आवाज नहीं है—"समन्तभद्राश्रम" अपनेको ऐसी संस्था सिद्ध कर सकता है, और जरूर कर सकता है।

"रुपये और कार्यकर्ता चाहिएँ।"

हाँ, जरूर चाहिएँ। इनका संग्रह कैसे हो—इस पर विचार कर निर्णय पर पहुँचना है और उस निर्णय से काम लेकर निर्णयको निर्णय सिद्ध करना है। यह काम बड़ा कठिन है, लेकिन फिर भी हमें इसे सरल बना कर करना जरूर है।

भावी समाजको—हमारी सन्तानको—हमे आदमी बनाना है, जैनी बनाना है, धर्म-परीक्षक और धर्म-पालक बनाना है। क्योंकि हमें जो कहना है, 'जिस पटरी पर चलाना है उसका ज्ञान तो सबसे अच्छा भावी समाजको ही होना सम्भव है—और आसान भी।"

श्रीवीरकी असली जयन्ती

[लेखक - श्री० पं० अर्जुनलालजी सेठी]

श्रीवीरकी जयन्ती असली मनानी होगी।
तक़लीद[१] उनकी हमको करके बतानी होगी ॥१॥
एकान्त भ्रम तअस्सुब[२] जड़से उखाड़ फेंकें।
सत्यार्थियोंकी हरजा[३] संगति बनानी होगी ॥२॥
फ़िर्क़ों की बन्दिशों[४] में बरबाद हो चुके हैं।
मत-पंथकी अटक हठ खुद ही हटानी होगी ॥३॥
मठ-मन्दिरोंकी बढ़ती मूढों की वेषपूजा।
इन रूढ़ियोंमें फँसती जनता बचानी होगी ॥ ४ ॥
सिद्धान्त-तत्त्व-निर्णय गुणठाणका चढ़ाना।
उपयोग-शक्ति अपनी इनमें लगानी होगी ॥ ५ ॥
सब जीव मोक्ष सुखके हक़दार हैं बराबर।
यह साम्यवाद-शिक्षा पढ़नी-पढ़ानी होगी ॥ ६ ॥
छीनें न प्राण-सत्ता कोई प्रमाद-वशसे।
जीवोंकी, यह व्यवस्था हमको जमानी होगी ॥७॥
परतन्त्र बन्धनोंसे सब मुक्त हो रहेंगे।
भारत-वसुन्धरा की सेवा बजानी होगी ॥ ८ ॥
है वीर-धर्म-शासन पुण्यार्थ क्रान्तिकारी।
घर घर में ज्योति 'सेठी' इसकी जगानी होगी ॥९॥*

१ अनुकूल प्रवृत्ति. २ पक्षपात. ३ जगह जगह ४ जाति उपजातियोंके बन्धनों में।

* यह कविता खुद सेठीजीके द्वारा मालियरकोटला की गत महावीरजयन्तीके उत्सव पर ता० ११ अप्रेल सन् १९३० को पढ़ी गई थी। और उन्हींके द्वारा 'अनेकान्त' कार्यालयको प्राप्त हुई है।

जैनधर्मकी उदारता और जैनियोंकी संकीर्णता

[लेखक—श्री० साहित्यरत्न पं० दरबारीलालजी, न्यायतीर्थ]

> अनेकान्तकी गत पाँचवीं किरणमें 'जैनी हो सकता है?' इस नामका जो निबन्ध प्रकाशित हुआ है उसे कुछ अर्सेसे देहली-जैनमित्र मंडल पुस्तकके रूपमें प्रकाशित करना चाहता है। इसीसे मंडलने कुछ समय हुआ उसे साहित्यरत्न पं० दरबारीलालजीके पास भेज कर उनसे उस पर एक भूमिका लिख देनेका अनुरोध किया था। उस अनुरोधके परिणामस्वरूप पंडितजीने जो भूमिका लिखकर भेजी थी वही यह लेख है जो इस समय पाठकोंके सामने प्रस्तुत है। —सम्पादक

जिस मनुष्यने जैनधर्मका थोड़ा भी परिचय प्राप्त किया है और जिसका हृदय रूढियोंका गुलाम नहीं है वह अवश्य ही इस बातको कह सकेगा कि "कोई भी धर्म जैनधर्मसे बढ़कर उदार और विश्व-धर्म बननेकी योग्यता रखने वाला नहीं है। जैनधर्मकी छत्रछायामें भंगी, चमार, कोल, भील, चाँडाल, वेश्या, म्लेच्छ, पशु, पक्षी, नारकी आदि सभी संज्ञी प्राणी आकर अपना आत्मोद्धार एवं विकास कर सकते हैं और करते रहे हैं।" परन्तु दुःख और खेदकी बात तो यह है कि आज कलके जैनी भाई—जो कि प्रायः सच्चे जैनी नहीं कहे जा सकते—अपनेको जैनधर्म का उपासक कहते हुए भी जैनधर्मका गला घोट रहे हैं, धर्मके नाम पर अहंकार और अविचारकी पूजा कर रहे हैं। यही कारण है कि वे शूद्रों को मुसलमानोंको, ईसाइयों को तथा अन्य देशोंके मनुष्योंको जैनी बनना नहीं सह सकते। देवपूजा आदि जैनत्वके साधारण अधिकार भी उन्हें नहीं दे सकते। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि शूद्र, म्लेच्छ आदि मनुष्य—नहीं नहीं पशु-पक्षी तक भी—साक्षात् महावीरकी पूजा तो कर सकते थे परन्तु उनकी मूर्तिकी पूजा नहीं कर सकते हैं। मूर्तिका आसन आजकल साक्षात् अरहंतसे भी कई फुट ऊँचा मान लिया गया है! इस आश्चर्यकी मात्रा तब और भी बढ़ जाती है जब लोग यह तो मानते हुए पाये जाते हैं कि, शूद्र अणुव्रत धारण कर सकता है और ग्यारह प्रतिमा धारी भी हो सकता है परन्तु भगवान की पूजा नहीं कर सकता! मानों पूजाका स्थान ग्यारह प्रतिमाओंसे भी ऊँचा है!! पूजाके करनेसे पुण्य-बँध होता है; न कि संवर और निर्जरा। बँध—भले ही वह शुभ हो—आखिर है तो संसार का ही अंग, जबकि संवर और निर्जरा मोक्षके अंग हैं। शूद्र मोक्षके अंगोंको प्राप्त कर सकता है परन्तु स्वर्गके अंगों को प्राप्त नहीं कर सकता, यह कैसी विचित्र बात है! जैनशास्त्रोंके अनुसार तो प्रत्येक मनुष्यको अपने घरमें जिनप्रतिमा रखनेका अधिकार है। अधिकार ही नहीं, जिनप्रतिमा रखना उसका आवश्यक कर्तव्य है। जिस समय मथुरामें मारी रोगका शोर-शोर हुआ था और सप्तर्षियोंके प्रतापसे वह रोग शान्त हुआ था तब सप्तर्षियों ने कहा था—

"अद्यप्रभृति यद्गेहे बिम्बं जैनं न विद्यते ।
मारी भक्षति तद्व्याघ्री यथाऽनाथं कुरङ्गकम् ॥७५
यस्यांगुष्ठप्रमाणाऽपि जैनेन्द्री प्रतियातना ।
गृहे तस्य न मारी स्यात्तार्क्ष्य-भीता यथोरगी ॥७६॥

—पद्मपुराण, पर्व ९२

अर्थात्—'आजसे जिसके घरमें जिनप्रतिमा न होगी उसे 'मारी' उसी तरह खाजायगी जैसे बिना मालिकके हरिण को व्याघ्री खा जाती है॥ जिसके घरमें एक अँगूठेके बराबर भी जिनप्रतिमा होगी उसके घरमें मारी उसी प्रकार न आयगी जिस प्रकार गरुडके भय से सर्पिणी नहीं आती।'

अगर उस समय शूद्रोंके घरमें जिनप्रतिमा न होती तो वे विचारे मर ही गये होते। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता कि जैनधर्म शूद्रोंको इस तरह कुत्तेकी मौत मरने दे।

खैर! इस विषयको हम ज्यादह नहीं बढ़ाना चाहते। प्रस्तुत निबंध (जैनी कौन हो सकता है?) में मुख्तार साहब ने बहुतसे प्रमाण दे दिये हैं। सारांश यह है कि, चाहे युक्ति से विचार करो, चाहे आगमसे विचार करो और चाहे पौराणिक चरित्रों का अवलोकन करो, सब जगह जैनधर्म की उदारताके दर्शन होते हैं। परन्तु दुःख और आश्चर्य के साथ शर्मकी बात तो यह है कि बहुतसे जैन पंडित पूजाके अधिकारकी ही नहीं किन्तु जैनत्वकी ठेकेदारी भी कुछ इने गिने लोगोंके हाथमें ही रहने देना चाहते हैं। हमारे प्राचीन मुनिराज तो चाँडालोंको भी जैनी बनाने की कोशिश करते थे और बनाते थे परन्तु आज कल तो कोई श्रावक भी किसी भंगी चमार या अन्य शूद्रको धर्मका उपदेश दे दे तो ये पंडित लाल लाल आँखें दिखलाने लगते हैं। क़रीब दस वर्ष की बात है जब कि एक विदुषी महिलाने भंगियोंको धर्म का उपदेश दिया था। इस पर एक पंडितराज बहुत बिगड़े थे और बड़ी बुरी तरहसे जवाबतलब किया था। लेकिन उस विदुषी बहनने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया था कि "पंडितजी महाराज! शूद्रोंको उपदेश देना पाँच पापोंमें से कोई पाप तो है नहीं, न सप्तव्यसनोंमें से कोई व्यसन है, और न यह आठ कर्मोंमें से किसी कर्मके बन्धका ही कारण बतलाया गया है, तब समझ में नहीं आता कि मैंने क्या अपराध किया है?" इस पर पंडितजी महाराज बगलें झाँकने लगे और उनसे कुछ भी उत्तर बन न पड़ा।

समझमें नहीं आता कि कोई आदमी अगर जैन बन करके आत्मकल्याण करले, जिनपूजा करके कुछ पुण्यबंध करले तो इससे किसीका क्या बिगड़ जाता अथवा लुट जाता है? परमकृष्ण लेश्यावाला, रौद्रध्यानी, सप्तम नरकका नारकी तो जैनी ही नहीं सम्यक्त्वी तक बन सके और शूद्रादिको हम जैनी भी न बनने दें, यह अन्धेर नहीं तो और क्या है? चाँडालों को जैनी बनानेके लिये तो मुनि भी प्रयत्न करें, नारकियोंको उपदेश देनेके लिये शुक्ल लेश्यावाले देवता भी नरकोंका चक्कर लगावें, और हम अपने जैनत्वको तिजोड़ीमें बन्द करके अकड़ते ही फिरें! यह कोमल शब्दों में भी मूर्खता, दुरभिमान और उन्मत्तता तो है ही।

स्मरण रखिये! जैनधर्म, अधिकारोंकी छीना झपटी का धर्म नहीं है। इस धर्मकी छत्रछायामें आकर तो जो जितना धर्म कर सके—जो जितना पुण्य कर सके—उसे कर लेना चाहिये। हमें अपना कर्तव्य करना चाहिये। किसीको धर्मकार्यों से रोकने वाले हम कौन? जैन धर्म, सूर्यके समान है। सूर्य की किरणें भंगीके घरमें भी जाती हैं परन्तु इसलिये वह भंगी नहीं बन जाता और न ब्राह्मणोंके लिये बेकाम का ही हो जाता है।

इसी तरह अगर जैन धर्मकी किरणें शूद्रोंके हृदयोंमें पहुँच जायँगी तो वह कहीं शूद्र न हो जायगा और न हमारे लिये बेकामका अथवा अनुपयोगी ही बन जायगा। शूद्रोंके द्वारा भगवानकी पूजा होने पर, यही सब बात भगवानके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये।

खेद है कि हम धर्मके नाम पर धर्मात्मा तो नहीं, कषायी बन रहे हैं। हमारे ऊपर अहङ्कारका भूत सवार है। वह कहलाता है "जो धर्म मैं मानूँ उसे शूद्र क्यों माने? जिसे मैं पूजूँ उसे शूद्र क्यों पूजे? शूद्र तो मुझसे नीचा है इसलिये शूद्रोंका भगवान और उनका धर्म भी नीचा होना चाहिये। नहीं तो उनमें हममें फ़र्क़ ही क्या रहेगा"? मतलब यह कि अब और कुछ फ़र्क़ तो रहा नहीं है, जिन सद्गुणोंके कारण हम उच्च थे उनको तो हम कभीका दफ़ना चुके हैं, इसलिये अब जबर्दस्तीसे फ़र्क़ बनायेंगे। अगर कोई विधाता होता और उस पर हमारा वश चलता तो उससे हम यही कहते कि 'जब हमारे दो आँखें हैं तो शूद्रके दो क्यों होनी चाहियें? हमारी लम्बी नाक है तो शूद्रकी कटी क्यों न होनी चाहिये? अगर सब अंगोपाँग एकसे रहेंगे तो फिर फ़र्क़ ही क्या रहेगा?' नतीजा यह कि हमारे भीतर ईर्ष्या और द्वेषकी ऐसी कुछ अग्नि भरी हुई है कि दूसरोंकी भलाई की बात सुनते ही हमारे हाड़ जल उठते हैं। हमें अपने आत्मोद्धार की कुछ चिन्ता नहीं है, चिन्ता है दूसरोंको गिराने की या उनको पतित बनाये रखनेकी! बाहरी "सत्त्वेषु मैत्री" !!

शर्मकी बात है कि हम जैनधर्म के नाम पर ऐसे कषायी-पनका पोषण कर रहे हैं! अगर हमें जैनत्वका, 'सत्वेषु मैत्री'का थोड़ा भी ध्यान है तो हमें यह मिथ्या अहंकारका भूत उतार कर अलग कर देना चाहिये और प्राचीन कालके समान जैनधर्मको विश्वधर्म बनानेकी सब ओरसे चेष्टा करनी चाहिये। मुख़्तार साहबने इस निबन्धमें जो जबर्दस्त प्रमाण दिये हैं वे अवश्य ही इस अहंकार-रूपी भूतके उतारनेमें अमोघ सिद्ध होंगे। हाँ, जो लोग भूतावेशका स्वांग करते रहना चाहते हों उनकी बात दूसरी है।

उद्बोधन

[लेखक—श्री०कल्याणकुमार जैन 'शशि']

ईर्ष्या द्वेष दम्भ तुझ पर मुँह बाते हैं बाने दे!
मगमें तीक्ष्ण त्रिशूल अनेकों आते हैं आने दे!
विघ्न सघन घन उमड़ उमड़कर छाते हैं छाने दे!
होता है अपमान! प्राण यदि जाते हैं जाने दे!

मातृ-भूमि-हित शीश चढ़ाने में जो कभी न डरता!
शान्ति-सहित अत्याचारोंका दुर्ग नाश जो करता!
देकर भी प्रियप्राण दूसरों के दुख-संकट हरता!
क्या सच ही होता विश्वास तुझे वह मरकर मरता?

× × ×

हर्ष-सहित बलिदान हो मनमें किञ्चित भीत न कर!
जीना है मरना न यों होगा मर कर भी अमर!

× × ×

प्रियवर! मर सकता न वह मृत्यु न उसको आयगी!
मृत्यु उसे अमरत्व की विजय-माल पहनायगी!

सिन्दूर-वाला

[मूल लेखक—श्री०रवीन्द्रनाथजी मैत्र, अनुवादक—श्री०धन्यकुमारजी जैन]

(१)

चैतमें फसल बोकर निधिराम कलकत्ते आता, और वर्षा शुरू होने ही देश लौट जाता। इन छै महीनोंमें रोज देखता कि एकचक्षु निधिराम पाठक सिर पर आसमानी रंगकी एक छोटीसी पेटी लादे आवाज़ लगाता जा रहा है—"चीना सिन्दू-र लेउ, चीना सिन्दू-ऊ-र!" और उसके पीछे नंग-धड़ंग लड़कोंके झुंड-के-झुंड वृन्दावन-लेनकी नींदसे अलसाती हुई दुपहरीको सहसा चौंका कर चिल्ला रहे हैं—"काना झींगुर लेउ, काना झींगु-ऊ-र!" कब और किस छन्द-रसिक शिशु-कविने सिन्दूर बेचने वाले निधिरामके लिए यह अपूर्व स्तुति-वाणी पहले-पहले अपने श्रीकण्ठसे निकाली थी, इसे कोई नहीं जानता। शायद स्वयं कविको भी इस बात की सुधि नहीं, लेकिन बहुत दिनोंसे हर साल नये-नये शिशु-कण्ठ एक ही भाषामें—एक ही वाणीमें—निधिरामका स्वागत करते आ रहे थे। इस असुन्दर कुरूप आगमनके लिए निधिराम कभी भी किसी दिन गुस्सा नहीं हुआ, बल्कि देखा गया है कि प्रत्युत्तरमें झींगुर जैसी आवाज देकर उसने अपने बच्चे-साथियोंको उलटा खुश ही किया है।

बीस वर्षसे इसी तरह चला आ रहा था। यकायक एक दिन इस नियमका व्यतिक्रम देखकर निधिरामको बड़ा आश्चर्य हुआ। गलीमें एक जगह कुछ बच्चे इकट्ठे होकर खेल रहे थे। निधिरामने वहाँ आकर ऊँचे स्वरमें आवाज दी—"चीना सिन्दू-र लेउ, चीना सिन्दू-ऊ-र"

दूरसे दो-एक कण्ठसे परिचित प्रतिध्वनि सुनाई तो दी, लेकिन रोजकी तरह वह जमी नहीं ठीकसे।

बच्चोंका झुण्ड किसी एकको घेर कर बड़ी मान-भावी और विनयके साथ चुपचाप खड़ा हुआ उसकी बातें सुन रहा था। निधिराम पास आकर खड़ा हो गया। बात कह रही थी एक लड़की। अपनी नीलाम्बरी साड़ीका आँचल कमरसे लपेट कर हाथ हिलाती हुई वह इस बातको प्रमाणित कर रही थी कि कानेको काना और लंगड़े-लूलेको लंगड़ा-लूला नहीं कहना चाहिए, और अगर कोई कहेगा, तो उसके साथ वक्ताकी जिन्दगी भरके लिए खुट्टी (शायद असहयोग?) हो जायगी; और गुड्डा-गुड्डियोंके ब्याहमें वह उसे कभी भी न्योता न देगी। समाज-च्युति (या जाति-बहिष्कार)-के कठोर दण्डके डरसे, परिचित कण्ठ-ध्वनि सुन कर भी, बच्चोंका झुण्ड आज चुप था,—निधिराम इस बात को समझ गया और वक्ताको एक बार खूब गौरसे देख वह चुपचाप वहाँ से चल दिया।

शामको लौटते वक्त गलीकी मोड़ पर नीले मकान के दरवाजे पर दुपहरीकी शिशु-सभाकी इस नेत्रीके

साथ निधिरामका साक्षात्-परिचय हुआ। निधिरामको देखते ही बिना कुछ भूमिका के बालिका ने कहा—"तुमने पहले जनममें कानेको काना कहा होगा, क्यों सिन्दूर वाले ?"

कहनेकी जरूरत नहीं कि पहले जन्मकी बात निधिरामको बिलकुल भी याद न थी, लेकिन फिर भी इस नवागता बालिकाके साथ बातचीतका सिलसिला जमानेके लिए उसने कहा—"हाँ, लच्छिमी बिटिया।"

"माँ कहती थी कि इसीसे इस जनममें तुम काने हुए हो, नहीं ?"—कह कर उसने एक प्रचंड अभिशाप-वाणी मुँहसे निकाली—"सान्ती, हुकमा, इमृती, मोती—सब कोई उस जनममें काने होंगे ! तुम्हें चिढ़ाते हैं न ?"

निधिरामने दाँतों तले जीभ दबाकर कहा—"ऐसी बात नहीं कहा करते, लच्छिमी-बिटिया !"

अब तो 'लच्छिमी बिटिया' ने उग्र रूप धारण कर लिया, बोली—"कहूँगी, हजार बार कहूँगी। वे तुमसे काना क्यों कहते हैं ?" कह कर जरा थम गई; फिर पूछने लगी—"तुम ब्राह्मण हो ?"

निधिरामने कहा—"हाँ।"

प्रश्न करनेवालीकी आँखोंमें सन्देह झलकने लगा, कह उठी—"देखूँ जनेऊ ?"

निधिरामने फटी मिरजईके भीतरसे मैला जनेऊ निकाल कर दिखाया। बालिकाने कहा—"कलरघिया के लड़केके साथ मेरी लड़कीका ब्याह होगा। तुम मन्तर पढ़ दोगे ?"

निधिरामने उसी क्षण पौरोहित्य स्वीकार कर लिया, कहा—"पढ़ दूँगा।"

"लेकिन हम लोग ग़रीब आदमी हैं, दच्छिना नहीं दे सकेंगे, समझे ?"—बड़ी गंभीरताके साथ बालिका कहने लगी—"इसके और पीले हाथ करदें, सोई छुट्टी है। उन दोनोंको तो किसी तरह ब्याह-ब्यूह दिया है। मइया ! लड़के-बाले पाल-पोस कर बड़ा करना बड़ा मुशकिल काम है।" ❀ इतना कहकर अपना गुड्डा-गुड़ियोंका डब्बा उठा लाई, और सिन्दूर बालेके हाथमें देकर बोली—"देखो तो सही, बिटिया मेरीका मुँह सूख गया है—मारे घामके। अब इसे पानीमें नहलाकर छाँहमें रखना होगा, नहीं तो मुहल्लेके लोग बहू का मुँह देखते बखत नाक-मुँह सिकोड़ेंगे,—कहेंगे अच्छी नहीं है।" ❀

इतनेमें भीतरसे बुलाहट हुई—"सरसुती ?"

"उँह मेरी मैया ! घड़ी-भर अपने लड़के-बालोंके दुख-सुखकी बातें भी करलूं, सो भी नहीं।" ❀ कहकर बालिका खड़ी हो गई। गुड्डा-गुड़ियोंका बकस उसके हाथमें देकर निधिरामने कहा—"तो चलता हूँ अब, लच्छिमी बेटी !"

"मैं लच्छिमी नहीं हूँ—सरसुती हूँ सरसुती ! मुझे सरसुती बेटी कहा करो, समझे ?"—इतना कहकर बालिका भीतर चली गई।

निधिरामके साथ सरस्वतीके परिचयका सूत्रपात हुआ इस तरह।

(५)

यह शान्त लड़की निधिरामको सहसा बहुत अच्छी लग गई ! धीरे-धीरे, कालीघाटके खिलौने, लाख की चूड़ियाँ, ज़रीदार कपड़ोंके दो-एक टुकड़े निधिराम की पेटीमें जगह पाकर अन्तमें सरस्वतीके खिलौनोंके बीच आश्रय पाने लगे। प्रतिदिनके आनन्द-शून्य लगातार एक-सी खरीद-बिक्रीके बीचमें इस लड़कीके साथ

❀ मां, के मुँहसे सुनी हुई बातोंको बच्चोंने किस तरह ज्यों की त्यों हिरदेमें रख लिया है, ज़रा देखिये तो सही।—अनुवादक

दो घड़ी बात चीत करके निधिरामको बड़ा आनन्द मिलता; कभी-कभी उसने उस नीले मकानके जंगलेके बाहर चबूतरे पर बैठकर सिन्दूरकी पेटी अपनी गोदमें रखे, सरस्वतीके साथ उसके बाल-बच्चोंके सुख-दुखकी बातें करते-करते घंटों बिता दिये हैं।

दूसरे मुहल्लेमें जाकर फेरी करनेसे चार छै पैसेका रोजगार होता; इस बातका बीच-बीचमें उसे खयाल भी हुआ है लेकिन फिर भी वह अपनी प्रगल्भा बान्धवी की बातोंका मोह छोड़कर उठकर जा नहीं सकता है, ऐसी दशामें जब कि वह समझता था कि उसकी बातें बिलकुल निरर्थक फिजूल हैं और कभी भी—निधिरामके भी—किसी काम नहीं आ सकतीं।

वर्षाके अन्तमें निधिराम देश चला गया।

अबकी बार देशमें एक तरहकी घातक बीमारीका शोर-दौरा हुआ। उसके आक्रमणसे निधिरामको भी छुटकारा न मिला। छै-सात महीने बीमारी पाकर, एक दिन, माह-फागुनकी दुपहरीमें निधिरामने अपनी सिन्दूरकी लाल पेटी सिरपर लादे सरस्वतीके मकानके सामने आकर आवाज दी—"चीना सिन्दू-र लेउ, चीना सिन्दू-ऊ-र"

पहलेकी भांति कोई धप-धूम करके उतरकर दरवाजा खोलकर बाहर नहीं निकला। दूसरी बार आवाज देने पर नीचेके कमरेका एक जंगला खुल गया। जंगलेके भीतर सरस्वतीको देख, भर मुँह हँसकर निधिरामने पूछा—"इस बूढ़ेको अभी तक भूली नहीं हो, सरसुती-बेटी ?"

सरस्वतीने गरदन हिलाकर जवाब दिया—"नहीं" निधिरामको बड़ा आश्चर्य हुआ, सरस्वती तो बिना बातचीत के रहनेवाली नहीं। पूछा—"तुम्हारे लड़के-बाले सब अच्छी तरह से हैं न, बिटिया ?" अब सरस्वती बोली—"वे सब मैंने रुखियाको दे दिये हैं।" इसके बाद और कोई प्रश्न करनेका सूत्र निधिरामको ढूँढे न मिला। कुछ देर ठहर कर, बहुत सोच-विचारके बाद उसने कहा—"एक बार बाहर आओगी बेटी ?"

सरसुती कुछ बोली नहीं; पीछेसे उसका छोटा भइया बोल उठा—"अम्माने कहा है, जीजी अब बाहर नहीं निकलेगी। जीजी बड़ी हो गई है न।"

—अच्छा ! इसीसे !

अब कहीं निधिरामकी निगाहमें सरस्वतीका परिवर्तन ठीक तौरसे दिखाई दिया। साल-भरसे उसने सरस्वतीको नहीं देखा है, परन्तु एक साल पहले देश जाते समय जिस बातून चंचल लड़कीसे उसने बिदा ली थी, उसमें और इसमें जमीन आसमानका फ़र्क है। निधिराम इससे किस भाषामें—किस विषयमें—बातचीत करे, यकायक उस की कुछ समझमें न आया। जरा इधर उधर करके घरसे जो वह नया पटाली गुड़* लाया था उसकी पोटली जंगलेके सींकचोंमें से सरस्वतीके हाथमें दे कर बोला —"देशसे लाया हूँ सरसुती माँ, ले जाओ इसे। इसके बाद अपने घर-सम्बन्धी दो एक असम्बद्ध बात कह कर निधिराम चला गया। अपने गाँवके कारीगरसे वह विचित्र रंगके काठके खिलौने बनवा लाया था, उनको पेटीसे निकालनेका तो मौक़ा ही न मिला।

दूसरे दिन निधिराम अपनी रोजकी पेटी सिरपर लिये नीले मकानके जंगलेके सामने आ खड़ा हुआ। नीचेके कमरेमें एक बड़ी चौकी पर बैठी सरस्वती किताब पढ़ रही थी। निधिरामने कोमल स्वरसे पूछा— "क्या पढ़ रही हो, सरसुती माँ ?"

सरसुतीने मुँह उठाकर निधिरामको देखकर हँसते

* पटाली गुड़—ताड़के रसका बना हुआ पाटीके आकारका जमा हुआ गुड़, जो खानेमें बहुत ही स्वादिष्ट और सुगन्ध-युक्त होता है। —अनुवादक

हुए कहा—"कथामाला।" दूसरे क्षणमें ही पूछ बैठी—"माँने पूछा है, गुड़के दाम कितने हैं। ?"

इस प्रश्नको सुनकर निधिराम ठिठक-सा गया; फिर सूखे मुँहसे बोला—"माँसे कह देना बिटिया, कि मेरे घरका बना हुआ गुड़ है, पैसे नहीं लगे।"

सरसुतीने कहा—"अच्छा।"

इसके बाद, दो दिन तक उस रास्तेमें निधिराम दिखाई न दिया। तीसरे दिन, दो पहरको वह अपने नियमानुसार नीले मकानके जंगलेके सामने आकर खड़ा हो गया, बोला—"सरसुती बेटी!"

सरसुती सिलेट परसे मुँह उठा कर एकदम पूछ बैठी—"दो दिन आये क्यों नहीं थे ?"

निधिरामके चेहरेपर आनन्दोल्लासकी लालियाँ दौड़ गईं।

—तो, सरसुतीने उसकी याद की है!

अनुपस्थितिका एक झूठा बहाना बनाकर निधिरामने बड़ी सावधानीके साथ कोमल स्वरमें कहा—"सरसती-बेटी! एक पुस्तक लाया हूँ, पढ़ोगी ?"—कहकर सींकचोंमेंसे एक कृत्तिवास-कृत जिल्ददार रामायण—चारों ओर ताककर—सरसतीकी चौकी पर रख दी।

सरसुतीने उसे पास बुलाकर पूछा—"तसवीर हैं इसमें ?"

निधिराम ने मुसकराकर कहा—"बहुत! राम, रावण, हनुमान—सबकी तसवीर!—मैं पढ़ना नहीं जानता, सरसुती, पहले तुम पढ़ लो, फिर मुझे पढ़कर सुनाना।

सरस्वतीने कहा—"अच्छा। फिर तुम कल आओगे तो ?"

निधिराम एक उज्ज्वल आनन्द की हँसी हँसकर आनेका वादा करके चला गया।

× × ×

सरसुती रामायण पढ़ती और निधिराम अपनी सिन्दूरकी पेटी गोदमें रक्खे खिड़कीके पास चबूतरे पर बैठा हुआ सुनता। बीचमें जो एक ईंटकी दीवार का व्यवधान था,—श्रोता और पाठिका—किसीको भी उस बातकी सुधि न रहती।

सहसा एक दिन वह व्यवधान बढ़ गया।

पाठ जब अयोध्याकाण्ड तक आगे बढ़ चुका था, तब एक दिन निधिरामने आकर देखा कि नीचेके उस कमरेमें उस चौकी पर सरसतीके बदले दो भले आदमी साफ़-सुथरे बिछौने पर बैठे हुए हुक्का पी रहे हैं। निधिरामने आवाज़दी—"चीना सिन्दू-र लेउ, चीना सिन्दू-ऊ-र।

दुमँजलेकी एक खिड़की खुल गई सरस्वतीने जंगलेमें खड़े होकर, बायाँ हाथ मुँहपर रखकर और दाहना हाथ हिलाकर इशारा किया कि वह आज पढ़ेगी नहीं।

निधिराम जिस रास्तेसे आया था, उसी रास्तेसे लौट गया। गलीकी मोड़पर सरस्वतीकी सहेली राधारानी उर्फ़ रधियाने निधिरामको समाचार दिया कि—सरस्वतीका जल्दी ब्याह होनेवाला है, और आज उसे वे देखने आये हैं।

सरसुती-माँका ब्याह! फिर मामके घर! कितनी दूर है वह!

निधिरामने फिरकर दूरसे एक बार नीले मकान की दुमँजलेकी बन्द खिड़कीकी ओर देखा, फिर धीरे धीरे मन्द गतिसे चला गया।

तीन-चार दिन अपनी कोठरीमें ही बिता कर फिर उसी पेटीको सिरपर लादे उसी गलीकी मोड़पर आकर निधिरामने एक दिन आवाज़ दी—"चीना सिन्दू-र लेउ, चीना सिन्दू-ऊ-र।"

उस दिन नीले मकानके दरवाज़े पर नौबत बज रही थी। निधिराम बहुत देर तक बाट देखता रहा—ऊपरके खुले जङ्गलेके पास आकर शायद आज भी कोई खड़ा हो; लेकिन आज कोई न आया।

× × ×

दूसरे दिनसे फिर पहलेके नियमानुसार निधिराम

की आवाज गलीमें सर्वत्र गूँजने लगी, सिर्फ नीले मकानके सामनेसे वह चुपचाप निकल जाता,—हज़ार कोशिश करनेपर भी उसकी जबानसे एक लफ्ज नहीं निकलता।

(३)

रोजकी तरह उस दिन भी निधिराम चुपचाप चला जा रहा था; इसी समय नीले मकानके जंगलेमें से एक बच्चेने आवाज दी—"ओ सिन्दूरवाले! ठहरो, जीजी बुला रही है।"

मारे खुशीके निधिरामका कलेजा उछल पड़ा। मुँह फेरते ही उसने देखा कि नीचेके जंगलेमें सरस्वती खड़ी है। निधिराम मारे आनन्दके गद् गद् कण्ठसे कह उठा—"कब आई सरसती? मुझे तो मालूम ही नहीं, इसीसे—"

सरस्वतीने संक्षेपमें कहा—"आज"।

इसके बाद निधिराम अपने आपही घंटे-भर तक न जाने क्या-क्या बातें करता रहा। अन्तमें बोला—"तुम अपनी सिन्दूरकी डिबिया तो ले आओ, सरसती बेटी! बहुत बढ़िया सिन्दूर लाया हूँ आज।"

उस दिन तो सरस्वतीकी सोनेकी डिबिया ऊपर तक सिन्दूरसे खूब भरकर निधिराम घर चला गया। उसके बाद, फिर धीरे धीरे विचित्र रंगकी काठकी डिबियों में सिन्दूरका उपहार आना शुरू हुआ। साथही, पाँवके महावरसे लेकर माथेकी बेंदी तक सुहागकी सभी चीजें दिखाई देने लगीं।

अबकी बार बरसातमें निधिराम देश नहीं गया।

क्वारमें दुर्गा-पूजाके पहले सरस्वती जिस दिन सास के घर गई, निधिराम भी उसी दिन देश चला गया। वर्षाके दिनोंमें घर न आनेके कारण निधिरामकी आर्थिक हानि हुई, और इस लिए उसकी स्त्रीसे लेकर छोटे लड़के तकने उसे काफी फटकार बताई; लेकिन आर्थिक हानि की उस बड़ी रकमने उसे ज़रा भी विचलित न किया।

फागुनकी बयार चल रही है। पेड़ोंकी डालियोंमें मानो किसीने हरा रंग पोत दिया हो।

निधिराम कलकत्ते आया।

सरस्वती ससुरालसे वापिस आई है या नहीं, उसे कुछ खबर नहीं। नीले मकानके सामने खड़े होकर उसने आवाज लगाई—"चीना सिन्दू-र लेउ, चीना सिन्दू-ऊ-र।"

कोई जवाब न मिला। निधिराम उसी गलीसे लौट गया; मगर फिर न जाने क्या सोचकर वापिस आया और ऊँचे स्वरसे कहने लगा—"चीना सिन्दू-र लेउ, चीना सिन्दू-ऊ-र।"

बहुत ही धीमी पैरोंकी आहट मानो सुनाई पड़ी। निधिराम काँपते हुए कलेजेसे जंगलेके पास आकर प्रतीक्षामें खड़ा होगया। जंगला खोल कर सरस्वतीके छोटे भइयाने कहा—"तुमको इस गलीसे आनेके लिए माँ ने मना कर दिया है, सिन्दूर वाले!"

अनजानमें कोई कसूर हो गया होगा, इस सोचसे निधिरामका मुँह सूख गया। हिचक-हिचक कर उसने कहा—"कि-यों?"

इतनेमें दरवाजा खुला। दरवाज़े पर आ खड़ी हुई उदास-चेहरा लिये, सफेद-कपड़े पहने सरसुती!—देह पर एक भी गहना न था—सुहागका एक चिह्न तक नहीं!

निधिराम चौंक पड़ा। उसके बाद सिरकी पेटी ज़मीन पर रख कर, उस पर बैठ कर, अर्थ-हीन उद्भ्रान्त दृष्टिसे सामनेकी ओर देखता रह गया।

नीले मकानका दरवाजा बन्द हो गया।

होश आने पर, निधिराम जब वापस जाने लगा, तब उसके सिरकी पेटी बीस मन भारी हो गई थी।

इसके बाद, फिर सात-आठ दिन तक उस गलीमें निधिरामको किसीने देखा नहीं। आखिर, एक दिन, सहसा परिचित कण्ठस्वर सुनकर मैंने जंगला खोला, तो, निधिरामकी मूर्ति आँखों तले पड़ी। सिन्दूर की पेटीकी जगह उसके सिर पर एक बड़ा-भारी फलका डलड़ा था। उसके भारी बोझसे-झुका हुआ वृद्ध-निधिराम पाठक पसीनेसे तराबोर होकर नीले मकान के सामनेसे गलीके रास्ते पर आवाज देता जा रहा है—"फल लेउ मा, पके-ए-फल!"

अकलंकदेवका 'चित्रकाव्य'

अथवा

चतुर्विंशति-जिन-स्तोत्र

'चित्र काव्य' नामका यह एक पुराना स्तोत्र हाल में बाबू लक्ष्मीनारायणजी जैन, तिजारा राज्य अलवर, के अनुग्रह से प्राप्त हुआ है। यह स्तोत्र अभी तक लुप्त प्राय तथा अप्रकाशित ही था, और इसलिये आज इसे थोड़े से परिचयके साथ यथावस्थित रूपमें नीचे प्रकाशित करके पहले ही 'अनेकान्त' के पाठकोंकी भेट किया जाता है।

इस स्तोत्रमें चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति बारह पद्यों में की गई है और उनमें यह खास खूबी रक्खी गई है कि बारह पद्योंको एक बार पढ़नेसे वे क्रमशः श्रीवृषभ आदि वासुपूज्य पर्यंत बारह तीर्थंकरोंके स्तुति-पद्य मालूम होते हैं और जब उन्हें बारहवें पद्यसे पहले पद्य तक दूसरी बार पढ़ा जाता है तो वे विमल आदि महावीर पर्यंत शेष बारह तीर्थंकरोंके स्तुति-पद्य जान पड़ते हैं। इस तरह एक एक पद्यमें सीधे तथा उलटे क्रमसे दो दो तीर्थंकरोंकी स्तुतिका, उनके नाम-सहित, समावेश किया गया है। पहला पद्य एक अर्थमें श्रीवृषभका स्तुति-पद्य है तो दूसरे अर्थमें वह महावीरका भी स्तुति-पद्य है, दूसरा पद्य एक अर्थमें श्रीअजितका स्तुति-पद्य है तो दूसरे अर्थमें पार्श्वनाथका भी स्तुति-पद्य है; इसी प्रकार दूसरे पद्योंका भी हाल जानना। साथ ही, यह भी क्रम रक्खा गया है कि पूर्वार्धमें एक तीर्थंकरका नाम है तो उत्तरार्धमें दूसरे तीर्थंकरका नाम है और पद्यका प्रत्येक अर्धभाग अपने अपने नामवाले तीर्थंकरके स्तवनमें जहाँ स्पष्टसा है वहाँ दूसरे तीर्थंकर के स्तवनमें अपनी स्पष्टताके लिये कुछ प्रयत्नकी अपेक्षा रखता है। दूसरी खूबी अथवा काव्य-चातुरी इन पद्योंमें यह पाई जाती है कि जिस पद्यमें सीधे क्रम से जिस तीर्थंकरकी स्तुति की गई है उसका नाम उस पद्यके चरणोंके आद्याक्षरोंको मिलानेसे भी बन जाता है—बारह पद्योंके आद्य अक्षरोंको क्रमशः पढ़ जाने पर बारह तीर्थंकरोंके नामोंका उच्चारण हो जाता है—और उलटे क्रमसे जिस पद्यमें जिस तीर्थंकरकी स्तुति की गई है उसके चरणोंके अन्तिम अक्षरोंको मिलाने से उस तीर्थंकरका नाम उपलब्ध हो जाता है। इस तरह प्रत्येक पद्यके चरणों की आदि और अन्तमें—दोनों तरफ—उस उस पद्य द्वारा स्तुति किये गये तीर्थंकरोंकी नाम-स्थापना की गई है। काव्य-भरमें इस नियमका सिर्फ एक ही आंशिक अपवाद पाया जाता है और वह यह कि 'अभिनंदन' नाममें चूँकि पाँच अक्षर थे इससे इस नामके 'अ' अक्षरको पूर्ववर्ती 'संभव' तीर्थंकरके स्तुति पद्यके चौथे चरणमें रक्खा गया है। अस्तु; छापने में इन अक्षरोंको इन के टाइप में कर दिया गया है, जिससे प्रत्येक पद्यको पढ़ते समय उसकी दोनों तरफ़ की तीर्थंकरोंके नामोंका स्पष्ट दर्शन होता रहे।

काव्यके अंतमें एक 'प्रशस्ति-पद्य भी पाया जाता है, जिसमें काव्यका नाम 'चित्रकाव्य' और उसके रचयिताका नाम 'अकलंकदेव' देनेके अतिरिक्त रचना का समय भी दिया हुआ है। यह समय 'क-ह-र-ध

परस्थवर्णं र्नव नव पंचाष्ट कल्पते क्रमशः' इत्यादि वाक्यानुसारिणी वर्णांक पद्धतिसे विक्रम संवत् १५७४ जान पड़ता है। इस वर्षकी आश्विन शुक्ला द्वितीया को यह काव्य निर्मित हुआ है। अन्यथा, 'विक्रमस्य वसुशके' का अर्थ यदि विक्रम संवत् ८ किया जाय तो वह कुछ ठीक मालूम नहीं होता। इतिहाससे उस वक्त किसी भी ऐसे 'अकलंकदेव' के अस्तित्वका पता नहीं चलता। परन्तु विक्रमकी १६वीं शताब्दीमें अकलंकदेव नामके कुछ विद्वान् जरूर हुए हैं; उन्हींमेंसे यह किसीकी रचना जान पड़ती है। और इस लिये इस काव्यके कर्ताको विक्रमकी ७वीं ८वीं शताब्दी में होने वाले राजवार्तिकादि ग्रन्थोंके विधाता भट्टाकलंकदेवसे भिन्न कहना चाहिये। हाँ, 'वसुशके' की जगह यदि 'वसुशते' पाठ हो और उसका अभिप्राय ८०० संवत् न लेकर आठवीं शताब्दी लिया जा सके तो यह कृति उन भट्टाकलंकदेवकी भी हो सकती है। फिर भी चूँकि भट्टाकलंकदेवकी उपलब्ध बड़ी बड़ी कृतियों तकमें रचना-संवत् का उल्लेख नहीं है तब इस छोटीसी कृतिमें उनके द्वारा रचना-संवत्का उल्लेख हो यह बात कुछ समझमें नहीं आती। और इस लिये इस कृतिको सहसा उनकी मान लेनेमें बहुत ही संकोच होता है। मालूम हुआ है कि इस काव्य पर एक टीका भी है परंतु वह अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी। उपलब्ध होनेपर पाठकोंको उसका परिचय कराया जायगा और तभी इस स्तोत्रका अनुवाद भी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया जायगा। संभव है कि टीका परसे इस रचना-समय पर भी कुछ विशेष प्रकाश पड़ सके।

जिन भाईयोंको किसी दूसरे शास्त्रभंडारसे यह काव्य अथवा इसकी कोई संस्कृत टीका उपलब्ध हो उन्हें कृपया जरूर इन पंक्तियोंके लेखकको उससे सूचित करना चाहिये और हो सके तो तुलना करके उस प्रतिकी विशेषताको भी साथमें नोट कर देना चाहिये, जिससे पाठकी अशुद्धि आदिका भी संशोधन हो सके।

—सम्पादक

चित्रकाव्यम्

[१—२४]

श्री नाभि सूनो जिन सार्व भौ म
वृ ष भज लन तवे मने हा
प द् जीव रक्षा पर देहि दे पी
म र्शितं सं पद माशु वी र

[२—२३]

श्री नंद नाथा ब्ध्यथयंति पा ना
म वाम देवा जित मां सुपा र्श्व
जि नां गिना रोग वर्जितली ना
व नामिधानादपि पार्श्वना थ

[३—२२]

सं सार पारो जनि मेघ आ ने
म त्स्यदो संभव यथ आ मि
थ रया: स्वयं ते मद मोह मा ना
थ भंग भंगो सति नेमि ना थ

[४—२१]

मि त्रोलि मैना अभिनंद ने न
नं द न मंत्री तव पूज का मि
द या हरिद्रोऽपि नृपे क्षमा ना
न मे कर्व ते मधि दान ना थ

[५—२०]

श्री खंड व ताप हरा शिव श्री
मु खाय गीस्ते सुमते प्रजा मु
म हस्तुते सुव्रत देव ती म
वि रस्त्क्रिया कृ त्तम सोऽपि ता न

[६—१९]

प द्म प्रभाख्रि द्वय मं हसा म
य रं सुदेते स्थिर पक्ष्म व ख्रि
म भो प्रभाते भुवि दिप्य मा ना
म जय मीत्वं जिन महिना थ

[७—१८]

श्री माम् सुपार्श्वो पिहि नेस्त मां अ
सु मस्सुखं देश न याच का र
पा रंगतः पातक वल्लरी प
र्श्वं प्रं जनं चार पतिः पुना ति

[८—१७]

चं द्रः प्रभाणोर्हर मेघ शं कु
द्र ष्टा स्मि हृत्ते सम कुंभि कुं थुं
प्र वाल त्वं मुंचति नाप्य यं मा
भ क सुवर्णं त्वयि कुंथु ना थ

[९—१६]

श्री रंग जाते सुविधे सदा शां
सु धांशु गौरी विशदी करो ति
वि श्वैक बंधो सि मृगांक ना ना
धि नोपि कोका नपि शांति ना थ

[१०—१५]

श्री शीतलत्वां जित मोह यो ध
श्री लाढ्य याचे जिन राज श र्मे
न व स्वरूपं हृदि संद धा ना
ता यं लभंते त्वयि धर्मना थ

[११—१४]

श्री वस्सिनि श्रीहृदि ताव के श्रो
श्रे यांस सक्ता नित राम हो अ
यां मे निजां देहि वदान्य धी नं
स मीक्ष्य वीराग्रिम माम नं त

[१२—१३]

वा स्वासुपूज्या गमि कीं मति श्री
सु त्वं कर्षती भव ताप्य सा वि
पू र्णा ममाशा विमलाय ना म
ज्य या समं लीन शिरोन वोऽ ल

विक्रमस्य वसुशाके द्व (द्वि) तीया तु ईषु (या इषे) सिता ।
तदाऽकलंकदेवेन चित्रकाव्यम् विनिर्मिता (त)म् ॥

महात्माजी और जैनत्व।

[लेखक—श्री० पं० दरबारीलालजी, न्यायतीर्थ]

जैनत्वकी यदि वास्तविक व्याख्या की जाय, अथवा साम्प्रदायिक एकान्तको दूर करके शास्त्रोंके अनुसार ही जैनत्वका विचार किया जाय, तो महात्मा गांधीजीमें जैनत्वका हम जितना विकास देख सकेंगे वह शायद ही आज किसी पुरुषमें दिखाई दे सके। जैनधर्मकी अनेक विशेषताओंमें से हम **अनेकांत और अहिंसा** को ही मुख्य स्थान दे सकते हैं। और ये दो बातें महात्माजी ने जिस प्रकार अपने जीवनमें उतारी हैं उतनी शायद ही कोई उतार सका हो।

आजकल अनेकान्त का हम जैसा अर्थ करते हैं उसके अनुसार तो हम खुद एकान्तवादी होगये हैं। अनेकान्तका मुख्य उद्देश था साम्प्रदायिकताका विनाश अर्थात् वह उदार दृष्टि, जिस से हम प्रत्येक सम्प्रदाय की अच्छी बात को ग्रहण कर सकें और बुरी बातको उपेक्षा की दृष्टि से देख सकें। कोई भी सम्प्रदाय जब पैदा होता है तब उस द्रव्य-क्षेत्र काल-भावके लिए वह अवश्य हितकर होता है। उसमें कोई न कोई विशेषता रहती है। अगर मनुष्य चाहे तो उसका ठीक उपयोग करके अपने जीवनको बहुत कुछ पवित्र बना सकता है। दूसरे सम्प्रदाय से घृणा करनेवाले न तो सत्यकी या सम्यग्दर्शनकी रक्षा कर सकते हैं और न चारित्र की; क्योंकि साम्प्रदायिक द्वेषभावसे उनकी कषायें इतनी तीव्र हो जाती हैं कि चारित्र रह ही नहीं सकता; चारित्र नाम ही है कषाय-रहितता का।

जैनधर्म, विविध सम्प्रदायों को अर्थात् एकान्तों को लड़ाता नहीं है किन्तु सम्प्रदायोंका समन्वय करता है। वह प्रत्येक एकान्त का सार ग्रहण करके अनेकान्त की दिव्य इमारत तैयार करता है। यही सच्चा अनेकान्त है और यही जैनधर्मकी विशेषता है। अस्तित्व नास्तित्व, व्यापकत्व, अव्यापकत्व, परत्व, अपरत्व आदि की नीरस चर्चा ही अगर अनेकान्त होता तो वह जैनधर्मकी विशेषता न बन पाती; क्योंकि ऐसे अनेकान्त को तो प्रायः सभी दार्शनिकों ने अपनाया है। भले ही उनने विविध नामोंका जाल न बिछाया हो परन्तु ऐसे अनेकान्तको तो प्रत्येक आदमी और प्रत्येक दार्शनिक मानता है। फिर भी अनेकान्तवादी इने गिने ही हैं। जैनधर्मने जिस 'अनेकान्त'को इतना महत्व दिया है वह इतनी मामूली वस्तु नहीं है।

अनेकान्त तत्त्व वास्तवमें बड़ा दुर्लभ है। क्योंकि मनुष्योंमें सहिष्णुता और उदारता बड़ी मुशकिल से आती है। परन्तु जिस में वह उदारता आ जाती है वह मनुष्य नहीं देव बन जाता है। उसका किसी सम्प्रदाय से रागद्वेष नहीं रहता, वह तो सत्य का पुजारी हो जाता है।

हम लोग अनेकान्तके नामकी पूजा करते हैं परन्तु अनेकान्तके वास्तविक रूप का दर्शन नहीं कर पाते; फिर व्यवहारमें लाना तो दूर की बात है। यही कारण है कि जैनकुलमें पैदा होने पर भी हममें से अधिकांश लोगों को जैनत्व दुर्लभ हो रहा है। परन्तु महात्माजी में हम अनेकान्तकी और जैनत्वकी झांकी देखते हैं। वे किसी सम्प्रदायके पुजारी नहीं किन्तु सत्यके पुजारी हैं, यही तो जैनत्व है।

स्मरण रखना चाहिये कि यह समदर्शीपन वैनयिक मिथ्यात्व नहीं है। एकान्तदृष्टि और वैनयिक

मिथ्यात्वी सब देवोंकी आँख मींचकर पूजा करता है। वह गुणोंका पुजारी नहीं नामोंका पुजारी रहता है। उसके कार्य विवेक-शून्य होते हैं। वह भली-बुरी सत्य-असत्यमें कुछ अन्तर नहीं समझता। जब कि, अनेकान्तदृष्टि-वाला मनुष्य नामका नहीं गुणका पुजारी होता है। उसे हेयोपादेयका विवेक रहता है। वह सब जगह से सत्य ग्रहण करता है और असत्य का त्याग करता है। वह नाम के झगड़ों में ही नहीं पड़ता।

महात्माजीने नामकी पर्वाह न करके सत्यकी पर्वाह की है। कोई मनुष्य किसी भी मतका अपनेको माने, परन्तु वह अगर आत्मा में विश्वास रखता है, सत्यका खोजी है, सदाचार को धर्म समझता है और यथाशक्ति उसका पालन करता है तो वह महात्माजीकी दृष्टिमें धर्मात्मा है और हमारी दृष्टिमें भी वह धर्मात्मा और जैनी है।

मिस स्लेड महात्माजी की शिष्या हैं। अब उन का नाम मीराबाई है। उनके विषयमें योरोपीय समाचारपत्रों में जब यह चर्चा निकली कि वे हिन्दू होगई हैं तब महात्माजी ने यह कहकर उसका विरोध किया था कि 'वे अब पहिलेसे अधिक सच्ची ईसाई हैं;' महात्माजी के मतानुसार धर्मात्मा बननेके लिये हिन्दू धर्म छोड़ कर ईसाई, मुसलमान आदि बनने की जरूरत नहीं है, न ईसाई-मुसलमान धर्म छोड़कर हिन्दू बनने की आवश्यकता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहता आदि यदि वास्तविक धर्म हैं और इनका पालन किसी भी सम्प्रदायमें रहकर या किसी भी पुस्तकका सहारा लेकर यदि किया जा सकता है तो फिर आत्मकल्याणकी दृष्टिसे सम्प्रदाय-परिवर्तनकी क्या जरूरत है? यही कारण है कि महात्माजी ने कहा था कि, मीराबाई अब पहिले से अधिक सच्ची ईसाई है।

मेरा तो ऐसा खयाल है कि भगवान महावीरके जमानेमें जैनधर्मके अनेकान्तका भी ऐसा ही रूप था। यही एक ऐसी विशेषता थी जो दूसरे दर्शनोंमें नहीं पाई जाती थी। यही कारण है कि जैनधर्ममें मोक्ष जाने अथवा मोक्षमार्गी होने के लिये किसी खास लिंगकी आवश्यकता नहीं बतलाई गई है—उसके लिये किसी लिंग या वेष विशेषका आग्रह अनिवार्य नहीं है। यह बात तो सम्भव ही नहीं है कि कोई प्रचलित जैन सम्प्रदायको धारण करनेवाला मनुष्य जैनलिंगको छोड़कर अन्य लिंग धारण करे। इस लिये अगर कोई प्रचलित जैन सम्प्रदायको नहीं मानता या नहीं जानता (परन्तु उसका वह विरोधी या द्वेषी नहीं है) और जैन धर्मके अनुसार वह मोक्ष जा सकता है तो कहना चाहिये कि जैनधर्म सच्चा आत्मधर्म है, सत्य धर्म है, उदार धर्म है। उसे किसी सम्प्रदायमें कैद करना सूर्यको घड़ेमें बन्द करना है।

इसलिये वास्तविक जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है। वैष्णव, शैव आदि सम्प्रदायोंके समान जिस प्रकार अहिंसा-सम्प्रदाय, सत्य-सम्प्रदाय, अचौर्य-सम्प्रदाय, ब्रह्मचर्य-सम्प्रदाय, अपरिग्रह-सम्प्रदाय आदि सम्प्रदाय नहीं बन सकते। न अन्यधर्म नामका ही सम्प्रदाय बन सकता है, उसी प्रकार जैनत्व भी कोई सम्प्रदाय नहीं है। वह तो अनेक सम्प्रदायों का समन्वय रूप एक महत्तम सम्प्रदाय या धर्म है।

भगवान महावीरके जीवनकी बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाएँ आज हमारे सामने नहीं हैं। उनके सिद्धान्त हमारे सामने हैं। समझने वाला व्यक्ति इससे समझ सकता है कि वास्तविक जैनत्व उदारता और अनेकान्त के बिना नहीं रहता है। जहाँ इन गुणोंका विकास है वहीं जैनत्व है। महात्माजी में हम इन गुणोंका पूर्ण विकास देखते हैं इसलिये वहां पर जैन नामका पूर्ण प्रवेश न होने पर भी जैनत्वके अर्थका पूर्ण प्रवेश है।

पीड़ितों का पाप

[लेखक—श्री० सुमंगलप्रकाशजी, शास्त्री

'अनेकान्त' की चौथी किरणमें 'जैनोंकी अहिंसा' शीर्षकके नीचे एक वाक्य यह भी दिया हुआ है कि—
"लौकिक स्वार्थवश स्वाभिमानको को खोकर दूसरोंके अत्याचार सहना भी हिंसा (पाप) है"
यद्यपि वहाँ पर इसका कुछ स्पष्टीकरण भी किया गया है, परंतु वह इतना संक्षिप्त है कि साधारण पाठक अभी तक भी उसके अभिप्रायको यथेष्ट रूपमें समझ नहीं सके होंगे। अस्तु; इस वाक्यमें जो सिद्धान्त संनिहित है, यह लेख उसकी एक दूसरे ही रूपमें अच्छी सुंदर तथा हृदयग्राही व्याख्या प्रस्तुत करता है; और इसी लिये आज इसे 'त्यागभूमि' से—जहाँ यह अभी हाल चैत्र-वैशाखके संयुक्तांक में प्रकट हुआ है—उद्धृत करके अनेकान्तके पाठकोंकी सेवामें रक्खा जाता है। यह लेख कितना मार्मिक तथा महत्वका है उसे बतलाने की जरूरत नहीं, सहृदय पाठक स्वयं ही पढ़ कर मालूम कर सकेंगे। हाँ, इतना जरूर बतलाना होगा कि 'इस के लेखक श्रीसुमंगलप्रकाशजी काशी-विद्यापीठ के एक उत्साही शास्त्री हैं, और नमक कानून भंग करनेके लिये महात्मागांधीके नेतृत्वमें जो पहला जत्था रवाना हुआ था उसके आप स्वयंसेवक हैं।' और इस लिये आप जो कहते हैं उस पर खुद अमल भी करते हैं। इससे आप के इस लेखका महत्व और भी बढ़ जाता है। इसमें साधारण जनताके विश्वासके विरुद्ध जिस सत्यका उद्घाटन किया गया है उसे ठीक ठीक समझकर यदि हम अपनी प्रवृत्तिको बदल दें, अन्यान्य-अत्याचारके सामने सिर न झुकाएँ और अपनी कायरता तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त करके पीड़कोंकी उत्पत्तिका मार्ग ही बन्द कर देवें तो हम सहज हीमें पीड़ित होने के पाप एवं दुःखसे छूट सकते हैं। —सम्पादक

यह तो सभी सुनते आये हैं कि अत्याचारी—पीड़क—पापी होते हैं। पीड़ित तो सताये जाते हैं, वे पाप से बचे हुए हैं। ईश्वर उन्हीं की सहायता करता है। किन्तु आज यदि मैं यह कहूँ कि वास्तविक पापी पीड़ित ही हैं, तो पाठकोंको आश्चर्य न करना चाहिए।

वास्तवमें दुःख वे ही पाते हैं, जो वासनाओंके बोझसे निर्बल होकर कायर बन जाते हैं। जो वीर है, वह दुख पा नहीं सकता—पीड़ित बन नहीं सकता। यदि सभी मनुष्य वीर हों, कोई कायर न हो, तो पीड़ा का जन्म ही न हो। फिर भला पीड़क ही कहाँ से आएँ। जब वासनाओंसे निर्बल होकर मनुष्य कायर बन जाता है तभी वह पीड़कों को निमन्त्रण देता है और पीड़ा की सृष्टिका कारण बन जाता है।

शंका हो सकती है कि यदि सभी वीर हो जायँ तब भी मार काट मची रह सकती है, युद्धका बाजार गर्म रह सकता है—फिर पीड़ा का नाश कहाँ हुआ? पर वास्तवमें देखा जाय तो दो वीरोंमें युद्ध होने पर पीड़ाका जन्म होता ही नहीं। यदि दोनों ही वीर हैं—दोनों ही मृत्युके भयसे रहित हैं, तो पीड़ा कोई पा नहीं सकता। एक की जीत होगी, और एककी मृत्यु। हारेगा कोई भी नहीं। जिस की जीत हुई उसे तो भला पीड़ा ही क्या

हो सकती है; पर जिसकी मृत्यु होगी वह भी, वीर होने के कारण, आनन्दके साथ मृत्युका आलिंगन करेगा—यदि नहीं कर सकता तो वह वीर ही नहीं है।

युद्धमें पीड़ाका जन्म तो तब होता है, जब वहाँ कायरता भी होती है। कायरताके कारण हार होती है एक पक्ष की जीत और एक की हार होना वास्तव में युद्धका अवश्यम्भावी फल नहीं है। एककी जीत और एककी मृत्यु होना तो दोनों की ही वीरगति है। इसमें हार किसी की भी नहीं। हार तो तभी होती है, जब कोई कायर होता है। कायरको प्राणोंका मोह होनेसे वह मरनेसे पहलेही प्राण-भिक्षा माँग लेता है, विजेता का दया-प्रार्थी बन कर स्वयं पीड़ित बनता है और उसे पीड़क बननेका अवसर देता है। यदि वह प्राण-भिक्षा नहीं माँगता, तो या तो उसकी मृत्यु होती है, जिसमें कायर होनेके कारण बड़ी पीड़ा होती है (यह मृत्यु दुःखदायी होनेके कारण हार ही मानी जायगी) अथवा अपनी कायरताके कारण वह स्वयं पीड़ितका पद पाता है और विजेताको पीड़क बनाता है। यदि वह न तो प्राण-भिक्षा ही माँगता है और न मरता ही है, तो उसके लिए एक ही रास्ता और है। वह है भाग जाना। पर यहाँ भी वह पीड़ा पानेसे नहीं बचता। वह सदा डरता रहता है, और अपने शत्रुसे बचनेके लिए बड़ी बड़ी आपत्तियाँ सहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ कायरता है वहीं पीड़ा है। सिंहको देख कर हिरण यदि भयभीत न हो प्राणोंका भय छोड़ कर वह वीर बना रहे, तो सिंह के द्वारा खा लिए जाने पर भी उसे कोई दुःख नहीं हो सकता। वह लड़ता-लड़ता, हँसी-खुशी, प्राण देगा।

यह स्पष्ट है कि जिस समाजमें वासनायें अधिक बढ़ी-चढ़ी होंगी वह समाज निर्बल भी अधिक होगा, कायर भी अधिक होगा, और पीड़ित भी। जीवित रहने, धन-ऐश्वर्य भोगने, स्त्री-पति-पुत्र-बन्धु आदि प्रेमी-जनोंके साथ रहकर सुख भोगने इत्यादिकी वासनाओंसे किसी समाजके प्राणी जितने ही अधिक जकड़े हुए होंगे, वे उतने ही पीड़ित होंगे। फिर यदि उन पर अत्याचार किया जाता है, तो यह उन्हींके आमंत्रणसे होता है; वे ही इस पापके मूल कारण हैं, वे ही पीड़कोंकी सृष्टि करते हैं।

जहाँ वासनायें अधिक होंगी वहाँ सत्य-प्रेम, न्याय-प्रेम नहीं टिक सकता। वहाँ स्वार्थका बाजार गर्म रहता है। स्वार्थके साथ असत्य और अन्यायका प्रवेश होता ही है। अपना काम बनाने के लिए, चाहे दूसरेका काम बिगड़े ही, लोग घूँस देते हैं, खुशामदें करते हैं, और ऐसे-ऐसे कामतक कर डालते हैं, जिन्हें कोई स्वाभिमानी पुरुष स्वप्नमें भी नहीं सोच सकता। वासनासे कायरता, और कायरतासे पतन! सत्य और न्याय तो दूर हीसे यह दृश्य देख कर दयाके आँसू बहाते हैं।

यद्यपि वासनाओंका सर्वथा नाश कर देने वाले जीवन-मुक्त मनुष्य संसारमें सर्वथा दुर्लभ नहीं हैं, तो भी उनकी बात इस समय छोड़ दीजिए। हम उन्हीं की बात कहते हैं जिन्होंने अन्यायके आगे सिर न झुकाकर, अपनी क्षुद्र वासनाओंका गुलाम बने रहना स्वीकार न करके, संसारमें अपना नाम अमर कर दिया है। राणा प्रतापने पीड़कके विरुद्ध अपना सिर उठाकर न्याय-सत्यके लिए अपने सारे सुखोंको तिलांजलि दी। पर क्या वास्तवमें वह दुखी था? कदापि नहीं। अन्याय सहन करनेकी पीड़ा उसके लिए उन शारीरिक कष्टोंसे कहीं अधिक थी, जो उसने और उसके परिवारने जंगल-जंगल भटकते हुए सहे थे। वह

पीड़ित नहीं ही बना, और इस प्रकार सत्यकी, न्याय की, रक्षाके लिए प्राण गँवा दिये। वह अपनी पीड़ा को दूर करना स्वयं जानता था। उसे यह सह्य नहीं था कि वह पीड़कके हाथों पीसा जाय और फिर उसके आर्तनादको सुन कर दूसरे लोग उसके साथ सहानुभूति दिखाएँ, उसके दुःखमें दुःखी हों, अत्याचारीको गालियाँ सुनायें, किन्तु उसकी पीड़ा कुछ भी कम न कर सकें।

याद आती है इस समय चित्तौड़की रानी पद्मिनी! वह अपने महलकी समस्त स्त्रियोंके साथ आग लगा कर भस्म हो गई, उसके सिपाही केसरिया बाना पहनकर लड़ने-लड़ते मर गये पर पीड़ककी पापी प्यास को न बुझाया। अन्त को क्या हुआ? अत्याचारी नगरमें मुर्दे ही मुर्दे देख कर वापस लौट गया, उसकी अन्याय-कामना पूरी न हुई। और इस प्रकार पीड़क, पीड़ा और पीड़ित-किसीकी भी सृष्टि न होने पाई।

झाँसीकी रानी लक्ष्मीबाईको भी कौन भूल सकता है? सत्यके सामने, न्यायकी रक्षाके लिए, अपने सारे सुखोंका बलिदान करने वालोंके नाम इतिहासमें अमर है। ऐसे ही लोग पृथ्वीका भार हलका करते हैं, पीड़ा का जड़से नाश करते हैं, स्वयं पीड़ित नहीं बनते और पीड़कोंकी उत्पत्तिमें कारण भी नहीं बनते।

वासनाओंने, ऐश्वर्यकी प्यासने आज सबको कायर बना दिया है। धनी लोग मुफ्तका रुपया पाकर तरह-तरहके ऐश-आरामोंकी सृष्टि करते हैं। ग़रीब लोग उन्हें देखकर ललचते हैं, भले-बुरे साधनोंसे उन्हें पानेका अभ्यास करते हैं, न मिलने पर कुढ़ते हैं और सदा अपना जीवन दुःख में बिताते हैं। धनी की धन-पिपासा शान्त नहीं होती। वह सदा 'और-और' की पुकार करता रहता है। उसीके पीछे पागल बना रहता है। वह कभी वास्तविक सुख नहीं पाता। ग़रीब धन के बिना 'हाय-हाय' करता है। ईर्ष्या-द्वेष में जलता रहता है। जो उसके पास होता है उसे भी छोड़ कर आगे बढ़ता है, और न पाकर झुंझलाते हुए अपना जीवन बिता देता है।

इस प्रकार वासनाके पीछे धनी-ग़रीब सभी पीड़ित हैं। वासनाने उन्हें कायर बना दिया है। 'धन, धन, धन!' धनके पीछे ग़रीब-अमीर दोनों ही सब-कुछ करनेको तैयार हैं? सत्य-न्यायका गला सबसे पहले ये ही घोटते हैं। और फिर औरोंके द्वारा उनका गला घोटा जाता है। जब सभी लोग इस तृष्णा वासनाके चक्करमें पड़ जाते हैं, तो इस चक्करमें सभी एक दूसरेके लिए पीड़क और पीड़ित बन जाते हैं। महाजन-ज़मींदार को वकील, मुख्तार और कचहरीके नौकर लूटते हैं; किसानोंको महाजन ज़मींदार लूटते हैं; किसीको बनिया लूटता है, किसी को रेलवाले। ज़मींदार साहब अपने किसानोंके कोड़े लगवाते हैं, पर खुद जज साहबके पैर चूमते नज़र आते हैं। कोई किसीका ख़याल नहीं करता सभीको अपनी ही अपनी फिकर है। सबसे गया-बीता किसान! उसे सारे ही काम अपने हाथों करने पड़ते हैं। लोग सोचते होंगे कि वह बेचारा किसपर अत्याचार करेगा? और सब अत्याचारी हो सकते हैं, किसान नहीं। किंतु इससे किसानकी बड़ाई नहीं। उसकी अशक्ति ही इससे प्रकट होती है। छोटा किसान सदा बड़ा किसान बनना चाहता है, और बड़ा किसान ज़मींदार। ज़मींदार बनते ही शक्तिका वह नशा उसकी भी नस-नसमें दौड़ने लगता है। अपने पुराने साथियों को, अवसर पाते ही, वह भी उसी प्रकार पीड़ित करने लगता है। पर वास्तवमें एक ग़रीबसे ग़रीब किसान भी जैसा भोला और सहानुभूतिका पात्र दिखाई देता है, वैसा

वह होता नहीं। उसका भी कुछ अधिकार लोगोंपर होता है, और वहाँ वह उस अधिकारका पूरा प्रयोग करता है वह खेतमें अपने बैलों पर अपना क्रोध उतारता है। यदि ऊँची जाति का हुआ तो नीची जाति वालों पर अत्याचार करता है, उन्हें कुत्तोंकी तरह दुरदुराता है। घरमें अपनी स्त्रीको लातों और घूँसोंसे पूजा करता है। कम-से-कम स्त्री तो हर कोटिके मनुष्यके लिए—चाहे वह राजा हो, चाहे किसान—पीडक और पीड़ितका संबंध पैदा कर देनेवाली चीज़ है। सभी निराशाओं, सभी नुक़सानों का क्रोध उसी बेचारी पर उतारा जाता है। स्त्री अपना क्रोध कभी-कभी अपने बच्चे पर उतार लेती है, और बच्चे अपनी माँ पर! शायद, आजके भारतमें यह पीड़क और पीड़तका चक्र यहीं जाकर समाप्त होता है। स्त्री और बच्चा, ये ही दोनों जीव मानव-समाजमें सबसे निर्बल हैं। ये दोनों ही अपना क्रोध आपस में उतार कर फिर चिपट-चिपट कर रो लेते हैं—एक दूसरे पर दया दिखाते हैं—सहानुभूति दिखाते हैं।

इसप्रकार देखा जाय तो वास्तवमें पीड़ा बुलानेसे ही आती है, और पीड़ित स्वयं ही उसको दूर कर सकता है। दूसरा कोई नहीं। भिखमंगेको भीख देकर हम उसकी पीड़ा कम नहीं करते बल्कि उसकी वासनाओंको बढ़ानेमें सहायक बनकर हम उसकी पीड़ा बढ़ाते ही हैं। किसानों पर तरस खाकर जमींदारों और पूँजीपतियोंके विरुद्ध आन्दोलन करनेसे हम किसानोंका दुःख कम नहीं करसकते। स्त्रियोंकी पीड़ासे दुःखी होकर, कविता और उपन्यासोंमें उनका करुणचित्र खींचकर पुरुषोंको गालियाँ देकर, हम स्त्रियोंकी पीड़ा कम नहीं कर सकते।

इसके लिए तो हमें उन्हें ही तैयार करना होगा किसान जमींदारके अत्याचारोंके आगे सिर न झुकाए, स्त्रियाँ पुरुषोंकी मनमानीको चुपचाप न सहें। अपनी वासनायें, अपनी कामनायें, अपनी आवश्यकतायें घटा कर सत्य और न्यायके लिए, जो कि वास्तविक सुख और शक्ति के देने वाले हैं, अपना सब कुछ न्यौछावर करदें।

यदि आज किसान दरिद्रता, सादगी का महत्व समझ कर चले, अमीरी मिलने पर भी उसे लात मार सके और सत्यके लिए, न्यायके लिए सब कुछ सहनेको तैयार होजाय, तो वह पीड़ित नहीं रह सकता। कदापि नहीं! पीड़ा का कीड़ा तो हमारे भीतर है। उसने हमारा सारा अन्तःकरण खा डाला है, पोला कर दिया है, उस कीड़े को बाहर निकाल फेंककर अन्तःकरण को फिर से मजबूत बनाकर हम आगे बढ़ेंगे तो हम सच्ची शक्ति, सच्चा सुख अवश्य पायेंगे।

हम आज स्वराज्य चाहते हैं। विदेशी हमारे शासक हैं। वे हमारा लाभ न देखकर अपना लाभ देखते हैं, हम पर अत्याचार करते हैं, पर इसमें किस का दोष! यदि हम उनकी अन्याय-कामनाओं को पूरा न करते जायँ, तो क्या वे हम पर अत्याचार कर सकते हैं? अपनी क्षुद्र वासनाओं के कारण आपस में हम एक-दूसरे को पीड़ित करते हैं, जिसके कारण हम निर्बल बन गये हैं। विदेशी सरकार अपना मतलब सिद्ध करने के लिए हम में से कुछ को फोड़ लेती है, उनकी वासनाएँ पूरी करती है, और उन्हीं के द्वारा हमारे दूसरे भाइयों को लुटवाती रहती है। यदि हम इस प्रकार उसके स्वार्थ-साधन की मशीन बने रहने से मुँह मोड़लें, तो क्या वह एक क्षण भी यहां ठहर सकती है? पर यह आज की दशा में सरल नहीं। हमें अपना स्वार्थ छोड़ देना होगा, क्षुद्र वासनाओं को जला देना होगा, प्राणों और प्राणाधिक प्रेमीजनों का मोह त्याग देना होगा। मतलब यह कि हमें सत्य और न्याय का क़ायल बन जाना होगा, सत्य और न्यायके

पीछे पागल बन जाना होगा, सत्य और न्याय में ही परम-सुख है, इसको अच्छी तरह जान लेना होगा।

स्त्रियाँ भी इसी प्रकार पुरुषों की गुलामी से छूट सकेंगी। विधाता ने पुरुष और स्त्री दोनों को मिलाकर मानव-सृष्टि की पूर्णता रक्खी है। एक के बिना दूसरा अधूरा है। पर शारीरिक बल में पुरुष बढ़ा-चढ़ा होने से आज वह विधाता के न्याय के विरुद्ध स्त्री को दबा बैठा है, उससे अपने को पुजवाता है, अपने स्वार्थ पर उसकी बलि चढ़ाता है। पर वास्तव में जब तक दोनों को सचमुच एक सूत्र में बाँधने वाला प्रेम-बन्धन मौजूद नहीं है, तब तक दोनों स्वतंत्र हैं, किसी का दूसरे पर अधिकार नहीं। जब प्रेम-बन्धन में बँधे हैं तब कोई बड़ा-छोटा नहीं। किन्तु स्त्री ने कुछ तो अज्ञान के कारण पुरुष के भुलावे में आकर यह मान लिया है कि वह स्वयं बिलकुल अपदार्थ है, पुरुष के ही कल्याण में उसका कल्याण है, पुरुष की दासी बनने में उसका सम्मान है; और कुछ अपनी तुच्छ वासनाओं के कारण पीड़ित होने का भाव मन में रहने पर भी वह निर्बल-कायर हो जाती है, स्वयं स्वतंत्रता का बोझा उठानेसे घबराती है। सास बनकर बहू पर वह अपना क्रोध उतार कर अपनी शांति पा लेती है।

परन्तु यदि सचमुच आज स्त्री को यह भासित होने लगा है कि उस पर पुरुषों ने अत्याचार किया है और कर रहे हैं, तो यह उसी के हाथ की बात है कि वह जब चाहे इससे बच सकती है। उसे सादगी का व्रत लेना होगा, अपना शृंगार करके अपने शरीर को मोहक बनाने का कुत्सित कार्य छोड़ना होगा, उसे अपना पेट भरने और तन ढकने लायक स्वयं कमाने का ढंग निकालना पड़ेगा। इसके बिना उसकी मुक्ति नहीं। शुरू-शुरू में उसे अधिक कष्ट सहने होंगे, पर पीछे सब सरल होजायगा। न स्त्री पुरुष बिना रह सकती है, न पुरुष स्त्री बिना। कुछ दिन इस स्वातंत्र्य युद्ध के लिए कष्ट सहने पर स्त्री को उसकी स्वतन्त्रता मिल जायगी और पुरुष-स्त्री का वही स्वाभाविक प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जायगा, जो विश्वविधाता ने कब से सोच रक्खा है।

आज हिन्दुस्थान में युवक-आन्दोलन की शुरुआत हुई है। जिधर देखिए उधर ही युवक-परिषदें होने लगी हैं, ये सुलक्षण हैं। युवक-युवतियाँ ही वास्तव में कोई काम कर सकते हैं। वृद्धों का काम तो समय पर सलाह देते रहना है; काम तो युवकों को ही करना होगा। आज युवकों के हृदयों में आग सुलगने लगी है। पीड़ितों का पाप उन्हें दिखाई देने लगा है। अब अपनी कमर कसने लगे हैं।

किन्तु अभी तो जितनी आवाज़ है, जितना शोर गुल है, उतना काम नहीं। बल्कि आवाज़के देखते काम 'नहीं' के बराबर है, यह कहना असंगत न होगा। युवक-परिषदोंमें तमाशा करनेके लिए, काग़ज़ी प्रस्ताव पास करके बड़े-बढ़ोंके कामकी निन्दा करनेके लिए, पीड़कोंको गालियाँ सुनानेके लिए युवक काफी संख्या में टूट पड़ते हैं, पर जब उनके सामने कोई काम रक्खा जाता है, तो सभी की आवाज़ निस्तेज, फीकी, दुर्बल पड़जाती है, वे बगलें झाँकने लगते हैं। ठीक है कहनेमें कौनसी शक्ति लगती है। वाणी का जोर सभी दिखा सकते हैं। 'क्रान्तिकी जय' (Long Live Revolution) सभी पुकार सकते हैं, पर क्रान्ति करनेको तैयार नहीं। युवक लोग यह नहीं समझते कि राजनीति में, समाज-नीति में क्रान्ति करने के लिए सब से पहले हमें अपने जीवन में क्रान्ति करनी होगी। हम कितने अन्याय-अत्याचार

चुप-चाप सहते जाते हैं, यहाँ तक कि कितने छोटे-मोटे अत्याचार तो अब हमें अत्याचार के रूप में दीखते भी नहीं। हमारा जीवन कितने आडम्बरों, कितने पाखण्डों, कितने ढोंगों (hypocrisies) से भरा हुआ है! जिस क्षेत्र में देखिए, उधर ही यह 'असत्य' हमारे जीवन को सहस्रों रूप रखकर घेरे खड़ा है। किन्तु अब हम उसकी ओर ताकते ही नहीं, उसे सत्य ही समझ बैठे हैं, और उसकी चर्खी में पिस रहे हैं। यदि ताकते भी हैं तो आँखें दुखने लगती हैं, हम आँखें उधर से फेर लेते हैं। यही है हमारा सत्य-प्रेम? यही है 'क्रान्ति की जय'? हम नित्य देखते हैं कि हमारी राजनैतिक स्थिति दिन-पर-दिन भयावह, अत्याचार-मूलक, पीडिक होती जा रही है। हम भी चुप चाप उसे सहन किये जाते हैं, उसका उग्र रूप साहस-पूर्वक आँखें खोलकर देखना भी नहीं चाहते कि कहीं हमारे हृदय में आग न भड़क उठे, जिससे हमें अपना जीवन संकटापन्न, कष्टमय, त्यागमय, बनानेको विवश हो जाना पड़े। हम रोज़ अपने चारों ओर भूखे किसानों की स्त्रियों और बच्चों का आर्तनाद सुनते हैं,—उनकी सूखी हड्डियाँ देखते हैं,—और देखते हैं उनकी गड्ढों में धुसी हुई आंखें और मुरझाये गाल; पर हम इस डर से अपना मुँह फेर लेते हैं कि करुणासे विवश होकर, और यदि ज्ञानी हुए तो अपने को ही इस स्थिति का कारण समझ कर, हमें अपने राजसी ठाठ, राजसी भोजन, छोड़ देने पड़ेंगे, हमें भी उनके कष्टमें उनका साथ देनेको निकल पड़ना होगा। हमने अमीरों के दाव-पेचों-द्वारा गरीब किसानों को जो अब तक चूसा है, उसका प्रायश्चित्त करनेके लिए हमें भी आज कंगाली का व्रत लेना होगा। हम नित्य अपने कुओं पर, अपने मन्दिरों के आस-पास, अपने मकानों में 'अछूत' नामक अपने-ही-से मनुष्यों को देखते हैं, और बात-बात पर उन्हें कुत्तोंकी तरह दुतकार देते हैं।—हमारा पानी उनसे छू जाय तो हम पी नहीं सकते, हम उनसे छू जाँय तो स्नान करके पवित्र होना पड़े, बर्तन छू जाँय तो आग में तपा कर शुद्ध किये जायँ! कुत्ते और मक्खी के समान गन्दे जीवों का भी हम इतना अपमान नहीं करते, और इसे हम कहते हैं अपना सनातनधर्म!! भंगी को हम छू नहीं सकते, क्योंकि वह हमारे पेट में से निकली हुई सड़ी गंदगी को हमारे लाभ के लिए हमारे घर से उठा कर दूर डाल आता है। हम गन्दे नहीं हुए, वे इतने गन्दे हो गये कि हम उन्हें छू नहीं सकते। चमार मरे हुए चमड़ेको अपनी जीविका का आधार बनाये हुए है। उस बदबूदार चमड़े को कितने भी कष्टों की पर्वा न करके साफ करता है, उसकी बदबू दूर करता है, और हमारे लिए जूते बनाकर देता है। एक दिन हम उसी से वह खूबसूरत जूता खरीद लाते हैं, पर जूता उसके हाथसे लेते समय यह ध्यान रखते हैं कि कहीं उसका अपवित्र हाथ हमारे हाथ से छू न जाय! हम नित्य छोटी-छोटी नन्हीं-नन्हीं बालिकाओं का विवाह कर देते हैं, और विधवा होजाने पर उन्हें आजन्म विधवा रहने को विवश करते हैं, जहाँ दूसरी ओर उसी उम्र के लड़के एक पत्नी के मरने पर दूसरा और दूसरी के मरने पर तीसरा विवाह बिना किसी संकोच के कर डालते हैं। साठ-साठ बरस के बूढ़ों से बारह-बारह बरस की लड़कियों का विवाह करके उनके शरीर, उनके हृदय, उनकी आत्मा को सूली दे देते हैं। हम स्त्रियों के लिए दूसरे विधान बनाते हैं और शक्तिमान पुरुषों के लिए दूसरे। हम नित्य स्त्रियों को अपने चारों ओर दुःखी देखते हैं, रोते देखते हैं, उनके आँसू बहते देखते हैं। हम यह नहीं सोच पाते कि इसमें कुछ भी विशेषता है। ये सब दृश्य हमारे लिए उसी प्रकार स्वाभाविक हो गये हैं, जिस प्रकार किसी फूहड़, आलसी और निष्ठुर माँ का बच्चा सदा रोता रहता है, और उसकी माँ उसके दुःख जानने का कष्ट नहीं उठाती—वह नित्य बच्चे को रोते देखती है; और कुछ दिनों में उसके लिए बच्चेका रोना उसका स्वाभाविक कर्म बन जाता है, वह उधर ध्यान देती ही नहीं।

इस प्रकार एक नहीं, दो नहीं, सैकड़ों असत्यों, हजारों पाखण्डोंसे आज हमारा जीवन भरा हुआ है। हम आज जो कुछ करते हैं, आँखें मून्द कर करते हैं; हमारी विवेक-शक्ति में कब का जंग लग चुका है।

किसी काम का औचित्य हम प्राचीनतासे ठहराते हैं। जो रिवाज, जो रीत-रस्म, जो नियम पहले से चले आरहे हैं, वे ठीक ही हैं, उनमें हमें दोष दीखने पर भी उनका विरोध करने की शक्ति नहीं। हमें अपने उत्तरदायित्व पर, अपने बल और साहस पर, अपने विवेक के अनुसार, किसी नये काम को शुरू करनेकी आज हिम्मत नहीं। स्त्रियाँ दुःखी हैं, पर यह तो सदा से ही होता आया है; 'अछूत' दुःख पाता है, यह तो सृष्टि के आदि से चला आता है; बाल-विवाह हिन्दू-धर्म का सनातन रूप है; इन सब को हम कैसे बदल सकते हैं? इसी प्रकार जात-पाँत के दोष, विवाह के दोष, ब्राह्मणों का निरंकुश अधिकार, आदि कितने ही सामाजिक दोष हम आँख मूँद कर चुपचाप सहते आते हैं। किसानोंका कष्ट, ग़रीबोंकी भूख, राजनैतिक असमानता से होने वाले पैशाचिक अत्याचार भी हम कायर बनकर उसी प्रकार सहलेते हैं। हममें किसीभी अत्याचारके विरुद्ध सिर उठानेकी शक्ति नहीं रही।

किन्तु जब कुछ इने-गिने लोग हमारी दशा का परिचय कराते हैं, हमारी आँख में अंगुली डालकर, उन्हें खोलकर, हमें अपने चारों ओर के भीषण दृश्य देखनेको विवश करते हैं, तो अपने स्वभावके अनुसार हमारा हृदय आग हो जाता है, हम भड़क उठते हैं और चारों ओर एक महान क्रान्तिकी महान आवश्यकताका अनुभव करके ज़ोरसे चिल्ला उठते हैं 'क्रान्ति की जय'!

पर इस ज़ोर की चिल्लाहट में हमारा सारा आवेश काम आ जाता है, हमारे हृदय की आग एक बार ज़ोर से जल कर ठंडी पड़ जाती है, दीपक अन्तिम बार तेज हो कर बुझ जाता है! जब हम देखते हैं कि इन अत्याचारोंसे बचने के लिए जो क्रान्ति आवश्यक है उसके लिए हमें अपने जीवन की महत्वाकांक्षाओं अपने सुखों और अपनी प्यारी कामनाओंको बलिवेदी पर चढ़ाना होगा, तब हमारा कायर हृदय बैठ जाता है—वह इस सम्बन्धमें विचार करना भी छोड़ देता है।

पर इस प्रकार हम इन छोटे मोटे-सुखोंको भलेही पालें, किन्तु वास्तविक सुख हमें कदापि नहीं मिल सकता। सुख तो वीरता से ही मिलता है, कायरता से नहीं यह मैं पहले ही दिखा चुका हूँ। राणा प्रताप, झाँसी की राणी, चित्तौड़ की राणी पद्मिनी—येही वास्तविक सुखी जीव थे। पर जिनको संसार में साधारण रूप से सुख कहा जाता है, उन्हें ही लात मार कर इन्होंने असली सुख पाया था।

युवक कोई ऐसा काम चाहते हैं, जिसमें उन्हें अधिक दिन परीक्षा में न पड़ना पड़े। वे चाहते हैं किसी सेनापति की रण-तुरही का नाद, जिसके सुनते ही जोश में मतवाले होकर वे घर छोड़-छोड़ कर निकल पड़ें और क्षणभर में रणभूमि में मार-काट मचा दें। या तो मर ही मिटें या मार कर ही आवें। वे ऐसा कोई काम नहीं चाहते कि जिसमें उन्हें प्रलोभनों में पड़ने का अवसर मिल जाय। वे अपने सामने दो प्रकारके भोजन—राजसी और ग़रीबीका, दो प्रकारके मकान—महल और झोंपड़ी, दो प्रकारके वस्त्र—रेशम या मलमल और मोटी खादी, दो प्रकार के जीवन—गार्हस्थ्य और ब्रह्मचर्य नहीं देखना चाहते! उन्हें डर है कि वे इस प्रलोभनसे बच नहीं सकेंगे, वे ऐश-आराम के जीवनकी ओर झुक ही जायँगे। न्यायका मार्ग अपने आप पसन्द करना उनके लिए कठिन हो पड़ेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज हमारे युवक-युवतियाँ त्यागसे घबराते हैं; वे ऐसा काम चाहते हैं जो कुछ देरके लिए उनके हृदयको जोशसे भरदे, और तब वे प्राण भी देनेको तैयार हो जायँगे, पर सदा के लिए अपनी वासनाओं को दमन करके जीवन बिताना उन्हें पसन्द नहीं, यह उन्हें अशक्य मालूम पड़ता है।

परन्तु यह लड़ाई तो ऐसी नहीं, जो प्राण दे देने या लेलेनेसे जीती जा सके। हमें किसी बाहरी शत्रुको नहीं, अपने भीतरी शत्रु को जीतना है। यह बात यद्यपि कुछ बेढब-सी जान पड़ती है, पर है यही सबसे ठीक बात। इतिहास साक्षी है कि जिस तरहकी लड़ाइयाँ सृष्टिके आदि काल से हम लड़ते आये हैं, उनसे संसार में दुःख की, अत्याचार की कोई कमी नहीं हुई है। अब हमें दूसरे ही प्रकार की लड़ाई लड़नी है।

तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति

[लेखक—श्रीमान् पं० सुखलाल जी]

वंश

जन्म-वंश और विद्या-वंश ऐसे वंश दो प्रकार का है[1]। जब किसीके जन्म का इतिहास विचारना होता है तब उसके साथ रक्त (रुधिर) का सम्बन्ध रखने वाले उसके पिता, पितामह, प्रपितामह, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परम्पराका विचार करना पड़ता है; और जब किसीके विद्या-शास्त्रका इतिहास जानना होता है तब उस शास्त्र-रचयिताके साथ विद्याका सम्बन्ध रखने वाले गुरु, प्रगुरु तथा शिष्य, प्रशिष्य आदि गुरु-शिष्य-भाव-वाली परम्पराका विचार करना होता है।

'तत्त्वार्थ' यह भारतीय दार्शनिक विद्या की जैन शाखा का एक शास्त्र है; इसमें इसके इतिहासमें विद्यावंश का इतिहास आता है।

तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रके प्रणेता जैन सम्प्रदायके सभी फ़िरक़ोंमें पहलेसे आज पर्यन्त एक रूपसे माने जाते हैं। दिगम्बर उन्हें अपनी शाखामें और श्वेताम्बर अपनी शाखामें मानते हुए चले आते हैं। दिगम्बर परम्परामें ये 'उमास्वामी' और 'उमास्वाति' इन नामोंसे प्रसिद्ध है; जब कि श्वेताम्बर परम्परामें केवल 'उमास्वाति' नाम ही प्रसिद्ध है। इस समय सभी दिगम्बर तत्त्वार्थशास्त्र-प्रणेता उमास्वातिको कुन्दकुन्द के शिष्य रूपसे मानने में एकमत हैं* और श्वेताम्बरोंमें थोड़ी

1 ये दोनों वंश आर्य परम्परा और आर्य साहित्यमें हजारों वर्षोंसे प्रसिद्ध हैं। 'जन्मवंश' योनिसम्बंधकी प्रधानताको लिये हुए गृहस्थाश्रम-सापेक्ष है और 'विद्यावंश' विद्यासम्बन्ध की प्रधानताको लिये हुए गुरुपरम्परा-सापेक्ष है। इन दोनों वंशों का उल्लेख पाणिनीय-व्याकरणसूत्रमें तो स्पष्ट ही है। यथा—

"विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ्" ४, ३, ७७

—पाणिनीय सूत्र।

इससे इन दो वंशोंकी स्पष्ट कल्पना पाणिनीयसे भी बहुत ही पुरानी है।

* देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १४४ से आगे तथा सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक आदि ग्रंथोंके ऊपरकी आधुनिक प्रस्तावनाएँ।

मूल सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिकके जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं उनकी प्रस्तावनाओंमें ऐसा नहीं पाया जाता, और न 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहास में उमास्वाति को कुन्दकुन्द का साक्षात् शिष्य प्रतिपादन किया गया है। हां, इतना ज़रूर सूचित किया है कि नन्दिसंघकी पट्टावली (जिसकी प्रामाणिकता पर बहुतकुछ आपत्ति की गई है) से तो "ऐसा मालूम पड़ता है मानों उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्यही थे। परन्तु श्रवणबेल्गोल के शिलालेखमें उन्हें कुन्दकुन्दका शिष्य सूचित नहीं किया, बल्कि '**तदन्वये**' और '**तदीयवंशे**' शब्दोंके द्वारा कुन्दकुन्दका 'वंशज' प्रकट किया है।" इससे मालूम होता है कि लेखक महोदय को इस उल्लेखके करने में कुछ ग़लती हुई है। —**सम्पादक**

घनी ऐसी मान्यता दिखलाई पड़ती है कि, प्रज्ञापना सूत्रके कर्ता श्यामाचार्यके गुरु हारित गोत्रीय 'स्वाति' ही तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति हैं[३]। ये दोनों प्रकार की मान्यताएँ कोई प्रमाणभूत आधार न रख कर पीछेसे प्रचलित हुई जान पड़ती हैं; क्योंकि दशवीं शताब्दीसे पहलेके किसी भी विश्वस्त दिगम्बरीय ग्रंथ, पट्टावली या शिलालेख आदिमें ऐसा उल्लेख देखनेमें नहीं आता कि जिसमें उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्रका रचयिता कहा हो और उन्हीं उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य भी कहा हो[४]। इस मतलब वाले जो उल्लेख दिगम्बर साहित्य में अद्यावधिपर्यन्त देखनेमें आए हैं वे सब ही दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दीसे पीछे के हैं और उनका प्राचीन विश्वस्त आधार कोई भी नजर नहीं पड़ता। खास विचारने जैसी बात तो यह है कि, पाँचवीं से नवमी शताब्दी तक होने वाले तत्त्वार्थसूत्रके प्रसिद्ध और महान् दिगम्बरीय व्याख्याकारोंने अपनी अपनी व्याख्यामें कहीं भी स्पष्टरूपसे तत्त्वार्थसूत्रको उमास्वातिका रचा हुआ नहीं कहा है* और न इन उमास्वातिको दिगम्बरीय, श्वेताम्बरीय या तटस्थ रूपसे ही उल्लेखित किया है[५]। जब कि श्वेताम्बरीय साहित्यमें आठवीं शताब्दीके ग्रन्थोंमें तत्त्वार्थसूत्रके वाचक उमास्वाति-रचित होनेके विश्वस्त उल्लेख मिलते हैं और इन ग्रन्थकारों की दृष्टिमें उमास्वाति श्वेताम्बरीय थे ऐसा मालूम होता है[६]; परन्तु १६वीं, १७वीं शताब्दीके 'धर्मसागर' की तपागच्छकी पट्टावलीको यदि अलग कर दिया जाय तो किसी भी श्वेताम्बरीय ग्रंथ या पट्टावली आदिमें ऐसा निर्देश तक नहीं पाया जाता कि, तत्त्वार्थ-सूत्र-प्रणेता वाचक उमास्वाति श्यामाचार्यके गुरु थे।

वाचक उमास्वाति की खुद की रची हुई, अपने कुल तथा गुरुपरम्परा को दर्शाने वाली, लेशमात्र संदेह से रहित तत्वार्थसूत्र की प्रशस्ति के आज तक विद्यमान होते हुए भी इतनी भ्रांति कैसे प्रचलित हुई

---

३ "आर्य महागिरेस्तु शिष्यौ बहुल-बलिस्सहौ यमल-भ्रातरौ तत्र बलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः तत्त्वार्थाद्यो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव संभाव्यन्ते। तच्छिष्यः श्यामाचार्यः प्रज्ञापनाकृत् श्रीवीरात् षट्सप्तत्यधिकशतत्रये (३७६) स्वर्गभाक्।"

—धर्मसागरीय लिखित पट्टावली।

४ श्रवणबेल्गोल के जिन जिन शिलालेखों में उमास्वाति को तत्त्वार्थरचयिता और कुन्दकुन्द का शिष्य कहा है वे सभी शिलालेख विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दी के बाद के हैं। देखो, माणिकचन्द-ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित 'जैनशिलालेखसंग्रह' लेख नं०४०, ४२ ४३, ४७, ५० और १०८।

नन्दिसंघकी पट्टावली भी बहुत ही अपूर्ण तथा ऐतिहासिक तथ्यविहीन होने से उसके ऊपर पूरा आधार नहीं रक्खा जा सकता, ऐसा पं० जुगलकिशोर जी ने अपनी परीक्षा में सिद्ध किया है। देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ १४४ से। इससे इस पट्टावली तथा इस जैसी दूसरी पट्टावलियों में भी मिलने वाले उल्लेखों को दूसरे विश्वस्त प्रमाणों के आधार बिना ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता।

"तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजात मुमास्वामिमुनीश्वरम्॥"

यह तथा इसी आशय के इससे गद्य पद्य मय दिगम्बरीय अवतरण किसी भी विश्वस्त तथा प्राचीन आधारके लिये हुए नहीं हैं, इससे इन्हें भी अन्तिम आधार के तौर पर नहीं रक्खा जा सकता।

* 'श्लोकवार्तिक' में विद्यानन्द ने उमास्वातिका दूसरे '**गृद्धपिच्छाचार्य**' नाम से उल्लेख किया है और उन्हें तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता सूचित किया है। यथा—

"एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण
व्यभिचारिता निरस्ता प्रकृत सूत्रे।"

—सम्पादक

(५) विशेष खुलासे के लिये देखो 'परिशिष्ट'

(६) देखो, टिप्पण (फुटनोट) २१ वां।

होगी, यह एक आश्चर्यकारक समस्या है। परन्तु जब पूर्वकालीन साम्प्रदायिक व्यामोह और ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव की तरफ़ ध्यान जाता है तो यह समस्या हल हो जाती है। वा० उमास्वातिके इतिहास-विषय में उनकी खुद की रची हुई छोटीसी प्रशस्ति ही एक सच्चा साधन है। उनके नाम के साथ जोड़ी हुई दूसरी बहुतसी हक़ीक़तें७ दोनों सम्प्रदायों की परम्परा में चली आती हैं, परन्तु वे सब अभी परीक्षणीय होने से उन्हें अक्षरशः ठीक नहीं माना जा सकता। उनकी वह संक्षिप्त प्रशस्ति और उसका सार इस प्रकार है:—

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियःप्रकाशयशसःप्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशांगविदः ॥१॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः॥२॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥३
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।
दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥४॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्
सोऽव्याबाधसुखाख्यंप्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ६

"जिसके दीक्षागुरु ग्यारह अंगके धारक घोषनन्दि क्षमण थे और प्रगुरु—गुरुके गुरु—वाचकमुख्य शिवश्री थे, वाचनासे अर्थात् विद्याग्रहणकी दृष्टिसे जिसके गुरु मूल नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक मुन्डपाद थे, जो गोत्रसे कौभीषणि था, और जो स्वाति पिता और वात्सी माताका पुत्र था, जिसका जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था और जो उच्चनागर८ शाखा का था, उस उमास्वाति वाचक ने गुरुपरम्परा से प्राप्त हुए श्रेष्ठ आर्हत उपदेशको भले प्रकार धारण करके तथा तुच्छ शास्त्रों द्वारा हतबुद्धि दुःखित लोकको

(७) जैसे कि दिगम्बरों में गृद्धपिच्छ, बलाकपिच्छ * आदि तथा श्वेताम्बरों में पूर्ववित्, पांचसौ ग्रन्थोंका रचयिता आदि।
[*दिगम्बर साहित्यमें उमास्वातिको 'बलाकपिच्छ' नहीं लिखा; हां उनके शिष्यका नाम बलाकपिच्छ ज़रूर दिया है। —सम्पादक

८ 'उच्चैर्नागर' शाखाका प्राकृत 'उच्चानागर' ऐसा नाम मिलता है। यह शाखा किसी ग्राम या शहरके नाम परसे प्रसिद्ध हुई होगी ऐसा तो भले प्रकार दीख पड़ता है। परन्तु यह ग्राम कौनसा नगर होगा यह निश्चित करना कठिन है। हिन्दुस्तानके अनेक भागों में नगर नामके या जिनके अन्तमें नगर नाम हो ऐसे नामोंके अनेक शहर तथा ग्राम हैं। 'बड़नगर' यह गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। बड़का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा अर्थात् कदाचित् ऊँचा ऐसा भी अर्थ होता है। लेकिन बड़नगर यह नाम भी पूर्वदेश के उस अथवा उस जैसे नामके शहर पर से गुजरात में लिया गया है, ऐसी भी विद्वानों की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखाका बड़नगरके साथ ही सम्बन्ध है ऐसा जोर देकर नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय, जिस कालमें उच्चनागर शाखा उत्पन्न हुई उस काल में बड़नगर था कि नहीं और था तो उसके साथ जैनियों का सम्बन्ध कितना था यह भी विचारने की बात है। उच्चनागर शाखा के उद्भवसमय का जैनाचार्यों का मुख्य विहार गंगा-यमुना की तरफ़ होने के प्रमाण मिलते हैं। इससे बड़नगर के साथ उच्चनागर शाखा का सम्बन्ध होने की कल्पना सबल नहीं रहती। कनिंघम इस विषय में लिखता है कि "यह भौगोलिक नाम उत्तर पश्चिम प्रान्तके आधुनिक बुलन्दशहर के अन्तर्गत 'उच्छनगर' नामके क़िले के साथ मिलता हुआ है।" देखो, आर्किओलॉजिकल सर्वे आफ़ इंडिया रिपोर्ट वाल्यूम १४, पृष्ठ १४७।

नागरोत्पत्ति के निबन्धमें ए०ग० मानकर 'नागर' शब्द का सम्बंध दिखलाते हुए नगर नाम के अनेक ग्रामोंका उल्लेख करते हैं। इससे यह भी विचारकी सामग्री में आता है। देखो, छठी गुजराती साहित्यपरिषद् की रिपोर्ट।

देख करके प्राणियों की अनुकंपा से प्रेरित होकर यह **तत्त्वार्थाधिगम** नामका स्पष्ट शास्त्र विहार करते हुए **कुसुमपुर** नामके महा नगर में रचा है। जो इस तत्त्वार्थशास्त्रको जानेगा और उसके कथनानुसार आचरण करेगा वह अव्याबाधसुख नामके परमार्थ—मोक्ष—को शीघ्र प्राप्त करेगा।"

इस प्रशस्तिमें ऐतिहासिक हक़ीक़तको सूचित करने वाली मुख्य छह बातें हैं—१ दीक्षागुरु तथा दीक्षाप्रगुरुका नाम और दीक्षागुरुकी योग्यता, २ विद्यागुरु तथा विद्याप्रगुरुका नाम, ३ गोत्र, पिता तथा माता का नाम, ४ जन्मस्थानका तथा ग्रंथरचनास्थान का नाम ५ शाखा तथा पदवी का सूचन, और ६ ग्रंथकर्ता तथा ग्रन्थका नाम।

जिस प्रशस्तिका सार ऊपर दिया गया है और जो इस समय भाष्यके अन्तमें उपलब्ध होती है वह प्रशस्ति उमास्वाति की खुदकी रची हुई नहीं, ऐसा मानने का कुछ भी कारण नहीं। डा० हर्मन जैकोबी जैसे विचारक भी इस प्रशस्तिको उमास्वातिकी ही मानते हैं और यह बात उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत किये हुए तत्वार्थ के जर्मन अनुवाद की भूमिका से जानी जा सकती है! इसमे इसमें जिस हक़ीक़त का उल्लेख है उसे ही यथार्थ मान कर उस पर से वा० उमास्वाति-विषयक दिगम्बर-श्वेताम्बर-परम्परा में चली आई हुई मान्यताओं का खुलासा करना यही इस समय राजमार्ग है।

ऊपर नोट की हुई छह बातों में से पहली और दूसरी बात कुन्दकुन्द के साथ दिगम्बरसम्मत उमास्वाति के सम्बन्धको असत्य ठहराती है। कुन्दकुन्दके उपलब्ध अनेक नामों में से ऐसा एक भी नाम नहीं जो उमास्वाति-द्वारा दर्शाए हुए अपने विद्यागुरु तथा दीक्षागुरु के नामों में आता हो; इससे कुन्दकुन्दका उमास्वातिके साथ विद्या अथवा दीक्षा-विषय में गुरु-शिष्यभावात्मक सम्बन्ध था इस कल्पनाको स्थान ही नहीं*। इसी प्रकार उक्त प्रशस्ति में उमास्वाति के वाचक-परम्परा में होने का तथा उच्चनागर शाखा में होने का स्पष्ट कथन है, जब कि कुन्दकुन्द के नन्दि संघमें होनेकी दिगम्बरमान्यता ×है; और उच्चनागर नाम की कोई शाखा दिगम्बर सम्प्रदाय में हो गई हो ऐसा आज भी जानने में नहीं आता। इससे दिगम्बर-परम्परा में कुंदकुन्द के शिष्यरूपसे माने जाने वाले उमास्वाति यदि वास्तव में ऐतिहासिक व्यक्ति हों तो भी उन्होंने यह तत्वार्थाधिगम शास्त्र रचा था यह मान्यता विश्वस्त आधार से रहित होने के कारण पीछे से ¹⁰ कल्पना की गई मालूम होती है।

* श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंमें, आजसे आठ सौ वर्ष पहले, जो '**तदन्वये**' और '**तदीय वंशे**' शब्दोंके द्वारा उमास्वातिको कुन्दकुन्द का 'वंशज' प्रकट किया है उस कल्पना का इससे कोई विरोध नहीं आता। हो सकता है कि उमास्वातिके इस प्रशस्ति-प्रतिपादित प्रगुरुसे पहले का जो स्थान है वही कुन्दकुंद का स्थान हो, और इस लिये उमास्वाति कुन्दकुन्द की वंशपरम्परा एवं शिष्य-परम्परामें ही हुए हों। **—सम्पादक**

९ देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १५८ से तथा इस लेखका 'परिशिष्ट'।

× यह मान्यता बहुत कुछ आधुनिक है और नन्दिसंघकी प्रायः उस अविश्वसनीय पट्टावलीकी कल्पना-जैसी कल्पनासे ही सम्बंध रखती है। वास्तवमें कुन्दकुन्द इस नन्दि आदि चार प्रकारके संघभेद से पहले हुए जान पड़ते हैं। अकलङ्कदेवसे पहलेके साहित्यमें इन संघभेदों का कोई उल्लेख भी नहीं मिलता—उदाहरणके लिये शक स० ३८८ मर्करा के ताम्रपत्रको लीजिये, उसमें 'कुन्दकुन्दान्वय' का तो उल्लेख है परंतु किसी संघका नहीं—और श्रवणबेल्गोल के १०८ (२५८) नं० के शिलालेखमें यह साफ़ लिखा है कि यह संघभेद अकलङ्कदेवके बाद हुआ है। इससे कुंदकुंद की शाखाविशेष का अभी कुछ ठीक पता नहीं है। **—सम्पादक**

१० देखो नोट नं० ४ तथा इस लेख का 'परिशिष्ट'

उक्त बातों में से तीसरी बात श्यामाचार्य के साथ की उमास्वाति के सम्बन्ध की श्वेताम्बरीय मान्यताको असत्य ठहराती है; क्योंकि वाचक उमास्वाति अपनेको कौभीषणि कह कर अपना गोत्र 'कौभीषण' सूचित करते हैं; जबकि श्यामाचार्य के गुरुरूप से पट्टावलि में दाखिल हुए 'स्वाति' को 'हारित' गोत्र[११]का वर्णन किया गया है, इसके सिवाय तत्त्वार्थ के प्रणेता उमास्वातिको उक्त प्रशस्ति स्पष्टरूपसे 'वाचक' वंश में हुआ बतलाती है; जब कि श्यामाचार्य या उनके गुरुरूपसे निर्दिष्ट 'स्वाति' नामके साथ वाचकवंश-सूचक कोई विशेषण पट्टावली में नजर नहीं पड़ता। इस प्रकार उक्त प्रशस्ति एक तरफ़ दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओंमें चली आई हुई भ्रांत कल्पनाओंका निरसन करती है और दूसरी तरफ़ वह ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त होते हुए भी सच्चा इतिहास प्रस्तुत करती है।

समय

वाचक उमास्वातिके समय-सम्बन्धमें उक्त प्रशस्ति में कुछ भी निर्देश नहीं है, इसी तरह समय का ठीक निर्धारण कर देने वाला ऐसा दूसरा भी कोई साधन अभी तक प्राप्त नहीं हुआ; ऐसी स्थिति होते हुए भी इस सम्बन्धमें कोई विचार करनेके लिये यहाँ तीन बातोंका उपयोग किया जाता है—१ शाखानिर्देश, २ प्राचीनसे प्राचीन टीकाकारों का समय और ३ अन्य दार्शनिक ग्रंथों की तुलना।

प्रशस्तिमें जिस 'उच्चैर्नागरशाखा' का निर्देश है वह शाखा कब निकली यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, तो भी कल्पसूत्र की स्थविरावलीमें उच्चानागरी शाखाका उल्लेख है[१२]; यह शाखा आर्य शांतिश्रेणिक से निकली है। आर्य शांतिश्रेणिक आर्य सुहस्ति से चौथी पीढी में आते हैं। आर्य सुहस्तिके शिष्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध और उनका शिष्य इंद्रदिन्न, इंद्रदिन्नका शिष्य दिन्न और दिन्न का शिष्य शांति-श्रेणिक दर्ज है। यह शांतिश्रेणिक आर्य वज्र के गुरु जो आर्य सिंहगिरि, उनका गुरुभाई था; इससे वह आर्य वज्रकी पहली पीढ़ीमें आता है। आर्य सुहस्तिका स्वर्गवाससमय वीरात् २९१ और वज्रका स्वर्गवाससमय वीरात् ५८४ उल्लेखित मिलता है। अर्थात् सुहस्तिके स्वर्गवास-समयसे वज्र के स्वर्गवास-समय तक २९३ वर्षके भीतर पाँच पीढ़ियाँ उपलब्ध होती हैं। इस तरह सरसरी तौर पर एक एक पीढ़ी का काल साठ वर्षका मान लेने पर सुहस्तिसे चौथी पीढ़ीमें होने वाले शांतिश्रेणिक का प्रारम्भ काल वीरात् ४७१ का आता है। इस समयके मध्यमें या थोड़ा आगे पीछे शांतिश्रेणिक से उच्चानागरी शाखा निकली होगी। वाचक उमास्वाति, शांतिश्रेणिककी ही उच्चानागर शाखा में हुए हैं ऐसा मानकर और इस शाखाके निकलनेका जो समय अटकल किया गया है उसे स्वीकार करके यदि आगे चला जाय तो भी यह कहना कठिन है कि वा० उमास्वाति इस शाखाके निकलने बाद कब हुए हैं? क्योंकि अपने दीक्षागुरु और विद्यागुरुके जो नाम प्रशस्तिमें उन्होंने दिये हैं उनमें से एक भी कल्पसूत्र की स्थविरावलिमें या उस प्रकारकी किसी दूसरी

[११] "हारियगुत्तं साइं च वंदिमो हारियं च सामज्जं"॥२६
—नन्दिसूत्र की स्थविरावली पृ० ४९

[१२] "थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिएहिंतो माढरसगुत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चानागरी साहा निग्गया।"
—मूल कल्पसूत्रस्थविरावलि पृ०५५। आर्य शांति-श्रेणिककी पूर्व परम्परा जाननेके लिये इससे आगेके कल्पसूत्रके पत्र देखो।

वारसा मिला हुआ है, उसी प्रकार योगसूत्र और उसके भाष्यको पुरातन सांख्य, योग तथा बौद्ध आदि परम्पराओंका वारसा मिला हुआ है। ऐसा होते हुए भी तत्त्वार्थके भाष्यमें एक स्थल ऐसा है कि जो जैन अंगग्रंथोंमें अद्यावधि उपलब्ध नहीं और योगसूत्र के भाष्यमें वह उपलब्ध है।

पहले निर्मित हुई आयु कमती भी हो सकती है अर्थात् बीच में टूट भी जा सकती है और नहीं भी टूट सकती, ऐसी चर्चा जैन अंगग्रंथों में है परन्तु इस चर्चा में आयुके टूट सकनेके पक्ष की उपपत्ति करनेके लिये भीगे कपड़े तथा सूखे घासका उदाहरण अंगग्रंथों में नहीं, तत्त्वार्थके भाष्यमें इसी चर्चा के प्रसंग पर ये दोनों उदाहरण दिये गये हैं जो कि योगसूत्रके भाष्य में भी हैं। इन उदाहरणोंमें खूबी यह है कि दोनों भाष्योंका शाब्दिक सादृश्य भी बहुत ज्यादा है। साथ ही, यहाँ एक विशेषता भी है और वह यह कि योग सूत्रके भाष्यमें जिसका अस्तित्व नहीं ऐसा गणित-विषयक एक तीसरा उदाहरण तत्त्वार्थसूत्रके भाष्यमें पाया जाता है। दोनों भाष्योंका पाठ क्रमशः इस प्रकार है:—

तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य

"××शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमानिरुप क्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। ××× अपवर्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोपभोगः उपक्रमोऽप-वर्तननिमित्तम्। ×××× संहतशुष्कतृण राशिदहनवत्। यथाहि **संहतस्य शुष्कस्यापि तृण-राशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशुदाहो भवति** तद्वत् यथा वा संख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थस्याभावो भवति तद्वदुपक्रमाभिहतो मरण-समुद्घातदुःखार्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगपूर्वकं करणविशेष-मुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति। किं चान्यत्। **यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति न च संहते** तस्मिन् प्रभूतस्नेहा गमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोषः तद्वद् यथोक्तनिमित्ता-पवर्तनैः कर्मणः क्षिप्रं फलोपभोगो भवति। न च कृत-प्रणाशाकृताभ्यागमाफल्यानि।"

—२, ५२ का भाष्य

योगसूत्र-भाष्य

"आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र **यथार्द्रं वस्त्रं वितानितं ह्रसीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथावाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृण-राशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम्।** तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सो-पक्रमं निरुक्रमं च।"

—३, २२ का भाष्य

(ग) अक्षपादका 'न्यायदर्शन' ईसवी सन् के आरम्भ के लगभगका रचा हुआ माना जाता है। उसके ऊपर का 'वात्स्यायन-भाष्य' दूसरी, तीसरी शताब्दीके भाष्य-कालकी प्राथमिक कृतियों में से एक कृति है। इस कृतिके कुछ शब्द और विषय तत्त्वार्थभाष्य में पाये जाते हैं। न्यायदर्शन (१,१,३)-मान्यप्रमाणचतुष्कवाद का निर्देश तत्त्वार्थ अ० १, सू० ६ और ३५ के भाष्यमें

मूल सूत्ररचनाके उद्देश्य को जनाने की पूर्ति करती हुई मूल ग्रन्थ को ही लक्ष करके लिखी गई मालूम होती है; उसी प्रकार भाष्यके अन्तमें जो प्रशस्ति है उसे भी मूल सूत्रकारकी माननेमें कोई खास असंगति नहीं, ऐसा होते हुए भी यह प्रश्न खड़ा ही रहता है कि यदि भाष्यकार सूत्रकार से भिन्न होते और उनके सामने सूत्रकार की रची हुई कारिकाएँ तथा प्रशस्ति मौजूद होती तो क्या वे खुद अपने भाष्यके आरंभमें और अंतमें मंगल-प्रशस्ति जैसा कुछ-न कुछ लिखने से रह जाते? और यदि यह मान लिया जाय कि इन्होंने अपनी तरफ़से आदि या अंतमें कुछ भी नहीं लिखा तो भी एक सवाल रहता ही है कि, भाष्यकारने जिस प्रकार सूत्रका विवरण किया है उसी प्रकार सूत्रकारकी कारिकाओं और प्रशस्तिग्रन्थ का विवरण क्यों नहीं किया? क्या यह हो सकता है कि वे सूत्रग्रन्थकी व्याख्या करने बैठें और उसके आदि तथा अन्तके मनोहर तथा महत्व पूर्ण भागकी व्याख्या करनी छोड़ देवें? यह सवाल हमें इस निश्चित मान्यताके ऊपर ले जाता है कि भाष्यकार सूत्रकार से भिन्न नहीं हैं और इसी से उन्होंने भाष्य लिखते समय सूत्रग्रंथको लक्ष करके कारिकाएँ रचीं तथा शामिल कीं और अन्तमें सूत्र तथा भाष्य दोनोंके कर्तारूपसे अपना परिचय देने वाली अपनी प्रशस्ति लिखी है। इसके सिवाय, नीचेकी दो दलीलें हमें सूत्र-कार और भाष्यकारको एक मानने के लिए प्रेरित करती हैं।

१ प्रारंभिक कारिकाओं[२६] में और कुछ स्थानों पर भाष्य[२७] में भी "वक्ष्यामि वक्ष्यामः" आदि प्रथम पुरुषका निर्देश है और इस निर्देशमें की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार ही बादको सूत्रमें कथन किया गया है; इसमें सूत्र और भाष्य दोनों को एककी कृति मानने में संदेह नहीं रहता।

२ शुरू से अन्त तक भाष्यको देख जाने पर एक बात मन पर ठसती है और वह यह है कि किसी भी स्थल पर सूत्रका अर्थ करनेमें शब्दोंकी खींचातानी नहीं हुई, कहीं भी सूत्रका अर्थ करने में संदिग्धपना या विकल्प करने में नहीं आया, इसी प्रकार सूत्रकी कोई दूसरी व्याख्याको हृदयके सन्मुख रखकर सूत्रका अर्थ नहीं किया गया और न कहीं सूत्रके पाठभेद का ही अवलम्बन लिया गया है।

पाई जाती है और व्याख्याकार इन पद्योंका भाष्यका समझ कर ही उनके ऊपर लिखते हैं। इनमें से ८ वें पद्यको उमास्वातिकर्तृक मान कर आ० हरिभद्रने अपने 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में ६८७ वें पद्य के रूपमें उद्धृत किया है। इससे आठवीं शताब्दीके श्वेताम्बर आचार्य भाष्यको निर्विवाद रूपसे स्वोपज्ञ मानते थे यह निश्चित है।

२८ इन पद्योंको **पूज्यपाद**ने प्रारंभिक कारिकाओंकी तरह छोड़ही दिया है, तो भी पूज्यपादके अनुगामी **अकलंक** ने अपने 'राजवार्तिक'के अन्तमें इन पद्योंको लिया हो ऐसा जान पड़ता है: क्योंकि मुद्रित राजवार्तिकके अन्तमें वे पद्य दिखाई देते हैं। दिगम्बराचार्य **अमृतचन्द्र**ने भी अपने 'तत्त्वार्थसार' में इन्हीं पद्योंको नम्बरोंके कुछ थोड़ेसे फेर-फारके साथ लिया है।

इन अन्तके पद्योंके सिवाय, भाष्यमें बीच बीच में **"आह"** **"उक्तंच"** इत्यादि निर्देशके साथ और कहीं बिना किसी प्रकारके निर्देश के कितने ही पद्य आते हैं। ये पद्य भाष्यकर्ताके ही हैं या किसी दूसरे के हैं इसके जानने का कोई विश्वस्त साधन नहीं है। परन्तु भाषा और रचनाको देखते हुए उन पद्योंके भाष्यकारके ही होनेकी संभावना विशेष जान पड़ती है।

२६ "तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैक देशस्य ॥२२"
नर्त्ते च मोक्षमार्गाद् व्रतोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन
तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१॥

२७ गुणान् लक्षणतो वक्ष्यामः—५, ३७ का भाष्य, अगला सूत्र ५, ४० "अनादिरादिमांश्च तं परस्ताद्वक्ष्यामः"
—५, २२ का भाष्य, अगला सूत्र ५, ४२।

हैं। अब यदि वाचकका अर्थ भाष्यके टीकाकारोंके कथनानुसार 'पूर्ववित्' होता तो उमास्वाति अपने गुरु को 'पूर्ववित्' कहते, मात्र एकादशांगधारक न कहते। पूर्ववित् की अपेक्षा एकादशांगधारक कमती दर्जे का होता है; अब यदि अपना अपना वाचक गुरु पूर्ववित् ही है ऐसा उमास्वाति मानते हों तो शिष्यरूपसे गुरु का दरजा कदाचित् बढ़ा करके न देखें तो भी घटा करके तो नहीं दिखावें; इसमें ऐसा मानना उचित जान पड़ता है कि वाचक का जो पूर्ववित् अर्थ होता है वह असल की अपेक्षामें समझना। अर्थात् वाचक-वंश जब पहले-पहल स्थापित हुआ तब जो कोई पूर्व या पूर्वों का ज्ञान रखते वे ही इस वंशमें आ सकते और 'वाचक' कहला सकते थे; परन्तु काल-क्रमसे जब पूर्वज्ञान नष्ट हो गया तब भी इस वंशमें होने वाले 'वाचक' ही कहलाते रहे। तो भी दूसरे वंशोंकी अपेक्षा वाचक वंश की यह विशेषता तो रही ही होगी कि वे प्रमाणमें दूसरे वंशोंकी अपेक्षा श्रुताभ्यासकी तरफ विशेष ध्यान देते होंगे; इससे इतना तो साफ है कि भले ही वा० उमास्वाति 'पूर्ववित्' न हों, तो भी वे कमसे कम अपने गुरु जितना ग्यारह अङ्गका ज्ञान तो रखने वाले होने ही चाहियें। इनका तत्त्वार्थग्रंथ इनके ग्यारह अंग-विषयक श्रुतज्ञानकी तो प्रतीति करा ही रहा है* इससे इतनी योग्यता विषयमें तो कुछ भी संदेह नहीं। इन्होंने अपने को विरासतमें मिले हुए आर्हत श्रुतके सभी पदार्थोंका संग्रह[२३] तत्वार्थमें किया है; एक भी महत्वकी दृष्टि पड़ने वाली बातको इन्होंने बिना कथन किये छोड़ा नहीं, इसीसे आचार्य हेमचन्द्र संग्रहकारके रूपमें उमास्वाति का स्थान सर्वोत्कृष्ट आँकते हैं[२४]। इसी योग्यता के कारण उनके तत्वार्थ की व्याख्या करनेके लिये सभी श्वेताम्बर दिगम्बर आचार्य प्रेरित हुए हैं।

* नगर ताल्लुकेके एक दिगम्बर शिलालेख नं० ४६ में इन्हें 'श्रुतकेवलिदेशीय' लिखा है। यथा:—

"तत्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥"

—सम्पादक

परम्परा

दिगम्बर वाचक उमास्वाति को अपनी परम्पराका मान कर उनकी कृतिरूपसे मात्र तत्त्वार्थसूत्र को स्वीकार करते हैं, जब कि श्वेताम्बर उन्हें अपनी परम्परा में हुआ मानते हैं और उनकी कृतिरूपसे तत्त्वार्थसूत्रके अतिरिक्त भाष्यको भी स्वीकारते हैं। ऐसा होनेमें प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उमास्वाति दिगम्बरपरम्परामें हुए हैं या श्वेताम्बरपरम्परामें अथवा दोनोंमे भिन्न किसी जुदी ही परम्परामें हुए हैं? इस प्रश्नका उत्तर भाष्यके कर्तृत्व की परीक्षा और प्रशस्ति की सत्यता की परीक्षामें जैसा निकल सकता है वैसा दूसरे एक भी साधनसे निकल सकेगा ऐसा अभी मालूम नहीं होता; इससे उक्त भाष्य उमास्वाति की कृति है या अन्य की? तथा उसके अंतमें दी हुई प्रशस्ति यथार्थ है? कल्पित है? या पीछेसे प्रक्षिप्त है? इन प्रश्नोंकी चर्चा की जरूरत मालूम होती है।

भाष्यके प्रारंभमें जो ३१ कारिकाएँ हैं[२५] वे मिश्र

२३ तत्त्वार्थमें वर्णित विषयोंका मूल जाननेके लिये स्थानांग, भगवती, उपासकदशा, प्रश्नव्याकरण, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन, नंदिसूत्र आदि आगमों को खास तौर पर देखना तथा तुलना करना ठीक जान पड़ता है।

२४ "उपोमास्वातिं संग्रहीतारः" २-२-२८ सिद्ध हेम।

२५ इनके सिवाय, भाष्यके अन्तमें प्रशस्तिसे पहले ३२ अनुष्टुप् छंदके पद्य हैं। इन पद्योंकी व्याख्या भाष्यकी उपलब्ध दोनों टीकाओंमें

स्वाति ही प्रथम संस्कृत लेखक हैं। उनके ग्रन्थों की प्रसन्न, संक्षिप्त और शुद्ध शैली संस्कृत भाषा के ऊपर उनके प्रभुत्व की साक्षी देती है। जैन आगममें प्रसिद्ध ज्ञान, ज्ञेय, आचार, भूगोल, खगोल आदिसे सम्बंध रखने वाली बातोंका जो संक्षेपमें संग्रह उन्होंने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में किया है वह उनके 'वाचक' वंश में होने की और वाचक-पदकी यथार्थताकी साक्षी देता है। उनके तत्त्वार्थकी (तत्त्वार्थभाष्यकी ?) प्रारंभिक कारिकाएँ और दूसरी पद्यकृतियाँ सूचित करती हैं कि वे गद्य की तरह पद्यके भी प्रांजल लेखक थे। उनके सभाष्य सूत्रोंका बारीक अवलोकन जैन-आगम-संबंधी उनके सर्वग्राही अभ्यासके अतिरिक्त वैशेषिक, न्याय, योग और बौद्ध आदि दार्शनिक साहित्य संबंधी उनके अभ्यासकी प्रतीति कराता है। तत्त्वार्थभाष्य में उद्धृत[१९] व्याकरण के सूत्र उनकी पाणिनीय-व्याकरण-विषयक अभ्यासकी भी साक्षी देते हैं।

यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आपकी पाँच सौ ग्रंथों का कर्ता होने की प्रसिद्धि है और इस समय आपकी कृतिरूपसे कुछ ग्रन्थ प्रसिद्ध[२०] भी हैं; तो भी इस विषयमें आज संतोषजनक कुछ भी कहनेका साधन नहीं है। ऐसी स्थिति में भी 'प्रशमरति'[२१] की

१६ देखो १, ५ और २, १५

२० जम्बूद्वीपसमासप्रकरण, पूजाप्रकरण, श्रावकज्ञप्ति, क्षेत्रविचार, प्रशमरति। सिद्धसेन अपनी वृत्तिमें (७, १०, पृ० ७८, ५०२) उनके 'शौचप्रकरण' नामक ग्रथका उल्लेख करते हैं, जो इस समय उपलब्ध नहीं।

२१. वृत्तिकार सिद्धसेन—'प्रशमरति'को भाष्यकारकी ही कृतिरूपसे सूचित करते हैं। यथा "यतः प्रशमरतौ अनेनैवोक्तम्—परमाणुरप्रदेशो, वर्णादिगुणेषु भजनीयः।"

"वाचकेन त्वेतदेव बलसंज्ञया प्रशमरतावुपात्तम्" (प्रशमरति का० २०८ और ८०) ५, ६ तथा ६, ६की भाष्यवृत्ति तथा वे भाष्यकार तथा सूत्रकारको एक ही समझते हैं। यथा-

"स्वकृतसूत्रसंनिवेशमाश्रित्योक्तम।"

—६,२२,पृ०२५३

"इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोऽध्यायः।"

—तत्त्वार्थभाष्यके सातवें अध्यायकी टीका की पुष्पिका।

इस प्रशमरतिप्रकरणकी १२० वी कारिका, **आचार्य आह** कह कर, निशीथचूर्णिमें उद्धृत की गई है। इस चूर्णिके प्रणेता **जिनदास** महत्तरका समय विक्रमकी आठवीं शताब्दी है जो उन्होंने अपनी नन्दिसूत्रकी चूर्णिमें बतलाया है; इस परसे ऐसा कह सकते हैं कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है। इससे और इसके ऊपर बतलाए हुए कारणोंसे यह कृति वाचककी हो तो इसमें इनकार नहीं।

भाषा और विचारसरणी इस ग्रंथका उमास्वातिकर्तृक होना माननेके लिये ललचाती है।

उमास्वाति अपने को 'वाचक' कहते हैं, इसका अर्थ 'पूर्ववित्'[२२] करके पहलेसे ही श्वेताम्बराचार्य उमास्वातिको 'पूर्ववित्' रूपसे पहचानते आए हैं; परंतु यह बात खास विचारने योग्य मालूम होती है; क्योंकि उमास्वाति खुद ही अपने दीक्षा गुरुको वाचक रूपसे उल्लेखित करने के साथ ही ग्यारह अंगके धारक कहते

२२. पूर्वोंके चौदह होनेका समवायांग आदि आगमों में वर्णन है। वे दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्गके पांचवां भाग थे ऐसा भी उल्लेख है। पूर्वश्रुत अर्थात् भगवान महावीरद्वारा सबसे पहले दिया हुआ उपदेश, ऐसी प्रचलित परम्परागत मान्यता है। पश्चिमीय विद्वानोंकी इस विषयमें ऐसी कल्पना है कि भ०पार्श्वनाथकी परम्पराका जो पूर्वकालीन श्रुत भ०महावीर को अथवा उनके शिष्योंको मिला वह पूर्वश्रुत है। यह श्रुत क्रम क्रमसे भ०महावीर के उपदिष्ट श्रुतमें ही मिल गया और उसी का एक भाग रूपसे गिना गया। जो भ०महावीरकी द्वादशांगीके धारक थे वे इस पूर्वश्रुतको तो जानते ही थे। कंठ रखनेके प्रथात और दूसरे कारणों से क्रम क्रम-से पूर्वश्रुत नष्ट हो गया और आज सिर्फ पूर्वगत गाथारूपमें नाममात्रसे शेष रहा उल्लेखित मिलता है।

पाया जाता है [१४]। तत्त्वार्थ १, १२ के भाष्यमें अर्थापत्ति, संभव और अभाव आदि प्रमाणोंके भिन्नपने का निरसन न्यायदर्शन (२, १, १) आदिके जैसा ही है। न्यायदर्शनमें प्रत्यक्षके लक्षण में "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्" (१,१, ४) ऐसे शब्द हैं। तत्त्वार्थ अ० १ सू० १२के भाष्य में अर्थापत्ति आदि जुदे माने जाने वाले प्रमाणों को मति और श्रुत ज्ञानमें समावेश करते हुए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। यथा:—

"सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्। १, १२ का भाष्य।

इसी तरह पतंजलि-महाभाष्य [१५] और न्यायदर्शन [१६] आदि में पर्याय शब्दकी जगह 'अनर्थान्तर' शब्दके प्रयोगकी जो पद्धति है वह तत्वार्थ सूत्र[१७] में भी पाई जाती है।

(घ) बौद्धदर्शनकी **शून्यवाद**, **विज्ञानवाद** आदि शाखाओंके खास मंतव्योंका अथवा विशिष्ट शब्दोंका जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धिमें उल्लेख है उस प्रकार तत्वार्थभाष्यमें नहीं है तो भी बौद्धदर्शन के थोड़े से सामान्य मन्तव्य **तंत्रान्तर** के मन्तव्योंके रूप में दो एक स्थल पर आते हैं। वे मंतव्य पाली पिटक के ऊपरसे लिये गये हैं या **महायान** के द्वारा रचे गये संस्कृत पिटकोंके ऊपर से लिये गये हैं अथवा किसी दूसरे ही तद्विषयक ग्रन्थ के ऊपर से लिये गये हैं,— यह विचारणीय है। उनमेंसे पहला उल्लेख जैनमत के अनुसार नरकभूमियोंकी संख्या बतलाते हुए बौद्ध सम्मत संख्या का खंडन करने के लिये आगया है। वह इस प्रकार है:—

"अपि च तंत्रान्तरीया असंख्येषु लोकधातुष्वसंख्येयाः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः"—

—अ० ३, सू० १ का भाष्य।

दूसरा उल्लेख, पुद्गल का जैनमतके अनुसार लक्षण बतलाते हुए, बौद्धमत-सम्मत [१८] पुद्गल शब्दके अर्थका निराकरण करते हुए आया है। यथा—

पुद्गलानिति च तंत्रान्तरीया जीवान् परिभाषन्ते—

—अ० ५ सू० २३ का उत्थानभाष्य।

योग्यता

उमास्वातिके पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में लिखने की शक्तिको यदि संस्कारित न किया होता और उस भाषामें लिखनेका प्रघात शुरू न किया होता तो उमास्वाति इतनी प्रसन्न संस्कृत शैलीमें प्राकृत परिभाषामें रूढ साम्प्रदायिक विचारोंको इतनी सफलतापूर्वक गूंथ सकते कि नहीं यह एक सवाल ही है; तो भी अद्यावधि-पर्यंत उपलब्ध समग्र जैन वाङ्मय का इतिहास तो ऐसा ही कहना है कि जैनाचार्यों में उमा-

१४ "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि"। न्यायदर्शन १, १, ३।
"चतुर्विधमित्येके नयवादान्तरेण" १, ६, और "यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैः प्रमाणैरेकोऽर्थः प्रमीयते" १, ३५।—तत्त्वार्थभाष्य।

१५ देखो, १,१,५६; २,३,१, और ५,१, ५९का महाभाष्य

१६ देखो, १, १, १५। १७ देखो, १, १३।

१८ यहां पर एक बात खास तौर से उल्लेख किये जानेके योग्य है और वह यह कि उमास्वातिने बौद्धसम्मत 'पुद्गल' शब्दके 'जीव' अर्थको मान्य न रखते हुए उसे मतान्तरके रूपमें उल्लेख करके पीछेसे जैनशास्त्र पुद्गल शब्दका क्या अर्थ मानता है उसे सूत्रमें बतलाया है। परन्तु भगवतीसूत्रशतक ८ उद्देशक १० और शतक २० उद्देशक २में 'पुद्गल' शब्दका 'जीव' अर्थ स्पष्टरूपसे वर्णित हुआ पड़ता है। यदि भगवती में वर्णित पुद्गल शब्दका 'जीव'अर्थ जैनदृष्टिसे ही वर्णन किया गया है ऐसा माना जाय तो उमास्वातिने इसी मतको बौद्धमतके रूप में किस तरह अमान्य रक्खा होगा, यह सवाल है। क्या उनकी दृष्टि में भगवती में का पुद्गल शब्दका 'जीव' अर्थ यह बौद्धमत रूप ही होगा?

यह वस्तुस्थिति सूत्र और भाष्यके एक कर्तृक होने की चिरकालीन मान्यताको सत्य ठहराती है। जहाँ मूल और टीका के कर्ता जुदे होते हैं वहाँ तत्वज्ञान-विषयक प्रतिष्ठित तथा अनेक सम्प्रदायों में मान्य हुए ग्रन्थों में ऊपर जैसी वस्तु स्थिति नहीं होती। उदाहरण के तौर पर वैदिक दर्शनमें प्रतिष्ठित 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थको लीजिये, यदि इसका ही कर्ता खुद व्याख्याकार होता तो इसके भाष्यमें आज जो शब्दोंकी खींचातानी, अर्थके विकल्प और अर्थका संदिग्धपना तथा सूत्रका पाठभेद दिखलाई पड़ता है वह कदापि न होता। इसी तरह तत्वार्थसूत्र के प्रणेताने ही यदि **सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक** आदि कोई व्याख्या लिखी होती तो उनमें जो अर्थकी खींचातानी, शब्द की तोड़मरोड़, अध्याहार, अर्थका संदिग्धपना और पाठभेद[२८] दिखाई देते हैं वे कभी न होते। यह वस्तुस्थिति निश्चितरूपसे एककर्तृक मूल तथा टीका वाले ग्रंथोंको देखनेसे ठीक समझी जा सकती है। इतनी चर्चा मूल तथा भाष्यका कर्ता एक होनेकी मान्यताकी निश्चित भूमिका पर हमें ला कर छोड़ देती [२९] है।

मूल और भाष्यके कर्ता एक ही हैं, यह निश्चय इस प्रश्नके हल करने में बहु उपयोगी है कि वे किस परम्परा के थे? उमास्वाति दिगम्बरपरंपराके नहीं थे ऐसा निश्चय करनेके लिये नीचेकी दलीलें काफी हैं—

१ प्रशस्तिमें सूचित की हुई उच्चनागर शाखा या नागर शाखाके होनेका दिगम्बर सम्प्रदायमें एक भी प्रमाण कहीं नहीं पाया जाता।

२ सूत्रमें [३०] प्रथम कथनानुसार बारह स्वर्गोंका भाष्यमें वर्णन है, यह मान्यता दिगम्बर सम्प्रदाय को इष्ट नहीं [३१]। 'काल' किसीके मतसे वास्तविक द्रव्य है[३२] ऐसा सूत्र और उसके भाष्यका वर्णन दिगम्बरीय पक्ष[३३] के विरुद्ध है। केवलीमें [३४] ग्यारह परिषह होने की सूत्र और भाष्यगत सीधी मान्यता तथा पुलाक आदि निर्ग्रंथों में द्रव्यलिंग के विकल्प की और सिद्धों में लिंगद्वार का भाष्यगत वक्तव्य दिगम्बर परंपरा से उलटा[३५] है।

३ भाष्यमें केवलज्ञान के पश्चात् केवली के दूसरा

२८. उदाहरणके तौर पर देखो, सर्वार्थसिद्धि—"चरमदेहा इति वा पाठः" २,५३। "अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्यशेषः कल्पनीयः सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्" ९, ११ और "लिंगेन केन सिद्धिः? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः पुंलिंगेनैव अथवा निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया" १०, ९।

२९. उपलब्ध संस्कृत वाङ्मय को देखते हुए मूलकारने ही मूल सूत्रके ऊपर भाष्य लिखा हो ऐसा यह प्रथम ही उदाहरण है।

३० देखो ४, ३ और ४, २० का भाष्य।

३१ देखो, ४ १९ की सर्वार्थसिद्धि। परन्तु 'जैन जगत' वर्ष ४ अङ्क २ में पृ० १२ पर प्रकट हुए लेख से मालूम होता है कि दिगम्बरीय प्राचीन ग्रन्थोंमें बारह कल्प होने का कथन है। ये ही बारह कल्प सोलह स्वर्गरूप वर्णन किये गये हैं। इससे असलमें बारह की ही संख्या थी और बादको किसी समय सोलह की संख्या दिगम्बरीय ग्रंथोंमें आई है।

३२ देखो ५, ३८। ३३ देखो ५, २९। ३४ देखो ९, ९

३५. तुलना करो ९, ४९ और १०, ७ के भाष्यकी इन्हीं सूत्रों की सर्वार्थसिद्धिके साथ। यहां पर यह प्रश्न होगा कि १०, ९ की सर्वार्थसिद्धिमें लिङ्ग और तीर्थद्वारकी विचारणाके प्रसंग पर जैनदृष्टिके अनुकूल ऐसे भाष्यके वक्तव्य को बदल कर उसके स्थान पर रूढ दिगम्बरीयत्व-पोषक अर्थ किया गया है। तो फिर ९, ४७ की सर्वार्थसिद्धि में पुलाक आदिमें लिङ्गद्वार का विचार करते हुए वैसा क्यों नहीं किया और रूढ दिगम्बरीयत्वके विरुद्ध जाने वाले भाष्यके वक्तव्य को अक्षरशः कैसे लिया गया है? इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि सिद्धोंमें लिङ्गद्वार की विचारणामें परिवर्तन किया जा सकता था इससे भाष्य को छोड़ कर परिवर्तन कर दिया। परन्तु पुलाक आदिमें द्रव्यलिंगके विचारप्रसंग पर दूसरा कोई परिवर्तन शक्य न था, इससे भाष्य का ही वक्तव्य अक्षरशः रक्खा गया। यदि किसी भी तरह परिवर्तन शक्य जान पड़ता तो पूज्यपाद नहीं तो अन्तमें अकलङ्कदेव क्या उस परिवर्तन को न करते?

उपयोग मानने न माननेकी जो जुदी जुदी मान्यताएँ[३६] हैं उनमें से कोई भी दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें नहीं दिखाई देती और श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं।

उक्त दलीलें यद्यपि ऐसा साबित करती हैं कि वाचक उमास्वाति दिगम्बर परम्परा के नहीं थे, तो भी यह देखना तो बाकी ही रह जाता है कि तब वे कौनसी परंपराके थे। नीचे की दलीलें उन्हें श्वेताम्बर परम्पराके होने की तरफ़ लेजाती हैं।

१—प्रशस्ति में उल्लेखित उच्चनागरीशाखा[३७] श्वेताम्बरीय पट्टावली में पाई जाती है।

२—अमुक विषय-संबन्धी मतभेद या विरोध[३८] बतलाते हुए भी कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन श्वेताम्बर आचार्य नहीं पाये जाते जिन्होंने दिगम्बर आचार्योंकी तरह भाष्यको अमान्य रक्खा हो।

३—जिसे उमास्वातिकी कृतिरूपसे माननेमें शंका का भाग्यसे ही अवकाश है ऐसे प्रशमरति[३९] ग्रन्थ में मुनिके वस्त्र-पात्र का व्यवस्थित निरूपण देखा जाता है, जिसे श्वेताम्बर परम्परा निर्विवादरूपसे स्वीकार करती है।

४—उमास्वातिके वाचकवंशका उल्लेख और उसी वंशमें होने वाले अन्य आचार्योंका वर्णन श्वेताम्बरीय पट्टावलियों, पन्नवणा और नंदिकी स्थविरावलीमें पाया जाता है।

ये दलीलें वा० उमास्वातिको श्वेताम्बर परंपराका मनवाती हैं, और अबतकके समस्त श्वेताम्बर आचार्य उन्हें अपनी ही परंपराका पहले से मानते आये हैं। ऐसा होते हुए भी उनकी परम्परासम्बन्ध में कितने ही वाचन तथा विचारके पश्चात् जो कल्पना इस समय उत्पन्न हुई है उसको भी अभ्यासियोंके विचारार्थ यहाँ दे देना उचित समझता हूँ।

जब किसी महान् नेताके हाथ से स्थापित हुए सम्प्रदायमें मतभेदके बीज पड़ते हैं, पक्षों के मूल बंधते हैं और धीरे धीरे वे विरोधका रूप लेते हैं तथा एक दूसरेके प्रतिस्पर्धी प्रतिपक्षरूपसे स्थिर होते हैं तब उस मूल सम्प्रदायमें एक ऐसा वर्ग खड़ा होता है जो परस्पर विरोध करने वाले और लड़ने वाले एक भी पक्षकी दुराग्रही तरफ़दारी न करता हुआ अपने से जहाँ तक बने वहाँ तक मूल प्रवर्तक पुरुषके सम्प्रदाय को तटस्थरूपसे ठीक रखने का और उस रूपसे ही समझाने का प्रयत्न करता है। मनुष्य स्वभावके नियमका अनुसरण करनेवाली यह कल्पना यदि सत्य हो तो प्रस्तुत विषयमें यह कहना उचित जान पड़ता है कि जिस समय श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनोंपक्षों ने परस्पर विरोधीपनेका रूप धारण किया और अमुक विषय-सम्बन्धमें मतभेदके झगड़ेकी तरफ़ वे ढले उस समय भगवान महावीरके शासनको माननेवाला अमुक वर्ग दोनों पक्षोंसे तटस्थ रहकर अपनेसे जहाँ तक बने वहाँ तक मूल सम्प्रदायको ठीक रखनेके काममें पड़ा। इस वर्गका काम मुख्यत: परम्परा से चले आए हुए शास्त्रोंको कंठस्थ रखकर उन्हें पढ़ना-पढ़ाना था और परम्परासे प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान तथा आचारसे सम्बन्ध रखने वाली सभी बातोंका संग्रह रखकर उसे अपनी शिष्यपरम्पराको देना था। जिस प्रकार वेदरक्षक पाठक श्रुतियोंको बराबर कंठस्थ रखकर एक भी मात्रा का फेर न पड़े ऐसी सावधानी रखते और शिष्य-परम्परा को सिखाते थे, उसी प्रकार यह तटस्थ वर्ग जैन श्रुतको कंठस्थ रखकर उसकी व्याख्याओंको

३६. देखो, १, ११ का भाष्य।

३७. देखो, पीछे 'वंश' तथा 'समय' शीर्षकोंके नीचे किये हुए उल्लेख

३८. देखो, आगे की तटस्थता-सूचक ११ दलीलों में से ४, ५, ७, ६ नम्बर की दलीलें।

३९. देखो, श्लोक नं० १३५ से।

समझता, उसके पाठभेदों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली कल्पना को सँभालता और शब्द तथा अर्थ से पठन-पाठन-द्वारा अपने श्रुतका विस्तार करता था। यही वर्ग वाचक४० रूपसे प्रसिद्ध हुआ। इसी कारण से इसे पट्टावलीमें वाचकवंश कहा गया हो ऐसा जान पड़ता है। प्रत्येक साधुका काम चाहे वह सामान्य साधु हो या आचार्य-उपाध्याय हो, शास्त्रके पढ़ने-पढ़ानेका तो है ही; ऐसी स्थितिमें पट्टावलीमें जो एक जुदे वाचकवंशका निर्देश आता है और अमुक ही आचार्यों के उस वंशमें होने का वर्णन है वह इस बात को सूचित करता है कि वाचकवंशके नामसे उल्लेखित अमुक वर्ग कोई सामान्य साधुवर्ग जैसा नहीं था, बल्कि वह एक श्रुतसंरक्षक और श्रुतके पठन-पाठन का काम करने वाला यथार्थ नामधारी विशिष्ट वर्ग था। इस वर्गमें श्रुताभ्यासके विना कोई दाखिल नहीं हो सकता था। आजकल जैसे पंन्यास, गणी, उपाध्याय और आचार्यकी पदवी श्रुतके अभ्यास विना भी प्राप्त करनी आसान है वैसा उस वर्गमें दाखिल होनेके लिये नहीं था। वाचकवंशमें दाखिल होनेका अभिप्राय श्रुत का विशिष्ट अभ्यास और उसके प्रचारका काम करना ही था। इसके परिणामस्वरूप वाचकपदधारी साधु नये नये ग्रन्थों की रचना करनेकी सामर्थ्य रखते थे और अपने समयमें अपने इधर उधर जो विविध दार्शनिक विचारसरणियाँ बह रही थीं उनका और विविध शास्त्रों का अभ्यास भी करते थे; इतना ही नहीं किन्तु वे प्राकृत भाषाके रूढिबद्ध क़िलेको तोड़कर उस समय की दार्शनिकप्रिय संस्कृत जैसी भाषाओंको सीखनेकी प्रेरणा करते, और अपने को विरासत में मिला हुआ ज्ञान जैनेतर तत्वज्ञोंके ग्राह्य बने इसके लिये विद्वत्प्रिय संस्कृत जैसी भाषामें ग्रन्थ भी लिखते थे। इस वाचक-वंश के विद्वान साधुओंको पक्षापक्षी, गच्छभेद और बिलकुल तुच्छ-जैसी कर्मकांड-विषयक विरोधकी बातों में रस नहीं था; उनका मुख्य रस शास्त्रचिंतन, शास्त्र-संरक्षण, शास्त्रनिर्माण और शास्त्रप्रचारकी तरफ ही था। ऐसे वाचकवंशमें, जिसे दिगम्बरपने की कोई पक्ष न थी अथवा श्वेताम्बर कहलाने का कुछ भी मोह न था, उमास्वाति हुए हों ऐसा मालूम होता है। इसकी पुष्टिमें यह भी जान लेना चाहिये कि उमास्वाति अपने दीक्षागुरु, विद्यागुरु और दीक्षा तथा विद्याके प्रगुरु इन सब को 'वाचक' रूपसे ही उल्लेखित करते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु उन सब प्रगुरुओं को 'वाचक मुख्य' तथा 'महा वाचक' रूपसे उल्लेखित करते हैं, और अपने दीक्षागुरु को 'एकादश-अंगधारक' ऐसा

४० पठन-पाठनमें ही मुख्यरूपसे परायण एक ऐसा वाचक-वंश था, इस कल्पना की पुष्टिमें वाचकवंश को नमस्कार करने वाली आवश्यकनिर्युक्ति की एक गाथा दी जा सकती है—

"एक्कारस वि गणहरे पवयए पवयणस्स वंदामि।
सव्वं गणहरवंसं वायगवंसं पवयणं च॥"

वाचकका अर्थ पाठक और उपाध्याय है। पांच परमेष्ठिमें चौथा पद उपाध्यायका है। वास्तवमें उपाध्याय पदका महत्व उसके शास्त्र-रक्षण और प्रचारके गंभीर कर्तव्योंसे सिद्ध हुआ है, न कि मात्र उपाध्याय-पदवीके कर्तव्यविहीन आरोपण से। यह बात उक्त गाथा से सूचित होती है।

इसी अभिप्राय की पुष्टि करने वाला एक स्पष्ट उल्लेख आवश्यक चूर्णिमें पाया जाता है, उसमें गणधरवंश और वाचकवंश इन दो का निर्देश है और वाचकवंशकी उसमें व्याख्या की है कि वाचक-वंश अर्थात् वह जिसने परम्परासे सामायिक आदि अर्थ और ग्रंथ पढ़ाया (पढ़ाया) है। इस चूर्णिका पाठ इस प्रकार है:—

"सव्वं गणहरवंसं अज्जसुहम्मे० थेरावलिया वा जेहिं जाव अम्हं सामाइयमादीयं वादितं। वायगवंसो णाम जेहिं परंपरए णं अत्थो गंथो य वादितो अन्नो गणहर वंसो अन्नो य वायगवंसो तेण पत्तेयं क्रियते।"

विशेषण देकर उनकी खास विशिष्टता सूचित करते हैं।

वाचक उमास्वाति दिगम्बर तथा श्वेताम्बर इन दो विरोधी पक्षोंसे बिलकुल तटस्थ ऐसी एक पूर्व कालीन जैन परम्परामें हुए थे, इस आशय की ऊपरकी कल्पना जिन बातों को लेकर मुझे हुई है वे बातें संक्षेपमें इस प्रकार हैं:—

१ श्वेताम्बरीय आगम आदि सभी ग्रन्थोंमें नव तत्त्व गिनाये गये हैं जब कि तत्त्वार्थसूत्रमें सात गिना कर[४१] सातमें ही नवका समावेश किया है। यह तत्वसंबंधी सात संख्याकी परम्परा श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे जुदी पड़ती है। इसी प्रकार दिगम्बरीय कुंदकुन्दके ग्रन्थोंसे भी भिन्न पड़ती है।

२ श्वेताम्बरीय किसी भी आगम अथवा दूसरे ग्रंथमें नयका जिस प्रकारका विभाग नजर पड़ता है उसकी अपेक्षा बिलकुल जुदी ही प्रकारका विभाग तत्वार्थसूत्रमें पाया जाता है[४२]। आगम और आगमानुसारी निर्युक्ति आदि ग्रन्थोमें सात नय सीधे तौर पर[४३] कहे गये हैं। सिद्धसेन दिवाकर छह नय कहते हैं। जब कि तत्त्वार्थसूत्रमें पहले पाँच नय बता कर पश्चात् पाँचवें नयके तीन भेद किये गये हैं और इन तीन भेदों में भी जो 'सांप्रत' ऐसा नाम है वह तत्वार्थके सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं। यद्यपि तात्विक दृष्टिसे तत्वार्थगत और आगमगत नयोंके मन्तव्यमें भेद नहीं, तो भी विभाग और नामके विषयमें तत्वार्थ की परम्परा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओंसे स्पष्टतया जुदी पड़ती है।

३ श्रावकोंके बारह व्रतोंके वर्णनमें तत्वार्थसूत्रका क्रम[४४] श्वेताम्बरीय समग्र ग्रन्थोंसे निराला है, तत्वार्थ में सातवाँ 'देशव्रत' और ग्यारहवाँ 'उपभोग परिभोगव्रत' गिनाया गया है जब कि श्वेताम्बरीय सभी ग्रन्थों में यह सातवाँ व्रत 'देशावकाशिक' नामके दसवें व्रतरूपसे और ग्यारहवें 'उपभोगपरिभोगव्रत' को सातवें व्रतरूपसे वर्णन किया गया है, इसमें सिर्फ क्रमका ही परम्पराभेद है, तात्विक भेद कुछ भी नहीं।

४ तत्वार्थसूत्रमें जो पाप और पुण्य प्रकृतियोंका विभाग है[४५] वह इस समय उपलब्ध किसी भी श्वेताम्बरीय या दिगम्बरीय परम्परामें नहीं। तत्वार्थसूत्रमें पुरुष वेद, हास्य, रति और सम्यक्त्व मोहनीय इन चारको पुण्य प्रकृतियोंमें गिनाया है जब कि सभी श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय ग्रन्थों की परम्परामें ऐसा नहीं है।

५ तपके एक भेदरूप प्रायश्चित्तके नव भेद तत्वार्थ के मूल सूत्र[४६] में ही हैं, जब कि पुराने श्वेताम्बरीय आगमोंमें इसके दश भेद[४७] कहे गये हैं।

६ अ० १ सू० ८ के भाष्यमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि शब्दोंका अर्थ अनुक्रमसे छाद्मस्थिक सम्यक्त्व और केवलिगत सम्यक्त्व ऐसा किया गया है। ऐसा अर्थभेद तत्वार्थ

४१ देखो, १, ४ तत्त्वार्थसूत्रमें तत्वों की संख्या सात है। तब प्रशमरतिमें—कारिका १८९ में—यह सख्या नव दी है। एक ही कर्त्ता दो जुदा जुदा ग्रंथोंमे दो जुदी जुदी संख्या कैसे बतावे? यह एक सवाल है। परन्तु यदि दूसरे तौर पर दोनों ग्रंथोंके एक ही कर्तृक होने का प्रमाण मिलता हो तो इस विरोधगर्भित सवालका समाधान दुष्कर नहीं। एक ग्रन्थमें प्रसिद्धिके अनुसार नव तत्त्व बतलाए हों और दूसरे ग्रन्थमें उसी ग्रन्थकारने विचार कर सात संख्या डाल कर अपना व्यक्तित्व दिखाया हो ऐसा बनना संभवित है। बहुतसे ग्रंथकार अपनी जुदी जुदी कृतियोंमे एक ही वस्तु को अनेक रूपसे प्रतिपादन करते हुए पहलेसे देखे जाते हैं।

४२ देखो, १, ३४–३५

४३ 'सीधे तौर पर' इस लिये कि पांच नयों का प्रकारांतरसे निर्युक्तिमें कथन है ही। (विशेशावश्यक भाष्य गाथा २२६४) यह 'प्रकारान्तर' तत्त्वार्थमे आई हुई परम्परा का होवे ऐसा संभव है।

४४ देखो ७, १६। ४५ देखो, ८, २६। ४६ देखो, ६ २२। ४७ उत्तराध्ययन अध्ययन ३० गाथा ३१।

के सिवाय किसी भी श्वेताम्बरीय आगम में अथवा दिगम्बरीय प्राचीन ग्रन्थोंमें दिखाई नहीं देता । इस अर्थभेदके कारण सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि शब्दों की परिभाषा सिर्फ भाष्य में जुदी घड़ी गई है ।

७ यद्यपि इस समय उपलब्ध भाष्य में ५६ अन्तरद्वीपोंका वर्णन है[४८] परन्तु इस भाष्यके ऊपर उपलब्ध दोनों टीकाओंके रचयिता श्वेताम्बरीय आचार्य कहते हैं कि भाष्योंमें ९६ अन्तरद्वीप दिखाई देते हैं । इस कथनसे ऐसा सूचित होता है कि टीकाकारोंके समय में भाष्योंमें[४९] अन्तरद्वीपों की संख्या ९६ वर्णित थी । यह वर्णन सभी श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंसे विरुद्ध है । यदि वा० उमास्वाति श्वेताम्बरीय परम्पराके होते तो कभी श्वेताम्बरीय आगम आदि ग्रन्थोंके बिलकुल विरुद्ध और केवल दिगम्बरीय ग्रंथोंमें ही जो मिलता है ऐसा अन्तरद्वीपोंका वर्णन करते ही नहीं ।

८ तत्वार्थभाष्यमें[५०] जो दूसरे संहनन का 'अर्ध वज्रर्षभनाराच' ऐसा नाम है और पर्याप्तियों की पाँच संख्या[५१] है वह सामान्य रूपसे श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय ग्रन्थों की प्रसिद्ध परम्परासे भिन्न है ।

९ दस यतिधर्ममें तपके वर्णन प्रसंग पर भिक्षुकी बारह प्रतिमाओं का वर्णन है । उनमेंसे आठवीं, नववीं और दसवीं इन तीन प्रतिमाओं को भाष्यमें[५२] क्रमशः सात, चौदह और इक्कीस रात्रिके परिमाणवाली कहा है । भाष्यके इस कथन को किसी भी श्वेताम्बरीय सूत्रका आधार नहीं । भाष्य की इस परंपरा की अपेक्षा श्वेताम्बरीय आगम की परंपरा जुदी ही है । क्योंकि आगममें ये तीनों प्रतिमाएँ सात सात रात की परिमाण वाली वर्णित हैं । ऐसा भाष्यके ही टीकाकार कहते हैं, इससे इस विषयमें भाष्य और आगम की परंपरा जुदी है ।

१० पुलाक, बकुश आदि निर्ग्रन्थोंमें श्रुत और प्रतिसेवना का निरूपण करते हुए भाष्यमें जो कुछ कहा गया है[५३] उसे भाष्यके ही टीकाकार श्वेताम्बरीय आगमपरम्परासे भिन्न प्रकारका कह कर आगम परंपरा कैसी है उसे बतलाते हैं । उदाहरणके तौर पर भाष्यमें पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील को अधिकसे अधिक दशपूर्वधर कहा है जब कि आगममें नवपूर्वधर कहा है इत्यादि । दिगम्बर परम्पराके टीकाग्रन्थोंमें यह बात शब्दशः भाष्यके अनुसार ही है ।

११ सबसे अन्त की तथा महत्व की दलील यह है कि यदि वा० उमास्वाति रूढ श्वेतांबरीय अथवा रूढ दिगंबरीय होते तो चाहे जैसे महत्व का होते हुए भी उनका मूल तत्त्वार्थ शास्त्र जिस प्रकार प्रथमसे आज तक उभय संप्रदाय को मान्य होता आया है उस प्रकार मान्य न होता और भाष्यमें कहीं कहीं सर्वार्थसिद्धि की तरह विरोधी संप्रदायका थोड़ा बहुत खंडन अवश्य होता । परन्तु ऐसा नहीं है । उदाहरणके तौर पर ८ वें अध्यायके प्रथम सूत्र की सर्वार्थसिद्धिमें मिथ्यादर्शन की व्याख्या करते हुए पूज्यपादने प्रथम तो जैनेतर दर्शनों को मिथ्यादर्शन कहा है और बाद में सम्प्रदायका अभिनिवेश न रोक सकनेसे 'अथवा' ऐसा कह कर श्वेताम्बर मान्यताओं को भी मिथ्यादर्शन कह दिया है । इस स्थल पर भाष्यमें श्वेताम्बर या दिगम्बर किसीके विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा गया । मात्र जैन दर्शन का ही पोषक होवे ऐसा सामान्य कथन है ।

श्वेतांबर और दिगंबर संप्रदायमें विरोध का बीज पहलेसे आज तक मुख्य रूपसे यह चला आता है कि भिक्षुओंको कपड़ा रखना या नहीं रखना; ऐसे प्रबल

४८ देखो, ३, १५ । ४९ वृत्तिकार द्वारा प्रयुक्त **'भाष्येषु'** इस बहुवचनसे क्या तो भाष्य की प्रतियां ऐसा अर्थ हो और क्या उस समय मिलती दूसरी टीकाएँ ऐसा हो, ऐसा ज्ञात पड़ता है ।

५० देखो, ८, १२ । ५१ सभी श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें छह पर्याप्ति की परम्परा है, और वही प्रसिद्ध है । मात्र राजप्रश्नीयसूत्रमें पृ० ९८ पर भाषा और मनको एक गिन कर पांच पर्याप्तियों का कथन है । ५२ देखो, ९, ६ ।

५३ देखो, ९, ४९ ।

विरोध की मूल बातके संबंधमें सूत्र[५४] वा भाष्यमें वा० उमास्वाति कुछ भी स्पष्ट नहीं कहते। साधुओंकी बाईस परीषाहोंको गिनाते हुए वे 'नग्नत्व' परीषहको आगम के अनुसार गिनाते हैं, परन्तु 'नग्नत्व' का अभिप्राय क्या ? इस संबंधमें भाष्य तकमें कुछ भी कहते नहीं। जब कि भाष्य पर की टीकाओंमें श्वेतांबर आचार्य भिक्षुकोंके वस्त्र धारण करने संबंधी स्वसम्मत मर्यादा का विस्तृत वर्णन देते हैं और इसी 'नग्नत्व' परीषह के ऊपर लिखते हुए दिगंबरीय टीकाकार अपने को अभीष्ट ऐसे बिलकुल नग्न रहनेके अर्थ को स्पष्ट करते हैं। निर्विवाद श्वेतांबरीय और दिगंबरीय आचर्यों की टीकाओंमें जो संप्रदाय विरोध स्पष्ट दिखलाई देता है वह सूत्र या भाष्य तकमें नहीं है। किसी भी एक रूढ संप्रदायमें पड़नेके बाद उस संप्रदायके अभिनिवेशी वातावरणके वश न हो कर जो तत्त्वार्थ लिखा गया होता तो वह उस संप्रदायमें कभी प्रमाण रूप नहीं माना जाता, यह बात ऐसी है जिसे संप्रदायोंके इतिहास जानने वाले सहज ही समझ सकते हैं।

सारांश पट्टावलियोंमें आए हुए वाचक वन्शसूचक उल्लेखसे, उमास्वातिकी प्रशस्तिमें सबके साथ संयुक्त 'वाचक' पदके विशेषणसे, मथुरा में होने वाली वाचनाके अग्रेसर अनुयोगधर स्कंदिलाचार्य के इतिहाससे, तथा इस समय विद्यमान आगमपाठमें अनुयोगधर नागार्जुन के पाठन्तरों की चर्चा आई नोंध (यादृदाश्त)से, और अन्तमें ऊपर की ११ दलीलों से ऐसा माननेके लिये जी ललचाता है कि 'वाचक' नामका एक विशिष्ट विद्याप्रिय वर्ग[५५] तटस्थरूपसे चला आता था और उसी वंशमें उमास्वाति हुए हैं।

ऐसा होते हुए भी उस वंशको तथा उस वंश की उच्चनागर जैसी शाखाको श्वेताम्बरीय पट्टावली में स्थान मिला और दिगम्बरोंने अपनी पट्टावली में उन्हें स्थान नहीं दिया, इसका क्या कारण ? इस प्रश्नका उत्तर सुगम है और वह यह है कि जिन प्रबल मतभेद और विरोध की बातों के कारण एक पक्ष जुदा पड़ा और जो आगे जाकर दिगम्बर रूपसे रूढ हो गया वे बातें प्रथमसे ही वाचक वंशके श्रुतमें थी और वे मूल परंपरा की होकर श्वेताम्बर पक्षके साथ अधिक ठीक बैठती थी; इसीसे एक बार तटस्थ रहने वाला भी यह वाचकवंश श्वेताम्बर पट्टावली में दाखिल हो गया और वह कभी तटस्थ था यह बात ही भुला दी गई। श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने साथ कोई खास विरोध

५४, देखो, ६ ६,

५५ प्राचीन परम्परामें ऐसे कितने ही विद्याप्रिय तथा तटस्थ वर्गोंकी बहुत थोड़ी याददास्त रक्खी गई है। ऐसे वर्गोंमें का एक वर्ग 'यापनीयतन्त्र' या 'यापनीय संघ' के नामसे प्रसिद्ध है। इस वर्ग के कितने ही बाह्य आचार दिगम्बर सम्प्रदायसे मिलते आते हैं—अर्थात, यह भी नग्न रहता है इत्यादि। और इसके कितने ही धार्मिक सिद्धान्त श्वेताम्बर सम्प्रदाय से मिलते हैं—अर्थात, केवलज्ञानी भी अपने समान अनासक्त भावसे भोजन लेते हैं और स्त्रियां भी स्त्रीशरीर-द्वारा ही निर्वाणकी अधिकारिणी हो सकती हैं इत्यादि। एक तरहसे देखा जाय तो यह वर्ग लगभग तटस्थ जैसा है। जब यह वर्ग दक्षिण हिन्दुस्तान में था तब दिगम्बर पथके कट्टर धर्मगुरु अपनी सम्प्रदाय के लोगों को कहते थे कि 'इन यापनीयोंसे सावधान रहना। ये तो अन्दर से श्वेताम्बरियों जैसे हैं और मात्र बाहर से ही दिगम्बरी लगते हैं। जब वलभी में सेवड़-श्वेतपट-संघ उत्पन्न हुआ तब ये भी उसीमेंसे निकले हैं।' और श्वेताम्बर पथके कट्टर धर्मगुरु अपने सम्प्रदायके लोगों को कहते थे कि 'इस यापनीय मतसे सावधान रहियो—यह तो खरा दिगम्बरीय है परन्तु हमें ठगने के लिये थोड़ी थोड़ी बातें हमारी मान्यतानुसार कहता है।' भले प्रकार विचारिये तो यह पक्ष जैसे रूढ दिगम्बर नहीं था वैसे रूढ श्वेताम्बर भी नहीं था। यह तो तटस्थरूप से रहने वाला और उपयोगी मान्यताओंको मानने वाला एक मध्यस्थ वर्ग था। इस सम्बन्धमें डा० ल्युडर्सने जो लिखा है वह बांचने योग्य है। उसके लिये देखो, एपिग्रेफिका इंडिका वो० ४ पृ० ३३८ अन्तिम पैरेग्राफ़। तथा हॉर्नेल-संपादित दिगम्बरीय पट्टावली; इंडियन ऐंटिक्वेरी वो० २१ पृ० ६७ फुटनोट १६, १७ और एपिग्रेफिका कर्णाटिका वो० १२ प्रस्तावना पृ० ५ पैरेग्राफ पहला दूसरा।

जिस प्रकार यह वर्ग तटस्थ था उसी प्रकार यह वाचक वर्ग भी तटस्थ हो, इसे श्वेताम्बर या दिगम्बर किसी की पर्वाह न हो, मात्र सत्य और सदाचारको मुख्य रख कर इस वंशकी परम्परा चलती हो, ऐसा इन उमास्वाति वाचककी कृति पर से समझा जा सकता है।

आता हुआ न होनेसे इस वंशको अपना ही कर लिया और इस वंशमें जो कुछ थोड़ी बहुत तत्त्वज्ञान-संबंधी या आचार-सम्बन्धी भिन्न मान्यताएँ थीं उन्हें भी मत-भेदके रूपमें अथवा सिद्धान्तके रूपमें अपना कर अपने मे शामिल कर लिया।

सूत्र और भाष्य दोनों को प्रमाणभूत मान कर उनके ऊपर टीका लिखने वाले श्वेताम्बर आचार्योंकी दृष्टि में से वा० उमास्वातिकी तटस्थ परम्परा सम्बंधी ऐतिहासिक सत्य भुला दिया गया, जिससे वे सब यही मानते कि वाचक तो हमारे जैसा रूढ श्वेताम्बरीय होकर हमारे सदृश ही आगमपरम्परा का धारक होना चाहिये। इससे भाष्यके ऊपर टीका लिखते हुए जहाँ जहाँ श्वेताम्बर आचार्यों को अपनी प्रचलित परम्परा की अपेक्षा भिन्नता मालूम पड़ी है वहाँ उन्होंने वाचक को या तो 'सूत्रानभिज्ञ' और 'प्रमत्त' ५६ जैसे शब्दों से सत्कारित किया है और या यह वस्तु प्रक्षिप्त अथवा आगम से जुदी है, इतना ही कह कर संतोष ५७ पकड़ा है; और कहीं तो अपनी चालू परम्परा की अपेक्षा जुदा ही वर्णन देख कर यहाँ तक भड़के हैं कि, भाष्यके इस स्थल का असली भाग किसी के द्वारा नष्ट हो गया है और उपलब्ध भाग प्रक्षिप्त है ऐसा कह कर उन्होंने यथार्थ पाठको प्रक्षिप्तपने की भ्रांति से फेंक दिया और उसके स्थान पर अपनी परम्परा के अनुसार आगमानुसारी पाठ जैसा होना चाहिये वैसा बना कर असली भाष्यके रूपमें उसे ग्रथित कर दिया ५८! यदि रूढ श्वेताम्बरीय टीका-कारोंने वा० उमास्वाति को तटस्थ परम्परा का समझा होता तो वैसे मतभेद वाले स्थलों में अधिकांशतः इतना ही कहते कि इस विषयमें ऐसा भी मतान्तर है।

५६. "नेदं पारमर्षप्रवचनानुसारि भाष्यं किं तर्हि? प्रमत्तगीतमेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवंविधमार्षविसंवादि निबध्नीयात्? सूत्रानवबोधादुपजातभ्रान्तिना केनापि रचितमेतद्वचनकम्।" ६,६ की भाष्यवृत्ति पृ० २०६

५७ देखो, ३, ६ तथा ६, ४६ के भाष्यकी दोनों वृत्तियां।

५८ "एतच्चान्तरद्वीपकभाष्यं प्रायो विनाशितं सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धैर्येन षण्णवतिरन्तरद्वीपका भाष्येषु दृश्यन्ते। अनार्षं चैतदध्यवसीयते जीवाभिगमादिषु षट्पंचाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात् × × ×"।
—३, १५ की भाष्यवृत्ति पृ० २६७

जाति और जन्म-स्थान

प्रशस्ति में स्पष्टरूपसे जाति-विषयक कोई कथन नहीं, तो भी माताका गोत्रसूचक 'वात्सी' नाम इसमें मौजूद है और 'कौभीषणि' यह भी गोत्रसूचक विशेषण है। गोत्र का यह निर्देश उमास्वातिके ब्राह्मण जातिके होने की सूचना करता है. ऐसा कहना गोत्र-परम्पराको ठेठसे पकड़ रखने वाली ब्राह्मण जातिके वंशानुक्रमके अभ्यासी को शायद ही सदोष मालूम पड़े। वाचक उमास्वाति के जन्मस्थान-रूपसे प्रशस्ति 'न्यग्रोधिका' ग्राम का निर्देश करती है, यह न्यग्रोधिका स्थान कहाँ है, इसका इतिहास क्या है और इस समय उसकी क्या स्थिति है? यह सब अंधकारमें है। इसकी शोध करनी यह एक रसका विषय है। तत्त्वार्थ-सूत्रके रचनास्थान-रूपसे प्रशस्तिमें 'कुसुमपुर' का निर्देश है। यही कुसुमपुर इस समय विहार का पटना है। प्रशस्तिमें कहा गया है कि विहार करते करते पटने में तत्त्वार्थ रचा। इस परसे नीचे की कल्पनाएँ स्फुरित होती हैं—

१ उमास्वातिके समयमें और उससे कुछ पहले-पीछे मगधमें जैन भिक्षुओं का खूब विहार था, ऐसा होना चाहिये और उस तरफ जैन संघ का बल तथा आकर्षण भी होना चाहिये।

२ विशिष्ट शास्त्रके लेखक भी जैन भिक्षुक अपनी अनियत स्थानवास की परंपरा को बराबर क़ायम रख रहे थे और ऐसा करके उन्होंने अपने कुल को 'जंगम विद्यालय' बना दिया था।

३ विहारस्थान पाटलीपुत्र (पटना) और मगध देशसे जन्मस्थान न्यग्रोधिका सामान्य तौर पर बहुत दूर तो नहीं होगा।

परिशिष्ट

मैंने पं० नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० जुगलकिशोर जी मुख़्तारसे उमास्वाति तथा तत्त्वार्थसे सम्बन्ध रखने वाली बातोंके विषयमें कुछ प्रश्न पूछे थे, उनका जो उत्तर उनकी तरफ़से मुझे मिला है उसका मुख्य भाग उन्हीं की भाषामें अपने प्रश्नोंके साथ ही नीचे दिया जाता है। ये दोनों महाशय ऐतिहासिक दृष्टि रखते हैं और वर्तमानके दिगम्बरीय विद्वानोंमें, ऐतिहासिक दृष्टि से, इन दोनों की योग्यता उच्च कोटि की है। इससे अभ्यासियोंके लिये उनके विचार कामके होनेसे उन्हें परिशिष्टके रूपमें यहाँ देता हूँ। पं० जुगलकिशोरजीके उत्तर परसे जिस अंश-विषयमें मुझे कुछ कहना है उसे उनके पत्रके बाद 'मेरी विचारणा' शीर्षकके नीचे यहीं बतला दूँगा:—

प्रश्न

१ उमास्वाति कुन्दकुन्द का शिष्य या वंशज है इस भाव का उल्लेख सबसे पुराना किस ग्रन्थमें, पट्टावलीमें या शिलालेखमें आपके देखनेमें अब तकमें आया है? अथवा यों कहिये कि दसवीं सदीके पूर्ववर्ती किस ग्रन्थ, पट्टावली आदिमें उमास्वातिका कुन्दकुन्दके शिष्य होना या वन्शज होना अब तकमें पाया गया है?

२ आपके विचारमें पूज्यपाद का समय क्या है? तत्त्वार्थ का श्वेताम्बरीय भाष्य आपके विचारसे स्वोपज्ञ है या नहीं यदि स्वोपज्ञ नहीं है तो उस पक्षमें महत्त्व की दलीलें क्या हैं?

३ दिगम्बरीय परम्परामें कोई 'उच्चनागर' नामक शाखा कभी हुई है और वाचकवंश या वाचकपद धारी कोई मुनिगण प्राचीन कालमें कभी हुआ है और हुआ है तो इसका वर्णन या उल्लेख किसमें है?

४ मुझे संदेह है कि तत्त्वार्थसूत्रके रचियता उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्य हों; क्योंकि कोई भी प्राचीन प्रमाण अभी तक मुझे नहीं मिला, जो मिले वे सब बारहवीं सदीके बादके हैं। इस लिये उक्त प्रश्न पूछ रहा हूँ, जो सरसरी तौरसे ध्यानमें आवे सो लिखना।

५ प्रसिद्ध तत्वार्थशास्त्र की रचना कुन्दकुन्दके शिष्य उमास्वातिने की है इस मान्यताके लिये दसवीं सदीसे प्राचीन क्या क्या सबूत या उल्लेख हैं और वे कौन से? क्या दिगम्बरीय साहित्यमें दसवीं सदीसे पुराना कोई ऐसा उल्लेख है जिसमें कुन्दकुन्दके शिष्य उमास्वातिके द्वारा तत्त्वार्थसूत्रकी रचना किये जानेका सूचन हो या कथन हो?

६ "तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्" इत्यादि पद्य कहाँ का है और कितना पुराना है?

७ पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्दि आदि प्राचीन टीकाकारों ने कहीं भी तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता रूपमें उमास्वाति का उल्लेख किया है? और नहीं किया है तो पीछेसे यह मान्यता क्यों चल पड़ी?

प्रेमीजीका पत्र

"आपका ता० ६ का कृपापत्र मिला। उमास्वाति कुन्दकुन्दके वंशज हैं, इस बात पर मुझे ज़रा भी विश्वास नहीं है। यह वंशकल्पना उस समय की गई है जब तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक आदि टीकाएँ बन चुकी थीं और दिगम्बर सम्प्रदाय ने इस ग्रंथ को पूर्णतया अपना लिया था। दसवीं शताब्दीके पहले का कोई भी उल्लेख अभी तक मुझे इस संबन्धमें नहीं मिला। मेरा विश्वास है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें जो बड़े बड़े विद्वान् ग्रंथकर्ता हुए हैं, प्रायः वे किसी मठ या गद्दीके पट्टधर नहीं थे। परंतु जिन लोगों ने गुर्वावली या पट्टावली बनाई हैं उनके मस्तकमें यह बात भरी हुई थी कि जितने भी आचार्य या ग्रन्थकर्ता होते हैं वे किसी-न-किसी गद्दीके अधिकारी होते हैं। इस लिये उन्होंने पूर्ववर्ती सभी विद्वानों की इसी भ्रमात्मक विचारके अनुसार खतौनी कर डाली है और उन्हें पट्टधर बना डाला है। यह तो उन्हें मालूम नहीं था कि उमास्वाति और कुन्दकुन्द किस किस समयमें हुए हैं; परंतु चूँकि वे बड़े आचार्य थे और प्राचीन थे, इस लिये उनका संबन्ध जोड़ दिया और गुरुशिष्य या शिष्यगुरु बना दिया। यह सोचनेका उन्होंने कष्ट नहीं उठाया कि कुंदकुंद कर्णाटक देशके

कुंडकुंड ग्रामके निवासी थे और उमास्वाति विहारमें भ्रमण करने वाले। इनके संबन्ध की कल्पना भी एक तरहसे असंभव है।

श्रुतावतार, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रंथोंमें जो प्राचीन आचार्य परंपरा दी हुई है उसमें उमास्वाति का बिलकुल उल्लेख नहीं है। श्रुतावतारमें कुन्दकुन्द का उल्लेख है और उन्हें एक बड़ा टीकाकार बतलाया है परंतु उनके आगे या पीछे उमास्वाति का कोई उल्लेख नहीं है। इंद्रनन्दि का श्रुतावतार यद्यपि बहुत पुराना नहीं है फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि, वह किसी प्राचीन रचनाका रूपान्तर है और इस दृष्टिसे उसका कथन प्रमाण कोटिका है। 'दर्शनसार' ९९० संवत का बनाया हुआ है, उसमें पद्मनन्दी या कुन्दकुन्द का उल्लेख है परंतु उमास्वाति का नहीं। जिनसेनके समय राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक बन चुके थे, परंतु उन्होंने भी बीसों आचार्यों और ग्रन्थकर्ताओंकी प्रशंसाके प्रसंगमें उमास्वाति का उल्लेख* परंपरा का नहीं समझते थे। एक बात और है आदिपुराण, हरिवंशपुराण आदिके कर्ताओंने कुन्दकुन्द का भी उल्लेख नहीं किया है, यह एक विचारणीय बात है।

मेरी समझमें कुन्दकुन्द एक खास आम्नाय या सम्प्रदायके प्रवर्तक थे। इन्होंने जैन-धर्म को वेदान्तके साँचेमें ढाला था? जान पड़ता है कि जिनसेन आदि के समय तक उनका मत सर्वमान्य नहीं हुआ और इसी लिये उनके प्रति उन्हें कोई आदर भाव नहीं था।

"तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्" आदि श्लोक मालूम नहीं कहाँका है और कितना पुराना है? तत्त्वार्थसूत्रकी मूल प्रतियोंमें यह पाया जाता है। कहीं कहीं कुन्दकुन्दको भी गृद्धपिच्छ लिखा है। गृद्धपिच्छ नामके एक और भी आचार्यका उल्लेख है। जैनहितैषी भाग १० पृष्ठ ३६९ और भाग १५ अंक ६के कुन्दकुन्द-सम्बंधी लेख पढ़वा कर देख लीजियेगा।

* यहां पर कुछ अंश देनेसे छूट गया मालूम होता है।

—सम्पादक

षट्पाहुडकी भूमिका भी पढ़वा लीजियेगा

श्रुतसागर ने आशाधरके महाभिषेक की टीका संवत १५८२ में समाप्त की है। अतएव ये विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीके हैं। तत्वार्थकी वृत्तिके और षट्पाहुडका तथा यशस्तिलकटीकाके कर्ता भी यही हैं। दूसरे श्रुतसागर के विषय में मुझे मालूम नहीं।"

मुख्तार जुगलकिशोरजीका पत्र

"आपके प्रश्नों का मैं सरसरी तौर से कुछ उत्तर दिये देता हूँ:—

१ अभी तक जो दिगम्बर पट्टावलियाँ ग्रन्थादिकों में दी हुई गुर्वावलियोंसे भिन्न उपलब्ध हुई हैं वे प्रायः विक्रमकी १२ वीं शताब्दी के बाद की बनी हुई जान पड़ती हैं, ऐसा कहना ठीक होगा। उनमें सबसे पुरानी कौनसी है और वह कबकी बनी हुई है, इस विषयमें मैं इस समय कुछ नहीं कह सकता। अधिकांश पट्टावलियों पर निर्माणके समयादिका कुछ उल्लेख नहीं है और ऐसा भी अनुभव होता है कि किसी किसी में अंतिम आदि कुछ भाग पीछेसे भी शामिल हुआ है ×

कुन्दकुन्द तथा उमास्वातिके संबंध वाले कितने ही शिलालेख तथा प्रशस्तियाँ हैं परंतु वे सब इस समय मेरे सामने नहीं हैं। हाँ, श्रवणबेल्गोल के जैन शिलालेखोंका संग्रह इस समय मेरे सामने है, जो माणिकचंद्रग्रन्थमाला का २८ वाँ ग्रन्थ है। इसमें ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५ और १०८ नंबर के ७ शिलालेख दोनोंके उल्लेख तथा सम्बंधको लिये हुए हैं। पहले पाँच लेखों में 'तदन्वये' पदके द्वारा और नं०१०८में 'वंशे तदीये' पदोंके द्वारा उमास्वातिको कुंदकुंद के वंशमें लिखा है। प्रकृत वाक्योंका उल्लेख 'स्वामी समन्तभद्र' के पृ०१५८ पर फुटनोट में भी किया गया है। इनमें सबसे पुराना शिलालेख नं० ४७ है, जो शक सं० १०३७ का लिखा हुआ है।

× उत्तरका यह भाग पहले पत्र (ता०३१-७-२९) में दिये हुए, एक दूसरे ही प्रश्न नं०१ से सम्बन्ध रखता है, जिसे उक्त प्रश्नों में शामिल नहीं किया गया। सम्पादक

२ पूज्यपाद का समय विक्रमकी छठी शताब्दी है इसको विशेष जानने के लिये 'स्वामी समन्तभद्र' के पृ० १४१ से १४३ तक देखिये। तत्त्वार्थके श्वेताम्बरीय भाष्यको मैं अभी तक स्वोपज्ञ नहीं समझता हूँ। उस पर कितना ही संदेह है, जिस सबका उल्लेख करने के लिये मैं इस समय तय्यार नहीं हूँ।

३ दिगम्बरीय परम्परामें मुनियोंकी कोई उच्चनागर शाखा भी हुई है, इसका मुझे अभी तक कुछ पता नहीं है और न 'वाचकवंश' या 'वाचकपद' धारी मुनियों का ही कोई विशेष हाल मालूम है। हाँ, इतना स्मरण होता है कि किसी दिगम्बर ग्रन्थ में उमास्वातिके साथ 'वाचक' शब्द भी लगा हुआ है *।

४ कुन्दकुन्द और उमास्वातिके संबंधका उल्लेख नं० २ में किया जा चुका है। मैं अभी तक उमास्वाति को कुन्दकुन्दका निकटान्वयी मानता हूँ—शिष्य नहीं। हो सकता है कि वे कुन्दकुन्दके प्रशिष्य रहे हों और इसका उल्लेख मैंने 'स्वामी समन्तभद्र' में पृ० १५८, १५९ पर भी किया है। उक्त इतिहास में 'उमास्वाति-समय' और 'कुन्दकुन्द-समय' नामक के दोनों लेखों को एक बार पढ़ जाना चाहिये।

५ विक्रम की १० वीं शताब्दी से पहले का कोई उल्लेख मेरे देखनेमें ऐसा नहीं आया जिसमें उमास्वाति को कुन्दकुन्दका शिष्य लिखा हो।

६ "तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्" इत्यादि पद्य तत्वार्थसूत्र की बहुतसी प्रतियोंके अंतमें देखा जाता है, परन्तु वह कहाँ का है और कितना पुराना है यह अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

७ पूज्यपाद और अकलंकदेवके विषयमें तो अभी ठीक नहीं कह सकता परन्तु विद्यानंदिने तो तत्वार्थसूत्र के कर्ता रूपसे उमास्वाति का उल्लेख किया है—श्लोकवार्तिक में उनका द्वितीय नाम गृद्धपिच्छाचार्य दिया है और शायद आप्तपरीक्षा टीका आदि में 'उमास्वाति' नामका भी उल्लेख है।

इस तरह पर यह आपके दोनों पत्रों का उत्तर है, जो इस समय बन सका है। विशेष विचार फिर किसी समय किया जायगा।"

* 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' ग्रंथमें 'अन्वयावलि' का वर्णन करते हुए कुन्दकुन्द और उमास्वाति दोनोंके लिये 'वाचक' पद का प्रयोग किया गया है, जैसा कि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है: —

पुष्पोदन्तो भूतवलिः जिनचंद्रो मुनिः पुनः।
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रोमास्वातिवाचकसंज्ञितौ॥

—सम्पादक

मेरी विचारणा

विक्रम की ९ वीं शताब्दी के दिगम्बराचार्य विद्यानंदिने आप्तपरीक्षा (श्लो० ११९) की स्वोपज्ञवृत्तिमें "तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः" * ऐसा कथन किया है और तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिककी स्वोपज्ञ-वृत्ति (पृ० ६—पं०३१) में इन्हीं आचार्य ने "एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता" ऐसा कथन किया है। ये दोनों कथन तत्त्वार्थशास्त्रके उमास्वातिरचित होनेको और उमास्वाति तथा गृद्धपिच्छ आचार्य दोनोंके अभिन्न होनेको सूचित करते हैं ऐसी पं० जुगलकिशोरजी की मान्यता जान पड़ती है। परंतु यह मान्यता विचारणीय है, इससे इस विषय में मेरी विचारणा क्या है उसे संक्षेप में बतला देना योग्य होगा।

पहले कथन में 'तत्त्वार्थसूत्रकार' यह उमास्वामी वगैरह आचार्यों का विशेषण है, न कि मात्र उमास्वामीका। अब यदि मुख्तारजी के कथनानुसार अर्थ कीजिये तो ऐसा फलित होता है कि उमास्वामी वगैरह

* मेरे पास पं० ५ जाबराय नामके एक विद्वान् की लिखी हुई आप्तपरीक्षा-टीकाकी जो प्रति है उसमें ये "तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः" शब्द नहीं हैं, और देहलीके नये मन्दिर की जो पुरानी दो प्रतियां—एक सं० १८५१ की और दूसरी सं० १८८४ की लिखी हुई—हाल में देखी गई उनमें भी ये शब्द नहीं हैं। इससे मुद्रित प्रतिके ये शब्द प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं और इसी लिये मेरे पत्र में इन पर कोई खास जोर नहीं दिया गया था।

—सम्पादक

आचार्य तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता हैं। यहाँ तत्वार्थसूत्र का अर्थ यदि तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र किया जाय तो यह फलित अर्थ दूषित ठहरता है। क्योंकि तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र अकेले उमास्वामीका रचा हुआ माना जाता है, न कि उमास्वामी आदि अनेक आचार्योंका। इससे विशेषणगत तत्त्वार्थसूत्र पदका अर्थ मात्र तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र न करके जिनकथित तत्त्वप्रतिपादक सभी ग्रन्थ इतना करना चाहिये। इस अर्थ के करते हुए फलित यह होता है कि जिनकथित तत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थके रचने वाले उमास्वामी वगैरह आचार्य। इस फलित अर्थ के अनुसार सीधे तौर पर इतना ही कह सकते हैं कि विद्यानंदि की दृष्टिमें उमास्वामी भी जिनकथित तत्त्वप्रतिपादक किसी भी ग्रन्थके प्रणेता हैं। यह ग्रन्थ भले ही विद्यानंदिकी दृष्टि में तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र ही हो परंतु इसका यह आशय उक्त कथनमेंसे दूसरे आधारों के बिना सीधे तौर पर नहीं निकलता। इससे विद्यानंदिके आप्तपरीक्षागत पूर्वोक्त कथन परसे हम इसका आशय सीधी रीतिसे इतना ही निकाल सकते हैं कि उमास्वामीने जैनतत्वके ऊपर कोई ग्रंथ अवश्य रचा है।

पूर्वोक्त दूसरा कथन तत्त्वार्थाधिगमशास्त्रका पहला मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र सर्वज्ञवीतराग-प्रणीत है इस वस्तु को सिद्ध करने वाली अनुमानचर्चामें आया है। इस अनुमानचर्चामें मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञवीतराग-प्रणीतत्व यह साध्य है और सूत्रत्व यह हेतु है। इस हेतुमें व्यभिचार दोषका निरसन करते हुए विद्यानन्दिने '**एतेन**' इत्यादि कथन किया है। व्यभिचार दोष पक्षसे भिन्न स्थलमें संभवित होता है। पक्ष तो मोक्षमार्ग-विषयक प्रस्तुत तत्वार्थसूत्र ही है इस से व्यभिचार का विषयभूत माना जाने वाला गृद्धपिच्छाचार्य पर्यंत मुनियों का सूत्र यह विद्यानन्दि की दृष्टिमें उमास्वातिके पक्षभूत मोक्षमार्ग-विषयक प्रथम सूत्रसे भिन्न ही होना चाहिये, यह बात न्यायविद्याके अभ्यासीको शायद ही समझानी पड़े ऐसी है। विद्यानन्दि की दृष्टिमें पक्षरूप उमास्वातिके सूत्र की अपेक्षा व्यभिचार का विषय भूतरूपसे कल्पित किया गया सूत्र जुदा ही है, इसीसे उन्होंने इस व्यभिचार दोषको निवारण करनेके बाद हेतुमें असिद्धता दोष को दूर करते हुए "**प्रकृतसूत्रे**" ऐसा कहा है। प्रकृत अर्थात् जिस की चर्चा प्रस्तुत है वह उमास्वामीका मोक्षमार्गविषयक सूत्र। असिद्धता दोष का निवारण करते हुए सूत्र को 'प्रकृत' ऐसा विशेषण दिया है और व्यभिचार दोषको दूर करते हुए वह विशेषण नहीं दिया तथा पक्षरूप सूत्रके अन्दर व्यभिचार नहीं आता यह भी नहीं कहा। उलटा स्पष्टरूपसे यह कहा है कि गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्त मुनियोंके सूत्रोंमें (?) व्यभिचार नहीं आता। यह सब निर्विवाद रूपसे यही सूचित करता है कि विद्यानन्दि उमास्वामीसे गृद्धपिच्छको जुदा ही समझते हैं, दोनों को एक नहीं *। इसी अभिप्राय की पुष्टिमें

* लेखक महोदय की यह विचारणा ठीक नहीं है, क्योंकि श्लोकवार्तिक की मुद्रित प्रतिमें "**व्यभिचारिता निरस्ता।**" के बाद जो पूर्ण विराम का चिन्ह (।) छपा है वह अशुद्ध है—हस्तलिखित प्रतियोंमें वह नहीं देखा जाता। इससे अगला '**प्रकृतसूत्रे**' पद पूर्व वाक्यके साथ ही सम्बद्ध है और पूरा वाक्य "**एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता प्रकृतसूत्रे**" ऐसा होता है। ऐसी हालतमें, खुद लेखक महोदय की भी सूचनानुसार, किसी आपत्ति अथवा विरोधी विचारके लिये कोई स्थान नहीं रहता। अगला वाक्य "**सूत्रत्वमसिद्धमिति चेन्न**" इन शब्दोंसे प्रारम्भ होता है, उसके शुरूमें "**प्रकृतसूत्रे**" पद की कोई खास जरूरत नहीं—बिना उसके भी काम चल जाता है। और यदि कुछ जरूरत समझी भी जाय तो मध्यमें पड़े हुए '**प्रकृतसूत्रे**' पदको 'देहलीदीपन्याय' से उभयप्रकाशक एवं दोनोंका कार्य साधक समझना चाहिये। इसके सिवाय, प्रकरण तथा दिगम्बर सम्प्रदाय में गृद्धपिच्छाचार्य की इस तत्त्वार्थसूत्रके कर्तृत्वविषयक प्रसिद्धि को देखते हुए, गृद्धपिच्छाचार्यके बाद '**पर्यन्त**' शब्दके प्रयोगसे यह साफ ध्वनित होता है कि विचारमें प्रस्तुत प्रकृत सूत्रका कर्ता ही वहां गृद्धपिच्छाचार्यके रूपमें विवक्षित है, दूसरा और कोई नहीं। गृद्धपिच्छाचार्य नाम का दूसरा कोई सूत्रकार हुआ भी नहीं। अतः जो नतीजा निकाला गया है वह ठीक नहीं है —**संपादक**

एक दलील यह भी है कि विद्यानन्दि यदि गृद्धपिच्छ और उमास्वामी को अभिन्न ही समझते होते तो एक जगह उमास्वामी और दूसरी जगह 'गृद्धपिच्छ आचार्य' इतना विशेषण ही उनके लिये प्रयुक्त न करते बल्कि 'गृद्धपिच्छ' के बाद वे 'उमास्वामी' शब्द का प्रयोग करते। उक्त दोनों कथनों की मेरी विचारणा यदि खोटी न हो तो उसके अनुसार यह फलित होता है कि विद्यानन्दि की दृष्टि में उमास्वामी तत्त्वार्थाधिगम शास्त्रके प्रणेता होंगे परंतु उनकी दृष्टिमें गृद्धपिच्छ और उमास्वामी ये दोनों निश्चयसे जुदे ही होने चाहियें।

गृद्धपिच्छ, बलाकपिच्छ, मयूरपिच्छ वगैरह विशेषणों की सृष्टि नग्नत्वमूलक वस्त्रपात्रके त्यागवाली दिगम्बर भावनामें से हुई है। यदि विद्यानन्दि उमास्वामी को निश्चयपूर्वक दिगम्बरीय समझते होते तो वे उनके नामके साथ पिछले जमानेमें लगाये जाने वाले गृद्धपिच्छ आदि विशेषण जरूर लगाते। इससे ऐसा कहना पड़ता है कि विद्यानन्दिने उमास्वामी का श्वेताम्बर, दिगम्बर या कोई तीसरा सम्प्रदाय सूचित ही नहीं किया।

नोट

यह लेख, लेखक महोदयके विशाल तथा गहरे अध्ययनको सूचित करता हुआ, विद्वानों के सामने विचारकी बहुतसी महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है और उन्हें सविशेषरूपसे सत्यके अनुसंधान तथा यथार्थताके निर्णय की प्रेरणा करता है। इसके लिये लेखक महोदय धन्यवादके पात्र हैं। मेरी इच्छा इस पर कुछ विस्तारके साथ लिखनेकी है परन्तु इस समय न तो मुझे अवकाश ही है और न यथेष्ट साधन-सामग्री ही मेरे सामने मौजूद है। अतः बादको इसका प्रयत्न किया जायगा। हाँ, जो विद्वान् इस लेखके किसी विचारसे सहमत न हों अथवा सहमत होते हुए उस पर कुछ विशेष प्रकाश डाल सकें उन्हें सहर्ष आमंत्रण है कि वे अपने युक्तिपुरस्सर विचारों को शीघ्र ही 'अनेकान्त' के पाठकों के सामने रखने की कृपा करें। परन्तु इस सम्बंध में लिखा हुआ कोई भी लेख—अनुकूल हो या प्रतिकूल—किसी प्रकार के क्षोभ, कोप या साम्प्रदायिक कट्टरता के प्रदर्शन को लिये हुए न होना चाहिये, उस का उद्देश्य मात्र सत्य की खोज तथा सत्य के निर्णय में सहायता पहुँचाना होना चाहये। और इस लिये वह सौम्य भाषामें ऐतिहासिक दृष्टिकी प्रधानताको लेकर ही लिखा जाना चाहिये।

जो दिगम्बर विद्वान इस के विरुद्ध विचार रखते हों और खुद कोई लेख लिखना न चाहें उन्हें चाहिये कि वे इस लेख की जिस जिस बातके विरोधमें जितनी भी सामग्री जुटा सकते हों उसे प्रयत्न करके जुटाएँ और जुटा कर इन पंक्तियों के लेखक के पास भेजने की कृपा करें, जिससे जो विस्तृत लेख लिखा जाने को है उसमें उसका सदुपयोग हो सके और सत्यके निर्णय में यथेष्ट सहायता मिल सके। यह विषय अब अच्छी तरहसे निर्णीत ही हो जाना चाहिये। और इसलिये हर एक विद्वान् को अपना कर्तव्य समझ कर इसमें योग देना चाहिये। इस विषयमें पत्र-व्यवहार करने वाले सज्जन साधन-सामग्रीके सम्बंधमें कितनी ही उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त कर सकेंगे। —सम्पादक

वीर-सेवक-संघके वार्षिक अधिवेशन का विवरण

निर्दिष्ट सूचनानुसार वीर-सेवक-संघकी मीटिंग ता० १२ और १३ अप्रेल को दोनों दिन महावीर जयन्ती-उत्सवके पिंडालमें की गई। पहले दिन मीटिंगका प्रारंभ सुबह आठ बजेके क़रीब हुआ और उसमें निम्न सदस्य उपस्थित हुए:—

१ बा० चेतनदासजी रि० हेडमास्टर, मल्हीपुर; २ ला० मक्खनलालजी ठेकेदार, देहली (प्रधान); ३ ला० सरदारीमलजी, देहली; ४ प० दीपचंदजी वर्णी, ५ ब्र० कुँवर दिग्विजयसिंहजी, ६ बा० बिशनचंदजी, देहली; ७ बा०भोलानाथजी मुख़्तार, बुलन्दशहर; ८ पं०जुगलकिशोरजी मुख्तार (अधिष्ठाता); ९ ला० नत्थूमलजी, बरनावा; १० पं० महावीरप्रसादजी, देहली; ११ ला० रूपचंदजी गार्गीय, पानीपत; १२ साहु रघुनंदनप्रसादजी, अमरोहा; १३ बा० उमरावसिंहजी, देहली; १४ ला० दलीपसिंहजी कागजी, देहली; १५ ला० पन्नालालजी देहली।

सर्वसम्मतिसे ला०मक्खनलालजी ठेकेदारने सभापतिका आसन ग्रहण किया। तत्पश्चात् पं०जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता आश्रमने, वीर-सेवक-संघ और समन्तभद्राश्रमकी स्थापना तथा अनेकान्त पत्रकी योजना आदिका इतिहास संक्षेपमें वर्णन करते हुए, इन की वर्तमान स्थितिका कुछ दिग्दर्शन कराया, अपनी कठिनाइयों और आवश्यकताओंको प्रस्तुत किया और ३१ मार्च सन् १९३० तकका कुल हिसाब पेश किया। हिसाब सबको सुनाया गया। और वह अन्ततः सर्वसम्मतिसे पास हुआ, जो अन्यत्र इसी पत्रमें प्रकाशित है।

अधिष्ठाताजीने अपने वक्तव्यमें स्पष्ट बतलाया कि —'समाजने अभी तक इस उपयोगी तथा आवश्यक संस्थाकी तरफ़ जैसा चाहिये वैसा ध्यान नहीं दिया है— न विद्वानों ने इसे अपनी सेवाएँ अर्पण कीं और न धनाढ्योंने यथेष्ट आर्थिक सहायता ही प्रदान की। कई विद्वानोंने आश्रममें आकर सेवाकार्यमें हाथ बटाने का तथा कुछने अपने घर पर रह कर आश्रम-सम्बन्धी कार्य करनेका भी वचन दिया था परन्तु न मालूम किस कारणवश वे महानुभाव अपने वचनों का पालन नहीं कर सके। और भी कुछ सज्जनोंसे सहायता तथा सहयोग की विशेष आशा थी जो अभी तक पूरी नहीं हो सकी। इस संस्थाके चलाने का एक प्रकारसे सारा भार अभी तो केवल अधिष्ठाताके ही सिर पर है—आश्रम तथा अनेकान्त पत्र-सम्बंधी छोटेमोटे प्रायः सब कार्य उन्हें ही करने पड़ते हैं—और इस लिये वे अपने स्वास्थ्यकी पर्वाह न करते हुए दिन-रात अविश्रान्त परिश्रम करते रहते हैं, रातको प्रायः बारह एक बजे तक उन्हें सोना मिलता है, परन्तु फिर भी काम पूरा होनेमें नहीं आता—कितने ही पत्र तक उत्तरके लिये पड़े हुए हैं जो कुछ विशेष समयकी अपेक्षा रखते हैं—और न उनके मस्तिष्कमें संस्थासम्बन्धी जो बहुत से विचार भरे पड़े हैं उन्हें ही कार्य में परिणत करने अथवा प्रकाशमें लाने का कोई अवसर मिलता है। अकेले आदमी का काम आख़िर अकेला ही होता है, वह सब कामों को कैसे करे इसीसे जिन महान् उद्देश्योंको लेकर यह संस्था खड़ी की गई है उनकी तरफ़ अभी कोई ख़ास अथवा नुमायाँ प्रगति नज़र नहीं आ रही है, सिर्फ़ 'अनेकान्त' पत्रका ही एक काम हो रहा है और उसने समाजकी ऐसी उपेक्षा-स्थितिके होते हुए भी अपनी इस छोटीसी अवस्थामें जैन-अजैन विद्वानोंके हृदयमें जो महत्वका स्थान प्राप्त किया है और अपनी जिस विशेषता तथा आवश्यकताको प्रमाणित किया है उसे बतलाने की जरूरत नहीं—वह उसमें प्रकट होने वाले 'लोकमत' से ही स्पष्ट है। उनकी इच्छा इसे अभी कई गुणा ऊँचा उठाने तथा एक सर्वोपयोगी आदर्श पत्र बनाने की है परन्तु सहायकोंके अभाव में अथवा समाजके विद्वानों तथा श्रीमानोंका यथेष्ट सहयोग प्राप्त न होनेकी हालतमें वे कुछ भी नहीं कर सकते, उनके विचार हृदयके हृदयमें ही विलीन होते जाते हैं, उत्साह भंग हो रहा है और परिश्रम तथा चिन्ता के कारण स्वास्थ्य भी दिन पर दिन गिरता जाता है। यदि यही हालत रही और स्वास्थ्यने जवाब दे दिया अथवा

समाजकी ओरसे निराशा ही रही और निरुपायता अधिक बढ़ गई तो एक दिन उन्हें भी हार कर बैठ जाना होगा। जैनधर्मके गौरवको पुनरुज्जीवित करने एवं जैनसमाजके उत्थानके लिये उनका यह अन्तिम उद्योग है। इस लिये संघको शीघ्र ऐसी योजना करनी चाहिये जिससे आश्रमको कुछ अच्छे निःस्वार्थ सेवकोंकी प्राप्ति हो सके। साथ ही, धनकी ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये, जिससे कुछ योग्य विद्वानों को वेतन पर रख कर उनसे काम लिया जा सके और जो काम उठाए गये हैं तथा भविष्यमें विज्ञप्ति नं०१ के अनुसार किये जानेको हैं उनका निर्वाह हो सके। इस वक्त तक 'अनेकान्त' के ग्राहकोंसे जो रुपया वसूल हुआ है उससे अधिक उस खातेमें, बहुत कुछ किफ़ायतसे काम लेने पर भी, खर्च हो चुका है और अभी सात किरणें ग्राहकोंको और देनी बाकी हैं, जिनके लिये आश्रमका जो रुपया अवशिष्ट है वह सब खर्च होकर भी पूरा नहीं पट सकेगा। इसके लिये पत्रकी ग्राहकसंख्या बढ़ाने का भी खास उद्योग होना चाहिये; उद्योग तथा प्रचार से बहुत से ग्राहक बनाये जा सकते हैं, जिनका अनुभव उन्हें 'जैनगजट' के सम्पादनकालमें हो चुका है। उस समय बाबू सूरजभानजीका सहयोग प्राप्त था, जो पत्रकी ग्राहकसंख्या जुटानेका खास उद्योग किया करते थे और उसके फलस्वरूप उस पत्र की ग्राहकसंख्या इतनी बढ़ गई थी जितनी उसे कभी भी नसीब नहीं हुई थी और न शायद बादको ही आजतक नसीब हो सकी है। परन्तु 'अनेकान्त' को ऐसे किसी भी सज्जनका सहयोग प्राप्त नहीं है और न खुद सम्पादक को पत्र तथा आश्रम का काम करते हुए इतना अवकाश ही मिल रहा है कि जो इस विषय में वे कोई व्यवस्थित उद्योग कर सकें—एक सम्पादकका वास्तवमें यह काम है भी नहीं; यदि उसका दिमाग़ ऐसे कामोंमें लगे तो, निःसन्देह, उसके कर्तव्यपालनके कितने ही ज़रूरी काम उससे छूट जायँगे। अतः आश्रममें जब तक दो चार अच्छे विद्वानोंकी योजना नहीं होगी—कुछ त्यागी, रिटायर्ड विद्वान् तथा अन्य परोपकारी सज्जन अपनी सेवाएँ इसे अर्पण नहीं करेंगे और अच्छी योग्यता वाले कर्मचारी वेतन पर नहीं रक्खे जायँगे—तब तक आश्रम का काम ठीक चलना और उसे अपने उद्देश्योंमें सफलता मिलना कठिन ही नहीं किन्तु असंभव जान पड़ता है। फिलहाल वेतन पर कमसे कम एक ऐसे योग्य विद्वान् की तो शीघ्र योजना हो ही जानी चाहिये जो सेवाभाव की प्रधानता को लिये हुए हो, आश्रम के आफ़िसको भले प्रकार सँभाल सके—खुद ही तथा संकेतानुसार अच्छी तरहसे पत्रव्यवहार करना जानता हो—प्रूफ देखने का जो अच्छा अभ्यासी हो, बाक़ायदा हिसाब लिखना जिसे आता हो, संस्कृत-प्राकृतादि ग्रन्थों पर से निर्देशानुसार कुछ अवतरणोंको छाँट सके अथवा ऐतिहासिक खातोंका खतियान कर सके और ज़रूरत होने पर कुछ अनुवाद कार्य भी कर सके। ऐसे विद्वानकी नियुक्ति होने पर अधिष्ठाताका आश्रम से बाहर जाना भी हो सकेगा, जिससे बहुत कुछ प्रचारकार्य बन सकेगा, और आश्रम तथा पत्रके काम में कोई रुकावट भी पैदा नहीं होगी।'

इस पर ब्र० कुँवर दिग्विजयसिंहजीने, आश्रम तथा पत्र की संक्षेपमें आलोचना करते हुए, एक छोटी सी स्पीच दी, जिसका सार यह है कि— 'आश्रम में एक उपदेशक-क्लास खोली जानी चाहिये जिसके द्वारा ऐसे उपदेशक अथवा सेवक तय्यार किये जायँ जो जगह जगह जाकर जैनधर्मका अच्छा प्रचार कर सकें। साथ ही, बाहरसे विद्वानोंको बुला कर प्रति सप्ताह या प्रति पक्ष कुछ कुछ दिनके लिये नियत विषयों पर व्याख्यान कराये जाया करें। इससे आश्रमके प्रति लोगोंकी दिलचस्पी बढ़ेगी और अनेकान्तके लिये कितने ही लेखों तथा लेखोंकी सामग्रीकी प्राप्ति भी सुलभ हो जायगी। दूसरे प्रथमानुयोग (पौराणिक बातों) तथा करणानुयोग-सम्बन्धी शंकाओंका समाधानका काम आश्रमको खास तौरसे अपने हाथमें लेना चाहिये, उनका ठीक समाधान न होने से हमें जगह जगह शास्त्रार्थों आदि में बड़ी दिक्क़तें पेश आती हैं, कितनी ही बातोंकी लोग खिल्ली तथा मखौल उड़ाते हैं जिससे जैनशासन की अप्रभावना होती है। वे यदि ठीक हैं तो उनका सबकी समझमें आने योग्य अच्छा समाधान हो जाना चाहिए

और नहीं तो उनका मानना ही छोड़ देना चाहिये। अभी देहलीमें जल्दी ही एक बहुत बड़े शास्त्रार्थके होने की सम्भावना है, उसके लिये हमें अभी से तय्यार होना चाहिये। यदि समय पर ऐसी किसी बात का अच्छा समाधानकारक उत्तर न दिया जा सका तो जैनियों की बहुत बड़ी अप्रभावना होगी और उनके धर्मको हानि पहुँचेगी। अतः उससे पहले ही हमें जल्दी समाधानकी पूरी सामग्री मिल जानी चाहिये। यदि आश्रम से ये सब काम नहीं हो सकते तो फिर हमारी राय में उसको क़ायम रखने की कोई जरूरत नहीं। इतिहास, साहित्य और तत्त्वज्ञान की बारीक बातोंको, जो आजकल 'अनेकान्त'का विषय बनी हुई हैं, आम तौर पर कोई नहीं समझता, उनकी तरफ़ लोगों की कोई रुचि नहीं है; ऐसा हमें अपने उपदेशकीके दौरे में अनुभव हुआ है।' पं० महावीरप्रसादजीने आपकी कुछ बातोंका समर्थन किया और कहा कि वास्तवमें देहलीमें जल्दी ही वैसे एक बहुत बड़े शास्त्रार्थकी सम्भावना पाई जाती है और पौराणिक तथा लोकरचना-सम्बंधी शंकाओंके समाधानके विषयमें यहाँ तक ज़ोर दिया कि उन्हें अक्षरशः सत्य सिद्ध किया जाना चाहिये।

उत्तरमें अधिष्ठाताजीने बतलाया कि—'आश्रमके उद्देश्योंमें इन सब बातोंका समावेश है, उसका पहला ही उद्देश्य है—"ऐसे सच्चे सेवक उत्पन्न करना जो वीरके उपासक, वीरगुणविशिष्ट और प्रायः लोकसेवार्थ दीक्षित हों तथा भगवान् महावीरके संदेशको घर घरमें पहुँचा सकें।" इसमें उपदेशकों अथवा सेवकोंकी ख़ास और विद्वानोंके व्याख्यानद्वारा शिक्षाकी सब बात आ जाती है। और दूसरे उद्देश्यमें, जो बहुत कुछ व्यापक है (देखो नियमावली) पौराणिक बातोंकी असलियतको प्रकट करते हुए उनके विषयकी ग़लत फ़हमी को दूर करना भी आ जाता है—उसमें जैन धर्मके समीचीन रूपादि विषयमें सर्वसाधारणकी भूलको सुधारनेकी बात स्पष्ट कही गई है। परंतु इन सब कामोंके लिये और आश्रमको उसके उद्देश्यों में सफल बनानेके लिए जन और धनकी ख़ास जरूरत है और ये दोनों ही चीजें अभी आश्रमके पास नहीं हैं। न तो धनाढ्योंने इस संस्थाके प्रति अभी तक अपने कर्तव्यका पालन किया और न विद्वान् लोग ही इस ओर कुछ ध्यान दे रहे हैं। कितने ही विद्वान् तो पत्रोंका उत्तर तक भी नहीं देते अथवा उसमें बहुत ही लापर्वाही तथा प्रमादसे काम लेते हैं। मानों उन्हें इस विषयमें अपने उत्तरदायित्वका कुछ भी बोध नहीं। लोगोंमें सेवा तथा स्वार्थत्यागके भावका बहुत ही अभाव जान पड़ता है। आश्रम विद्वानों तथा दूसरे सज्जनोंको घर पर भी काम देना चाहता है परंतु कोई लेनेको तय्यार नहीं और जो एक दोने लिया भी तो करके नहीं दिया। ऐसी हालतमें आश्रम क्या कर सकता है, अकेले अधिष्ठाताके वशका सब काम नहीं है। यदि कुछ अच्छे काम करनेवाले स्वार्थत्यागी पुरुष आश्रमको अपनी सेवाएँ अर्पण करें, दूसरे विद्वान् लोग महज़ सफ़र खर्च लेकर साल भरमें एक एक दो दो महीनेके लिये ही सेवाभावसे आश्रममें पधारनेकी कृपा किया करें। और धनिकजन धनकी इतनी सहायता प्रदान करें जिससे कुछ ऊँची योग्यताके विद्वानोंको वेतन पर भी रक्खा जा सके और आश्रममें यथेष्ट साधन-सामग्रीका संग्रह किया जा सके, तो सब कुछ हो सकता है—सारे कामोंका सम्पादन किया जा सकता है। बिना इसके खाली बातोंसे या कोरी आशा रखनेसे कुछ नहीं हो सकता। आश्रमको पहले जन और धनकी यथेष्ट सहायता प्राप्त कराइये—उसके लिए काफ़ी फंड एकत्रित कीजिये—और फिर देखिये कि वह क्या कुछ काम करता है। यदि समाज इसके लिये फ़ंडकी कोई योग्य व्यवस्था नहीं कर सकता, किसी भी सज्जनका हृदय संस्थाकी उपयोगिताको देख कर इसे अपनी सेवाएँ अर्पण करनेके लिये तय्यार नहीं होता और न विद्वान् लोग ही इस तरफ़ कुछ योग देना चाहते हैं तो ज़रूर इस आश्रमको बन्द कर देना चाहिये अथवा यह खुद ही बन्द हो जायगा। रही इतिहास, साहित्य और तत्त्वज्ञानकी बात, भले ही जैनजनता अभी इनके महत्वको न समझती हो परन्तु उसे एक दिन समझना और समझाना होगा, बिना इनके समाजका जीवन रह नहीं सकता और यदि रहे भी तो वह कुछ कार्यकारी नहीं हो सकता।

उत्तम साहित्यके प्रचारसे लोकरुचि बदल जाती है और फिर जनता को उन बातोंमें अच्छा रस आने लगता है जिनसे पहले वह घबराती थी अथवा जिनमें उसका मन कुछ लगता नहीं था। इसी बातको लक्ष्यमें रख कर "त्यागभूमि" जैसे पत्र कई कई हजार रुपये का प्रतिवर्ष घाटा उठा कर भी अपने साहित्यका प्रचार कर रहे हैं और इस तरह लोकरुचिको बदलकर बराबर अपने पाठक पैदा करते चले जाते हैं। 'अनेकान्त' के साहित्यका भी ऐसे ही प्रचार होना चाहिये, इससे लोकरुचि बदल जायगी और फिर पत्रको अपने पाठकों अथवा ग्राहकोंकी कमी नहीं रहेगी। परंतु यह काम कुछ वर्ष तक बिना प्रचुर घाटा उठाए नहीं हो सकता। "त्यागभूमि" को बिड़लाजी तथा जमनालालजी बजाज जैसे समयानुकूल दानी नररत्नोंका सहयोग प्राप्त है जो उसके सब घाटेको पूरा कर देते हैं। "अनेकान्त' को ऐसे एक भी सज्जन का सहयोग प्राप्त नहीं है, तब उसे अधिकाधिक उपयोगी और लोकप्रिय कैसे बनाया जा सकता है? धनिक कहलाने वाले समाजके लिये, निःसन्देह, यह एक बड़ी ही लज्जाका विषय है जो वह अपने एक भी पत्र को इस योग्य न बना सके जो दूसरे उच्चकोटि के पत्रों की श्रेणिमें बैठ सके अथवा बैठ कर उसका निर्वाह कर सके।

इसके बाद कुछ चर्चा हो कर यह निश्चय हुआ कि आश्रममें ऊँची वेतन पर एक योग्य कर्मचारीकी योजना की जाय और उसकी नियुक्ति का अधिकार अधिष्ठाता आश्रम को दिया जाय। साढ़े दस बजेके क़रीब मीटिंग की यह बैठक समाप्त हुई और दूसरी बैठक अगले दिन पर ११॥ बजे दिनके रक्खी गई।

१३ अप्रैल को नियत समय पर मीटिंगका कार्य प्रारंभ हुआ और उसमें निम्न सदस्य उपस्थित हुए:—

१ बा० चेतनदासजी, २ ला० सरदारीमलजी, ३ पं० दीपचंदजी वर्णी ४ बा० भोलानाथजी, ५ पं० जुगलकिशोरजी, ६ ला० नत्थूमलजी, ७ ला० रूपचन्दजी, ८ बा० उमरावसिंहजी, ९ बा० पन्नालालजी, १० पं० अर्हद्दासजी, पानीपत; ११ ला० विश्वम्भरनाथजी, देहली।

सर्वसम्मतिसे बा० चेतनदासजी बी. ए. रिटायर्ड हेडमास्टर इस जल्सेके सभापति चुने गये। तत्पश्चात् अधिष्ठाता आश्रम ने संघ तथा आश्रमकी नियमावली पेश की, जो कुछ संशोधनों तथा परिवर्तनोंके बाद सर्व सम्मतिसे पास की गई, और जो पाठकोंके अवलोकनार्थ इसी पत्रमें अन्यत्र प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त प्रचारआदिकी दृष्टिसे विद्यार्थियों आदिको "अनेकान्त" पत्र ४) रु० की जगह ३) में देना क़रार पाया और फिर प्रबन्धकारिणी समितिके सदस्योंका चुनाव होकर जल्सा ढाई बजेके क़रीब समाप्त हुआ। दोनों दिन मीटिंगमें जो प्रस्ताव पास हुए हैं वे इस प्रकार हैं:—

प्रस्ताव

(१) अधिष्ठाता आश्रमकी ओरसे ३१ मार्च सन् १९३० तकका हिसाब पेश हुआ, जिसे यह संघ पास करता है।

(२) यह संघ फिलहाल आश्रममें एक ऊँची वेतनके योग्य कर्मचारीकी नियुक्ति को आवश्यक समझता है और उसकी नियुक्तिका अधिकार अधिष्ठाताको देता है।

(३) संघ तथा आश्रमकी नियमावलीको अधिष्ठाता आश्रमने पेश किया और उसे कुछ संशोधनों तथा परिवर्तनोंके बाद यह संघ सर्वसम्मतिसे पास करताहै।

(४) यह संघ उचित समझता है कि आज से विद्यार्थियों, स्त्रियों, लायब्रेरियों, तीर्थस्थानों और विद्यासंस्थाओंको 'अनेकान्त' पत्र ४) की जगह ३) में दिया जाय।

(५) यह संघ निम्नलिखित सात सज्जनोंको प्रबन्धकारिणी समितिके सदस्य नियत करता है। शेष चार सदस्योंकी नियुक्तिका अधिकार अधिष्ठाता आश्रमको प्रधानजीकी अनुमति अथवा मंत्रीजीकी स्वीकृतिसे होगा।

१ ला० मक्खनलालजी ठेकेदार, मोरीगेट, देहली (प्रधान)
२ बा० भोलानाथजी मुख्तार, बुलन्दशहर (मंत्री)
३ ला० पन्नालालजी दरीबाकलां, देहली सहायकमंत्री)
४ रा० ब० साहु जुगमन्दरदासजी, नजीबाबाद (कोषाध्यक्ष)
५ पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा (अधिष्ठाता)
६ राजवैद्य पं० शीतलप्रसादजी, जौहरीबाज़ार, देहली
७ ला० सरदारीमलजी, मोरीगेट, देहली।

भोलानाथ जैन दरख़्शाँ
मंत्री 'वीर-सेवक-संघ'

वीर-सेवक-संघ और समन्तभद्राश्रम की नियमावली

देहलीमें महावीर-जयंतीके शुभ दिवस पर ता०२१ अप्रेल सन् १९२९ को स्थापित होनेवाले 'वीर-सेवक-संघ' की और संघद्वारा ता०२१ जुलाईको प्रतिष्ठित होने वाले 'समन्तभद्राश्रम' की नियमावली* इस प्रकार है:—

(१) इस नियमावलीमें यदि कोई बात स्पष्टतया अथवा प्रकरणसे इसके विरुद्ध न पाई जाय तो—
'संघ' से अभिप्राय 'वीर-सेवक-संघ' का,
'आश्रम' से अभिप्राय 'समन्तभद्राश्रम' का,
'पत्र' से अभिप्राय 'अनेकान्त' पत्रका, और
'समाज' से अभिप्राय 'संयुक्त जैनसमाज' का होगा।

वीर-सेवक-संघ

(२) समन्तभद्राश्रमके स्थापन, स्थितीकरण तथा संचालन-द्वारा जैनशासनको उन्नत बनाते हुए लोक-हितको साधना ही इस संघका मुख्य उद्देश्य होगा।

(३) संघके सदस्य वे सभी स्त्री-पुरुष हो सकेंगे जिनकी अवस्था १८ वर्षसे कम न हो, जो आश्रमके उद्देश्योंसे पूर्णतया सहमत हों, उसे सफल बनानेके इच्छुक हों और उसकी सहायतार्थ कमसे कम छह रुपये वार्षिक देना अथवा प्रतिसप्ताह दो घंटे (वार्षिक १०० घंटे) आश्रमका काम करना जिन्हें स्वीकार हो। ऐसे सदस्य 'साधारण' सदस्य कहलाएँगे।

नोट—घर पर रहते भी आश्रमका काम हो सकेगा जिसकी तफ़सील यह होगी—

१ संघके सदस्य और पत्रके ग्राहक बनाना।
२ अन्य प्रकारसे आश्रमको आर्थिक सहायता प्राप्त कराना।
३ जैनग्रन्थों अथवा अन्य साहित्यमेंसे निर्दिष्ट विषयों को छाँट कर भेजना।
४ साहित्य-रचनात्मक तथा पुरातत्त्व-अन्वेषणात्मक कार्य करना।
५ आश्रमके साहित्यका तथा जैनधर्मका प्रचार करना।

(क) कमसे कम सौ रुपयेकी एकमुश्त सहायता देने वाले सदस्य 'आजीवन-सदस्य' (लाइफ़ मेम्बर) पाँचसौसे ऊपर हजार तककी सहायता देने वाले 'सहायक', हजारसे चार हजार तककी सहायता देनेवाले 'संरक्षक', और पाँच हजार तथा इससे ऊपरकी सहायता प्रदान करनेवाले सज्जन 'संवर्द्धक' समझे जायँगे।

(ख) जिनके द्वारा संघ तथा आश्रम के हितकी विशेष सम्भावना होगी ऐसे सेवापरायण ख़ास ख़ास व्यक्तियोंको आर्थिक सहायता के बिना और सेवा के घंटोंका नियम किये बिना भी सदस्य बनाया जा सकेगा। ऐसे सदस्य 'ऑनरेरी' सदस्य समझे जायँगे।

(ग) संघके सभी सदस्योंको आश्रमका पत्र, जिसका वार्षिक मूल्य चार रुपये होगा। बिना मूल्य दिया जायगा।

(४) संघके सभी सदस्योंका कर्तव्य होगा कि वे अपनी शक्ति भर आश्रमको उसके उद्देश्योंमें सफल बनानेका उद्योग करें, उसे जन-धनकी सहायता प्राप्त कराएँ और इस बातकी ओर ख़ास तौरसे योग देवें कि आश्रम के पत्रका यथेष्ट प्रसार होकर उसकी आवाज़ अधिकसे अधिक जनताद्वारा सुनी जा सके।

समन्तभद्राश्रम

(५) इस आश्रमके उद्देश्य निम्न प्रकार होंगे:—

(क) ऐसे सच्चे सेवक उत्पन्न करना जो वीरके उपासक, वीरगुणविशिष्ट और प्रायः लोक-सेवार्थ दीक्षित हों तथा भगवान महावीरके संदेशको घर-घर में पहुँचा सकें।

---

* यह नियमावली वीर-सेवक-संघकी मीटिंगमें ता० १३ अप्रेल सन् १९३० को पास हुई है।

(ख) ऐसी सेवा बजाना जिससे जैनधर्मका समीचीन रूप, उसके आचार-विचारोंकी महत्ता, तत्त्वोंका रहस्य और सिद्धान्तोंकी उपयोगिता सर्व साधारणको मालूम पड़े—उनके हृदय पर अंकित होजाय—और वे जैनधर्मकी मूल बातों, उसकी विशेषताओं तथा उदार नीतिसे भले प्रकार परिचित होकर अपनी भूलको सुधार सकें।

(ग) जैनसमाजके प्राचीन गौरव और उसके इतिहासको खोज खोज कर प्रकाशमें लाना और उसके द्वारा जैनियोंमें नवजीवनका संचार करना तथा भारतवर्षका सच्चा पूर्ण इतिहास तय्यार करनेमें मदद करना।

(घ) वर्तमान जैनसाहित्यसे अधिकसे अधिक लाभ कैसे उठाया जा सकता है, इसकी सुन्दर योजनाएँ तय्यार करके उन्हें कार्यमें परिणत करना और कराना।

(ङ) सुरीतियोंके प्रचार और कुरीतियोंके बहिष्कार में सहायक बनना तथा दूसरे प्रकारसे भी समाजके उत्थानमें मदद करना और उसे स्वावलम्बी, सुखी तथा वर्द्धमान बनाना।

(६) आश्रम अपने उद्देश्योंमें सफलता प्राप्त करने के लिये यथासहायता उन कार्योंको अपने हाथमें लेगा जो आश्रमकी विज्ञप्ति नं०१ में दिये गये हैं।

(७) आश्रमसे 'अनेकान्त' नामका एक पत्र बराबर प्रकाशित होता रहेगा, जिसका मुख्यध्येय आश्रम को उसके उद्देश्योंमें सफल बनाना एवं लोक-हितको साधना होगा। इसकी मुख्य विचारपद्धति अपने नामानुकूल उस न्यायवाद (अनेकान्तवाद) का अनुसरण करनेवाली होगी जिसे 'स्याद्वाद' भी कहते हैं। और इस लिये इसमें सर्वथा एकान्तवादको—निरपेक्ष नयवादको—अथवा किसी संप्रदायविशेष के अनुचित पक्षपातको स्थान नहीं होगा। पत्रकी नीति सदा उदार और भाषा शिष्ट, सौम्य तथा गंभीर रहेगी।

(८) आश्रममें 'समीचीन विद्यामंदिर' नामका एक ऐसा भारतीभवन खोला जायगा, जिसमें ज्ञानार्जनके लिये प्रचुर साहित्यका संगृह रहेगा और मौखिकरूपसे भी नियत व्याख्यानादिके द्वारा शिक्षाप्रदानका प्रबंध किया जायगा। इसीमें पुरातत्त्वका भी एक विशेष विभाग रहेगा।

(९) आश्रममें 'साहित्यिक पारितोषिक फंड' नाम का एक विभाग भी रहेगा, जिसके द्वारा प्राचीन साहित्यका अन्वेषण तथा नवीनावश्यक उत्तम साहित्य का उत्पादन (निर्माण) करने वालोंको प्रोत्साहन और उत्तेजन दिया जायगा। इस दशामें काम करने वालोंके लिये पहलेसे योग्य सूचनाएँ निकाली जायँगी।

(१०) आश्रममें एक आदर्श व्यायामशालाकी भी योजना की जायगी जिसमें मुख्यतया योगप्रणाली-द्वारा शारीरिक तथा मानसिक शिक्षाकी विशेष व्यवस्था रहेगी।।

(११) आश्रममें सेवाकार्य करनेके लिये उन सभी कर्मवीर त्यागियों, ब्रह्मचारियों तथा दूसरे परोपकारी विद्वानों और अन्य सज्जनोंको आमंत्रण रहेगा, जो आश्रमके उद्देश्योंसे सहमत होते हुए कुछ समयके लिये अथवा स्थायी रूपसे आश्रममें ठहर कर उसके नियमानुसार कोई सेवाकार्य करनेके लिये उत्सुक हों। ऐसे सेवकोंके लिये अधिष्ठाता आश्रमकी ओरसे योग्य सेवाकार्यकी व्यवस्था की जायगी।

(१२) आश्रमवासी सेवकोंकी भोजनादि-सम्बन्धी योग्य आवश्यकताओं की पूर्तिका भार आश्रम खुद उठाएगा। और यदि कोई सेवक अपना खर्च खुद करना चाहें या आश्रमको अपना खर्च देवे तो यह उनकी इच्छा पर निर्भर होगा। आश्रमको उसमें कोई आपत्ति नहीं होगी।

(१३) आश्रमवासियोंके लिये आश्रमकालमें ब्रह्मचर्य तथा संयमसे रहना अनिवार्य होगा। इसके सिवाय, विशेष उपनियमोंके निर्धार करनेका अधिकार अधिष्ठाता आश्रमको होगा। और इन सब नियमोपनियमों का पालन करना प्रत्येक आश्रम-वासीका कर्तव्य होगा।

(१४) आश्रमके नियमोंका भंग करने पर प्रत्येक आश्रमवासी अपनेको आश्रमसे पृथक् किये जाने के योग्य समझे और उसका पृथक्करण प्रबंधकारिणी समितिकी योजनानुसार होगा।

(१५) आश्रमका योग्य रीतिसे संचालन एवं प्रबंध करनेके लिये संघके सदस्यों की एक प्रबंधकारिणी समिति नियत होगी जिसकी सदस्य-संख्या ११ तक

रहेगी और इसका चुनाव हर वर्ष संघके वार्षिक अधिवेशन पर हुआ करेगा। परन्तु किसी सदस्यके इस्तीफ़ा देने, काम न करने अथवा अन्य प्रकारसे उसका स्थान रिक्त होने पर उसकी जगह दूसरे सदस्यकी योजना बीचमें भी हो सकेगी और वह शेष सदस्योंके बहुमताधार पर अथवा संघकी प्रत्यक्ष या परोक्ष मीटिंगके द्वारा हुआ करेगी।

(१६) संघके मुख्य पदाधिकारी पाँच होंगे—

१ प्रधान, २ मंत्री, ३ अधिष्ठाता आश्रम, ४ कोषाध्यक्ष, और ५ सम्पादक "अनेकान्त"। ज़रूरत होने पर सहायक मंत्री, उपअधिष्ठाता और सहायक सम्पादक भी नियत हो सकेंगे। और उनकी नियुक्तिका अधिकार संघकी ओरसे कोई नियुक्ति न होने पर उस उस पदके पदाधिकारी को होगा।

(१७) संघका सब कार्य बहुमतके आधार पर हुआ करेगा और अनुपस्थित सदस्योंकी लिखित सम्मति भी उसमें परिगणित होगी। और प्रबन्धकारिणी समितिके अधिवेशनका कोरम चार रहेगा।

(१८) संघ का वार्षिक अधिवेशन आमतौर पर महावीर-जयन्ती के अवसर पर देहली में हुआ करेगा और ज़रूरत होनेपर बाहर तथा दूसरे अवसरों पर भी हो सकेगा, जिसकी सूचना पहलेसे 'अनेकान्त' पत्रादि-द्वारा सदस्योंको दी जायगी।

(१९) अधिष्ठाता-द्वारा बनाये गये उपनियमों के लिये प्रबन्धकारिणी कमेटीकी स्वीकृति आवश्यक होगी और नियमोंका सम्पादन तथा संशोधनादिक संघकी स्वीकृतिसे हुआ करेगा।

(२०) अधिष्ठाता आश्रमको आमतौर पर २५) रु० मासिक वेतनके कर्मचारीको नियत तथा पृथक् करने का अधिकार होगा। इससे अधिक वेतनके कर्मचारी की नियुक्ति और पृथक्करणके लिये उन्हें संघके मंत्री तथा प्रधानमेंसे किसीकी स्वीकृति प्राप्त करनी होगी।

(२१) संघके सभी प्रकारके सदस्योंके लिये संघ के प्रधान तथा आश्रमके अधिष्ठाताकी स्वीकृति आवश्यक होगी।

—※—

परिशिष्ट

नियम नं०६ में आश्रमकी जिस विज्ञप्ति नं० १का उल्लेख है उसका कार्य-सूची-वाला अंश इस प्रकार है:—

※ कार्य-सूची ※

(१) ग्रंथसंग्रह—अर्थात्, आश्रमके भारती-भवनमें संपूर्ण जैनग्रंथों की कम से कम एक एक प्रति संग्रह करनेके साथ साथ दूसरे धार्मिक तथा ऐतिहासिकादि अनेक विषयोंके उत्तमोत्तम तथा उपयोगी ग्रंथोंका एक विशाल संग्रह प्रस्तुत करना, जो आश्रमके कामोंमें सब तरहसे सहायक हो सके और जनता भी जिससे अच्छा लाभ उठा सके।

(२) लुप्तप्राय जैनग्रंथोंकी खोज—अर्थात् जिन ग्रंथों के निर्माण आदिका पता तो चलता है परन्तु वे मिलते नहीं उनको भारत तथा भारतसे बाहरके शास्त्रभंडारोंमें तलाश कराकर आश्रमको प्राप्ति कराना।

(३) ग्रन्थप्रशस्त्यादिसंग्रह—अर्थात्, जैन ग्रन्थोंमें दिये हुये ग्रन्थकारादिकके परिचयों तथा दूसरे ऐतिहासिक भागोंका संग्रह करना।

(४) पूर्ण जैनग्रंथावलीका संकलन—अर्थात् संपूर्ण जैनग्रंथोंकी एक वृहत् सूची तय्यार करना, जो १ ग्रंथनाम, २ कर्ता, ३ भाषा, ४ विषय, ५ श्लोकसंख्या, ६ निर्माण-समय, ७ लेखन-समय, और ८ भंडारनाम-जैसी सूचनाओंको साथमें लिये हुए हो, तथा ज़रूरत होने पर जिसमें किसी किसी ग्रन्थकी अवस्थादि-सम्बंधी कोई ख़ास रिमार्क भी दिया जाय।

(५) जैनशिलालेखसंग्रह, जैनमूर्तियोंके लेखसंग्रह-सहित (शिलाओं-मूर्तियोंके संपूर्ण जैनलेखोंका संग्रह)

(६) जैन ताम्रपत्र, चित्र और सिक्कों का संग्रह।

(७) जैनमंदिरावली, मूर्तिसंख्यादिसहित—अर्थात् सब जगह के जैनमंदिरो की पूरी सूची।

(८) त्रिपिटक आदि प्राचीन बौद्धग्रन्थों परसे जैन-इतिवृत्त का (जैनसम्बंधी अनुकूल या प्रतिकूल सभी वृत्तान्त का) संग्रह।

(९) प्राचीन हिन्दूग्रन्थों परसे जैनइतिवृत्तका संगृह

(१०) दूसरे प्राचीन गून्थों परसे जैन इतिवृत्त का संगृह।

(११) प्राचीन जैन स्मारकों तथा कीर्तिस्तंभों का ठीक परिचय, विशेष खोजके साथ।

(१२) जैन सम्बंधमें आधुनिक अजैन विद्वानोंके विचारों का संगृह, उन्हींके शब्दों में।

(१३) दिगम्बर-श्वेताम्बर-भेद-प्रदर्शन (अनुयोग-भेदसे चार भागों में)—अर्थात, दोनों सम्प्रदायों में परस्पर किन किन बातों में भेद है उनकी सूची।

(१४) बौद्ध और जैन परिभाषाओं (Technical terms) का विचार, समानता और मौलिकताकी दृष्टिसे।

(१५) उपजातियों तथा गोत्रों आदिके इतिहासका संगृह।

(१६) ऐतिहासिक जैनकोशका निर्माण, जिसमें जैन आचार्यो, विद्वानों, राजाओं, मंत्रियों तथा अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियोंका, उनके समयादि-सहित, संक्षेप में प्रामाणिक परिचय रहे।

(१७) जैनइतिहासका निर्माण, पूर्ण खोजके साथ।

(१८) भारतीय इतिहासकी अपूर्णता और त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न।

(१९) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—अर्थात खास खास प्राचीन गून्थोंकी श्लोकानुक्रमणिकाएँ, संस्कृत प्राकृतके विभागसे दो भागोंमें, 'उक्तंच' आदि श्लोकोंकी खोज तथा गन्थादिकों के समय निर्णयके काममें सहायता प्राप्त करनेके लिये।

(२०) गून्थावतरण-सूचियाँ, जाँच सहित—अर्थात् गून्थोंमें आये हुये उद्धृत वाक्योंकी सूचियाँ, उन गून्थों के पूरे पते सहित जहाँसे वे वाक्य उद्धृत किये गये हैं।

(२१) जैनलक्षणावली का निर्माण—अर्थात् अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें आए हुए पदार्थों आदिके लक्षणों का महत्वपूर्ण संगृह, जिससे सबोंको वस्तुतत्त्वके समझनेमें आसानी हो सके।

(२२) जैन पारिभाषिक शब्दकोशका निर्माण।

(२३) महत्वके खास खास ग्रन्थोंका अनुवाद।

(२४) जैनसुभाषितसंगृह—अर्थात् जैनगून्थों परसे अनेक विषयों की सुंदर, शिक्षाप्रद और रस भरी सूक्तियोंका संगृह।

(२५) कथासारसंगृह—अर्थात् पुराणों आदि परसे, अलंकारादिको छोड़कर, मूल कथाभागका संगृह।

(२६) विषय-भेद से गून्थोंका सारसंगृह अथवा खास खास विषयों पर गून्थोंके महत्वपूर्ण या असाधारण वाक्यों का संग्रह।

(२७) जैनस्थिति-परिज्ञान, गणना तथा देशभेदसे सामाजिक रीति-रिवाजोंके परिचय-सहित। साथ ही, ऐसे जैन कुटुम्बोंके भी परिचयको लिये हुए जिनकी आमदनी चार आने रोज़से कम है।

(२८) महावीर भगवान् और उनके बाद होनेवाले खास खास प्रभावक आचार्यों के चरित्रोंका निर्माण, पूरी खोजके साथ।

(२९) पाठ्य पुस्तकोंका निर्माण—१ बालकों के लिये, २ स्त्रियोंके लिये और ३ सर्व साधारणके लिये।

(३०) गृहस्थधर्म पर एक उत्तम और सर्वोपयोगी पुस्तकका निर्माण, जो अपटुडेट सब बातोंका संतोषजनक उत्तर देने के लिये समर्थ हो।

(३१) जैन-योग-विद्याकी खोज—अर्थात् जैनगृथों में योगसाधनादि-विषयक जो भी महत्वका कथन पाया जाय उस सबका एकत्र संगृह करके सार खींचना।

(३२) जैनतत्त्वोंके रहस्यका उद्घाटन और जैनधर्मकी विशेषताओं तथा उसकी उदार नीतिका प्रतिपादन।

(३३) जैनधर्मका लोकमें सर्वत्र प्रचार और प्रसार।

(३४) जैनसमाजको स्वावलम्बी, सुखी तथा वर्द्धमान बनानेकी ओर प्रगति।

(३५) 'अनेकान्त' पत्रका सम्पादन और प्रकाशन, जिसकी नीति सदा उदार और भाषा शिष्ट, शांत तथा गंभीर रहेगी।

(३६) उपयोगी पुस्तकोंका प्रकाशन।

ॐ अर्हम्

गोशवारा हिसाब आमद व खर्च वीर-सेवक-संघ और समन्तभद्राश्रम

क़रौलबाग़, देहली.

ता० ९ जुलाई सन् १९२९ से ३१ मार्च सन् १९३० तक

आमद (जमा)

२१६६) आश्रमसहायता खाते जमाः—

१४२९) बतौर फ़ीस सभासदी संघके आए।

७३७) अन्य प्रकारसे आश्रम की सहायतार्थ प्राप्त हुए।

२१६६)

१०९१॥-)॥। 'अनेकान्त' खाते जमा इस प्रकारः—

१०८५॥-)॥। ग्राहकोंसे वसूल हुए मय वी.पी. पोष्टेज आदिके (इस रक़ममें ३९=) वी.पी. पोष्टेज आदिके शामिल हैं)।

६) विज्ञापन की छपाईके आए (मध्ये १८) रु० के)

१०९१॥-)॥।

९९॥≡)॥ भोजन खाते जमा, जो प्रायः आश्रमकी रसोई में भोजन करने वालों (अधिष्ठाता आदि) से प्राप्त हुए।

६) प्रचार खाते जमा, जो सफ़र खर्चके रूपमें प्राप्त हुए

१॥) मुतफ़र्रिक खाते जमा, रि०रेल्वे टिकटकी विक्री से प्राप्त।

१-)॥ पोष्टेज खाते जमा, जो बाहरसे पोष्टेजके लिये प्रायः टिकटोंके रूपमें आए।

३३६६=)॥।

खर्च (नाम)

१३६८) 'अनेकान्त' खाते खर्च इस प्रकारः—

११४॥) चित्रों के डिज़ाइन और ब्लाकोंकी बनवाईमें मुरारी-आर्ट-प्रेसको दिये।

३१८।≡)॥। कागज़ खर्च पाँच किरणों में मय आर्ट पेपरके।

४४८) छपाई चित्रों व 'अनेकान्त' की चार किरणोंकी बाबत दिये—

४४) मुरारी आर्टप्रेस को

४०४) गयादत्त प्रेस को मय छपाई विज्ञापन, रैपर आदिके (पाँचवीं किरणकी छपाई देनी है *।)

२३॥-) गामा बाइन्डरको, चार किरणोंकी सिलाई कटाई आदि बाबत दिये ×

२१९॥=)॥ अयोध्याप्रसादजी गोयलीयको, बाबत वेतन के दिये।

४॥=) ग्राहकों को मूल्यकी वापसी (एक को २॥=) वापिस भेजे गये और एकके ग्राहकखाते से सदस्यखातेमें जमा किये गये।)

२१४) पोष्टेज खर्च, मध्ये २४४॥≡)॥ कुल पोष्टेज खर्च आश्रमके।

२-) सामयिक पत्रोंके मँगानेमें खर्च।

२२॥-)॥। मुतफ़र्रिक खाते खर्चः—

ट्राम्वे व ताँगे आदिमें, फुटकर १६।≡)॥ ६=)।

१३६८)

* पांचवीं किरण तथा कुछ रैपरों की छपाई बाबत ८४॥) अप्रेल मासमें 'गयादत्त प्रेस' को दिये जा चुके हैं।

× पांचवीं किरणकी बाबत ४॥≡) अप्रेलमें दिये गये।

११) बाबू राजकृष्णजी कोलमर्चेण्ट, देहलीके जमा, देने बाबत बिल कोयला व लकड़ीके जो १८ अगस्त १९२९ को आए ❀।

५१।≡) ला० धूमीमल धर्मदासजी कागजी देहली के जमा, जो बाबत बिल कागज, नं० १२९०९ ता० २१ मार्च सन् १९३० के देने हैं ×।

३४२८।-)।।

१८०।) आवश्यक सामान खाते खर्च, अलमारियों, बरतन वगैरह के खरीदने में।

५३≡)।। स्टेशनरी खाते खर्च।

२२२।।≡)। वेतन खाते खर्च, जो 'अनेकान्त' खातेसे भिन्न दूसरे क्लर्कों आदिके वेतनमें दिये गये। (मार्च महीनेके १८।) रु० देने और बाकी थे जो अप्रेल में दिये गये।)

२०=) छपाई खाते खर्च, जो 'अनेकान्त' खातेसे भिन्न आश्रम के सदस्यफार्मों, रसीदबहियों, पत्रों आदिकी बाबत दिये गये।

१५।।=)।। तेलबत्ती खाते खर्च।

११≡)। प्रचार खाते खर्च।

९।।।-) ग्रन्थसंग्रह खाते खर्च।

२३४।≡) भोजन खाते खर्च।

३०।।≡)।। पोष्टेज खाते खर्च, मध्ये २४४।।≡)।। कुल पोष्टेज खर्च आश्रमके, जो 'अनेकान्त' खातेसे भिन्न आश्रमखर्चकीबाबत अंदाज़ा कियागया

५४।)। मुतफ़र्रिक खाते खर्च, जिसमें १५-) ट्रेम्वे ताँगा आदि खर्चके, २७।≡) कि० रेल, महसूल लगेज व पार्सल आदि के और बाक़ी ११।)। दूसरे मुतफ़र्रिक खर्चोंकी बाबत हैं।

२२००।।=)।

७५०) सबसेविंग बेंक पोष्ट आफ़िस करौलबाग़के नाम

३८५) राय बहादुर साहु जगमन्दरदासजी जैन रईस नजीबाबाद (कोषाध्यक्ष) के नाम।

❀५०) वैद्य शीतलप्रसादजीके नाम अमानत।

२) अयोध्याप्रसादजी गोयलीय के नाम।

१) बा० राजकृष्णजी कोलमर्चेन्ट के नाम, जो उन्हें पोष्टेज खर्च के लिये दिया था।

३३८८।।=)।

३९।।≡)।। रोकड बाक़ी

३४२८।-)।।

द० जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'समन्तभद्राश्रम'

स्वीकृत हुवा—
द० मक्खनलाल
सभापति
१२-४-३०

* इसके बाद भी कुछ कोयला आया है जिसका बिल बहुत कुछ तक़ाज़ा करने पर भी न आनेसे जमा-खर्च नहीं हो सका।

× ये रुपये अप्रेल मासमें दिये जा चुके हैं।

*यह रकम अप्रेल में वैद्यजीसे आ गई है।

एक आक्षेप

लेखोंका सम्पादन करते समय जिस लेखमें मुझे जो बात स्पष्ट विरुद्ध, भ्रामक, त्रुटिपूर्ण, ग़लतफ़हमी को लिये हुए अथवा स्पष्टीकरणके योग्य प्रतिभासित होती है और मैं उस पर उसी समय कुछ प्रकाश डालना उचित समझता हूँ तो उस पर यथाशक्ति संयत भाषामें अपना (सम्पादकीय) नोट लगा देता हूँ। इससे पाठकोंको सत्यके निर्णयमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है, भ्रम तथा ग़लतियाँ फैलने नहीं पातीं, त्रुटियोंका कितना ही निरसन हो जाता है और साथ ही पाठकों की शक्ति तथा समय का बहुत-सा दुरुपयोग होनेसे बच जाता है। सत्यका ही एक लक्ष्य रहनेसे इन नोटोंमें किसी की कोई रू-रिआयत अथवा अनुचित पक्षापक्षी नहीं की जाती; और इस लिये मुझे अपने श्रद्धेय मित्रों पं० नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० सुखलालजी जैसे विद्वानोंके लेखों पर भी नोट लगाने पड़े हैं, मुनि पुण्यविजय और मुनि कल्याणविजयजी जैसे विचारकोंके लेख भी उनसे अछूते नहीं रहे हैं। परन्तु किसीने भी उन परसे बुरा नहीं माना, बल्कि ऐतिहासिक विद्वानोंके योग्य और सत्यप्रेमियोंको शोभा देने वाली प्रसन्नता ही प्रकट की है। और भी दूसरे विचारक तथा निष्पक्ष विद्वान मेरी इस विचारपद्धतिका अभिनन्दन कर रहे हैं, जिसका कुछ परिचय इस किरण में भी पाठकोंको दीवान साहब महाराजा कोल्हापुर जैसे विद्वानोंकी सम्मतियोंसे मालूम हो सकेगा। अस्तु।

इसी विचारपद्धति के अनुसार 'अनेकान्त' की चौथी और पाँचवीं किरणमें प्रकाशित होने वाले **बाबू कामताप्रसादजी** (सम्पादक 'वीर') के दो लेखों पर भी कुछ नोट लगाये गये थे। पाठकोंको यह जान कर आश्चर्य होगा कि उन परसे बाबू साहब रुष्ट हो गये हैं और उन्होंने अपना रोष एक प्रतिवादात्मक लेखद्वारा* हालके 'दिगम्बरजैन' अङ्क नं० ७ में प्रकट किया है। और इस तरह अपनी निर्दोषता, निर्भ्रान्तता, तथा युक्ति-प्रौढताको ऐसे पाठकोंके आगे निवेदन करके अपने चित्तको एकान्त शान्त करना चाहा है अथवा उनसे एक तरफ़ा डिगरी लेनी चाही है, जिनके सामने न तो मुनि पुण्यविजयजी तथा मुनि कल्याणविजयजी वाले वे लेख हैं जिनके विरोधमें आपके लेखोंका अवतार हुआ था, न आपके ही उक्त दोनों लेख हैं और न उन परके सम्पादकीय नोट ही हैं; और इसलिये जो बिना उनके आपके कथनको जज नहीं कर सकते—उसकी कोई ठीक जाँच नहीं कर सकते। इस लेख परसे मुझे आपकी मनोवृत्तिको मालूम करके दुःख तथा अफ़सोस हुआ! यह लेख यदि महज़ सम्पादकीय युक्तियों अथवा आपत्तियोंके विरोधमें ही लिखा जाता और अन्यत्र ही प्रकाशित कराया जाता तो मुझे इसका कोई विशेष ख़याल न होता और संभव था कि मैं इसकी कुछ उपेक्षा भी कर जाता। परन्तु इसमें संपादककी नीयत पर एक मिथ्या आक्षेप किया गया है, और इसलिये यहाँ पर उसकी असलियतको खोल देना ही मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। आक्षेपका सार इतना ही है कि—'यदि यह लेख 'अनेकान्तके' सम्पादकके पास भेजा जाता तो वे इसे न छापते, क्योंकि वे अपनी टिप्पणियोंके विरुद्ध किसीका लेख छापते नहीं, मेरा भी एक 'संशोधन' नहीं छापा था और उसी परसे मैं इस नतीजेको पहुँचा हूँ।' आक्षेपकी भाषा इस प्रकार है:—

"'अनेकान्तके प्रवीण सम्पादकने हमारे लेख पर कई आपत्तियाँ की हैं। उनका उत्तर उसी पत्रमें छपता ठीक था; परन्तु उक्त सम्पादक महोदयका अपनी

* लेखका शीर्षक है 'राजा खारवेल और उसका वंश'।

संपादकीय टिप्पणियोंके विरुद्ध लेख छाप देना मुझे अशक्य जँचा क्योंकि पिछले साबक़ेसे मैं इस ही नतीजे को पहुँचा हूँ। 'अनेकान्त' की ४ थी किरणमें मेरा एक नोट खारवेलके लेख की १४वीं पंक्तिके सम्बंध में प्रकट करके मान्य संपादकने एक उपहाससा किया है और यह ज़ाहिर किया है मानो उस पंक्तिका विशेष सम्बंध श्वेताम्बरीय सिद्धान्तसे है और इस सम्बंधमें उन्होंने मि० जायसवालका वह अर्थ भी पेश किया है जिसमें 'यापज्ञापक' शब्दका अर्थ जैनसाधु करके, उन साधुओंको सवस्त्र प्रकट किया गया है। मैंने इस पर उनको लिखा कि पूर्वोक्त नोटको उस हालतमें ही प्रकट करने को मैंने आपको लिखा था जब कि आप सन १९१८ में जो इस पंक्तिका नया रूप प्रकट हुआ है, उसे देख कर ठीक करलें। अतः आप इस बातका संशोधन प्रकट करदें और आप जो जायसवालजीके अनुसार यापज्ञापक शब्दसे जैन साधुओंको सवस्त्र प्रकट करते हैं सो ठीक नहीं; क्योंकि यापज्ञापक शब्दका अर्थ जैन-साधु काल्पनिक है—किसी प्रमाणाधार पर अवलम्बित नहीं है ! किन्तु सम्पादक महोदयने इस संशोधनको प्रकट करने की कृपा नहीं की। इसीसे प्रस्तुत लेख "दिगम्बर जैन" में भेजने को बाध्य हुआ हूँ।"

अब मैं अपने पाठकोंके सामने बाबू साहबके उन दोनों पत्रोंको भी रख देना चाहता हूँ जो आपने अपने उक्त दोनों लेखोंके साथमें भेजे थे और जिनकी तरफ़ आपने अपने उक्त आक्षेपमें इशारा किया है। और साथही, यह निवेदन किये देता हूँ कि वे 'अनेकान्त' की ४थी किरणके पृ० २३० पर मुद्रित बाबू साहबके उस लेखको भी सामने रख लेवें जिसे आपने अपने उक्त आक्षेपमें "नोट" नाम दिया है। इससे उन्हें सत्यके निर्णयमें बड़ी सहायता मिलेगी, लेखों तथा पत्रोंके परस्पर विरोधी कथन भी स्पष्ट हो जायँगे और वे सहज ही में बाबू साहबके आक्षेपका मूल्य मालूम कर सकेंगे:—

पहला पत्र—"'अनेकान्तके' आगामी अङ्कके लिये तीन लेख भेज रहा हूँ। इनमेंसे जो आपको पसन्द आएँ वह प्रकट कर दीजिये। बाक़ी लौटा दीजिये।

'खारवेल'के शिलालेखका पहला पाठ मि०जायसवालने JBORS के भाग ३ में प्रकट किया था और उस का संशोधन फिर किया था और उस संशोधित रूपका भी संशोधन गत वर्ष प्रकट किया है। मैंने पहला रूप और अन्तिम रूप देखा है और इसमें जो अन्तर हुआ वह प्रकट किया है परन्तु बीचका संशोधित रूप देखे बिना कुछ स्पष्ट मैं नहीं लिख सका हूँ। यदि आप दिल्ली में उसको देख कर फिर मिलान करलें तो अच्छा हो। मेरे ख़यालमें मुनिजीका पाठ अब शायद ही उसके उपयुक्त हों।"

दूसरा पत्र—"'अनेकान्त'का ४था अङ्क मिला उसमें आपने मेरे खारवेलके शिलालेखकी १४वीं पंक्ति वाले नोट को यूँ ही प्रकट करके अच्छा बेवकूफ़ बनाया है। खेद है, आपने उसके साथ भेजे हुए मेरे पत्र पर ध्यान नहीं दिया ! मैंने लिखा था कि जायसवाल जी ने इसके पहले (सन् १९१८ में) जो संशोधन किया था, वह मेरे पास नहीं। मुझे उसीका ख़याल था और उसी पर यह नोट लिखने लगा—पर वह जब न मिला तो जो कुछ लिखा था, वह यूँ ही पूरा करके आपको भेज दिया और यह चाहा कि आप दिल्लीकी किसी लायब्रेरीसे उसे ठीक करके उचित समझें तो प्रकट करें। उसको उसी शक्लमें छापने की चन्दाँ ज़रूरत नहीं थी और न ऐसा मैंने आपको लिखा था। ख़ैर अब आप उचित समझें तो इस ग़लती को आगामी अङ्कमें ठीक करदें। मैं नहीं समझता आपने उस नोटको प्रकट करके कौनसा हित साधन किया ! हाँ, रही बात श्वेताम्बरत्व की सो जायसवालजीने जो यापज्ञापकों को श्वेताम्बरोंका पूर्वज बतलाया है, सो निराधार है। इसके बजाय, यह बहुत संभव है कि वे उदासीन व्रती श्रावक हों; जिन्होंने व्रती श्रावक खारवेलके साथ यम-नियमों द्वारा तपस्याको अपनाया था। उनको वस्त्रादि देना कोई बेजा नहीं है। जब उदयगिरि खंडगिरिमें नग्न मूर्तियाँ मिलती हैं तब वहाँ पर श्वेताम्बरोंका होना कैसे संभव है ? इस बातको ज़रा

आप स्पष्ट कर दीजिये। साथमें एक लेख और भेजने की धृष्टता कर रहा हूँ। अगर उचित समझें तो छापदें वरन् कारण व्यक्त करके इसके लौटाने की दया कीजिये। बड़ा अनुग्रह होगा।"

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि पहले पत्रमें जिस JBORS भाग ३ का उल्लेख है वह विहार-उडीसा-रिसर्च-सोसायटीका सन् १९१८ का जर्नल है जिसमें जायसवालजीका पहला पाठ प्रकट हुआ था और अन्तिम पाठ जिस जर्नलमें प्रकट हुआ उसका नं० १३ है और उसे बाबू साहबने गत वर्षमें (अर्थात् सन् १९२९ में) प्रकट हुआ लिखा है। इन्हीं दोनों पाठोंके अनुसार आपने अपने पहले लेख में खारवेलके शिलालेखकी १४ वीं पंक्तिको अलग अलग रूपसे उद्धृत किया था और मुनि पुण्यविजय-जी-द्वारा उद्धृत इस पंक्तिके एक अंशको मुनिजीका पाठ बतला कर उसे स्वीकार करनेमें कठिनताका भाव दर्शाया था। साथ ही, जायसवालजीके अन्तिम पाठ को "बहुत ठीक" बतलाया था। परंतु दैवयोगसे मुनिजीका पाठ जायसवालजीका ही पाठ था और वह उनका अन्तिम पाठ ही था; इससे सम्पादकीय नोटों द्वारा जब उस लेखकी निःसारता और व्यर्थता प्रकट की गई तब बाबू साहबकी आँखें कुछ खुलीं और उन्होंने अपने उपहास आदिके साथ यह महसूस किया कि वह लेख छपना नहीं चाहिये था। ऐसी हालतमें मुनासिब तो यह था कि आप अपनी भूल को स्वीकार करते और कहते कि मैं अपने लेखको वापिस लेता हूँ— यही उसका एक संशोधन हो सकता था—अथवा मौन हो रहते। परन्तु आपसे दोनों बातें नहीं बन सकीं और इस लिये आप किसी तरह पर उसके छापनेका इल-ज़ाम सम्पादकके सिर थोपना चाहते हैं और यह कहना चाहते हैं कि हमने तो उसके छापनेके लिये अमुक शर्त लगाई थी अथवा "उस हालतमें ही प्रकट करनेको लिखा था जब कि आप १९१८ में जो इस पंक्तिका नया रूप प्रकट हुआ है उसे देख कर इसे ठीक करलें।" परंतु पहले पत्रमें ऐसी कोई शर्त आदि नहीं है—उसमें साफ़ तौर पर तीनों लेखोंमें से जो पसंद आए उसे प्रकट करने और बाक़ी को लौटा देने की प्रेरणा की गई है। साथ ही, यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि लेखकने जायसवालजीके पहले (सन् १९१८ वाले) और अन्तिम (गत वर्ष वाले) संशोधित पाठों को देख लिया है, उन्हींका अन्तर लेखमें प्रकट किया है, बीच का संशोधित रूप देखा नहीं, उसे देख लेने की प्रेरणा की गई है और इस प्रेरणाका अभिप्राय इतना ही हो सकता है कि यदि वह बीचका पाठ भी मिल जाय तो उसे भी दे दीजिये, संभव है मुनिजीका पाठ उसीसे सम्बंध रखता हो और उन्हें नये पाठकी ख़बर ही न हो। परन्तु मुनिजीका पाठ जब बिलकुल नया पाठ ही मालूम हुआ तब संपादकको उस बीचके पाठको खो-जने की कोई ज़रूरत ही बाक़ी नहीं रही। उसे तो यह स्पष्ट जान पड़ा कि लेखक सांप्रदायिक कट्टरताके आवेशमें बेसुध हो गया है। इसीसे अपने सामने जर्नल की १३ वीं जिल्द-वाला जायसवालजीका नया पाठ और मुनिजी द्वारा उद्धृत पाठ मौजूद होते हुए भी उन दोनोंका अभेद उसे सूझ नहीं पड़ा और न यही ख़बर पड़ी कि मैं क्या लिख रहा हूँ, क्यों लिख रहा हूँ अथवा किस बातका विरोध करने बैठा हूँ? इस प्रकार की हानिकारक प्रवृत्तिका नियंत्रण करने और ऐसे लेखकोंकी आँखें खोलनेके लिये ही वह लेख छापा गया और उस पर नोट लगाये गये। मैं चाहता तो उस लेख को न भी छापता—छापनेकी कुछ इच्छा भी नहीं होती थी—परन्तु चूँकि वह लेख 'अनेकान्त' के एक लेख के विरोधमें था, उसके न छापने पर बाबू साहब उसे अन्यत्र छपाते—जैसा कि उन्होंने 'जिम्नोसाफिस्ट्स' जैसे पद पद पर आपत्तियोग्य लेखको यहाँ से वापिस होने पर 'वीर' में छपाया है—और यह ठीक न होता। इससे छापने में कुछ प्रसन्नता न होते हुए भी उसका छापना ही उचित समझा गया। और इसलिये लेखके प्रकट होनेके बाद जब बाबू साहबका दूसरा पत्र आया तो उसके 'खेद' आदि शब्दों परसे मुझे आपकी मनो-वृत्ति और पूर्व पत्रके विरुद्ध लिखनेको देख कर बड़ा अफ़सोस हुआ और इस ना-समझीको मालूम करके तो और दुःख हुआ कि आप अभी तक भी अपनी

भूल स्वीकार नहीं कर रहे हैं !! उस पत्रके साथमें आपने अपना कोई संशोधन नहीं भेजा, जिसकी दुहाई दी जा रही है, यदि भेजते तो जरूर छाप दिया जाता—भले ही उस पर कोई और नोट लगाना पड़ता। पहले अनेकान्त की ४थी किरण में पं० सुखलाल तथा बेचरदासजीका एक संशोधन प्रकाशित हुआ है, और इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि संपादक अपनी टिप्पणियों अथवा लेखोंके विरुद्ध किसी का संशोधन नहीं छापता। बाक़ी सम्पादककी ओरसे जिस किसी संशोधनके निकाले जानेकी प्रेरणा की गई है उसे उसके औचित्य-विचार पर छोड़ा गया है। उसने लेखके छापनेमें अपनी किसी ग़लतीका अनुभव नहीं किया और इसलिये किसी संशोधन के देने की जरूरत नहीं समझी। फिर उसपर 'दिगम्बर जैन' वाले लेखमें आपत्ति कैसी ? और इस लेखमें अपने पूर्वपत्रों के विरुद्ध लिखने का साहस कैसा !!

एक बात और भी बतला देनेकी है और वह यह कि पहले पत्रके विरुद्ध दूसरे पत्र और आक्षेप-वाले लेखमें सन् १९१८ वाले पंक्तिके रूपको देख लेनेकी और तदनुसार उस "नोट" नामक लेख को ठीक कर लेनेकी जो नई बात उठाई गई है उससे लेखक महाशय लेखके छापने-न-छापनेके विषयमें क्या नतीजा निकालना चाहते हैं वह कुछ समझमें नहीं आता ! सन् १९१८ के उस पाठको तो मैंने खुद ही लेखका संपादन करते हुए देख लिया था और उसके अनुसार जहाँ कहीं पहले पाठको देते हुए आपके लिखनेमें कुछ भूल हुई थी उसे सुधार भी दिया था। पर उससे तो लेखके छापने या न छापनेका प्रश्न कोई हल नहीं होता। इससे मालूम होता है कि लेखक महाशय इतने असावधान हैं कि वे अभी तक भी अपनी भूलको नहीं समझ रहे हैं—यह भी नहीं समझ रहे हैं कि पहले हमने क्या लिखा और अब क्या लिख रहे हैं—और बराबर भूल पर भूल करते चले जाते हैं। पहली भूल आपने पहला लेख लिखनेमें की, दूसरी भूल दूसरे पत्रके भेजनेमें और तीसरी भूल दिगम्बरजैन-वाले लेखके आक्षेप-वाले अंशको लिखनेमें की है। आपके लेखों तथा पत्रोंको देखनेसे हर कोई विचारक आपकी भारी असावधानीका अनुभव कर सकता है और यह भी जान सकता है कि आप दूसरों की बातों को कितने ग़लत रूपमें प्रस्तुत करते हैं। इतनी भारी असावधानी रखते हुए भी आप ऐतिहासिक लेखोंके लिखने अथवा उन पर विचार करनेका साहस करते हैं, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है। अस्तु।

इस संपूर्ण कथन, विवेचन अथवा दिग्दर्शन पर से सहृदय पाठक सहज ही में यह नतीजा निकाल सकते हैं कि बाबू साहबका आक्षेप कितना निःसार, निर्मूल, मिथ्या अथवा बेबुनयाद है, और इस लिये उसके आधार पर उन्होंने 'दिगम्बर जैन' में अपने लेख को भेजने के लिये जो बाध्य होना लिखा है वह समुचित तथा मान्य किये जाने के योग्य नहीं। मैं तो उसे महज़ शर्मसी उतारने के लिये ऊपरी तथा नुमाइशी कारण समझता हूँ—भीतरी कारण नैतिक बलका अभाव जान पड़ता है। मालूम होता है संपादकीय नोटों के भयसे ही उन्होंने कहीं यह मार्ग अख्तियार किया है, जो ऐतिहासिक क्षेत्रमें काम करने वाले तथा सत्यका निर्णय चाहने वालोंको शोभा नहीं देता। वे यदि अपना प्रतिवादात्मक लेख 'अनेकान्त' को भेजते और वह युक्तिपुरस्सर, सौम्य तथा शिष्ट भाषामें लिखा होता तो 'अनेकान्त' को उसके छापने में कुछ भी उज्र न होता। आपके जिस दूसरे लेख पर मैंने कुछ नोट दिये थे उसके विरोध में एक विस्तृत लेख मुनि कल्याणविजयजीका इसी संयुक्त किरणमें प्रकाशित हो रहा है, आप चाहें तो उसपर और मेरे नोटों पर भी एक साथ ही कोई प्रतिवादात्मक लेख 'अनेकान्त' को भेज सकते हैं। उस पर तब काफी विचार हो जायगा।

—सम्पादक 'अनेकान्त'

'अनेकान्त' पर लोकमत

६२ सम्पादक 'धन्वन्तरि' विजयगढ़, अलीगढ़–

"इस (अनेकान्त) के सभी लेख बड़ी गहन विवेचना, ऐतिहासिक गंभीरता और पांडित्यसे पूर्ण हैं। लेखोंका चयन जैसी उत्तम शैलीसे हो रहा है उसे देखते हुए हमें पूर्ण आशा है कि जैन साहित्यके पाठकोंमें 'अनेकान्त' अनेकों हृदयों पर अधिकार जमा लेगा और सफलता प्राप्त करेगा। पत्र तुलनात्मक विज्ञानके जिज्ञासुओंके अध्ययन करने योग्य है, और हम हृदयसे सहयोगीका स्वागत करते हैं।"

६३ श्री० नन्ददुलारेजी बाजपेयी, काशी–

"आपके पत्रकी तीन-चार संख्याओंके लिए धन्यवाद देरसे दे रहा हूँ। मैंने साम्प्रदायिक पत्रोंमें इतनी विचारगहनता बहुत कम देखी थी, आपकी उदार बुद्धि भी प्रशंसनीय है। मैं जैनी नहीं हूँ, पर आपके पत्रको बड़ी उत्सुकता और ध्यानसे पढ़ता हूँ।"

६४ मिस्टर सी. एस. मल्लिनाथजी, मद्रास—

"It is excelent in every way"

'यह 'अनेकान्त' पत्र सब प्रकारसे उत्तम है'।

६५ मिस्टर ए० बी० लट्ठे, दीवान साहब महाराजा कोल्हापुर—

" I have now read five issues of your esteemed paper, the "Anekanta", and must write to you to offer my very hearty congratulations to you upon the great service you hsve been doing for Jainism. Even when I received your first kiran, I expected that the magazine would be a success under your control. I am glad the issues hitherto published have more than fulfilled all my expectations. Your expositions of the principles of the Jain religion and of the antiquities of those who have prosfesed it and spread it are masterpieces of their kind, not only by their deep scholarship but by their perfect impartiality and their endeavour to reach truth, pure and simple

I wish you, your institution and the magazine a long and prosperous life. It would be the duty of every lover of Jainism to help you in your noble work in the cause of the true religion"

'मैं अब आपके माननीय पत्र "अनेकान्त" की पाँच किरणें पढ़ गया हूँ और मुझे उस महती सेवाके लिये, जो आप जैन धर्मकी कर रहे हैं, आपको अतीव हार्दिक धन्यवाद भेंट करना चाहिये। जब मुझे आपकी पहली किरण मिली थी तभी मैंने आशा की थी कि यह पत्र आपकी अधीनतामें सफलताको प्राप्त होगा। मुझे हर्ष है कि अब तक की प्रकाशित किरणोंने मेरी समग्र आशाओंको पूरा करनेमे भी कहीं अधिक काम किया है। जैनधर्मके सिद्धान्तों की और उन व्यक्तियों के प्राचीन समयोंकी जिन्होंने जैनधर्मको धारण किया तथा उसका प्रचार किया है, आपकी व्याख्याएँ अपने ढंगकी अद्वितीय कृतियाँ हैं, महज़ इसी लिये नहीं कि वे गहरे पांडित्यसे पूर्ण हैं बल्कि इस लिये भी कि

वे पूर्ण निष्पक्षता को लिये हुए हैं और उस सत्य तक पहुँचनेका प्रयत्न करती हैं, जो निर्मल तथा सरल है।

मैं चाहता हूँ कि आप, आपकी संस्था और आप का पत्र दीर्घ तथा समृद्ध जीवनको प्राप्त होवें। जैनधर्म के प्रत्येक प्रेमीका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वह आप के इस सत्यधर्मास्पद कार्यमें सहायता प्रदान करे।'

६६ प्रो० डब्लू० शुब्रिंग, पी० एच० डी०, जर्मनी—

"I beg to acknowledge the receipt of Kir. 1 3.4 of the "Anekanta" you kindly sent me for review. I can congratulate you to have started that journal the appearance and contents of wich are equally satisfying, and it will give mea pleasure to mention it in my work on Jainism and its history and sacred texts. For scholars of the west, the essays on the field of history of Jain literature, are of course the interesting part of the contents, and I hope every number will have somewhat of that kind"

'आपकी कृपापूर्वक सम्मत्यर्थ भेजी हुई 'अनेकान्त' की किरणें नं० १, ३, ४ मिलीं। मैं ऐसे पत्र को जारी करनेके लिये आपको धन्यवाद देता हूँ, जिस का बाह्य रूप और भीतरी लेख समानरूपसे संतोषप्रद हैं, और मुझे जैनधर्म और उसके इतिहास तथा पवित्र साहित्य-विषयक अपने ग्रंथ में इसका उल्लेख करना आनन्दप्रद होगा। इस पत्रके लेखोंमें जैन साहित्यके इतिहास-क्षेत्रसे सम्बंध रखने वाले लेख अवश्य ही पश्चिमी विद्वानोंके लिये सबसे अधिक चित्ताकर्षक हैं, और मैं आशा करता हूँ कि प्रत्येक किरणमें उस प्रकार के कुछ-न-कुछ लेख जरूर रहेंगे।'

६७ बाबू छोटेलालजी जैन, कलकत्ता—

"'अनेकान्त' की तीन किरणें प्राप्त हुईं, अनेक धन्यवाद। तीनों अंकों पर सम्मति के लिये संकेत है किन्तु जो पत्र प्राक्तन-विमर्ष-विचक्षण विद्यावय-वृद्ध श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी के तत्त्वाधानमें प्रकाशित हो उस पर सम्मतिकी क्या आवश्यकता है।

श्री मुख्तार जीके लेखोंको पढ़नेका जिन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे भले प्रकार जानते हैं कि आपका हृदय जैनत्वसे ओतप्रोत भरा हुआ है। जैन इतिहास के अन्वेषणमें तो आप एक अद्वितीय रत्न हैं। अन्य कृतियोंके सिवाय केवल आपका "स्वामी समन्तभद्र" ही इस बातका सजीव उदाहरण है। आप जैसे कृतविद्य अध्यवसायी महानुभाव सम्पादक हैं यही मुझे संतोष है।

तीनों ही अङ्क भीतरी और बाहरी दोनों दृष्टियोंमे बहुत सुन्दर हैं। लेखोंका चयन और सम्पादकीय विचार बड़ी योग्यतासे किये गये हैं। संपादकीय टिप्पणियाँ बड़े मारकेकी हैं। संपादककला-कुशलताका पूर्ण परिचय सामने है और अपने यशोविस्तार और उद्देश-साफल्य की पूर्व सूचना देते हैं। तीनों ही अंक जैसी उपयोगी सामग्रीसे परिपूर्ण प्रकाशित हुये हैं उसे देखते हुए इसके उज्वल भविष्यमें किसी प्रकारका संदेह नहीं किया जा सकता।

"जैनहितैषी" और "भास्कर" की अन्त्येष्टी क्रिया के पश्चात् अनेक दिनोंसे मरणोन्मुख इस जैन जातिके पुनरुत्थानके लिये ऐसे पत्र की अनिवार्य आवश्यकता थी। जो जाति पुराकालमें सर्व प्रकारसे योग, शिक्षित, बलवान, उदार और श्रेष्ठ थी वही वीर आत्माओं की सन्तान आज उन गौरवों को विस्मरण कर सर्व प्रकार से ह्रासको प्राप्त हुई है। उसको यदि पुनः जागृत करने का कोई साधन है तो वह इसी प्रकार केवल मात्र उस के अतीत गौरवका समुचित रूपेण प्रकाशन है। जो धर्म राष्ट्रधर्म रह चुका है, जिसका अवशिष्ट साहित्य, कला-कौशल, विज्ञान अब भी कठिनसे कठिन टक्करें ले सकते हैं उसकी अवनति देख रोना पड़ता है। चिन्तामणि रत्नके स्वामी उस रत्नकी शक्तिसे अनभिज्ञ हो उस से एक पैसेके तैलयुक्त प्रदीपका कार्य ले रहे हैं। दुःख है।

यह "अनेकान्त" पत्र निःसन्देह जैनजातिके हृदय में उस आवश्यक शक्तिका संचार करेगा और पुनः इस पवित्र सार्व धर्म की ध्वजा संसारमें फहरायेगा। श्रीजिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना है कि इस नवजात शिशुको चिरंजीव करें। जैन बन्धुओंसे निवेदन है कि इसे पूर्णतः अपनावें। आश्रम और "अनेकान्त" दोनोंसे ही मेरी पूर्ण सहानुभूति है और इनकी सहायताके लिये मैं सदा साथ हूँ।"

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥
—अमृतचन्द्रसूरिः ।

वर्ष १ | समन्तभद्राश्रम, क़रौलबाग़, देहली । आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, संवत् १९८७ वि०, वीर-निर्वाण सं० २४५६ | किरण ८,९,१०

धर्मस्थिति-निवेदन

कहाँ वह जैनधर्म भगवान !

(१)

जाने जगको सत्य सुझायो,
टालि अटल अज्ञान ।
वस्तु-तत्त्वपै कियो प्रतिष्ठित,
अनुपम निज विज्ञान ॥ कहाँ० ॥

(२)

साम्यवादको प्रकृत प्रचारक,
परम अहिंसावान ।
नीच-ऊँच निर्धनी-धनीपै,
जाकी दृष्टि समान ॥ कहाँ० ॥

(३)

देवतुल्य चाण्डाल बतायो,
जो है समकितवान ।
शुद्र, म्लेच्छ, पशुहूने पायो,
समवसरणमें स्थान ॥ कहाँ० ॥

(४)

सती-दाह, गिरिपात, जीवबलि,
मांसाशन मद-पान ।
देवमूढ़ता आदि मेटि सब,
कियो जगत कल्यान ॥ कहाँ० ॥

(५)

कट्टर वैरीहूपै जाकी—
क्षमा, दयामय बान ।
हठ तजि, कियो अनेक मतनको—
सामंजस्य-विधान ॥ कहाँ० ॥

(६)

अब तो रूप भयो कछु औरहि,
सकहिं न हम पहिचान ।
समता-सत्य-प्रेमने इक सँग,
यातें कियो पयान ॥ कहाँ० ॥

नाथुराम प्रेमी

समाज-सम्बोधन

(१)

दुर्भाग्य जैनसमाज, तेरा क्या दशा यह होगई !
कुछ भी नहीं अवशेष, गुण-गरिमा सभी तो खो गई !
शिक्षा उठी, दीक्षा उठी, विद्याभिरुचि जाती रही !
अज्ञान दुर्व्यसनादिसे मरणोन्मुखी काया हुई !

(२)

वह सत्यता, समुदारता तुझमें नजर पड़ती नहीं !
दृढ़ता नहीं, क्षमता नहीं, कृतविज्ञता कुछ भी नहीं !
सब धर्मनिष्ठा उठ गई, कुछ स्वाभिमान रहा नहीं !
भुजबल नहीं, तपबल नहीं, पौरुष नहीं, साहस नहीं !

(३)

क्या पूर्वजोंका रक्त अब तेरी नसोंमें है कहीं ?
सब लुप्त होता देख गौरव जोश जो खाता नहीं।
ठंडा हुआ उत्साह सारा, आत्मबल जाता रहा।
उत्थानकी चर्चा नहीं, अब पतन ही भाता रहा !!

(४)

पूर्वज हमारे कौन थे ? वे कृत्य क्या क्या कर गये ?
किन किन उपायोंसे कठिन भवसिन्धुको भी तर गये?
रखते थे कितना प्रेम वे निजधर्म-देश-समाजसे ?
परहितमें क्यों संलग्न थे, मतलब न था कुछ स्वार्थसे?

(५)

क्या तत्त्व खोजा था उन्होंने आत्म-जीवनके लिए ?
किस मार्गपर चलते थे वे अपनी समुन्नतिके लिए ?
इत्यादि बातोंका नहीं तव व्यक्तियोंको ध्यान है।
वे मोहनिद्रामें पड़े, उनको न अपना ज्ञान है ॥

(६)

सर्वस्व यों खोकर हुआ तू दीन, हीन, अनाथ है।
कैसा पतन तेरा हुआ, तू रूढ़ियोंका दास है !
ये प्राणहारि- पिशाचिनी, क्यों जालमें इनके फँसा ?
ले पिण्ड तू इनसे छुड़ा,यदि चाहता अब भी जिया।

(७)

जिस आत्म-बलको तू भुला बैठा उसे रख ज्ञानमें,
क्या शक्तिशाली ऐक्य है, यह भी सदा रख ध्यानमें।
निज पूर्वजोंका स्मरण कर, कर्तव्य पर आरूढ़ हो,
बन स्वावलम्बी, गुण-ग्राहक, कष्टमें न अधीर हो ॥

(८)

सद्दृष्टि-ज्ञान-चरित्रका सुप्रचार हो जगमें सदा,
यह धर्म है, उद्देश है; इससे न विचलित हो कदा।
'युग-वीर' बन यदि स्वपरहितमें लीन तू हो जायगा,
तो याद रख, सब दुःख संकट शीघ्र ही मिट जायगा॥

—'युगवीर'

साधु-विवेक

[लेखक—श्री० दलीपसिंहजी कागजी]

असाधु

वस्त्र रँगाते, मन न रँगाते, कपट-जाल नित रचते हैं।
'हा ! सुमरनी पेट कतरनी', परधन-वनिता तकते हैं ॥
आपा परकी खबर नहीं, परमार्थिक बातें करते हैं।
ऐसे ठगिया साधु जगतकी, गली गली में फिरते हैं ॥

साधु

राग,द्वेष जिनके नहिं मनमें, प्रायः विपिन विचरते हैं।
क्रोध, मान,मायादिक तजकर,पंच महाव्रत धरते हैं ॥
ज्ञान-ध्यानमें लीनचित्त, विषयोंमें नहीं भटकते हैं।
वे हैं साधु; पुनीत, हितैषी, तारक जो खुद तरते हैं ॥

जैन-मंत्रशास्त्र और 'ज्वालिनीमत'

यद्यपि मंत्रवाद, जो कि योगका एक अंग है—जिसे 'मंत्रयोग' कहते हैं—और जो जैन परिभाषामें 'पदस्थध्यान'के अन्तर्गत है, बहुत प्राचीन कालसे चला आता है; परन्तु भारतवर्षमें एक समय ऐसा भी आया है जब कि इसकी ख़ास तौरसे वृद्धि हुई है, इसमें अनेक शाखा-प्रतिशाखाएँ फूटी हैं और यह आध्यात्मिक विकासकी सीमासे निकल कर प्रायः लौकिक कार्योंकी सिद्धिका प्रधान साधन बना है। यह समय 'तान्त्रिकयुग' कहलाता है। इस युगमें तान्त्रिकों—वैदिकधर्मकी एक शाखा विशिष्टके अनुयायियों—द्वारा मंत्रों, तंत्रों तथा यंत्रोंका बहुत कुछ आविष्कार और प्रचार हुआ है, उन्हें ही लौकिक तथा पारलौकिक सभी कार्योंकी सिद्धिका एक आधार बनाया गया है और इन विषयों पर सैकड़ों ग्रंथोंकी रचना की गई है। ये ग्रंथ 'तंत्रशास्त्र' या 'मंत्रशास्त्र' कहलाते हैं और इनमें प्रायः मंत्र, तंत्र और यंत्र तीनों ही विषयोंका समावेश रहता है, जिन्हें साधारण बोलचालमें जादू, टोना और तावीज़—गण्डा समझिये।

जब देशका वातावरण मंत्रवादसे परिपूर्ण था; अनेक प्रकारके देवी-देवताओंकी कल्पना तथा आराधना-द्वारा अपनी इष्टसिद्धि करनेका बाज़ार गर्म था; आकर्षण, उच्चाटन, वशीकरण, स्तंभन, मारण, विद्वेषण, शान्तिकरण और पुष्टिकरणके प्रयोग मंत्रों-द्वारा किये जाते थे; रोगोंकी चिकित्सा मंत्रोंद्वारा होती थी; नहाने धोने, खाने पीने, चलने फिरने, उठने बैठने, और हगने मूतने तककी प्रायः सभी क्रियाओंके साथ मंत्र जुड़ गये थे—मंत्रोंका सहारा लिये बिना लोग इधर उधर हिल-डुल नहीं सकते थे; मंत्रबलके द्वारा कुछ अतिशय-चमत्कार दिखलाना ही जब योग्यताका एक सार्टिफिकेट समझा जाता था, और जो लोग ऐसा नहीं कर सकते थे उनका प्रायः कोई ख़ास प्रभाव जनता पर अंकित नहीं होता था; बौद्ध भिक्षुओं तकमें तान्त्रिकता फैल गई थी अथवा फैलनी प्रारंभ हो गई थी तब कितने ही अध्यात्मनिष्ठ जैन साधु भी इस लोकप्रवाहमें अपनेको रोक नहीं सके, और इसलिये उन्होंने भी समयके अनुकूल अपने मंत्रवादको संस्कारित किया, अनेक अतिशय—चमत्कार दिखलाये, अपने मंत्रबलसे जनताको मुग्ध कर उसे अपनी ओर आकर्षित किया और लोगों पर यह भले प्रकार प्रमाणित कर दिया कि उनका मंत्रवाद किसीसे भी कम नहीं है—प्रत्युत, बढ़ा चढ़ा है। साथ ही, उन्होंने कितने ही मंत्रशास्त्रोंकी भी सृष्टि कर डाली, जिन सबका मूल 'विद्यानुवाद' नामका १० वाँ 'पूर्व' बतलाया जाता है।

इन जैन मुनियोंने 'विद्यानुवाद' पूर्वसे जिन जिन कर्मोंका आविर्भाव किया है, उनमेंसे बहुतसे कर्म ऐसे भी हैं जो कुमार्ग और कुध्यानका विषय हैं और जिनकी बाबत शुभचन्द्राचार्य ने अपने 'ज्ञानार्णव' में

लिखा है कि वे कौतूहलके लिये प्रकट किये गये हैं:—

बहूनि कर्माणि मुनि प्रवीरै-
र्विद्यानुवादात्प्रकटीकृतानि ।
असंख्यभेदानि कुतूहलार्थं,
कुमार्ग-कुध्यानमतानि सन्ति ॥ ४०—४ ॥

मुनियोंका यह 'कौतूहलार्थ' कार्य सिवाय इसके और कुछ समझमें नहीं आता कि उन्होंने लोकमें अपनी प्रतिष्ठाको तथा भ्रमवश जैनशासनकी प्रतिष्ठाको भी क़ायम रखनेके लिये वैसा करना ज़रूरी समझा। अन्यथा, जैनमुनियोंके लिये स्वप्नमें भी कौतूहलके तौर पर ऐसे असत् ध्यानोंके सेवनका विधान नहीं है; क्योंकि कौतुकरूपसे भी किये हुए ऐसे कुध्यान सन्मार्गकी हानिके लिये बीजरूप हो पड़ते हैं अथवा अपने ही नाशका कारण बन जाते हैं। जैसा कि श्रीशुभचन्द्राचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि,नाऽसद्ध्यानानि योगिभिः ।
सेव्यानि यान्ति बीजत्वं,यतः सन्मार्गहानये ॥६॥
असद्ध्यानानि जायन्ते स्वनाशायैव केवलम् ।
रागाद्यसद्ग्रहावेशात्कौतुकेन कृतान्यपि ॥ ८ ॥

—ज्ञानार्णव ४० वाँ सर्ग ।

इसमें संदेह नहीं कि काम-क्रोधादि-वशीभूत क्षुद्र देवताओंकी आराधना को लिये हुए ऐसे कुध्यानोंमें पड़कर कितने ही मुनि अपने उच्च आदर्शसे अपने आध्यात्मिक विकासके दृष्टि-बिन्दुसे च्युत होकर पतित हुए हैं, और इसीलिये जैन शास्त्रोंमें जगह जगह मुनियोंको इस प्रकारके मंत्र-तंत्र-यंत्रादिकके झगड़ोंमें पड़नेका निषेध किया है—भले ही गृहस्थ लोग उनका कुछ अनुष्ठान करें। परन्तु यहाँ पर इस विषयकी कोई विशेष चर्चा करनेका अवसर नहीं है। मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि उस समय जैनमंत्र-शास्त्रोंकी जो सृष्टि हुई और उनकी जो परम्परा चली उस सबके फलस्वरूप आज भी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके जैनसाहित्यमें बहुतसे मंत्रशास्त्र पाये जाते हैं। 'ज्ञानार्णव' आदि योग-विषयक ग्रंथोंमें 'पदस्थ' नामक धर्म्य ध्यानके अंतर्गत जो मंत्रवाद पाया जाता है, उसे छोड़ कर दिगम्बर मंत्रशास्त्रोंमेंसे कुछके नाम इस प्रकार हैं:— १ ज्वालिनीमत, २ विद्यानुशासन, ३ ज्वालिनीकल्प, ४ भैरव-पद्मावतीकल्प, ५ भारतीकल्प, ६ कामचाण्डालीकल्प, बालग्रहचिकित्सा, ८ ऋषिमंडलयंत्र-पूजा, ९ श्रीदेवताकल्प, १० सरस्वतीकल्प, ११ नमस्कारमंत्र-कल्प।

इनमेंसे पहला ग्रंथ इन्द्रनन्दियोगीन्द्रका, नं० २ से ७ तक छह ग्रन्थ मल्लिषेण आचार्यके, ८ वाँ ग्रंथ गुणनन्दी मुनिका,९वाँ अरिष्टनेमि भट्टारकका, १०वाँ अर्हद्दासका, और ११ वाँ सिंहनन्दीका बनाया हुआ है। इनके सिवाय, गणधरवलयकल्प, ब्रह्मदेवस्तोत्र, पद्मावतीस्तोत्र, ज्वालिनीस्तोत्र, पार्श्वनाथस्तोत्र, कूष्माण्डनीस्तोत्र, सरस्वतीस्तोत्र, कलिकुंडपूजा, घंटाकर्णस्तोत्र, बीजकोश और हनुमत्पताकाविधि आदि और भी कितने ही ग्रन्थ अथवा प्रकरण पाये जाते हैं, जो सब मंत्रोंके अनुशासनको लिये हुए हैं; परन्तु इनके रचयिताओंके नाम मुझे इस समय ठीक मालूम नहीं, संभव है कि इनमें कोई श्वेताम्बराचार्यकी कृति भी हो, प्रायः ये सब ग्रंथ बम्बईके ऐलक पन्नालाल-सरस्वती भवनमें मौजूद हैं और अन्यत्र भी पाये जाते हैं। इनमें से नं०८ का 'ऋषिमंडलयंत्र-पूजा, नामका ग्रन्थ भाषा टीका-सहित छप चुका है। 'बीजकोश' गद्यमय और पद्यमय दोनों प्रकारके पाये जाते हैं। इनमें मंत्रोंके बीजाक्षरोंका परिचय है—अर्थात् यह बतलाया गया है

कि कौन बीजाक्षर किस अर्थमें अथवा किस कार्यसिद्धिके लिये प्रयुक्त होता है। हनुमत्पताकाविधिके अन्तमें निम्न दो पद्य पाये जाते हैं, जिनमें बतलाया है कि इस हनुमन्तपताकाको गजके ऊपर स्थापित करके यदि शत्रु-सैन्यके सम्मुख रक्खा जाय तो उसके दर्शनमात्रसे शत्रु व्याकुल होकर नाशको प्राप्त हो जाते हैं अथवा भाग जाते हैं, जैसे सिंहको देख कर मृग :—

हनुमन्तपताकेयं गजस्योपरि संस्थिता।
धारिताया प्रयत्नेन रिपुसैन्यस्य सम्मुखे ॥२२॥
तस्या दर्शनमात्रेण व्याकुलीकृतमानसः।
नश्यन्ति रिपवस्तस्य सिंहस्यैव मृगा यथा ॥२३

उपलब्ध दिगम्बर साहित्यमें मंत्रशास्त्रके सबसे अधिक ग्रन्थ मल्लिषेणाचार्यके पाये जाते हैं। आप बड़े मन्त्रवादी थे—महापुराणमें आपने अपनेको खास तौर से 'गारुडमन्त्रवादवेदी' लिखा है—और साथ ही सरस्वतीसे आप कोई वर भी प्राप्त थे, जिसका उल्लेख आपने 'भैरवपद्मावतीकल्प'में सरस्वतीलब्धवरप्रसादः इन स्पष्ट शब्दोंमें किया है और दूसरे ग्रन्थोंमें 'वाग्देवतालंकृतः' 'वाग्देवताललितचित्तपत्रः' 'लब्धवाणीप्रसादेन' इस प्रकारके विशेषणपदों-द्वारा उसकी सूचना की है। आप 'उभयभाषाकविशेखर'-की पदवीसे विभूषित थे और 'नागकुमारकाव्य' तथा 'महापुराण' की रचनासे पहले 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' की पदवीको भी प्राप्त हो चुके थे, इसीसे आप उसका उल्लेख अपने इन दो ग्रन्थोंमें कर सके है। आप अजितसेनाचार्यके प्रशिष्य जिनसेनाचार्य के शिष्य थे और आपका समय विक्रमकी ११ वीं तथा १२ वीं शताब्दी है, क्योंकि आपका 'महापुराण' शक संवत् ९६९ (वि० ११०४) में बन कर समाप्त हुआ है। मंत्रशास्त्रका आपका सबसे बड़ा ग्रन्थ 'विद्यानुशासन' है, जिसमें चौबीस अधिकार तथा पाँच हजार मंत्र हैं। जैसा कि उसके निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

अथ मंत्रिलक्षणविधिर्मंत्राणां लक्ष्म मन्त्रपरिभाषा।
सामान्यमंत्रसाधनयुक्तिः सामान्यमंत्राणाम् ॥१
गर्भोत्पत्तिविधानं बालचिकित्सा ग्रहोपसंग्रहणं।
विषहरणं फणितंत्रं मण्डल्याद्यपनयो रुजां शमनम्
कृतरुगथो मृत्यतिविधानमुच्चाटनं च विद्वेषः।
स्तंभः शान्तिः पुष्टिर्वश्या स्त्र्याकर्षणं नर्म॥३।
अधिकाराणां शास्त्रेऽस्मिन्निमेचतुर्विंशतिःक्रमात्कथिताः।पंचसहस्राण्यस्य मन्त्राणां भवति संख्यानम्॥२

मंत्रशास्त्रके नामोंमें जो 'कल्प' शब्दका प्रयोग पाया जाता है उसका अर्थ प्रायः 'मन्त्रवाद' है और जिस देवताका नाम उसके साथमें जुड़ा हुआ है उसे उस देवताका मंत्रवाद समझना चाहिये। कल्पका अर्थ 'सिद्धान्त' तथा 'मत' का भी है, और इस अर्थमें भी वह अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है—इसीसे 'ज्वालिनीमत' को 'ज्वालिनीकल्प' और 'ज्वालिनीमंत्रवाद' इन नामोंसे भी उसी ग्रन्थमें उल्लेखित किया है।

मल्लिषेणके 'भैरवपद्मावतीकल्प' में १ साधकलक्षण, २ सकलीकरण, ३ देवीपूजाक्रम, ४ द्वादशयंत्रभेदकथन, ५ स्तंभन, ६ स्त्रियोंका आकर्षण, ७ वशीकरणमंत्र, ८ अपरनिमित्त, ९ वश्यौषध और १० गारुड, ऐसे दस अधिकार हैं। इस ग्रंथ पर खुद ग्रंथकारने अपनी टीका भी लिखी है। इसमें 'पद्मावती' देवीके पद्मासे भिन्न १ त्रोतला, २ त्वरिता, ३ नित्या, ४ त्रिपुरा, ५ कामसाधनी, ६ त्रिपुरभैरवी ऐसे छह नाम और दिये हैं * और फिर इन छहोंका भी अलग अ-

* त्रोतला त्वरिता नित्या त्रिपुरा कामसाधनी।
देव्या नामानि पद्मायास्तथा त्रिपुरभैरवी ॥३॥

लग स्वरूप दिया है और इस तरह पद्मावतीको सप्त रूप धारिणी प्रतिपादित किया है। वे सातों रूप इस प्रकार हैं :—

१ जिसके चार हाथोंमें क्रमशः पाश, फल, वरद तथा अंकुश हैं, कमलका आसन है, तीन नेत्र हैं और रक्त पुष्पकी समान जिसके शरीरकी आभा है वह **पद्मा**; २ जिसके हाथोंमें पाश, वज्र, फल तथा कमल हैं वह **त्रोतला**; ३ जिसके हाथोंमें शंख, पद्म, अभया तथा वरद हैं और प्रभा अरुण है वह **त्वरिता**; ४ जिसके हाथोंमें पाश, अंकुश, कमल तथा अक्षमाला है, और जो हँस वाहिनी, अरुण प्रभाको लिये हुए तथा जटामें बाल चंद्रमासे मंडित है वह **नित्या**, ५ जिसकी आठ भुजाएँ क्रमशः शूल, चक्र, कशा, कमल, चाप, बाण, फल, अंकुश से शोभित है और जो कुंकुम प्रभाको लिये हुए है वह **त्रिपुरा**; ६ जिसके हाथोंमें शंख, पद्म, फल तथा कमल हैं, बन्धूक पुष्पकी समान जिसकी आभा है और कुक्कुट तथा सर्प जिसका वाहन है वह **कामसाधनी**, ७ और जिसकी भुजाएँ क्रमशः पाश, चक्र, धनुष, बाण, खेट, खड्ग, फल, कमलसे शोभित हैं, जो इन्द्रगोपकी आभाको लिये हुए है और जिसके तीन नेत्र हैं वह **त्रिपुरभैरवी** नामकी पद्मावती है।

ग्रंथके अंतमें मंत्रदानविधिको बतलाते हुए लिखा है कि 'हमने यह गुरुपरम्परासे आया हुआ मंत्र अग्नि, सूर्य, चंद्रमा, तारों, आकाश और पर्वतोंकी साक्षी करके आपको दिया है आप भी इसे किसी सम्यक्त्वरहित पुरुषको न देवें, किन्तु जिनधर्म तथा गुरुजनोंकी भक्तिसे युक्त पुरुषको ही देना चाहिये, यदि तुम किसी लाभके वश या स्नेहसे किसी अन्य धर्मके भक्तको दोगे तो बाल-स्त्री-गौ तथा मुनिके घातका जो पाप लगता है वह तुमको लगेगा, ऐसा शाप देकर गुरुदेवके सन्मुख मंत्रवादी दूसरेको मंत्र समर्पित करे।'

'कामचाण्डालीकल्प' में भी मंत्र देनेके विषयमें इसी प्रकारकी विज्ञापना की गई है। इस ग्रंथमें १ साधक, २ देवीका आराधन, ३ अशेषजनवशीकरण ४ यंत्र तंत्र और ५ ज्वालागर्दभलक्षण नामके पाँच अधिकार हैं और **कामचण्डाली** की स्तुति करते हुए उसका स्वरूप इस प्रकार दिया है:—

भूषिताभरणैः सर्वैर्मुक्तकेशा निरम्बरा।
पातु मां कामचाण्डाली कृष्णवर्णा चतुर्भुजा ॥२
फलकांचकलशकरा शाल्मलिदण्डोद्धुरगोपेता।
जयतात् त्रिभुवनवन्द्या जगति श्रीकामचाण्डाली ३

अर्थात्—जो सब आभूषणोंसे भूषित है, वस्त्ररहित नग्न है, सिरके बाल जिसके खुले हुए हैं वह श्यामवर्णा चतुर्भुजा **कामचण्डाली** मेरी रक्षा करो। जिसके हाथोंमें फल, कांच (?) कलश हैं, जो शाल्मलिदण्डको लिये हुए हैं और सर्पसे युक्त है वह त्रिभुवनवन्दनीया **कामचण्डाली** देवी जयवंत हो।

मल्लिषेणाचार्यके ग्रन्थोंसे लगभग एक शताब्दी पहलेका बना हुआ **'ज्वालिनीमत'** नामका मंत्रशास्त्र है, जिसे **'ज्वालिनीकल्प'** और **'ज्वालिनीमन्त्रवाद'** भी कहते हैं—संधियोंमें सर्वत्र 'ज्वालिनीमत' नामका ही उल्लेख है। यह ग्रन्थ शक संवत् ८६१ (वि०सं० ९९६) के अतीत होने पर अक्षय तृतीया (वैशाखशु०३) के दिन मान्यखेट राजधानीमें, जहाँ श्रीकृष्णराजका राज्य प्रवर्तमान था, बन कर समाप्त हुआ है, और इसकी श्लोकसंख्या ५०० है, जैसा कि इसके निम्न अन्तिम पद्योंसे प्रकट है :—

अष्टाशतस्यैकषष्टिप्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु ।
श्रीमान्यखेटकटके पर्वण्यक्षयतृतीयायाम् ॥
शतदलसहित चतुःशतपरिमाणग्रन्थरचनयायुक्तं ।
श्रीकृष्णराजराज्ये समाप्तमेतन्मतं देव्याः ॥

उक्त सब ग्रंथोंमें यह ग्रंथ सबसे अधिक प्राचीन जान पड़ता है और इसका साहित्य भी दूसरोंकी अपेक्षा प्रौढताको लिये हुए है। इस पर टिप्पणी भी मिलती है; परन्तु वह किसके द्वारा की गई है इसका उस परसे कुछ पता नहीं चल सका। यह ग्रन्थ जिन इन्द्रनन्दि योगीन्द्रका रचा हुआ है वे बप्पनंदि के शिष्य तथा 'वासवनन्दि' के प्रशिष्य थे और वासवनन्दिके गुरु एक दूसरे इन्द्रनन्दि मुनीन्द्र थे। ग्रन्थकारने अपने इन तीनों पूर्व गुरुओंका गुणवर्णनादिरूपसे कितना ही परिचय दिया है परन्तु वह यहाँ पर अप्रस्तुत होने से छोड़ा जाता है। हाँ, ग्रन्थके शुरूमें ग्रन्थकी उत्पत्तिका जो क्रम दिया है वह बड़ा ही रोचक जान पड़ता है और इस मंत्रशास्त्रकी मूलोत्पत्तिके साथ खास तौरसे सम्बद्ध है। अतः उसका परिचय नीचे दिया जाता है:—

मंगलाचरण और ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञाके चार श्लोकों* के बाद, जिनमें 'ज्वालिनी (ज्वालामालिनी) देवीका स्वरूप भी आ जाता है, ग्रन्थकार महोदय लिखते हैं:—

* ये चारों श्लोक इस प्रकार हैं —

चंद्रप्रभजिननाथं चन्द्रप्रभमिन्द्रनंदिमहिमानम् ।
ज्वालामालिन्यर्चितचरणसरोजद्वयं वन्दे ॥ १ ॥

कुमुददलधवलगात्रा महिषमहावाहनोज्वलाभरणा ।
मा पातु वन्हिदेवी ज्वालामालाकरालाङ्गी ॥ २ ॥

जयताद्देवी ज्वालामालिन्युद्यत्त्रिशूलपाशझष-
कोदण्डकाण्डफलवरदचक्रचिन्हो ज्वलाष्टभुजा ॥ ३ ॥

अर्हत्सिद्धाचार्यो पाध्यायान् सकलसाधु मुनिमुख्यान् ।
प्रणिपत्य मुहुर्मुहुरपि वक्ष्येऽहं ज्वालिनीकल्पम ॥ ४ ॥

'दक्षिण भारतके अन्तर्गत मलय देशके हेमग्राममें (जिसे टिप्पणीमें कर्णाटक भाषाका 'होन्नूर' ग्राम बतलाया है) द्रविडगणके अधीश्वर एक धीमान् मुनि महात्मा रहते थे, जिनका नाम 'हेलाचार्य' था। (टिप्पणी में आपको 'एलाचार्य' रूपमें भी उल्लेखित किया है)। कमलश्री आपकी शिष्या थी, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंको जानने वाली मानो श्रुतदेवी ही थी। कर्मयोगसे वह ब्रह्मराक्षस नामके किसी रौद्र ग्रहके द्वारा गृहीत हुई, और इसलिये संध्याके समय वह कभी हाहाकार करके रोती थी, कभी अट्टहास करती थी, कभी जप करने लगती थी, कभी वेदोंको पढ़ने लगती थी और फिर क़हक़हा लगा कर हँस पड़ती थी; कभी गर्वके साथ कहने लगती थी कि ऐसा कौन मंत्रवादी है जो अपनी मंत्रशक्तिसे मुझे छुड़ाए, और कभी विकारभावको लिये जँभाई लेने लगती थी। उसे इस प्रकार अतिदुष्ट ग्रहसे परिपीड़ित देखकर और उसके प्रत्युपाय के विषयमें किंकर्तव्यविमूढ होकर वे मुनि महाराज बहुत ही आकुलचित्त हुए। अन्तको उन्होंने कमलश्रीका ग्रह छुड़ानेके लिये उस ग्राम (होन्नूर) के निकट नीलगिरि पर्वतके शिखर पर विधिपूर्वक ज्वालामालिनीदेवी की साधना की।

सात दिनकी साधनाके बाद वह देवी प्रत्यक्ष हो कर मुनिमहाराजके सामने खड़ी हो गई और बोली—'हे आर्य कहिये आपका क्या काम है।' इस पर हेलाचार्य बोले—'हे देवि, मैंने काम-आदि किसी लौकिक फल सिद्धिके लिये तुम्हें अवरुद्ध नहीं किया है—नहीं रोका है—किन्तु कमलश्रीका ग्रह छुड़ानेके लिये रोका है; अतः ग्रहसे छुटकारा दिलाइये, इतना ही मेरा कार्य है।' आचार्यश्रीके वचनको सुन कर देवीने कहा 'तो यह कौनसी बड़ी बात है? आप मनमें ज़रा भी खेद न कीजिये और इस मंत्रसे ग्रहका मोचन कीजिये,' यह कह कर मृदुतर आयसपत्र पर मंत्रको लिख कर उसे मुनिजीको दे दिया। उस मंत्रीकी विधिको न जानते हुए मुनिजीने फिर देवीसे कहा 'मैं इस मंत्रकी बाबत कुछ भी नहीं जानता हूँ, अतः स्पष्ट करके मंत्राराधन,

क्रमको बतलाइये।' तब उस ज्वालिनी देवीने एलाचार्य जीको मंत्रका सारा रहस्य व्याख्या करके समझाया और फिर भी उनकी भक्तिके वश वह मंत्र उन्हें बतौर सिद्धविद्याके दे दिया और साथ ही यह कह दिया कि आप होमजपके बिना भी जिस किसीको साधनविधिसे * यह मंत्र देंगे वह भी सिद्धविद्य हो जायगा। और यदि नहीं दोगे तो जो सिद्ध करना चाहे वह रमणीक उद्यानवनमें, जिनमंदिरमें, नदीके किनारे, पुलिन पर, गिरिशिखर पर अथवा अन्य किसी निर्जन्तुक स्थान पर स्थिर होकर द्रव्यमनमें अधिष्ठितभाव मनके द्वारा एक लक्षप्रमाण मंत्रका जाप करके और दस हजार संख्या प्रमाण होम करके सिद्धिको प्राप्त करे' ऐसा कहकर वह देवी अपने स्थानको चली गई।

एलाचार्यने तब वहीं बैठे हुए उस दुष्ट ब्रह्मराक्षसको दहनाक्षरोंके द्वारा दंदह्यमान चिन्तवन करके रोते-चिल्लाते हुए को निकाल बाहर किया। एक ही भूत-दहनस्वरूप र र र र बीजाक्षरका ध्यान करके जब ग्रह निर्घाटित हो जाता है तो शेष दस निग्रहोंके लिये ऐसा कौनसा ग्रह है जो असाध्य हो? कोई भी नहीं। अस्तु; देवीके आदेशसे उन मुनिमहाराजने तब 'ज्वालिनीमत' नामक शास्त्रकी रचना की। वह शास्त्र उनके शिष्य गाङ्गमुनि को प्राप्त हुआ; फिर क्रमशः नीलग्रीव, बीजाबाख्य, आर्या क्षान्तिरसब्बा और क्षुल्लक विरुवट्ट को उसकी प्राप्ति हुई। इस गुरुपरिपाटीसे वह अविच्छिन्न संप्रदायके द्वारा चला आया और तब उसका ज्ञान कन्दर्पाचार्यको हुआ। उन्होंने अपने पुत्रसमान गुणनन्दि मुनिको उपदेशसहित 'ज्वालिनीमत' की व्याख्या की। इन दोनों मुनियों (कन्दर्पाचार्य और गुणनन्दी) के पाससे इन्द्रनन्दि मुनिने उस शास्त्रका सूत्ररूप (शब्दशः) तथा अर्थरूपसे सविशेष अध्ययन किया। प्राक्तनशास्त्र क्लिष्ट ग्रन्थ है, ऐसा विचार करके उन 'इन्द्रनन्दि' मुनिने ललित-आर्या छंदों तथा गीतादि छंदोंमें इस ग्रंथकी रचना की है। इसमें हेलाचार्यका कहा हुआ अर्थ ही ग्रन्थपरावर्तन (शब्दादिपरिवर्तन) के द्वारा निबद्ध हुआ है। यह ग्रंथ सकल जगतको अपूर्व विस्मयजनक तथा जनसमूहके लिये हितकारी है। अतः इसको सुनो।'

इस कथनके पिछले दो पद्य इस प्रकार हैं:—

क्लिष्टग्रंथं प्राक्तनशास्त्रं तदिति स चेतसि निधाय।
तेनेन्द्रनन्दिमुनिना ललितार्यावृत्तगीताद्यैः ॥२६॥
हेलाचार्योक्तार्थं ग्रन्थपरावर्त्तनेन रचितमिदम्।
सकलजगदेकविस्मयजननं जनहितकरं शृणुत॥२७

इस परिचयसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि यह शास्त्र और भी अधिक प्राचीन है और इसकी प्रथमसृष्टि 'हेलाचार्य' के द्वारा हुई है, जिन्हें 'एलाचार्य' भी कहते हैं। इंद्रनंदिने सहज भाषादिक अथवा शब्द-छन्दादिकके परिवर्तन-द्वारा उसे कुछ सरल बना कर यह नूतन संस्करण उपस्थित किया है। इसीसे ग्रन्थकी सब संधियोंमें ग्रंथका विशेषण 'हेलाचार्यप्रणीतार्थ' दिया है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है:—

इति हेलाचार्यप्रणीतार्थे श्रीमदिन्द्रनन्दियोगीन्द्रविरचितग्रंथसन्दर्भे ज्वालिनीमते मंत्रिलक्षणनिरूपणाधिकारः प्रथमः।

इस मंत्रशास्त्रमें १ मंत्री, २ ग्रह, ३ मुद्रा, ४ मंडल, ५ कटुतैल, ६ वश्ययंत्र, ७ सुतंत्र, ८ स्नपनविधि, नीराजनविधि और १० साधनविधि नामके दस अधिकार हैं, जिनमें क्रमशः विषयका वर्णन किया गया है। इनमेंसे कुछ का परिचय 'अनेकान्त' की अगली किरणमें दिया जायगा, और उससे पाठकोंको कितनी ही नई बातें मालूम होंगी और यह समझमें आसकेगा कि मंत्रसाधन करने वाला मंत्री कैसा होना चाहिये—कौन इस मंत्रसाधनका पात्र तथा कौन अपात्र है,—ग्रहोंके कितने भेद हैं, कैसे पुरुष-स्त्रियोंको ग्रह लगते हैं और किस ग्रहके लगनेसे क्या चेष्टा होती है, इत्यादि।

जुगलकिशोर मुख्तार

* 'साधनविधिना' पद पर ''निःसमन्त्रतंत्रसाधनप्रकारेण'' ऐसी टिप्पणी दी है।

जैनियोंका अत्याचार

जो जैनी वनस्पतिकायके जीवोंकी भी रक्षा करते हैं, उनके ऊपर अत्याचारके दोषका आरोपण होते देख बहुतसे पाठक चौंकेंगे—परन्तु नहीं, चौंकने की ज़रूरत नहीं है। वास्तवमें जैनियोंने घोर अत्याचार किया है और वे अब भी कर रहे हैं। हमारे भाइयोंने अभी तक इस ओर लक्ष्य ही नहीं दिया और न कभी एकान्तमें बैठकर इसपर विचार ही किया। यदि जैनियोंके अत्याचारकी मात्रा बढ़ी हुई न होती तो आज जैनियोंका इतना पतन कदापि न होता—जैनियोंकी यह दुर्दशा कभी न होती। जैनियोंका समस्त अभ्युदय नष्ट हो जाना, इनके ज्ञान-विज्ञानका नामशेष रह जाना, अपने बल-पराक्रमसे जैनियोंका हाथ धो बैठना, अपना राज्य गँवा देना, धर्मसे च्युत और आचारभ्रष्ट हो जाना तथा जैनियोंकी संख्याका दिनपरदिन कम होते जाना और जैनियोंका सर्व प्रकारसे **नगण्य** और **निस्तेज** हो रहना, यह सब अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है—इन सबका कोई प्रधान कारण ज़रूर है; और वह जैनियोंका अत्याचार है।

जिस समय हम जैन सिद्धान्तको देखते हैं, जैनियोंकी कर्म-फिलासोफीका अध्ययन करते हैं और साथ ही, जैनियोंकी यह पतितावस्था क्यों? लौकिक और परमार्थिक दोनों प्रकारकी उन्नतिमें जैनी इतने पीछे क्यों? इस विषय पर अनुसंधानपूर्वक गंभीर भावसे गहरा विचार करते हैं तो उस समय हमको मालूम होता है और कहना पड़ता है कि यह सब जैनियोंके अपने ही कर्मोंका फल है। जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। अवश्य ही जैनियोंने कुछ ऐसे काम किये हैं जिनका कटुक फल वे अब तक भुगत रहे हैं। यह कभी हो नहीं सकता कि **अत्याचार तो करें दूसरे लोग और फल उसका भोगना पड़े जैनियोंको**। जैन फिलासोफी इसको माननेके लिए तैयार नहीं। यदि थोड़ी देरके लिए उस मनुष्यको भी जिसपर अत्याचार किया गया हो, कोई बुरा फल सहन करना हो अथवा किसी आपत्तिका निशाना बनना पड़े तो कहना होगा कि उसने भी ज़रूर अपनी चेष्टा या अपने मन-वचनादिकके द्वारा दूसरोंके प्रति कोई अत्याचारविशेष किया है और वह बुरा फल उसकेही किसी कर्मविशेषका नतीजा है। यही हालत जैनसमाजकी है। यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि पिछले समयमें जैनियों पर थोड़े बहुत अत्याचार ज़रूर हुए हैं; परन्तु वे अत्याचार जैनियोंकी वर्तमान दशाके कारण नहीं हो सकते। जैनियोंकी वर्तमान अवस्था कदापि उनका फल नहीं है। यदि जैनियोंने उन अत्याचारोंको मनुष्य बनकर सह लिया होता और स्वयं उनसे अधिक अत्याचार न किया होता तो ज़रूर था कि यह जैनबाग़ (जैनसमाज) दूसरोंके अत्याचाररूपी खाद (Manure) से और भी हराभरा और सरसब्ज़ होता—खूब फलता और फूलता; परन्तु जैनियोंको ऐसी सद्बुद्धि ही उत्पन्न नहीं हुई। उनके विचार प्राय इतने संकीर्ण और स्वार्थमय रहे हैं कि सदसद्विवेकवती बुद्धिको उनके पास फटकनेमें भी लज्जा आती थी। अत्याचार और भी अनेक धर्मानुयायियोंको सहन करने पड़े हैं; परन्तु उनमेंसे जिन्होंने अपने कर्तव्यपथको नहीं छोड़ा, अपने सामाजिक सुधारको समझा, उन्नतिके मार्गको पहचाना, अपनी त्रुटियोंको दूर किया, सबको प्रेमकी दृष्टिसे देखा और अपने स्वार्थको गौणकर दूसरोंका हितसाधन

किया, वे दुखके दिन व्यतीत करके आज अपने सत्कर्मोंका सुमधुर फल भोग रहे हैं। इससे साफ़ प्रगट है कि जैनियोंकी वर्तमान दशा उन अत्याचारोंका फल नहीं है जो जैनियोंपर हुए, बल्कि उन अत्याचारोंका फल है जो जैनियोंने दूसरोंपर किये और जो परस्पर जैनियोंने एक दूसरे पर किये। सच है, **मनुष्योंका अपने ही कर्मोंसे पतन और अपने ही कर्मोंसे उत्थान होता है।** जिन जैनियोंके ज्ञान और आचरणकी किसी समय चारों ओर धाक थी, जिनके सर्वप्राणिप्रेमने अनेक बार जगतको हिला दिया, और जिनका राज्य समुद्रपर्यंत फैला हुआ था; आज वे ही जैनी बिलकुल ही रंक बने हुए हैं! यह सब जैनियोंके अपने ही कर्मोंका फल है! इसके लिए किसीको दोष देना—किसी पर इलज़ाम लगाना भूल है। जैनियोंकी वर्तमान स्थिति इस बातको बतला रही है कि, उन्होंने ज़रूर कोई भारी अत्याचार किये हैं; तभी उनकी ऐसी शोचनीय दशा हुई है।

जैनियोंने एक बड़ा भारी अपराध तो यह किया है कि इन्होंने दूसरे लोगोंको धर्मसे वंचित रक्खा है। ये खुद ही धर्मरत्नके भंडारी और खुद ही उसके सोल प्रोप्राइटर (अकेले ही मालिक) बन बैठे। दूसरे लोगोंको—दूसरे समाज-वालों तथा दूसरे देशनिवासियोंको—धर्म बतलाना, धर्मके मार्ग पर लगाना तो दूर रहा, इन्होंने उलटा उन लोगोंसे धर्मको छिपाया है। इनकी अनुदार दृष्टिमें दूसरे लोग प्रायः बड़ी ही घृणाके पात्र रहे हैं, वे मनुष्य होते हुए भी मनुष्यधर्मके अधिकारी नहीं समझे गये! यद्यपि जैनी अपने मंदिरोंमें यह तो बराबर घोषणा करते रहे कि मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई शत्रु नहीं है, मिथ्यात्व ही संसारमें परिभ्रमण करानेवाला और समस्त दुःखोंका मूल कारण है। परन्तु मिथ्यात्वमें फँसे हुए प्राणियों पर इन्हें ज़रा भी दया नहीं आई, उनकी हालत पर इन्होंने ज़रा भी तरस नहीं खाया और न मिथ्यात्व छुड़ानेका कोई यत्न ही किया। इनका चित इतना कठोर हो गया कि दूसरोंके दुखसुखसे इन्होंने कुछ सम्बन्ध ही नहीं रक्खा।

जिस प्रकार कोई दुरात्मा पुत्र अपने स्वार्थमें अंधा होकर यह चाहता है कि मैं अकेला ही पैतृक सम्पत्तिका मालिक बन बैठूँ और अपनी इस कामनाको पूरा करनेके लिए वह अपने पिताके समस्त धन पर अधिकार कर लेता है—यदि पिताने कोई वसीयत भी की हो तो उसको छिपानेकी चेष्टा करता है—और अपने उन भाइयोंको जो दूरदेशान्तरोंमें रहनेवाले हैं, जो नाबालिग़ (अव्युत्पन्न) हैं, जो भोले या मूर्ख हैं, जिनको अन्य प्रकारसे पिताके धनकी कुछ खबर नहीं है अथवा जो निर्बल हैं उन सबको अनेक उपायों-द्वारा पैतृक सम्पत्तिसे वंचित कर देता है। उसे इस बातका ज़रा भी दुख-दर्द नहीं होता कि मेरे भाइयोंकी क्या हालत होगी? उनके दिन कैसे कटेंगे? और न कभी इस बातका खयाल ही आता है कि मैं अपने भाइयों पर कितना अन्याय और अत्याचार कर रहा हूँ, मेरा व्यवहार कितना अनुचित है, मैं अपने पिताको आत्माके सन्मुख क्या मुँह दिखाऊँगा। उसके विवेकनेत्र बिलकुल स्वार्थसे बन्द हो जाते हैं और उसका हृदययंत्र संकुचित हो कर अपना कार्य करना छोड़ देता है। ठीक उसी प्रकारकी घटना जैनियोंकी हुई है। ये अकेले ही परमपिता श्रीवीर जिनेन्द्रकी सम्पत्तिके अधिकारी बन बैठे। **"समस्त जीव परस्पर समान हैं; जैनधर्म आत्माका निजधर्म है; प्राणीमात्र इस धर्मका अधिकारी है; सबको जैनधर्म बतलाना चाहिए और सबको प्रेमकी दृष्टिसे देखते हुए उनके उत्थानका यत्न करना चाहिए।"** वीर जिनेंद्रकी इस वसीयतको—उनके इस पवित्र आदेशको—इन स्वार्थी पुत्रोंने छिपानेकी पूर्णरूपसे चेष्टा की है। इन्होंने अनेक उपाय करके अपने दूसरे भाइयोंको धर्मसे कोरा रक्खा, उनकी हालत पर ज़रा भी रहम नहीं खाया और न कभी अपने इस अन्याय, अत्याचार और अनुचित व्यवहार पर विचार या पश्चाताप ही किया। बल्कि जैनियोंका यह अत्याचार बहुत कुछ अंशोंमें उस स्वार्थान्ध पुत्रके अत्याचारसे भी बढ़ा रहा। क्योंकि किसी

अधिकारीको धनादिकसे वंचित रखना, यद्यपि, अत्याचार जरूर है परन्तु जान बूझकर किसीको आत्मलाभसे वंचित रखना, यह उससे कहीं बढ़कर अत्याचार है। मेरा तो, इस विषयमें यहांतक खयाल है कि यह अत्याचार किसीको जानसे मार डालनेकी अपेक्षा भी अधिक है। धनादिक परपदार्थोंका वियोग इतना दुःखजनक नहीं हो सकता जितना कि आत्मलाभसे वंचित रहना। जो लोग अपनी आत्माको जानते हैं, अपने स्वरूपको पहचानते हैं, धर्म क्या और अधर्म क्या इसका जिन्हें बोध है, उनको धनादिकका वियोग भी इतना कष्टकर नहीं होता जितना कि न जानने और न पहचानने वालोंको होता है। इसलिए दूसरोंको धर्मसे वंचित रखना उनके लिए घोर दुःखोंकी सामग्री तैयार करना है। क्या इस अत्यचारका भी कहीं ठिकाना है? शोक! ऐसा महान् अत्याचार करने वाले जैनियोंका पाषाणहृदय, दूसरोंके दुःखोंका स्मरण ही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी जरा नहीं पसीजा—आत्मलाभसे वंचित पापी और मिथ्यादृष्टि मनुष्य जैनियोंके सन्मुख ही अनेक प्रकारके अनर्थ और पापाचरण करके अपनी आत्माओंका पतन करते रहे; परन्तु जैनियोंको उनपर कुछ भी दया नहीं आई और न दूसरे जीवोंकी रक्षाका ही कुछ खयाल उत्पन्न हुआ।

संसारमें ऐसा व्यवहार है कि यदि कोई अंधा मनुष्य कहीं चला जा रहा हो और उसके आगे कुआँ आजाय तो देखने वाले उस अंधेको तुरन्त ही सावधान कर देंगे और अपनी समस्त शक्तिको, उसे कुएँमें गिरनेसे बचाने अथवा गिरजाने पर उसके शीघ्र निकालनेमें लगा देंगे। यदि कोई मनुष्य अंधेके आगे कुआँ देखकर भी चुपचाप बैठा रहे और उसकी रक्षाका कुछ भी उपाय न करे तो वह बहुत पापी और निंद्य समझा जाता है। किसी कविने कहा भी है कि:--

"जब तू देखै आँखसे, अंधे आगे कूप।
तब तेरा चुप बैठना, है निश्चय अघरूप॥"

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य किसीको दिनदहाड़े लूटता हो और दूसरा आदमी उसके इस कृत्यको देखता हुआ भी आनंदसे हुक्का गुड़गुड़ाता रहे और उसके बचानेकी कुछ भी कोशिश न करे तो कहना होगा कि वह महा अपराधी है। जैनी लोग इस बातको बराबर स्वीकार करते आए हैं कि मिथ्यादृष्टि लोग अंधे होते हैं—उन्हें हित अहित कुछ भी सूझ नहीं पड़ता—परन्तु जैनियोंके सन्मुख ही लाखों और करोड़ों मिथ्यादृष्टि अन्याय, अभक्ष्य और अतत्त्वश्रद्धारूपी कुएँमें बराबर गिरते रहे तो भी इन सद्दृष्टियोंको उनपर जरा भी दया न आई। इन्होंने अपने मौनव्रतको भंगकर उनके बचाने या निकालनेकी कुछ भी चेष्टा नहीं की। और तो क्या, इनके सामने ही बहुतसे इनके भाइयों (जैनियों) का धर्मधन लूट लिया गया और वे मिथ्यादृष्टि बना दिये गये; परन्तु फिर भी इनके कठोर चित्त पर कुछ आघात नहीं पहुँचा। ये बराबर अपने आनन्दमें मस्त रहे। कोई जीओ या मरो, इन्होंने उसकी कुछ परवा नहीं की। बल्कि ये लोग उलटा खुश हुए और इन्होंने जान बूझकर अपने बहुतसे भाइयोंको लुटेरोंके सपुर्द किया। यदि किसी भाईसे कोई अपराध या खोटा आचरण बन गया तो इन्होंने उसको अपनेमें से ऐसे निकाल कर फेंक दिया जैसा कि दूधमेंसे मक्खीको निकाल कर फेंक देते हैं। इन्होंने उसको कुछ भी धीर-दिलासा नहीं दिया, न इन्होंने उसके खोटे आचरणको छुड़ाकर धर्ममें स्थिर करनेकी कोशिश की और न प्रायश्चित्त आदिसे शुद्ध करनेका कोई यत्न ही किया। बल्कि उसके साथ बिलकुल शत्रुओं-सरीखा व्यवहार करना प्रारंभ कर दिया। नतीजा इसका यह हुआ कि उसको अपनी संसारयात्राका निर्वाह करनेके लिए दूसरोंका शरण लेना पड़ा और वह हमेशाके लिये जैनियोंसे बिछड़ गया। इससे समझ लीजिए कि जैनियोंने कितना बड़ा अपराध और अत्याचार किया है—कहाँ तक इन्होंने अपने धर्मका उल्लंघन और कहाँ तक उसके विरुद्ध आचरण किया है।

मनुष्यका यह धर्म नहीं है कि यदि कोई मनुष्य किसी नदी आदिमें गिरता हो या बहता जाता हो तो

उसको उलटा धक्का दे दिया जावे। और यदि वह किनारेके पास भी हो और निकलना भी चाहता हो तो उसको ठोकर मार कर और दूर फेंक दिया जावे, जिससे वह निकलनेके क़ाबिल भी न रहे। बल्कि इसके विपरीत उसको न गिरने देना या हस्तावलम्बन देकर निकालना ही मनुष्यधर्म कहलाता है। इसी लिए जैनियोंके यहाँ '**स्थितिकरण**' धर्मका अंग रक्खा गया है। स्वामी **समन्तभद्राचार्य** ने 'रत्नकरंड श्रावकचार' में इसका स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है:—

"दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥"

अर्थात्—जो लोग किसी कारणवश अपने यथार्थ आचरणसे डिगते हों, धर्मसे प्रेम रखने वाले पुरुषोंको चाहिए कि उनको फिरसे अपने श्रद्धान और आचरणमें दृढ कर दें। यही 'स्थितिकरण' अंग कहलाता है।

परन्तु शोक! जैनियोंने यह सब कुछ भुला दिया। गिरते को सहारा या हस्तावलम्बन देना तो दूर रहा इन्होंने उलटा उसको और जोरका धक्का दिया। श्रद्धान और आचरणसे डिगना तो दूसरी बात, यदि किसीने रूढियों (आधुनिक जैनियोंके सम्यक्‌चारित्र?) के विरुद्ध ज़रा भी आचरण किया अथवा उनके विरुद्ध अपना ख़याल भी ज़ाहिर किया तो बस उस बेचारे की शामत आ गई, और वह झट जैनसमाजसे अपना अलग जीवन व्यतीत करनेके लिए मजबूर किया गया! जैनियोंके इस अत्याचारसे हज़ारों जैनी गाटे, दस्से या बिनैकया बन गये; लाखों अन्यमती हो गये; जैनियोंको देखते देखते मुसलमानी ज़मानेमें लाखों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जबरन मुसलमान बना लिये गये; और इस ज़मानेमें तो कितने ही ईसाई भी बना लिये गये; परन्तु जैनियोंके संग दिल पर इससे कुछ भी चोट नहीं लगी। इन्होंने आज तक भी उन सबोंके शुद्ध करनेका—अपने बिछुड़े हुए भाइयोंको फिरसे गले लगानेका—कोई उपाय नहीं किया। ऐसा कोई अपराध नहीं जिसका प्रायश्चित्त न हो सके। **भगवज्जिनसेनाचार्य** के निम्नलिखित वाक्यसे भी प्रगट है कि—'यदि किसी मनुष्यके कुलमें किसी भी कारणसे कभी कोई दूषण लग गया हो तो वह राजा या पंच आदिकी सम्मतिसे अपनी कुलशुद्धि कर सकता है। और यदि उसके पूर्वज—जिन्होंने दोष लगाया हो—दीक्षायोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हों तो उस कुलशुद्धि करने वालेका और उसके पुत्र पौत्रादिक संतानका यज्ञोपवीत संस्कार भी हो सकता है।' वह वाक्य इस प्रकार है:—

कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम्।
सोपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसंततौ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥

—आदिपुराण पर्व ४०।

इससे दस्सों और हिन्दूसे मुसलमान या ईसाई बने हुए मनुष्योंकी शुद्धिका ख़ासा अधिकार पाया जाता है। बल्कि शास्त्रोंमें उन म्लेच्छोंकी भी शुद्धिका विधान देखा जाता है जो मूलसे ही अशुद्ध हैं। आदिपुराणमें यह उपदेश स्पष्ट शब्दोंमें दिया गया है कि, 'प्रजाको बाधा पहुँचानेवाले अनक्षर (अनपढ़) म्लेच्छोंको कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेने चाहिएँ।' यथा:—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥ १७॥

—आदिपुराण पर्व ४२।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी जैनियोंके संकीर्ण हृदयने महात्माओंके इन उदार और दयामय उपदेशोंको ग्रहण नहीं किया। सच भी है, सेरभरके पात्रमें मनभर कैसे समा सकता है? अपात्र जैनियोंके हाथमें जैनधर्म पड़ जानेसे ही उन्होंने जैनधर्मका गौरव नहीं समझा और इसलिए दूसरोंपर मनमाना अत्याचार किया है।

मैं कहता हूँ कि दूसरोंको धर्म बतलाने या सिखलानेमें धार्मिकभाव और परोपकारबुद्धिको जाने दीजि-

लिए, जैनियोंने यह भी नहीं समझा कि **परिस्थिति** कितने महत्त्वकी चीज़ है। क्या परस्थिति कभी उपेक्षणीय हो सकती है? कदापि नहीं। जहां चारों ओरका जलवायु दूषित हो वहाँ कदापि आरोग्यता नहीं रह सकती। जहाँ चारों ओर मिथ्यादृष्टियों और पापाचारियोंका प्राबल्य हो वहाँ जैनी भी अपना सम्यक्त्व और धर्म क़ायम नहीं रख सकते। यदि जैनियोंने इस परस्थितिके महत्वको ही समझ लिया होता तब भी वे आत्मरक्षाके लिए ही दूसरोंकी स्थितिका सुधार करना अपना कर्तव्य समझते, अवश्य ही दूसरोंको धर्मकी शिक्षा देनेका प्रयत्न करते और कदापि धर्मप्रचारके कार्यसे उपेक्षित न होते; परन्तु महर्षियों-द्वारा संरक्षित **वीरजिनेन्द्रकी** सम्पत्तिको पाकर जैनी ऐसे कृपण बने—इनमें चित्तको कठोर करनेवाली ऐसी धार्मिक कृपणता आई कि दूसरोंको उस सम्पत्तिसे लाभ पहुँचाना तो दूर रहा, ये खुद भी उससे कुछ लाभ न उठा सके। यदि इस परमोत्कृष्ट जैनधर्मको पाकर जैनी अपना ही कुछ भला करते तो भी एक बात थी; परन्तु कृपणका धन जिस प्रकार दान और भोगमें न लगकर तृतीया गति (नाश) को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जैनियोंने जैनधर्म भी तृतीयागतिको पहुँचा दिया—न आप इससे कुछ लाभ उठाया और न दूसरोंको उठाने दिया, वैसे ही इसको नष्ट-भ्रष्ट और लुप्तप्राय कर दिया—और जिस प्रकार बादल सूर्यके प्रकाशको रोक लेते हैं उसी प्रकार इन धार्मिक-कृपणोंने जैनधर्मके प्रकाशको आच्छादित कर दिया!

जैनियोंने **जिनवाणी माता** के साथ जैसा सलूक किया है उसको याद करके तो हृदय काँपता है और शरीरके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन्होंने **माताको** उन अँधेरी कोठरियोंमें बंद करके रक्खा, जहाँ रोशनी और हवाका गुज़र नहीं; उसका अंग चूहोंसे कुतरवाया और दीमकोंको खिलाया; माता गलती है या सड़ती, जीती है या मरती, इसकी इन्होंने कुछ भी पर्वाह नहीं की! हजारों जैनग्रंथोंकी मिट्टी हो गई, हजारों शास्त्र चूहों और दीमकोंके पेटमें चले गये, लाखों और करोड़ों मनुष्य मातृवियोग दुःखसे पीड़ित रहे; परन्तु इन समस्त दृश्योंसे जैनियोंके वज्रहृदय पर कुछ भी चोट नहीं लगी! माता पर इस प्रकारके अत्याचार करते हुए जैनियोंका हृदय ज़रा भी कम्पायमान नहीं हुआ और इन्हें कुछ भी लज्जा या शर्म नहीं आई!! इन्होंने उलटी यहाँतक निर्लज्जता धारण की कि अपने इन अत्याचारोंका नाम '**विनय**' रख छोड़ा! वास्तवमें इनका नाम विनय नहीं है, ये घोर अत्याचार हैं और न ढाई हाथ दूरसे जोड़ने या चावलके दाने चढ़ा देनेका नाम ही विनय है। जिनवाणीका विनय है—**जैनशास्त्रोंका पढ़ना-पढ़ाना, उनके मुताबिक—उनकी शिक्षाओंके अनुसार—चलना और उनका सर्वत्र प्रचार करना**। इस वास्तविक विनयसे जैनी प्रायः कोसोंदूर रहे और इसलिए इन्होंने माताका घोर अविनय ही नहीं किया, बल्कि कितने ही जैनशास्त्रोंका लोप भी किया है। इसीका फल है जो आज बहुतसे शास्त्र नहीं मिलते। इनकी इस विलक्षण विनयवृत्तिको देख कर ही एक दुःखित हृदय कविने कहा है:—

बस्ते बंधे पड़े हैं "अलमारीफ़नूनके[1]!
चावल चढ़ावें उनको बस इतने हैं काम के!!"

इसीप्रकार जैनियोंने **स्त्रीसमाज** पर जो अत्याचार किया है वह भी कुछ कम नहीं है। इन्होंने लड़कियोंको बेचा, धनके लालचसे अपनी सुकुमार बालिकाओंको यमके यजमानोंके गले बांध उन्हें हमेशाके लिए पापमय जीवन व्यतीत करनेको मजबूर किया, अनमेल सम्बन्ध करके स्त्रियोंका जीवन दुःखमय बनाया और उन्हें अनेक प्रकारका दुःख और कष्ट पहुँचाया। पर इन सब अत्याचारोंको रहने दीजिए। जैनियोंने इन सब अत्याचारोंसे बढ़कर स्त्रीसमाज पर जो भारी अत्याचार किया है उसका नाम है **स्त्रीसमाजको अशिक्षित रखना**। स्त्रियों और बालिकाओंको विद्या न पढ़ाकर जैनियोंने उनके साथ बड़ी ही शत्रुताका व्यवहार किया है। जिस विद्या और ज्ञानके बिना मनुष्य निद्रित, अचेत, पशु और मृतकके तुल्य वर्णन किये

१ विद्याओं——विज्ञानों तथा कला-कौशल के।

गये हैं और जिसके विना सुख-शाँतिकी प्राप्ति नहीं हो सकती, उसी विद्या और ज्ञानसे जैनियोंने स्त्रियोंको वंचित रक्खा, यह इनका कितना बड़ा अन्याय है ? जैनियोंने स्त्रियोंकी योग्यता और उनकी विद्यासम्पादन-शक्तिको न समझा हो, ऐसा नहीं; किन्तु 'लड़कियाँ पराए घरका धन और पराए घरकी चाँदनी हैं, वे हमारे कुछ काम नहीं आ सकतीं;।' इस स्वार्थमय वासनासे जैनियोंने उन्हें विद्यासे विमुख रक्खा है। इस नीच विचारने ही जैनियोंको अपनी संतानके प्रति ऐसा निर्दय बनाया और इतना विवेकहीन बनाया कि उन्होंने स्त्रीसमाजके साथ पशुओंसदृश व्यवहार किया, उन्हें जड़वत रक्खा, काष्ठपाषाणकी मूर्तियाँ समझा और उन्हें अपनी आत्मोन्नति करने देना तो दूर रहा, यह भी खबर न होने दी कि संसारमें क्या हो रहा है। क्या यह थोड़ा अत्याचार है ? नहीं इस अत्याचारके करनेमें जैनी मनुष्यताका भी उल्लंघन कर गये। इनसे पशुपक्षी ही अच्छे रहे जो अपनी नर और मादी दोनों प्रकारकी संतानको समान दृष्टिसे अवलोकन करते हैं और उससे किसी भी प्रकारके प्रत्युपकारकी वांछा न रखते हुए अपना कर्त्तव्य समझ कर सहर्ष उसका पालन पोषण करते है।

यहाँ पर मुझे यह लिखते हुए दुःख होता है कि जैनियोंका यह अत्याचार केवल स्त्रीसमाजको हो नहीं भोगना पड़ा, बल्कि पुरुषोंको भी इसका जिम्मेदार बनना पड़ा है—बालकों पर भी इसका नजला टपका है। माताओंके अशिक्षित रहनेसे —परस्थितिके बिगड़ जानेसे—वे भी शिक्षासे प्रायः विहीन ही रहे हैं। हजारोंमें दस पाँचने यदि मामूली विद्या पढ़ी भी —कुछ अक्षरोंका अभ्यास किया भी—तो इसका नाम शिक्षा नहीं है। जैन बालकोंको जैसी चाहिए वैसी विद्यायें नहीं पढ़ाई गईं। यदि उन्हें बराबर विद्यायें पढ़ाई जातीं तो आज उन हजारों विद्याओंका लोप न होता, जिनका उल्लेख जैन शास्त्रोंमें मिलता है। दिव्य विमानोंकी रचनाको जाने दीजिए, आज कोई जैनी उस मयूरयन्त्रके बनानेकी विधि भी नहीं जानता, जिसको जीवंधरके पिता सत्यंधरने बनाया था और उसमें अपनी गर्भवती स्त्रीको बिठलाकर, गर्भस्थ पुत्रकी रक्षाके लिए, उसे दूर देशान्तरमें पहुँचाया था! इसी प्रकार सैंकड़ों विद्याओंका नामोल्लेख किया जा सकता है। जैनियोंने शिक्षा और खासकर स्त्रीशिक्षासे द्वेष रखकर इन समस्त विद्याओंके लोप करनेका पाप अपने सिर लिया है और इसलिए जैनी समस्त जगतके अपराधी हैं।

जैनियोंका एक भारी अत्याचार औरभी है और वह अपनी संतानकी छोटी उम्रमें शादी करना है। इसके विषयमें मुझे कुछ विशेष लिखनेकी जरूरत नहीं है। हाँ, इतना जरूर कहूँगा कि इस राक्षसी कृत्यके द्वारा आज तक लाखोंही नहीं किन्तु करोड़ों दूधमुँही बालिकाएँ विधवा हो चुकी हैं—वैधव्यकी भयंकर आँचमें भुन चुकी है—, हजारोंने अपने शीलशृंगारको उतार दिया, व्यभिचारका आश्रय लिया, दोनों कुलोंको कलंकित किया और भ्रूणहत्यायें तक कर डालीं। इसके सिवाय, बाल्यावस्थामें स्त्री-पुरुषका संसर्ग हो जानेसे जो शारीरिक और मानसिक निर्बलतायें इनकी संतानमें उत्तरोत्तर प्राप्त हुई उनका कुछभी पारावार और हिसाब नहीं है। निर्बल मनुष्यका जीवन बड़ा ही वबाले-जान और संकटमय होता है। रोगोंका उस पर आक्रमण हो जाना तो एक मामूलीसी बात है। जैनियोंके इस अत्याचारसे उनकी संतान बड़ी ही पीड़ित रही। उसमें हिम्मत, साहस, धैर्य, पुरुषार्थ और वीरता आदि सद्गुणोंकी सृष्टि ही एकदम उठ खड़ी हुई। जैनी निर्बल होकर तन्दुल मच्छकी तरह घोर मानसिक पापोंका संचय करते रहे और इन पापोंने उदय आकर जन्म-जन्मान्तरोंमें इन्हें खब ही नीचा दिखाया। जैनियोंका यह गुड्डा गुड्डीका खेल (बाल्यविवाह) बड़ा ही हृदयद्रावक है। इसने जैनसमाजकी जड़में बड़ा ही कुठाराघात किया है।

इस प्रकार जैनियोंने बहुत बड़े बड़े अत्याचार किये हैं। इनके सिवा और जो छोटे मोटे अत्याचार किये हैं उनकी कुछ गिनती ही नहीं है। जैनियोंके इन अत्याचारोंसे जैनधर्म कितना कलंकित हुआ और जगमें कैसे कैसे अनर्थ फैले, इसका कुछ ठिकाना नहीं है।

जैनियोंके इन सब अत्याचारों ही का फल उनकी वर्त्तमान दशा है। बल्कि नहीं, जैनियोंमें इस समय जो कुछ थोड़ी बहुत अच्छी बातें बची-खुची हैं उनका श्रेय स्वामी **कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्द** और **सिद्धसेन** आदि परमोपकारी आचार्यों तथा अन्य परोपकारी महानुभावोंको प्राप्त है। इन्हीं जगद्बन्धुओंके आश्रित रहनेसे ही जैनधर्मके अभी तक कुछ चिन्ह अवशेष पाये जाते हैं; अन्यथा, आमतौर पर जैनियोंके अत्याचार उनकी सत्ताको बिलकुल लोप करनेके लिए काफी थे। जब तक जैनियोंने अत्याचार करना प्रारंभ नहीं किया था तब तक इनका बराबर डंका बजता रहा, ये खूब फलते और फूलते रहे। परन्तु जबसे ये लोग अत्याचारों पर उतर आए तभीसे इनका पतन शुरू हो गया। और आज वह दिन आ गया कि ये लोग पूरी अधोदशाको पहुँच गये हैं। जैनियोंके अत्याचार जैनियोंको खूब ही फले—इन्होंने अपने कियेकी खूब सज़ा पाई। ये लोग दूसरोंको धर्म बतलाना नहीं चाहते थे, अब खुदही उस धर्मसे वंचित हो गये; दूसरोंको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे, अब खुदही घृणाके पात्र बन गये; जिस बल, विद्या और ऐश्वर्य पर इन्हें घमंड था वह सब नष्ट हो गया; ये लोग अपने आपको भले ही जीवित समझते हों परन्तु जीवित समाजोंमें अब इनकी गणना नहीं है; इनकी गणना है मरणोन्मुख समाजोंमें। जैनी लोग अन्धकारमें पड़े हुए सिसक रहे हैं—वास्तवमें इनकी हालत बड़ीही करुणाजनक है। जब तक जैनी लोग इन अत्याचारोंको बंद करके अपने पूर्व पापोंका प्रायश्चित्त नहीं करेंगे तब तक वे कदापि इस दैवकोपसे विमुक्त नहीं हो सकते, उनका अभ्युत्थान नहीं हो सकता और न उनमें जीवनीशक्तिका फिरसे संचार ही हो सकता है।

आशा है हमारे जैनीभाई इस लेखको पढ़कर अपने अत्याचारोंकी परिभाषा समझेंगे और उनके भयंकर परिणामको विचार कर शीघ्र ही उनका प्रायश्चित्त करनेमें दत्तचित्त होंगे। प्रायश्चित्तविधि बतलानेके लिए मैं सहर्ष तैयार हूँ।

जुगलकिशोर मुख्तार

"मारवाड़का एक विचित्र मत" और दीक्षितजीका स्पष्टीकरण

जनवरी सन १९३० के 'चाँद' में 'मारवाड़का एक विचित्र मत' शीर्षक एक लेख प्रकट हुआ है, जिसके लेखक हैं श्रीशंकरप्रसादजी दीक्षित। इसमें श्वेताम्बर जैनधर्मकी एक विचित्र शाखा 'तेरहपन्थ' संप्रदायका कुछ परिचय देते हुए, जो कि निःसन्देह बड़ा ही विचित्र है, उसपर कटाक्ष किये गये हैं—उसे अमानुषिक, हिंसाप्रिय तथा संसारका सबसे बुरा धर्म बतलाया गया है—और अन्तमें उसके शीघ्रनाशकी भावना इन शब्दोंमें की गई है—"देखें, इस मतके अन्त होनेमें कितना समय और बाक़ी है।" परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी उसमें यह नहीं लिखा कि यह सम्प्रदाय श्वेताम्बर जैनधर्मके अन्तर्गत है, और न जो परिचय दिया उसके आधार-प्रमाणके रूपमें किसी ग्रंथके नामका ही उल्लेख किया है—मात्र "मारवाड़-प्रदेशमें जैनधर्मके अन्तर्गत एक तेरहपन्थ सम्प्रदाय है" ऐसा सामान्य उल्लेख करके उसपर सारे आ-

क्षेपोंकी सृष्टि खड़ी की गई है। इस पर दिगम्बर जैन-धर्मके अनुयायियों और खासकर उसके तेरहपन्थी सम्प्रदायके भाइयोंको बहुत ही बुरा मालूम हुआ, उन्होंने दीक्षितजीके इस निरर्गल कथनको सिरसे पैर तक बिलकुल झूठा तथा बे-बुनियाद समझा; क्योंकि उनके धर्ममें ऐसी एक भी बात नहीं है जिसका लेखमें उल्लेख किया गया है—उनका तेरहपंथ सम्प्रदाय पूर्ण अहिंसावादी, परोपकारपरायण तथा शुद्ध जैनधर्मका उपासक है। इसलिये उनमें उक्त लेखके प्रतिवादका आन्दोलन प्रारंभ हुआ, जिसके फलस्वरूप बा० सुमतिप्रसादजी एल० सी० सा० (लन्दन), बी० ए० विशारदने, श्वेताम्बरोंके तेरहपन्थ सम्प्रदायका परिचय न रखते हुए और यह समझते हुए कि यह लेख दिगम्बर तेरहपन्थी सम्प्रदायको ही लक्ष करके लिखा गया है, एक प्रतिवादात्मक लेख अप्रैल सन १९३० के 'चाँद' में प्रकाशित कराया और उसमें दीक्षितजीके जैनधर्म तथा जैनसाहित्य-विषयक अज्ञान पर गहरा आक्षेप किया। इधर जैनमित्रमंडल देहलीके ज्वाइंट सेक्रेटरी बा० पन्नालालजी पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्लको प्रतिवादात्मक लेखके लिये प्रेरणा कर रहे थे कि उधर दैवयोगसे दीक्षितजी एक दिन बीकानेरमें भारिल्लजीके मकान पर पहुँच गये। लेखसम्बन्धी वार्तालापके होने पर मालूम हुआ कि उनका लेख एक मात्र श्वेताम्बर-तेरहपन्थ सम्प्रदायको लक्ष्य करके लिखा गया है। दिगम्बर-तेरहपंथका तो उन्हें अब तक पता तक नहीं था और इसलिये उन्होंने बड़ी प्रसन्नता पूर्वक अपने लेखका स्पष्टीकरण लिख कर उन्हें दे दिया, जो इस प्रकार है:—

प्रिय महाशय,

जनवरीके चाँदमें मेरा जो लेख 'मारवाड़का एक विचित्र मत' शीर्षक प्रकाशित हुआ है, वह दिगम्बर तेरहपन्थियोंके विषयमें नहीं है, किन्तु श्वेताम्बर-तेरहपन्थियोंके विषयमें है। यह बात लेखमें उल्लिखित साध्वियोंकी संख्यासे भली प्रकार प्रकट है, क्योंकि दिगम्बरमें साध्वियें प्रायः नहीं हैं। अब तक मुझे यह पता तक न था कि दिगम्बर समाजमें भी 'तेरहपन्थ मत' है। सम्भव है कि श्री० सुमतिप्रसादजीने भ्रमवश ही मेरे लेखका प्रतिवाद, जो श्वेताम्बर तेरहपन्थियोंके किसी प्रकार अनुकूल पड़ता है, प्रकाशित कराया है।

कृपा बनी रहे। योग्य सेवा लिखें।

१४–७–३०] भवदीय

शंकरप्रसाद दीक्षित

दीक्षितजीके इस स्पष्टीकरणसे झगड़ा तो अब शान्त हो जाता है परन्तु यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि, लेखकोंकी थोड़ीसी असावधानीसे क्या कुछ अनर्थ पैदा होता है और कितना क्षोभ तथा व्यर्थका रागद्वेष खड़ा हो जाता है। यदि दीक्षितजीको दिगम्बर-तेरहपन्थका पता नहीं था तो भी उन्हें जैनधर्मके मुख्य दो भेदों दिगम्बर तथा श्वेताम्बर मतका तो जरूर पता था; यदि वे जैनधर्मके साथमें 'श्वेताम्बर' ऐसा विशेषण लगा देते अथवा 'श्वेताम्बर जैनसमाजके अन्तर्गत' ऐसा सीधा तथा स्पष्ट उल्लेख कर देते—और उन्हें करना चाहिये था— तो कुछ भी गलतफहमीके पैदा होनेके लिये अवसर नहीं था। परन्तु आपने ऐसा नहीं किया और, यह जानते हुए भी कि जैनियोंके अहिंसा धर्मकी महात्मा गाँधीजीजैसे असाधारण पुरुष भी बहुत बड़ी प्रशंसा करते हैं, एक ज़रासे छिद्रको लेकर—एक भूले-भटके आधुनिक समाजकी बातको पकड़ कर—मूल जैनधर्मको अपने आक्षेपका निशाना बना डाला!—उसे हिंसाप्रिय धर्मतक कह डाला!—, यह निःसन्देह एक बड़ी ही असावधानी तथा अक्षम्य भूलका काम हुआ है। सावधान लेखक ऐसा कभी नहीं कर सकते। वे अपने आक्षेपोंको ऐसा सीमित करते हैं जिससे वे ठीक लक्ष्य पर पड़ें—इधर उधर नहीं। आशा है दीक्षितजी भविष्यमें इस प्रकारकी असावधानीसे काम नहीं लेंगे।

—सम्पादक

उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र

[लेखक—श्रीमान् पं० सुखलालजी]

'तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति' शीर्षक लेख में, जो 'अनेकान्त' की गत किरण में प्रकाशित हुआ है, यद्यपि, उमास्वातिका विचार करते हुए, उनके 'तत्त्वार्थसूत्र' का कितना ही परिचय दिया जा चुका है परंतु इस लेख में उसका कुछ विशेष परिचय देना इष्ट है। इसी से—तत्त्वार्थशास्त्र का बाह्य तथा आभ्यन्तर सविशेष परिचय प्राप्त कराने के लिये—मूल ग्रन्थ के आधार पर नीचे लिखी चार बातों पर विचार किया जाता है— १ प्रेरक सामग्री, २ रचना का उद्देश्य, ३ रचनाशैली और ४ विषयवर्णन।

प्रेरक सामग्री

जिस सामग्रीने ग्रन्थकार को 'तत्त्वार्थसूत्र' लिखने की प्रेरणा की वह मुख्यरूपसे चार भागों में विभाजित की जाती है।

१ आगमज्ञान का उत्तराधिकार—वैदिक दर्शनों में वेद की तरह जैनदर्शन में आगम ग्रन्थ ही मुख्य प्रमाण माने जाते हैं, दूसरे ग्रन्थों का प्रामाण्य आगम का अनुसरण करनेमें ही है। इस आगमज्ञान का पूर्व परम्परा से चला आया हुआ उत्तराधिकार (वारसा) वाचक उमास्वाति को भले प्रकार मिला था, इससे सभी आगमिक विषयों का ज्ञान उन्हें स्पष्ट तथा व्यवस्थित था।

२ संस्कृत भाषा— काशी, मगध, बिहार आदि प्रदेशों में रहने तथा विचरने के कारण और कदाचित् ब्राह्मणत्व जाति के कारण वा०उमास्वाति ने अपने समय में प्रधानता भोगने वाली संस्कृत भाषाका गहरा अभ्यास किया था। ज्ञानप्राप्ति के लिये प्राकृत भाषा के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का द्वार ठीक खुलने से संस्कृत भाषा में रचे हुए वैदिक दर्शनसाहित्य और बौद्ध दर्शनसाहित्य को जानने का उन्हें अवसर मिला और उस अवसर का यथार्थ उपयोग करके उन्होंने अपने ज्ञानभांडार को खूब समृद्ध किया।

३ दर्शनान्तरों का प्रभाव — संस्कृत भाषाद्वारा उन्होंने वैदिक और बौद्ध साहित्य में जो प्रवेश किया, उसके कारण नई नई तत्कालीन रचनाएँ देखीं, उनमें से वस्तुएँ तथा विचारसरणियाँ जानीं, उन सब का उनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा। और इसी प्रभाव ने उन्हें जैन साहित्य में पहले से स्थान न पाने वाली ऐसी संक्षिप्त दार्शनिक सूत्रशैली तथा संस्कृत भाषा में ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा की।

४ प्रतिभा—उक्त तीनों हेतुओं के होते हुए भी यदि उनमें प्रतिभा न होती तो तत्त्वार्थ का इस स्वरूप में कभी जन्म ही न होता। इससे उक्त तीनों हेतुओं के साथ प्रेरक सामग्री में उनकी प्रतिभा को स्थान दिये बिना नहीं बनता।

रचनाका उद्देश्य

कोई भी भारतीय शास्त्रकार जब अपने विषयका शास्त्र रचता है तब वह अपने विषयनिरूपण के अंतिम उद्देश्यरूप में मोक्ष को ही रखता है; पीछे भले ही वह विषय अर्थ, काम, ज्योतिष या वैद्यक जैसा आधिभौतिक दिखाई देता हो अथवा तत्त्वज्ञान और योग जैसा आध्यात्मिक दिखाई पड़ता हो। सभी मुख्य मुख्य विषयों के शास्त्रों के प्रारम्भ में उस उस विद्या के अन्तिम फलस्वरूप मोक्ष का ही निर्देश हुआ है और उस उस शास्त्र के उपसंहार में भी अंत को उस विद्या से मोक्षसिद्धि होने का कथन किया गया है।

वैशेषिकदर्शन का प्रणेता 'कणाद' अपनी प्रमेय की चर्चा करने से पहले उस विद्या के निरूपण को मोक्ष का साधनरूप बतला कर ही उसमें प्रवर्तता है[१]। **न्यायदर्शन** का सूत्रधार 'गोतम' प्रमाणपद्धति के ज्ञान को मोक्ष का द्वार मान कर ही उसके निरूपणमें प्रवृत्त होता है[२]। **सांख्यदर्शन** का निरूपण करने वाला भी मोक्ष के उपायभूत ज्ञान की पूर्ति के लिये अपनी विश्वोत्पत्तिविद्या का वर्णन करता है[३] **ब्रह्ममीमांसा** के ब्रह्म और जगत विषय का निरूपण भी मोक्ष के साधनकी पूर्ति के लिये ही है। **योगदर्शन** में योगक्रिया और दूसरी बहुत सी प्रासंगिक बातोंका वर्णन मात्र मोक्षका उद्देश्य सिद्ध करनेके लिये ही है। **भक्तिमार्गियों** के शास्त्र भी, जिनमें जीव, जगत और ईश्वर आदि विषयोंका वर्णन है, भक्ति की पुष्टिद्वारा अन्तमें मोक्ष प्राप्त कराने के लिये ही हैं। **बौद्धदर्शन** के क्षणिकवादका अथवा चार आर्यसत्यों में समावेश पाने वाले आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विषयके निरूपणका उद्देश भी मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं। **जैनदर्शन** के शास्त्र भी इसी मार्गका अवलंबन कर रचे गये हैं। वाचक उमास्वातिने भी अन्तिम उद्देश मोक्षका ही रख कर उसकी प्राप्तिका उपाय[४] सिद्ध करने के लिये स्वयं वर्णनार्थ निश्चित की गईं सभी वस्तुओं का वर्णन तत्त्वार्थमें किया है।

रचना-शैली

पहलेसे ही जैन आगमोंकी रचनाशैली बौद्ध पिटकों जैसी लम्बे वर्णनात्मक सूत्रोंके रूप में चली आती थी और वह प्राकृत भाषा में थी। दूसरी तरफ़ ब्राह्मण विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा में शुरू की हुई संक्षिप्त संक्षिप्त (छोटे छोटे) सूत्रों के रचनेकी शैली धीरे धीरे बहुत ही प्रतिष्ठित हो गई थी; इस शैली ने वाचक उमास्वाति को आकर्षित किया और उसी में लिखनेकी प्रेरणा की। जहाँ तक हम जानते हैं वहाँ तक जैनसंप्रदाय में संस्कृत भाषा में छोटे छोटे सूत्रों के रचयिता सब से पहले उमास्वाति ही हैं; उनके पीछे ही ऐसी सूत्रशैली जैन परम्परा में अतीव प्रतिष्ठित हुई और व्याकरण, अलंकार, आचार, नीति, न्याय आदि अनेक विषयों पर श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदायके विद्वानों ने उस शैली में संस्कृत भाषाबद्ध ग्रन्थ लिखे।

---

१ देखो, १, १, ४ कणादसूत्र। २ देखो, १,१, १ न्यायसूत्र। ३ देखो, का० २ ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका।

४ वा० उमास्वाति की तत्त्वार्थ रचने की कल्पना 'उत्तराध्ययन' के २८वें अध्ययन की आभारी है ऐसा जान पड़ता है। इस अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है; इस अध्ययन में मोक्ष के मार्गों को सूचित कर उनके विषयरूप से जैन तत्त्व ज्ञान का बिलकुल संक्षेप में निरूपण किया गया है। इसी वस्तु को वा० उमास्वाति ने विस्तार कर उसमें समग्र आगम के तत्त्वों को गूँथ दिया है। उन्होंने अपने सूत्रग्रन्थ का प्रारम्भ भी मोक्षमार्गप्रतिपादक सूत्रसे ही किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में तो तत्त्वार्थसूत्र 'मोक्षशास्त्र' के नाम से अति प्रसिद्ध है।

उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र कणादके वैशेषिक सूत्रों की तरह दश अध्यायोंमें विभक्त हैं; इन की संख्या मात्र ३४४ जितनी है, जब कि कणादके सूत्रों की संख्या ३३३ जितनी ही है। इन अध्यायों में वैशेषिक आदि सूत्रोंके सदृश आन्हिक-विभाग अथवा ब्रह्मसूत्र आदि के समान पद-विभाग नहीं। जैन साहित्य में 'अध्ययन' के स्थान पर 'अध्याय' का आरंभ करने वाले भी उमास्वाति ही हैं। उनके द्वारा शुरू न किया गया आन्हिक और पद-विभाग भी आगे चलकर उनके अनुयायी 'अकलङ्क' आदिके द्वारा अपने अपने ग्रंथों में शुरू कर दिया गया है। बाह्य रचनामें कणादसूत्र के साथ तत्त्वार्थसूत्रका विशेष साम्य होते हुए भी उस में एक खास जानने योग्य अन्तर है, जो जैनदर्शनके परम्परागत मानस पर प्रकाश डालता है। कणाद अपने मंतव्यों को सूत्रमें प्रतिपादित करके, उनके साबित करने के लिये अक्षपाद गोतम की सदृश पूर्व-पक्ष-उत्तरपक्ष न करते हुए भी, उनकी पुष्टिमें हेतुओं का उपन्यास तो बहुधा करता ही है; जब कि वा० उमास्वाति अपने एक भी सिद्धान्त की सिद्धिके लिये कहीं भी युक्ति, प्रयुक्ति या हेतु नहीं देते। वे अपने वक्तव्य को स्थापित सिद्धान्त के रूपमें ही, कोई भी दलील या हेतु दिये बिना अथवा पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष किये बिना ही, योगसूत्रकार 'पतंजलि' की तरह वर्णन करते चले जाते हैं। उमास्वातिके सूत्रों और वैदिक दर्शनोंके सूत्रों की तुलना करते हुए एक छाप मनके ऊपर पड़ती है और वह यह कि जैन परम्परा श्रद्धा-प्रधान है, वह अपने सर्वज्ञवक्तव्यको अक्षरशः स्वीकार कर लेती है और उसमें शंका-समाधान का अवकाश नहीं देखती; जिसके परिणामस्वरूप संशोधन, परिवर्धन और विकास करने योग्य अनेक बुद्धिके विषय तर्कवाद के जमानेमें भी अप्रबोधित रहकर मात्र श्रद्धा के आधार पर आज तक टिके हुए हैं[५]। जब कि वैदिक दर्शनपरम्परा बुद्धिप्रधान होकर अपने माने हुए सिद्धान्तों की परीक्षा करती है; उसमें शंका-समाधान-वाली-चर्चा करती है, और बहुत वार तो पहले से माने जाने वाले सिद्धान्तों को तर्कवादके बल पर उलट कर नये सिद्धान्तों की स्थापना करती है अथवा उनमें संशोध-परिवर्धन करती है। सारांश यह है कि जैनपरम्परा ने उत्तराधिकार (विरासत) में मिले हुए तत्त्वज्ञान और आचारको बनाये रखनेमें जितना भाग लिया है उतना नूतन सर्जनमें नहीं लिया।

विषय-वर्णन

विषय की पसंदगी—कितने ही दर्शनों में विषयका वर्णन ज्ञेयमीमांसा-प्रधान है; जैसा कि वैशे-

५ सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि जैसे अनेक धुरंधर तार्किकों द्वारा किया हुआ तर्कविकास और तार्किक चर्चा भारतीय विचारविकास में खास स्थान को लिये हुए है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। तो भी प्रस्तुत कथन गौण-प्रधानभाव और दृष्टिभेदकी अपेक्षा से समझने का है। इसे एकाध उदाहरणसे समझना हो तो तत्त्वार्थसूत्रों और उपनिषदों आदि को लीजिये। तत्त्वार्थ के व्याख्याकार धुरंधर तार्किक होते हुए भी और सम्प्रदायभेद में विभक्त होते हुए भी जो चर्चा करते हैं और तर्कबल का प्रयोग करते हैं वह सब प्रथम से स्थापित जैन सिद्धान्तको स्पष्ट करने अथवा उसका समर्थन करने के लिये ही है। इनमें से किसी व्याख्याकार ने नया विचार सर्जन नहीं किया या श्वेताम्बर-दिगम्बर की तात्त्विक मान्यतामें कुछ भी अन्तर नहीं डाला। जब कि उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र के व्याख्याकार तर्कबल से यहां तक स्वतन्त्र चर्चा करते हैं कि उनके बीच तात्त्विक मान्यतामें पूर्व-पश्चिम-जैसा अन्तर खड़ा हो गया है। इसमें क्या गुण और क्या दोष यह वक्तव्य नहीं, वक्तव्य केवल वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है। गुण और दोष सापेक्ष होने से दोनों परम्पराओं में हो सकते और नहीं भी हो सकते हैं।

षिक, सांख्य और वेदान्त दर्शन में। वैशेषिक दर्शन अपनी दृष्टि से जगतका निरूपण करते हुए उसमें मूल द्रव्य कितने हैं? कैसे हैं? और उनसे सम्बंध रखने वाले दूसरे पदार्थ कितने तथा कैसे हैं? इत्यादि वर्णन करके मुख्य रूप से जगत के प्रमेयों की ही मीमांसा करता है। सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष का वर्णन करके प्रधान रूप से जगत के मूलभूत प्रमेय तत्त्वों की ही मीमांसा करता है। इसी प्रकार वेदान्त दर्शन भी जगत के मूलभूत ब्रह्मतत्त्व की ही मीमांसा प्रधान रूप से करता है। परन्तु कुछ दर्शनोंमें चारित्र की मीमांसा मुख्य है, जैसे कि योग और बौद्ध दर्शन में। जीवन की शुद्धि क्या? उसे कैसे साधना? उसमें कौन कौन बाधक हैं? इत्यादि जीवनसम्बंधी प्रश्नोंका हल योग दर्शनने हेय—दुःख, हेयहेतु—दुःखका कारण,हान—मोक्ष, और हानोपाय—मोक्षका कारण इस चतुर्व्यूह का निरूपण करके और बौद्धदर्शनने चार आर्य सत्यों का निरूपण करके, किया है। अर्थात् पहले दर्शनविभाग का विषय ज्ञेयतत्त्व और दूसरे दर्शनविभाग का विषय चारित्र है।

भगवान् महावीरने अपनी मीमांसामें ज्ञेयतत्व और चारित्र को समान स्थान दिया है, इससे उनकी तत्वमीमांसा एक ओर जीव, अजीव के निरूपणद्वारा जगत का स्वरूप वर्णन करती है और दूसरी तरफ़ आस्रव, संवर आदि तत्वों का वर्णन करके चारित्र का स्वरूप दर्शाती है। इनकी तत्वमीमांसा का अर्थ है ज्ञेय और चारित्र का समानरूप से विचार। इस मीमांसा में भगवान् ने नव तत्वों को रख कर इन तत्वों पर की अचल श्रद्धा को जैनत्व की प्राथमिक शर्त के रूप में वर्णन किया है। त्यागी या गृहस्थ कोई भी महावीर के मार्ग का अनुयायी तभी माना जा सकता है जबकि उसने चाहे इन नवतत्वोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त न किया हो तो भी इनके ऊपर वह श्रद्धा रखता ही हो; अर्थात् 'जिनकथित ये तत्व ही सत्य हैं' ऐसी रुचि-प्रतीति को लिये हुए हो। इस कारण से जैनदर्शन में नव तत्व जितना दूसरे किसी का भी महत्व नहीं है। ऐसी वस्तुस्थिति के कारण ही वा० उमास्वातिने अपने प्रस्तुत शास्त्रके विषयरूप इन नवतत्वों को पसंद किया और उन्हीं का वर्णन सूत्रों में करके उन सूत्रों के विषयानुरूप 'तत्वार्थाधिगम' ऐसा नाम दिया। वा०उमास्वाति ने नव तत्वों की मीमांसा में ज्ञेयप्रधान और चारित्रप्रधान दोनों दर्शनों का समन्वय देखा; तो भी उन्होंने उसमें अपने समयमें विशेष चर्चाको प्राप्त प्रमाणमीमांसाके निरूपण की उपयोगिता महसूस की; इससे उन्होंने अपने ग्रंथको अपने ध्यानमें आने वाली सभी मीमांसाओं से परिपूर्ण करने के लिये नव तत्त्व के अतिरिक्त ज्ञानमीमांसाको विषय रूपसे स्वीकार करके तथा न्यायदर्शन की प्रमाणमीमांसा की जगह जैन ज्ञानमीमांसा कैसी है उसे बतलानेके लिये अपने ही सूत्रोंमें योजना की। इससे समुच्चय रूपसे ऐसा कहना चाहिये कि वा० उमास्वातिने अपने सूत्र के विषयस्वरूप ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीनों मीमांसाओं को जैन दृष्टिके अनुसार लिया है।

विषयका विभाग – पसंद किये हुए विषयको वा० उमास्वाति ने अपनी दशाध्यायीमें इस प्रकार से विभाजित किया है कि, पहले अध्यायमें ज्ञानकी, दूसरे से पाँचवें तक चार अध्यायोंमें ज्ञेय की और छठे से दसवें तक पाँच अध्यायोंमें चारित्रकी मीमांसा की है। उक्त तीनों मीमांसाओंकी क्रमशः मुख्य सार बातें देकर प्रत्येक की दूसरे दर्शनोंके साथ यहाँ संक्षेपमें तुलना की जाती है।

ज्ञानमीमांसाकी सार बातें—पहले अध्यायमें ज्ञानसे सम्बंध रखनेवाली मुख्य बातें आठ हैं और वे इस प्रकार हैं:—१ नय और प्रमाण रूपसे ज्ञानका विभाग। २ मतिआदि आगम प्रसिद्ध पाँच ज्ञान और उनका प्रत्यक्ष परोक्ष दो प्रमाणोंमें विभाजन। ३ मतिज्ञानकी उत्पत्तिके साधन, उनके भेद-प्रभेद और उनकी उत्पत्ति के क्रमसूचक प्रकार। ४ जनपरंपरा में प्रमाण माने जाने वाले आगमशास्त्र का श्रुतज्ञान रूपसे वर्णन। ५ अवधि आदि तीन दिव्य प्रत्यक्ष और उनके भेद-प्रभेद तथा पारस्परिक अंतर। ६ इन पाँचों ज्ञानों का तारतम्य बतलाते हुए उनका विषयनिर्देश और उनकी एक साथ संभवनीयता। ७ कितने ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकते हैं? वे और ज्ञान के यथार्थ अयथार्थपणा के कारण। ८ नय के भेद-प्रभेद।

तुलना—ज्ञानमीमांसामें ज्ञानचर्चा है, 'प्रवचनसार' के ज्ञानाधिकार-जैसी तर्कपुरस्सर और दार्शनिक शैली की नहीं; बल्कि नन्दीसूत्र की ज्ञानचर्चा-जैसी आगमिक शैली की होकर ज्ञान के संपूर्ण भेद-प्रभेदों का तथा उनके विषयों का मात्र वर्णन करने वाली और ज्ञान, अज्ञान के बीच का भेद बताने वाली है। इसमें जो अवग्रह, ईहा आदि लौकिक ज्ञान की उत्पत्तिका क्रम[६] सूचित किया गया है वह न्यायशास्त्र[७] में आने वाली निर्विकल्प, सविकल्प ज्ञान की और बौद्ध अभिधम्मत्थसंगहृ[८] में आने वाली ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया का स्मरण कराती है; इसमें जो अवधि आदि तीन दिव्य[९] प्रत्यक्ष ज्ञानों का वर्णन है वह वैदिक[१०] और बौद्ध दर्शन के सिद्ध, योगी तथा ईश्वर के ज्ञान का स्मरण कराता है। इसके दिव्य ज्ञान में वर्णित मनःपर्याय का निरूपण योग दर्शन[११] और बौद्धदर्शन[१२] के परचित्तज्ञान की याद दिलाता है। इसमें जो प्रत्यक्ष-परोक्षरूप से[१३] प्रमाणों का विभाग है वह वैशेषिक और बौद्ध दर्शन[१४] में वर्णित दो प्रमाणों का, सांख्य और योग दर्शन[१५] में वर्णित तीन प्रमाणोंका; न्यायदर्शन[१६] में प्ररूपित चार प्रमाणों का और मीमांसा दर्शन[१७] में प्रतिपादित छह आदि प्रमाणों के विभागों का समन्वय है। इस ज्ञानमीमांसा[१८] में जो ज्ञान-अज्ञान का विवेक है वह न्याय दर्शन[१९] की यथार्थ-अयथार्थ बुद्धि का तथा योगदर्शन[२०] के प्रमाण और विपर्यय का विवेक-जैसा है। इसमें जो नय[२१]का स्पष्ट निरूपण है वैसा दर्शनान्तर में कहीं भी नहीं। संक्षेप में ऐसा कह सकते हैं कि वैदिक और बौद्धदर्शन में वर्णित प्रमाणमीमांसा के स्थान पर जैनदर्शन क्या मानता है वह सब विगतवार (तफ़सीलवार) प्रस्तुत ज्ञानमीमांसा में वा०उमास्वाति ने दर्शाया है।

ज्ञेयमीमांसा की सार बातें--ज्ञेयमीमांसा में जगत के मूलभूत जीव और अजीव इन दो तत्वों का वर्णन है; इनमें से मात्र जीव तत्व की चर्चा दूसरे से चौथे तक तीन अध्यायों में है। दूसरे अध्याय में जीव तत्व के सामान्य स्वरूप के अतिरिक्त संसारी जीव के

६ तत्त्वार्थ १, १५-१६। ७ देखो 'मुक्तावलि' का० ५२ से आगे। ८ अभिधम्म० परिच्छेद ४ पैरेग्राफ़ ८ से। ९ तत्त्वार्थ १, २१-२६ और ३०। १० प्रशस्तपादकंदली पृ० १८७।

११ देखो, ३, १९ योगदर्शन। १२ अभिधम्मत्थसंगहो परि० ९ पैरेग्राफ़ २४ और नागार्जुन का धर्मसंग्रह पृ० ४। १३ तत्त्वार्थ १, १०-१२। १४ प्रशस्तपाद कं० पृ० २१३ पं० १२ और न्यायबिन्दु १, २। १५ ईश्वरकृष्ण कृत सांख्य कारिका का० ४ और योगदर्शन १, ७। १६ देखो, १, १, ३ न्यायसूत्र १७ मीमांसासूत्र १, ५ का शाबर-भाष्य। १८ तत्त्वार्थ १, ३३ १९ तर्कसंग्रह—बुद्धिनिरूपण। २० योग सूत्र १, ६। २१ तत्त्वार्थ १, ३४-३५।

अनेक भेद-प्रभेदों का और उनसे सम्बंध रखने वाली अनेक बातों का वर्णन है । तीसरे अध्याय में अधोलोक में बसने वाले नारकियों और मध्यलोकमें बसने वाले मनुष्यों तथा पशु-पक्षी आदि का वर्णन होने से उनसे सम्बंध रखने वाली अनेक बातों के साथ पाताल और मनुष्य लोक की संपूर्ण भूगोल आ जाती है। चौथे अध्याय में देव सृष्टि का वर्णन होकर उसमें खगोल के अतिरिक्त अनेक प्रकार के दिव्य धामों का और उनकी समृद्धि का वर्णन है । पाँचवें अध्याय में प्रत्येक द्रव्य के गुण-धर्म का वर्णन करके उसका सामान्य स्वरूप बतला कर साधर्म्य-वैधर्म्म द्वारा द्रव्य मात्र की विस्तृत चर्चा की है ।

ज्ञेयमीमांसा में मुख्य सोलह बातें आती हैं जो इस प्रकार हैं :—

पहले अध्याय में— १ जीव तत्व का स्वरूप । २ संसारी जीव के भेद । ३ इन्द्रिय के भेद-प्रभेद, उनके नाम, उनके विषय और जीवराशिमें इंद्रियों की बाँट। ४ मृत्यु और जन्मके बीचकी स्थिति । ५ जन्मोंके और उनके स्थानों के भेद तथा उनका जातिवार विभाग। ६ शरीर के भेद, उनके तारतम्य, उनके स्वामी और एक साथ उनका संभव । ७ जातियों का लिंग-विभाग और न टट सके ऐसे आयुष्य को भोगने वालों का निर्देश। तीसरे और चौथे अध्याय में—८ अधोलोक के विभाग, उसमें वसनेवाले नारकी जीव और उनकी दशा तथा जीवनमर्यादा वगैरह । ९ द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र आदिद्वारा मध्य लोक का भौगोलिक वर्णन तथा उसमें वसने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जीवनकाल। १० देवों की विविध जातियाँ, उनके परिवार, भोग, स्थान, समृद्धि, जीवनकाल और ज्योतिर्मंडल द्वारा खगोलका वर्णन। पाँचवें अध्याय में—११ द्रव्य के भेद, उनका परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य; उनका स्थितिक्षेत्र और प्रत्येक का कार्य । १२ पुद्गल का स्वरूप, उसके भेद और उसकी उत्पत्ति के कारण । १३ सत और नित्य का सहेतुक स्वरूप। १४ पौद्गलिक बन्ध की योग्यता और अयोग्यता । १५ द्रव्य सामान्य का लक्षण, काल को द्रव्य मानने वाला मतान्तर और उसकी दृष्टि से काल का स्वरूप। १६ गुण और परिणाम के लक्षण और परिणाम के भेद ।

तुलना — उक्त बातों में की बहुत सी बातें आगमों और प्रकरण ग्रन्थों में हैं, परंतु वे सभी इस ग्रन्थ की तरह संक्षेप में संकलित और एक ही स्थल पर न हो कर इधर उधर बिखरी हुई हैं । 'प्रवचनसार' के ज्ञेयाधिकार में और 'पंचास्तिकाय' के द्रव्याधिकार में ऊपर बतलाये हुए पाँचवें अध्यायके ही विषय हैं परंतु उनका निरूपण इस ग्रन्थ से जुदा पड़ता है। पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में तर्कपद्धति तथा विस्तार है, जब कि उक्त पाँचवें अध्याय में संक्षिप्त तथा सीधा वर्णन मात्र है ।

ऊपर जो दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय की सार बातें दी हैं वैसा अखंड, व्यवस्थित और सांगोपांग वर्णन किसी भी ब्राह्मण या बौद्ध मूल दार्शनिक सूत्र ग्रन्थ में नहीं दिखाई देता। बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र[२२] के तीसरे और चौथे अध्याय में जो वर्णन दिया है वह उक्त दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय की कितनी ही बातों के साथ तुलना किये जाने के योग्य हैं; क्योंकि इसमें मरण के बाद की स्थिति, उत्क्रान्ति, जुदी जुदी जाति के जीव, जुदे जुदे लोक और उनके स्वरूप का वर्णन है ।

२२ देखो, 'हिन्दतत्त्वज्ञाननो इतिहास' द्वितीय भाग, पृ० १६२ से आगे ।

उक्त दूसरे अध्याय में जीव का जो उपयोग लक्षण[23] कहा गया है वह आत्मवादी सभी दर्शनों—द्वारा स्वीकृत उनके ज्ञान या चैतन्य लक्षण से जुदा नहीं। वैशेषिक और न्यायदर्शन के इन्द्रियवर्णन की अपेक्षा उक्त दूसरे अध्याय[24] का इन्द्रियवर्णन जुदा दिखाई देते हुए भी उसके इंद्रियसम्बंधी भेद—उनके नाम और प्रत्येक के विषय न्याय[25] तथा वैशेषिक दर्शन के साथ लगभग शब्दशः समान हैं। वैशेषिक-दर्शन[26] में जो पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय शरीरों का वर्णन है तथा सांख्यदर्शन[27] में जो सूक्ष्म लिंग और स्थूल शरीर का वर्णन है वह तत्त्वार्थ[28] के शरीरवर्णन से जुदा दिखाई देते हुए भी वास्तव में एक ही अनुभव के भिन्न पहलुओं (पार्श्वों) का सूचक है। तत्वार्थ[29] में जो बीच से टूट सके और न टूट सके ऐसे आयुष्य का वर्णन है और उसकी जो उपपत्ति दर्शाई गई है वह योगसूत्र[30] और उसके भाष्यके साथ शब्दशः साम्य रखती है। उक्त तीसरे और चौथे अध्याय में प्रदर्शित भूगोलविद्या का किसी भी दूसरे दर्शन के सूत्रकारने स्पर्श नहीं किया; ऐसा होते हुए भी योगसूत्र ३, २६ के भाष्य में नरकभूमियोंका, उनके आधारभूत घन, सलिल, वात, आकाश आदि तत्वों का, उनमें रहने वाले नारकियों का, मध्यमलोक का, मेरु का; निषध, नील आदि पर्वतों का; भरत, इलावृत्त आदि क्षेत्रों का; जम्बुद्वीप, लवणसमुद्र आदि द्वीप-समुद्रों का; तथा ऊर्ध्वलोकसम्बंधी विविध स्वर्गों का, उनमें बसने वाली देवजातियो का, उनके आयुषों का; उनकी स्त्री, परिवार आदि भोगों का और उनके रहन-सहनका जो विस्तृत वर्णन है वह तत्त्वार्थ के तीसरे, चौथे अध्यायकी त्रैलोक्यप्रज्ञप्तिकी अपेक्षा कमती मालूम देता है। इसी प्रकार बौद्ध[31] ग्रंथोंमें वर्णित द्वीप, समुद्र, पाताल, शीत-उष्णनारक, और विविध देवोंका वर्णन भी तत्वार्थ त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति की अपेक्षा संक्षिप्त ही है। ऐसा होते हुए भी इन वर्णनों का शब्दसाम्य और विचारसरणी की समानता देख कर आर्य दर्शनों की जुदी जुदी शाखाओं का एक मूल शोधने की प्रेरणा हो आती है।

पाँचवाँ अध्याय वस्तु, शैली और परिभाषामें दूसरे किसी भी दर्शन की अपेक्षा वैशेषिक और सांख्य दर्शन के साथ अधिक साम्य रखता है। इसका षड् द्रव्यवाद वैशेषिक दर्शन[32] के षट् पदार्थवादकी याद दिलाता है। इसमें प्रयुक्त साधर्म्य-वैधर्म्य-वाली शैली वैशेषिक दर्शन[33] का प्रतिबिम्ब हो ऐसा भासता है। यद्यपि धर्मास्तिकाय[34] अधर्मास्तिकाय इन दो द्रव्यों की कल्पना दूसरे किसी दर्शनकारने नहीं की और जैन-दर्शन का आत्मस्वरूप[35] भी दूसरे सभी दर्शनों की अपेक्षा जुदे ही प्रकार का है। तो भी आत्मवाद और पुद्गलवाद से सम्बंध रखने वाली बहुतसी बातें वैशेषिक, सांख्य आदि के साथ अधिक साम्य रखती हैं।

---

२३ तत्त्वार्थ २, ८। २४ तत्त्वार्थ २, १५-२१। २५ न्यायसूत्र १, १, १२ और १४। २६ देखो, 'तर्कसंग्रह' पृथ्वीसे वायु तक का निरूपण। २७ ईश्वरकृष्णकृत 'सांख्यकारिका' का० ४०से ४२। २८ तत्वार्थ २, ३७-४९। २९ तत्वार्थ २, ५२। ३० योगसूत्र ३, २२ विस्तार के लिये देखो, 'तत्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति' शीर्षक लेख (अनेकान्त कि०६, ७ पृ० ३९२,३९३)

३१ धर्मसंग्रह पृ० २९-३१ तथा अभिधम्मत्थसंगहो परिच्छेद ५ पैरेग्राफ़ ३ से आगे। ३२ वैशेषिक दर्शन १, १, ४। ३३ प्रशस्तपाद पृ० १६ से। ३४ तत्वार्थ ५, १, और ५, १७; विशेष विवरण के लिये देखो, 'जैनसाहित्यसंशोधक' खण्ड तृतीय अङ्क पहला तथा चौथा। ३५ तत्वार्थ ५,१५-१६।

जैनदर्शन[३६] की तरह न्याय, वैशेषिक[३७], सांख्य[३८] आदि दर्शन भी आत्मबहुत्ववादी ही हैं। जैनदर्शनका पुद्गलवाद[३९] वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद[४०] और साख्य दर्शन के प्रकृतिवाद[४१] के समन्वय का भान कराता है। क्योंकि इसमें आरंभ और परिणाम उभय-वाद का स्वरूप आता है। एक तरफ तत्वार्थ में काल द्रव्य को मानने वाले मतान्तर[४२] का किया हुआ उल्लेख और दूसरी तरफ उसके निश्चित रूप से बतलाये हुए लक्षणों[४३] पर से ऐसा मानने के लिये जी ललचाता है कि जैन तत्वज्ञान के व्यवस्थापकों के ऊपर काल द्रव्य के विषय में वैशेषिक[४४] और सांख्य दोनों दर्शनों के मंतव्य की स्पष्ट छाप है; क्योंकि वैशेषिक दर्शन काल को स्वतंत्र द्रव्य मानता है, जब कि सांख्य दर्शन ऐसा नहीं मानता। तत्वार्थ में सूचित किये गये काल द्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व-नास्तित्व-विषयक दोनों पक्ष, जो आगे जाकर दिगम्बर[४५] और श्वेताम्बर परम्परा की जुदी जुदी मान्यता रूप से विभाजित हो गये हैं, पहले से ही जैनदर्शनमें होंगे या उन्होने वैशेषिक और सांख्यदर्शन के विचार संघर्ष के परिणामस्वरूप किसी समय जैन दर्शन में स्थान प्राप्त किया होगा, यह एक शोध का विषय है। परन्तु एक बात तो दीपक जैसी है कि मूलतत्वार्थ और उसकी व्याख्याओं[४६] में जो काल के लिंगोंका वर्णन है वह वैशेषिकसूत्र की सा। शब्दशः मिलता जुलता है। सत् और नित्यकी तत्वार्थ-गत व्याख्या यदि किसी भी दर्शन के साथ सादृश्य रखती हो तो वह सांख्य और योग दर्शन ही हैं; इनमें वर्णित परिणामिनित्य का स्वरूप तत्वार्थ के सत् और नित्य के स्वरूपके साथ शब्दशः मिलता है। वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं में द्रव्यारम्भ की जो योग्यता[४७] बतलाई गई है वह तत्वार्थ में वर्णित पौद्गलिक बंध—द्रव्यारंभ-की योग्यता[४८] की अपेक्षा जुदी ही प्रकारकी है। तत्वार्थकी द्रव्य और गुणकी व्याख्या[४९] वैशेषिक दर्शन की[५०] व्याख्या के साथ अधिक से अधिक सा-दृश्य रखती है। तत्वार्थ और सांख्यदर्शनकी परिणाम-सम्बंधी परिभाषा समान ही है। तत्वार्थ का द्रव्य, गुण और पर्याय रूपसे सत् पदार्थ का विवेक सांख्य के सत् और परिणामवादकी तथा वैशेषिक दर्शनके द्रव्य गुण और कर्म को मुख्य सत् मानने की प्रवृत्ति की याद दिलाता है।

चारित्रमीमांसा की सार बातें - जीवनमें कौन कौन सी प्रवृत्तियाँ हेय हैं? ऐसी हेय प्रवृत्तियोंका मूल बीज क्या है? हेय प्रवृत्तियोंको सेवन करनेवालों के जीवनमें कैसा परिणाम आता है? हेय प्रवृत्तियोंका त्याग शक्य हो तो वह किस किस प्रकार के उपायोंमें हो सकता है? और हेय प्रवृत्तियों के स्थानमें किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ जीवनमें दाखिल (प्रविष्ट) करनी?

---

३६ तत्वार्थ ५, २। ३७ **"व्यवस्थातो नाना"** ३, २, २०। ३८ **"पुरुषबहुत्वं सिद्धम्"** ईश्वरकृष्णकृत सांख्यका० १८। ३९ तत्वार्थ ५, २३-२८। ४० देखो, 'तर्कसंग्रह' पृथ्वी आदि भूतों का निरूपण। ४१ ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका २२ से आगे। ४२ तत्वार्थ ५,३८,। ४३ तत्वार्थ ५,२२,। ४४ वैशेषिक दर्शन २, २, ६। ४५ देखो, कुन्दकुन्द के प्रवचनसार और पंचास्तिकाय का कालनिरूपण तथा ५, ३९ की सर्वार्थसिद्धि।

४६ देखो, तत्वार्थ ५ २२ और उसकी भाष्यवृत्ति। ४७ प्रशस्तिपाद, वायुनिरूपण पृ० ४८। ४८ तत्वार्थ ५, ३२-३५। ४९ देखो, तत्वार्थ ५, ३७ और ४०। ५० देखो, कणादसूत्र १, १, ५ और १६ जो उमास्वाति-विषयक पहले लेखमें उद्धृत हैं (अनेकान्त पृ० ३९०, ३९१)।

उसका परिणाम जीवन में क्रमशः और अन्त में क्या आता है? ये सब विचार छठे से दसवें अध्याय तक की चारित्रमीमांसा में आते हैं। ये सब विचार जैन दर्शन की बिल्कुल जुदी परिभाषा और सांप्रदायिक प्रणाली के कारण मानों किसी भी दर्शनके साथ साम्य न रखते हों ऐसा आपाततः भास होता है; तो भी बौद्ध और योग दर्शन का बारीकी (सूक्ष्मता) से अभ्यास करने वाले को यह मालूम हुए बिना कभी नहीं रहता कि जैन चारित्रमीमांसा का विषय चारित्र-प्रधान उक्त दो दर्शनोंके साथ अधिक से अधिक और अद्भुत रीतिसे साम्य रखता है। यह साम्य भिन्नभिन्न शाखाओं में विभाजित, जुदी जुदी परिभाषाओं में संगठित और उन उन शाखाओं में हीनाधिक विकास पाते हुए भी असल में आर्य जातिके एक ही आचार-दायका—आचार-विषयक उत्तराधिकार का—भान कराता है।

चारित्रमीमांसा की मुख्य बातें ग्यारह हैं। छठे अध्याय में—१ आस्रव का स्वरूप, उसके भेद और किस किस प्रकार के आस्रवसेवन से कौन कौन कर्म बंधते हैं उसका वर्णन। सातवें अध्याय में—२ व्रतका स्वरूप, व्रत लेने वाले अधिकारियों के भेद और व्रत की स्थिरता के मार्ग। ३ हिंसा आदि दोषोंका स्वरूप। ४ व्रत में संभवते दोष। ५ दान का स्वरूप और उसके तारतम्य के हेतु। आठवें अध्याय में—६ कर्मबन्ध के मूल हेतु और कर्मबन्ध के भेद। नवमें अध्याय में—७ संवर और उसके विविध उपाय तथा उसके भेद-प्रभेद। ८ निर्जरा और उसका उपाय। ९ जुदे जुदे अधिकार वाले साधक और उनकी मर्यादा का तारतम्य। दसवें अध्याय में १० केवलज्ञान के हेतु और मोक्षका स्वरूप। ११ मुक्ति प्राप्त करने वाले आत्माकी किस रीति से कहाँ गति होती है उसका वर्णन।

तुलना— तत्वार्थ की चारित्रमीमांसा प्रवचनसार के चारित्रवर्णन से जुदी पड़ती है; क्योंकि इसमें तत्वार्थ की सदृश आस्रव, संवर आदि तत्वों की चर्चा नहीं; इसमें तो केवल साधु की दशा का और वह भी दिगम्बर साधु के खास अनुकूल पड़े ऐसा वर्णन है। पंचास्तिकाय और समयसार में तत्वार्थ की सदृश ही आस्रव, संवर, बंध आदि तत्वों को लेकर चारित्रमीमांसा की गई है, तोभी इन दो के बीच अन्तर है और वह यह कि तत्वार्थ के वर्णन में निश्चय की अपेक्षा व्यवहारका चित्र अधिक खींचा गया है, इसमें प्रत्येक तत्व से सम्बंध रखने वाली सभी बातें हैं और त्यागी गृहस्थ तथा साधु के सभी प्रकार के आचार तथा नियम वर्णित हैं जो जैनसंघका संगठन सूचित करते हैं। जब कि पंचास्तिकाय और समयसार मे वैसा नहीं, इनमें तो आस्रव, संवर आदि तत्वों की निश्चयगामी तथा उपपत्ति-वाली चर्चा है, इनमें तत्वार्थ की सदृश जैन गृहस्थ तथा साधु के प्रचलित व्रत, नियम और आचारों आदि का वर्णन नहीं।

योगदर्शन के साथ प्रस्तुत चारित्रमीमांसा की तुलना का जितना अवकाश है उतना ही यह विषय रसप्रद है; परन्तु यह विस्तार एक स्वतन्त्र लेखका विषय होने से यहाँ उसका स्थान नहीं, तो भी अभ्यासियों का ध्यान खींचने के लिये उनकी स्वतन्त्र तुलना शक्ति पर विश्वास रख कर नीचे संक्षेप में एक तुलना करने योग्य सार बातों की सूची दी जाती है:—

तत्त्वार्थसूत्र

१ कायिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्तिरूप आस्रव (६, १)
२ मानसिक आस्रव (८, १)
३ सकषाय और अकषाय यह दो प्रकार का आस्रव (६, ५)
४ सुख-दुःख-जनक शुभ, अशुभ आस्रव (६, ३-४)
५ मिथ्यादर्शन आदि पाँच बन्ध के हेतु (८, १)
६ पाँचों में मिथ्यादर्शन की प्रधानता
७ आत्मा और कर्म का विलक्षण सम्बंध सो बन्ध (८, २-३)
८ बन्ध ही शुभ, अशुभ हेय विपाकका कारण है
९ अनादिबन्ध मिथ्यादर्शन के अधीन है
१० कर्मों के अनुभागबन्धका आधार कषाय है (६, ५)
११ आस्रवनिरोध यह संवर (९, १)
१२ गुप्ति, समिति आदि और विविध तप आदि ये संवर के उपाय (९, २-३)
१३ अहिंसा आदि महाव्रत
१४ हिंसा आदि वृत्तियों में ऐहिक, पारलौकिक दोषों का दर्शन करके उन वृत्तियोंका रोकना (७, ४)
१५ हिंसा आदि दोषों में दुःखपने की ही भावना करके उन्हें त्यागना (७, ५)
१६ मैत्री आदि चार भावनाएँ (७, ६)
१७ पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कनिर्विचार आदि चार शुक्ल ध्यान ९, ४१-४६)
१८ निर्जरा और मोक्ष (९, ३ और १०, ३)
१९ ज्ञानसहित चारित्र ही निर्जरा और मोक्षका हेतु (१, १)
२० जातिस्मरण, अवधिज्ञानादि दिव्य ज्ञान और चारण विद्यादि लब्धियाँ (१, १२ और १०, ७ का भाष्य)
२१ केवलज्ञान (१०, १)
२२ शुभ, अशुभ, शुभाशुभ और न शुभ न अशुभ ऐसी कर्म की चतुर्भंगी।

योगदर्शन

१ कर्माशय (२, १२)
२ निरोधके विषयरूपसे लीगई चित्तवृत्तियाँ (१, ६)
३ क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार का कर्माशय (२, १२)
४ सुख-दुःख-जनक पुण्य, अपुण्य कर्माशय (२, १४)
५ अविद्या आदि पाँच बन्धक क्लेश (२, ३)
६ पाँचों में अविद्या की प्रधानता (२, ४)
७ पुरुष और प्रकृति का विलक्षण संयोग सो बन्ध (२, १७)
८ पुरुष, प्रकृतिका संयोग ही हेय दुःखका हेतु है (२, १७)
९ अनादिसंयोग अविद्या के अधीन है (२, २४)
१० कर्मों के विपाकजननका मूल क्लेश है (२, १३)
११ चित्तवृत्तिनिरोध यह योग (१, २)
१२ यम, नियम आदि और अभ्यास, वैराग्य आदि योग के उपाय (१, १२ से और २, २९ से)
१३ अहिंसा आदि सार्वभौम यम (२, ३०-३१)
१४ प्रतिपक्ष भावना-द्वारा हिंसा आदि वितर्कों को रोकना (२, ३३-३४)
१५ विवेकी की दृष्टि में संपूर्ण कर्माशय दुःखरूप ही हैं (२, १५)
१६ मैत्री आदि चार[५१] भावनाएँ (१, ३३)
१७ सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचाररूप चार[५२] संप्रज्ञात समाधियाँ (१, १६ और ४१, ४४)
१८ आंशिकहान-बन्धोपरम और सर्वथा हान[५३] (२, २५)
१९ सांगयोगसहित विवेकख्याति ही हान का उपाय (२, २६)
२० संयमजनित वैसी ही विभूतियाँ[५४] (२, ३९ और ३, १६ से आगे)
२१ विवेकजन्य तारक ज्ञान (३, ५४)
२२ शुक्ल, कृष्ण, शुक्लाकृष्ण और अशुक्लाकृष्ण ऐसी चतुष्पदी कर्मजाति (४, ७)।

---

५१ ये चार भावनाएँ बौद्धपरम्परा में 'ब्रह्मविहार' कहलाती हैं और उनके ऊपर बहुत जोर दिया गया है।

५२ ये चार ध्यान के भेद बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध हैं। ५३ इसे बौद्धदर्शन में 'निर्वाण' कहते हैं, जो तीसराआर्य सत्य है।

५४ बौद्धदर्शन में इनके स्थान में पांच अभिज्ञाएँ हैं। देखो, धर्मसंग्रह पृ० ४ और अभिधम्मत्थसंगह परिच्छेद ९ पैरेग्राफ़ २४।

इसके सिवाय, कितनी ही बातें ऐसी भी हैं कि जिनमें से एक बातके ऊपर एक दर्शन द्वारा तो दूसरी बात के ऊपर दूसरे दर्शनद्वारा जोर दिया गया होने से वह वह बात उस उस दर्शन के एक खास विषय के तौर पर अथवा एक विशेषता के रूप में प्रसिद्ध हो गई है। उदाहरण के तौर पर कर्म के सिद्धान्तों को लीजिये। बौद्ध और योगदर्शन[५५] में कर्म के मूल सिद्धान्त तो हैं ही। योगदर्शन में तो इन सिद्धान्तों का तफ़सीलवार वर्णन भी है; तो भी इन सिद्धान्तों के विषय का जैन दर्शन में एक विस्तृत और गहरा शास्त्र बन गया है, जैसा कि दूसरे किसी भी दर्शन में नहीं दिखाई देता। इसीसे चारित्रमीमांसा में, कर्म के सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए, जैनसम्मत सम्पूर्ण कर्मशास्त्र[५६] वाचक उमास्वाति ने संक्षेप में ही समाविष्ट कर दिया है। उसी प्रकार तात्विक दृष्टि से चारित्र की मीमांसा जैन, बौद्ध और योग तीनों दर्शनों में समान होते हुए भी कुछ कारणों से व्यवहारमें फेर (अंतर) पड़ा हुआ नजर पड़ता है; और यह फेर अथवा अंतर ही उस उस दर्शन के अनुगामियों की विशेषता रूप हो गया है। क्लेश और कषाय का त्याग यही सबों के मतमें चारित्र है; उसको सिद्ध करने के अनेक उपायोंमें से कोई एकके ऊपर तो दूसरा दूसरेके ऊपर अधिक जोर देता है। जैन आचार के संगठनमें देहदमन[५७] की प्रधानता दिखाई देती है, बौद्ध आचार के संगठन में देहदमन की जगह ध्यान पर जोर दिया गया है और योगदर्शनानुसारी परिव्राजकोंके आचार के संगठन में प्राणायाम, शौच आदि के ऊपर अधिक जोर दिया गया है। यदि मुख्य चारित्र की सिद्धि में ही देहदमन, ध्यान तथा प्राणायाम आदि का बराबर उपयोग होवे तब तो इनमें से प्रत्येक का समान ही महत्व है; परन्तु जब यह बाह्यअंग मात्र व्यवहार की लीक जैसे बन जाते हैं और उनमें से मुख्य चारित्रकी सिद्धि का आत्मा उड़ जाता है तभी इनमें विरोध की दुर्गंध आती है, और एक संप्रदाय का अनुगामी दूसरे संप्रदाय के आचार का निरर्थकपना बतलाता है। बौद्ध साहित्य में और बौद्ध अनुगामी वर्ग में जैनों के देहदमन की प्रधानता-वाले तप[५८] की निन्दा दिखाई पड़ती है, जैन साहित्य और जैन अनुगामी वर्ग में बौद्धों के सुखशील, वर्तन और ध्यान का तथा परिव्राजकों के प्राणायाम और शौच का परिहास[५९] दिखाई देता है। ऐसा होनेसे उस उस दर्शनकी चारित्रमीमांसा के ग्रंथों में व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाला वर्णन विशेष भिन्न दिखलाई पड़े तो वह स्वाभाविक है। इसी से तत्वार्थ की चारित्रमीमांसा में हम प्राणायाम या शौच के ऊपर एक भी सूत्र नहीं देखते, तथा ध्यान का उसमें पुष्कल वर्णन होते हुए भी उसको सिद्ध करने के बौद्ध या योग दर्शन में जो वर्णन किये गए हैं, ऐसे व्यावहारिक उपाय हम नहीं देखते। इसी तरह तत्वार्थ में जो परीषहों और तप का विस्तृत तथा व्यापक वर्णन है वैसा हम योग या बौद्ध की चारित्रमीमांसा में नहीं देखते।

इसके सिवाय, चारित्रमीमांसा के सम्बन्ध में एक बात खास लक्ष्य में रखने-जैसी है और वह यह कि उक्त तीनों दर्शनों में ज्ञान और चारित्र—क्रिया-

५५ देखो, २, ३-१४। ५६ तत्वार्थ ६, ११-२६ और ८, ४-२६।

५७ तत्वार्थ ६, ६। "देहदुक्खं महाफलं" दशवैकालिक अध्ययन ८ उ०२। ५८ मज्झिमनिकायसूत्र १४। ५९ सूत्रकृतांग अध्ययन ३ उद्देश ४ गा०६ की टीका तथा अध्ययन ७ गा०१४ से आगे।

दोनों को स्थान होते हुए भी जैन दर्शन में चारित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण रूप से स्वीकार कर के ज्ञान को उसका अंगरूप से स्वीकार किया गया है, जब कि बौद्ध और योग दर्शन में ज्ञान को ही मोक्षका साक्षात् कारण मान कर ज्ञान के अंग रूप से चारित्र को स्थान दिया गया है। यह वस्तु उक्त तीनों दर्शनों के साहित्य का और उनके अनुयायी वर्ग के जीवनका बारीकी से अभ्यास करने वाले को मालूम हुए बिना नहीं रहती; ऐसा होने से तत्वार्थ की चारित्रमीमांसामें चारित्रलक्षी क्रियाओं का और उनके भेद-प्रभेदोंका अधिक वर्णन होवे तो यह स्वाभाविक ही है।

तुलना को पूरा करने से पहले चारित्रमीमांसा के अन्तिम साध्य मोक्ष के स्वरूपसम्बंध में उक्त दर्शनों की क्या और कैसी कल्पना है वह भी जान लेनी आवश्यक है। दुःख के त्याग में से ही मोक्ष की कल्पना उत्पन्न हुई होने से सभी दर्शन दुःख की आत्यन्तिक निवृत्तिको ही मोक्ष मानते हैं। न्याय[६०], वैशेषिक[६१], योग और बौद्ध ये चारों ऐसा मानते हैं कि दुःख के नाश के अतिरिक्त मोक्षमें दूसरी कोई भावात्मक वस्तु नहीं है, इससे उनके मत में मोक्ष में यदि सुख होवे तो वह कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं, बल्कि उस दुःख के अभाव की पूर्ति रूप ही है, जब कि जैनदर्शन वेदान्त के सदृश ऐसा मानता है कि मोक्षअवस्था मात्र दुःखनिवृत्ति नहीं, बल्कि इसमें विषयनिरपेक्ष स्वाभाविक सुख जैसी स्वतन्त्र वस्तु भी है; मात्र सुख ही नहीं बल्कि उसके अतिरिक्त ज्ञान जैसे दूसरे स्वाभाविक गुणोंका आविर्भाव जैनदर्शन इस अवस्थामें स्वीकार करता है, जब कि दूसरे दर्शनों की प्रक्रिया ऐसा स्वीकार करने से इनकार करती है। मोक्षके स्थान-संबंध में जैन दर्शनका मत सबसे निराला है। बौद्धदर्शनमें तो स्वतन्त्र आत्मतत्वका स्पष्ट स्थान न होने से मोक्षके स्थानसंबंधमें उसमें से किसी भी विचार-प्राप्ति की आशा को स्थान नहीं है, प्राचीन सभी वैदिक दर्शन आत्मविभुत्व-वादी होने से उनके मतमें मोक्षका स्थान कोई पृथक् होवे ऐसी कल्पना ही नहीं हो सकती; परंतु जैनदर्शन स्वतंत्र आत्मतत्व-वादी है और ऐसा होते हुए भी आत्मविभुत्व-वादी नहीं, इससे उसको मोक्ष का स्थान कहाँ है इसका विचार करना पड़ता है और यह विचार उसने दर्शाया भी है; तत्वार्थके अन्तमें वाचक उमास्वाति कहते हैं कि "मुक्त हुए जीव हरेक प्रकारके शरीर से छूटकर ऊर्ध्वगामी होकर अन्तमें लोकके अग्रभागमें स्थिर होते हैं और वहाँ ही हमेशा के लिये रहते हैं"।

६० देखो, १, १, २२। ६१ देखो, ५, २ १८।

नोट—

इस लेखमें लेखक महोदय ने अपने विशाल तथा गहरे अध्ययन को लेकर 'तत्वार्थसूत्र' पर एक प्रकार का भारी तुलनात्मक विचार प्रस्तुत किया है, जो विद्वानोंको इस ग्रन्थ-सम्बंधमें तुलनात्मक अध्ययनकी दिशा का कितना ही बोध कराता हुआ उन्हें सविशेष रूप से अध्ययन की प्रेरणा करता है और इस लिये अभिनन्दनीय है। जहाँ तक मैं समझता हूँ 'तत्वार्थसूत्र पर इस प्रकारके तुलनात्मक विचारोंको प्रस्तुत करनेका यह पहला ही क़दम है जो लेखक महोदयने उठाया है। वे इस तुलनामें कहाँ तक सफल हुए हैं, सत्यके कितने निकट पहुँचे हैं अथवा पहुँचनेका उन्होंने प्रयत्न किया है और उनकी यह तुलना क्या क्या नतीजे निकालती है, किस किस विषय पर क्या कुछ असर या प्रकाश डालती है अथवा किसने किसका कितने अंशोमें अनुसरण किया इस बातके समझाने में मदद करती है, ये सब बातें ऐसी हैं जो विज्ञ पाठकोंकी गहरी जाँच तथा विशेष खोजसे सम्बंध रखती हैं। आशा है विद्वान लोग इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने की कृपा करेंगे और इस तरह समाज में तुलनात्मक विचारोंको उत्तेजन देकर विकासका मार्ग अधिकाधिक प्रशस्त बनाएँगे।

—सम्पादक

भगवान महावीर की शिक्षा

[लेखिका—श्रीमती उत्कल भारतभूषण डा० कुन्तलकुमारी देवी]

सब से पहले मैं बिना किसी संकोच के स्पष्टतया यह बतला देना चाहती हूँ कि मैं एक अजैन व्यक्ति हूँ परन्तु फिर भी भारतवर्ष के महान् नेता स्वामी महावीर के प्रति मेरे हृदयमे भक्ति-भाव की जो मात्रा है वह बहुत चढ़ी बढ़ी है।

> एक अजैन विदुषी बहन ने कुछ जैन-ग्रंथों का अध्ययन करके भगवान महावीरकी शिक्षा का जो अनुभव किया है और दूसरे धर्मों के साथ उसकी तुलना करके जो सार खींचा है वह सब पाठकोंको इस लेखसे जान पड़ेगा। यह महत्वपूर्ण मूल लेख अंग्रेजी भाषा में लिखा गया है, श्रीमतीजी इस भाषाकी एक उत्तम लेखिका हैं और उन्होंने गत महावीर जयंतीके अवसर पर देहलीमें इसे खुद ही अपने भाषण के रूप में पढ़ कर सुनाया था, और इस पर विद्वत्समाजकी ओरसे खूब हर्ष प्रकट किया गया था। वास्तवमें यह सब जैनसाहित्य के प्रचारका माहात्म्य है। ज्यों ज्यों जैनसाहित्यका प्रचार होता जाता है और सहृदय विद्वानोके लिये उसकी प्राप्तिका मार्ग सुगम किया जाता है त्यों त्यो जैनधर्म अथवा भ०महावीर की शिक्षाओंके प्रति लोगोका भक्तिभाव और प्रेम बढ़ता जाता है। और इसलिये जैनसाहित्य के अधिकाधिक प्रचार की ओर जैनसमाजको खास तौर से ध्यान देना चाहिये।
>
> —सम्पादक

संसार इस समय एक सत्यको—वस्तुतः एक महान् सत्य को—अनुभव करने के लिये जागृत होरहा है, जिस के मूल तत्त्व (सिद्धान्त) भारत माता के हृदय में शताब्दियो से गुप्त पड़े हैं। लोगों को इन तत्त्वों के जानने और उनकी विस्तृत व्याख्या करने का कोई बहुत बड़ा अवसर प्राप्त नहीं हुआ, उन्होंने इसके लिये न तो इच्छा ही की और न आवश्यक बलिदान—स्वार्थत्याग—ही किया। वे केवल इस समय तथा शक्ति का दुरुपयोग ही समझते रहे परन्तु अब समय बदल गया है। संसार ने शताब्दियों के दुःख, कष्ट तथा विषय-वासनाओं की पूर्ति-द्वारा हर्ष और आनन्दकी निरर्थक चेष्टा के बाद महान् सत्य के उन सिद्धान्तो की ओर अपनी आँखें फेरली हैं, जिन पर सैंकड़ो वर्ष हुए, वर्तमान वैज्ञानिक युग के प्रारंभ से पहले, आत्मसंयमी, सर्वसंगत्यागी, दिव्यदृष्टि, सृष्टि में सर्वानन्दमयी, पूर्ण तथा स्वतंत्रात्मा, तीर्थकर, महान् तथा सुकृती, श्रेष्ठ और दिव्य स्वामी महावीरने आचरण और उपदेश किया था, और जो आज भी विज्ञानके सारभूत विषयो तथा मानवीय ज्ञान के साथ टक्कर लेने की वास्तविक शक्ति को लिये हुए हैं।

महान सत्यके उन्हीं सार सिद्धान्तों पर आज कुछ विचार किया जाता है।

वस्तुतः सत्य संसार की मूल वस्तु है, सत्य पर ही अखिल सृष्टि निर्भर है और सत्य ही हमारा अंतिम लक्ष्य है और वह सत्य है स्वात्मानुभव। यह स्वात्म-अनुभव, जिसे हज़रत ईसा ने कहा है कि "Know Thyself" "अपने आपको जानो" कदापि प्राप्त नहीं होगा जबतक कि हम उन महान् सिद्धान्तों का अनुष्ठान नहीं करेंगे जो कि संख्या में तीन हैं।

इनमें से पहला सिद्धान्त है अहिंसा, दूसरा है नश्वर वासनओंका जीतना, और तीसरा है आत्माका परमात्म पद को प्राप्त होना अथवा सिद्ध करना।

अब मैं इन तीनों को एक एक करके लेती हूँ:—

१ अहिंसा

अहिंसा के विषय में मैं कह सकती हूँ कि पृथिवी-तल पर कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जिसने अहिंसा का व्यवहार अथवा उसके व्यवहारका उपदेश ऐसी पूर्णता तथा उत्तमताके साथ किया हो जैसाकि जैनियोंके धर्म(जैनधर्म)ने किया है। हम इसके साथही बौद्धधर्म को देखते हैं जिसका सिद्धान्त इस विषय में वस्तुतः जैनधर्म के समान है, कदाचित् मनुष्यके अन्तिम लक्ष्य और कर्मसिद्धान्त की अपेक्षा दोनों में थोड़ा भेद है; परन्तु क्या यह सत्यार्थ नहीं है कि बौद्ध धर्म अहिंसा में जो सत्य संनिहित है उसके व्यवहार की सीमा से दूर चला गया है? बौद्धधर्म में यद्यपि सभी छोटे छोटे जीवों के लिये भी दया करने का विधान है किन्तु बौद्ध लोग इस नीति का उस प्रकारसे अनुसरण नहीं करते जैसा कि जैनधर्ममें इसका अनुष्ठान किया जाता है। सभी बौद्ध देशों में लोग मांस और मछली खाते हैं और इस प्रकार वे अहिंसाके वास्तिविक आचारको दूषित करते हैं। परन्तु जैनधर्म में ऐसी विधि कहीं भी नहीं पाई जाती। यह विधि कैसे बन सकती है जब कि दूसरा ही पद नश्वर वासनाओंको जीतना है। यदि मनुष्य अपने सजातीय प्राणियों के मारने से अपने को नहीं रोक सकता तो वह नश्वर विषयवासनाओं को क्योंकर जीतेगा? लोग जैनियों की हँसी उड़ाते हैं—कहते हैं कि ये अति को लिये हुए हैं, ये निरर्थक घोर तपस्यायें करते हैं, ये नास्तिक हैं, ये हमारी तरह किसी एक नित्य परमात्मा पर श्रद्धा नहीं रखते। और येही ईश्वर को न मानने वाले लोग कहते हैं कि केवल एक खटमल को मारना भी पाप है। परन्तु मैं कहती हूँ कि हाँ, यह वस्तुतः पाप है। जो मनुष्य एक छोटे से असहाय कीड़े को मारने में संकोच नहीं करते वे वस्तुतः एक दूसरे को घात करने में कोई संकोच नहीं कर सकते। इसी से तो वे ईश्वर के नाम पर हिंसा करते—बलि चढाते—हैं, धर्म के नाम पर एक दूसरे का रक्तपात करते हैं। यहूदियों और मुसलमानों के धार्मिक इतिहास को देखिये! ईश्वर के नाम पर नगर के नगर उजाड़ दिये गये, बच्चों तथा स्त्रियों को घर-द्वार से विहीन और अनाथ कर दिया गया! भारत का पुरातन इतिहास देखिये! देवताओं के नाम पर सुर असुर मारे गये तथा निर्दयता के साथ नष्ट कर दिये गये। ये असुर उन आर्यजनों (आदिम वासियों) के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति न थे जो उस समय भारत में निवास करते थे (बाहर के) आर्यों ने उन्हें मार डाला, उनके घर-बार बर्बाद कर दिये और जो कुछ उन के पास अच्छी से अच्छी वस्तुएँ थी वे सब छीन लीं। और इन रक्त पातों को धर्मयुद्ध कह कर महाकाव्य लिखे गये तथा ललित साहित्य की रचना की गई। असंख्य शताब्दियों से संसारके इतिहास में धर्म का आचार हिंसा के आधार पर होता रहा है और उस धर्म के व्याख्याताओं ने अपने परमात्मा को परम दयालु, विश्वप्रेमी तथा न्याय और कृपा का सातिशय अवतार बतलाया है!

ईसाई मत के सिद्धान्तों और वर्तमान ईसाई संसार के व्यवहारों को देखिये! आपको अवश्य ऐसे स्वर्गीय ईश्वर से भेट होगी जो समस्त साधारण पातकियों को दहकती हुई अग्नि में तथा गंधक के शाश्वत

नरक में डालने के लिये सदैव क्रोधातुर रहता है। ऐसे भय-संघर्षों में से अहिंसा अपना मधुर तथा कोमल मार्ग कैसे पा सकती है?

यदि संसार को स्थिर रखना है, यदि दुर्बल प्राणियों को सुरक्षित और सबल बनाना है तो अहिंसात्मक व्यवहार के अतिरिक्त दूसरा इसका और कोई उपाय नहीं है। अहिंसा संसार को पोषण करने वाली माता है। यही वास्तविक बल है। यही उन मनुष्यों का पराक्रम है जिनमें पाशविकता नहीं है। यही आत्मा की वास्तिवक सामर्थ्य और शक्ति है।

अब आप जगन्मूर्ति महात्मा गाँधी पर दृष्टि डालिये। वे किस शक्तिके आधार पर काम कर रहे हैं, कौनसे मूल सिद्धान्त पर उन्होंने अपने आपको और अपने हज़ारों अनुयायियोंको प्राणोत्सर्गके लिये शक्तिशाली बना लिया है? यह केवल अहिंसा है। इसी लिये मैं कहती हूँ कि संसार इस महान् सत्यका अनुभव करने के लिये जाग उठा है कि शक्ति कदापि हिंसामें नहीं किन्तु वह अहिंसा में संनिहित है। अहिंसा मानवीय धर्मका सबसे अधिक सुंदर और सबसे अधिक दिव्य भाग है। बिना अहिंसाके कोई धर्म "धर्म"ही नहीं हो सकता और न बिना अहिंसा के कोई ऊँचा भाव ही बन सकता है। यह अहिंसा ही वास्तविक प्रेम है, यही वास्तविक दया है, यही वास्तविक धर्म है।

२ नश्वर वासनाओं का विजय

और इस धर्म पर आचरण करने के लिये हमें सैंकड़ों नश्वर वासनाओं तथा शारीरिक विषय लालसाओं का त्याग करना होता है। यही कारण है कि जैनधर्मका मार्ग इतना कठिन है और जो मनुष्य उसे प्राप्त करता है वह वास्तव में एक जैन है, एक वीर पुरुष है। इच्छाओं तथा इन्द्रिय-जनित आनन्द पर विजय प्राप्त करना कोई साधारण तथा सुगम कार्य नहीं है। यह एक बड़ा भयङ्कर युद्ध है, और वही मनुष्य वास्तविक वीर—यथार्थ योद्धा—है जो इस विषम कंटकाकीर्ण मार्गमें को गमन करता है। संसार नाना प्रकारके प्रलोभनों से भरा हुआ है, इंद्रियाँ सर्वत्र आसक्तिशीलता को लिये हुए हैं—आँखें, कान, मनोवृत्तियाँ विषय सुखोंका आस्वादन चाहती हैं; परन्तु एक जैनी, जो महावीर स्वामी की शिक्षाओं के सत्य का यथार्थ अनुगामी है, इन उन्मादिनी इच्छाओं का नियंत्रण करता है। क्यों?

३ परमात्मपद की प्राप्ति

यहीं से तीसरी अवस्थाका आरंभ हो जाता है। यह अवस्था परमात्मपदका प्राप्त करना है; यह अन्तरात्माका अनुभवन है।

यदि एक मनुष्य अपने आपको संसार के क्षणवर्ती पदार्थों में भ्रष्ट करता है तो वह अपने शाश्वत लाभों को नष्ट कर देता है। बाह्य मिथ्या और आन्तर सत्य तथा यथार्थ है। इसी में आत्मा के आनन्दका वास है, और बाह्य पदार्थों में अकथनीय दुःख, बंधन तथा प्रपंच भरे हुए हैं।

सर्वानन्दमय आत्मा को स्वतंत्र—मुक्त—करने के लिये जैन शास्त्र यह उपदेश देते हैं कि 'संसार से अलग हो जाओ, सर्वसंगका परित्याग करदो, शरीरमें भी अनुराग मत रक्खो—विषयासक्ति को छोड़ दो;—तभी तुम 'वीर' एवं 'जिन' होगे।

वीर होना तथा विषयासक्ति पर विजय प्राप्त करना कैसा सुन्दर तथा सुहावना शब्दनाद है। किसी भी दूसरे धर्म में यह सिद्धान्त ऐसे समुचित रूप से

तथा सुविचारताके साथ निरूपण नहीं किया गया है।

बौद्ध धर्म में हम यह उपदेश पाते हैं कि, संसारी जीव-दु:खों से परिपूर्ण है और इन दु:खों से मुक्त होनेका साधन अपनी इच्छाओं का निरोध अथवा नाश करना है और इच्छाओं के नाशका नाम ही निर्वाण है। परन्तु जैनधर्म एक बिल्कुल दूसरेही प्रकार से शिक्षा देता है। वह कहता है—"वीर बनो, जिन बनो, और अपने सर्वानंदमय स्वभाव को प्राप्त करो। आत्मा आनन्द चाहता है, उत्कर्ष चाहता है। तुम्हारा उत्कर्ष मात्र इस दु:खमय कारागार (शरीर)में रहते नहीं होगा, तुम परमात्मा हो, परमेश्वर से किसी प्रकार कम नहीं हो, तुम्हारे स्वाभाविक गुण पृथिवीरज में नहीं पाये जाते, तुम इससे बहुत ऊँचे हो, तुम प्रतापसूर्य हो। ऐ मर्त्य मनुष्य! भय मत करो, तुम अविनाशी ईश्वर हो—शक्ति रूपसे परमात्मा हो—ये केवल तुम्हारे कर्म हैं जो तुम्हें पुद्गल के साथ बाँधे हुये हैं और वे भी तुम्हारे कर्म—सदाचार—ही होंगे जो तुम्हारी बेड़ियों को काट कर तुम्हें फिर से तुम्हारे सर्वानन्दमय स्वरूपका बोध कराएँगे।"

फिर कहिये! यह धर्म कैसे नास्तिक हो सकता है? परमात्मपद का प्राप्त करना ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसका उपहास किया जाय। यह एक गहरे विचार का मामला है।

बहुत से मनुष्यों ने अज्ञानवश जैनधर्मको अनीश्वरवादी—एक प्रकारका नास्तिक—समझा है। परन्तु वास्तव में यह वैसा नहीं है। यह वर्तमान युगका नास्तिक नहीं है। यह योरोपका अनीश्वरवादी नहीं है। यह "खाना पीना और मौज उड़ाना" नहीं है, इस ख़याल से कि हमें कल को मरना होगा और कौन जानता है कि मरने के बाद क्या होता है। यह ईश्वर-विषय पर 'रेड रशिया वार' (रूसवालों के युद्ध)के साथ सादृश्य नहीं रखता। योरोप के नास्तिक सिद्धान्त में किसी प्रकारके ईश्वर को स्थान नहीं है। वह अनात्मवादी की तरह से ही अनीश्वरवादी है। वह प्रकृति-पूजा का एक रूप है। वह केवल शारीरिक सुखों को पुष्ट करने का एक मार्ग है। यही वजह है जो वर्तमान युग सदाचार (नीति) की भयंकर गिरावट के कारण कष्ट पा रहा है। हमें भयानक अपराधों का, अवक्तव्य पतनों का और घृणा तथा क्रोध से संतप्त संसारकी उन जातियोंका वृत्तान्त सुनसुन कर आश्चर्य होता है, जो बाह्य में तो शान्ति दिखाती हैं, अंतर्राष्ट्रीय सभाएँ स्थापित करती हैं परन्तु भीतर से उनके विचार मार-काट, लूट-खसोट, प्रतिहिंसा, और लोभ-लालच से भरे हुए हैं। वे एक दूसरेकी बढ़तीको नहीं देख सकतीं। वे एक मेज के मित्रों की तरह प्रच्छन्न शत्रु हैं जो गुप्तरूप से एक दूसरे का पतन और नाश चाहती हैं।

इन सब बातों के होने का कारण क्या है? उत्तर बहुत सरल है। यही कि मनुष्यने अपनी नश्वर वासनाओं को पुष्ट करने का विचार बहुत बढ़ा लिया है। गोबरके ढेर में पड़े हुए गुबरीले की तरह मनुष्य पतन करने वाली वस्तुओं में आनन्द मानता है, उन्हें अपने विज्ञान की उत्तम प्राप्ति समझता है और इन तपस्या के आचारोंकी हँसी उड़ाता है—धार्मिक विचारोंका ही उपहास करता है।

अब विज्ञान ने तो ईश्वर और आत्मा के प्रश्नको उठा दिया है, उसके लिये तो एक मात्र शरीर का ही प्रश्न अवशिष्ट रह गया है। परन्तु जैनधर्म उसकी इस बात से किसी तरह भी सहमत नहीं है।

हाँ, हम लोगों के लिये जो एक ईश्वरमें श्रद्धा

रखते हैं एक सर्वेश्वर व्यक्ति परमात्मा की अश्रद्धा से सम्बंध रखने वाली उसकी व्याख्याओंको मानना कठिन है। परन्तु एक ईश्वर के मानने वालों में जो परस्पर मतभेद—विरोध—है उसे देखते हुए एक मनुष्य स्वभाव से ही ईश्वरके अस्तित्वविषयमें मूढ हो जाता अथवा संदेह करने लगता है। उदाहरण के तौर पर संसार के वर्तमान ईश्वरवादी (आस्तिक) मतों को लीजिये। मुसलमानों का खुदा आर्यों के ईश्वरसे भिन्न है और यहूदियोंका परमात्मा हिन्दुओं के तथा ईसाइयों के भी ईश्वरसे और अधिक भिन्न है। इन धर्मोंके अनुयायी सदा एक दूसरे से झगड़ा करते हैं, हमेशा के लिये एक दूसरेके धार्मिक विचारों को पाखण्ड बतलाते हैं—एक दूसरे के ईश्वर की निन्दा करते हैं। वे सदा अपने ही सिद्धान्तोंको ठीक बतलाते और अपने धर्मशास्त्रों को ईश्वरप्रेषित प्रतिपादन करनेका यत्न करते हैं। तथा साथ ही, वे अन्य धर्मोंको क्षुद्र और असत्य ठहराना चाहते हैं। कहिये! ईश्वर अपने ही विरुद्ध कैसे खड़ा हो सकता—बोल सकता—और आँखमिचौली खेल सकता है? और फिर यह कैसे अविरुद्ध हो सकता है कि एक सर्वशक्तिमान, सर्वानन्दमय, विश्वप्रेमी और परमदयालु परमात्मा ऐसे विश्व की सृष्टि करे जो दुखदर्दों तथा कष्टों से पूर्ण है? एक विचारशील के लिये यह बात बहुत ही खटकती है। ईश्वर इन दीन मर्त्य प्राणियों के कष्टों को जानते हुए भी व्यर्थ दुःख उठाने के लिए उनकी सृष्टि कैसे कर सकता है? यदि ईश्वर वास्तव में जगत का परम पिता होता तो क्या वह मर्त्य पिता से भी अधिक निर्दयता के साथ यह चाहता कि उसके बच्चे ये अनन्त कष्ट भोगें? यही कारण है कि प्रायः सभी ईश्वरवादी धर्मों में हमें दो ईश्वरों के अस्तित्व का सिद्धान्त दिखाई देता है, एक पाप का ईश्वर और दूसरा पुण्य का ईश्वर है। दोनों समान शक्तिशाली हैं और बराबर एक दूसरे के साथ युद्ध करते रहते हैं। और बेचारे दीन मनुष्य दोनों के निर्दय संग्राम में पीड़े जाते हैं। ईसाई मत में, मुसलमानी मजहब में, यहूदी और पारसी धर्मों में ईश्वर और शैतान साथ साथ दिखाई पड़ते हैं। और इन एजंटों के द्वारा होने वाले विश्व के दृश्यो की व्याख्या करने के लिये बहुत से सिद्धान्त गढे गए हैं। परन्तु दुःख, मृत्यु और परलोक का प्रश्न अभी तक गहरे अन्धकार में ही पड़ा हुआ है—ये धर्म इस विषय में कुछ भी स्पष्ट नहीं बतलाते। यदि कहा जाय कि आत्मा अपने कर्मों के अनुसार दुःख भोगता है और ईश्वर इसमें हस्तक्षेप करने के लिये असमर्थ है, वह केवल आत्मा के कष्टभोग का एक साक्षीमात्र है तो क्या फिर ऐसे निर्बल और निःशक्त ईश्वरकी उपेक्षा करना और अकेले कर्म पर ही भरोसा रखना अधिक युक्तियुक्त न होगा?

यदि कोई मनुष्य अपना हाथ अग्नि में डाले तो वह अवश्य जल जायगा। हम जैसा बीज बोते हैं वैसा ही फल पाते हैं, शायद इसी युक्तिके आधार पर परमात्मपद-प्राप्ति के युद्ध में आत्मा को वीर और बलिष्ठ बनाने के लिये जैनधर्म ने ईश्वरके प्रश्न को बिलकुल ही छोड़ दिया है।

चाहे कुछ भी हो, हम लोग जो केवल एक ईश्वर में विश्वास रखते हैं अब भी इस विषय में मतभेदको लिये हुए हैं और एक अदृष्ट परमात्मा पर भरोसा करने और अपनी समस्त निर्बलताओं तथा त्रुटियों को उसी के कंधों पर डाल देते हैं, और एक अज्ञात व्यक्ति की पूजा-प्रार्थना करना पसंद करते हैं। यह हमारी कमजोरी है। शायद वह समय शीघ्र आ जाय कि हमारी यह

कमज़ोरी भी न रहे। और मैं कहती हूँ कि वह समय निकट आ गया है। पाश्चात्य संसार ने ईश्वर के अस्तित्व को हृदय से प्रायः निकाल ही दिया है, और उसके स्थान पर ऐसे विभिन्न सम्प्रदाय तथा विभिन्न समाज उदय को प्राप्त होगये हैं जो जैनधर्म के साथ बहुत ही सादृश्य रखने वाले विचारों को मानते और उन पर अमल करते हैं।

उदाहरण के तौर पर हम थ्योसोफिकल सोसाइटियों को ले सकते हैं। उनकी शिक्षाएँ और आत्म-तत्त्व-प्रचार की बातें जैनधर्म के साथ बहुत ही मिलती जुलती हैं, वे भी एक प्रकार से जैनधर्म के ही शिक्षक हैं। ऐसे समाजों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। इस समय उगते हुए युवक संसारका यह मत है कि या तो धर्म में सहिष्णुता हो, या एकता हो अथवा बिल्कुल ही कोई धर्म न रहे; धर्म ने संसारको बहुत ही अस्वस्थ—असाधु—बना दिया है, इसलिये उसे छोड़ देना चाहिए। और उसके स्थान पर वे मनुष्यता तथा विश्वबन्धुता का उपदेश देते हैं। क्या यह सब महर्षि महावीर की शिक्षाओं का सार नहीं है? जब पारस्परिक मतभेद—विरोध—दूर हो जाते हैं तो केवल प्रीति और मित्रता रह जाती है, जो आपस में बन्धुता के भाव पैदा कर देती है। ये मर्त्य मनुष्य, जिनमें आप और मैं सब सम्मिलित हैं, वस्तुतः दिव्य—ईश्वरतुल्य-प्राणी हैं, यह विचार आत्मा को शान्ति और संतोष का दाता है। इससे क्षोभ मिट जाता है, नरकका भय दूर हो जाता है और हम ऊँचेसे ऊँचे उठते एवं उन्नति करते चले जाते हैं।

जब सब लोग इन उदात्त सिद्धान्तों को समझ जायँगे, जब पशु से मनुष्य तक सभी एक दूसरे से भाई की तरह हाथ मिलायँगे और संपूर्ण सृष्टि परस्पर आनन्दमग्न होगी तो उस समय यह संसार कितना सुंदर एवं मनोज्ञ मालूम देगा।

यह दृश्य महर्षि महावीर स्वामी के ज्ञान में झलका। उन्होंने इसे स्वयं देखा, अनुभव किया और संसार के हित के लिये—अपने दुःखित भाइयों के लिये—इसका उपदेश दिया।

उनका संदेश संसार भर के उन सभी प्राणियों के लिये, जो असंख्य जन्मों तथा मरणोंके थका देनेवाले मार्ग में परिभ्रमण कर रहे हैं, यह है कि—तुम्हारे ही कर्मों से दुःख दूर होंगे, पाप धुल जायँगे और तुम पूर्ण सुखी तथा आनन्दमय ईश्वर हो जाओगे। और यह सब कुछ तुम्हारे ही हाथ की बात है। यह किसी सुरलोकस्थ ऐसे महान् देवताकी शक्तिके आधीन नहीं है, जो तुम से बहुत दूर है—तुम्हारे दुःखों, शोकों तथा कष्टों के क्षणों से दूरवर्ती है। यह तुम से बाहर नहीं है, मुक्ति तुम्हारे ही अन्दर है, पूर्ण आनन्दका रम्य स्थान तुम्हारे ही आत्माके भीतर विद्यमान है। ये सब तुम्हारे ही कृत्य होंगे जो उस अपूर्व आनन्द का तुम्हारे आत्मा में विकाश करेंगे। क्यों दुःख उठाते और चिल्लाते हुए धूलमें पड़े हो? निर्बलता, अन्धकार (अज्ञान) भय और मृत्युसे ऊपर उठो। तुम अविनाशी हो, तुम दिव्य हो। संसार इस दिव्य गीतको हर्षावेशसे सुनता है और इसी में उसकी मुक्ति है।

सारांश, महावीर स्वामीकी शिक्षामें सत्य के तीन बड़े सिद्धान्त संनिहित हैं—एक अहिंसा, दूसरा नश्वर वासनाओं पर विजय, और तीसरा परमात्मपद की प्राप्ति। अब आप स्पष्ट देख सकते हैं कि ये तीनों अवस्थाएँ एक दूसरेके साथ सम्बद्ध हैं। मनुष्य अहिंसा का पालन करता है और उस के पालन द्वारा नश्वर विषयवासनाओं पर विजय प्राप्त करता है और इस तरह परमात्मपद को प्राप्त हो जाता है।

यही भगवान् महावीर की शिक्षाओं का सार है। उन्होंने खुद अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन किया, संसार के विषयभोगों को त्याग दिया और परमात्म पद को प्राप्त किया।

क्या ही अच्छा हो, कि हम उनके इस पवित्र आदर्श का अनुकरण करें और शुद्ध कैवल्य तथा नित्यानंद अवस्था को प्राप्त हो जायँ।

अनुवादक—भोलानाथ जैन मुख़्तार

कर्णाटक-जैनकवि

[अनुवादक—श्री० पं० नाथूरामजी]

पहले भाग का परिशिष्ट

['कर्नाटक-कवि-चरिते' के दूसरे भाग के अन्त में राव बहादुर आर० नरसिंहाचार्यजी ने एक 'परिशिष्ट' दिया है, जिसका अनुवाद आगे दिया जाता है। इस परिशिष्ट में जितने कवियों का परिचय है, वास्तव में वे पहले भाग में आने चाहिएँ थे और पहले भाग की दूसरी आवृत्ति जो हाल ही प्रकाशित हुई है, उसमें इन सब कवियों का परिचय यथास्थान दे भी दिया गया है। क्योंकि पहले भाग में १४ वीं शताब्दियों के अंत तकके कवि दिये हैं और ये भी सब इसी समय के भीतर के कवि हैं।]

१ श्यामकुण्डाचार्य (ल० ९०० ई० सन)

इन्द्रनन्दि के 'श्रुतावतार' से मालूम होता है कि इन्होंने कनड़ी भाषा में 'प्राभृत' की रचना की थी। ये तुंबुलूर-आचार्य अथवा श्रीवर्द्धदेव के समकालीन या उनके कुछ ही पूर्व हुए होंगे। इनका कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ।

२ श्रीविजय दण्डनाथ (ल० ९१५)

कड़पा जिले के दानउलपाडु नामक गाँव के एक शिलालेख से मालूम होता है कि यह अनुपम कवि था; परंतु इसके किसी ग्रंथका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। यह राष्ट्रकूट राजा तृतीय इंद्र (९१५-९१७) का अतिशय पराक्रमी दंडनायक था। शिलालेख से मालूम होता है कि इसने अंतमें संन्यास ग्रहण करके निर्वाण (?) प्राप्त किया।

३ श्रीधराचार्य (१०४९)

ये बेलुवल प्रदेश के नरिगुंद स्थान के रहने वाले ब्राह्मण थे। इनका बनाया हुआ 'जातक-तिलक' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अन्त्य पद्य से यह भी मालूम होता है कि इन्होंने 'चन्द्रप्रभचरित' भी लिखा था। 'अब तक कनड़ी में किसी ने ज्योतिष ग्रंथ नहीं लिखा है, आप जातक-तिलक लिखने की कृपा करें,' विद्वानों के इस आग्रहसे विवश होकर आपने 'जातक तिलक' की रचना की थी। कनड़ी के ये सबसे पहले ज्योतिषग्रन्थ-निर्माता हैं। नागकुमारकथा के प्रारंभ में बाहुबलि (१५५०) ने आद्यज्योतिषकार लिख कर इन का स्मरण भी किया है। ये चालुक्यनरेश आहवमल्ल (१०४२-६८) के समय में थे और इन्होंने अपना ग्रन्थ ई० सन् १०४९ में लिखा था।

इन के गद्यपद्यविद्याधर, बुधमित्र आदि सम्मानसूचक नाम हैं। इन्होंने आदिपंप, चंद्रभट्ट(अम्बुजारि), मनसिज, गुणवर्म (शीलभद्र), गजांकुश, और रन्न का स्मरण किया है। आर्यभट्टका भी उल्लेख किया है। ग्रन्थ के आरंभ में जिन और सरस्वती का स्तवन है।

'जातकतिलक' में २४ अधिकार हैं—१ संज्ञा, २ बलाबल, ३ गर्भ, ४ जन्म, ५ तिर्यग्जन्म, ६ अरिष्ट, ७ अरिष्टभंग, ८ आयुर्दाय, ९ दशान्तर्दशा, १० अष्टकवर्ग, ११ जीव, १२ राजयोग, १३ नाभिसंयोग, १४ चन्द्रयोग, १५ द्विग्रियोग, १६ दीक्षायोग, १७

राशि, १८ लग्नभाव, १९ द्रेक्काण, २० दृष्ट, २१ अनिष्ट, २२स्त्री जातक, २३ निर्वाण, २४ नष्टजातक।

दिवाकरनन्दि (१०६२)

'नगर' के शिलालेख के ५७ वें पद्य से मालूम होता है कि इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर एक कनड़ी टीका लिखी है। इसका नाम 'तत्त्वार्थसूत्रानुगत-कर्णाटक-लघुवृत्ति' है। मूलकर्त्ता का नाम गृध्रपिच्छाचार्य लिखा है। वृत्ति के प्रारंभ में यह श्लोक है।

नत्वा जिनेश्वरं वीरं वक्ष्ये कर्णाटभाषया।
तत्त्वार्थसूत्रसूत्रार्थं मन्दबुद्ध्यनुरोधतः॥

अन्त में नीचे लिखा हुआ गद्य है—

"इदु सकलागमसंपन्न-श्रीमच्चंद्रकीर्तिभट्टारकपद्मनन्दिसिद्धान्तदेव-श्रीपादप्रसादासादित-समस्तसिद्धान्तामृतपारावार-श्रीमद्दिवाकरणंदिभट्टारकमुदींद्र-विरचित-तत्त्वार्थसूत्रानुगतकर्णाटक लघुवृत्तियोल—"

इनका 'उभयसिद्धान्तरत्नाकर' विरुद था। इनके गुरु का नाम 'चन्द्रकीर्त्ति' भट्टारक था। नगर और सारब के शिलालेखों में इनकी स्तुति की गई है। ये पट्टण के स्वामी 'नोकन' के गुरु थे और 'सकलचन्द्र' नामक इनका एक शिष्य था।

५ शान्तिनाथ (१०६८)

इनके दण्डनाथप्रवर, परमजिनमतांभोजिनीराजहंस, सरस्वतीमुखमुकुर, सहजकवि आदि सम्मानसूचक विशेषण थे। ये 'भुवनैकमल्ल लक्ष्मण राजा' (१०६८-७६) के मंत्री, 'वर्द्धमान' व्रती के शिष्य, 'गोविन्दराज' के पुत्र, 'कन्नपार्य' के छोटे भाई और वाग्भूषण 'रेवण' के बड़े भाई थे। इनके उपदेश से लक्ष्मण राजा ने बलिग्राम में शान्तितीर्थश्वर-चैत्यालय बनवाया था।

शिकारपुर के शिलालेख (९९०) से मालूम होता है कि इन्होंने 'सुकुमारचरित' लिखा है, इसकी एक अपूर्ण प्रति हमें मिली है जो बहुत जीर्ण है। इसमें राजा सुरदत्त, रानी 'यशोभद्रा' के पुत्र 'सुकुमार' का चरित्र लिखा है। इसके प्रत्येक आश्वासके अन्त में यह गद्य है—

इदु समस्तविनयेजनविनमित-श्रीवर्द्धमान मुनीन्द्रवंद्य-परमजिनेन्द्रश्रीपादपद्मवरप्रसादोत्पन्नसहजकवीश्वर-श्रीशान्तिनाथ-प्रणीत-सुकुमार-चारित्र दोल—

६ वादिकुमुदचन्द्र (ल० ११००)

इन्होंने 'जिनसंहिता' नामक प्रतिष्ठाकल्प पर कनड़ी व्याख्यान लिखा है। उसके प्रारंभमें यह श्लोक है—

श्रीमाघनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तितनूभवः।
कुमुदेन्दुरहं वच्मि प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणं॥

और अन्त में लिखा है—

"इति श्रीमाघनंदिसिद्धान्तचक्रवर्तिसुतचतुर्विधपाण्डित्यचक्रवर्ति-श्रीवादिकुमुदचन्द्रपण्डित-देव-विरचिते प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणे—"

इससे मालूम होता है कि ये माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्तीके पुत्र थे और 'चतुर्विधपाण्डित्यचक्रवर्ती' की पदवी से विभूषित थे।

देवचन्द्र के 'रामकथावतार' (१७१७) से मालूम होता है कि कुमुदचंद्र ने एक रामायण भी लिखी है। इनका समय लगभग ११०० होना चाहिए।

बालचन्द्र ने (ल० ११७०) अपनी तत्त्वार्थतात्पर्यवृत्ति' कुमुदचन्द्रभट्टारक को प्रतिबोधित करने के लिए बनाई, ऐसा लिखा है। जान पड़ता है कि वे कुमुदचन्द्र भट्टारक इनसे पृथक् हैं।

७ मौक्तिक (ल०११२०)

इसने 'चन्द्रनाथाष्टक' लिखा है। इस अष्टक में बतलाये हुए पेरणेंगडलु तथा हेरणेगडलु ग्राम जैन-धर्मानुयायी कोंगालुव राजाओं के अधीन थे। वीर कोंगालुव राजा (ल० ११२०) ने 'मेघचन्द्र' के शिष्य 'प्रभाचंद्र' सिद्धान्तदेव को ये गाँव दान दिये थे, ऐसा एक शिलालेख से मालूम होता है।

८ जगद्दल सोमनाथ (ल० ११५०)

इसने कनड़ी में 'कल्याणकारक' लिखा है। इसको 'विचित्र कवि' भी कहते थे। इस ग्रन्थ में लिखा है कि इसे 'सुमनोवाण' और 'अभयचन्द्र' सिद्धान्ति ने संशोधित किया है, इस[illegible] होता है कि यह सुमनोवाण का समकालीन था और सुमनोवाणका समय लगभग ११५० है। इसने 'माधवेन्दु' का स्मरण किया है। यह माधवेन्दु ११३१ में मृत्युंगत होने वाले गंगराज के पुत्र वोप्पका गुरु था, ऐसा श्रवणबेल्गुल के ई०स० ११३५ के एक शिलालेखसे प्रकट होता है। इससे भी उक्त समय ठीक जान पड़ता है।

कनड़ी 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थ है और पूज्यपाद कृत 'कल्याणकारक' का अनुवाद है। मिली हुई अपूर्ण प्रति में केवल आठ अध्याय हैं। इसमें लिखा है कि पूज्यपाद का 'कल्याणकारक' बाहट (वाग्भट्ट), सिद्धसार, चरक आदि के ग्रन्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ है और उसकी चिकित्सा मद्य-मांस-मधु-वर्जित है।

इसके प्रारंभ में चन्द्रनाथ, पंचपरमेष्ठी, सरस्वती, माधवेन्दु, सैद्धान्तिक चक्रवर्ति माधवेन्दु और कनकचन्द्र पंडितदेव का स्मरण किया गया है।

कीर्तिवर्मा (ल० ११२५) के 'गोवैद्य' को छोड़ कर कनड़ी में यही सब से प्राचीन वैद्यक ग्रन्थ है।

९ वाग्वल्लकी वैणिक (ल०११५०)

इसने चन्द्रप्रभ-स्तुति लिखी है जो १४ कन्द पद्यों में है और बहुत सुन्दर है। इसमें कवि ने अपना नाम न बतला कर केवल अपने विरुद का ही उल्लेख किया है। इसका समय ११५० के लगभग होना चाहिए।

१० वीरनन्दि (११५३)

इन्होंने स्वोपज्ञ 'आचारसार' का एक कनड़ी व्याख्यान लिखा है। इनके गुरु 'मेघचन्द्र' थे। इसकी निम्न लिखित प्रशस्ति से मालूम होता है कि इन्होंने श्रीमुख संवत्सर १०७६ शक (ई०स० ११५३) में व्याख्यान लिखा है—

"स्वस्ति श्रीमन्मेघचन्द्र-त्रैविद्यदेवर श्रीपाद प्रमादासादितात्मप्रभाव-समस्तविद्याप्रभ वसकलदिग्वर्तिकीर्ति-श्रीमद्वीरनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्ति गल्" इत्यादि---

११ देवेन्द्र मुनि (ल०१२००)

इन्होंने 'बालग्रहचिकित्सा' नामका गद्यमय ग्रन्थ लिखा है। इनका समय ई०स०१२०० के लगभग जान पड़ता है।

१[२] शुभचन्द्र (ल० १२००)

इन्होंने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका लिखी है और आपको त्रैविद्यविद्याधर षड्भाषाकविचक्रवर्ती बतलाया है। इनका समय ई०स०१२०० के लगभग जान पड़ता है।

१३ मल्लिकार्जुन (ल०१२४५)

इसने 'सूक्तिसुधार्णव' नामक ग्रंथ लिखा है जिसे 'काव्यसार' भी कहते हैं। इसमें १९ आश्वास हैं; परंतु अभी तक यह संपूर्ण उपलब्ध नहीं हुआ है। इसमें काव्योपयोगी १८ विषयों का संग्रह जुदे जुदे ग्रन्थों

पर से किया गया है। इसके प्रारंभ में जिनस्तुति की गई है और फिर विष्णु, शिव, गजानन के भी स्तोत्रों का संग्रह किया गया है। इसमें हॉयसल राजाओं की परम्परा भी दी है।

मल्लप्प, मल्ल, चिदानन्द मल्लिकार्जुन ये इस कवि के नामान्तर हैं। 'चोरकथा' नामक ग्रंथ भी इसी कवि का लिखा हुआ है, इसके लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता। हमारी समझ में 'चोरकथा' का कर्त्ता कोई दूसरा ही मल्लिकार्जुन है और वह आधुनिक है। सूक्तिसुधार्णव का कर्ता शब्दमणिदर्पणकार केशिराज का पिता और जन्न कवि का बहनोई था। यह वीर सोमेश्वर (१२३३—५४) का समकालीन था। केशिराज के 'शब्दमणिदर्पण' के अनुसार यह 'मुनिश्रेष्ठ' था।

प्राचीन कवियों का निर्णय करने में इस ग्रन्थ का बहुत उपयोग होता है। इसमें निम्न लिखित ग्रंथों पर से पद्य संग्रह किये गये हैं—

अग्गल-कृत 'चन्द्रप्रभपुराण', अभिनवपंप-कृत 'मल्लिनाथपुराण' और 'रामायण', अण्डय्य-कृत 'कब्बिगरकाव', आदि गुणवर्म-कृत 'शूद्रक', आदिनागवर्म-कृत 'कादम्बरी', उदयादित्य-कृत 'अलंकार', कमलभव-कृत 'शान्तीश्वरपुराण', कविकाम-कृत 'शृंगाररत्नाकर', गुणवर्म-कृत 'पुष्पदन्तपुराण', चन्द्रराज-कृत 'मदनतिलक', दुर्गसिंह-कृत 'पंचतंत्र', देवकवि-कृत 'कुसुमावली' नेमिचन्द्र-कृत 'लीलावती' और 'अर्धनेमि', रुद्रभट्ट-कृत 'जगन्नाथविजय', हरिहर-कृत 'गिरिजाकल्याण'।

१० पद्मप्रभ (ल० १३००)

इन्होंने 'विंशतिप्ररूपणी टीका' लिखी है। लगभग १२५० में लिखे गये 'माघनंदिश्रावकाचार' का इन्होंने अनुवाद किया है, इस कारण इनका समय ल० १३०० होना चाहिए।

१५ अमृतनन्दि (ल० १३००)

इन्होंने अकारादि क्रमसे वैद्यक निघण्टुकी रचना की है जिसमें संस्कृत शब्दों के कनड़ी पर्याय दिये हैं। इनका भी समय लगभग १३०० ई० सन् जान पड़ता है

१६ प्रभाचन्द्र (ल० १३००)

इन्होंने 'सिद्धान्तसार' और 'चारित्रसार' की कनड़ी टीकायें लिखी हैं।

१७ कनकचन्द्र (ल० १३००)

इन्होंने कोंडकुंदाचार्यके 'मोक्षप्राभृत' या 'सहजात्मप्रकाश' ग्रंथ पर कनड़ी व्याख्यान लिखा है।

१८ आर्यसेन (ल० १३३१)

'नागराज' ने लिखा है कि उनके 'पुण्यास्रवपुराण' को 'आर्यसेन' ने सुधार कर सुंदर बनाया है। इन्होंने किसी स्वतन्त्र ग्रंथ की भी रचना की है या नहीं, यह मालूम नहीं हुआ। " नामक

१९ बाहुबलि पंडित (१३५०)

इन्होंने 'धर्मनाथपुराण' की रचना की थी, जिस का कि अंत का केवल एक ही पत्र उपलब्ध हुआ है। यह ग्रंथ शक संवत् १२७४ में समाप्त हुआ है और इस के १६ आश्वास हैं। इनके गुरुका नाम 'नयकीर्ति' था।

२० आयतवर्म (ल० १४००)

इन्होंने कनड़ी 'रत्नकरण्डक' चम्पू लिखा है, जिस में ३ परिच्छेद हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण किया है। इनके गुरु का नाम 'वर्द्धमान' सिद्धान्तदेव है। इनके समयका ठीक निर्णय नहीं हो सका।

२१ चन्द्रकीर्त्ति (ल० १४००)

इन्होंने 'परमागमसार' लिखा है जिसके १३२ कंद पद्य हैं। ग्रंथके अंतमें अपने गुणोंका वर्णन किया है। सरस्वतीमुखतिलक और कविजनमित्र इनके विरुद थे। इनका भी समय निर्णय ठीक नहीं हो सका।

आधुनिक जैनसमाजकी सामाजिक परिस्थिति

[लेखिका—श्रीमती भारतीयसाहित्यविशारदा डा० क्रौझे. पी. एच. डी. (सुभद्रादेवी)]

जैनधर्म भारतवर्षके अति प्राचीन धर्मों में से एक है, जोकि बौद्ध-धर्म से भी प्राचीन है, और प्रायः वर्तमान अभिप्राय के अनुसार अति प्राचीन हिन्दुदर्शन में भी पूर्व अवस्थितिवाला है। यद्यपि जैनधर्म ने बौद्धमत की भांति शक्ति एवं विस्तीर्णता नहीं पाई थी, और भारतवर्ष की सीमा को भी उल्लंघन नहीं किया था—अर्थात् बौद्धमत की भांति भारतवर्ष के अतिरिक्त चीन, जापान आदि प्रदेशों में जैनधर्म का प्रचार नहीं हुआ था, तो भी इस धर्म ने एक समय भारतीय धार्मिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला था। क्योंकि किसी समय में राजा-महाराजा सरदार लोग भी इस धर्म के अनुयायी थे। और इस धर्म ने अपने अहिंसात्मक सिद्धान्तों का प्रभाव अन्य धर्मों पर डाला था। फिर भी अंतिम शताब्दियों में इसका प्रभाव न्यून हो गया है। इस धर्मके वर्तमान निश्चित अनुयायियोंकी संख्या प्रति मनुष्य-गणना [१]। (Census report) के अनुसार न्यूनता के मार्ग की ओर प्रयाण करते करते ११००००० एकादश लाख की अंतिम जघन्य स्थिति तक पहुँची है।

परंतु उपर्युक्त उल्लेखानुसार जैनधर्म के प्रभाव की इस परिवर्तनके अनुसार अवनति हो रही है और जैन धर्म ने भारतवर्ष के आत्मिक-धार्मिक जीवन पर अपने प्रभाव की शिक्षा करना बंद कर दिया है, ऐसी कल्पनायें करना ठीक नहीं है। बात यह है कि जैनधर्म, उन मनुष्यों के लिये जो कि जाहिरा तौर से जैन हैं अर्थात् जो जन्म और परम्परा से जैन हैं, उनकी ही मर्यादा में नहीं है। किंतु वास्तविक रीतिसे जैनधर्मानुयायियोंकी संख्या मनुष्य गणना (Census report) के कथन की अपेक्षा से अधिक प्रमाणवाली है। जैनधर्म के सिद्धान्तो में, संभवतया जिनका कि अनुमान बाह्य लोग कर सकते हैं उनसे अधिक लोग आ सकते हैं। क्योंकि जैनधर्म का, ऐसे विद्वान्, विवेकी एवं उत्साहसंपन्न जैन मुनिराजोंद्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर निरंतर प्रचार हुआ और आज कल भी होता है, जो मुनिराज मात्र अशिक्षित वर्ग के लोगों को ही नहीं, किन्तु खास करके समग्र देश के शिक्षित लोगो को भी आकर्षित करते हैं और अन्य धर्मानुयायियों में भी अपने धर्मके प्रति प्रेम, मान और उत्साह उत्पन्न कराते हैं। ऐसे बहुत से मनुष्य हैं, जो यद्यपि जन्म, परंपरा और क्रियाकांडादिसे हिन्दू पारसी, मुसलमान धर्मों का आचरण करते हैं और उन धर्मोंको छोडनेका विचार भी नहीं करते हैं, तो भी अपने तत्त्वज्ञान एवं नैतिक आदर्श का अनुसरण करके सच्चे जैन कहे जा सकते हैं। ऐसे और भी अन्य धर्मी लोग विद्यमान हैं, जो अपने पुराने (परंपरागत) धर्ममें लवलीन होने पर भी नियमित रीतिसे जैन मंदिरों में दर्शनार्थ जाते हैं, जैन मूर्तियोंकी पूजा, पाठादि दैनिक

१ ब्रिटिश गवर्नमेंट (Birtish Government) की ओर से प्रति दस वर्ष में जो मनुष्यों की सख्या गिनी जाती है उसे मर्दुमशुमारी या मनुष्यगणना कहते हैं।

कार्य करते हैं, और सच्चे जैनों की भांति उत्साहपूर्वक जैनों के कतिपय नियम पालते हैं। इस वस्तुस्थिति के दृष्टान्त के तौर पर मैं उदयपुर के नामदार महाराणा साहब तथा कुँवर साहब के प्रसंग का उल्लेख करती हूँ, जो कट्टर हिन्दू होने पर भी उदयपुर-समीपवर्ती केशरिया जी के प्रसिद्ध मंदिर का विधि-पूर्वक आम पब्लिक में पूजन व दर्शन करते हैं। ऐसे और भी कई एक राजा महाराजा हैं, जो जैन मुनि-राजों के रक्षक तथा भक्त कहलाये जा सकते हैं। वे लोग जैन मुनिराजों की देशना से प्रफुल्लित होते हैं, व मुनिराजों की प्रेरणा अथवा उपदेश के प्रभाव से जैन धर्म के सिद्धान्तों का अनुसरण करके स्वयं जीवरक्षा-दि के नियमों का पालन करते हैं और अपनी प्रजा से पालन कराने के लिये "अमारी पटह" की उद्घोषणा करते हैं।

अब यह मालूम होता है कि एक ओरसे जैनधर्म में अनुरक्त रहना और उसके नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन व्यतीत करना और दूसरी ओर जन्म एवं संस्कार से जैन होना, इन दो विषयों में अधिक भिन्नता नहीं है। यदि दक्षिण भारतकी परिस्थिति पर दृष्टिपात करेंगे तो सचमुच इतना अंतर दृष्टि गोचर नहीं होगा। उस प्रदेश के शाँत-हृदयी बुद्धि-शाली द्रविड-जैनों ने दिगम्बर जैन धर्म का, जो कि जैनधर्म की मुख्य दो शाखाओं में से एक है, प्राचीन समय से ही पवित्रता पूर्वक आचरण तथा रक्षण किया है। इन महानुभावों का जैनधर्म-विषयक जो ज्ञान तथा क्रियाकांडादि हैं, उन सबका आधार मौखिक परंपरा ही है—अर्थात् पिता अपने पुत्र को, माता अपनी पुत्री को सैद्धान्तिक उपदेशक के बगैर ही उस धर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन-अध्यापन करते थे, और अब भी करते हैं। उन लोगों के लिये जैनधर्म एक नैतिक आदर्श तथा सच्चे तत्त्वज्ञान की एक चाबी—कुञ्जिका है। इस लिये दक्षिण भारतके समस्त दिगम्बर अपने धर्म-बन्धनोंद्वारा गाढ—घनिष्ट—प्रेम रूपी सांकलमें परस्पर इस प्रकारसे बंधे हुए हैं कि भिन्न भिन्न स्थानों में रहते हुए तामिल, तेलगु, कनडी और मलयालमादि भिन्न भिन्न भाषायें तथा उच्च व नीच गोत्र होने पर भी वे सब जातियाँ एक ही संघ के सभ्यकी समान मालूम होती हैं—अर्थात् उन लोगोंमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है। वे संघ, ज्ञाति व पेटा ज्ञाति आदिकी मतभिन्नता से अनभिज्ञ हैं। और उनमें सर्वसाधारण भोजन-व्यवहार एवं कन्याव्यवहार प्रचलित हैं। वे पवित्र निष्कपट-हृदयी तथा धर्म-प्रेमी दिगम्बर जैन जैनकुल में जन्म लेनेवाले और जन्म नहीं लेनेवाले प्रत्येक जैन के साथ भाई तथा मित्र जैसा व्यवहार करते हैं।

किंतु उत्तर तथा मध्य भारत में जैनधर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर ये दो मुख्य शाखाएँ स्वकीय विविध प्रतिशाखाओं-सहित विद्यमान हैं। वहाँ जैन स्कूलादि शिक्षालय मौजूद हैं। और वहाँ पर श्रावक व साधु-मुनिराज जैनधर्मके प्रचार कार्यके लिए उत्साह-पूर्वक परिश्रम करते हैं। उस देशमें "जैन" इस गंभीर आशय वाले पद से विभूषित लोगों को अति-कठोर तपस्या तथा सूक्ष्म क्रियादि करनेका कर्त्तव्य उस "जैन" शब्दके ही अन्तर्गत रहा हुआ है। "जैन" इस उपाधि से युक्त व्यक्ति जन्म से ही ज्ञाति व पेटा ज्ञाति के नियमों में बंधा हुआ है। जिन ज्ञातियों तथा पेटा ज्ञा-तियों का प्रभाव उस व्यक्ति के समस्त कौटुम्बिक कार्यों में आजीवन दबाव डालता है—यह बात भी जैनधर्म में समाविष्ट है।

वाचकों के मन में आश्चर्यपूर्वक यह प्रश्न अवश्य

उत्पन्न होगा कि जैनधर्म जिसके विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि वह विश्वप्रेम एवं उदारताका समर्थक है और समस्त स्वामीभाइयों को ज्ञाति के भेद भाव को छोड कर परस्पर सदृश भक्तिभाव रखनेकी प्रेरणा करता है, उस धर्मका ज्ञाति तथा पेटा-ज्ञातिके नियमों से क्या संबंध ? तो भी उत्तर व मध्य भारत के जैनों में इतिहास ने ज्ञाति तथा धर्म इन दोनों में परस्पर विरुद्ध तत्त्वों का अश्रद्धेय व अभंग सम्बंध करा दिया है।

उत्तर तथा मध्य भारत में जैनधर्म के लगभग समस्त आधुनिक प्रतिनिधि वणिक् जातियों के हैं, जो वणिक् जातियां भारतीय प्राचीन समाजान्तर्गत वैश्य समुदाय की प्रतिनिधि हैं। वणिक् जातियाँ ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जातियों के समान प्राचीन संस्थाएँ हैं, जिनमें से कई जातियों का उल्लेख ईसवी सन् की छठी शताब्दी और उससे भी पहले पाया जाता है। यदि उत्तर और मध्य भारतकी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वणिक् जातियों के इतिहास की ओर दृष्टिपात करेंगे तो मालूम होगा कि वे सब जातियाँ मारवाड़ तथा गुजरात के कतिपय स्थानों के समाजों से उत्पन्न हुई हैं। उन स्थानों के नामों का प्रभाव जातियों के नामों में बहुत अंशों में आज कल भी विद्यमान है। इस ही प्रकार वार्तमानिक मोढ ब्राह्मण और मोढ वणिक् मुढेरा गाँव से, नागर ब्राह्मण तथा नागर वैश्य बड़नगर नामक स्थान से, ओसवाल वणिक् आशियानगरी से और श्रीमाल वणिक भीनमाल नामक स्थान से उत्पन्न हुए हैं। ये ही ब्राह्मण, जो प्राचीन समय में मूल से जैन थे उन्होंने शंकराचार्य तथा उनके अनुयायियों के प्रभाव की प्रबलता से जैनधर्म को सदा के लिये त्याग दिया। इस ही कारण से ब्राह्मण जाति ने जैनधर्म के अन्तिम इतिहास में कोई भी महत्व-शाली स्थान हस्तगत नहीं किया। दूसरी ओर से जो क्षत्रिय मूल से जैन थे, उन्होंने क्रम से अपना प्राचीन सैनिक व्यवसाय और धंदा छोडकर ऐसा व्यवसाय स्वीकार किया था जो जैनधर्म के सिद्धान्तानुसार कम हिंसाकारक है अर्थात् वे व्यापार करने लगे और उनकी ज्ञातियोंका वणिक ज्ञातियों में समावेश हो गया। हम निश्चित रीति से जानते हैं कि आधुनिक ओसवाल, श्रीमाल और पोरवाल ज्ञातियों का एक भाग चौहान, राठौड़, चावडा व सोलंकी और अन्य प्रसिद्ध राजपूत गोत्रों का वंशज है, जिनके कि नाम आज कल भी बहुत से जैनों के गोत्रों में पाये जाते हैं।

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुत शताब्दियोंमें मात्र वणिक् ज्ञाति ही के लोग जैनधर्मके प्रतिनिधि होते आए हैं। इतना ही नहीं किन्तु वणिक् ज्ञातियोंके ओसवाल, श्रीमाल, पोरवाल, वायड और मोढ आदि बड़े बड़े भाग शुद्ध जैन ज्ञातियोंके रूपमें थे। चौरासी वणिग् ज्ञातियाँ, जो कि इतिहास में प्रसिद्ध हैं, उनके सम्बंध में इतना ही निश्चित है कि इनका एक भाग अवश्य जैनधर्मानुयायी था। क्योंकि उनमें से बहुत से लोगों ने मंदिरादि निर्माण करा कर जिन-प्रतिमायें व मंदिरों के शिलालेखों में अपना नाम सदा के लिये लिखवाया है। जैन साधुओं की शिथिलता व उदासीनतामें तथा उत्साही वैष्णव धर्मके वल्लभाचार्य-सम्प्रदाय के उत्थान के परिणाम से सोलहवीं, सतरहवीं शताब्दी में उपर्युक्त इन प्राचीन जैन वणिक् ज्ञातियों के बहुत मनुष्यों ने अपना मूल धर्म छोड़ कर वैष्णव धर्म अंगीकार किया था। पूज्यपाद स्व० जैनाचार्य श्रीमद्बुद्धिसागरसूरि जी स्वसंपादित जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह की प्रस्तावना में फर्माते हैं, "मैंने सुना

था कि सूरत शहर की एक पब्लिक सभा में एक वैष्णव पंडित ने अभिमानपूर्वक कहा था कि वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय वालों ने तीन लाख जैनों को वैष्णव धर्मानुयायी बनाया था।" लेखक महानुभावका कथन है कि उपर्युक्त कथन प्राय: सत्य है।

अब प्राचीन जैन ज्ञातियोंने, इस कारण कि उनके अनुयायियोंको प्रारंभसे ही स्वमतानुसार अपवित्र एवं मिथ्यात्वी अन्य धर्मी लोगोंके साथ रहना पड़ता था, स्वतंत्रतापूर्वक प्राचीन समयमें ही भोजन और कन्याव्यवहार संबंधी कई एक कठोर नियम बना लिये थे। और जब फिर से ये ज्ञातियाँ श्रीमाल, वीसा श्रीमाल, दस्सा श्रीमाल, लाडुआ श्रीमाल, एवं वीसा ओसवाल, दस्सा ओसवाल, पाँचा ओसवाल और अढईया ओसवालादि भिन्न भिन्न पेटा-ज्ञातियां (उपजातियों) में विभक्त हो गई, तब उन पेटा ज्ञातियों में भी उपर्युक्त नियम अधिक संख्या में बनने लगे। अब गुजरात, काठियावाड और मारवाडादि प्रान्तान्तर्गत स्थानानुसार जहाँपर इन पेटा-ज्ञातियोंके समूह निवास करते थे उन्हीं के अनुसार वहाँ वहाँ पर फिर इन पेटा-ज्ञातियों की भिन्न भिन्न शाखायें उत्पन्न हुई।

फिर भी इन सब ज्ञातियों तथा उप-ज्ञातियों की प्रत्येक शाखा अपने अपने भोजन तथा कन्याव्यवहार-सम्बंधी नियम दत्तचित्त होकर पालने लगी। इतना ही नहीं किन्तु यह ज्ञातियाँ भिन्न २ धार्मिक समुदायों में विभक्त हो गई। इस ही प्रकार जैन वणिक् ज्ञाति मात्र श्वेताम्बर एवं दिगम्बर इन दो मुख्य भागों में ही विभाजित नहीं हैं। बल्कि श्वेताम्बर जैन ज्ञाति में भी श्वे० मूर्तिपूजक, श्वे० स्थानकवासी, श्वे० तेरहपंथी, ये शाखायें हो गई। दिगम्बर संप्रदायमें भी तेरहपंथी तथा बीसापंथी ये दो शाखायें हैं। ये सब भिन्न २ संप्रदाय परस्पर भोजन तथा कन्याव्यवहार का प्राय: खुल्लमखुल्ला विरोध प्रदर्शित करते हैं।

उपर्युक्त वस्तुस्थिति तथा आचरण का परिणाम यह हुआ कि जिन समुदायों में परस्पर भोजन तथा कन्याव्यवहार की छूट थी वे मंडलियाँ (circles) उपर्युक्त भेदों के कारण प्रति दिन घटती गई। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि बीसा श्रीमालादि बड़ी ज्ञातियों में विवाहयोग्य समस्त युवकों के लिये कन्या कैसे प्राप्त करना, यह एक कठिन कार्य हो गया, और अब भी है। गुजरात, काठियावाड के कई एक स्थानों में ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हुई है कि एक बीसा श्रीमाल श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, यदि अपनी कन्या का विवाह उस ही गाँव के श्वे० स्थानक वासी बीसा श्रीमालके साथ करता है तो वह मनुष्य संघबाहिर करने का पात्र होता है। और वेरावलका कोई श्वे०मूर्तिपूजक दस्सा ओसवाल, यदि वलानिवासी श्वे० मूर्तिपूजक दस्सा ओसवालके साथ अपनी पुत्रीका विवाह करे तो वह मनुष्य भी बड़ा दोषी माना जाता है।

भारतवर्ष में लग्नयोग्य कन्याओं की बड़ी भारी त्रुटि है। इस विषय में नाना प्रकार के सबल कारण मालूम होते हैं। उनमेंसे मुख्य कारण कुछ यही प्रतीत होते हैं कि एक तो कई समाजों में विधवा स्त्री का पुनर्लग्न करने का निषेध है। और विधुर लोगों के लिये पुनर्लग्नसंबंधी प्रतिषेध के अभाव से वे लोग बारंबार पुनर्लग्न करते हैं। दूसरे भारतीय स्त्रियाँ कम अवस्था में ही मृत्यु के मुखमें प्रवेश करती हैं, जिसका कारण यह है कि प्रसूति के समय उनके आरोग्य-संबन्धी साधनोंका अभाव होता है, तथा बाल्यकाल में विवाह हो जाने के कारण उनके शरीर दुर्बल और रोगी बन जाते हैं। तीसरे कई एक गोत्रों में सगपण-

संबंधी अमुक नियमों के कारण से लग्न नहीं हो सकता है। उक्त कारणों से स्त्रियों की क्षति होने पर कन्याविक्रय जैसे दुष्ट हानिकारक रिवाज प्रचलित हुए हैं। अपनी २ मंडली (circle) की लग्न करने योग्य जैन कन्याएँ अपने २ नगर वासी लोगों के अतिरिक्त किसी भी अन्य नागरिकको न दी जायँ। यदि प्रत्येक प्रांतवासी मनुष्य इस नियम पर कटिबद्ध हो जायँ तो अपने नगर व प्राँतवासी अशिक्षित एवं साधारण वर्ग को भी कन्यायें उपलब्ध हो सकें। ऐसे विचार अर्थात् कन्याएँ अपनी मंडली (circle) के बाहर जाने नहीं देने का इरादा इस बात का कारण बना कि उपर्युक्त जातिनियम अतीव कठोर बन गये। इसका प्रमाण यह भी है कि ये सब नियम मात्र कन्या देने के वास्ते ही किये जाते हैं जब कि स्वज्ञातीय कन्या मण्डली (circle) के बाहर से लाने में ज़रा भी संकोच नहीं होता है।

मेरे उपर्युक्त उल्लेखानुसार कई एक प्राचीन जैन ज्ञातियों के मनुष्यों ने जैनधर्म छोड़ कर वैष्णव धर्म अंगीकार किया। इस ही कारण से जैन जाति प्रति दिवस कम होती गई। इस ही सबब से बहुत सी जातियों में जैनविभाग तथा वैष्णवविभाग, इस प्रकार दो पक्ष पड़ गये। इन दोनों विभागों में परस्पर भोजन तथा कन्याव्यवहार प्रायः बंद कर दिये गये। क्योंकि जिन लोगों ने वैष्णव धर्म स्वीकार किया था वे लोग अवशेष जैनों को वैष्णवधर्मानुयायी बनाने के लिए आग्रह तथा दबाव डाला करते थे। जहाँ जहाँ पर जैनों की बस्ती थोड़ी थी और वैष्णव धर्मानुयायियों का प्राबल्य था—वे अधिक संख्या में विद्यमान थे—वहाँ वहाँ पर जैनलोगोंको कन्याप्राप्तिके लिये अपना प्राचीन धर्म छोडना पड़ता था। तो भी उन लोगोंका अंतःकरण अपने पुराने धर्म से विरक्त हो जाता था, ऐसा नहीं किन्तु बाह्य कौटुम्बिक कारणों से उन लोगों को अन्य धर्म स्वीकार करना पड़ता था। मैंने ऐसा भी सुना है कि सफ़ेद केश वाले वृद्ध लोग बारम्बार जैन मुनि महाराजों के निकट आकर रोते रोते स्वीकार करते हैं कि कुछ वर्ष पहले हम लोगों को पूर्वोक्त प्रकार के व अन्य आर्थिक कष्टों के कारण हमारे पूर्वजों के प्रियधर्म को छोडना पड़ा। और हमको हमारी संतति का अन्य धर्मियों के संस्कारों में पालन-पोषण होते हुए देख कर दुःख पैदा होता है।

इसका परिणाम यह हुआ कि अंतिम १०० वर्षों में ऐसी बहुत सी ज्ञातियाँ, जो पहिले शुद्ध जैन जातियाँ थीं, आज कल "जैन-ज्ञाति" कहलाने योग्य नहीं रहीं। इन ज्ञातियों में जैनों का मात्र छोटासा भाग अवशेष है, जो कि कम होता जाता है। यही परिस्थिति मोढ, मनियार तथा भावसार वणिक ज्ञातियों की है। कुछ वर्ष पहले बड़नगर के नागर वणिकों में जो शेष जैन थे, उन्होंने भी वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। क्योंकि अपनी जाति वाले जैनोंसे कन्यायें प्राप्त नहीं कर सकने पर, इन नागर वणिक् जैनों ने बीसा श्रीमाली ज्ञाति के जैन लोगों से विनती की थी कि, हम लोगों को अपनी मंडली (circle) में सम्मिलित करो। एवं हमारे साथ भोजन तथा कन्याव्यवहार भी प्रारंभ करो। परन्तु संकुचित विचार वाले बीसा श्रीमाली जैन वणिकों ने अपने स्वामीभाइयोंको साफ इनकार कर दिया। इस कारण से अंतिम नागर जैनों को जैनधर्म छोड़ना पड़ा। मेरे को यह बात पूज्यपाद स्व० जैनाचार्य श्रीमदबुद्धिसागर सूरिजी के उपर्युक्त ग्रंथ से मालूम हुई है।

इस ही प्रकार दक्षिणकी लिंगायत ज्ञाति व बंगाल

की सराक ज्ञाति, जो किसी समय में शुद्ध जैन ज्ञातियाँ थीं, उनमें आज कल एक भी जैन पाया नहीं जाता है।

इससे मालूम होता है कि मध्य एवं उत्तर भारतवर्षीय जैन ज्ञातियों तथा धर्मशाखाओं की अयोग्य सामाजिक व्यवस्था तथा परिस्थिति के कारण यह दशा हुई कि अंतिम वर्षों में बहुत से जैन लोग धर्मभ्रष्ट हुए।

इसके बारे में कई एक अन्य कारण भी हैं। उनमें से एक कारण यह भी है कि बहुत से जैन स्तुतिपाठादि बिना समझे बोलते हैं और विविध क्रियाओं का उनका रहस्य समझे बिना आचरण करते हैं, और कठोर तपस्याएँ भी कारण समझे बिना करते हैं। इन सबका कारण समझाने वाली एवं ज्ञान देने वाली धार्मिक संस्थाएँ बहुत कम हैं। अच्छी स्थिति वाले धनिक जैन श्रावक अपने धार्मिक उत्सव—वर घोड़ा, पूजा, उपधान, उजमणा, अट्ठाई महोत्सव, दीक्षोत्सव, प्रतिष्ठा और संघ निकालना—वगैरह धार्मिक प्रसंगों में लाखों रुपये खर्च करते हैं। दो चार वर्ष पहिले ४००० चार हजार जैन श्रावक व ४०० चार सौ साधुओंका एक बड़ा संघ पाटन से गिरनार व कच्छ के लिये निकाला गया था। उसका संघपति एवं संरक्षक एक प्रसिद्ध गुजराती सेठ था। उस प्रसंग पर १२००००० बारह लाख रुपये का खर्च हुआ था, ऐसा सुना जाता है। यद्यपि ऐसे धार्मिक कार्यों में पुष्कल द्रव्य-व्यय किया जाता है, तथापि शिक्षाके लिये, जो समग्र धर्मों तथा सभ्यता की जड़ है, यथोचित रीति से अपनी लक्ष्मी का सद्व्यय करना बहुत जैन लोग अभी तक नहीं सीखे हैं। अपने पुत्र-पौत्रादि जैसे हो सके वैसे जल्दी द्रव्योपार्जन करने वाले तथा अपने जीवन में प्रतिष्ठा पाने वाले कब होवें, यही उनको फिक्र रहती है। इस ही कारण से शिक्षाप्रचार की ओर कम ध्यान देते हैं।

बहुत से उच्च कुटुम्ब के जैनों ने अपना धर्म इस कारण से छोड़ दिया कि वे लोग बहुत पीढ़ियों से अन्यधर्मी राजा के नौकर थे और भोजनसंबंधी कठोर नियमों के कारण दरबारी सभासदों के साथ स्पष्ट व्यवहार नहीं रख सकते थे, इस लिये उन लोगों ने इन नियमों तथा धर्मको भी त्याग दिया। ऐसी ही घटना उदयपुर, जोधपुरादि राज्यों के प्राचीन मन्त्रियों पर गुजरी, जिनके पूर्वज, जो कि इतिहास में मुख्य तथा महत्त्वशाली पात्र गिने जाते हैं, कट्टर जैनी थे। अभी उन में मुश्किल से ही कोई जैन मिलेगा।

कई असंतुष्ट एवं घबराये हुए जैन, जो कि अपने जातिनियमों का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकते थे, आर्य समाजमें जा मिले, जो कि भारतवर्षके आधुनिक जीवन में बहुत भाग लेता है, और बुद्धिपूर्वक उदार व सुव्यवस्थित शिक्षणसंस्थाएँ खोलने में उत्साह दिखलाता है। मनुष्य गणना की रिपोर्ट (Census report) जो मात्र जाहिर जैनों की ही संख्या सूचित करती है, वह इसके विषय में क्या जान सकतीहै कि "बहुत से मनुष्य जिन्होंने जाहिर में जैनधर्म छोड़ दिया है वे अपने हृदय में जैन रहे हैं, जो धर्मभ्रष्ट होने पर भी अन्तःकरण से जैन हैं और आचार विचार से जैन धर्मानुयायी हैं ?" और जैन संघको, जो कि चिंता पूर्वक यह देखता रहे कि हमारी संख्या प्रति दिन कम होती जाती है—चाहे वे धर्म भ्रष्ट होनेवाले लोग जैनधर्मके प्रति अन्तःकरण से प्रेम रखते हों—इससे क्या लाभ है ?

जैन संघ के नेताओं ने इस विषय में बहुत कुछ विचार किया, और इन क्षतियों का सुधार करनेके लिये बहुत कुछ प्रयत्न किये, परन्तु अभी तक किसी भी व्यक्ति ने ज्ञातियों और उनके नियमों की ओर कठोर दृष्टि पात करने का भी साहस नहीं किया है। यद्यपि वास्तवमें इन बन्धनों के लिये इस जागृति तथा शक्ति-विकाश के जमाने में जरा भी स्थान नहीं है।

तब फिर जैन संघ के अग्रेसरों ने कौन कौन से उपाय किये ? इसके उत्तर में यही कह सकते हैं कि भिन्न २ मति के भिन्न २ सूचनायें करने वाले दो जुदे पक्ष हैं। इनमें का एक पक्ष रूढिपूजक पक्ष है, जो उपर्युक्त हानियों के सच्चे कारण नहीं जानता। परंतु ऐसा जानता है कि इस हानि का कारण यह है कि आज कल पुरानी रूढियों तथा पुराने मतों की ओर लोग उपेक्षा करते हैं, और आधुनिक पाश्चात्य शिक्षण पाश्चात्य विचार एवं सिद्धान्तों के प्रति विशेष रुचि दिखलाते हैं। इस लिये रूढिपूजकों का कथन है कि पुरानी रूढियों और मतों में कठोरतापूर्वक दृढ रहना चाहिए। इतना ही नहीं, किंतु ऐसे नियम भी जो किसी जमानेमें लाभदायक थे, परंतु इस समयके लिए हानिकारक हों, वे भी रखने चाहियें। उपर्युक्त मान्यता स्वीकार करने वाले लोगों का कथन है कि "अन्य धर्मियों के साथ सहकार-संबंध नहीं रखना चाहिये, यूरोपयात्रा नहीं करना चाहिए, गृहस्थ लोगों को आगमाभ्यास नहीं करना चाहिये, और पाश्चात्य शिक्षण को स्थान नहीं देना चाहिये।" संकुचितता एवं बुद्धि-हीन रूढि पूजकता इस पक्ष के मुख्य चिन्ह हैं। यद्यपि इस पक्ष की भावना जैन समाज में अभी तक बहुत प्रचलित है, तथापि ऐसा कह सकते हैं कि इस पक्ष के अनुयायी कम होते जाते हैं। प्रायः यह पक्ष थोड़े समयमें निर्बल हो जावेगा।

दूसरा पक्ष अपने को सुधारक पक्ष बतलाता है। ये लोग यथार्थ रीति से जैन धर्मानुयायियों की संख्या घटने के सच्चे कारण जान गये हैं। तो भी ये लोग ज्ञातिनियमों के विरुद्ध सीधी रीति से हल चल करने का साहस नहीं करते हैं, किन्तु आड़े टेढ़े प्रयत्न करते हैं—अर्थात् नवीन पद्धतिके अनुसार शिक्षण देने की सूचना देते और परिश्रम भी करते हैं। आगमोंका अभ्यास करने का स्कालरों (Scholars) को उत्तेजन देते हैं। भारत में ही नहीं किन्तु पाश्चात्य देशों में भी जैन साहित्य का प्रचार करते हैं। जैन धर्म के तत्त्व क्या है ? रूढियाँ क्या हैं ? आदि बातें बतलाते हैं। स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिये प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक स्थान में सर्व साधारण प्रेम एवं सहकार की उद्घोषणा करते हैं। जैनोंकी शाखा तथा प्रतिशाखाओंमे ऐक्य स्थापन करनेका प्रयत्न करते हैं। यह बात निःसंदेह है कि उपर्युक्त प्रयत्न उचित हैं। कारण यह है कि जितने अंशोंमें शिक्षा का प्रचार होगा उतने ही अंशों में शिक्षणप्रचार से यह बात निश्चित हो जावेगी कि "उपर्युक्त ज्ञातिनियमों के कारण समाज की कितनी अधोगति हुई है और अब उन नियमों का नाश करना कितना आवश्यकीय कार्य है।" और जितने अंशों में भिन्न२ शाखाओं तथा प्रतिशाखाओं में परस्पर जितना संबंध बढ़ेगा उतने ही अंशों में सुधारक पक्ष शक्तिशाली बनेगा, और प्रत्येक को अपना अपना उत्तरदायित्व मालूम होगा।

उपर्युक्त कथन के सिद्ध होने में अभी बहुत देर है। क्योंकि जैनधर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर यह दो मुख्य शाखायें अभी तक अंतरीक्षजी, पावापुरजी राजगृही, सम्मेदशिखर, केशरियाजी और मक्सी आदि

तीर्थस्थानों के अधिकार प्राप्त करने के लिये परस्पर झगड़ रहे हैं। इस निष्प्रयोजन कलहमें लाखों-करोड़ों रुपयोंका अपव्यय कर रहे हैं। दूसरी ओर श्वे०मूर्तिपूजक, श्वे० स्थानकवासी और श्वे० तेरहपंथी तत्त्वज्ञान-संबंधी महत्त्वहीन भिन्नताओं के लिये परस्पर लड़ रहे हैं। दिगम्बर समुदाय में भी कुछ अंदरूनी—आभ्यन्तरिक—अशांति मालूम होती है। यह सब शाखायें प्रतिशाखायें पुनः भिन्न भिन्न समुदायोंमें विभक्त हैं, जो समुदाय परस्पर एक दूसरे को शांतिपूर्वक रहने नहीं देते हैं। परंतु प्रतिपक्षियों के सुंदर कार्यों को नाश करनेके लिये प्रयत्न करते हैं। जब ऐसे परिणामहीन झगड़े बंद हो जावेंगे तब बहुत सी शक्तियाँ जातिसुधार और सर्व साधारण का उत्थान करने को लाभदायक हो जावेंगी।

आधुनिक भारतवर्ष में ऐसा सुधार शक्य है, इस कथन की पुष्टि पंजाब के जैनों के उदाहरण से होती है। इन लोगों के बारे में यह बात सुनी जाती है कि "उन्होंने कुछ वर्ष पहले भोजन तथा कन्याव्यवहार की एक बड़ी मण्डली (circle) बना दी है, जिसके सभासद 'भावड़ा' इस नाम से प्रसिद्ध हैं और जिसमें किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं है।" पूर्व राजपूताना, संयुक्तप्रांत और बंगाल के मारवाड़ी जैनों में भी ऐसी बड़ी मंडलियाँ (circles) हैं जो कम से कम पेटाज्ञाति की अपेक्षा नहीं रखती हैं। दक्षिण वासी जैनोंके बारेमें भी ऐसी ही बात सुनी जाती है। यह बात सत्य है कि उपर्युक्त प्रसंगों में जैनों की छोटी ही संख्या के विषय में विवेचन किया गया है, जो कि एक बड़े विशाल क्षेत्र में रहती हैं। तो भी "ज्ञातीय संकुचितता त्याग हो सकती है" इस बात को बतलाने के लिये यह प्रसंग योग्य है।

गुजरात के कई एक जैन संघों में ऐसी मंडलियाँ भी विद्यमान हैं, जिनमें भिन्न २ ज्ञातियों के सभासद परस्पर भोजन तथा कन्याव्यवहार करते हैं। पाटनके जैनसंघका प्रत्यक्ष दृष्टांत है कि दस्सा पोरवाल, दस्सा श्रीमाल और दस्सा ओसवाल इन संप्रदायों में परस्पर उपर्युक्त प्रकारका संबंध विद्यमान है। वहाँकी प्राचीन रूढिका ही यह परिणाम है न कि सुधारकोंका।

दूसरी ओर गुजरात और काठियावाड में ऐसी भी मंडलियाँ हैं जिनमें एक ही ज्ञाति को भिन्न भिन्न धर्म वाले जैन-वैष्णवादि लोग एक दूसरे के साथ भोजन और कन्याव्यवहार करते हैं। परंतु ऐसे उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं।

यदि उल्लिखित अपवादों को और दक्षिण भारतवर्षीय दिगम्बर जैनों की आदर्श स्थिति को भी एक तरफ कर देवें, तो ऐसा कहना पड़ेगा कि आधुनिक जैन समाज की परिस्थिति आर्थिक लाभों के लिये अपने धर्म को छोड देने की दुःखोत्पादक भावना से और जैन धर्मावलम्बी सुधारक वर्गमें साहस नहीं होने के कारणसे बहुत ही अस्वस्थ मालूम होती है। यह बात जैनधर्मके भविष्य के लिये दुःखदायक कल्पना उत्पन्न करती है।

ऐसे विचारों से हमारे मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, ऐसा समय कब आवेगा जब कि, हमारी आशाओं का अनुसरण करके, उपर्युक्त समस्त ज्ञातियाँ जातिबंधन के हानिकारक प्रभावों से मुक्त होकर और अंधश्रद्धा व संकुचितता रूपी घनिष्ठ घास-फूँस के अनिष्ट प्रभावों से छूट कर तीर्थंकर महाराज के प्राचीन धर्म में फिर से जीवनशक्ति प्रदान करेंगी।

अनुवादक—भँवरमल लोढ़ा जैन

कर्णाटक साहित्य और जैनकवि

[लेखक तथा अनुवादक—श्रीयुत पं० के० भुजबलि शास्त्री]

प्रख्यात पंच द्राविड भाषाओं में कन्नड़ एक मुख्य भाषा है, जिसे 'कर्णाटक' भी कहते हैं। इस भाषावर्ग में तामिल, तेलगु, मलयालम और तुलु भाषाएँ भी गर्भित हैं। हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाएँ संस्कृतजन्य गिनी जाती हैं। इसका कारण यह है कि, मराठी आदि गौड भाषाओं में स्वतन्त्र शब्द बहुत कम हैं; इन भाषाओं में व्यावहारिक शब्द प्रायः संस्कृतजन्य ही हैं। इसके अतिरिक्त इन भाषाओंमें लिंगनिर्णय, संधि, प्रत्ययसंयोजन आदि प्रक्रियाएँ संस्कृत व्याकरणकी मर्यादाको लिये हुए हैं। परन्तु द्राविड भाषाओं में यह नियम नहीं है। उनमें संस्कृतजन्य शब्द हैं अवश्य; फिर भी व्यवहारपर्याप्त स्वतन्त्र शब्द अधिक संख्यामें मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त इन भाषाओंकी व्याकरण-मर्यादा भी संस्कृत से बहुत कुछ भिन्न है। इनमें लिंग अर्थ का अनुकरण करता है, सन्धिक्रम भिन्न है, नामपदों के एक वचन एवं बहुवचनों में एक ही प्रकार की विभक्तियाँ होती हैं, गुणवचनों में तरतम भाव नहीं है, संबन्धार्थक सर्वनाम नहीं है, कर्मणिप्रयोग कम है, क्रियाओं का निषेध रूप है और कृत्-तद्धित-प्रत्यय भिन्न हैं।

कन्नड़ या कर्णाटक भाषा बहुत प्राचीन है। जिस समय हिन्दी, बंगला, मराठी गुजराती आदि भाषाओं का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था, उस समय कन्नड़-साहित्य हजारों ग्रन्थरत्नों से सुशोभित हो रहा था। ईसा की नवमीं शताब्दि में कन्नड भाषा का प्रचार उत्तर में गोदावरीसे लेकर दक्षिणमें कावेरी नदी तक हो रहा था। परंतु इस समय वह बात नहीं रही; तो भी मैसूर, कोडगु, बम्बई प्रान्तके दक्षिण भाग, हैदराबाद संस्थानके पश्चिम भाग, मैसूर—कोडगु के उत्तर-पश्चिम-दक्षिण दिशाओं के मद्रासप्रांतके जिले, मध्यप्रान्त—बरार के कुछ भाग, इतने प्रदेशोंमें यह भाषा बोली जाती है। और इस लिये वर्तमान समयमें कर्णाटकप्रान्त मैसूर, हैदराबाद, मद्रास, बम्बई, बरार, कोड़गु, इस प्रकार छह भागों में विभक्त है।

जिस प्रकार अन्यान्य प्रान्तोंमें साहित्य का समय निर्धारित है उसी प्रकार कन्नड साहित्यका समय भी प्राचीन, माध्यमिक और वर्तमान काल अथवा क्षात्र, मतप्रचारक तथा वैज्ञानिक कालके भेदसे तीन भेदों में विभक्त है। प्राचीन काल ९ वीं शताब्दी से १२ वीं तक, माध्यमिक काल १२ वीं से १७ वीं तक और वर्तमान काल १७ वीं शताब्दी से आज तक माना जाता है।

अब तक उपलब्ध हुए कन्नड भाषाके ग्रन्थों में 'कविराजमार्ग' नामक ग्रन्थ ही सबसे अधिक प्राचीन है। यह अलंकारशास्त्र-संबंधी ग्रन्थ है। ग्रन्थ के लेखक जैनराजा नृपतुंग हैं। जो राष्ट्रकूटवंश के थे। कतिपय विद्वानोंका मत है कि इस ग्रन्थके लेखक स्वयं नृपतुङ्ग न हो कर उनके दरबार का 'श्रीविजय'

नामक एक कवि था। फिर भी बहुमत से 'कविराज मार्ग'के लेखक नृपतुङ्ग ही सिद्ध होते हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि यह ग्रंथ ईसवी सन् ८१४ से ८७७ तकके मध्यवर्ती समयमें रचा गया है। यही नृपतुङ्ग राजाका राज्यकाल है, जिसका समर्थन धारवाड़ जिले के सीरूर-शास (Indian Antiq. Vol.XII, P 216 से होता है। नृपतुंगका अमोघवर्ष और अतिशयधवल नाम भी था। यह राजा महोदय संस्कृत आदिपुराणके रचयिता भगवज्जिनसेनाचार्य के शिष्य थे। ऐसा उक्त जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' से जाना जाता है। इनकी राजधानी मान्यखेटपुर थी। बूल्हर साहब का कथन है कि हैदराबादमें जो मलखेड़ नामक स्थान है वही यह मान्यखेटपुर है (Indian Antiq Vol. XII, P. 215). नृपतुंग अमोघवर्षने ६२ वर्ष तक राज्यशासन करके अंत में स्वयं ही उसे त्याग दिया था। इनके राज्यत्यागकी यह बात इन्हीं के द्वारा रचित 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' ग्रंथ से मालूम होती है ❀। इनका बहुत कुछ वर्णन कई दिगम्बर जैन संस्कृत ग्रंथोंकी प्रागुक्तियों और प्रशस्तियों में पाया जाता है। परंतु मंजेश्वरम्के प्रसिद्ध ऐतिहासिक लेखक पं० गोविन्द पै जीका कहना है कि राजा नृपतुंग जैनी नहीं थे। इस विषय में उनका एक विस्तृत लेख बेंगलूर से प्रकाशित होने वाली प्रख्यात कर्णाटक-साहित्य-परिषत्पत्रिका के वर्ष १२, अंक ४ में प्रकाशित हुआ है। अतः इस विषयमें विशेष खोजकी आवश्यकता है। मित्रवर पै जीसे हमारा सविशेष अनुरोध है कि आप उस लेखको 'अनेकान्त' में अवश्य प्रकाशित करने की कृपा करें, जिससे उत्तरीय जैन एवं जैनेतर विद्वानोंको भी इस विषय पर विचार करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो सके।

'कविराजमार्ग' के रचयिताने अपनी कृतिमें कतिपय प्राचीन ग्रंथों तथा कवियोंका भी उल्लेख किया है। परन्तु वे ग्रंथ अभीतक उपलब्ध नहीं हुए हैं। विद्वानों का मत है कि कर्णाटकसाहित्यका प्रारम्भ काल इससे भी पूर्व कम से कम ई० सन् २०० से ४०० तक था; क्योंकि सन् १६०४ में भट्टाकलंक ने अपने 'कर्णाटक-शब्दानुशासन' में लिखा है कि तत्त्वार्थ महाशास्त्रका व्याख्यानरूप ९६००० श्लोकपरिमित 'चूडामणि' नामक एक ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में रचा गया है। इस चूड़ामणि ग्रंथके लेखक श्रीवर्धदेव हैं, जिनकी प्रशंसा महाकवि दण्डीने भी की है ❀। दण्डीका समय छठी शताब्दी होने से चूड़ामणिके कर्ता श्रीवर्धदेव भी छठी शताब्दि के विद्वान् थे। इस के अतिरिक्त पाँचवीं शताब्दीमें स्थित गंगराज 'दुर्विनीत' का नाम भी प्राचीन कवियों की श्रेणी में आता है।

अब तक भारतवर्षमें संस्कृत, प्राकृत-पालीके अतिरिक्त दूसरी भाषाओं के जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं उनमें कर्णाटकभाषा-सम्बन्धी 'कविराजमार्ग' नाम की कृति ही प्राचीनतर है। हिन्दी के 'पृथ्वीराजरासो'

❀ विवेकात् त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचिताऽमोघवर्षेण सुधिया सदलंकृतिः॥

❀ ऐसा भट्टाकलंक ने अपने उक्त शब्दानुशासनमें प्रकट नहीं किया। 'इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार' और 'राजावलिकथे' में इस 'चूड़ामणि' टीका का कर्ता 'तुम्बुलूराचार्य' को लिखा है—ग्रन्थपरिमाण भी ८४००० दिया है—और श्रवणबेल्गोल के ५४ वें शिलालेख में श्रीवर्द्धदेव को जिस 'चूडामणि' ग्रन्थका कर्ता बतलाया है उस 'सेव्य-काव्य' लिखा है, (वह कोई टीका ग्रन्थ नहीं) और इससे दोनों ग्रंथ तथा उनके कर्ता भिन्न जान पड़ते हैं—ग्रंथ के नाम-साम्य से दोनोंका कर्ता एक मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। इस विषय का विशेष जाननेके लिये देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ०१६० से।
—सम्पादक

और मराठी के 'ज्ञानेश्वर' जैसे ग्रन्थ निस्सन्देह इसके बाद की कृतियाँ हैं।

कन्नड़ भाषा का व्याकरण भी संस्कृत के समान सर्वांगपूर्ण है। प्राचीन कर्णाटक व्याकरण उपलब्ध होनेसे कर्णाटक भाषाके प्राचीन ग्रंथोंको अधिक सुलभतासे अध्ययन कर सकते हैं। जिन्होंने व्याकरणहीन प्राचीन मराठी ग्रंथों तथा हिन्दी ग्रन्थोंको पढ़ने के लिये प्रयत्न किया है उन्हें इस व्याकरणका महत्व विदित होगा।

कर्णाटक साहित्य के विषयमें सुदीर्घ कालसे ही लक्ष्य देने का उद्योग किया जा रहा है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी जब उत्तर भारत में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने का हाल जानकर अपने शिष्यों के साथ दक्षिण भारत में पधारे उस समय का इतिहास जैन समाजमें सुप्रसिद्ध है। इनके अनन्तर इनके अनुयायियों में कतिपय शिष्यों ने दक्षिण भारतमें जैनधर्म का प्रचार करना प्रारंभ किया और उनमें कई शिष्यों ने जैनधर्मका प्रचार सर्वोत्कृष्ट सुलभ साहित्य-द्वारा ही करने की प्रतिज्ञा की। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये अपनी सर्व शक्ति का प्रयोग कर कर्णाटक साहित्यको उन्नत, सुदृढ़ एवं परिपूर्ण बनाया। प्राचीन कर्णाटक साहित्य इन्हीं के प्रयत्नका एक फल है। आज भी कन्नड साहित्यको उन्नत, प्रौढ और परिपूर्ण करनेका प्रथम श्रेय जैनाचार्यों और जैनकवियोंको दिया जाता है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि जैनियों के द्वारा ही कन्नड़ भाषाका उद्धार हुआ है और उन्हीं लोगोंने इस भाषा-सम्बंधी साहित्यको एक उच्च श्रेणीकी भाषाके योग्य बनाया है। कन्नड़ साहित्यको उन्नतिके शिखर पर पहुँचानेमें जैन पंडितोंने अपरिमित परिश्रम किया है और उक्त साहित्यमें सदाके लिये अपना नाम अमर कर दिया है। इसी से आज भी संपूर्ण कर्णाटक भूभाग उनके सुयशके गीत गा रहा है। तेरहवीं शताब्दि तक कन्नड़ भाषाके जितने प्रौढ ग्रन्थकर्ता हुए हैं, वे सब जैनी ही थे। इससे इस बात का भी अनुमान हो जाता है कि उस समय कर्णाटक प्रदेशमें जैन धर्म का कितना अधिक प्राबल्य था। इन जैन कवियोंके गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, बल्लाल आदि वंशों के राजा लोग अनन्य पोषक तथा प्रोत्साहक थे। अत एव जैनियोंसे उन्नति पाये हुए कर्णाटक भाषा-साहित्यमें उस समय काव्य-नाटकादि ग्रन्थोंके अतिरिक्त वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्रवाद, कामशास्त्र, पाकशास्त्र रत्नशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र आदि अन्यान्य विषयों के कई मौलिक ग्रन्थ उत्पन्न हुए थे। परन्तु आगे चल कर बल्लाल राजा बिट्टिदेवके वैष्णवमत स्वीकार करने और बसवके लिंगायत मत की स्थापनासे तथा कालचूर्य राजवंशके नाशसे राजाश्रयसे वंचित हुए जैनियों का प्राबल्य नष्ट होने लगा और इसके साथ ही जैन कवियोंकी संख्या भी घटने लगी।

यह सब कुछ होते हुए भी एम. आर. श्रीनिवासमूर्ति बी.ए.का कहना है कि इस समय कर्णाटक जैन-साहित्यकी जितनी अभिवृद्धि हुई उतनी अभिवृद्धि उस की कभी भी अन्य समयोंमें नहीं हुई थी। वे इस असामान्य फलकी निष्पत्तिमें निम्नलिखित हेतु बताते हैं:—

(१) यद्यपि जैनियोंके शक्तिस्थान प्रबल मठ ही थे; फिर भी राजाश्रय प्राप्त होने पर कविगण आस्थान-कविरूपसे काव्योंकी रचना किया करते थे। जैन मुनियों के निकट व्यासंग करते हुए तदाज्ञानुसार या स्व विद्वत्प्रदर्शनार्थ या पुराण-रचना-द्वारा पुण्यलाभार्थ वे काव्य बनाया करते थे। इन विषयों के हमें बहुत से उदाहरण मिलते हैं। राजाश्रय अनिश्चित होने पर भी

जैनियोंको मठोंका आश्रय सदैव सिद्ध रहा है।

(२) बिट्टिदेवके वैष्णव होने पर भी उनके बादके बल्लाल चक्रवर्ती जैनमत पक्षपाती ही रहे हैं। बल्लालों के अंतःपुर में जैनमतावलंबिनी महिलाएँ अवश्य रहती थीं। शासनोंसे ज्ञात होता है कि बल्लाल चक्रवर्तियोंने साक्षात् जैन स्त्रियोंसे विवाह किया है और उन स्त्रियों ने जैनमन्दिरोंको दान दिया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि बल्लाल लोग न कट्टर वीरवैष्णव-पक्षपाती ही थे और न उन्होंने जैनमत-ध्वंसकी कोई दीक्षा ही ली थी।

(३) वीरशैव और ब्राह्मणमत प्रबल होने पर भी जैनी लोग वाद-विवादमें उनको जीतकर अपने मतकी उत्कृष्टताको स्थिर रखते थे। वादिकुमुदचंद्र, कुमुदेन्दु, तेरकणांबिके बोम्मरसका पितामह नेमिचंद्र आदि जैनमत के उज्जीवन-उद्योतन के लिये बराबर कटिबद्ध रहे हैं।

(४) बल्लालोंके चक्राधिपत्यमें कतिपय प्रबलमन्त्री, अनेक धनिक व्यापारी और बहुतसे शूरवीर सामन्त नरपति जैनी ही थे। अतः वे कवि निराश्रय नहीं थे। इनसे द्वेष करने तकका वैष्णवमताभिमान बल्लालोंमें नहीं था। बिट्टिदेवके कट्टर वीरवैष्णव सिद्ध होने पर भी शेष बल्लाल राजाओंने अपने पूर्व मताभिमान की यथाशक्ति रक्षा ही की है और यह बात शासनोंसे सिद्ध होती है।

(५) सौन्दत्तिके रट्टोंमें और पश्चिम तीरके तुलुओं में जैनमतावलंबी ही शासन करते रहे हैं। रट्ट-राज्यके प्रतिष्ठाचार्य मुनिचन्द्रजी जैनकाव्य-कर्त्ताओं के विशेष प्रोत्साहक थे। तुलु देशके राजा लोग अपने आस्थान-कवियों से उत्तमोत्तम जैनकाव्योंकी रचना कराया करते थे। कार्कलके गोम्मटेश्वरकी स्थापनासे यह बात सिद्ध होती है कि पन्द्रहवीं शताब्दिमें पश्चिमतीरस्थ देशोंमें जैनमत उन्नत दशामें था।

(६) अंतमें एक और मुख्य कारण हमें जानना आवश्यक है और वह यह कि, सामान्यतः कर्णाटक चक्राधिपति जाति और मत-भेदसे विशेष कलंकित नहीं थे, वे ब्राह्मण तथा जैनियोंके मन्दिरोंके लिये समान भावसे भूदान आदि दिया करते थे और उन्होंने अपने आस्थानों में सभी मतावलम्बी कवियों एवं मन्त्रियोंको स्थान देकर उन्हें समान रूपसे प्रोत्साहित किया है। कर्णाटक के बहुतसे राजा भिन्न मतावलम्बियों के वाद-प्रतिवादको सहर्ष सुन कर सन्मानपूर्वक सभी की रक्षा करते रहे हैं। इस विषयमें हमें अनेक उदाहरण मिलते हैं। अतः निस्संदेह रूपसे हम कह सकते हैं कि कर्णाटकमें चाहे किसी भी मतके कवि हों प्रोत्साहन मिलने से वे नष्ट नहीं हुए।

इसके अतिरिक्त ईसाकी १२ वीं और १३वीं शताब्दियों में शैवों तथा वैष्णवों के साथ भिड़ कर जैनियोंने अपने स्थानकी रक्षाके प्रयत्नमें अनेक ग्रन्थों की रचना की है। अपनी शिष्य-परम्पराको जैनमत-सम्बन्धी ग्रन्थ सरल हों इस खयाल से अनेक कवियों ने उस समय अनेक व्याख्यानों एवं टीकाओंकी रचना की और संस्कृत मूल ग्रन्थोंको कन्नड़ में अनुवादित किया। जिस समय वीरशैव तथा ब्राह्मण अपने अपने मत-प्रचारार्थ योग्य साधनोंको एकत्रित कर अपने मत की उत्कृष्टताको घोषित करते हुए अन्यान्य मतोंका अवहेलन करते थे उस समय जैनी भी अपने धर्मग्रंथों एवं पुराणोंका कन्नड़में प्रचार करते हुए ब्राह्मण तथा शैवमतकी अवहेलना करनेवाले ग्रन्थोंको लिखने लगे। वे जनसाधारणको सुगमतासे बोध करानेवाली कथाओंको योग्य शैलीमें रच कर जैनमतकी सर्वोत्कृ-

ष्ठताको पामरों तक को समझाते रहे। इस प्रकार कतिपय कालज्ञ जैन कवियोंने ईसाकी १२वीं तथा १३वीं शताब्दीमें काव्यवस्तु और उसकी शैलीमें परिवर्तन करके अपने साहित्यमें नूतन क्रमको स्थान देना आवश्यक समझा। उस समय नूतन क्रमावलंबी जैन कवियोंने यथासाध्य संस्कृत पद-प्रयोगको कम करके देशभाषाको विशेष स्थान दिया और अलंकारादि को न्यून करके पाण्डित्यको घटाना आरंभ किया। जनसामान्यको मान्य हो ऐसी शैलीमें वे ग्रन्थ रचने लगे। परंतु यह परिवर्तन शीघ्र ही सर्वत्र आचरणमें नहीं आया; क्योंकि इस समय भी बहुत से जैनकाव्य प्रौढ़ शैली ही में रचेगये हैं। दीर्घकालीन संस्कृत वाङ्मयानुकरणसे आगत अभ्यासको पण्डित कवि सहसा कैसे छोड़ते? साथ ही, यह भी ज्ञात होता है कि उससमय संस्कृताभिमानियोंको देशभाषामें विशेष अभिमान नहीं था। देशभाषामें पद-सामग्रीकी न्यूनताको देख कर संस्कृतप्रयोगकी बहुलताका समर्थन करने वाले कवियोंमें दोषारोपण करना भी उचित नहीं है। अस्तु; यह उल्लिखित परिवर्तन शीघ्र ही न होकर एक दो शताब्दियों तक होते होते १५ वीं शताब्दिके प्रारंभ तक लगभग सभी जैन कवियोंने नूतन मार्गका अवलम्बन किया। यह बात साहित्यालोचनासे विशद होती है। इस समय उत्पन्न हुए जैन षट्पदी और सांगत्य-ग्रन्थोंकी संख्या अन्य मतसम्बन्धी ग्रन्थोंकी संख्यासे कम नहीं है। (देखो, कर्णाटक-साहित्य-परिषत्-पत्रिका वर्ष ९ अङ्क ४)।

जिस प्रकार कन्नड़ भाषाके कवियोंमें जैनकवि ही आदिकवि हैं उसी प्रकार स्त्री-कवियोंमें जैन स्त्रीकवि 'कन्ति' ही आदिकवि थी। यह 'कन्ति' द्वारसमुद्र के प्रख्यात बल्लाल-राज-दरबारमें पण्डिता रही है और इसको "अभिनववाग्देवी" की उपाधि प्राप्त थी। विद्वानों का मत है कि यह (स्त्रीकवि) लगभग ११०५ में विद्यमान थी। इसी कवीश्वरीके विषयमें मेरा एक छोटा-सा लेख 'वीर' पत्रके वर्ष चतुर्थकी संख्या ३ में प्रकाशित हो चुका है।

कर्णाटक-साहित्य-सेवाका कार्यभार तीन धर्मानुयायियोंके हाथोंमें ही रहा है। जिस समय जिस धर्म की प्रधानता थी उस समय उस धर्मके शिष्योंने मुख्यतः उत्कृष्ट रीतिसे साहित्यकी सेवा की है। प्रायः ९०० से १२०० तक जैनियोंका विशेष प्रभाव था। अतएव कर्णाटक भाषाका प्रारम्भिक काल-सम्बन्धी साहित्य उनकी लेखनी द्वारा ही लिखा गया है। इस विषयमें कर्णाटक साहित्यके मर्मज्ञ श्रीमान् शेष० भि० पारिशवाडका अभिप्राय निम्न प्रकार है:—

"लगभग ईसाकी छठी शताब्दिसे १४वीं शताब्दि तकके ७—८ सौ वर्ष-सम्बन्धी जैनियोंके अभ्युदय-प्राप्तिनिमित्त वाङ्मयका अवलोकन करना उचित है। तत्कालीन करीब २८० कवियोंमें ६० कवियोंको स्मरणीय कवि मान लेने पर उनमें ५० जैनकवियोंके नाम ही हमारे सामने उपस्थित होते हैं। ५० कृतियोंमें से ४० जैन कृतियोंको हम प्रमुख मान सकते हैं। लौकिक चरित्र, पारमार्थिक तीर्थंकरोंके पुराण, दार्शनिक आदि अन्यान्य सभी ग्रन्थ जैनियोंके द्वारा ही जन्म पाकर वे कन्नड़ साहित्यके ऊपर अपने प्रभावको शाश्वत जमाये हुए हैं। गद्याभिमुख एवं सुलभशैली पर रचे गये इधरके चेन्नबसवपुराण, कर्णाटक महाभारत आदि ग्रन्थोंको देख कर सहृदय पाठक निश्चयतः मुग्ध होंगे तथापि सुविख्यात जैनियोंके प्राचीन कन्नडकी प्रौढता पर लक्ष्य देना परमावश्यक है। मेरा बार बार कहना है कि जैनियोंका तेज हमारी आधुनिक भाषामें

विशेष कान्ति देने वाला है। अतः तत्कृत ग्रन्थोंका परिचय सुशिक्षितोंको अत्यावश्यक है।" (देखो,कर्णाटक साहित्य-परिषत्-पत्रिका वर्ष ११, अंक १)

यह बात निश्चित रूपमे कही जा सकती है कि कन्नड वाङ्मय अपनी संपूर्ण संस्कृतियोंसे अखिल कलासम्पन्न जैनियोंके द्वारा दी गई सुदृढ़ नींव पर ही आज भी स्थिर है। 'पंपभारत' सदृश सर्वांगसुंदर महाप्रबंधों तथा 'शब्दमणिदर्पण' तुल्य शास्त्रीय ग्रन्थों को देखकर किस साहित्याभिमानीके हृदयमें जैनकवियोंके बारेमें आदरबुद्धि उत्पन्न नहीं होगी। एक समय संपूर्ण कर्णाटक जिनधर्म का आवास .। (देखो, शासनपद्यमंजरी १४४३)। जैनियोंके बाद अनुमानतः १२०० से १७०० तक लिंगायतोंका प्राधान्य था, अतः इन शतकोंमें कर्णाटकसाहित्य इनकी हस्तकृति ही रहा है। १७०० से आज तक ब्राह्मणोंकी प्रधानतामें दो तीन शताब्दियोंसे इस धर्म के कवि साहित्यसेवा कर रहे हैं। प्राचीन समयमें धर्मोन्नतिके साथ साथ साहित्योन्नति का सम्बंध कितना मनोज्ञ है, और इस प्रकार वह कितने विशद रूपमे ऐतिहासिक रहस्य को संबोधित कर रहा है। यह सब बात साहित्यका क्रमबद्ध अभ्यास करनेवालोंसे छिपी नहीं है। अस्तु; यद्यपि कर्णाटक भाषाका प्रारंभिक काल 'जैनकाल', माध्यमिक काल 'लिंगायतकाल' और वर्तमानकाल 'ब्राह्मणकाल' कहलाता है। तथापि लिंगायत तथा वर्तमान कालमें जैनी लोग साहित्य-सेवाको सर्वथा भूले नहीं हैं; क्योंकि इन समयोंमें भी कई जैन ग्रन्थ लिखे गये हैं और इस बात को मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ। इतना ही नहीं, बल्कि लिंगायत तथा ब्राह्मणोंको साहित्यसेवाका मार्ग दिखलाने वाले भी जैन लोग ही थे; क्योंकि जैनी लोग कर्णाटक-साहित्यसेवाके मूल पुरुष हैं। कर्णाटक साहित्यके अंगोपाँगभूत व्याकरण, छंद, अलंकार आदि ग्रन्थोंके निर्मापक जैनी ही थे।

अब मैं अपने इस वक्तव्यको अधिक न बढ़ा कर कर्णाटक जैनकवियोंके कुछ पोषक तथा प्रोत्साहक राजाओं का उल्लेख नीचे करता हूँ:—

गंगराजा इन राजाओंमें अनुमानत. ५०० ई० में स्थित गद्यग्रन्थकार राजा **दुर्विनीत** 'पूज्यपाद' आचार्यका शिष्य था और ८८६—९१३का **'एरेयप्प'** प्रसिद्ध कवि तथा हरिवंश आदि ग्रन्थोंके लेखक 'गुणवर्म' का पोषक रहा है। आज तकके उपलब्ध कर्णाटक गद्य ग्रंथोंमें प्राचीनतर (सन् ९७८) 'चामुण्डरायपुराण' का लेखक वीरमार्तण्ड **'चामुण्डराय'** राजा **राचमल्ल** का मंत्री था।

राष्ट्रकूट— इस वंशके तीसरे **कृष्णराजा** (९३९—९६८) ने पोन्न कविको 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि दी थी।

चालुक्य— इस वंश का राजा **अरिकेसरी** **'आदिपंप'** कवि का पोषक था तथा **तैलप** (९७३—९८७) ने **'रन्न'** को 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि दी थी। 'जातकतिलक' के रचयिता श्रीधराचार्य **आहवमल्ल** के आश्रित थे और 'सुकुमारचरित्र' का लेखक 'शांतिनाथ' **लक्ष्मण** नृप का मंत्री था। 'समयपरीक्षा' एवं 'त्रैलोक्यरक्षामणि स्तोत्र' का कर्त्ता वत्सगोत्रीय जैन ब्राह्मण 'ब्रह्मशिव' आहवमल्लके पुत्र तथा विक्रमादित्यके सहोदर **कीर्तिवर्मा** का आश्रित था। कटकोपाध्याय जैन ब्राह्मण 'नागवर्म द्वितीय' **जगदेकमल्ल** (११३८—११५०) का आश्रित रहा।

होय्सलराजा— 'अभिनव पंप' तथा 'कन्ति' **प्रथम बल्लाल** (११००—११०६) के आस्थान विद्वान् थे। व्यवहारगणित, व्यवहाररत्न, लीलावती, चित्रह-

मुगे, जैनगणितसूत्रटीकोदाहरण आदि गणितग्रंथोंका लेखक 'राजादित्य' विष्णुवर्धन (११११—११४१) के समयमें था। यशोधरचरित्र आदि ग्रंथोंका लेखक 'जन्न' कविका पिता 'सुमनोबाण' नरसिंह राजा का कटकोपाध्याय था। कविताविशारद 'बूचिराज' 'वीर बल्लाल' का मन्त्री था। यह कवितामें 'पोन्न' कविके समान रहा। उसी राजाके अधिकारी 'पद्मनाभ' के आशयानुसार 'नेमिचंद्र' ने 'अर्धनेमि' बनाया है। उसी राजाके अन्यतम मंत्री रेचरस की प्रेरणासे 'आचन्न' ने 'वर्धमानपुराण'की रचना की है। उक्त राजाने ही जन्न कविको 'कविचक्रवर्ती' की उपाधिसे विभूषित किया था। 'केशिराज' के पिता 'मल्लिकार्जुन' ने 'सोमेश्वर' के विनोदार्थ 'सूक्तिसुधार्णव'की रचना की है। सौन्दत्तियरट्टरु—'पार्श्वनाथपुराण'का कर्त्ता 'पार्श्वपण्डित' कार्तवीर्य चतुर्थ-का आस्थानकवि रहा, और द्वितीय 'गुणवर्म' इसी राजा के अधिकारी 'शान्तिवर्म' का आश्रित था। मालूम होता है कि बालचन्द्र कवि भी इसी राजा के समयमें था।

करहाट के शिलाहार—गंडरादित्य के पुत्र लक्ष्मणराजा की आज्ञानुसार 'कर्णपार्य' ने 'नेमिनाथपुराण' और उसी राजाके समयमें 'नेमिचंद्र' ने 'लीलावती' की रचना की थी।

कोंगाल्व — विदित होता है कि 'चन्द्रनाथाष्टक' का लेखक 'मौक्तिक' कवि वीर कोंगाल्व के कालमें था।

चंगाल्व — तृतीय 'मंगरस' इन्हीं राजाओं का कुलक्रमागत मंत्री का पुत्र था। इस कविने जयनृपकाव्य, प्रभञ्जनचरित्र, श्रीपालचरित्र, सम्यक्त्वकौमुदी, सूपशास्त्र आदि ग्रंथोंको रचा है।

तुलुदेश के राजा- कार्कल-भैरवरस के पुत्र 'पाण्ड्य राजा' के लिये 'कल्याणकीर्ति' ने 'ज्ञानचंद्राभ्युदय' तथा संगीतपुरके 'हैवनृप' के पुत्र संगम की आज्ञानुसार 'कोटीश्वर' ने 'जीवन्धरषट्पदी' की रचना की है। 'भरतेश्वरचरित्र'का रचयिता 'रत्नाकर' कवि * कार्कलके भैरवरस ओडेय की सभामें आस्थान-कवि था। रस-रत्नाकर, भारत, वैद्यसांगत्य आदि के लेखक 'साल्व' कवि तैलव, हैव, कोंकण देशाधिपति साल्वमल्ल का दरबारी कवि था। कार्कलके भैरवेंद्र की आज्ञानुसार 'बाहुबलि' ने 'नागकुमारचरित्र' की रचना की है। इसी राजा की आज्ञानुसार 'चन्द्रम' कविने 'कार्कल-गोम्मटेश्वर-चरित्र' लिखा है। गेरुसोप्पेके राजा भैरवराय के समयमें 'आदियप्प' ने 'धन्यकुमारचरित्र' लिखा है। 'पायण्ण' ने संगमराय के पुत्रके आश्रित रहकर 'अहिंसाचरित्र' की रचना की है। 'रामचन्द्रचरित्र'के पूर्वार्धका रचयिता 'चंद्रशेखर' कवि 'बंगवाडि लक्ष्मण भंगरस' का आस्थानकवि था। 'रामचंद्रचरित्र' के उत्तरार्ध का लेखक पद्मनाभि कवि मूलि के चेन्नराय का आश्रित रहा। चौटरानी चेन्नमाम्बे के समयमें उसकी आज्ञानुसार 'सुराल' कविने 'पद्मावतीचरित्र' की रचना की है।

विजयनगर के राजा—'प्रथम हरिहर' (१३३६—१३५३)के कालमें मूगलिपुर के स्वामी प्रथम मंगरसने 'खगेन्द्रमणिदर्पण' की और द्वितीय हरिहर के आस्थानकवि मधुर ने 'धर्मनाथपुराण' की रचना की है। 'शब्दानुशासन'के लेखक 'भट्टाकलंक' वेंकटपतिराय के समयमें थे, यह बात बिलिगि ताल्लुकेके एक शासनसे ज्ञात होती है।

* "आदर्श-जैनचरितमाला" के साहित्यांक में प्रकाशित मेरा लेख देखो।

मैसूर के राजा—चामराजके सन्देशानुसार 'पद्मराज' पंडितने 'हयसारसमुच्चय'की रचना की थी और 'शान्तराज' पंडित '**मुम्मडि-कृष्णराज**' का आश्रित था।

इस प्रकार सामान्य रीतिसे जैन कवियोंके पोषक तथा प्रोत्साहक राजाओं का दिग्दर्शन कराया गया है। विशद रीतिसे लिखने पर इस विषयकी एक स्वतन्त्र पुस्तक ही तैयार हो सकती है। अस्तु।

विद्वद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने कर्णाटक जैन कवियों के सम्बन्ध में अपने जो विचार प्रकट किये हैं। उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं:—

"जैनधर्ममें मुख्य दो संप्रदाय हैं एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर। इनमें से दक्षिण और कर्णाटक में केवल दिगम्बर संप्रदायका ही अधिक प्राबल्य रहा है। ऐसा मालूम होता है कि वहाँ श्वेताम्बर संप्रदायका प्रवेश ही नहीं हुआ। दक्षिण और कर्णाटक का जितना जैनसाहित्य है, वह सब ही दिगम्बर जैन संप्रदाय के विद्वानोंकी रचना है। जहाँ तक हमको मालूम है श्वेताम्बर संप्रदायका कोई भी प्रौढ़ विद्वान् उस ओर को नहीं हुआ। इतिहासके पाठकोंके लिये यह प्रश्न बहुत ही विचारणीय है।"

"इस बातको सुनकर सब ही आश्चर्य करेंगे कि दिगम्बर संप्रदाय के जितने प्रधान प्रधान आचार्य इस समय प्रसिद्ध हैं, वे प्राय: सब ही कर्णाटक देश के निवासी थे और न केवल संस्कृत प्राकृत मागधीके ही ग्रन्थकर्त्ता थे, जैसा कि उत्तर भारतके जैनी समझते हैं, किन्तु कनड़ीके भी प्रसिद्ध ग्रन्थकार थे। समन्तभद्र, पूज्यपाद, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, अकलंकभट्ट, नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, भूतबलि, पुष्पदन्त, वादीभसिंह, पुष्पदन्त (यशोधरचरित्रके कर्त्ता), श्रीपाल आदि आचार्य, जो दिगम्बर संप्रदायके स्तंभ समझे जाते हैं और जिनके संस्कृत, प्राकृत ग्रंथोंका हमारे उत्तर भारतमें बहुत प्रचार है, प्राय: कर्णाटक ही थे।"

'कर्णाटक कवि चरिते' के मूल लेखक, कर्णाटक साहित्य के पूर्ण मर्मज्ञ, अच्छे रिसर्च स्कॉलर तथा कई भाषाओं के पण्डित, प्रसिद्ध विद्वान आर. **नरसिंहाचार्य** जी ने जैन कवियों के सम्बन्ध में अपने जो शुभोद्गार प्रकट किये हैं वे पाठकोंके खास तौर से जानने योग्य हैं और इस लिये उन्हें नीचे उपस्थित करके ही यह वक्तव्य समाप्त किया जायगा। वे उद्गार इस प्रकार हैं:—

" जैनी ही कन्नड़ भाषा के आदि कवि हैं। आज तक उपलब्ध सभी प्राचीन और उत्तम कृतियाँ जैन कवियों की ही हैं। ग्रन्थरचना में जैनियों के प्राबल्य का काल ही कन्नड़ साहित्य की उच्च स्थितिका काल मानना होगा। प्राचीन जैन कवि ही कन्नड़ भाषा के सौन्दर्य एवं कान्ति के विशेषतया कारणीभूत हैं। उन्होंने शुद्ध और गम्भीर शैली में ग्रन्थ रच कर ग्रंथ-रचना-कौशल को उन्नत प्रसाद पर पहुँचाया है। पंप, **पोन्न, रन्न** इनको कवियों में रत्नत्रय मानना उचित ही है। पोन्न ने राष्ट्रकूटराजा तृतीय कृष्ण से, रन्न ने चालुक्य राजा तैलप से और जन्न ने होयसल राजा द्वितीय बल्लाल से 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि पाई थी। (द्वितीय) नागवर्म चालुक्यराजा(द्वितीय), जगदेकमल्ल के यहाँ, जन्न का पिता केशिराज का मातामह सुमनोबाण होयसल राजा (द्वितीय) नरसिंह के यहाँ कटकोपाध्याय था। अन्य कवियों ने भी १४ वीं शताब्दी के अन्त तक सर्वश्लाघ्य चंपू काव्योंकी रचना की है। इनमें 'मधुर' ही अन्तिम कवि ज्ञात होता है। कन्नड भाषाध्ययनके सहकारीभूत छन्द, अलङ्कार, व्याकरण,

कोष आदि ग्रन्थ अधिकतया जैनियों के द्वारा ही रचित हैं। तामिल भाषामें भी प्रायः इसी प्रकार है। षट्पदी लेखकोंमें कुमुदेन्दु, भास्कर, तृतीय मंगरस इनका नाम उल्लेखनीय है।"

इस वक्तव्य के अन्त में मैं 'कर्णाटक-कविचरिते' के मूल लेखक श्रीयुत आर. नरसिंहचार्यजी को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता हूँ, जिनकी असीम कृपा एवं अनुमति से मैं 'कर्णाटक-कविचरिते' के तृतीय भाग में आये हुए जैन कवियों के परिचय को हिन्दी में अनुवाद करके पाठकों के सामने उपस्थित करने में समर्थ हो सका हूँ। यद्यपि 'कर्णाटक-कविचरिते' के क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय भागोंमें आये हुए जैन कवियों के परिचय में से पूर्व पूर्व कवियोंका परिचय विशेष महत्वको लिये हुए है। फिर भी तृतीय भाग पर से संकलित इस परिचय से पाठकों को बहुत सी नई नई बातें मालूम होंगी और इतिहास तथा पुरातत्त्व-विषयका कितना ही अनुभव बढ़ेगा। इसी प्रकार आगे भी कर्णाटक प्रदेशोंके बहुत से इतिहास एवं पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्रियोंको हिन्दी पाठकों के सामने रखने की मेरी बलवती इच्छा है। देखिये उसे पूरा करने के लिये मैं कहाँ तक समर्थ होता हूँ।

'कर्णाटक कविचरिते'के तीसरे भाग में आए हुए जैन कवियों का, काल क्रमसे, संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१ अनन्तप (लगभग ई० सन् १७२०)

इन्होंने 'अहिंसाकथे' नामक यक्षगान लिखा है। यह वैश्य हैं। इनका पिता चन्दण्णसेट्टि, माता चन्नम्म और निवासस्थान चिक्कबल्लापुर है। इनका कथन है कि, 'मैं समन्तभद्रके वंशसे उत्पन्न हुआ हूँ।' इनके समयमें बैचभूप चिक्कबल्लपुरमें राज्य शासन करता था। बैचभूपका काल लगभग १७२० ईसवी सन् है, अतः कविका काल भी यही है। कविकी 'अहिंसाकथे' यक्षगान रूप है। इसमें धनकीर्तिका चरित्र वर्णित है। 'अन्य की सहायताके बिना मैंने इस ग्रंथको ६ मासमें पूर्ण किया है,' ऐसा कविका कहना है। आरम्भमें वीरजिन तदनन्तर कवि, सिद्ध, सरस्वतीआदिकी स्तुति है।

२ रायण्ण (ल० १७२०)

इन्होंने 'पद्मावतीय कोरवंजि' यक्षगान लिखा है। इनका पितामह नागण्ण, पिता बोम्मण्ण कवि और स्थान श्रवणबेल्गोल के उत्तरस्थित वेणुपुरि है। इनके समय में श्रीरंगपट्टणमें 'कृष्णराजेन्द्र' राजा था, जिस का उल्लेख कविने स्वयं किया है। यह कृष्णराज प्रथम (१७१३ से १७३१) अथवा द्वितीय (१७३४ से १७६६) होगा। अधिकतर प्रथम कृष्णराज ही मालूम होता है। कविके यक्षगानका दूसरा नाम 'रामजनन' है। इसमें पद्मावती के द्वारा कोरवंजिके वेषमें कौशल्या के पास जाकर उसे पुत्र होने का सन्देश सुनाने का वृत्तान्त वर्णित है।

३ पायण (१७४८)

इन्होंने 'अहिंसाचरिते' लिखा है। इनका पिता गुम्मटसेट्टि, गुरु नयसेन, जन्मस्थान संगीतपुरके राजा 'संगमराय' के पुत्र ......द्र भूपके राज्यमें अवस्थित भारंगि था। एक पूर्ण पद्यमें ग्रंथरचनाका काल 'प्रभव' संवत्सर लिखा हुआ मिलता है। 'कर्नाटककविचरिते'के लेखक महोदयका मत है कि यह 'प्रभव' शक १६७० (ई० सन् १७४८) होना चाहिये। उक्त 'अहिंसाचरिते' सांगत्यमें है और इसकी पद्यसंख्या ६३४ है। इसे 'पंचाणुव्रतचरिते' भी कहते हैं। कविके "मुकुरदन्तेबेलगलि एन्नकुल— दर्पण के समान मेरा कुल उद्योतित हो" इस पदसे ग्रंथ रचनेका उद्देश्य स्व-

कुलोन्नति ही ज्ञात होता है। 'पायरण' नामक कविके द्वारा रचित 'भेकनर्थाख्यान' नामका एक सोलह संधि-(अध्याय) परिमित सांगत्य ग्रंथ और भी है। संभव है कि यह भी इसी कविद्वारा रचित हो, परन्तु अभी निःसन्देह रूपसे नहीं कहा जा सकता।

४ पद्मनाभ (१७५०)

इन्होंने 'रामचन्द्रचरित्र' का उत्तर भाग—अर्थात् १७ वीं सन्धि (अध्याय) से आगे—लिख कर ग्रन्थको पूर्ण किया है। ग्रन्थके अंतमें निम्न बातोंका उल्लेख मिलता है:—इस ग्रन्थके कुछ भाग चंद्रशेखर या शंकर कवि लिख कर स्वर्गवासी हुआ। कुछ समयके पश्चात् तौलव देशके मूलिके राजा चेन्नराय सावंत एवं उनके मामा कुन्दैयरस की इच्छानुसार पार्श्वेणीपुर के पद्ममेट्टि, पद्मावती के पुत्र पद्मनाभ * ने इसे पूर्ण किया। ओललंके, नूतनपुर, अयकल ये 'मूलिके' के नामान्तर हैं। वहाँ के अनंतनाथ-जिन-चैत्यालयमें 'प्रभाचंद्र' नामक मुनि निवास करते हैं। इस चैत्यालयके चारों दिशाओंमें चार और जिन-चैत्यालय हैं। राजभवन में चंद्रनाथस्वामी का चैत्यालय है और उसमें पद्मावतीदेवी की मूर्ति भी है। चेन्नराय सावन्त सिद्धमाम्बे का पुत्र है। इन्हें ओललंकापाच्छाह नामक उपाधि और हनुमकेतन प्राप्त है। कवि पद्मावतीदेवी का चरणाब्ज-मधुप है और उसी की कृपासे उसने इसकी रचना की है। कवि का गुरु 'पंडितार्य', शिक्षक गुरु 'प्रभाचंद्र', रक्षक 'चेन्नराजेंद्र', प्रेक्षक 'कुन्दैयरस' हैं। इस गृन्थको शक १६७४ प्रमोदवर्ष में (ई०सन् १७५० में) नूतनपुरके अनंत-जिन-चैत्यालयमें पूर्ण किया। 'रामचंद्रचरित' सांगत्यमें है। इसमें ३७ अध्याय और ५२६८ पद्य हैं, जिनमेंसे २१५१ पद्य चंद्रशेखर कवि-कृत और शेष पद्मनाभ कविकृत हैं। इसमें जैनमतानुसार रामायणकी कथा लिखी हुई है।

५ राम (ल० १७५०)

इन्होंने पद्मावतीका यक्षगान लिखा है। कविका कथन है कि यह गृन्थ मूलिके राजाके इष्टानुसार लिखा गया है। इसमें जिनदत्तरायके पद्मावती देवीको उत्तर मथुरासे होम्बुच्च लानेकी कथा है। गृन्थारंभमें जिन-स्तुति तथा सरस्वती-स्तुति है। कविका समय करीब १७५० के मालूम होता है।

६ पद्मराज, (ल० १७५०)

यह कवि 'विजयकुमारनकथे' नामक यक्षगान के लेखक हैं। इनके पिता शांतिगुणसे सुकीर्तित, दानत्व-युक्त-मैसूरके शांतपण्डित, गुरु वादवादीश्वर वादिपिता-के मह 'अकलंक' मुनि हैं। इनका काल करीब १७५० के विदित होता है। गृंथवतारमें शांतिजिन और सरस्वती की स्तुति है।

७ शान्तिकीर्ति (१७५५)

इन्होंने देवसेन-कृत आराधनासारकी कन्नडटीका बनाई है। टीका का समय शक सं०१६७७ अर्थात् ई० सन् १७५५ है।

८ सुराल, (१७६१)

इन्होंने 'पद्मावतीचरिते' लिखा है। मि० ई० पी० राइस साहबका कथन है कि, कवि अपने गृन्थमें इसे पुत्तिकापुर× के चंद्रशेखर चिक्कराय चौट के रानीवास

* "पद्मावतीचरिते" का लेखक पद्मनाभ मूलिके तथा उसके उपनामों को बतलाता है। पर दूसरे राजा का उल्लेख किया है, इस लिये एतद्भिन्न मालूम होता है (?)। इसके अतिरिक्त यह अपने को राजकीय कोशाध्यक्ष बतलाता है।

×यह ग्राम मूडबिद्री से ३ मील पर है। आज कल इसे पुत्तिगे कहते हैं। उस समय यही चौटराजाओंकी राजधानी थी।(अनुवादक)

की चेन्नम्म देवीकी इच्छानुसार सन् १७६१ में रचा हुआ बतलाता है।

यह ग्रन्थ सांगत्य में है। इसमें १२ अध्याय और १६७१ पद्य हैं। और पद्मावती यक्षी की कथा लिखी हुई है।

९ लक्ष्मण पण्डित (ल० १७७५)

इन्होंने अकारादि क्रमसे एक निघंटु लिखा है, जिसमें संस्कृत शब्दोंके—प्रधानतया वैद्यक शब्दोंके—कन्नड पर्याय नाम दिये गये हैं। इनका समय अनुमानत: १७७५ होना चाहिये।

१० अनन्तकवि (ल० १७८०)

इन्होंने बेलगोलके गोम्मटेश्वरका चरित लिखा है। लगभग १६७३ में चेन्नराण के द्वारा निर्मापित मंदिरके वर्णन * से, शक १६०० नल संवत्सरके फाल्गुण मासमें (१६७७) चिक्क देवराजके मंत्री विशालाक्ष पंडितके द्वारा संपन्न गोम्मटेश्वर के अभिषेकके उल्लेखसे तथा शक १७०१ दुर्मुखी संवत्सर के फाल्गुण मास में (१७७७) गोम्मटेश्वर स्वामी की संभूत महापूजा के उल्लेख से, यह कवि उल्लिखित समयोंमें बाद का स्पष्ट होता है। अतः यह लगभग १७८० में रहा होगा।

कविका उक्त ग्रंथ सांगत्यमें है और उसमें गोम्मटेश्वरका चरित एवं श्रवणबेलगोल और कतिपय जैन गुरुओंसे सम्बंध रखने वाले कुछ उल्लेख हैं। कविका कहना है कि गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठा कलियुगके ६०० संवत् में हुई थी और चावुण्डरायने पूर्वस्थित मूर्तिको ही शिल्पियोंके द्वारा सुधरवाया था। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि बसवसेट्टिके पुत्र अण्णय्यने टकसाल (Mint) आदिका अधिकार पाकर और चिक्क देवराजकी प्रीतिका पात्र होकर उनसे बेलगोल में 'कल्याणि' को बनवाया था। साथ ही यह बात भी विदित होती है कि अण्णय्यके संबंधी पुट्टय्यने पार्श्वनाथ-मंदिरके पुरोवर्ती मानस्तम्भको तथा चंद्रगिरि पर्वतके प्राकार को बनवाया था। कविका कथन है कि 'न्यायकुमुदचंद्रोदय'आदि ग्रंथोंके रचयिता'प्रभाचंद्र'जी यति श्रवणबेलगोलमें रहते थे और 'अभयचंद्र'जी शशकपुरीय 'सल'के गुरु थे। ग्रन्थावतारमें गोम्मटेश्वरकी स्तुति तथा सिद्ध, सरस्वती शीलसागर ऋषि और यति पंडिताचार्य आदि की प्रशंसा है।

* Mysore Archaeological Report 1909, Para 106.

११ पद्मराज (१७९२)

इन्होंने 'पूज्यपादचरिते' लिखा है। यह वत्स गोत्र के थे। अपने वंशके विषय में इन्होंने इस प्रकार लिखा है:—

गिरपुरमें करणिकोत्तम (accountant) बोम्मरण नामक ब्राह्मण था। उसके सांतप्प, हुच्चबोम्मरस, देवरस, बोम्मरस नामके चार लड़के थे। कविता-विशारद बोम्मरसका पुत्र विजयप्प, विजयप्पका पुत्र बोम्मरस, बोम्मरसका पुत्र विजय, विजयका पुत्र देवप्प और देवप्पका पुत्र आर्यप्प हुआ। यह आर्यप्प तेरह वर्ष की अवस्था में ही काव्य-शब्द-जिनेन्द्रप्रतिष्ठादि-शास्त्रों का ज्ञाता हुआ। इसका पुत्र विजयप्प तथा बन्धुजन देवरस, बोम्मरस, देवचन्द्र थे। देवचंद्रका पुत्र देवप्प, उसकी धर्मपत्नी कुसुमम्म और पुत्र चंद्रप्प तथा पद्मराज थे। यही पद्मराज ग्रंथकर्ता हैं। इस ग्रंथमें यह भी ज्ञात होता है कि ग्रंथरचनामें देवचंद्र भी सहायक थे। यही देवचंद्र 'राजावलीकथे' के रचयिता हैं। पद्मराज इनके बड़े भाई हैं। यह ग्रंथ शक १७१४ परिधावी संवत् (१७९२) में रचा गया है। कविने अपने पूर्वमें

पंप, होन्न, जन्नुग, सुमनोबाण का स्मरण किया है।

'पूज्यपादचरिते' सांगत्यमें है। इसमें १५ संधियाँ और १५३२ पद्य हैं। जहाँ तहाँ कुछ वृत्त कंद(छंद) भी हैं। इसमें पूज्यपादजीका चरित्र बतलाया है। साथ ही, जैन मतानुसार लोकाकार, श्रुतावतरण आदि बातोंका भी कथन किया है। ग्रंथावतारमें 'विजयजिन' की स्तुति की गई है। तदनन्तर कवि, सिद्ध, सरस्वती, वृषभसेनादि गणधर, ज्वालामालिनी, पद्मावती, दशपूर्वधर, एकादशांगधारी, कविपरमेष्ठी, समन्तभद्र, सिद्धसेन, जिनसेन, गुणभद्र, गोवर्धन, देवकीर्ति, अकलंक, विद्यानंद और भट्टाकलंक इनकी भी स्तुति की गई है।

११ देवचन्द्र (१७७०-१८४१)

इन्होंने 'रामकथावतार' तथा 'राजावलीकथे' नामक ग्रंथ लिखे हैं। और 'राजावलीकथे' में यह उल्लेख किया है कि—"मैंने पूज्यपादचरिते, सुमेरुशतक, यक्षगान, रामकथावतार, भक्तिसारशतकत्रय, शास्त्रसार-लघुवृत्ति, प्रवचन-सिद्धान्त, द्रव्यसंग्रह, द्वादशानुप्रेक्षा कथासहित, ध्यानसाम्राज्य, अध्यात्मविचार आदि ग्रंथोंको कर्णाटक तथा संस्कृत भाषामें अति सुलभ शैली में लिखा है।" इससे मालूम होता है कि उक्त ग्रंथोंके कर्त्ता भी आप ही हैं। इनमेंसे पहलेके चार और शेष ग्रन्थोंमें दो एक कन्नड़के ज्ञात होते हैं। इनका निवास-स्थान कनकगिरि (मलेपूरु) था। मलेपूरके पार्श्वनाथ ही इनके कुलदेव हैं। इनके विषयमें राजावलीकथे में इस प्रकार लिखा है:—इनका पितामह देवचंद्र, पिता देवप्प, माता कुसुमाजम्म, भाई चंद्रपार्य और पद्मराज। लिखा है कि पद्मराजने अनेक ग्रन्थ बनाये हैं। कविने १७७० में जन्म लिया। और वह अपनी चौदह वर्षकी अवस्था से ही करणिकाग्रगण्य (Best accountant) कहलाकर कविता बनाने लग गया था। इनका प्रथम ग्रन्थ 'पूज्यपादचरिते' १७९२ में रचा गया*। रामकथावतार १७९७में छह मासके अंदर पूर्ण हुआ।

सन् १८०४ में पैमाइश करने के लिये मैकेंज़ी साहब† लक्ष्मणराय के साथ कनकगिरि पहुँचे वहाँ उन्होंने कविसे प्रश्न किया कि आपके पास कोई स्थल-पुराण है? उस समय कवि ने स्व-रचित 'पूज्यपाद चरिते' उन्हें सुनाया। उसे सुन कर मैकेंज़ी साहब कवि को कमरहल्लि में स्थित अपने डेरे पर साथ साथ लिवा ले गये और तीन रात उन से कुछ प्राचीन वृत्तांतो सुना। मैकेंज़ी साहब वहाँ से कल्लिले, मैसूर, पट्टण, इलिवालआदि स्थानोंमें उन्हें घुमाते हुए नागवाल तक साथ ले गये। देवचंद्र दो मास तक उनके साथ ही साथ रहे और रात्रि समय में मैकेंज़ी साहब को पूर्व प्रपंच, जातिभेद आदि विषयों को सुनाते रहे। कवि जब तक उनके साथ रहा, तब तक उसे प्रतिदिन एक हण × मैकेंज़ी साहब से दैनिक खर्च मिलता रहा। मैकेंज़ी साहब कवि से सभी वृत्तों को सुन कर, राज्य के प्रान्तों को विभक्त कर, प्रत्येक गाँवका नक़शा तैयार करा कर, जाति, कुल, घर, जन आदि प्रत्येक वस्तु की गणना लिखा कर जब लौटने लगे तब वे कवि को भी अपने साथ ले जाना चाहते थे। परन्तु कवि के अनेक प्रकार कहने-सुनने से तथा उनके धर्मोपध्याय के आगमन से मैकेंज़ी साहब ने उनके द्वारा उक्त सभी पूर्ववृत्तोंको कागज पर लिखा कर और कविके 'पूज्यपादचरिते' को अपने पास रख कर उन्हें वापिस भेज दिया। देवचंद्र को वापिस भेजते समय

* देखो, पद्मराज १७६२।

†Colin Mackenzie who conducted the Survey of Mysore.

× दक्षिण देशका नाणय (?)भेद।

मैकेंजी साहब ने उन से कहा था कि एक मास के अंदर कर्णाटक देश की सभी ऐतिहासिक बातों को संग्रह कर यदि हमारे पास लाओगे तो हम तुम्हें बड़ा भारी वेतन दिला देंगे। साहब ने कवि को वापिस भेजते समय लक्ष्मणराय के द्वारा कुंपनी * के पच्चीस रुपये भी दिलाये थे। उस समय से कवि इन कथाओं को बराबर संगृह कर रहा था। परंतु सरदार बहादुर अर्थात् मैकेंजी साहब के बहुत दूर चले जाने के कारण कवि उन्हें अपनी इस कृति को अर्पण नहीं कर सका। इस 'राजावलीकथे' को मैसूरके राजा मुम्मड़ि कृष्णराजा ओडेयर के आश्रित वैद्यसूरि पंडित के प्रोत्साहन से कवि ने शक वर्ष १७६० अर्थात् १८३८में लिखा। इनके द्वारा लिखित गृन्थों की श्लोकसंख्या अनुष्टुप् छन्द में २५००० होती है। राजावलीकथे को मुम्मड़ि कृष्णराजा ओडेयर को समर्पण करने के लिये तीन चार साल तक उद्योग करने पर भी कवि समर्थ नहीं हो सका। अंत को १८४१ में चामराज की महिषी देवी रांबे ने इस 'राजावलीकथे' के सार को आमूलागू भले प्रकार से सुन कर तथा संतुष्ट हो कर कवि को वस्त्र-ताम्बूलादि से सन्मानित किया, और इस में मैसूर राजाओं की परम्परा को संग्रह करनेके लिये कहा। कवि ने उन की आज्ञाका पालन कर इसे उन्हें ही अर्पण कर दिया।

राजावलीकथे—यह प्रायः गद्यरूप कृति है; फिर भी यत्र तत्र इसमें कितने ही श्लोक अथवा पद्य मिलते हैं। इसमें ११ अधिकार हैं। इन अधिकारों में जैनमत-संबंधी अनेक इतिहास, अनेक राजाओंके जीवनचरित्र तथा कतिपय कवियोंके विषय वर्णित हैं। इस प्रकार अनेक विषयोंसे सुशोभित होनेसे यह ग्रन्थ अधिक उपकारी है। जैन कवियोके चरित्र लिखते समय 'कर्णाटक कविचरिते' में भी अनेक स्थानों पर इस गृन्थसे कुछ अंशोका अनुवाद किया गया है। इस गृन्थमें मैसूर राजाओंकी वंशावली भी संगृहीत है।

रामकथावतार—यह चंपू रूप गृन्थ है। इसमें आश्वास १६ और श्लोक ६८०० हैं। नागचंद्रकृत 'रामचंद्रचरित' का कथाभाग ही इसमें कुछ विस्तार से वर्णित है। उस गृन्थसे अनेक पद्य इसमें अनुवादित हैं। कविने अपने इस गृन्थके विषयमें इस प्रकार लिखा है:— 'इस रामकथा को सर्वप्रथम आदिदेव ऋषभस्वामीके समवसरणमें आदि चक्री भरतेश्वरको पुरुपरमेश्वर ने मृदु-मधुर-श्राव्य नव्य-दिव्य भाषामें निरूपण किया। परम्परा तीर्थसंतानसे चली आई उसी कथाको पश्चिम तीर्थंकर श्रीवर्धमान स्वामीने सर्वभाषास्वभावसे श्रेणिक महामंडलेश्वरको बतलाया। फिर गुरुपरम्परासे व्यक्त उसी कथाको कूचिभट्टारक, नंदिमुनि, कविपरमेष्ठी, रविषेणार्य, वीरसेन, सिद्धसेन, पद्मनंदी, गुणभद्र, सकलकीर्ति आदि आचार्यों ने अपनी अपनी कृतियोंमें प्रकट किया। उक्त आचार्यों के द्वारा कथित उसी रामकथाको चामुण्डराय, नागचंद्र, माघनंदि सिद्धांति, कुमुदेंदु, नयसेन आदिने अपने अपने पुराण, रामचरित्र, कुमुदेंदु-रामायण, पुण्यास्रव-कथासार आदि कृतियोंमें वर्णित किया। इन्हीं गृन्थों से 'रामकथासार' को संगृह कर अभिनव पम्पकी कविताको आदर्श मान कर कर्णाटक भाषामें मैंने इस 'आदि रामकथावतार' गृन्थकी रचना की है। ग्रन्थके अंतमें इतना और लिखा है कि—' मुनिपति-परम्परा से आगत इस कथन को लेकर श्रीमूलसंघ बलात्कार गणके श्रीमाघनंदी सिद्धांतचक्रवर्ती के पुत्र चतुर्विध-

* कम्पनी का अपभ्रंश मालूम होता है।

पांडित्य श्रीवादिकुमुदचंद्र पंडितदेवके द्वारा रचित रामायणके तुल्य प्रतिपादित अभिनव पंपके रामचरित्रमें अनेक स्थानों पर उपलब्ध संशयोंको निराकरण करने के लिये जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्र स्वामी आदि के द्वारा निरूपित त्रिषष्टिलक्षण महापुराणकी कथाको ही प्रमाण मान कर और उसी के साथ सकल जिन शास्त्र-संबंधी कथाओं को जोड़ कर इस कथाप्रपंचका मैंने वर्णन किया है। आश्वासों के अंत में इस प्रकार का गद्य मिलता है :—

'परम-जिन-समय-कुमुदिनीं शरच्चंद्र-बालचंद्रमुनीन्द्रचरण-नखकिरण-चंद्रिकाचकोर श्रीमदभिनवपंपविरिचित रामचरित्रपुराण से संबंधित रामकथावतार में आदि।'

इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त और दूसरे ग्रंथ अभी तक प्राप्त नहीं हुए।

१३ ब्रह्मणांक (ल० १८००)

इन्होंने 'जिनभारत' तथा कंदर्पकोरवंजि नामक ग्रन्थों को लिखा है। इनका पितामह चंद्रनाथ, पिता चंदण्ण, माता पोंबुजे, सहोदर चंद्रनाथ, ब्रह्म और पद्म थे। इनके पूर्वजोंका निवासस्थान तुंगभद्रा समीपस्थ हुलिगे और वंश इक्ष्वाकु था। कवि ने तोविनकेरे मंगरस (१५०८) के ग्रंथ के आधार पर 'जिनभारत' को भामिनी षट्पदी में लिखा है। इसमें ८४ संधियाँ और ४६२८ पद्य हैं। इसे पांडव-कौरव-चरित्र भी कहते है। ग्रन्थावतार में नेमिजिन, कवि, सिद्ध, सरस्वती, ज्वालामालिनी, पद्मावती, और ब्रह्मदेव, आदि की स्तुति की गई है। इसकविका समय १८०० के लग भग होना चाहिये।

१४ अनन्तनाथ (ल० १८०८)

इन्होंने 'मन्मथकोरवंजि' नामक यक्षगान लिखा है। इनका समय लगभग १८०० होगा। इस ग्रन्थमें मन्मथ कोरचि (एक शूद्र जातिविशेष) का वेष धारण कर अपने मामा की लड़की विदर्भा की करुण-प्रतिपादित कथा लिखी हुई है।

१५ चन्द्रसागर वर्णी (ल० १८१०)

इन्होंने कदंबपुराण, चंदनेयकथे, जिनभक्तिसार, जिनमुनि, परशुरामभारत, पुराणस्तोत्र, बेट्टवर्धनचरित्र, ब्रह्मशतकोष, भव्यामृत, मुल्लाशास्त्र, जिनरामायण, रुद्रयक्षगान, वासुदेवपारिजात, शब्दार्थमंजरी, स्मरकोरवंजि, हिमशीतलनकथे, इन ग्रन्थों की रचना की है। यह सेन गण के हैं। इनके गुरु लक्ष्मीसेन, और इनका निवासस्थान तोविनकेरे है। 'कुछ ग्रन्थों को मैंने श्रवणबेलगोल के उत्तरस्थित धर्माख्यपुर के चंद्रप्रभ स्वामी के अनुग्रह से लिखा है' ऐसा कवि का कहना है। इनके "जिनमुनि" ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने गृहस्थाश्रम में स्मरकोरवंजि, नागकुमारषट्पदी, ब्रह्मशतकोष, भारत इन चार ग्रन्थों को और दीक्षा के पश्चात् रुद्रयक्षगान, मुल्लाशास्त्र, परशुराम भारत, भव्यामृत, चंदनेययक्षगान इन पाँच ग्रन्थों को लिखा था।

उल्लिखित कथन से ज्ञात होता है कि परशुराम भारतके अतिरिक्त इन्हीं का बनाया हुआ दूसरा भी एक भारत ग्रन्थ है। परशुरामभारत की रचना १८१० में और जिनमुनिकी रचना १८१४ में हुईहै, ऐसा कवि ने स्वयं प्रतिपादन किया है। इनके कुछ ग्रन्थोंका परिचय इस प्रकार है :—

१ **जिनमुनि** – यह वार्धक षट्पदी में है। इस में संधियाँ ५०, पद्य २५५१ हैं। इस ग्रन्थ में महामंडलेश्वर नागकुमारका चरित्र चित्रित है। कविका कथन है कि वेणुपुरीय श्रावकों की प्रार्थनानुसार मैंने धर्मपुरी

के मंदिर में इसे लिखा। उल्लिखित नागकुमार षट्पदी यही होगा। आरम्भ में चंद्रप्रभ पश्चात् क्रमशः कवि, सरस्वती, गणधर, पूज्यपाद आदिकी स्तुति की गई है।

२ जिनभक्तिसार—यह ग्रन्थ भामिनी षट्पदी में है। इसमें १०८ पद्य हैं और प्रत्येक पद्य "रक्षिसनवरत" के साथ पूर्ण होता है। कविका कहना है कि, यह कृति धर्माख्यपुरके चन्द्रप्रभके अनुग्रह से लक्ष्मीसेनकी भक्ति पर रची गई है। प्रारंभ में चन्द्रप्रभ को स्तुति है।

३ भव्यामृत—इसमें ११० कंद हैं और उनमें आत्मतत्वका वर्णन है। आदि में जिन-स्तुति है। पद्य-संख्या १०७ में कवि कहता है कि, गोम्मटसार तथा प्राभृत ही परमार्थ की माता पिता हैं, ऐसा विश्वास करके और नेमीश्वर स्वामीका स्मरण कर मैंने इसकी रचना की है।

४ परशुरामभारत—यह भामिनी षट्पदी में रचा गया है। इसमें अध्याय २४, पद्य १३६९ हैं। इसमें 'अर' तीर्थंकरके मध्यकालमें स्थित सुभौम-परशुरामकी कथा लिखी हुई है। कथामें लिखा है कि, परशुराम सहस्रबाहुको जीतकर और २१ बार क्षत्रियोंका संहार करके अंतमें सुभौम राजासे मारा गया। कविने इस ग्रन्थको गुत्तिपुरमें रचा है। आरंभमें चन्द्रप्रभ पश्चात् कवि, सुपार्श्व, अर, सिद्ध, सरस्वती, यक्ष इन की स्तुति है।

५ कदंबपुराण—यह भी भामिनी षट्पदीमें है। इसमें १९९ पद्य और कुछ सांगत्य भी हैं। कविने इस ग्रन्थमें यथाशक्ति बहुतसे विषयोंको संगृह किया है। प्रायः इसीसे इसका नाम कदंबपुराण पड़ा होगा। इसमें कविके 'बेट्टवर्धनचरिते' तथा 'मुल्लाशास्त्र' का उल्लेख है। ग्रन्थके प्रतिपादित विषय इस प्रकार हैं:—बौद्धमत की उत्पत्ति, यज्ञका आरंभ, रामानुजमतकी उत्पत्ति, कृष्णका देवत्व, मुल्लाशास्त्रकी उत्पत्ति, श्वेताम्बरोंका प्रादुर्भाव, लिंगधारण, कोमटिग जाति कैसे वैश्य हुई, आदि। इन विषयोंके अतिरिक्त हिमशीतल, विक्रमराय, शालिवाहन, भोज, कूनपाण्डय, होय्सलराय विज्जल, बल्लाल, बेट्टवर्धन, चामुण्डराय इनके विषयमें भी कविने यत्किंचित लिखा है। आरम्भमें जिन तथा सरस्वती की स्तुति है। १७५५ के जयवर्षमें (१८३४) कोड़गु शैव हुआ, ऐसा कविका कहना है।

६ पुराणस्तोत्र—यह वार्धक षट्पदी में है। इसमें ५१ पद्य हैं। इस कृतिमें जिनेश्वरोंके माता पिता, जनन, नगर, वर्ण, यक्ष, लांछन, कर्मक्षयावनि, पञ्चकल्याण आदिका वर्णन है।

७ मुल्लाशास्त्र—यह ग्रंथ भामिनी षट्पदी में है और इसमें ८ आश्वास तथा ४०० पद्य हैं। इसमें लिखा है कि, इन्द्रके द्वारा दूसरे को गणधर पद दिया जाने पर उससे रुष्ट होकर पार्श्व भट्टारकने मुल्लाशास्त्र की रचना करके प्रचार किया। इसकी रचना कविने नांविनकेरे में की थी। आरंभमें चन्द्रनाथ, कवि, सिद्ध, सरस्वती आदि की स्तुति है।

८ जिनरामायण—यह भी भामिनी षट्पदी में है। इस गून्थकी जो प्रति मिली वह अपूर्ण है। उस अपूर्ण प्रतिमें ७४ आश्वास (४३०९ पद्य) और ७५वें आश्वासके कुछ पद्य हैं। गून्थ सामान्य है।

९ हिमशीतलनकथे—यह सांगत्य में है। इसमें ८७ पद्य हैं। इसे 'अकलंकचरिते' भी कहते हैं। इसमें अकलंकस्वामी द्वारा हिमशीतल राजाकी सभामें बौद्धोंके वादमें पराजित होने तथा निष्कासित किये जाकर सिंहलद्वीप भेजे जानेका वृत्तान्त लिखा हुआ है।

१० बेट्टवर्धनचरिते—यह भी सांगत्यमें है।

पद्य १२१ हैं। इसमें रामानुजगुरु-द्वारा तोणुरु में बेट्टवर्धन राजाके वैष्णव बनाने आदिका वर्णन है। आरंभमें चन्द्रप्रभ और सरस्वतीकी स्तुति है।

११ बिज्जणरायपुराण—यह भामिनी षट्पदीमें है। इसमें आश्वास ८, पद्य ४९८ हैं। 'बिज्जण' बसव की बहन गुणवती से विवाह कर उसके लड़के को राजा बनाने का अपने मंत्री तथा बसव आदि को आदेश करके मर गया। जैनियों पर बसव के द्वारा किये जाने वाली हिंसा * को राजकुमार ने देख कर उसे युद्धमें जीत करके जैनियों के कष्टको दूर किया। इस ग्रन्थमें उक्त बातोंका ही विस्तृत वर्णन है।

१६ चारुकीर्ति पण्डित (१८१५)

इन्होंने 'भव्यचिन्तामणि' ग्रन्थ लिखा है। ज्ञात होता है कि, कवि श्रवणबेल्गोल-मठ के भट्टारक थे। इनका कहना है कि, यह ग्रन्थ शक १७३७ के युव संवत्सर (सन् १८१५) में रचा गया है। 'भव्यचिन्तामणि' चम्पूरूप है। इसमें १६ आश्वास हैं। इस कृति में प्रत्येक जिनपूजा में सुख प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की कथा लिखी हुई है। विदित होता है कि, यह ग्रन्थ श्रवणबेल्गोलमें बाहुबली स्वामीके निकटही पूर्ण हुआ है। ग्रन्थारंभमें जिन, सिद्धादिकी स्तुति है।

१७ शान्तराज पण्डित (१८ ०)

इन्होंने लक्ष्मीदेवीको पुष्प पहनाने वाले गीत लिखे हैं। इन्हीं का बनाया हुआ 'सरसजनचिन्तामणि' नामक एक बृहत् संस्कृत काव्य भी है। यह ग्रन्थ सन् १८२० में रचा गया है। इस ग्रन्थसे कविके बारे में निम्न बातें उपलब्ध होती हैं:—

इन का पिता पद्म पंडित, माता केंपदेवम्म, धर्मपत्नी चेलुवम्म, श्वसुर ब्रह्मदेव, मातुल दोड्डय्य और उपाधियाँ असाधारण कलियुग प्रथमदाक्षिणात्य, कविचक्रवर्ती, महाकवि, धर्मचक्रवर्ती थीं। साथ ही, यह मालूम होता है कि, श्रवणबेल्गोलके चारुकीर्ति पंडित से जो वर्षाशन इन्हें मिलता था उसे मैसूर-देवराजने स्वयं देनेको स्वीकार किया था। इन गीतोंके अंतमें मैसूर-राजा मुम्मड़ि कृष्णराजको मंगल हो ऐसा उल्लेख है। इससे जान पड़ता है कि यह कवि उनका आश्रित रहा होगा। कविका जन्म शक१६८४ स्वभानु संवत्सर (१७६३) में हुआ था।

कवि ने १७८९ में 'शाकटायन-प्रक्रिया-संगृह', १८०४ में 'लोकविभाग' तथा १८०८ में 'वृत्तरत्नाकर-व्याख्या' की प्रतिलिपि की थी। ये बातें उल्लिखित तीनों ग्रन्थोंकी प्रतियोंसे विदित होती हैं। और तेरकाणांबिके नेमिचंद्रने कविके लिये १८०४में 'जैनेन्द्रव्याकरण-प्रक्रियावतार' तथा १८०७ में 'उत्तरपुराण' की प्रति लिपि भी की थी। ऐसा इन ग्रन्थोंकी उक्त प्रतियोंसे जाना जाता है।

१८ हिरण्यगर्भ (ल० १८६०)

इन्होंने 'सरस्वतीप्रबन्ध', 'विश्वकृतिपरीक्षण' इन दो ग्रन्थों को लिखा है। मालूम होता है कि, इनका 'राजराज' नाम भी था। इनका निवासस्थान धारवाड़ प्रान्त है। इन्होंने पूर्व कवियोंमें नेमिचन्द्र, अग्गल, होन्न, गुणवर्म, नागवर्म, पंप, केशव, मधुर इन कवियोंका स्मरण किया है। कविने 'विश्वकृतिपरीक्षण' की रचना १८७३ में की है ऐसा जान पड़ता है।

१ सरस्वतीप्रबन्ध—यह चम्पूरूप कृति है। पूर्ण ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला। सुनते हैं कि, इस में १२ आश्वास हैं। ग्रन्थावतारमें पद्मप्रभ, सिद्ध, कवि, वृषभसेन, गौतम, सरस्वती, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अ-

---

* यह बात बिज्जलचरिते, एकादशरुद्रकथा और विजयकुमारिचरितेसे भी सिद्ध होती है। —अनुवादक

कलंक आदिकी स्तुति है। आश्वासोंके अंतमें यह गद्य मिलता है:—

"इदु विदितार्हत्पद-विद्याविनयविरहित-विद्वज्जनाखर्वगर्वकुरंगसंगनिर्धूत-शार्दूलहिरण्य-गर्भकविशिरोमणिविरचित" आदि।

२ विश्वकृतिपरीक्षण—यह गद्य ग्रन्थ है। इसमें नेमिचंद्र और अग्गलके ग्रन्थोंका परामर्श तथा अनुवाद है। कविका अभिप्राय है कि, नेमिचंद्रके बाद केशिराजके 'शब्दमणिदर्पण' के आदि में प्रतिपादित दश कवि थे।

१६ कमल पंडित (१८८६)

इन्होंने रत्नकरण्डकीटीका बनाई है। यह काश्यप गोत्री बोम्मरसके पुत्र थे। इनका स्थान श्वेतपुर था। कविका कथन है कि, मैसूर राजा मुम्मडि कृष्णराजाके आश्रितसूरि पंडितके इच्छानुसार १८६६ (?) में मैंने इस की रचना की है। इस टीकाका नाम 'बालबोधिनी' है।

२० चन्द्रय्य उपाध्याय

इनका स्थान मूडबिद्री और ग्रन्थ 'जैनाचार' है। यह ग्रन्थ सांगत्यमें है।

परिशिष्ट

कविपद्म (१२०५)

इन्होंने बेलूर का ३२२ वाँ शासन (हासन जिले के शासनों का अनुबन्ध) लिखा है। यह बात उसी शासनके अंतिम पद्य से अवगत होती है। इस शासनमें लिखा है कि १२९५ में वर्धमान मलधारि का स्वर्गवास हुआ। उसीके उपलक्षमें दोरसमुद्रके भव्यों ने उनका समाधिस्थान बनवाया है।

(यह कवि प्रथम भाग के अनुवाद में सम्मिलित होने वाला है।)

देवप्प (ल० १५२५)

इन्होंने 'रामविजयचरिते' लिखा है। कविने अपने को 'भूसुरवंशोद्भव' बतलाया है। इनके पितामह होय्सल देशके चंगनाड के सचिवशिरोमणि देवप्प, पिता बुक्करस। इन्होंने अपनेको भी सचिव देवप्प लिखा है। मगर मालूम नहीं होता है कि, कवि किस राजा के सचिव थे। पूर्व कवियोंकी स्तुति करते समय कवि ने 'विजयण्ण' (१४४८) का नाम भी लिया है। इससे विदित होता है कि, यह उक्त 'विजयण्ण' से बादके कवि हैं। गुरुओंका स्मरण करते समय तीसरे मंगरस के समान (१५०८) प्रभेन्दु-श्रुतमुनि के बाद विमलकीर्तिका नाम लिया है। इससे ज्ञात होता है कि मंगरसके कालसे ये कुछ पीछे के हैं। इनका समय लगभग १५२५ होगा। कविका 'रामविजयचरिते' सांगत्य में है। इसमें सन्धियाँ १९, पद्य २५६३ हैं। ग्रन्थ में जैन संप्रदायके अनुकूल रामायणकी कथा लिखी है। ग्रन्थावतारमें जिनस्तुति, पश्चात् कवि, सिद्ध, सरस्वती, इनकी स्तुति है। तदनन्तर पूज्यपाद, अकलंक, समन्तभद्र, कोण्डकुन्द, चारुकीर्ति पंडित, प्रभेन्दुमुनि, श्रुतमुनि, विमलकीर्ति इन गुरुओंकी स्तुति की है। इस कवि की रचना ललित और हृदयंगम है।

वर्धमान (ल० १६५०)

इन्होंने 'श्रीपालचरिते' लिखा है। इनका समय लगभग १६५० है। यह श्रीपालचरिते सांगत्य में है। इसमें संधियाँ २२, और प्रत्येक संधिके अंतमें यह पद्य है—

"मदननिरुपमान मलयाद्रिपवमान
विदितसज्जनसेव्यमान।
मृदुगुणवाभास्यमान नूर्जिसिदनु
चदुर श्रीकविवर्द्धमान॥"

(उक्त दोनों कवि द्वितीय भागके अनुवाद में सम्मिलित होने वाले हैं)

नोट और निवेदन

इस लेखके साथ 'कर्णाटक-कविचरिते' नामक कनड़ी ग्रन्थके तीनों भागोंमें आए हुए जैन कवियोंका संक्षिप्त परिचय समाप्त हो जाता है। पहले भागके ७५ कवियोंका परिचय 'जैनहितैषी' में प्रकट हुआ था और बादको (सन् १९१४ में) 'सुलभग्रन्थमाला' में वह एक अलग पुस्तकके रूपमें भी निकाला गया था। यह पुस्तक मोहोल (शोलापुर) निवासी सेठ शिव-

लालजी की आर्थिक सहायतासे प्रकाशित की गई थी और इसी लिये ४० पृष्ठकी पुस्तक होने पर भी इसका नाम मात्र मूल्य आध आना रक्खा गया था। यह पुस्तक अब वर्षोंसे नहीं मिलती—कितने ही विद्वानोंको इसके लिये भटकते तथा इधर उधर पत्रव्यवहार करते देखा है, कुछको मुझे अपनी पुस्तक उधार देनी पड़ी है। अस्तु; इस भागके शेष २१ कवियोंका हाल, जो बादको मालूम हुआ है, वह अनेकान्तकी इस संयुक्त किरणमें दिया गया। दूसरे भागके ५० जैन कवियोंका परिचय पाठक 'अनेकान्त' की दूसरी, तीसरी, छठी-सातवीं किरणमें पढ़ चुके हैं और तीसरे भागके २० कवियों का परिचय त.ा पहले भागके एक और दूसरे भाग के दो और अवशिष्ट रहे हुए कवियों का परिचय भी, शास्त्रीजी के एक सुन्दर वक्तव्यके साथ, उनके सामने प्रस्तुत है। कर्णाटक जैनकवियों के इस संपूर्ण परिचय से—जिसमें अनेक आचार्य, मुनि, विद्वान्, त्यागी, ब्रह्मचारी, राजा, मंत्री तथा अन्य गृहस्थ शामिल हैं—यह स्पष्ट मालूम होता है कि हमारे सजातीय बन्धुओं ने कर्णाटक प्रदेशमें साहित्यसेवा और उसके द्वारा धर्म तथा समाजकी सेवाका कितना बड़ा भारी काम किया है। उनके द्वारा सैंकड़ों ग्रन्थरत्न रचे गये, जिनकी प्रशंसामें कितने ही अनुभवी अजैन विद्वान् भी मुक्तकंठ और मुक्तलेखिनी बने हुए हैं। इन ग्रन्थोंमें क्या कुछ वर्णित है कौन कौनसी पु.ानी बातें सुरक्षित हैं, कितना इतिहास संग्रहीत है अथवा देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार तथा नये नये अनुभवोंको लेकर क्या क्या विशेषताएँ पाई जाती हैं, इन सब बातोंसे उत्तर भारत के प्राय: सभी जैनी अनभिज्ञ हैं—उन्हें तो ग्रन्थों तथा ग्रन्थकर्ताओंका नाम तक भी मालूम नहीं है और न यही खबर है कि दक्षिण भारतमें हमारा कितना अभ्युदय रह चुका है। रहे दक्षिण भारतके जैनी, उनकी प्रथम तो संख्या ही बहुत कम रह गई है, दूसरे उनमें विद्वानोंकी असाधारण कमी पाई जाती है और तीसरे धनाभाव भी उन्हें बहुत कुछ सता रहा है। इससे वे खुद अपने साहित्यके महत्वसे अनभिज्ञ हैं, कितने ही ग्रन्थरत्नोंको अपने प्रमाद तथा अज्ञानवश खो चुके हैं, उनके द्वारा साहित्यके उद्धार तथा प्रचारका प्राय: कुछ भी काम नहीं हो रहा है। इस दिशामें जो कुछ भी काम हो रहा है वह प्राय: अजैन विद्वानों और अजैन श्रीमानो के द्वारा ही हो रहा है; और इस लिये वे सब हमारे विशेष धन्यवादके पात्र हैं। उनके अंदर यदि उतनी उदारता और गुणग्राहकता न होती तो नहीं मालूम अब तक और कितना कनड़ी साहित्य लुप्त हो गया होता! और आज हम इस परिचयको पानेके भी योग्य न होते।

इसमें सन्देह नहीं कि कर्णाटक साहित्य में जैनधर्मका बहुत कुछ आत्मा मौजूद है और जैन समाजका भी उसके द्वारा बहुत कुछ समीचीन दर्शन हो सकता है; क्योंकि हमारे बहुतसे प्राचीन आचार्य और विद्वान उधर ही हुए हैं और कितने ही जैन राजादिक भी पिछले ज़माने में उधर रह चुके हैं। इस लिये उत्तरभारत के जैनियों का यह खास कर्तव्य है कि वे अपने दक्षिणी भाइयोंकी सहायतासे महत्व के कनडी ग्रन्थोंका राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अनुवाद कराएँ और कनड़ी जैनसाहित्य में जो जो विशेषताएँ हैं उन सब का एक उत्तम संग्रह भी विद्वानों द्वारा हिन्दीमें प्रस्तुत करानेकी योजना करें। इससे हमें अपने पूर्वपुरुषोंके आचार-विचारों तथा इतिहासका बहुत कुछ पता लग सकेगा और हमारे धार्मिक एवं सामाजिक जीवनमें बहुत कुछ प्रगति हो सकेगी।

इस के सिवाय, यह भी निवेदन कर देना ज़रूरी है कि कर्णाटक जैन कवियोंका यह सब (तीनों भाग का) परिचय अब एक अलग पुस्तक के रूप में अच्छी तरतीब देकर और कई उपयोगी अनुमणिकाओं से विभूषित करके निकाला जाय। और वह बिना मूल्य अथवा लागत से भी बहुत कम मूल्यमें वितरण किया जाय। यदि कोई दानी महाशय इस ओर योग देवें तो समन्तभद्राश्रम इस शुभ कार्य को अपने हाथ में ले सकता है। अनुक्रमणिकाओंके साथ यह पुस्तक दस फार्म (१६० पृष्ठ) के लगभग होगी और इसकी लागत २००) रु० के क़रीब आएगी आशा है कोई एक या दो सज्जन शीघ्र ही इस भार को उठानेका श्रेय प्राप्त करेंगे।

—सम्पादक

कालक कुमार

[लेखक—श्री० भीमजी हरजीवन 'सुशील'; अनुवादक—पं० मूलचंद्र जैन 'वत्सल']

(१)

उष के ऊपरसे आवरण हटनेके प्रथम ही नित्य प्रति नियमित रीतिसे धारा नगरीका राजद्वार खुलता, और दो अश्वारोही निर्जन पथ पर से चल कर सुदूर प्रान्त को निकल जाते। कोई नवीन देखने वाला उनको सहबंधु अथवा अंतरंग मित्र समझता। नखसे शिखा पर्यंत उनका वेषभूषा और साज प्राय: समान-सा रहता। उनके मुँह पर राजतेज झलकता था। अंधेरी रात्रिमें योद्धाके हाथ का भाला जिस प्रकार तारोंके तेजमें चमक जाता है, उसी प्रकार उन दोनो अश्वारोहियोंके मुखमंडल पर स्वाभाविक गौरव-तेज प्रकट होकर अंधकार में चक्राकार प्रदीप्त होता था।

वास्तव में ये दोनो भाई-बहन थे। इनको सहबंधु अथवा अंतरग मित्र कहना भी कुछ अनुचित नहीं था। बहनरूप में जन्म लेने पर भी 'सरस्वती' को कालक-कुमार अपने लघु भाई समान समझता और सन्मान करता था। कालक कुमार धारावास नामक मगधदेशकी एक प्रधान नगरी का युवराज था, उसके पिताका नाम 'वैरिसिंह' * था। वैरिसिंहने कुमारी सरस्वतीको राज-कुमारकी समान ही स्वच्छन्द प्रकृति में पालित किया था। वह पुरुषवेषमें कुमारके साथ वनमें जाती, अस्त्र-विद्या सीखती और प्रातः कालके प्रथम ही अंधकारकी कुछ अपेक्षा न करती हुई, भयके स्थानमें निर्भयता-पूर्वक भ्रमण करती थी। राजमहलके कृत्रिम विवेक और दंभपूर्ण सौजन्यमें भाई-बहनका यह निर्मल स्नेह कुछ अलौकिक ही प्रतीत होता था। महासागरके क्षार जलमें मीठे रसकी धारासमान कालक कुमार और सरस्वतीकी स्नेह-सरिता समस्त राजपुर में नितान्त भिन्न प्रकार की थी।

नित्य-नियमानुसार कालक कुमार और सरस्वती आज प्रात: कालके प्रथम उठ कर समीपस्थ वन की ओर जा निकले थे। विलासी नगरवासियोंके जगने के प्रथम ही नगरको लौटकर आजाना दोनोंका नित्य-क्रम था। सरस्वती कुछ विशेष उल्लाससे अपने घोड़ेको आगे आगे चलाती जाती थी, कुमार कालक चिन्ताग्रस्त था, वह सरस्वतीके घोड़के पीछे चलना अपना कर्तव्य समझता था।

घोड़ेका वेग साधारणत बढ़नेसे कालक कुमार विचारनिद्रामें जगा और सरस्वतीको सम्बोधित कर बोला—

"बहन ! क्या शीघ्रता आ पड़ी है। तुम्हें क्या किसी दिन के लिए आज युद्धकी परीक्षा देनी है, जो इतनी शीघ्रतामें घोड़ा दौड़ा रही हो। दो दिन-पश्चात अंत:पुरमें रहना पड़ेगा, तब यह सब तूफान शान्त हो जायगा, फिर कहीं रोना न पड़े।"

सरस्वतीने घोड़ेकी लगाम खैंची, भाईके सम्मुख अपनी दृष्टिको अलक्षित रखकर बोली:—

"स्त्रियोंमें भी तुम्हारे ही समान आत्मा निवास

* कहीं 'वीरसिंह' और कहीं 'वज्रसिंह' नामक भी उल्लेख मिलता है। —सम्पादक

करता है और उन्हें भी आत्मरक्षा करना होती है, और वह तुमसे भी कहीं अधिक।"

इस आक्षेपका उत्तर सरस्वतीको कुछ न मिला। दोनों आगे चले। "अन्तःपुरमें बन्द रहना पड़ेगा और रोना पड़ेगा" यह कहते कह तो गया परन्तु न कहा होता तो उचित था, कालक कुमारने यह पीछेसे समझा। उसका मुँह पश्चात्तापको लिए हुए था; परंतु यह देखने वाला वहाँ कोई नहीं था।

भाई-बहनको अलग होना पड़ेगा, यह विचार आज कुछ दिनोंसे केवल भाई-बहनको ही नहीं किन्तु पिता 'वैरिसिंह' और माता 'सुरसुंदरी'को भी चिंतातुर और उद्विग्न बना रहा था। सरस्वतीको अब विवाहना होगा और कुमारके वेषमें भ्रमण करती पुत्रीको गृहिणी बन कर अज्ञात अन्तःपुरमें बसना पड़ेगा, इतना ही नहीं किन्तु एक दूसरेकी छायासदृश रहने वाले भाई-बहन का परस्पर विछोह होगा यह चिंता उनको शनैः शनैः अधिक सता रही थी। सरस्वतीको कुमारव्रत की गहरी गहरी अभिलाषा है किन्तु सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि उसे अपने लिए नहीं तो भी राज्य-रक्षाके लिए तो अवश्य विवाह करना होगा—कौशल, कौशाम्बी अथवा वैशाली के किसी भी राज्य-कुटुंबकी माँग मगधराजके लिए अवश्य स्वीकार करनी होगी। यदि वह ऐसा न करे तो कुमारीके लिए मगधमहाराज आपत्तिके स्थान बन जाएँ, समीपके क्षुधातुर गृद्ध-समान सामन्तगण मगध को निगल जायँ।

(२)

सरस्वती घोड़े परसे नीचे उतरी, घोड़ेको वृक्षसे बाँध दिया। कुमार कालकने भी घोड़ेसे उतर कर सरस्वतीका अनुकरण किया।

आज यदि नित्य प्रतिके अनुसार उल्लास होता तो दोनों भाई-बहन घोड़ोंको वहीं छोड़ कर बनके अधिकाँश भागमें भ्रमण कर जाते। उनके लिए इस वन का कोई भी मार्ग अथवा स्थल ऐसा नहीं था जो उन से छिपा हो। यहाँ आने पर वे राजकुमार और राजकुमारीकी अवस्थाको भूल कर केवल मात्र मानवबाल बन कर सामान्य गृहस्थ कुमारोंके समान जीवनलीला व्यतीत करने में आनन्द मानते थे।

आज वे उद्विग्न थे, उन्हें किसी भी विनोदमें आनंद ज्ञात न हुआ। उनका निरंतर ही गगनमंडपमें चित्रित प्रभातकालीन विविध प्रकारके दृश्य अवलोकन करनेमें कितना ही समय व्यतीत हो जाता था। आज वे ही बंधु हैं, वही वनराज है, वही सूर्योदय और वही आकाश है। किन्तु भविष्यकी चिंताओंने आज उनके चिर आनंदरसका भक्षण कर लिया था। बहुत समय पर्यंत दोनों मौन रूपसे बैठे रहे।

कुछ समय पश्चात् दोनों भाई-बहन नगर आनेको तत्पर हुए। इतनेमें उन्होंने शहरसे लोगोंके कुछ समूहको अपनी ओर आते देखा। मालूम करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि जिनशासनके एक धुरंधर विद्वान् श्रीगुणाकर सूरि आज धारा नगरीके उद्यानमें संघसहित पधारे हैं।

इस समय मगध जैन शासनका एक पवित्र तीर्थ बना हुआ था। सहस्रों जैन मुनि अहिंसा, सत्य और त्याग धर्मकी महिमाका उपदेश देते हुए मगधको एक देवभूमि बना रहे थे। उत्कृष्टसे उत्कृष्ट भोगोपभोग और उच्च से उच्च कोटिकी त्यागअवस्था इन दोनोंका अपूर्व संगम इस भूमि पर एक समय हुआ था। भोग और त्याग एकही भूमि पर एक ही समय इतने मित्र-भावसे निवास कर सकते थे, इसका अनुभव मातृभूमि मगधने किया था। आजका विलास कुछ समय पश्चात् परम संयम बन जाता था।

कालक कुमार और सरस्वतीने राजगढ़ जाने के बजाए उद्यानकी ओर अपने घोड़ोंको दौड़ाया। जिन शासनके निर्ग्रंथ मुनि निराबाध सुख-शान्तिके एक समुद्र थे, उनके निकट यदि कोई भूल कर भी जा निकले तो उनकी शीतल लहरों तथा सनातन संगीतका आस्वाद लिए बिना पीछे नहीं आ सकता। कुमार और कुमारीको समुद्र के बहुमूल्य रत्नों की अधिक स्पृहा न थी, वे तो क्षणिक शान्ति और तृप्तिकी कामनासे इस ओर आनेको प्रेरित हुए थे। उनका मन आज बहुत उदासीन था; निर्ग्रंथ मुनिके दर्शन एवं उपदेशसे अल्प समयको आश्वासन प्राप्त होगा, इसके अतिरिक्त उन्हें और अधिक कुछ इच्छा न थी।

गुणाकरसूरि इस समय शिष्यसमूहके मध्य में एक वृक्षके नीचे बैठे थे, छोटे छोटे तारागणके समूहमें चन्द्र सदृश उनकी पुण्यप्रभा समीपके समूहको उज्वल करती हुई उद्यानमें पूरित हो रही थी।

कुमार और सरस्वती जब वहाँ पहुँचे उस समय आचार्य महाराज वंदनार्थ आए हुए स्त्री-पुरुषोंको त्याग धर्मकी महिमाका उपदेश दे रहे थे, सदैव आमोद और अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षामें तन्मय रहने वाले कुमार-कुमारी मुनिकी धर्मसभामें आवें, यह एक असाधारण घटना थी, वे दोनों अत्यंत शान्तिपूर्वक श्रोताओंकी श्रेणीमें बैठ गये।

आचार्य महाराज, संसारके प्रपंच, दम्भ और पाखंडका विवेचन करते हुए, समर्थ स्त्री-पुरुषोंका त्याग विश्वके कितने कल्याण पथ पर पहुँच जाता है, यह प्रसिद्ध पुरुषोंके जीवनचरितों परसे समझा रहे थे। संसारी मनुष्योंने अपने लिए एक कारागृह बनाया है जिस कारागृह के अंदर स्वार्थी पाखंडी जीवोंने असंख्य भ्रान्तियोंकी रचना कर भद्र पुरुषोंके नेत्रों पर पट्टी बांधी है, इसका हृदयस्पर्शी चित्र चित्रित करते हुए उन्होंने उपसंहार में कहा—"सर्व कृत्रिमताओंसे निर्मुक्त होकर जिन्हें केवल अपना आत्मकल्याण साधन करना हो उनके लिये जैनशासनके त्यागधर्मके अतिरिक्त अन्य कोई भी उत्कृष्ट मार्ग नहीं।"

व्याख्यान समाप्त होने पर सर्व जनसमूह आचार्य श्रीको प्रणाम कर अपने अपने स्थानको चला गया। कालक कुमार और सरस्वती भी विधिपूर्वक गुणाकरसूरिकी वंदना कर राजगढ़ पहुँचे।

राजकुमार और राजकुमारीने महलमें जाकर निश्चितरूपसे अपनी स्थिति और शक्तिके नापनेका प्रयत्न किया। दोनोंने विचार किया—राज कुटुंबके लिए अनिवार्य ऐसे प्रपंचजालोंमेंसे छूटने और निष्पाप जीवन व्यतीत करनेके लिए जिनशासनद्वारा प्ररूपित संयममार्गके अतिरिक्त और कोई उत्तम उपाय नहीं है। त्यागजीवनकी कठिनाइयाँ उनके लिए नवीन भले ही हों किन्तु उनसे वे अज्ञात नहीं थे, स्वेच्छापूर्वक जो अपने शरीरको कस सकें उनके लिए परीषह क्या कर सकते हैं?

कालककुमार और सरस्वतीने गुणाकर सूरिके समीप जाकर मुनिधर्मकी दीक्षा ग्रहण की। मगधमाताके कीर्तिमंदिर पर यशस्विताका कलश आरोपित किया।

कुमार कालकने अनुक्रमसे आचार्यका पद प्राप्त किया। साधुसंघमें वे 'कालकाचार्य' के नामसे उच्चारित किए जाने लगे। सरस्वती साध्वियोंके समुदायमें विचरण करती अहर्निदश आत्महितका चिंतन करती है। एक दूसरेसे अलग रहने पर भी मानों भाई-बहन एक छत्रकी छायामें रहते हों और एक माता की गोद में क्रीड़ा करते हों, इस प्रकार कृत्रिमतारहित अपने अपने चरित्रका परिपालन करते हैं।

कालकाचार्य एक समय युवराज थे, यह बात लगभग भुला दी गई है। आचार्य अपने पूर्व सम्बन्धों को भी भूल गए होंगे। साध्वी सरस्वतीका उनके पूर्व जीवन के साथ कुछ संबंध नहीं रहा।

(३)

कालकाचार्य विहार करते हुए एक दिन उज्जयिनी नगरीके उद्यानमें विराजमान थे। सरस्वती साध्वियों के समीप किसी एक ग्राममें थी। वह अपने संसारी अवस्थाके भाई और जैनशासनके एक समर्थ आचार्य की वंदनाको आती थी। इतनेमें राजा गर्दभिल्ल अनायास इस मार्गसे होकर निकला। उसने दूरसे सरस्वती को आते हुए देखा। समस्त संसारको शीतलता सिंचन करने वाली यह रूपराशि राजाके हृदयमें प्रचंड अग्नि प्रज्वलित करने लगी। वह जन्मसे ही अत्याचारी था परन्तु अभी तक उसका पाप-घट पूर्ण नहीं हुआ था, अत्यंत अभिमान और पाशविकताने उसे अंधा बना दिया था। 'सरस्वती' एक साध्वी है, सरस्वतीको किसीके हाथका स्पर्श होने पर उज्जयिनीकी समस्त जनता शान्तिभंग कर बैठेगी इस बात का विचार वह नहीं कर सका। कामांध राजा इस समय तो अपराधी की सदृश चुपचाप चला गया। किन्तु अपने सेवकोंसे कहता गया कि 'सरस्वती' जब उद्यान से पीछे लौटे तो शीघ्र ही उसे पकड़ कर राजमहलमें ले आना। अनुचर राह देखते हुए वहाँ खड़े हो गये।

बहुत दिनों के पश्चात आज कालकाचार्य और सरस्वती उज्जयिनीके उद्यानमें मिले थे। दोनों संयमी निर्विकार नयनसे हर्षके आँसुओंसे प्लावित होने लगे।

उद्यानसे पीछे लौटती सरस्वतीको राजाके अनुचरोंने नगरमध्यमेंसे पकड़ कर पालकी में बैठाया और बलात् ले जाकर राजाके अंतःपुरमें छोड़ दिया। सहस्रों नगरनिवासी यह सब दृश्य नेत्रोंके सामने देखते रहे किन्तु कोई भी सम्मुख आकर और लाल आँखें करके इस अनाचारका वीरोचित प्रतिकार न कर सका। यदि वे निर्बल और अशक्त मनुष्य तनिक भी हिम्मतके साथ समीप आकर इस नरराक्षसके अनुचरोंको पकड़ लेते तो शायद वे पृथ्वीमें समा जाते! परंतु इस समय तो उज्जयिनी निःशक्त बनकर बैठ गई थी। उसके निवासी विलास और विनोदकी मधुर किन्तु जहरीली लहरोंमें मस्त थे। न्याय अथवा पवित्रताका रक्षण करनेकी अपेक्षा देहकी रक्षा करना ही उनके लिए अधिक महत्व की वस्तु बनी हुई थी।

सरस्वतीका बलात् हरण होनेसे उज्जयिनी-नगरवासियोंने बिजली-जैसे चमत्कारका अनुभव किया। भयंकर उल्कापातके भयसे वे गृहोंमें प्रवेश करने लगे। व्यवसायी वर्ग दुकानें बन्द कर जीवनसंरक्षणकी आशासे अपने अपने घर चला गया। देखते देखते उज्जयिनीमें हाहाकार फैल गया। साध्वीका अपहरण यह केवल स्त्रीजाति पर अत्याचार ही नहीं था किंतु संप्रदायमात्रके संघका यह घोर अपमान था। दुर्भाग्य से इस समय उज्जयिनी में कोई एक भी वीर पुरुष नहीं था। गर्दभिल्लको उसके सिंहासन परसे उतार कर —नीचे पटक कर—उसके पापका प्रत्यक्ष बदला देता ऐसी किसीमें शक्ति नहीं थी।

शृंगार, आमोद और प्राणसंरक्षणके प्रवाहमें पड़ी हुई प्रजाके मस्तक पर कलंकके अतिरिक्त और अन्य क्या हो सकता था? उज्जयिनीके इतिहासमें एक साध्वीके अपहरणका काला कलंक अंकुरित हुआ।

कालकाचार्यने इस बातको मालूम किया। सोता हुआ सिंह अचानक छेड़ा जाय उसी प्रकार यम, नियमके बंधनमें बंधा रहने वाला उसका स्वाभाविक

क्षत्रियत्व अधिक वर्षों के पश्चात् आज अचानक ही चमक उठा।

एक समय था जब सरस्वती के सम्मुख ऊँची दृष्टि करके देखने का किसी को साहस न होता, वह न सरस्वती के किंचित् संतोष के लिए वह मगध की राज्यलक्ष्मी को तुच्छ समझता। उसी सरस्वती को अपने सम्मुख उज्जयिनी का एक स्वेच्छाचारी राजा बलात्कार अपने अन्तःपुर में ले जाय, इसमें उसने राजा और प्रजा दोनों का प्रलयकाल समीप आता हुआ देखा। इस अत्याचारी राज्यका आज अंत आ गया, ऐसा उसका संयमी अंतःकरण बोल उठा। कालकाचार्यमें बसा हुआ कालक कुमार विकराल रूप धारण कर उठा।

उद्यानसे वह उसी समय गर्दभिल्लके महल की ओर चला। जनताने समझा कालकाचार्य होश-कोश खो चुका है, उसका मस्तिष्क विकृत हो गया है, वह साधु है—निःशस्त्र है—अकेला है। यदि वह स्वस्थ होता तो राजा के समीप इस प्रकार दौड़कर जाने का साहस न करता। किन्तु लोग यह क्या जानें कि कालकाचार्य का शरीर तो मगध की मिट्टी से बना हुआ था, उज्जयिनी की कायरता उस का स्पर्श नहीं कर सकी थी।

विश्वका ग्रास करने के लिए उमड़ी हुई दावाग्नि की सदृश वह गर्दभिल्लके राजमहलमें गया। द्वारपाल अथवा कोई अन्य सैनिक कालकाचार्य को रोक नहीं सका। आज तो उसके सम्मुख निरीक्षण करने वाला जल जाय, इस प्रकारकी ज्वालाएँ उसके रोम-रोमसे निकलती थीं। कालक कुमार आज काल-भैरवके तांडव नृत्य की तैयारी कर रहे थे।

गर्दभिल्ल और उसके अनुचर कालकाचार्य को देखकर घबराये। पापी जिस प्रकार पुण्यमूर्ति को देख कर घबराता है उसी प्रकार ये नारकी जीव कालकाचार्य को देख कर भयभीत बन गये। छह काय के जीवों की रक्षा करने वाले एक जैन मुनि प्रतापी राजा के सामने आकर प्रतिकारका एक शब्दमात्र भी न कह सकेंगे ऐसा उसने समझ रक्खा था, किन्तु उसकी यह आशा व्यर्थ निकली। जो दावानल दूर दूर लगता उसी दावानल की ज्वाला इस समय राजा और राज्य को भक्षण कर जाएगी ऐसा उसे भय हुआ।

"गर्दभिल्ल! अब भी प्रायश्चित्तका समय है, सरस्वती को छोड़ दे, जैन शासन की वह एक पवित्र साध्वी है; इतना ही नहीं किंतु वह धारावास-राज्य की राजपुत्री है, उसका एक बाल बाँका होने के प्रथम ही उज्जयिनी उजाड़ हो जायगी, एक दुष्टके पाप से सहस्रों निर्दोषों का रक्त बह जायगा"

कालकाचार्यके ये शब्द पंचजन्य शंखनादकी भांति महल में गूँज उठे।

सरस्वती धारावास-राज्य की राजकन्या और कालकाचार्य धारावासके राजकुमार कालक कुमार हैं, इस बातका ज्ञान गर्दभिल्लको आज ही हुआ। सरस्वतीके अपहरण का अयोग्य साहस वह करते तो कर गया परन्तु इससे पीछे कैसे हटा जाय इसका उचित उपाय उसे नहीं सूझ पड़ा—प्रतिष्ठा और वासनाकी अस्पष्ट अनल उसके हृदय में सुलगने लगी।

गर्दभिल्ल ने कालकाचार्य की इस उद्धतता का उत्तर शब्दों की अपेक्षा शस्त्रसे देने का निर्णय किया। इशारा पाते ही राजाके रक्षक म्यानसे तलवार निकाल कर कालकाचार्यके सामने खड़े हो गए।

"मुझे भी एक समय तुम्हारे जैसे शस्त्रों में श्रद्धा थी, और आज भी यदि इस मुनिवेष को अलग कर

इच्छा करूँ तो शस्त्र का उपयोग कर सकता हूँ। परंतु ऐसा समय आनेके प्रथम ही शांतिपूर्वक समझा देना मेरे मुनिधर्मका कर्तव्य है, पश्चात् कोई यह न कहे कि जैन शासनके एक मुनि ने अपनी बहनके लिए जैन धर्म की आज्ञाका उल्लंघन किया—समस्त जैन संघका मस्तक लज्जा से नमाया। मुनि तथा क्षत्रिय कुमार मृत्यु से तो निर्भय होते हैं।" परम शांति से इतना कहते हुए कालकाचार्य गर्दभिल्लके राजमहल से पीछे लौट आए।

राजमहल की सीढ़ियोंसे उतरते हुए वे शीघ्रता से आगे बढ़े, किन्तु प्रवेशद्वार पर पहुँचने के प्रथम ही वे चौंके और एक क्षण को वहीं खड़े हो गए। दाहिनी ओर राजा का अन्तःपुर था उसी ओर कान लगाया:—

"कोई रोता हो ऐसा ज्ञात होता है! सरस्वती तो नहीं!" अशक्त वृद्ध पुरुष के दीर्घ श्वास की सदृश उस . मुँहसे ये शब्द निकले।

"नहीं! सरस्वती रुदन करती है, यह केवल मात्र भ्रम है! इसने एक बार कहा था कि स्त्रियोंमें पुरुषों की सदृश आत्मा विराजमान है, इतना ही नहीं किंतु पुरुषों की अपेक्षा उनमें विशेष आत्म-रक्षण शक्ति है"

सरस्वती स्वयं अपने शीलव्रतके रक्षणमें संपूर्णतः समर्थ है, यह विचार करते हुए कालकाचार्यने हृदयस्थ निर्बलता को निकाल डाला। वह द्विगुणित बल तथा उत्साहसे आगे चला और किसी से कुछ कहे बिना उज्जयिनी की सीमा का उल्लंघन कर गया।

लोग कहते थे कि—"कालकाचार्य बेचारा विक्षिप्त हो गया है, जैन मुनि को इतना क्रोध नहीं चाहिए"

(४)

समय जाने के साथ बात विस्मरण होने लगी। राजा गर्दभिल्ल ने विचार किया, कालकाचार्य बेचारा जैन साधु! केवल धमकी देकर देश छोड़ कर चला गया है।

इतना समय व्यतीत होने पर भी सरस्वती मात्र अपने भाई के आगमन की प्रतीक्षा करती अन्तःपुर की एक अँधेरी कोठरी में बँद रह रही थी। गर्दभिल्ल ने बल अथवा लालच-द्वारा उसे वश करने की आशा त्याग दी थी। असह्य एकान्त तथा यंत्रणा के कष्टसे मुक्त होने के लिए आज नहीं तो कल अवश्य ही मेरे पैरों पड़ती हुई आवेगी, इस प्रकार मन को संतोषित कर वह अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने लगा।

सिंधु नदी के तट पर रहने वाली शक जाति के बहुत से सामंत एक साथ उज्जयिनी नगरी पर टूट पड़े। टिड्डियों का समूह जिस प्रकार नभ मंडल को आच्छादित कर देता है उसी प्रकार इन सामंतों का सैन्यसमूह मालव देश की भूमि पर फिरने लगा।

अभिमान में अंधा हुआ मालवपति गर्दभिल्ल विलासनिद्रा से जागृत हो इसके प्रथम ही उज्जयिनी का अजेयगढ़ टूट गया। जिस प्रकार तालाब की पाल टूटते ही कल-कल नाद करता प्रचंड वारिवेग सहस्रमुख से बह निकलता है उसी प्रकार सैनिक गण अमरपुरी जैसी उज्जयिनी में घूमने लगे। एक घड़ी प्रथम जहाँ नृत्य, गीत और आमोद की लहरें उछलती थीं वहाँ भय और चिंताका वातावरण व्याप्त हो गया। भूकंप के वेग से कंपित होने पर समुद्र का जल अचानक अदृश्य हो कर जिस प्रकार तली में रहने वाले धारदार पत्थर निकल आते हैं उसी प्रकार उज्जयिनी

का प्रमोद जल सूख गया और उसके स्थान पर शक-सैन्य की मूर्ति- मान दीवार खड़ी हो गई।

सैन्यसंचालकके रूपमें स्वयं कालकाचार्यको सन्नद्ध हुआ देख कर उज्जयिनी की जनता ने अनुमान किया कि, यह आक्रमण निष्प्रयोजन अथवा अनायास ही नहीं हो रहा है किन्तु साध्वी सरस्वतीके अपहरण का यह प्रायश्चित्त है।

उज्जयिनीमें अपने सामंतों-समेत प्रवेश कर कालकाचार्यने गर्दभिल्लको पकड़ लिया। उज्जयिनीको उजाड़ बना देने की एक बार दी हुई धमकी केवल दुर्बल वैरागीका वाग्वैभव नहीं था किन्तु एक समर्थ पुरुष की प्रतिज्ञा थी, यह गर्दभिल्लको समझा दिया—एक जैन साधु शासनको अपमानित होनेसे बचानेके लिए भीषण युद्धका सेनापति भी हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करा दिया।

बंदी गर्दभिल्ल आज असहाय था, पापकी क्षमा-याचना माँग कर जीवनदान प्राप्त करने के अतिरिक्त उसके लिए कोई अन्य उपाय नहीं था। उसने एक अपराधीकी भान्ति कालकाचार्यसे क्षमा माँगी और सरस्वतीको कारागृहसे मुक्त करनेका वचन दिया।

कालकाचार्यको केवल इतना ही इच्छित था, उन्होंने गर्दभिल्लको तत्काल बन्धनमुक्त कर दिया। सरस्वती भी बन्धनमुक्त हुई। गर्दभिल्लने इसके पश्चात भविष्यके लिए किसी साध्वी अथवा गृहस्थ महिलाके प्रति कुदृष्टि न करने की और राजनीतिके पथ पर शासन करनेकी प्रतिज्ञा ली।

आचार्यका उद्देश्य पूर्ण हुआ। अब एक पल भर शकसैन्यको उज्जयिनीमें रहने देना उन्हें अन्याय प्रतीत होने लगा। समस्त सामंतगण उनके आज्ञाकारी शिष्य-समान थे। सामन्तगणोंने वहाँसे हट कर सौराष्ट्र-प्रदेश में प्रवेश किया और वहाँ स्वतंत्र राष्ट्र निर्माण किया।

कालकाचार्यने आत्मसाक्षी-सहित प्रायश्चित्त लेकर अपनेको विशुद्ध किया और पहले की तरह महाव्रतों का पूर्णरूपसे परिपालन करते हुए विचरण करने लगे।

महाशक्तिशाली प्रभावशील व्यक्तियोंकी श्रेणीमें कालक सूरिका नाम जैनशासनके एक महान ज्योतिर्धरके रूपमें अब तक प्रकाशित हो रहा है *।

'पक्षपातदृष्टि' गुण दोषोंका विवेक नहीं होने देती। वह मनुष्य को हठग्राही बना देती है। उसमें श्रद्धा के न होते हुए भी, कषाय वश, किसी बात पर व्यर्थ का आग्रह किया जाता है; और आग्रही मनुष्य युक्तियों को खींच-खाँच कर उस ओर ले जाने की चेष्टा किया करता है जिधर उसकी मति ठहरी हुई होती है। विपरीत इसके, 'अपक्षपातदृष्टि' गुणदोषों के विवेकमें प्रधान सहायक है। वह मनुष्यको न्यायी, नम्र और गुणग्राहक बनाती है। उसके कारण सत्पुरुषों को, परीक्षा-द्वारा सुनिर्णीत होनेपर, अपनी पूर्व श्रद्धा तथा प्रवृत्ति को बदलनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। वे अपनी बुद्धि को वहाँ तक लेजा कर स्थिर करते हैं जहाँ तक युक्ति पहुँचती है—अर्थात, उनकी मति प्रायः युक्त्यनुगामिनी होती है।

- स्वंद विचार।

* गुजराती 'प्रभा' से अनुवादित।

सुभाषित मणियाँ

प्राकृत—

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया।
विसकंटको व्व हिंसा परिहरिदव्वा तदो होदि ॥

—शिवार्य।

'वास्तवमें, जीवोंका वध अपना ही वध है और जीवोंकी दया अपनी ही दया है। इस लिये हिंसाको विषकण्टकके समान समझ कर दूरसे ही त्याग देना चाहिये।'

[जीववधके समय क्रोधादिक कषायोंकी उत्पत्ति होती है और कषायें आत्माका घात करती है। इसके सिवाय जीववधके परिणाम-स्वरूप जन्मान्तरोंमें अनेक बार अपनेको दूसरेके हाथोंमें मरना पड़ता है। इस लिये जीववध वास्तवमें आत्मवध है और इसी प्रकार जीव दयाको आत्मदया समझना चाहिए।]

रायदोसाइदीहिंय डहुलिज्जइ ऐव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ॥

—देवसेनाचार्य।

'जिसका मनोजल राग-द्वेषादि कल्लोलोंसे नहीं डोलता है वही आत्मतत्त्वका दर्शन करता है। प्रत्युत इसके, जिसका मन रागद्वेषादिक की लहरोंमें पड़कर डावाँडोल रहता है उसे आत्मतत्त्वका दर्शन नहीं होता।'

इंदियकसायणिग्गहणिमीलिदस्स हु पयासदि णाणं। रत्तिचरखुणिमीलस्स जधा दीवो सुपज्जलिदो॥

—शिवार्य।

'इंद्रियों तथा कषायोंके निग्रह से जो रहित है—उस ओर उपेक्षा धारण किये हुए है—उसके ज्ञानका प्रकाश नहीं होता। जैसे आँख बन्द कर लेने वालेको रात्रि के समय सुप्रज्वलित दीपक भी कुछ दिखा नहीं सकता। भावार्थ—ज्ञानदीपकके प्रकाश से लाभ उठानेके लिये इंद्रिय-कषायोंका वशमें करना आँख खोलनेके समान है।'

दंसणु णाणु चरित्तु तसु जो समभाउ करेइ।
इयरहं एक्कु वि अत्थि ण वि, जिणवरु एउ भणेइ॥

—योगीन्द्रदेव।

'सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों उसीके होते हैं जो समभाव धारण करता है। जो साम्यभाव से रहित है उसके इन तीनोंमेंसे वास्तवमें एक भी नहीं बनता, ऐसा भगवान् ने कहा है।'

[जान पड़ता है इसीसे यह कहा गया है कि **'समभाव-भाविअप्पा पावइ मोक्खं ण संदेहो'**—जो साम्यभाव से भावितात्मा है वह निःसन्देह मोक्षको प्राप्त होता है, क्योंकि मोक्षके कारण सम्यग्दर्शनादिक उसी के आश्रित हैं।]

इंद्रियकसायवसिगो मुंडो णग्गो य जो मलिणगत्तो।
सो चित्तकम्मसमणो व समणरूपो असमणो हु ॥

—शिवार्य।

'जो इन्द्रिय-कषायोंके वशीभूत है वह मुंडितशिर, नग्न और मलिनगात्र होने पर भी चित्रामका-सा मुनि है—मुनि जैसे रूपको लिये हुए है—वास्तवमें मुनि नहीं है।'

[इससे मुनिके लिये इन्द्रियों तथा कषायोंका वश करना सबसे मुख्य कर्तव्य है।]

संस्कृत—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥

—स्वामी समन्तभद्र ।

'जो मनुष्य अपने कुल जाति आदिके अभिमानमें गर्वितचित्त हुआ दूसरे धर्मात्माओंका—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय धर्मसे युक्त अन्य कुल-जाति आदिके व्यक्तियोंका—तिरस्कार करता है वह अपने धर्मका ही तिरस्कार करता है; क्योंकि धर्म धर्मात्माओंके बिना नहीं होता—धार्मिककी अवज्ञा वास्तवमें धर्म की ही अवज्ञा है ।'

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥
यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥

—पूज्यपादाचार्य ।

'ज्यों ज्यों आत्मतत्त्वका अनुभव होता जाता है त्यों त्यों इन्द्रियविषय सुलभ होते हुए भी नहीं रुचते । और ज्यों ज्यों इन्द्रियविषय सुलभ होते हुए भी नहीं रुचते त्यों त्यों आत्मतत्त्वका अनुभव बढ़ता जाता है ।'

(इससे मालूम होता है कि हमारे आत्मानुभवमें इन्द्रियविषय बाधक हैं । इनकी रुचि वास्तवमें जितनी कम होती जाती है उतना ही आत्मानुभवका मार्ग प्रशस्त होता जाता है ।)

तत्त्वज्ञानं च मोघं स्यात्तद्विरुद्धप्रवर्तिनाम् ।
पाणौ कृतेन दीपेन किं कूपे पततां फलम् ॥

—वादीभसिंह सूरि ।

'उन लोगोंका तत्त्वज्ञान व्यर्थ है जो उसके विरुद्ध आचरण करते हैं । क्योंकि, कुएँमें गिरने वालोंके हाथ में दीपक होनेसे क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं ।'

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुञ्चति ।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ॥

—ज्ञानार्णव में उद्धृत ।

'रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और वीतरागी जीव उन्हें छोड़ता—अथवा उनके बन्धनसे छूटता—है यही बन्ध-मोक्षके विषयमें जिनेन्द्रका संक्षिप्त उपदेश है ।'

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चयः ।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिकं मनः ॥

—शुभचन्द्राचार्य ।

'जहाँ राग क़दम रखता है वहीं द्वेष पहुँच जाता है, यह निश्चय है । इन दोनोंका आश्रय लेकर ही मन अधिक विकारको धारण करता है ।'

"*जयेत्सदा क्रोधमुपाश्रितः क्षमां
जयेच्च मानं समुपेत्य मार्दवं ।
तथैव मायामपि चार्जवाज्जये-
ज्जयेच्च संतोषवशेन लुब्धताम् ॥
जिताः कषाया यदि किं न तैर्जितं
कषायमूलं सकलं हि बन्धनम् ।"

'सदा क्षमाको आश्रित कर क्रोधको जीतना चाहिये, मार्दवको लेकर मानको जीतना चाहिये, आर्जवसे मायाको जीतना चाहिये और संतोषके द्वारा लोभको जीतना चाहिये । जिन्होंने इन कषायोंको जीत लिया है उन्होंने क्या नहीं जीता ? सब कुछ जीत लिया है । सम्पूर्ण बन्धनका मूल कारण कषाय ही है ।'

* ये वाक्य 'भगवती आराधना'की अपराजित सूरि-विरचित टीका में 'उक्तं च' रूपमें दिये हैं । किस ग्रन्थके ये पद्य हैं, यदि कोई भाई इस बातको सूचित करनेकी कृपा करेंगे तो मैं उनका आभारी हूँगा ।

हिन्दी—

जोई दिन कटै सोई आव में अवश्य घटै,
बूँद बूँद बीतै जैसे अंजुली को जल है।
देह नित छीन होत नैन तेज-हीन होत,
जोबन मलीन होत छीन होत बल है॥
आवै जरा नेरी तजै अन्तक अहेरी आवे,
पर भौ नजीक जात नर भौ निफल है।
मिलकै मिलापी जन पूछत कुशल मेरी,
ऐसी दशा माहीं मित्र! काहे की कुशल है?
× × —भूधरदास।

"न जानके भी अनलप्रदीप, पतंग! जाता उसके समीप।
अहो! नहीं है इसमें अशुद्धिः विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।

जो तोको काँटा बुवै ताहि बोय तू फूल।
तोको फूल के फूल हैं वाको हैं तिरसूल॥
× × —कबीर।

मुर्दा वही कहाता, जो नर पुरुषार्थहीन होता है।
अथवा भीरु, नपुंसक, कायर इत्यादि नाम हैं उसके॥
× × —दरबारीलाल।

चाहत है धन होय किसी विधि तौ सब काज सरें जियराजी।
गेह चिनाय करूँ गहना कछु, ब्याहि सुतासुत बांटिय भाजी॥
चिंतत यौं दिन जाहिं चले, जम आनि अचानक देत दगाजी।
खेलत खेल खिलारि गये 'रहि जाय रुपी शतरंजकी बाजी'॥
× × —भूधरदास।

"मक्खी बैठी शहद पै पंख गये लिपटाय।
हाथ मलै अरु सिर धुनै लालच बुरी बलाय॥"
× × ×

"पूत कपूत तो क्यों धन संचै? पूत सपूत तो क्यों धन संचै?
× × ×

फैले प्रेम परस्पर जगमें, मोह दूर पर रहा करे।
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द नहिं कोई मुखसे कहा करे।
बनकर सब 'युग-वीर' हृदयसे देशोन्नति-रत रहा करें।
वस्तुस्वरूप विचार खुशी से सब दुख-संकट सहा करें।
× × —'युगवीर'।

उर्दू—

इक खाकके हैं पुतले भारत-सपूत हैं सब।
गर ये अछूत हैं तो हम भी अछूत हैं सब।
× × —'बर्क़'।

बाक़ी है दिल में शेख के हसरत[1] गुनाह[2] की।
काला करेगा मुँह भी जो दाढ़ी सियाह की॥
× × —'ज़ौक़'।

है तजुस्सस[3] शर्त याँ मिलने को क्या मिलता नहीं?
पर कहीं दुनियाँ में सादिक़-आश्ना[4] मिलता नहीं॥
× × —'अमीर'

यह लिबासे हयात[5] फ़ानी[6] है।
नक़शे-बर-आबे-ज़िन्दगानी[7] है॥
× × —'सौदा'।

इन्साँ[8] गुहर[9] है इल्मोफ़न[10] उसमें है आबोताब[11]।
बे-आबरू[12] है आदमी को इल्म गर नहीं॥
× × —'शेर'।

बात सच्ची कही और उंगलियाँ उट्ठीं सब की।
सच में 'हाली' कोई रुसवाई सी रुसवाई[13] है॥
× × —'हाली'।

गुर्बतनसीब[14] हैं हम खुद अपने ही वतन[15] में।
जल जाएँ शाख पर जो वे फूल हैं चमन[16] में॥
× × —'बर्क़'।

कितने मुफ़लिस[17] हो गये कितने तवंगर[18] हो गये।
खाक में जब मिल गये दोनों बराबर हो गये॥
× × —'ज़ौक़'।

सर्कश[19] को बाग़े-दहर[20] में नेकी का फल कहाँ।
देखो कि सर्व[21] में कभी होता समर[22] नहीं॥
× × —'शेर'।

१ उत्कंठा. २ पाप. ३ खोज. ४ सच्चा मित्र. ५ जीवनरूपी शरीर. ६ नश्वर ७ जीवनजल पर चित्र-जैसा है. ८ मनुष्य. ९ मोती. १० विद्या और कला-कौशल. ११ चमक दमक. १२ बे-इज्जत-अप्रतिष्ठित. १३ अवज्ञा अप्रतिष्ठा. १४ दीनताको प्राप्त. १५ घर-देश. १६ बाग-उपवन. १७ निर्धन-गरीब. १८ अमीर-धनाढ्य. १९ अहंकारसे सिर ऊँचा किये हुए. २० समयोपवन. २१ वृक्ष-विशेष. २२ फल.

सिद्धसेनका 'सिद्धिश्रेयसमुदय' स्तोत्र

अथवा

एकादश मंत्रराजोपनिषद्गर्भित 'इन्द्रस्तव'

अर्सा हुआ पं० अर्जुनलालजी सेठी सुबह के वक्त नित्य सामायिकके साथ एक गद्य स्तोत्र पढ़ा करते थे। मुझे वह पसंद आया और इस लिये मैंने उसी वक्त के करीब उनकी मार्फत उसकी एक प्रति जयपुरसे मँगाई थी। यह स्तोत्र सिद्धसेनाचार्यका 'सिद्धिश्रेयसमुदय' नामका स्तोत्र है, जिसे 'इन्द्रस्तव' या 'शक्रस्तव' भी कहते हैं, और जो प्रतिके अंतिम भाग परसे एक प्रकारका 'सहस्रनाम' भी जान पड़ता है। इसमें ग्यारह मंत्रराज तथा पाँच स्तुति-पद्य हैं और अंतमें स्तोत्रका माहात्म्य भी बहुत कुछ वर्णित है। बहुतसे शास्त्र-भंडारोंको देखने पर भी यह स्तोत्र मुझे अन्यत्र कहीं नहीं मिला और न किसी दूसरेको इसका पाठ करते ही देखा है। मुझे इसका मुखपाठ करते हुए देख कर कितने ही सज्जनोंने इसकी कापीके लिये इच्छा प्रकट की; परंतु उस समय प्रति पास न होने और मुखसे बोल कर लिखा देनेका अवसर न मिलनेके कारण मैं उनकी इच्छाको पूरा नहीं कर सका। अब कुछ दिनसे यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस स्तोत्रको 'अनेकान्त' में प्रकट कर देना चाहिए, जिससे सभी सज्जन इससे यथेष्ट लाभ उठा सकें। इस विचारके हृदयमें आते ही चंदरोज़ हुए मैंने मुनि पुण्यविजयजी को लिखा, यदि वे पाटनके भंडारोंसे इसकी कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्त करके मुझे भिजवा सकें, जिससे संशोधनादिकके कार्यमें मदद मिल सके। उन्होंने मेरी इस प्रार्थना पर तुरंत ध्यान दिया और खोज कर के एक प्रति भेज दी, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। उन्हें इस समय यही एक प्रति उपलब्ध हो सकी है, जो बहुत कुछ साधारण तथा अशुद्ध जान पड़ती है और जिसके अंतमें स्तोत्रका विस्तृत माहात्म्य तथा स्तोत्रकर्त्ताके नामका अंतिम पद्य भी दिया हुआ नहीं है। हाँ, स्तोत्रकर्त्ताका नाम शुरू* तथा अंतमें 'सिद्धसेन दिवाकर' लिखा हुआ है; जब कि जयपुरकी प्रतिमें वैसा कुछ नहीं है। उसमें अपने तौरसे शुरू या अंतमें स्तोत्रकर्त्ताका कोई नाम नहीं दिया, केवल स्तोत्रकी समाप्तिसूचक वह पद्य ही दिया है जिसमें स्तोत्रकारका नाम मात्र 'सिद्धसेन' दिया हुआ है—लिखा है कि 'जैसे इन्द्रने प्रसन्न होकर अर्हन्तोंका स्तवन किया है वैसे ही सिद्धसेनने यह संपदाओंका स्थान स्तोत्र रचा है।' और इससे यह स्तोत्र 'अर्हत्स्तोत्र' जान पड़ता है; मात्र वर्द्धमान (महावीर)-स्तोत्र नहीं, जैसा कि पाटनकी प्रतिके अंतमें सूचित किया गया है। अस्तु; ये सिद्धसेन 'दिवाकर सिद्धसेन' थे या कोई दूसरे सिद्धसेन, यह बात अभी निर्णयाधीन है और इसलिये ठीक नहीं कही जा सकती। पाटनकी इस प्रतिमें और भी जो कुछ महत्वका पाठभेद है उसे फुटनोटों के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। बाकी साधारण अशुद्धियाँ

* शुरू में शीर्षक के तौर पर लिखा है:—
"अथ श्रीसिद्धसेनदिवाकरकृतः शक्रस्तवः"

छोड़ दी गई हैं।

स्तोत्रके माहात्म्यमें इस स्तोत्रको अष्ट महासिद्धियोंका दाता, सर्व पापोंका निवारक, सर्व पुण्यका कारण, सर्व दोषोंका हर्ता, सर्व गुणोंका कर्ता और महाप्रभावको लिये हुए बतलाया है। साथ ही, यह भी लिखा है कि इस एकादश मंत्र राजोपनिषद् गर्भित स्तोत्र को जपने, पढ़ने, सुनने, गुनने और बारबार चिन्तवन करने वाले भव्य जीवोंके लिये ऐसी कोई भी सद्वस्तु नहीं है जो उन्हें प्राप्त न हो सके; उन पर भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिकदेव प्रसन्न होते हैं; उनकी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं; पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश उनके अनुकूल होते हैं; उन्हें सर्वसंपदामूल जनानुरागकी प्राप्ति होती है; साधुजन प्रसन्न-चित्त से उन पर अनुग्रह करते हैं। उनको हानि पहुँचाने वाले दुष्टजन शान्त हो जाते हैं, जल-स्थल-गगनचारी क्रूर जन्तु भी उनके साथ मैत्रीभावको धारण करते हैं, इह लोक-सम्बन्धी शुद्ध गोत्र स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, जीवन, यौवन, रूप, आरोग्य और यश जैसी सभी संपदाओंकी उन्हें प्राप्ति होती है; और क्या, स्वर्गापवर्गकी लक्ष्मियाँ (विभूतियाँ भी उन्हें क्रमशः वरनेके लिये समुत्सुक होती हैं।

स्तोत्र एक दृष्टिसे प्रायः सुगम है और इस लिये उसका अर्थ देनेकी कोई खास ज़रूरत नहीं समझी गई। हाँ, इतना ज़रूर बतलाना होगा कि इस स्तोत्रमें अर्हन्त देवका बहुलसे ऐसे नामोंके द्वारा उल्लेख अथवा स्तोत्र किया गया है, जो हिन्दू देवताओं के प्रसिद्ध नाम हैं। ये सब नाम शुभ अर्थों तथा उत्तम गुणोंके द्योतक हैं और इस लिये अनेकान्तात्मक उदार दृष्टि से उनका अर्हन्तमें समन्वय किया गया है—वे अर्हन्तोंके गुणप्रत्यय नाम हैं, रूढ्यात्मक नहीं। अनेक सहस्र नामोंमें इस प्रकारके नाम पाये जाते हैं। इस प्रकारके स्तोत्रों द्वारा परस्पर सद्भावकी वृद्धि होती है और एकको दूसरेके देवताका नाम लेकर गाली देने बुरा-भला कहने अथवा उसके प्रति अपशब्दोंका प्रयोग करने के लिये कोई स्थान नहीं रहता। और इसमें यह स्तोत्र स्तोत्रकारकी महती उदारताका द्योतक है। अनेकान्तदृष्टिको स्पष्ट करते हुए, इस स्तोत्रकी पूरी व्याख्या करनेके लिये अधिक विस्तार की ज़रूरत है। अस्तु।

जिन भाईयोंको इस स्तोत्रकी कोई प्रति किसी भंडारमें उपलब्ध होवे उनसे निवेदन है कि वे नीचे प्रकाशित स्तोत्र परसे तुलना करके, उसकी विशेषताओंको नोट करके भेजनेकी कृपा करें। और यदि इस पर कोई संस्कृत टीका भी उपलब्ध हो तो उससे ज़रूर सूचित करें।

—सम्पादक

'सिद्धिश्रेयसमुदय' स्तोत्र

ॐ नमोऽर्हते परमात्मने परमज्योतिषे परमपरमेष्ठिने परमवेधसे परमयोगिने परमेश्वराय तमसः परस्तात् सदोदितादित्यवर्णाय समूलोन्मूलितानादिसकलक्लेशाय ॥ १* ॥

ॐ नमो भूर्भुवः स्वस्त्रयीनाथमौलिमंदारमालार्चितक्रमाय सकलपुरुषार्थयोनिनिरवद्यविद्याप्रवर्तनैकवीराय नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवष-

* जयपुरकी प्रतिमें यहां यह "१" अङ्क छूट गया है; क्योंकि अगले मंत्र पर संख्याङ्क २ दिया हुआ है परन्तु पाटनकी प्रति में यहां अंक दिया ही नहीं बल्कि प्रथमाङ्क दूसरे मन्त्रके अंतमें दिया है और इस तरह उसमें मन्त्रोंकी अन्तिम संख्या १० दी है जो एक ग़लती जान पड़ती है; क्योंकि इस स्तोत्र के माहात्म्यमें मंत्रों की ११ संख्या का स्पष्ट उल्लेख है।

इत्यंकान्तशान्तमूर्तये भवद्भाविभूतभावावभासिने[1] कालपाशनाशिने सत्वरजस्तमोगुणातीताय अनन्तगुणाय [2]वाङ्मनसोरगोचरचरित्राय पवित्राय कारणकारणाय तारणतारणाय सात्त्विकदैवताय तात्त्विकजीविताय निर्ग्रन्थब्रह्महृदयाय योगीन्द्रप्राणनाथाय त्रिभुवनभव्यकुलनित्योत्सवाय विज्ञानानन्दपरब्रह्मैकात्म्यसात्म्य[3]-समाधये हरिहरहिरण्यगर्भादिदेवतापरिकलितस्वरूपाय सम्यग्ध्येयाय सम्यक्श्रद्धेयाय सम्यक्शरण्याय सुसमाहितसम्यक्स्पृहणीयाय ॥ २ ॥

ॐ नमोऽर्हते भगवते आदिकराय तीर्थकराय स्वयंबुद्धाय पुरुषोत्तमाय पुरुषसिंहाय पुरुषवरपुंडरीकाय पुरुषवरगंधहस्तिने लोकोत्तमाय [लोकनाथाय[4]) लोकहिताय लोकप्रद्योतकारिणे लोकप्रदीपाय अभयदाय दृष्टिदाय मार्गदाय[5] बोधदाय[6] धर्मदाय जीवदाय शरणदाय धर्मदेशकाय धर्मनायकाय धर्मसारथये धर्मवरचातुरंतचक्रवर्तिने व्यावृत्तछद्मने अप्रतिहतसम्यग्दर्शनज्ञानसद्मने ॥ ३ ॥

ॐ नमोऽर्हते जिनाय जापकाय[7] तीर्णाय तारकाय बुद्धाय बोधकाय मुक्ताय मोचकाय त्रिकालवेदिने[8] पराङ्गताय कर्माष्टकनिषूदनाय[9] अधीश्वराय[1] शंभवे स्वयंभुवे जगत्प्रभवे जिनेश्वराय स्याद्वादिने सार्वाय[2] सर्वज्ञाय सर्वदर्शिने सर्वतीर्थोपनिषदे सर्वपाखंडमोचिने सर्वयज्ञफलात्मने[3] सर्वयज्ञफलाय[4] सर्वज्ञकालात्मने[5] सर्वध्यान[6] रहस्याय केवलिने देवाधिदेवाय वीतरागाय ।

ॐ नमोऽर्हते परमार्थाय[7] परमकारुणिकाय सुगताय तथागताय महाहंसाय हंसराजाय महासत्वाय [महाशिवाय[8]] महाबोधाय[9] महामित्राय[10] सुगताय[11] सुनिश्चिताय विगतद्वंद्वाय गुणाब्धये [लोकनाथाय[12]] जितमारबलाय ॥ ४ ॥

ॐ नमोऽर्हते सनातनाय उत्तमश्लोकाय मुकुन्दाय गोविन्दाय विष्णवे जिष्णवे अनंताय अच्युताय श्रीपतये विश्वरूपाय हृषीकेशाय जगन्नाथाय भूर्भुवःस्वःसमुत्ताराय मानंजराय कालंजराय ध्रुवाय अजेयाय अजिताय[13] अजराय[14] अजरमे[15] अजाय अचलाय अव्ययाय विभवे अविनाशाय[16] अचिंत्याय असंख्या-

१ जयपुरकी प्रति में "**भावविनाशिने**" पाठ दिया है जो ठीक मालूम नहीं होता। २ पाटन-प्रतिमें '**वाङ्मनसामगोचर**' पाठ है। ३ पाटन-प्रतिमें '**सात्म्य**" शब्द नहीं है। ४ यह पद पाटनकी प्रतिमें है जयपुरकी प्रतिमें नहीं। ५ पाटन-प्रतिमें '**मुक्तिदाय**' पाठ है। ६ पाटन प्रतिमें '**बोधिदाय**' है। ७ पाटन-प्रतिमें '**जीयकाय**' पाठ है, जो ठीक प्रतीत नहीं होता; सम्भव है कि वह '**जीवकाय**' हो। ८ पाटनप्रतिमें '**विदे**' पाठ है। ९ जयपुर-प्रतिमें '**निकंदनाय**' पाठ है।

१ पाटन प्रति में '**आदिकवराय**' पाठ है, जो कुछ ठीक मालूम नहीं होता। २ पाटन प्रतिमें '**सर्वाय**' पाठ है। ३ पाटन प्रतिमें '**कृतात्मने**' दिया है जो ठीक नहीं है। ४ यह पाठ पाटन प्रतिमें नहीं। ५ पा० प्रतिमें '**कलात्मने**' दिया है, जो कुछ ठीक नहीं। ६ पा० प्रतिमें '**ध्यान**' के स्थान पर '**योग**' शब्द दिया है ७ पा० प्रतिमें '**परमात्मने**' पाठ है। ८ यह पाठ पाटन प्रतिमें अधिक है। ९ पा० प्रतिमें '**बोद्धाय**' पाठ है। १० पा० प्रतिमें '**मैत्राय**' पाठ है। ११ इस मन्त्रमें '**सुगताय**' पद दो जगह आया है और दोनों ही प्रतियों में वह पाया जाता है। सम्भव है एक जगह एक अर्थ और दूसरी जगह उसीका दूसरा अर्थ हो। १२ यह पाठ पाटन-प्रतिमें अधिक है। १३, १४, १५, १६ ये चारों पद पाटनकी प्रतिमें नहीं हैं।

य[1] आदिसांख्याय [आदिकेशाय[2]] आदिशिवाय महाब्रह्मणे परमशिवाय एकानेकानन्तस्वरूपिणे[3] भावाभावविवर्जिताय अस्तिनास्तिद्वयातीताय पुण्यपापविरहिताय सुखदुःखविमुक्ताय व्यक्ताव्यक्तस्वरूपाय अनादिमध्यनिधनाय नमो[4] मुक्तिस्वरूपाय ॥ ६ ॥

ॐ नमोऽर्हते निरातङ्काय निःशंकाय निर्भयाय निर्द्वन्द्वाय निस्तरंगाय निरूर्मये निरामयाय निष्कलंकाय परमदैवताय सर्वदैवताय[5] सदाशिवाय महादेवाय शंकराय महेश्वराय महाव्रतिने महायोगिने पंचमुखाय मृत्युंजयाय अष्टमूर्तये भूतनाथाय जगदानंदाय जगत्पितामहाय[6] जगद्देवाधिदेवाय जगदीश्वराय जगदादिकंदाय जगद्भास्वते जगत्कर्म्मसाक्षिणे जगच्चक्षुषे त्रयीतनवे अमृतकराय शांतकराय[7] ज्योतिश्चक्रचक्रिणे[8] महाज्योतिर्महात्मने[9] परिप्रतिष्ठिताय[10] स्वयं कर्त्रे स्वयं हर्त्रे स्वयं पालकाय आत्मेश्वराय नमो विश्वात्मने ॥ ७ ॥

ॐ नमोऽर्हते सर्व्वदेवमयाय सर्व्वध्यानमयाय सर्व्वज्ञानमयाय सर्व्वतेजोमयाय सर्व्वमंत्रमयाय सर्व्वरहस्यमयाय सर्व्वभावाभावजीवाजीवेश्वराय अरहस्यरहस्याय अस्पृहस्पृहणीयाय अचिंत्यचिंतनीयाय अकामकामधेनवे असंकल्पितकल्पद्रुमाय अचिंत्यचिंतामणये चतुर्दशरज्ज्वात्मकजीवलोकचूडामणये चतुरशीतिजीवयोनिलक्षप्राणिनाथाय पुरुषार्थनाथाय परमार्थनाथाय अनाथनाथाय जीवनाथाय देवदानवसिद्धसेनाधिनाथाय ॥ ८ ॥

ॐ नमोऽर्हते निरंजनाय अनंतकल्याणनिकेतन कीर्तनाय[1] सुगृहीतनामधेयाय धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरशांत-धीरललित-पुरुषोत्तमपुण्यश्लोकशतसहस्रलक्षकोटिवंदितपादारविंदाय सर्वगताय[2] ॥ ९ ॥

ॐ नमोऽर्हते सर्वसमर्थाय सर्वप्रदाय सर्वहिताय सर्वाधिनाथाय[3] कस्मैचनाय (?) क्षेत्राय पात्राय[4] तीर्थाय पावनाय पवित्राय अनुत्तराय उत्तराय योगाचार्याय संप्रक्षालनाय प्रवराय अग्राय वाचस्पतये मांगल्याय सर्वात्मनीयाय सर्वार्थाय अमृताय सदोदित[5] ब्रह्मचारिणे तायिने दक्षिणीयाय निर्विकाराय वज्रऋषभनाराचमूर्तये तत्वदर्शिने पारदर्शिने निरुपमज्ञानबलवीर्यधैर्यतेजःशक्त्यैश्वर्यमयाय[6] [आदिपुरुषाय, आदिपरमेष्ठिने आदिमहेशाय, महाज्योतिःसत्वाय] [7] महार्चि-

१ पा० प्रतिमें 'असंख्येयाय' पाठ है। २ पा० प्रतिमें पाठ अधिक है। ३ पाटन प्रतिमें 'एकानैकान्तस्वरूपिणे' पाठ है। ४ पा० प्रतिमें 'नमोऽस्तु' पाठ है। ५ यह पद पाटन प्रतिमें नहीं है। ६ पा० प्रतिमें इसके स्थान पर 'जगत्त्रीमहाय' दिया है, जो कुछ स्पष्ट नहीं होता है। ७ पा० प्रतिमें 'शीतकराय' पाठ है। ८ पा० प्रतिमें 'ज्योतिश्चक्रिणे' पाठ है। ९ पा० प्रतिमें 'महाज्योतिर्महातमः' पाठ है, जो ठीक नहीं जान पड़ता। १० पाटन-प्रतिमें 'पारेसुप्रतिष्ठिताय' है, सम्भव है कि वह परिसुप्रतिष्ठिताय' हो।

१ पा० प्रतिमें 'कीर्तिनाय' है। २ पा० प्रतिमें 'सर्वगताय' पाठ है। ३ पा० प्रतिमें 'कस्मैचन क्षेत्राय' ऐसा पाठ है, जो कुछ स्पष्ट नहीं जान पड़ता। ४ पा० प्रतिमें 'यात्राय' पाठ है। ५ पाटन-प्रतिमें 'सदोदिताय' ऐसा अलग पद है। ६ पाटन-प्रतिके इस पदमें 'धैर्य' शब्द नहीं, और 'शक्त्यैश्वर्य' की जगह 'शक्तैश्वर्य' पद दिया है, जो कुछ ठीक मालूम नहीं होता। ७ ब्रैकट के भीतरके ये चारों पद पाटन-प्रतिमें अधिक हैं।

धनेश्वराय महामोहसंहारिणे महासत्वाय महाज्ञानमहेंद्राय महाहंसराजाय[1] महासिद्धाय[2] महालयाय महाशांतये महायोगींद्राय अयोगिने महामहीयसे महाहंसाय[3] शिवमचलमरुजमनंतमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिमहानंदमहोदयं सर्वदुःखक्षयं कैवल्यममृतं निर्व्वाणमक्षरं परब्रह्मनिश्रेयसमपुनर्भवं सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं सम्प्राप्तवते[4] चराचरवते नमो नमोऽस्तु श्रीमहावीराय त्रिजगत्स्वामिने श्रीवर्द्धमानाय[5] ॥१०॥

ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिने मुक्तिमार्गयोगिने * विशालशासनाय सर्वलब्धिसंपन्नाय निर्विकल्पाय कल्पनातीताय कलाकलापकलिताय *[6] विस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टाय सौम्याय शांताय दान्ताय[7] मांगल्यवरदाय अष्टादशदोषरहिताय सामयद्विश्व (?) विश्वमसमीहिताय[8] स्वाहा ॥११॥

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः[9] ।

लोकोत्तमो निःप्रतिमस्त्वमेव,
त्वं शाश्वतं मंगलमप्यधीश ।
त्वामेकमर्हन् शरणं प्रपद्ये,
[1]सिद्धार्थ-सद्धर्ममयस्त्वमेव ॥ १ ॥

त्वं मे माता पिता नेता देवो धर्मो गुरुः परः ।
प्राणाः स्वर्गोऽपवर्गश्च सत्त्वं तत्त्वं मतिर्गतिः ॥२॥
जिनो दाता जिनो भोक्ता जिनः सर्वमिदं जगत् ।
जिनो जयति[2] सर्वत्र यो जिनः सोऽहमेव च ॥३॥
यत्किंचित्कर्म्म हे[3] देव ! सदा सुकृतदुष्कृतं ।
तन्मे जिनपदस्थस्य[4] हुंक्षः क्षपयतां जिनः ॥ ॥
गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपं ।
सिद्धिः श्रयति मां येन त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थितम् ॥५॥

(माहात्म्य)

* इतीमं पूर्वोक्तमिदं सर्वैकादशमंत्रराजोपनिषद्गर्भं अष्टमहासिद्धिप्रदं सर्वपापनिवारणं सर्वपुण्यकारणं सर्वदोषहरं सर्वगुणाकरं महाप्रभावं अनेकसम्यग्दृष्टि भद्रक-देवताशतसहस्र शुश्रूषितं भवांतरकृतासंख्यपुण्यं प्राप्यं सम्यगुज्ञपतां पठतां गुणयतां शृण्वतां समनुप्रेक्षमाणानां

१, २ ये दोनों पद क्रमशः पाटन प्रति में महामहीयसे के बाद दिये हैं। ३ यह पद पाटन प्रति में नहीं है। ४ पा० प्रति संप्राप्तवते पाठ है। ५ पा० प्रति में इस अन्तिम पदके बाद अगले मन्त्रके 'विशालशासनाय' से लेकर कलाकलापकलिताय तकके वे पांच पद (बीचके पदोंको कुछ आगे पीछे करके) दिये हैं जिन्हें अगले मन्त्रमें इस * चिन्हके भीतर दिया है और यह गलती मालूम होता है। ६ यह इन * चिन्होंके भीतरका पाठ पाटनकी प्रतिमें नहीं है, इसे १०वें मन्त्रके अन्तमें दिया है जो भूल जान पड़ती है। ७ पाटनप्रतिमें यह पद नहीं है। ८ यह पद पाटन प्रतिमें 'संसृतविश्वसमीहिताय' इस रूपमें दिया है। ९ पाटन प्रतिमें 'स्वाहा' के बाद केवल विराम चिन्ह (॥) द्वारा पूर्व मन्त्रको समाप्ति करनेके बाद यह मन्त्र दिया है, और इसके बाद मन्त्याङ्क १० दिया है।

१ पाटन प्रति में 'सिद्धार्थ' की जगह सिद्धर्षि पाठ है। २ पा० प्रतिमें 'जयति' पाठ है जो अशुद्ध जान पड़ता है। ३ पाटनप्रतिमें 'कर्म हे' की जगह 'कुर्महे' पाठ दिया है जो कुछ ठीक मालूम नहीं होता। ४ पाटनप्रतिमें यह चौथा चरण 'दुःखं क्षपय त्वं जिन' इस रूपमें दिया है, जो ठीक प्रतिभासित नहीं होता।

'इतीमं' से लेकर अन्त तकका सम्पूर्ण पाठ पाटनकी प्रतिमें नहीं है। इसकी जगह यह पाठ है:—

"इति श्रीवर्धमानजिनस्य मन्त्रस्तोत्र प्रतिष्ठायां शांतिकविधौ पठितो महापुण्याय स्यात ॥ इति सिद्धसेनदिवाकरकृत नमस्तव. सम्पूर्णः॥"

भव्यजीवानां चराचरेऽपि सद्वस्तु तन्नास्ति यत्करतले प्रगुणयि न भवति। इति। किंच, इतीमं पूर्वोक्तमिंद्रस्तवैकादशमंत्रराजोपनिषद्गर्भं इत्यादि यावद्भव्यजीवानां भवनपतिव्यंतरज्योतिष्कवैमानिकवासिनो देवाः सदा प्रसीदन्ति । इतीमं० भव्यजीवानां व्याधयो विलीयंते । इतीमं० भव्यजीवानां पार्थिवाप्तेजोवायुगगनानि भवंत्यनुकूलानि इतीमं० भव्यजीवानां सर्वसंपदा मूलंजायते जनानुरागः । इतीमं० भव्यजीवानां साधवः सौमनस्येनानुग्रहपरा जायंते इतीमं० भव्यजीवानां खलाः क्षीयन्ते । इतीमं० भव्यजीवानां जलस्थलगगनचराः क्रूरजंतवोऽपि मैत्रीमया भवंति । इतीमं० भव्यजीवानां ऐहिक्यः सर्वापि शुद्धगोत्र-कलत्र-पुत्र-मित्र-धन-धान्य जीवित-यौवन-रूपाऽरोग्य-यशः-पुरस्सराः सर्वजनीनाः संपदः परभाग्यशालिन्यः सुदकांश्र(?) संमुखीना भवंति । किं बहुना, इतीमं० भव्यजीवानां यावत् आयुष्मिक्यः स्वर्गापवर्गश्रियोऽपि क्रमेण यथेच्छं स्वयंवरेणोत्सवसमुत्सुका भवंति ।

इति सिद्धिश्रेयसमुदयः ।

यथेन्द्रेण प्रसन्नेन समादिष्टोऽर्हतां स्तवः ।
तथाऽयं सिद्धसेनेन लिलिखे संपदांपदं ॥

इति शक्रस्तवः सहस्रनामापरपर्यायपठितो महालाभाय भवतु सुपार्श्वजिनप्रसादात् ॥

शान्ति

[लेखक—श्री० 'नूतन']

शान्ति के समान शक्ति दूसरी कहीं है नहीं,
'नूतन' बुरी है छेड़ शान्ति के पुजारी से ।
शान्ति ही से सत्यव्रतधारी प्रहलाद वीर,
बाजी ले गया था दानवेन्द्र बलधारी से ॥
भस्म हुए क्षण में सगर के हजारों पुत्र,
मुनि-नैन-पावक की एक चिनगारी से ।
प्रान्तकी, प्रदेशकी, हक़ीक़त क्या राष्ट्रकी है,
काँप उठता है विश्व शान्त क्रान्तिकारी से ॥

(विशाल भारत)

पाप का बाप

(इसे ज़रूर पढ़िये)

एक ब्राह्मण विवाह होनेके पश्चात विद्या पढ़नेके लिये काशी गया। वहाँ पर जब उसको १०, १२ वर्ष बीत गये और समस्त वेद-वेदांग का पाठी बन गया तब गुरु की आज्ञा लेकर अपने घर वापिस आया। घर पर आकर जब उसने अपनी विद्याका प्रकाश किया और अपने माता-पितासे प्रगट किया कि मैं इस प्रकार वेद-वेदांगका पाठी हो गया हूँ, तब माता पिताके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा, और नगर निवासियोंको भी उसकी विद्याका हाल मालूम करके अत्यन्त हर्ष हुआ—उन्होंने अपने नगरमें ऐसे विद्वानके होनेसे अपना और नगरका बड़ा भारी गौरव समझा।

ब्राह्मण महोदय की धर्मपत्नी एक अच्छे घरानेकी पढ़ी लिखी कन्या थी और बड़ी ही सुशीला, धर्मात्मा तथा उच्च विचारोंको धरने वाली थी। रात्रिके समय जब वह ब्राह्मण अपनी स्त्रीके पास गया और उससे अपने विद्या पढ़नेका सारा दास्तान (हाल) उसे सुनाया और हर प्रकारसे अपनी योग्यता और निपुणता प्रगट की तब उस विचारशीला स्त्रीने नम्रताके साथ अपने पतिदेवसे यह पूछा कि, "**आपने पापका बाप भी पढ़ा है या कि नहीं ?**"

इस प्रश्नको सुनते ही पतिरामके देवता कूँच कर गये और सारी आवली बावली (विद्या-चतुराई) भूल गये। आप सोचने लगे कि "पापका बाप" क्या ? मैंने व्याकरण, काव्य, छन्द, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक, और गणित आदिक सब ही विद्याएँ पढ़ीं परन्तु पाप के बापका तो नाम तक भी नहीं सुना, यह कौनसी, विद्या है ? इस प्रकार सोचते सोचते अन्तमें आपको यही कहना पड़ा कि, 'पापका बाप तो मैंने अभी तक नहीं पढ़ा।'

अपने पतिके इस उत्तरको सुन कर स्त्रीने किंचित् जोशमें आकर कहा कि "जब तुमने **पाप का बाप ही** नहीं पढ़ा तो तुमने पढ़ा ही क्या ? तुम्हारा सब विद्याओंमें निपुण होना और वेद-वेदांगका पाठी होना बिना इसके पढ़े सब निष्फल है। इस लिये सबसे पहले पाप का बाप पढ़िये। तब ही आपका सब विद्याओं को प्राप्त करना शोभा दे सकता है। अन्यथा, केवल भार ही भार वहना है।"

अपनी स्त्रीके इन वाक्योंको सुन कर पतिराम इतने लज्जित हुए कि उनको रात काटनी भारी पड़गई। आप रात भर करवटें बदलते हुए चिन्तामें मग्न रहे और अपने हृदयमें आपने पूरे तौरसे यह ठान ली कि जब तक पापका बाप नहीं पढ़ लेंगे तब तक घरमें पैर नहीं रक्खेंगे, यही अभिप्राय आपने अपनी स्त्रीसे भी प्रगट कर दिया, और प्रातःकाल उठते ही नगरसे निकल गये।

स्त्रीके वचनोंकी पंडितजी पर कुछ ऐसी फिटकारसी

पड़ी कि, जब अपने नगरसे निकल कर दो-चार ग्रामोंमें पूछने पर भी आपको कोई पापका बाप नहीं बता सका तो आप पागल-से हुए गली गली यह कहते फिरने लगे कि, " कोई पापका बाप पढ़ा दो ! कोई पापका बाप बता दो ! " इस प्रकार कहते और घूमते हुए पंडितजी एक बड़ेसे नगरमें पहुँचे, जहाँ पर एक बड़ी चतुर वेश्या रहती थी । जिस समय पंडितजी अपनी बा ी ("कोई पापका बाप पढ़ा दो—")बोलते हुए उस वेश्याके मकानके नीचेको गुज़रे तो वह वेश्या उनके हालको ताड़ गई—अर्थात् समझ गई, और उसने तुरन्त ही अपने एक आदमीके हाथ उनको ऊपर बुलवा लिया ।

जब पंडितजी ऊपर वेश्याके मकान पर पहुँचे तो वेश्याने उनको बहुत आदर-सत्कारसे बिठाया और बैठनेके लिये उच्चासन दिया । पंडितजीके बैठ जाने पर वेश्याने उनका सब हाल पूछा और उनकी हालत पर सहानुभूति और हमदर्दी प्रकट की । फिर वह वेश्या पंडितजीको इधर-उधरकी बातोंमें भुलाकर उनकी बहुत प्रशंसा करने लगी और कहने लगी कि," मुझ मंद भागिनीके ऐसे भाग्य कहाँ जो आप जैसे विद्वान, सज्जन और धर्मात्मा अतिथि मेरे घर पधारें, मेरा घर आपके चरणकमलोंसे पवित्र हो गया; मेरी इच्छा है कि आज आप यहीं पर भोजन कर इस दासीका जन्म सफल करें, आशा है कि आप मेरी इस प्रार्थना को अस्वीकार न करेंगे ।" वेश्याकी इस प्रार्थनाको सुन कर पंडितजी कुछ चौक कर कहने लगे कि, हैं ! यह क्या कही ! हम ब्राह्मण तुम्हारे घरका भोजन कैसे कर सकते हैं ? इस पर वेश्याने नम्रतासे कहा कि "महाराजका जो कुछ विचार है वह ठीक है परन्तु मैं बाजारसे हिन्दूके हाथ भोजनकी सब सामग्री मँगाये देती हूँ, आप स्वयं यहीं पर रसोई तय्यार कर लेवें, इसमें कोई हर्ज नहीं है और यह लो ! (सौ रुपये की ढेरी लगा कर) अपनी दक्षिणा ।"

पंडितजीने ज्यूँही **नक़द नारायणके** दर्शन किये कि उनकी आँखें खुल गईं और वे सोचने लगे कि, वेश्याके यहाँ से सूखा अन्नादिकका भोजन लेने वा बाजारसे इसके द्वारा मंगाई हुई सामग्रीसे भोजन बना कर खानेमें तो कोई दोष नहीं है, और दूसरे यह दक्षिणा भी माकूल देती है; इसलिये इसकी प्रार्थना ज़रूर स्वीकार करनी चाहिये । ऐसा विचार कर आपने उत्तर दिया कि, खैर ! यदि बाजारसे सब सामग्री शुद्ध आजावे और घी भी हिन्दूके यहाँ का मिल जावे तो कुछ हरज नहीं, हम यहीं पर स्वयं बनाकर भोजन कर लेवेंगे ।"

वेश्याने पंडितजीकी इस स्वीकारता पर बहुत बड़ी खुशी जाहिर की और उनको यक़ीन दिलाया कि सब सामग्री बहुत शुद्धताके साथ मँगाई जावेगी और घी भी हिन्दू ही के यहाँ का होगा और उसी वक्त अपने नौकरोंको सब सामग्री लाकर हाज़िर करनेकी आज्ञा करदी ।

जब सब सामग्री आ चुकी, चौका बरतन भी हो चुका और पंडितजी स्नान करके रसोईमें जाने हीको थे, तब वेश्याने बड़ी ही नम्रता और विनयके साथ पंडितजीसे यह अर्ज़की कि—"महाराज ! आज मेरी चित्त आपके गुणों पर बहुतही मोहित हो रहा है और आप की भक्तिसे इतना भीग रहा है कि उसमें अनेक प्रकार से आपकी सेवा करनेकी तरंगें उठ रही हैं; नहीं मालूम पूर्वले जन्मका ही यह कोई संस्कार है या क्या ? इस समय मेरा हृदय इस बातके लिये उमँड रहा है और यही मेरी मनोकामना है कि आज मैं स्वयं ही

अपने हाथसे भोजन बना कर आपको खिलाऊँ, और इस प्रकारसे अपने मनुष्यजन्मको सफल करूँ। क्या आप मुझ अभागिनकी इस तुच्छ बिनतीको स्वीकार करनेकी कृपा दरशावेंगे ? आपकी इस कृपाके उपलक्ष में यह दासी ५००) रु० और भी आपकी भेट करना चाहती है" यह कहकर तुरन्त पाँच सौ रुपये की थैली मँगा कर पंडितजीके आगे रखदी।

वेश्याके इन कोमल वचनोंको सुन कर यद्यपि पंडित जीको कुछ रोषसा भी आया, कुछ हिचकचाट-सा भी पैदा हुआ और वेश्याकी इस टेढी प्रार्थनाके स्वीकार करने में उनको अपना धर्म भ्रष्ट होता हुआ भी नजर आया; परन्तु ५००) रुपयेकी थैलीको देखकर उनके मुँहमें पानी भर आया, वे विचारने लगे कि—"मुझको यहाँ पर कोई देखने वाला तो है नहीं, जो जातिसे पतित होनेका भय कियाजावे, पाँच सौ रुपयेकी अच्छी रकम हाथ आती है इससे बहुतसे काम सिद्ध होंगे और जो कुछ थोड़ा बहुत पाप लगेगा तो वह हरिद्वारमें जाकर गंगाजीमें एक गोता लगानेसे दूर हो सकता है; इस लिये हाथ-में आई हुई इस रकमको कदापि नहीं छोड़ना चाहि-ये"। इस प्रकार निश्चयकर पंडितजी वेश्यासे कहने लगे कि—"मुझको तुमसे कुछ उजर तो नहीं है परंतु तुम तो व्यर्थ ही अंगुली पकड़ते पहुँचा पकड़ती हो। खैर! जैसी तुम्हारी मर्जी (इच्छा)।"

पंडितजीके इस प्रकार राजी होने पर वेश्या ५००) रु० की थैली पंडितजीके सुपुर्द कर स्वयं रसोई बनाने लगी और पंडितजी भोजनकी प्रतीक्षामें बैठ गये। पंडितजी बैठे बैठे अपने मनमें यह ख़याल करके बहुत खुश हो रहे हैं कि, "यह वेश्या तो अच्छी मनिकी हीनी और गाँठकी पूरी मिल गई, ऐसी तो जम जम होती रहे। थोड़ी देरमें रसोई तय्यार हो गई और पंडितजी भोजनके लिये बुलाये गये।

जब पंडित जी रसोईमें पहुँचे और उनके आगे अनेक प्रकारके भोजनोंका थाल परोसा गया, तब वेश्याने पंडित जीसे निवेदन किया कि—"जहाँ आपने मेरी इतनी इच्छा पूर्ण की है वहाँ पर इतनी और की-जिये कि एक ग्रास मेरे हाथसे अपने मुखमें लेलीजिये, और फिर बाकी सब भोजन अपने आप कर लीजिये। बस, मैं इतने ही से कृतार्थ हो जाऊँगी; और यह लो! पाँच सौ रुपयेकी और थैली आपकी नजर हैं।"

वेश्याके इन वचनोंको सुनते ही पंडित जीके घर गंगा आ गई और थैलीका नाम सुनते ही वे फूलकर कुप्पा हो गये। आपने सोच लिया कि, जब वेश्याने अपने हाथसे कुल भोजन ही तय्यार किया है तो फिर उसके हाथसे एक ग्रास अपने मुखमें ले लेनेमें ही कौन हर्ज है ? यह तो सहज ही में एक की दो थैलि-याँ बनती हैं; दूसरे जब गंगाजीमें गोता लगावेंगे तब थोड़ासा गंगाजल भी पान कर लेवेंगे, जिससे सब शुद्धि हो जावेगी। इस लिये पंडितजीने वेश्याकी यह बात भी स्वीकार करली।

जब वेश्याने पंडित जीके मुँहमें देनेके लिये ग्रास उठाया और पंडित जीने उसके लेनेके लिये मुँह बाया (खोला) तब वेश्याने क्रोधमें आकर बड़े जोरके साथ पंडितजीके मुख पर एक थप्पड़ मारा और कहाकि—"पापका बाप पढ़ा या नहीं ? यही (लोभ) पापका बाप है जिसके कारण तुम अपना सारा पढ़ा-लिखा भुलाकर अपने धर्म-कर्म और समस्त कुल-मर्यादा को नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये उतारू हो गये हो।" थप्पड़के लगते ही पंडित जीको होश आ गया और जिस विद्या के पढ़नेके लिये वे घरसे निकले थे वह उन्हें प्राप्त हो गई। आपको पूरी तौरसे यह निश्चय हो गया कि, लोभ

ही समस्त पापोंका मूल कारण है।

पाठकगण! ऊपरके इस उदाहरणसे आपकी समझमें भले प्रकार आ गया होगा कि यह लोभ कैसी बुरी बला है। वास्तवमें यह लोभ सब अनर्थोंका मूल कारण है और सारे पापोंकी जड़ है। जिस पर इस लोभका भूत सवार होता है वह फिर धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय और कर्तव्य-अकर्तव्य को कुछ नहीं देखता; उसका विवेक इतना नष्ट हो जाता है और उसकी आँखोंमें इतनी चर्बी छा जाती है कि वह प्रत्यक्षमें जानता और मानता हुआ भी धनके लालचमें बुरे-से-बुरा काम करनेके लिये उतारू हो जाता है। बहुतसे दुष्टोंने इस लोभ हीके कारण अपने माता-पिता और सहोदर तकको मार डाला है। आज कल जो कन्या-विक्रय की भयंकर प्रथा इस देशमें प्रचलित है और प्रायः ९–१० वर्षकी छोटी छोटी निरपराधिनी कन्यायें भी साठ साठ वर्षके बुड्ढोंके गले बाँधी जा रही हैं वह सब इसी लोभ-नदीकी बाढ़ है। इसी प्रकार इस लोभका ही यह प्रताप है जो बाजारोंमें शुद्ध घीका दर्शन होना दुर्लभ हो गया है—घीमें साँपों तक की चर्बी मिलाई जाती है, तेल मिलाया जाता है और बनस्पतिघी तथा कोकोजम आदिके नाम पर न मालूम और क्या क्या अला-बला मिलाई जाती है, जो स्वास्थ्यके लिये बहुत ही हानिकारक है। दवाइयों तकमें मिलावटकी जाती है और शुद्ध स्वदेशी चीनीके स्थान पर अशुद्ध तथा हानिकारक विदेशी चीनी बरती जाती है और उसकी मिठाइयाँ बना कर देशी चीनी की मिठाइयोंके रूपमें बेची जाती हैं। बाक़ी इसकी बदौलत तरह तरहकी मायाचारी, ठगी और दूसरे क्रूर कर्मोंकी बात रही सो अलग। सच पूछिये तो ऐसेऐसे ही कुकर्मोंसे यह भारत ग़ारत हुआ है। और उसका दिन-पर-दिन नैतिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक पतन होता जाता है।

पहले भारतमें ऐसा भी समय हो चुका है कि, राजद्वारमें आम तौर पर या किसी कठिन न्यायके आ-पड़ने पर नगर-निवासी तथा प्रजाके मनुष्य बुलाये जाते थे और उनके द्वारा पूर्ण रूपसे ठीक और सत्य न्याय होता था। परन्तु अफसोस! आज भारतकी यह दशा है कि न्यायकी जड़ काटनेके लिये प्रायः हर शख्स कुल्हाड़ी लिये फिरता है, जगह जगह रिश्वतका बाज़ार गरम है; अदालतोंमें न्याय करनेके लिये नगर-निवासियोंका बुलाया जाना तो दूर रहा, एक भाई भी दूसरे भाईके ईमान धर्म पर विश्वास नहीं करता। यही वजह है कि भारतकी प्रायः सभी जातियोंमेंसे पंचायती बल उठ गया है और उसके स्थान पर अदालतोंकी सत्यानाशिनी मुकद्दमेबाज़ी बढ गई है; क्योंकि मुखिया और चौधरियोंने लोभके कारण ठीक न्याय नहीं किया और इस लिये फिर उस पंचायतकी किसीने नहीं सुनी।

भारतवर्षसे इस पंचायती बलके उठ जाने या कमजोर होजानेने बहुत बड़ा गजब ढाया और अनर्थ किया है। आजकल जो हजारों दुराचार फैल रहे हैं और फैलते जाते हैं वह सब इस पंचायती बलके लोप होने का ही प्रतिफल है। पंचायती बलके शिथिल होनेसे लोग स्वच्छंद होकर अनेक प्रकारके दुराचार और पापकर्म करने लगे और फिर कोई भी उनको रोकनेमें समर्थ न हो सका। अदालतोंके थोथे तथा निःसार नाटकोंका भी इस विषयमें कुछ परिणाम न निकल सका।

अफसोस! जो भारत अपने आचार-विचारमें, अपनी विद्या-चतुराई और कला-कौशलमें तथा अपनी न्यायपरायणता और सूक्ष्म अमूर्त्तिक पदार्थों तक की खोज करनेमें दूर तक विख्यात था और अन्य देशोंके

लिये आदर्शस्वरूप था वह आज इस लोभके वशीभूत होकर दुराचारों और कुकर्मों की रंगभूमि बना हुआ है. सारी सद्विद्यायें इससे रूठ गई हैं और यह अपनी सारी गुणगरिमा तथा प्रभाको खोकर निस्तेज हो बैठा है!! एकमात्र विदेशोंका दलाल और गुलाम बना हुआ है !!!

जब तक हमारे भारतवासी इस लोभ कषायको कम करके अपनी अन्यायरूप प्रवृत्तिको नहीं रोकेंगे और जब तक स्वार्थत्यागी बनना नहीं सीखेंगे तब तक वे कदापि अपने देश तथा समाजका सुधार नहीं कर सकते हैं और न संसारमें ही कुछ सुखका अनुभव कर सकते हैं। क्योंकि सुखनाम निराकुलताका है और निराकुलता आवश्यकताओंको घटा कर—परिग्रह को कम करके—संतोषधारण करनेसे प्राप्त होती है। जो संतोषी मनुष्य हैं वे निराकुल होने से सुखी हैं, तृष्णावान और असंतोषी मनुष्योंको कदापि निराकुलता नहीं हो सकती और इसलिये वे सदा दुखी रहते हैं। कहा भी है—"सन्तोषान्न परं सुखम्", "किं दारिद्र्यमसंतोषः", "असंतोषोमहाव्याधिः" अर्थात—संतोषसे बढ़कर और कोई दूसरा सुख नहीं है। दारिद्र किसे कहते हैं ? असंतोषको और सबसे बड़ी बीमारी कौनसी है ? असंतोष। भावार्थ—जो असंतोषी हैं वे अनेक प्रकारकी धन-सम्पदाके विद्यमान होते हुए भी दरिद्री और रोगीके तुल्य दुखी रहते हैं। इसलिये सुख चाहने वाले भाइयोंको लोभका त्याग कर संतोष धारण करना चाहिये।

यहाँ इस कथनसे यह प्रयोजन नहीं है कि सर्वथा लोभका त्याग कर धन कमाना ही छोड़ देना चाहिये, धन अवश्य कमाना चाहिये, विना धनके गृहस्थीका काम नहीं चल सकता; परन्तु धन न्याय-पूर्वक कमाना चाहिये, अन्यायमार्गसे कदापि धन पैदा नहीं करना चाहिये। अर्थात ऐसे अनुचित लोभका त्याग कर देना चाहिये जिससे अन्यायमार्गसे धन उपार्जन करनेकी प्रवृत्ति होवे, यही इस सारे कथनका अभिप्राय और सार है।

आशा है हमारे भाई इस लेख परसे जरूर कुछ प्रबोधको प्राप्त होंगे और अपनी लोभ कषायके मंद करनेका प्रयत्न करेंगे। अपने चित्तको अन्यायमार्गसे हटानेके लिये उन्हें नीतिशास्त्रों, आचारग्रंथों और पुराणपुरुषोंके चरित्रोंका बराबर नियमपूर्वक अवलोकन तथा स्वाध्याय करना चाहिये और सदा इस बातका चिन्तवन रखना चाहिये कि लक्ष्मी चंचल है, न सदा किसीके पास रही और न रहेगी; प्राण भी क्षणभंगुर हैं, एक न एक दिन इनका सम्बन्ध जरूर छूटेगा; कुटुम्बीजन तथा इष्ट मित्रादिक अपने मतलब के साथी हैं, इनका भी सम्बन्ध सदा बना नहीं रहेगा; सिवाय अपने धर्मके परलोकमें और कोई भी साथ नहीं जाएगा और न कुछ काम आसकेगा; इसलिये इनके कारण अपना धर्म बिगाड़ना बड़ा अनर्थ है, कदापि अपने धर्मको छोड़ कर अन्यायमार्ग पर नहीं चलना चाहिये।

जुगलकिशोर मुख्तार

कालकाचार्य

[लेखक—श्री० मुनि विद्याविजयजी]

यह मूल लेख गुजराती भाषामें लिखा गया है और 'जैन' के गत 'ज्युबिली अंक' में प्रकट हुआ है। इसके लेखक मुनि विद्याविजयजी 'वीरतत्त्वप्रकाशक मंडल' शिवपुरी (ग्वालियर) के अधिष्ठाता हैं और उन्होंने अपने शिष्य भाई भँवरमलजी लोढा से हिन्दी अनुवाद करा कर अब इसे खुद ही 'अनेकान्त' में भेजनेकी कृपा की है, इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। इस लेखमें जो बात उठाई गई है वह निःसन्देह विचारणीय है। नाम-साम्यके कारण भूलसे एक व्यक्तिसे सम्बंध रखने वाली घटनाएँ दूसरे व्यक्तिके साथ जोड़ दी जाती हैं और कुछ समय के बाद वह भूल अथवा ग़लती रूढ होकर उसका प्रवाह बह जाता है, ऐसा साहित्यकी जाँचमें बहुत कुछ देखनेमें आया है। इसका एक ताजा उदाहरण दूसरे विद्यानंद-संबंधी घटनाएँ हैं जो पुरातन विद्यानन्दके साथ जोड़ दी गई हैं और जिनका दिग्दर्शन 'अनेकान्त' की दूसरी किरण में कराया जा चुका है। वही हाल कालकाचार्य-संबंधी घटनाओंका हुआ जान पड़ता है। गतानुगतिकता और रूढिका कुछ ऐसा माहात्म्य है कि साधारण जनता तो क्या कभी २ अच्छे २ विद्वान भी उसके चक्करमें फँसे रहते हैं और वे सत्यका ठीक विश्लेषण नहीं कर पाते। यह परिश्रमशील गहरे ऐतिहासिक विद्वानोंका ही काम है जो इस प्रकार की रूढ भूलोंका पता लगाकर सत्यका प्रकाश करते हैं। अतः ऐसे विद्वानोंको इस विषय पर जरूर काफ़ी प्रकाश डालना चाहिए। हाँ, जो लोग सभी जैन शास्त्रोंको अक्षरशः भगवान्की दिव्य ध्वनि-द्वारा अवतरित समझते हैं उनके लिये इस प्रकारकी घटनाएँ बहुत कुछ शिक्षाप्रद हैं। —सम्पादक

महान् प्रभावक कालकाचार्यके नामसे जैन जनता अपरिचित नहीं है। इस महात्माके कथानककी कई हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। उन सभी प्रतियोंमें से एक भी प्रति में कथाकारका नाम दृष्टिगत नहीं होता *। एवं भिन्न भिन्न प्रतियोंमे भिन्न भिन्न घटनाओं से इस कथानकको इतना अधिक संमिश्रित कर दिया गया है कि वर्णित कालकाचार्य कितने और किस समयमें हुए? एवं किस कालकाचार्यने कौनसा कार्य किया? इसका निर्णय करना बहुत कठिन हो गया है। कालकाचार्य-द्वारा मुख्य तीन घटनाएँ हुई हैं और वे ये हैं:—

१ 'गर्दभिल्ल' राजाको गद्दीसे उतार कर 'शक' को स्थापित करना।

२ संवत्सरी पर्व पंचमीके बदले चतुर्थीको प्रारंभ करना

३ इन्द्र को निगोदका स्वरूप समझाना।

अब हम क्रमशः इन तीनों घटनाओंके लिए कालकाचार्यके कथानकोंकी ओर दृष्टिपात करते हैं।

'धारावास*' नगर

* लेखक महाशयके इस लिखने का क्या आशय है वह कुछ समझमें नहीं आया; क्योंकि 'प्रभावकचरित' में कालकाचार्यकी कथा वर्णित है और इस चरित्रमें उसके कर्त्ताका नामादिक स्पष्ट दिया हुआ है। —सम्पादक

* एक प्राकृत मूलसे पता

बड़े बड़े व्यापारियोंसे परिपूर्ण था। राजा **वज्रसिंह**× वहाँका शासक था। उसकी रानीका नाम **सुरसुंदरी** था। सुरसुंदरीकी कुक्षिसे क्रमानुसार पुत्र **कालककुमार** और पुत्री **सरस्वती** ये दो संतानें उत्पन्न हुईं।

कालक कुमार रूपवान्, पुरुषके सब उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित और सर्व-जन,वल्लभ था। आठ वर्षकी अवस्था होने पर कालक कुमार के माता-पिताने एक कलाचार्यके पास शिक्षा प्राप्त करनेके लिये रक्खा। अल्प कालमें ही कालकने अनेक कलाएँ हस्तगत की। खास करके अश्वपरीक्षा और बाणपरीक्षामें बालक कालकने अच्छी निपुणता प्राप्त की।

एक समय राजा वज्रसिंहको, खुरासान देश से बहुतसे घोड़े भेटमें आये। इन घोड़ों की परीक्षाका काम राजाने अपने पुत्र कालक कुमारके सुपुर्द किया।

समवयस्क ५०० घुड़सवारोंको साथ लेकर कालक घोड़ोंको फिरानेके लिये वनमें गया। घोड़ों को खूब घुमा-फिराकर विश्राम लेने के लिये कालककुमार एक आम्रवृक्षकी छायामें बैठ गया। इस वनमें अनेक साधुओंके परिवारयुक्त गुणाकर सूरि नामक एक आचार्य विराजमान थे। आचार्य महाराजकी देशना-ध्वनि दूरवर्ती कालक कुमारके कर्णगोचर हुई। वह वहाँ से उठा और आचार्यजी के पास जाकर उपदेश श्रवण करने लगा। नवीन आगन्तुक राजकुमारको

चलता है कि '**धरावास**' नगर मगध देशमें था –

"मगहेसु धरावासे पुरे पुरासी निवो वयरसीहो।"

(देखो, विजयधर्मलक्ष्मीज्ञानमन्दिर की एक प्रति÷)

÷ [यहां उस प्रतिका नामादिक दे दिया जाता तो अच्छा होता। —**सम्पादक**]

× इस राजा का नाम 'प्रभावक चरित्र' की किसी प्रतिमें 'वीरसिंह' और किसी में 'वैरिसिंह' भी दिया है। —सम्पादक

लक्ष में रखकर आचार्यश्रीने लक्ष्मी, राज्यवैभव और शरीरादिकी अनित्यताका प्रतिपादन किया, और साधुके वास्तविक सुख, एवं पाँच महाव्रतोंका यथार्थ स्वरूप समझाया।

आचार्यजी की देशना सुन कर वैराग्यवासित राजकुमार कालक गुरुमहाराजको यह कह कर घर को चला, कि—"हे भगवन्, आपके उपदेशसे मुझे वैराग्य हुआ है। मैं माता-पिताकी आज्ञा प्राप्त कर वापिस न लौटूँ, तब तक आप यहीं विराजियेगा।"

कालक कुमारने घर जाकर माता-पिताके सम्मुख अपनी दीक्षा ग्रहण करनेकी इच्छा प्रकट की। अनेक 'हाँ' 'ना' होनेके पश्चात, अपने पुत्रकी वैराग्यवृत्ति को दृढ़ देखकर राजा वज्रसिंहने बड़े समारोहके साथ अपने पुत्रको दीक्षा दिलाई। अपने भाई के उत्कृष्ट वैराग्यको देखकर 'कालक' की बहन 'सरस्वती' ने भी दीक्षा ली। माता-पिताने कालकको सूचना की कि—'यह तुम्हारी बहिन है, इसकी सार-संभाल बराबर रखना।'

कालक कुमार व्याकरण, न्याय, साहित्य, अलंकार, छंद, ज्योतिष और मंत्र-तंत्रादि विद्याओंमें भी अच्छे प्रवीण हुए। योग्यता प्राप्त होने पर गुरुने कालकको 'आचार्य' पदवी प्रदान की। और अब ये 'कालकाचार्य' के नाम से विख्यात हुए।

गर्दभिल्लका उच्छेद और शककी स्थापना

अनेक साधुओंसे परिवृत्त कालकाचार्य किसी समय उज्जैनके बाहर उद्यान में पधारे। इसी समय अनेक साध्वियोंके साथ साध्वी सरस्वती भी उज्जैनमें आई। वह हमेशा आचार्यश्री की देशना श्रवण करने

के लिये उद्यानमें जाया करती थी।

इस समय उज्जैनीमें **गर्दभिल्ल** × नामक राजा राज्य करता था। वह अत्यंत विषयी—कामी—और अत्याचारी था। किसी एक समय उसकी दृष्टि बाल-ब्रह्मचारिणी सुरूपवती साध्वी 'सरस्वती' के ऊपर पड़नेसे उसकी कामाग्नि प्रदीप्त हुई। उसने भविष्यका कुछ भी विचार न कर अपने सेवकों द्वारा उसे उठवा कर अपने अंतःपुर में मँगवा लिया। साध्वी सरस्वती ने अत्यन्त करुणचीखें मारीं और रुदन किया। सरस्वतीकी सह-चारिणी साध्वियाँ एकदम कालकाचार्यके पास गईं और उन्हें सरस्वतीके संकटकी वार्ता सुनाई। कालकाचार्यके नेत्र रुधिरसे रक्त हो गये। "एक प्रजापालक शासक, जगत का कल्याण करने वाली एक बालब्रह्मचारिणी साध्वी पर ऐसा अत्याचार करे!" वे एकदम राजाके पास गये। इन्होंने उसको शान्तचित्तसे समझाया। परन्तु उन्होंने एक न मानी। कालकाचार्यने उपाश्रय-में आकर जैन संघको एकत्रित किया और सारा हाल सुनाया। संघ बड़ी भारी भेंट लेकर राजाके पास पहुँचा और उसने साध्वीको मुक्त करनेके लिये प्रार्थना की, लेकिन संघके वचनका भी राजा ने अनादर किया। यह जान कर कालकाचार्यके रोम रोममें क्रोधरूपी विद्युत् चमक उठा। उन्होंने संघके समक्ष प्रतिज्ञा की कि—"गर्दभिल्ल राजाका उसके राज्यसहित उच्छेद न करूँ तो मेरा नाम कालकाचार्य नहीं।"

कालकाचार्य एक त्यागी और संसारसे विमुख साधु थे। तो भी एक अत्याचारी दुष्ट राजाको उसके पापका प्रायश्चित्त देना और प्रजा पर होने वाले अत्याचारोंको दूर करना, यह इस त्यागी वैरागी साधुने अपना कर्त्तव्य समझा।

उपर्युक्त प्रतिज्ञा करनेके बाद भी राजाको उसके कर्त्तव्यका भान करानेके लिये एक विशेष मार्ग अंगीकार किया। वह यह था कि—वे एक पागल मनुष्य की भांति बकवाद करते हुए ग्राममें भ्रमण करने लगे। आचार्यके पागल हो जानेका समाचार राजाके कानों तक पहुँचा, परन्तु उस निर्दय राजाके हृदयमें इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। अंतमें कालकाचार्य को अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये, उस देशको छोड़ना ही पड़ा। उन्होंने एक गीतार्थ साधुको अपने गच्छका भार सुपुर्द किया, और स्वयं 'सिन्धु' नदी के किनारे पर **पारसकुल** नामक देशमें गये। जिस देशके सभी राजा 'साखी *' के नामसे प्रसिद्ध थे।

× विन्सेन्ट, ए. स्मिथ, अपनी Early History of India नामक पुस्तक के पृ० २५५ पर लिखते हैं:—

"कुशान वंशमें उत्पन्न होने वाला राजा **वासुदेव** भारतवर्ष का अन्तिम राजा था। इसकी मृत्युके बाद अन्य कोई शक्तिशाली नहीं होनेसे विदेशी राजा आक्रमण करते थे, और **विष्णुपुराण** के कथनानुसार अभीर, गर्दभिल्ल, शक, यवन, एवं बाह्लिक आदि लोग और उनके स्वामी हिन्दुस्तानके शासक हुए थे। यह सब ई० स० की तीसरी शताब्दी में हुआ।"

इस कथनसे ऐसा मालूम होता है कि **गर्दभिल्ल** राजा भी भारतवर्षीय नहीं था, किन्तु विदेशीय राजा होना चाहिये।

* संस्कृत कथामें 'साखी' राजाओं के तौर पर परिचय कराया गया है। और प्राकृत कथामें 'सगकुल' (शककुल) कहा है—

"अह सूरी 'सगकुले' वच्चइ,
इग साहिणो समीवंमि" ॥ ३७ ॥

परन्तु यह बात तो सत्य है कि इस शककुलके राजाओंको 'साहि (साखी) राजा कहते थे।

'साखी' अथवा 'शाही' यह नाम भारतवर्षीय अथवा पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा किसी भी स्थान पर दिया हुआ देखनेमें नहीं आता। हां, 'शक'का उल्लेख सर्वत्र दृष्टिगत होता है। **मनुस्मृति** में कहा है—शक, पौंड्रक, ओड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, पारद, पल्हव, चीन, किरात, दरद, खश, ये सब भ्रष्ट होने वाले क्षत्रिय थे।

आचार्यश्री जब जा रहे थे, तब मार्गमें एक गाँवके मैदानमें कतिपय कुमार गेंद-बल्ला खेल रहे थे। उन की बहुमूल्य गेंद कुएँमें गिर गई। इस कारणसे युवक कुएँ के पास आकर अपनी गेंद निकालनेकी चिंतामें बैठे थे। वहाँ से निकलते हुए आचार्यश्रीने प्रश्न किया—"कुमारो! तुम लोग क्या देख रहे हो?" कुमारों ने अपनी प्यारी बहुमूल्य गेंद की बात निवेदन की। आचार्यश्री ने कहा कि—'तुम घरसे धनुर्बाण ले आओ। एक युवक धनुर्बाण ले आया। आचार्यश्री ने गोबरयुक्त जलता हुआ घास डाल कर लक्ष्य खींचा और एक बाण गेंदको लगाया, फिर दूसरा बाण पहले बाणमें लगाया, तीसरा दूसरे में। इस प्रकार क्रमानुसार बाण लगा कर कुएँके तलमें पड़ी हुई गेंदको बाहर निकाला *।

आनंदसे हँसते हुए कुमारोंने आचार्यश्रीकी विद्या की प्रशंसा की, और घर जाकर अपने अपने पिताओंको यह बात कह सुनाई। बात फैलते फैलते बादशाहके अर्थात् वहाँ के 'साही' अथवा 'साखी' राजा के कान तक पहुँची। राजाने अपने पुत्रोंको भेज कर कालकाचार्यको आदरपूर्वक अपने दरबारमें बुलाया।

अर्थात् जिस देशमें वे रहते थे। उस देशका नाम उन्होंने जाति के नाम पर रक्खा था। (देखो, मनु० १०-४४) प्राकृतमें **सगकुल** (शककुल) कहा गया है। वह वस्तुतः ठीक है।

फोन. ग्लासनप ने स्वरचित "डेर जैनिसमुस" नामक जैन पुस्तकमें इन 'साही' शाही (शाही) राजाओं के सम्बन्धमें लिखा है —

"शाहनशाही, जो कि शक, अर्थात् सिथियन लोगोंके स्वामी थे। उनके पास **कालकाचार्य** गये थे।" पृ० ८३।

* प्राकृत मूल कथानकमें इस गिरी हुई गेंद के विषयमें कोई भी उल्लेख नहीं है।

सूरिजी ने राजाको आशीर्वाद दिया। साखी राजा ने आचार्यके कलाचातुर्यसे प्रसन्न होकर उनको बहुमानपूर्वक अपने पास रक्खा।

कालकाचार्यने वहाँ रह कर ज्योतिष-निमित्तादि विद्याओं से राजाको चमत्कृत करते हुए बहुत दिन व्यतीत किये।

एक दिनकी बात है। इस 'साही' राजाके पास एक दूतने आकर राजाके सामने एक कचोला (कटोरा) छुरा, और एक लेखपत्र रक्खा। राजा पत्रको पढ़ कर स्तब्ध हो गया, उसका चेहरा उतर गया और काला पड़ गया। राजाकी यह स्थिति देख कालकाचार्य बोले "राजन! तुम्हारे स्वामी की भेट आई है, उसको देख कर तुम्हें तो हर्षित होना चाहिये था, परन्तु यहाँ तो विपरीत दिखाई देता है, यह क्या? आप यकायक स्तब्ध क्यों हो गये?।"

राजा ने उत्तर दिया—'अहो महापुरुष! आज मुझे मृत्युभयका महान कारण उपस्थित हुआ है।'

कालकाचार्य बोले—'किस प्रकार?'

राजा ने कहा —"हमारे वृद्ध स्वामीने क्रुद्ध होकर यह आज्ञापत्र लिखा है कि—'तुम्हारा मस्तक काट कर इस कटोरे में रख कर शीघ्र भेजो। यदि तुमने इस आज्ञाका उल्लंघन किया तो तुम्हारे सारे कुटुंबके साथ तुम्हारा नाश होगा।' यह हुकम मुझ को ही नहीं, किन्तु अन्य समस्त 'साखी' राजाओंको भी भेजा गया है।"

कालकाचार्यको अपनी कार्यसिद्धिके लिये यह अचूक प्रसंग मालूम हुआ। उन्होंने राजाको हिम्मत दी और कहा कि—'आप सब इकट्ठे होकर मेरे साथ चलो। हिन्दुकदेश में चल कर उज्जैनीके गर्दभिल्ल राजाको उच्छेद कर, उस राज्यका विभाग कर मैं तुम्हें

सौंपूं।"

सूरिके वचन पर विश्वास रख कर इस राजाने अन्य ९५ राजाओंको बुला कर उनके साथ प्रयाण किया। सिंधु नदीसे उतर कर वे सौराष्ट्र * में आये। यहाँ पहुँचते ही वर्षाकाल आ पहुँचा। इस लिये कालकाचार्यकी आज्ञानुसार सब लोगोंने अपने अपने पड़ाव डाले। चातुर्मास समाप्त होने पर सब आगे बढ़े ×। उन्होंने लाटदेशमें प्रवेश किया और वहाँ के राजा बलमित्र और भानुमित्र को भी, जो कि कालकाचार्यके भानजे थे, साथ लिया † ।

* सिंधु नदी पार कर 'सौराष्ट्र' में प्रवेश करनेका उल्लेख मूल प्राकृत में भी है:—

"उत्तरिओ सिंधु नई कमेण सोरठमंडलं पत्तो"॥५५॥

सिंधु नदी उतर कर वहां पर पड़ाव डाला, इसका वर्णन संस्कृत में नहीं है। परन्तु प्राकृत कथानकमें है।

"ते ढंकगिरिसमीवे ठिया दिणे कहवि मतवमा॥"

अर्थात्—ढंकगिरि के निकट उन्होंने डेरा डाला था।

× इस स्थिरतामें उनके पास का द्रव्य खर्च हो गया, इस लिये कालकाचार्य ने शासनदेवीकी सहायतासे 'सुवर्णसिद्धि' का प्रयोग करके द्रव्यकी कठिनाई दूर की, ऐसा दिखलाया गया है।

† **बलमित्र** और **भानुमित्र** को लाट देश (भरोंच) से साथमें लिया। ऐसा उल्लेख संस्कृतमें है, प्राकृतमें नहीं। प्राकृत कथानकमें तो उनका परिचय उज्जैनके युवराजके तौर पर कराया है—

बलमित्त-भानुमित्ता आसी अवंतीइ राय जुवराया।
नियमाणिज्जत्तिनगा तत्थगओ कालगायरिओ॥

बलमित्र और भानुमित्र ने वीरनिर्वाण सं० ३५३ से ४१३ तक राज्य किया था, यह बात अवतरणमें दिये हुए राजाओंके राज्य कालसे स्पष्ट होती है। इसके बाद लगभग ५३ वर्ष होने पर कालकाचार्यने शक लोगोंको लेकर उज्जैन पर चढ़ाई की। उसमें बलमित्र और भानुमित्र को साथमें ले जाना असंभवित मालूम होता है। शायद यह घटना शक लोगोंके लानेके पहले बनी हो।

दूसरी ओरसे गर्दभिल्ल राजाको अपने पर आने वाले आक्रमण की खबर मिली। उसने भी अपना सैन्य तैयार करके सामने ही आकर पड़ाव डाला *।

एक रविवारके दिन दोनों सैन्योंमें युद्ध हुआ। इस युद्धमें 'साखी' राजाके अनुयायियोंने अपने श्रेष्ठ पराक्रमका भान कराया। गर्दभिल्लका सैन्य भागने लगा, और गर्दभिल्ल स्वयं नगरके दरवाजे बंद कराकर गढ़में घुस गया। कालकाचार्यका सैन्य नगरको घेरा डाल कर वहाँ ही पड़ा रहा।

बहुत दिनों तक गर्दभिल्लके सैन्यका एक भी मनुष्य किले पर दिखाई नहीं दिया। सारा वातावरण शान्त मालूम होता था। इसके बाद एक 'साखी' राजाके पूछनेसे, आचार्यने उपयोग लगा कर देखा, और फिर इन लोगोंको चेताया कि 'गर्दभिल्ल राजा एक गर्दभी विद्याकी साधना कर रहा है, देखो तो, क्या किले पर कोई गर्दभी दिखाई देती है?' देखनेसे मालूम हुआ कि—एक स्थानमें एक गर्दभी मुख फाड़कर खड़ी है।

आचार्यश्रीने इसका रहस्य समझाते हुए कहा:— 'जब इस राजाकी गर्दभी विद्या सिद्ध होगी तब यह गर्दभी शब्द करेगी, और राजाका जो कोई भी शत्रु उन शब्दोंको सुनेगा, उसको खूनकी उल्टियाँ होंगी, और वह पृथ्वी पर गिर कर मर जायगा।'

* मालवेमें पहुँचने के बाद, युद्धके पहले भी आचार्यने एक दूतको भेज कर राजा गर्दभिल्लको कहलाया कि—"हे राजन्, अब भी 'सरस्वती' को मुक्त कर; क्योंकि ज्यादा तानने से टूट जाता है।" संस्कृत कथानकमें यह बात नहीं है। प्राकृतमें इस कथनको सूचन करने वाली गाथा यह है:—

"दूयमह पेसइ गुरु, अज्जवि नरनाह, सरसई मुंच।
अइ ताणियं हि तुट्टइ फुट्टइज्जं देव! अइभरियं॥ ६९॥

'साखी' राजाओंको बड़ा भय मालूम हुआ। किन्तु आचार्यश्रीकी आज्ञानुसार वे अपने अपने सैन्यको वहाँसे पाँच कोस दूर ले गये, और सर्वश्रेष्ठ १०८ बाणावलियों को आचार्यके पास रक्खा। जब गर्दभीने शब्द करनेके लिये मुख खोला, उस समय उन लोगों ने एक साथ इस प्रकार बाण छोड़े, कि उन बाणोंसे गर्दभीका मुख भर गया, और वह शब्द करनेके लिये असमर्थ हो गई। परिणाम यह हुआ कि वह गर्दभी गर्दभिल्ल राजा पर कुपित हुई, और राजाके मस्तक पर विष्टा करके एवं उसको लात मार कर आकाश मार्गसे चली गई।

'साखी' राजाओंके सैनिक किलेकी दीवारें तोड़ कर अंदर दाखिल हो गये, और गर्दभिल्ल राजाको बाँध कर कालकाचार्य के पास ले आए। आचार्यश्रीको देखते ही गर्दभिल्ल राजा शरमा गया। आचार्यश्रीने उसको उपदेश देते हुए कहा— 'एक सती साध्वीके चारित्रको नष्ट करनेके पापका तो यह एक पुष्पमात्र दंड है। तुझे इसका खास फल तो भविष्यमे—परलोक में—मिलेगा।'

तत्पश्चात् गर्दभिल्लको, उसके आत्माकी शुद्धि करने के लिये, दीक्षा ग्रहण करनेका उपदेश दिया। परन्तु वह उपदेश निष्फल हुआ। कहा है कि—

अङ्गारः शतधौतेन मलिनत्वं न मुञ्चति।

'सौ बार धोने पर भी कोयला मलिनताको नहीं छोड़ता।' अस्तु।

इस प्रसंग पर वे सब 'साखी' राजा उसको मार डालने के लिये उद्यत हुए, परन्तु आचार्यश्री ने 'पापी पापेन पच्यते' ऐसा समझकर, उस पर दया करते हुए उसको छुड़ा दिया; पश्चात् उस राजाने उस देशका त्याग किया।

इस राज्यके विभाग करते समय, आचार्यश्रीने, उस 'साखी' राजाको, जिसके यहाँ आचार्यश्री ठहरे थे, खास उज्जैनीका राज्य दिया*, और अन्य ९५

* उज्जैन की गद्दी पर आये हुए **शक** (साखी) राजाओंके सम्बन्धमें कई इतिहासकार कहते हैं कि—"शक कालका प्रारम्भ ई० सन ७८ में हुआ था, और उसका मुख्य राजा **शालिवाहन** था।" 'अर्लि हिस्टरी ऑफ इन्डिया' में प्रसिद्ध इतिहासकार **विन्सेन्ट. ए. स्मीथ.** कहते हैं कि—'**भूमकक्षहरात**' इस नामके राजाने इस वंशकी स्थापना की थी। '**क्षत्रप**' उसका उपनाम था। वह पहली शताब्दीके अन्तमें हुआ। हिन्दलोग **शक** को म्लेच्छ समझते थे। '**नहपान**' राजा एक शक था। इसके बाद **चष्टन** नामका राजा अथवा सूबा हुआ। इसकी राजधानी उज्जैनमें थी। इसके बाद अनुक्रमसे **रुद्रदामा** और **रुद्रसिंह** इसी वंशमेंसे राजा हुए। इस **रुद्रसिंह** पर **चन्द्रगुप्त** द्वितीय अर्थात् **चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य** ने हमला किया था। यह बात ई०स० ४०० के लगभग की है।"

इस हिसाबसे तो उज्जैनके राज्यसिंहासन पर शक लोगोंका ठीक कालीन अस्तित्व होना चाहिये, परन्तु दूसरी ओर से **फॉन. ग्लासेनप** अपनी '**डेर जैनीस्मुस्**' नामक जर्मन पुस्तकमें लिखते हैं कि—'थोड़े समयके बाद विक्रमादित्य ने उन शक लोगोंका राज्य नष्ट किया। यह विक्रमादित्य गर्दभिल्ल राजा के पुत्रोंमें से एक कहा जाता है।'

यदि विक्रमादित्य गर्दभिल्ल राजाका पुत्र होता तो शक राजाओंका उज्जैनकी गद्दी परका अस्तित्व बहुत ही कम समयका होना चाहिये। क्योंकि शक लोगोंने तो गर्दभिल्लके पाससे राज्य छीन लिया था। यदि उसी गर्दभिल्लका पुत्र शक राजाको निकाल देता है तो फिर 'शक' के राज्य उज्जैनमें नाम मात्रके वर्षों तक रहा हुआ होना चाहिये।

'मि० फॉन ग्लासेनप' के शब्दोंमें कहा जाय तो, "गर्दभिल्ल, शक और विक्रमादित्य विषयक (मेरी तरफ से कहूँ तो कालकाचार्य विषयक भी) कथाओंमें ऐतिहासिक वस्तु क्या है, और क्या नहीं है, इसका निर्णय अभी तक हुआ नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि—इस विक्रमादित्य के इतिहास का, दूसरे चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्यके साथ (जिसने क्राइस्टके बाद ३८० की सालमें उज्जैन जीता था, और जो कालिदास महाकविका उत्तेजक था) सम्मिश्रण हो गया है।

राजाओंको मालवा देशके विभाग करके बाँट दिये*।

आचार्यने 'सरस्वती' साध्वीको गच्छमें—समुदाय में—लिया। पराधीन अवस्थामें लगे हुए दोषोंके प्रायश्चित्तरूप उसने तपस्या की। आलोचना भी ली, और कालकाचार्य स्वयं भी कईएक आलोचनाएँ करके निरतिचार चारित्रका पालन करनेके साथ साथ गच्छका भार भी वहन करने लगे। अर्थात् अपने समुदायका संरक्षण करने लगे×।

२ सांवत्सरिक पर्वकी तिथिका बदलना

सांवत्सरिक पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमीके बदले चतुर्थी के दिन प्रारंभ करने वाले कालकाचार्य के सम्बन्ध में खास जीवनपरिचय नहीं प्राप्त होता है। सिर्फ एक हस्तलिखित प्रतिमें ऊपरके वृत्तान्तसे चतुर्थीका वृत्तान्त भिन्न किया गया है। पंचमीकी चतुर्थी करनेका प्रसंग इस प्रकारका है—

* कालकाचार्यने शक राजाओंको जो जो प्रान्त दिये थे, उनमें सौराष्ट्र का भी समावेश हो जाता है। क्योंकि - विन्सेंट ए. स्मिथ 'अर्लि हिस्ट्री आफ इन्डिया' के पृ० १३७ में के नोट में लिखते हैं:—

"सौराष्ट्रमें जो शक लोग थे, उनको दूसरा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ई० स० ३९० में हराया था।"

इसी नोटमें 'शक' लोगोंका "**क्षत्रप**" अथवा सत्रप के नामसे परिचय कराया है।

×संस्कृत कथानकमें इस सम्बन्धको अगले सम्बन्धके साथ मिला दिया है। अर्थात् उपर्युक्त कालकाचार्यका ही बलमित्र और भानुमित्रके निमंत्रणसे **भरोंच** जाना, पुरोहितका विरोध करना आदि दिखलाया गया है। इस वर्णनको पूरा करनेके बाद एक आचार्यका सम्बन्ध समाप्त कर दिया गया है। उसके बाद पंचमीकी चौथ करने वाले कालकाचार्यका वर्णन प्रारम्भ होता है, प्राकृत कथानकमें बलमित्र और भानुमित्रके यहां जाने वाले कालकाचार्य ही पंचमी की चौथ करने वाले हैं, ऐसा सम्बन्ध मिलाया है।

'कालकाचार्य' विचरते विचरते प्रतिष्ठानपुर में पधारे, जो कि दक्षिण देशमें था। वहाँका राजा **शातवाहन**[1] श्रावक था और साधुभक्त था। उसने भक्तिपूर्वक आचार्यश्री का चातुर्मास कराया। पर्युषण पर्व निकट आते ही राजाने आचार्य से पूछा—'पर्युषण पर्व किस दिन होगा?' आचार्यश्री ने उत्तर दिया—'भाद्रपद शुक्ला पंचमीको।' राजा ने कहा—'महाराज, उसी दिन हमारे यहाँ कुलक्रमागत इन्द्रमहोत्सव आता है। उसमें मुझे अवश्य जाना चाहिये, और एक ही दिनमें दोनों उत्सवोंमें भाग लेना अशक्य है। इस लिये पर्युषणपर्व पंचमीके बदले छठका रखिये ताकि मैं पूजा, स्नात्र पौषधादि क्रियाएँ कर सकूँ।'

गुरुने उत्तर दिया कि—'पंचमी की रात्रिका उल्लंघन कदापि नहीं हो सकता है।' यह सुन कर राजाने चतुर्थीके दिन रखनेके लिये प्रार्थना की। राजा के आग्रहसे और 'कल्पसूत्र' के '**अंतरावियसे .....**' इस पाठका आधार लेकर कालकाचार्यने पर्युषण पर्व पंचमीके बदले चतुर्थीके दिन किया। उसी प्रकार चौमासी पूर्णिमाके बदले चतुर्दशी की। उस दिनसे समस्त (श्वेताम्बर) संघ में यह प्रथा प्रचलित हो गई।

३ इन्द्रको निगोदका स्वरूप समझाना

उपर्युक्त वृत्तान्तके साथ ही इन्द्रको निगोदका स्वरूप समझाने वाले कालकाचार्यकी कथा भी मिला दी गई है। वह कथा इस प्रकार है:—

कालकाचार्य सुख-शान्तिपूर्वक चारित्र पालते हुए

१ संस्कृत कथामें **प्रतिष्ठानपुर** के राजाका नाम **सातवाहन** दिया है, और प्राकृत कथानक में **सालवाहन** लिखा है। सम्भव है कि, लिखनेमें अशुद्धि हुई हो।

वहाँ रहते हैं, परन्तु उनके शिष्य प्रमादी हो गये। गुरुकी अत्यधिक प्रेरणा होने पर भी वे लोग क्रियानुष्ठान बराबर नहीं करते थे। उस समय आचार्यश्रीने ऐसा विचार किया कि—ऐसे प्रमादी शिष्योंके साथ रहनेकी अपेक्षा अकेला रहना अच्छा है। ऐसा विचार करके शय्यातर (घरके मालिक) को सब बातें समझा-बुझाकर शिष्यों को सोते छोड़ कर आचार्यश्रीने स्वर्णपुर की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पर कालकाचार्यके प्रशिष्य **सागरचन्द्राचार्य** रहते थे। कालकाचार्य उनके (सागरचंद्राचार्य के) उपाश्रयमें गये, और अपना परिचय नहीं कराते हुए स्थान माँग कर एक कोनेमें ठहर गये।

प्रातःकाल सागरचंद्राचार्यने सभासमक्ष मधुर ध्वनिमें व्याख्यान दिया, और उस वृद्ध साधु (कालकाचार्य) से पूछा कि—"हे वृद्ध मुने! कहिये मैंने कैसा व्याख्यान दिया?" कालकाचार्यने कहा—"बहुत अच्छा व्याख्यान दिया।" फिर सागरचंद्रने अहंकारपूर्वक कहा कि—"हे वृद्ध साधो! तुमको कुछ सिद्धान्तादिका संदेह हो तो पूछिये।"

कालकाचार्यने, सागरचंद्रको उनके अभिमानका भान करानेके लिये, विवाद प्रारंभ किया और कहा कि—'आचार्य जी, धर्मका अस्तित्व है या नहीं?' सागरचंद्रने उत्तर दिया—'धर्म अवश्य है।' कालकाचार्यने उसका निषेध किया।

दोनोंमें खूब वाद-विवाद हुआ। अंतमें सागरचंद्र निरुत्तर हो गए। फिर उन्होंने विचारा कि यह कोई सामान्य वृद्ध साधु नहीं है, बल्कि एक प्रतापी वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध और अतिशयशाली महात्मा मालूम होते हैं।

इधर उन प्रमादी शिष्योंने प्रातःकालमें उठ कर देखा तो गुरुजी दिखाई नहीं दिये। वे लोग बहुत ही लज्जित हुए। बादमें शय्यातर (घरके मालिक) द्वारा मालूम हुआ कि—ऐसे प्रमादी शिष्योंसे उकता कर गुरुश्री सागरचंद्राचार्य के पास 'सुवर्णपुर' गये हैं।

साधुओंने सुवर्णपुरकी तरफ प्रयाण किया। साधु-समुदायकी संख्या अधिक होनेके कारण उन्होंने तीन टोलियाँ कर दीं। ये टोलियाँ एकके पीछे एक—इस क्रममें जाती थीं। मार्गमें लोग पूछते हैं कि—'कालकाचार्यजी कौन हैं?' तब उत्तरमें पीछेकी टोली कहती है—'आगे गये।' और आगेकी टोली कहती है—'पीछे हैं।' यह मंडली सुवर्णपुरके समीप आई, तो सागरचंद्राचार्यने समझा कि—गुरुदेव आते हैं। ऐसा जानकर सामने गये, और पूछा कि—'गुरुदेव कौन हैं?' उत्तर मिला कि—'वे तो पहले ही तुम्हारे पास आ गये हैं।

सागरचंद्र विचारमें पड़ गये। जिनके साथ मैंने शास्त्रार्थ किया और जिन्होंने मुझको हराया, वे ही तो कहीं मेरे गुरुदेव श्री कालकाचार्य महाराज नहीं होंगे?

सबके साथ सागरचंद्राचार्य ने उपाश्रयमें आकर गुरुको वन्दना की और अपने अपराधकी माफी माँगी।

कहा जाता है कि—इस समय सौधर्मेन्द्रने सीमंधर स्वामीके निकट जाकर **निगोद विचार** सुना। और पूछा—'हे स्वामिन! भरतक्षेत्रमें इस प्रकारका निगोदका स्वरूप कोई जानता है?' सीमंधर स्वामीने उत्तर दिया—'प्रतिष्ठानपुरमें कालकाचार्य हैं वे इस विषयके जानकार हैं।' इन्द्र ब्राह्मणका रूप धर कर प्रतिष्ठानपुर[1] में आया, और कालकाचार्यसे निगोद-

[1] यहां पर कालकाचार्यका वृत्तान्त **स्वर्णपुर**में चल रहा है। इसी समय इन्द्र **प्रतिष्ठानपुर**में आता है और कालकाचार्यसे भेट

का स्वरूप पूछा। गुरुने बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे निगोद-का स्वरूप समझाया, जिसको श्रवण करनेसे ब्राह्मण-को अत्यन्त आनन्द हुआ। फिर उसने अपना हाथ लंबा करके आचार्यजी से पूछा कि—"महाराज! देखिये, मेरा आयुष्य कितना है? यदि थोड़ा हो, तो मैं कुछ साधना करलूँ।"

गुरुने हाथ देखा तो मालूम हुआ कि, इसका आयुष्य तो सागरोपमका है। कालकाचार्य समझ गये कि—यह तो इंद्र है। इसलिये आयुष्य न बतलाते हुए कहा—'हे इन्द्र, धर्मलाभोऽस्तु'। इसके बाद इंद्रने प्रकट होकर दसों दिशाओंमें उद्योत किया। वंदन करके स्तुति की, और सीमंधर स्वामीके पास जानेका सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

इन्द्र जाने लगा। तब गोचरी (भिक्षा) को गये हुए साधु वापिस आवें, उस वक्त तक ठहरनेके लिये कालकाचार्यने कहा। परन्तु इन्द्र न ठहरता हुआ अंतर्धान हो गया और उपाश्रयका मूल दरवाजा जिस दिशामें था उस दिशामेंसे फिरा कर उसे अन्य दिशा में करता गया। भिक्षासे आने पर साधुओंको यकायक यह परिवर्तन देखकर आश्चर्य हुआ। फिर गुरुको पूछनेसे इन्द्र के आनेका सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ।

इसके बाद कालकाचार्य दीर्घ काल पर्यंत निर्मल चारित्रको पाल कर अंतमें अनशन करके समाधिपूर्वक देवलोकमें पधारे।

उपसंहार

कालकाचार्य की कथा परसे यह तो निश्चय होता है कि, कालकाचार्य एक ऐतिहासिक पुरुष अवश्य थे। वे अनेक विद्याओंके पारगामी थे, शासन प्रभावक और बाणकलामें दक्ष थे। परंतु प्रश्न यहाँ पर यही उपस्थित होता है कि, उपर्युक्त तीनों घटनाएँ× भिन्न भिन्न समयमें होने वाले कालकाचार्यों के द्वारा हुई, या एक ही कालकाचार्यने यह सब किया? अथवा किसी एक कालकाचार्यने इन तीन घटनाओंमेंसे कोई सी दो की हैं?

एक बात अवश्य कही जा सकती है कि, गर्दभिल्ल-का उच्छेद करके शक राजाओंके स्थापक कालकाचार्य वीरनिर्वाणके बाद पाँचवीं शताब्दिमें हुए होने चाहियें। क्योंकि पाश्चात्य इतिहासकारोंकी शोधके अनुसार शकलोग भारतवर्षमें ई० सनकी पहली शताब्दि-में आये थे, और वीरनिर्वाणके बादका क्रम देखते हुए—वीर निर्वाणके बाद ६० वर्ष तक **पालक** राजा का राज्य रहा। इसके बाद १५५ वर्ष तक नवनन्दोंका राज्य चला। पश्चात् १०८ वर्ष तक मौर्य-साम्राज्य रहा। फिर—

करता है। सीमंधर स्वामीने भी प्रतिष्ठानपुरका कहा था। सम्भव है कि स्वर्णपुरसे विहार करके कालकाचार्यके प्रतिष्ठानपुरमें पधारनेके बाद-की यह घटना हो।

× प्रत्येक कथानकमें कालकाचार्यके माता, पिता, दीक्षा आदि का वृत्तान्त तो लगभग समान है। परन्तु एक संस्कृत (?) कथानक में बताया गया है कि—

निसयपणवीस इंदो,
चउसयतिपन्न सरस्सईगहिआ।
नवसय तिनवइ वीरा
चउत्थिए, जो कालगायरिआ॥ *

अर्थात्—महावीर निर्वाण से ३२५ वर्षमें इन्द्र प्रतिबोध करने वाले, ४५३ में सरस्वती साध्वीके लिये लड़ने वाले और ९९३में सम्वत्सरी पर्व पंचमीके बदले चतुर्थीको करने वाले कालकाचार्य हुए।

[* यह पद्य कौनसे ग्रन्थसे उद्धृत किया गया है, यह भी बतलादिया जाता तो अच्छा होता। —सम्पादक]

३० वर्ष तक पुष्यमित्र का,
६० ,, बलमित्र-भानुमित्रका,
४० ,, नभोवाहन का,
१३ ,, गर्दभिल्ल का, और
४ ,, शक राजाओंका राज्य चला।

इस तरह वीर निर्वाणके ४७० वर्ष व्यतीत होनेके बाद 'शक' के पश्चात् 'विक्रमादित्य' राजा हुआ। इस हिसाबसे वीर-निर्वाणके बाद ४५३ वर्षमें गर्दभिल्ल गद्दी-पर आता है। इसके गद्दीपर आनेके बाद ही कुछ समयके भीतर सरस्वती साध्वीके उठाए जानेकी और कालकाचार्य-द्वारा 'शक' लोगोंके आनेकी घटना होनी चाहिये, और इसीसे सरस्वती साध्वीके हरणका समय ४५३ अथवा उसके आस पासका मानना ही उचित मालूम होता है। गर्दभिल्लने १३ वर्ष राज्य किया अर्थात कालकाचार्य ने ४६६ में शक लोगोंका राज्य स्थापित कराया, और ४७० में विक्रमादित्य हुआ। इस कथनसे यह मालूम होता है कि, 'शक' लोगोंका राज्य उज्जैनमें मात्र ४ वर्ष तक ही रहा। 'शक' लोगो के राज्यसम्बन्धमें पहले दिए हुए एक नोटमें जैसा कि कहा गया है— 'शक लोगोंने उज्जैनमें थोड़े ही समय तक राज्य किया'। इस बातके लिये यह प्रमाण एक विशेष सबूतके तौर पर है।

अब संवत्सरी पर्व पंचमीके बदले चतुर्थीका प्रारंभ करने वाले कालकाचार्य वीर सं०९९३में अर्थात १००० वीं शताब्दिमें हुए हैं, यह बात यदि निश्चित हो जाती हो तो फिर—

१ बलमित्र और भानुमित्रको भरोंचमें साथ लेना,
२ बलमित्र और भानुमित्र के निमंत्रणको स्वीकार करके भरोंच जाना और पुरोहित के साथ शास्त्रार्थ करना,
३ ब्राह्मणके वेषमें आये हुए इन्द्रको निगोदका स्वरूप समझाना, तथा—
४ शिष्योंके प्रमादी होनेके कारण उनको छोड़ कर चले जाना—

इत्यादि सारी घटनायें कौनसे कालकाचार्यके समयमें, कब और कहाँ पर हुईं इसका निर्णय करना बाकी रहता है।

इसके अतिरिक्त कालकाचार्यने गुणाकर सूरिके पास दीक्षा ग्रहण की वे गुणाकर सूरि, तथा एक कालकाचार्य प्रमादी शिष्योंको छोड़ कर अपने प्रशिष्य सागरचंद्राचार्यके पास जाते हैं, वे सागरचन्द्राचार्य कौन थे? कब हुए? इन सब बातोंकी शोध करना भी आवश्यक है। ऐतिहासिक विद्वान इस विषयकी ओर सविशेष रूपसे ध्यान दें, यही अभिलाषा है।

अनुवादक—भँवरलाल लोढ़ा जैन

हृदयोद्बोधन *

हृदय! तू कहना मेरा मान।
सबसे बंधुभाव रख मनमें, तज अनुचित अभिमान।
नीच न समझ किसी नरको तू, नीच कर्म जिय जान॥१
भाव-भेष-भाषा-भोजन हो भाइपन के सामान।
इनको एक विवेक-युक्त कर, हो तेरा उत्थान॥ २॥
क्या जीना जो निज हित जीना, शूकर-स्वान-समान।
कर पावे यदि देशहेतु कछु, तो तू है धीमान॥ ३॥ *

* इटावाके स्व० पंडित पुत्तूलालजी शर्माके उनके पुत्र चौ० कमलालालजी द्वारा प्राप्त।

अकलंकदेवके 'चित्रकाव्य' का रहस्य

और

हारावली-चित्रस्तव

'अनेकान्त' की गत किरणमें 'अकलंकदेवका चित्रकाव्य' इस नामसे एक स्तोत्र कुछ परिचयके साथ दिया गया है। परिचयमें स्तोत्रके अंतिम प्रशस्ति-पद्य परसे यह बतलाया गया था कि इस स्तोत्रका नाम 'चित्रकाव्य' है, यह 'अकलंकदेव' का बनाया हुआ है और विक्रम संवत १५७४ का बना हुआ जान पड़ता है। साथ ही, पाठकोंसे यह निवेदन किया गया था कि, यदि किसीको किसी दूसरे शास्त्रभंडारसे इस स्तोत्र की कोई प्रति या इसकी कोई संस्कृतटीका उपलब्ध हो तो वे, उसकी विशेषताओंको नोट करते हुए, उससे सूचित करनेकी जरूर कृपा करें, जिससे रचना-समय-का ठीक निर्णय किया जा सके और पाठकी अशुद्धि आदिका भी संशोधन हो सके। इस पर पाटनसे मुनि पुण्यविजय जीने 'स्तोत्ररत्नाकर द्वितीयभाग सटीक' की एक प्रति मेरे पास भेजी है, जो निर्णयसागर प्रेस-द्वारा विक्रम संवत् १९७० की छपी हुई है और जिसमें 'चतुर्हारावली-चित्रस्तव' नामका एक स्तोत्र दिया हुआ है। साथ ही, लिखा है कि—"इस (स्तोत्र) को देख कर आप जैसा उचित समझें स्पष्टीकरण करें।"

'चतुर्हारावली-चित्रस्तव' को देखनेसे मालूम हुआ कि इसमें १ वर्तमान-जिनचतुर्विंशतिका, २ अतीतजिन-चतुर्विंशतिका, ३ अनागत-जिनचतुर्विंशतिका और ४ विहरमाण-शाश्वतजिनस्तुतिः, ऐसे चित्रस्तवोंकी चार हारावली शामिल हैं, जिन सबका टाइप, ढंग और साहित्य एक प्रकारका है—प्रत्येकमें चौदह चौदह पद्य है, शुरूके बारह बारह पद्य प्रायः उपजाति छंदोंमें और अंतका पद्य सबका शार्दूलविक्रीडित छंदमें है। रहा १३ वाँ पद्य, वह सबका भिन्न भिन्न छंदोंमें है—अर्थात् १ली हारावलीका 'वंशस्थ' में, दूसरीका 'उपेन्द्रवज्रा' में, तीसरी का 'उपजाति' में और चौथी का 'इन्द्रवज्रा' छंद में है। यह तेरहवाँ पद्य प्रत्येक हारावलीमें नायकमणि-स्थानीय पद्य है—अर्थात् बारह पद्योंके चार चार चरणोंको लेकर और प्रत्येक चरण-के आदि-अंतमें तीर्थकरोंके नामाक्षररूपी मणियोंको गूँथ कर जो हारयष्टि तय्यार की गई है उसके मध्यमें नीचे रहने वाला प्रधान-मणि-जैसा है। पहली हारा-वलीमें यह 'पद्मजाति' चित्रको लिए हुए है—जो 'न' अक्षरको मध्य कर्णिकामें रख कर नकार-भिन्न शेष अक्षरोंको २४ पद्मदलोंमें स्थापित करनेसे बनता है,—दूसरीमें 'स्वस्तिकजाति' को, तीसरीमें 'वज्रबन्धजाति' को, और चौथीमें 'बन्धुकस्वस्तिकजाति' चित्रको लिये हुए है। १४ वाँ पद्य, प्रत्येक हारावलीमें, समाप्ति सूचक अन्त्य मंगलका पद्य है और उसमें कहा गया है कि 'जिनके नाममय सुवर्ण (शोभनाक्षर) मणियोंसे यह सत्पुरुषोंके कण्ठको भूषित करने वाली हारावली निर्मित की गई है, वे सब जिनेन्द्रदेव मंगलकारी होवें।' साथ ही, यह पद्य अर्थान्तरन्यासमें कविके नामको भी उनके गुरुके नामसहित लिये हुए है, यह इसमें

एक चित्रकारी है। इन सब बातोंके अतिरिक्त, यह पद्य शब्द-साहित्यकी दृष्टिसे भी प्रायः सर्वत्र समान है— इसका दूसरा और तीसरा चरण सब हारावलियोंमें एक है, चौथा चरण भी तीन हारावलियोंमें एक ही है— पहलीमें वह थोड़ीसी विशेषताको लिये हुए है—और पहला चरण मात्र नायकमणिके नामके परिवर्त्तनको ही लिये हुए है; जैसे पहलीमें 'इत्थं नायकपद्मराग-रुचिरा, तीसरी में 'इत्थं नायकवज्रबन्धरुचिरा', दूसरीमें 'इत्थं स्वस्तिकनायकेन रुचिरा' और चौथी में 'इत्थं बन्धुकनायकेन रुचिरा' ऐसा पाठभेद है। बाकी 'सत्कंठभूषाकरी' यह चरणांश सब में समान है।

इस तरह यह 'चतुर्हारावली-चित्रस्तव' नामका स्तोत्र एक ही विद्वान् कविके रचे हुए चार स्तोत्रोंका संग्रह है, जिनमेंसे प्रत्येक 'हारावली-चित्रस्तव' कहलाता है और यह नाम बहुत सार्थक जान पड़ता है, क्योंकि स्तुतिपद्यके प्रत्येक पादके आदि और अंतमें तीर्थकरों-के नामाक्षरोंका जो विन्यास किया गया है वह हारका अनुकरण करता है—हारमें जिस प्रकार आदि और अंतकी मणियाँ बराबर रहती हैं उसी प्रकार इसके एक पद्यमें एक ओर आदि (पूर्वक्रमानुवर्त्ती) तीर्थकरके नामाक्षर हैं तो दूसरी ओर अन्त्य (पश्चिमक्रमानुवर्त्ती) तीर्थकरके नामाक्षर हैं। यही बात स्तोत्रकी स्वोपज्ञ-टीका * की प्रस्तावनामें निम्न शब्दों द्वारा भी सूचित की गई है :—

पादस्याद्यन्तयोर्हारानुकारविन्यस्तैर्जिन-नामवर्णैश्चत्वारः स्तवाः।

अब मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि प्रथम हारा-वली-चित्रस्तवके शुरूमें जो बारह पद्य हैं वे ही पद्य ज्योंके त्यों अकलंकदेव-नामाङ्कित 'चित्रकाव्य' में पाये जाते हैं, और इससे, 'हारावली' के उक्त परिचयको ध्यानमें रखते हुए, यह स्पष्ट जान पड़ता है कि ये पद्य 'हारावली-चित्रस्तव' से लिये गये हैं। हारावली-चित्र-स्तव के निर्माता चारित्रप्रभ सूरि के शिष्य 'जयतिलक' सूरि हैं, जो कि 'आगमिक-जयतिलकसूरि' कहलाते हैं और एक प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् हैं। मालूम होता है अकलंकदेव नामके किसी भट्टारकने अथवा अक-लंकदेव के नामसे किसी दूसरे ही शख्सने इन पद्यों-के अंतमें अकलंकदेवके नामादिकका एक पद्य जोड़ कर, जो कि बहुत कुछ साधारण, चित्रकलासे रहित एवं बे-मेलसा है, इन्हें अपनी अथवा अपने सम्प्रदायकी कृति बनानेकी दुश्चेष्टा की है। इस प्रकार के प्रयत्न निःसन्देह बड़े ही नीच प्रयत्न हैं और वे स्पष्ट रूपसे जालसाजी तथा काव्य-चोरीको लिये हुए हैं। जो लोग दूसरोंके साहित्यपर ऐसी डाकेजनी करते हैं उन्हें सोमदेवाचार्यने साफ तौर पर 'काव्य-चोर' तथा 'पातकी' लिखा है। यथा:—

> कृत्वा कृतीः पूर्वकृताः पुरस्ता-
> त्प्रत्यादरं ताः पुनरीक्षमाणः।
> तथैव जल्पेदथ योऽन्यथा वा
> स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च॥

इस प्रकारके काव्यचोर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें होते रहे हैं। कई वर्ष पहले मेरे द्वारा ऐसे लोगोंके कुछ ग्रन्थोंकी परीक्षा भी की जा चुकी है। कभी किसी दिगम्बरने श्वेताम्बरोंके 'विवेकविला-स' को 'कुंदकुंदश्रावकाचार' बनाया था तो एक श्वेता-म्बराचार्यने दिगम्बराचार्य अमितगति की 'धर्मपरीक्षा'-

---

* इस टीकाका मंगलाचरण इस प्रकार है:—
ध्यात्वार्हतः महस्तेजः सुखव्याख्यानहेतवे।
चतुर्हारावलीचित्रस्तवटीकां करोम्यहम्॥

को ही अपनी कृति बनानेका पुण्य कमा डाला था। इस प्रकारकी कुछ घटनाओंका पूरा हाल पाठकोंको 'ग्रंथपरीक्षा' के तीनों भाग पढ़नेसे मालूम हो सकता है।

यह सब साम्प्रदायिक मोह तथा मिथ्या अहंकारका परिणाम है जो इस प्रकारकी कुचेष्टाएँ की जाती हैं और उन्हें करने वाले निःसन्देह क्षुद्र व्यक्ति ही होते हैं। अन्यथा, एक सम्प्रदाय वाला दूसरे सम्प्रदायवालेको अपने किसी ग्रंथ या स्तुति-स्तोत्रके पढ़नेसे कोई मना नहीं करता; चुनाँचे कितने ही सुंदर ग्रंथ तथा स्तोत्रादिक एक सम्प्रदाय के दूसरे सम्प्रदायमें बड़े आदरके साथ पढ़े जाते हैं। किसी स्तोत्रके कर्तृत्वमें अपने समुदाय के विद्वान्का नाम न होने से वह कुछ कम फलदायक नहीं हो सकता और न होनेसे अधिक फल ही दे सकता है। स्तुतिके विषय जिनेन्द्रदेव उभय सम्प्रदायोंके लिये समान रूपसे पूज्य हैं। अतः इस प्रकारकी चेष्टाएँ व्यर्थ हैं। अस्तु।

आगमिक जयतिलक सूरिके बनाये हुए चार ग्रंथ और उपलब्ध हैं— १ मलयसुंदरीचरित्र, २ सुलसाचरित्र, ३ हरिविक्रमचरित्र और ४ कल्पमंजरी कथाकोश। इनमेंसे हरिविक्रमचरित्रकी एक प्रति "संवत् १४६३ वर्षे कार्तिक वदी १२ दिने" इस उल्लेख वाली पाटनके भंडारमें मौजूद है, ऐसा मुनि पुण्यविजयजी सूचित करते हैं और उसकी पुष्पिका इस प्रकार देते हैं:—

"इत्यागमिक-श्रीचारित्रप्रभसूरि-शिष्यश्री-जयतिलकसूरिविरचिते तद्बान्धवामरकीर्तिगणिविलिखिते श्रीहरिविक्रमचरित्रे महाकाव्ये श्री-हरिविक्रममहोदयपदप्रापणो नाम द्वादशः सर्गः।"

और 'जैनग्रंथावली' से मालूम होता है कि हरिविक्रम काव्य पर जयतिलक सूरिजीने खुद एक वृत्ति भी लिखी है और उसकी रचनाका सम्वत् १४३६ है। इससे सूरिजीका समय विक्रमकी १५ वीं शताब्दीका प्रायः पूर्वार्ध पाया जाता है। इसी समयके मध्यवर्ती किसी वक्त 'चतुर्हारावली-चित्रस्तव' की रचना हुई समझनी चाहिये।

नीचे प्रथम हारावली-चित्रस्तवको सूरिजीकी स्वोपज्ञ संस्कृत व्याख्या सहित दिया जाता है। साथमें हिन्दी अर्थ भी लगा दिया गया है। इससे सभी पाठक इस स्तोत्रका यथेष्ट रसास्वादन कर सकेंगे। स्तोत्रमें स्तुतिका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि एक पद्यके पूर्वार्धमें पूर्व क्रमानुवर्ती एक तीर्थंकरका स्तवन है तो उत्तरार्धमें उत्तर क्रमानुवर्ती दूसरे तीर्थंकरका स्तवन है। उन तीर्थंकरों के संख्याक्रमकी सूचना प्रत्येक पद्यके ऊपर बारीक टाइपमें दे दी गई है और उनके नामाक्षरोंको दोनों ओर एक एक खड़ी लाइन लगा कर पृथक् कर दिया गया है। इन लाइनोंको हारके डोरेका स्थानापन्न समझना चाहिये, उक्त स्तोत्रमें भी इसी प्रकारसे लाइन लगाकर पद्योंके अक्षरोंकी स्थापना की गई है।

—सम्पादक

हारावली-चित्रस्तव

पूर्वपश्चिमजिननामाक्षरहारनिबद्धं जिनद्वयस्तवनम् —

श्री	नाभिसूनो ! जिनसार्वभौ	म,
वृ	षध्वज त्वन्नतये ममे	हा।
ष	द्जीवरक्षापर देहि दे	वी
भ	र्चितं स्वं पदमाशु वी	र॥१

व्याख्या—हे श्रीनाभिसूनो ! हे जिन-सार्वभौम ! सामान्यकेवलिचक्रवर्त्तिन् ! वृषध्वज !

वृषभाङ्क ! त्वन्नतये भवन्नमस्काराय मम मे ईहा वाञ्छा वर्त्तत इति सम्बन्धः। श्री नाभिसूनुस्तावदन्योऽपि कोऽपि भविष्यतीति आशंसानिरासार्थं (जिनसार्वभौमेतिपदं)। जिनसार्वभौमाः सर्वेऽप्यर्हन्तः, अतः प्रथमजिननिर्धारणाय वृषध्वजेति पदं । इति पूर्वार्धेनाद्यं जिनं स्तुत्वा परार्धेन पश्चिमजिनस्तवमाह—हे षड्जीवरक्षापर ! पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणाः षड् जीवास्तेषां रक्षा पालनं तत्परः षड्जीवरक्षापरः तस्य संबोधनं । हे वीर वर्धमान ! त्वं आशु शीघ्रं स्वं निजं पदं मोक्षलक्षणं स्थानं देहि वितर । किं विशिष्टं पदं ? देवीभर्त्रर्चितं देव्यो देवाङ्गनास्तासां भर्तारो देवास्तैरर्चितं पूजितं तैरप्याराधितं सर्वोत्कृष्टत्वादित्यर्थः ॥ १ ॥

अर्थ—हे श्री नाभिराजाके पुत्र जिनों—(सामान्य केवलियों)के चक्रवर्ति वृषध्वज—श्रीवृषभ ! आपको नमस्कार करनेकी मेरी इच्छा है। हे षट्कायके जीवोंकी रक्षामें तत्पर वीर— महावीर ! आप अपना देवोंसे अर्चित पद (मोक्ष पद) मुझे दीजिये।

द्वितीय-त्रयोविंशतितमजिनस्तवनम्--

श्री	नन्दनाद्या व्यथयन्ति पा	पा,
अ	वाऽऽप्त देवाऽजितमां सुपा	र्श्व।
जि	ना ऽङ्गिनांरोगततिर्विली	ना,
त	वाभिधानादपि पार्श्वना	थ॥ २

व्याख्या—हे आप्त ! हितकारिन् देव अजित ! श्रीनन्दनाद्याः कामक्रोधलोभमानहर्षाः पापाः पापिष्ठा मां व्यथयन्ति पीडयन्ति । त्वं अव रक्ष । हे सुपार्श्व सुष्ठु शोभनं पार्श्वं समीपं यस्य तस्यामन्त्रणं सुपार्श्व शोभनसमीप । अथ द्वितीयार्धव्याख्या—हे पार्श्वनाथ ! जिन ! अङ्गिनां शरीरिणां रोगततिर्व्याधिपरंपरा तव भवतोऽभिधानान्नामतोऽपि विलीना विलयं जगामेत्यर्थः ॥ २ ॥

अर्थ—हे शोभनसमीप आप्त (हितकारी) देव श्रीअजित ! कामादिक (काम, क्रोध, लोभ, मान, हर्ष) पाप मुझे सताते हैं, आप मेरी रक्षा कीजिये। हे जिन पार्श्वनाथ ! आपके नामसे देहधारियोंकी रोग परम्परा विलीन हो गई है।

तृतीय-द्वाविंशतितमजिनस्तवनम्—

सं	सारपारो जनि मेऽद्य जा	ने,
भ	वत्पदौ संभव यद्यजा	मि।
व	श्याः स्वयं ते मदमोहमा	ना,
अ	नङ्गभङ्गे सति नेमिना	थ॥३

व्याख्या— हे सम्भव ! तृतीय जिनपते ! अहमिति जाने ऽवगच्छामि । अद्य मे मम संसारपारोऽजनि भव समाप्तिर्बभूव । यद्यस्मात् कारणात् भवत्पदौ त्वच्चरणौ यजामि पूजयामि। अथापरार्धव्याख्या—हे नेमिनाथ ! द्वाविंशतितमजिन ! अनंगभंग कामजये सति मदमोहमानाः स्वयमात्मना वश्या वशत्वं ययुरित्यर्थः ॥३॥

अर्थ—हे संभव ! चूँकि मैं आपके चरणोंकी पूजा करता हूँ, इससे मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं संसार से पार हो गया हूँ—मेरी भव समाप्ति हो गई है। हे नेमिनाथ ! कामदेवके जीते जाने पर मद, मोह और मान स्वयं ही वशवर्ती हो गये हैं।

चतुर्थैकविंशतितमजिनस्तवनम्—

भि	देलिमैना अभिनन्दने	न,
नं	द त्वमंह्री तव पूजया	मि।
द	या दरिद्रे ऽपि नृपे समा	ना,
न	मे कथं ते मयि सा न ना	थ॥४

व्याख्या—हे अभिनन्दनेन ! हे अभिनन्दनस्वामिन् ! त्वं नन्द समृद्धिं भज । किं विशिष्टस्त्वं ? भिदेलिमैना भिदेलिमानि भेदेन निर्वृत्तानि एनांसि पापानि यस्य स तथा । विसर्गलोपे सन्धिनिषेधः । तथाऽहं तव भवतः अंह्री पादौ पूजयामि अर्चयामीति । अथोत्तरार्ध-व्याख्या—हे नमे ! एकविंशतितमजिनेन्द्रनाथ स्वामिन् ते तव दया कृपा नृपे राज्ञि दरिद्रेऽपि समाना तुल्या वर्त्तते । तर्हि सा दया मयि विषये कथं न ? यदि सा दया मयि विषये भवति, तदाऽहं तया संसारवासान्मुक्तो भवामीत्यर्थः॥४॥

अर्थ—हे विनष्टपाप स्वामि अभिनन्दन ! मैं आपके चरण पूजता हूँ, आप समृद्धिको प्राप्त हों। हे नमे—नमिनाथ ! आपकी दया—कृपा—राजा और दरिद्र दोनोंके प्रति समान रूपसे वर्तती है, फिर मेरे ऊपर वह क्यों नहीं है—(यदि वह दया मुझ पर होवे तो मैं संसारवाससे मुक्त हो जाऊँ)।

पंचम-विंशतितमजिनस्तवनम्—

श्री	खन्डवत्तापहरा शिव	श्री-
सु	खाय गीस्ते सुमते प्रजा	सु।
म	हस्तु ते सुवृतदेव ती	व्र
ति	रस्क्रियाकृत्तमसोऽपि ता	त ५

व्याख्या—हे सुमते ! पञ्चम जिनपते ते तव गीर्वाणी प्रजासु लोकेषु शिवश्रीसुखाय मोक्षलक्ष्मीशर्मणे वर्तते । किं विशिष्टा गीः ? तापहरा बाह्याभ्यन्तरसन्तापापहारिणी । किंवत् ? श्रीखंडवत् चन्दनवत् । अथोत्तरार्ध व्याख्या—तुः पुनरर्थे । हे सुव्रत स्वामिन् ते तव महस्तेजोऽपि तमसः पाप्मनः तीव्र तिरस्क्रियाकृत् अत्यर्थ-तिरस्कारकारि, किं पुनस्तव दर्शनमितिज्ञेयं । हे तात ! हे जगत्पितः इत्यामन्त्रणं सुव्रतस्येत्यर्थः॥५

अर्थ—हे सुमते—श्रीसुमति जिन ! चन्दनकी तरह तापको हरने वाली आपकी वाणी प्रजा जनोंमें मोक्षलक्ष्मीके सुखका प्रादुर्भाव कराने वाली है । और हे जगत्पिता श्रीसुव्रत देव आपका तेज भी अंधकार-का—पाप का—अत्यन्त तिरस्कार करने वाला है—फिर दर्शनकी बात ही क्या है ?

* षष्ठैकोनविंशतितमजिनस्तवनम्—

प	द्मप्रभा ऽक्षिद्वयमंहसा	म-
द्म	रं मुदे ते स्थिरपद्मव	ल्लि।
प्र	भो! प्रभा ते भुवि दीप्यमा	ना,
भ	जद्यमीत्वं जिन मल्लिना	थ॥६

व्याख्या—हे पद्मप्रभ ! षष्ठजिनपते! ते तव अक्षिद्वयं लोचनयुगलं मुदेऽस्तु प्रमोदाय भवतु ! कथं भूत ? अंहसां पापनां अमरं भक्षणशीलं ! पुनः कथंभूतं स्थिरपद्मवल्लि स्थिरा निश्चला पद्मवल्ली पद्मलता यस्य तत्तथा । ध्यानस्तिमितत्वान्निश्चलपद्मलताकमित्यर्थः। अथोत्तरार्ध-व्याख्या—हे प्रभो स्वामिन् मल्लिनाथ जिन ! ते तव प्रभा कान्तिर्भुवि पृथिव्यां दीप्यमाना इतस्ततो दीव्यन्ती यमीत्वं यमुनात्वमभजदशिश्रि-

यत् । नीलवर्णत्वाद्यमुनःप्रवाहानुकारं चकारेत्यर्थः ॥ ६ ॥

अर्थ—हे पद्मप्रभ ! (ध्यानावस्थामें) पलकोंकी चंचलतासे रहित तथा पापोंकी भक्षण शीलताको लिये हुए आपके दोनों नेत्र बड़े ही आनन्ददायक हैं। और हे स्वामिन् मल्लिनाथ जिन ! पृथिवी पर कुछ दीप्यमान होती हुई आपकी प्रभा (कान्ति) ने यमुनाके भावको धारण किया है—नीलवर्ण होनेसे यमुनाके प्रवाहका अनुसरण किया है।

सप्तमाष्टादशजिनयुगलस्तवनम्—

श्री	मानसुपार्श्वोऽपिहिनिस्तमा अ-	
सु	मत्सुखं देशनया चकार ।	
पा	रंगतः पातकवल्लरी प-	
र्श्व	ग्रं जनं चारपतिः पुनाति ॥ ७	

व्याख्या—श्रीमान् तीर्थकरलक्ष्मीवान् सुपार्श्वः सप्तमो जिनः निस्तमा अपि निर्मोहोऽपि हि निश्चयेन देशनया धर्मोपदेशदानेन असुमत्सुखं सर्वप्राणिसौख्यं चकार कृतवानित्यर्थः । अथोत्तरार्धव्याख्या—चः समुच्चये अरपतिररनाथो जनं लोकं पुनाति पवित्रयति । कथंभूतोऽरपतिः ? पारंगतः संसारसमुद्रपारं प्राप्तः । अपरं कथंभूतः ? पातकवल्लरीपरश्वग्रं पातकान्येव वल्लर्यः पर्णोऽग्रं परश्वग्र, पातकवल्लरीणां परश्वग्रं पापलताकुठाराग्रं, इदमाविष्टलिङ्गमित्यर्थः ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रीसुपार्श्वने निर्मोह होते हुए भी निश्चयसे अपनी देशना-द्वारा धर्मोपदेश देकर सर्व प्राणियोंके सुखका विधान किया है। और संसारसमुद्रसे पारको प्राप्त हुए तथा पापलताके लिये कुठाराग्रके समान अरपति (अरनाथ) लोकको पवित्र करते हैं।

अष्टम-सप्तदशजिन-स्तवनम्—

चं	द्रप्रभाणोर्हर मेऽघशं	कुं,
द्र	ष्टाऽस्मि हृत्ते समकुम्भिकुं	थुं ।
प्र	बालतां मुञ्चति नाप्ययं	ना,
भ	क्तः सुवर्णे त्वयि कुन्थुना	थ ॥ ८

व्याख्या—हे चन्द्रप्रभ ! अष्टमजिनपते ! त्वं मे मम अणोर्दुर्बलस्य अघशङ्कुं पापशङ्कुं (शल्यं) हर उद्धर । यतोऽस्म्यहं ते तव हृच्चेतः समकुम्भिकुन्थु द्रष्टाऽवलोकयिता कुम्भीच कुन्थुश्च कुम्भिकुन्थू, समौ निर्विशेषं स्थितौ कुम्भिकुन्थू यत्र तत्तथा । किमुक्तं भवति ? भगवन् तव कुम्भिनि कुञ्जरे कुन्थौ च सूक्ष्मजीवविशेषे समाना मैत्री, अतो मम दुर्बलस्य व्यथाकारिपापशल्यापहारं कुर्विति । अथोत्तरार्धव्याख्या—हे कुन्थुनाथ ! सप्तदशजिनेश्वर ! अयं मल्लक्षणो ना पुमान् त्वयि भवति सुवर्णे शोभनवर्णे भक्तोऽपि भक्तियुक्तोऽपि प्रबालतां प्रकृष्टमूर्खतां न मुञ्चति न त्यजति । अन्यो यः सुवर्णे शोभनाक्षरे मन्त्रे भक्तो भवति स मूर्खो न स्यात्, अहं पुनरद्यापि ज्ञानवान्न भवामीति भावार्थः ॥ ८

अर्थ—हे चंद्रप्रभ ! आपका हृदय हाथी और कुन्थु (सूक्ष्म जीवविशेष) दोनोंके प्रति समान है—समान मैत्रीभावको लिये हुए है—अतः आप मुझ दुर्बलके (व्यथाकारी) पापशल्यको दूर कीजिये। और हे कुन्थुनाथ ! आप शोभनवर्णका भक्त होता हुआ भी यह मनुष्य मूर्खताको नहीं छोड़ता है— (दूसरा जो कोई शोभनाक्षर मंत्रका भक्त होता है वह मूर्ख नहीं होता परंतु मैं अभी तक भी ज्ञानवान् नहीं हुआ हूँ, यह भाव है)।

नवम-षोडशजिन स्तवनम्—

श्री	रङ्गजा ते सुविधे सदा	शां,
सु	धांशुगौरी ... विशदीकरो	ति।
वि	श्वैकवन्द्यो ऽसिमृगाङ्क ना	ना,
धि	नोषिकोकानपिशान्तिना	थ ९

व्याख्या—हे सुविधे ! नवमजिनेन्द्र ! ते तवाङ्गजा शरीरसंभवा श्रीः कान्तिः सदाशां साधुकामनां अविशदामपि विशदां करोति विशदीकरोति निर्मली करोतीत्यर्थः। किंविशिष्टा श्रीः ? सुधांशुगौरी चन्द्रधवला । अथोत्तरार्ध-व्याख्या—हे शान्तिनाथ ! षोडशजिनेन्द्र ! मृगाङ्क ! मृगलाञ्छन ! त्वं विश्वैकवन्द्योऽसि विश्वजनैकवन्दनीयोऽसि । न केवलं विश्वैकवन्द्यः (किं पुनः ?) नाना अनेक प्रकारान कोकान विचक्षणानपि धिनोषि प्रीणासि । अन्यो यो मृगाङ्कः स विश्वैकवन्द्यः, परं कोकान् चक्रवाकान न धिनोति । परं भगवान मृगाङ्कोऽपि विश्वैकवन्द्यः कोकप्रीतिकारकश्चापीत्यर्थः ॥९॥

अर्थ—हे श्रीसुविधितीर्थंकर ! आपके शरीर की चन्द्रमाके समान उज्ज्वल कान्ति सदाशाको—साधु कामनाको—विशद करती है। हे मृगलांछन शान्तिनाथ! आप विश्वैकवन्द्य हैं और अनेकप्रकार के कोकों (विचक्षणों) को भी संतुष्ट करते हैं। भावार्थ—दूसरा जो मृगलाँछन—चंद्रमा—है वह विश्वैकवन्द्य जरूर है परन्तु कोकों (चकवों) को सन्तुष्ट नहीं करता है परंतु आप मृगलांछन होते हुए भी विश्वैकवंद्य और कोकप्रीतिकारक दोनों गुणोंको लिये हुए हैं।

दशम-पञ्चदश जिनस्तवनम्

श्री	शीतल त्वां जितमोहयो	ध,
शी	लाढ्य याचे जिनराजश	र्म।
त	व स्वरूपं हृदि संदधा	ना,
ल	यं लभन्ते त्वयि धर्मना	थ।१०

व्याख्या—हे श्रीशीतल ! दशमजिनपते ! जितमोहयोध ! निर्जितमोहमल्ल ! शीलाढ्य ! शीलधनेश्वर ! अहं त्वां भवन्तं जिनराजशर्म तीर्थकरसौख्यं याचे मार्गयामि । अथापरार्धव्याख्या—हे धर्मनाथ ! पञ्चदशजिनेन्द्र ! जीवास्तव स्वरूपं भवतो वीतरागत्वं हृदि हृदये संदधाना ध्यायन्तः त्वयि भवति लयं लभन्ते स्थानं प्राप्नुवन्ति इत्यर्थः ॥१०॥

अर्थ—हे मोहमल्लको जीतने वाले शीलधनेश्वर श्रीशीतल ! मैं आपसे जिनराजके सुखकी याचना करता हूँ। और हे धर्मनाथ ! आपके स्वरूपको—वीतरागताको—हृदयमें धारण करने वाले जीव आपमें लयको प्राप्त होते हैं।

एकादश-चतुर्दशजिनस्तवनम् —

श्री	वत्मिनि श्रीर्हृदि तावके	श्री-
श्रे	यांस सक्ता नितरामहो	अ।
यां	मे निजां देहि वदान्य दी	नं,
स	मीक्ष्य वीराग्रिम मामनं	त११

व्याख्या—अहो इति संबोधने । श्रीश्रेयांस ! एकादशजिनपते ! अः विष्णुः, अ इव अः, लुप्तोपमत्वाद्विष्णूपमः, तस्य सम्बोधनं अहो अ ! अहो श्रेयांसविष्णो ! ओदन्तनिपातत्वा-

दमन्धिः। तावके भवदीये हृदि हृदये श्रीर्लक्ष्मीः नितरामतिशयेन सक्ताआसक्ता वर्तते। किंविशिष्टे हृदि? श्रीवत्सिनि श्रीवत्सयुक्ते। अथापरार्थव्याख्या—हे अनन्त! चतुर्दशजिनपते! वीराग्रिम! युद्धदानधर्मवीरशिरोमणे! वदान्य! दानशूर!प्रियवाक्य! इमानि त्रीण्यामन्त्रणपदानि मां दीनं दुःस्थं समीक्ष्य विलोक्य, मे मह्यं, निजां स्वां, यां लक्ष्मीं, देहि वितरेत्यर्थः ॥११॥

अर्थ—अहो श्रीश्रेयांस विष्णु! आपके श्रीवत्सलांछनसे युक्त हृदयमें लक्ष्मी अत्यन्त आसक्त हो कर रहती है। और हे वीराग्रिम (वीरशिरोमणि) वदान्य (दानशूर प्रियवाक्य) श्रीअनन्त! मुझे दीन देख कर आप अपनी लक्ष्मी दीजिये।

द्वादश-त्रयोदशजिनस्तवनम्—

वा	ग्वासपूज्यागमिकी श्रुति	श्री,
सु	खं कपन्ती भवताऽभ्यसा	वि।
पू	र्णा ममाशा विमलाद्य ना	म,
ज्य	या समं लीनशिरो नतोऽ	स्तं१२

व्याख्या—हे वासुपूज्य! द्वादशजिनपते! आगमिकी आगामिसंबन्धिनी वाग्वाणी भवता त्वया अभ्यसावि अभिसुषुवे। किं कुर्वती? श्रुतिश्रीसुखं कपन्ती वेदलक्ष्मीमुखं विनाशयन्ती वेदमार्गोच्छेदिकेत्यर्थः। अथोत्तरव्याख्या—नाम संबोधने हे विमल! त्रयोदशजिनपते! अद्य ममाशा पूर्णा मनोरथोऽपूरि। अहं ज्यया पृथिव्या समं लीनशिरो यथा भवति एवमलमत्यर्थं नतोऽस्मि क्षितितलनिहितोत्तमाङ्गः यथा भवति एवं प्रणतोऽस्मीत्यर्थः॥ १२॥

अर्थ- हे वासुपूज्य! श्रुतिश्रीके सुखका विनाश करती हुई—वेदमार्गकी उच्छेदिका—आगमिकी (आगामिसम्बंधिनी) वाणी आपके द्वारा सिखलाई गई है। और हे श्रीविमल! आज मेरी आशा पूर्ण हो गई है, मैंने पृथिवीके साथ लीनशिर हो कर—पृथिवीतल पर मस्तक रखकर—आपको नमस्कार किया है।

चतुर्विंशतिपत्रप्रतिबद्धपद्मबन्धेन सर्वजिनस्तवनम्—

नवीनपीनस्वनमानगानकिं-
नराननानर्घ्यनवेन मानसे।
नमानधा नम्रनरेनका नता,
नवं नवं न स्वनता न जैनपाः॥१३॥

व्याख्या—जिनो देवता येषां ते जैना अर्हद्भक्ताः, तान् जैनान् पान्ति रक्षन्ति ये देवास्ते जैनपा जिना इत्यर्थः। मयेत्यध्याहार्यं। मया जैनपा जिना नवं नूतनं नवं स्तवं स्वनता ब्रुवता न न नताः, अपि तु नता नमस्कृता एव। द्वौ नञौ प्रकृतमर्थंगमयत इति। किं विशिष्टा जिनाः? मानसे चित्ते नमानधा मानं दधतीति मानधा न मानधा मानरहिता इत्यर्थः। केन? नवीनपीनस्वनमानगानकिन्नराननानर्घ्यनवेन, कोऽर्थः? उच्यते—नवीनं नूतनं पीनं पीवरं स्वनानां स्वराणां मानं प्रमाणं यत्र तानि नवीनपीनस्वनमानानि एवं विधानि गानानि येषु किन्नराननेषु तानि नवीन पीनस्वनमानगानकिन्नराननानि तेषामनर्घ्यो महार्घो योऽसौ नवः स्तवः तेन, मानं न कुर्वन्तीत्यर्थः। अपरं किंविशिष्टाः? नम्रनरेनकाः नराणामिनाः स्वामिनो नरेनाः, नम्राणि नमनशीलानि नरेनानां कानि मस्तकानि येषां ते नम्रनरेनकाः नम्रनरेश्वरमौलय इत्यर्थः॥१३॥

अर्थ—नवीन-पीन स्वरोंके प्रमाण वाले गानों को लिये हुए किन्नर मुखोंके महार्घ स्तोत्रसे जो अपने मनमें मानको धारण नहीं करते और जिन्हें नरेश्वरोंके मस्तक झुकते हैं वे जिनेन्द्रदेव मुझ नया स्तोत्र बोलने वालेके द्वारा अनत नहीं हैं किन्तु नमस्कार किये गये हैं।

कविनामगर्भित-सर्वदेवस्तवनम्—

इत्थं नायकपद्मरागरुचिरा
सत्कण्ठभूषाकरी,
येषां नाममयी सुवर्णमणिभि-
र्हारावली निर्मिता।
चारित्रप्रभ-दीक्षित-स्तुतपदा
देयासुरुच्चैर्जिनाः,
* श्रीशत्रुञ्जयशेखरद्युतिभृतः
सर्वेऽपि ते मङ्गलम् ॥ १४ ॥

व्याख्या—इत्थममुना प्रकारेण येषां नाममयैः सुवर्णमणिभिः शोभनाक्षरमणिभिः हारावली हारयष्टिः निर्मिता निर्ममे। किंविशिष्टा? नायकपद्मरागरुचिरा नायकस्थाने तरलमणिपदे चतुर्विंशतिदलपद्मं तस्य रागेण रुचिरा प्रधाना। अपरं किंविशिष्टा? सत्कण्ठभूषाकरी सतां कण्ठाः सत्कण्ठास्तेषां भूषां शोभां करोतीति सत्कण्ठभूषाकरी अन्याऽपि या हारावली भवति सा नायकपद्मरागरुचिरा सत्कण्ठभूषाकरी भवति सुवर्णमणिभिर्निर्मीयते। अत एषाप्येव। ते सर्वेऽपि जिना मङ्गलं देयासुः वितीर्यासुः उच्चैरतिशयेन। किंविशिष्टा जिनाः? चारित्रप्रभदीक्षितस्तुतपदाः चारित्रे चरणे प्रभा येषां ते चारित्रप्रभाश्चारित्रिणः, ते च ते दीक्षिताश्च चारित्रप्रभदीक्षिताः साधवः, तैः स्तुताः पदा येषां ते तथा। अपरं किंविशिष्टाः? श्रीशत्रुञ्जयशेखरद्युतिभृतः श्रीशत्रुञ्जयो विमलाचलः, तस्य शेखरद्युतिं मुकुटकान्तिं बिभ्रति पुष्णन्तीति श्रीशत्रुञ्जयशेखरद्युतिभृतः श्रीशत्रुञ्जयमुकुटतुल्या इत्यर्थः। अथवा ते सर्वे जिना अमंगलं पापं उच्चैरतिशयेन देयासुः छिन्द्यासुः। दोऽवखण्डने अस्य धातोः प्रयोगः। खण्डयन्त्वित्यर्थः। किंविशिष्टममंगलं? श्रीशत्रुं लक्ष्मीवैरिणं। किंविशिष्टा जिनाः? जयशेखरद्युतिभृतः जयशेखरकवेर्द्युतिं कान्तिं बिभ्रति पुष्णन्तीत्यर्थः। अपरं किंविशिष्टाः? चारित्रप्रभदीक्षितस्तुतपदाः चारित्रप्रभनामगुरोर्दीक्षितः शिष्यः तेन स्तुतपदा नुतांह्रयः। इत्यर्थान्तरेण कविनामप्रकाश इति वृत्तार्थः ॥ १४ ॥

अर्थ—इस प्रकार नायक (तरलमणि) के स्थान पर चतुर्विंशतिदलात्मक पद्मके रागसे रुचिर और सत्पुरुषों के कण्ठ की शोभा करने वाली यह 'हारावली' जिनके नाममय शोभनाक्षररूपी मणियों से रची गई है वे चारित्रवान साधुओंके द्वारा स्तुतपाद और शत्रुंजयके मुकुटका द्युतिको बढ़ाने वाले सब ही जिनेंद्रदेव अतिशय रूपसे मंगलको प्रदान करें, अथवा जिनके चरण चारित्रप्रभगुरु के शिष्य द्वारा स्तुति किये गये हैं और जो जयशेखर—जयतिलक—(कवि) की द्युति को बढ़ाने वाले हैं वे सब ही जिनेंद्रदेव लक्ष्मीके शत्रु अमंगलका नाश करें।

इति हारावली-चित्रस्तवः।

* दूसरी तीन हारावलियोंमें यह चरण इस प्रकारसे दिया गया है:—
ते श्रीसूरिपदाज्जयादितिलकस्यास्यापि मे मङ्गलम्।

यान्त्रिक चारित्र

[लेखक—श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी]

जैनसमाजको इस बातका अभिमान है कि हमारा चारित्र बहुत ऊँचे दर्जेका है—औरोंसे हमारा आचरण बहुत अच्छा है। इस बातको साधारण लोग ही नहीं, किन्तु बड़े बड़े विद्वान् अपने व्याख्यानोंमें और अच्छे अच्छे लेखक अपने लेखोंमें भी प्रकाशित किया करते हैं। यदि यह बात उस चारित्रके विषयमें कही जाती जो कि जैनधर्मके आचार-शास्त्रोंमें लिखा है, तो मैं चुपचाप मान लेता; परन्तु जैनियोंके वर्तमान चारित्रके विषयमें ऐसी बात सुन कर मुझे आश्चर्य हुआ और इस विषयकी जाँच-पड़ताल करनेकी इच्छाको मैं न रोक सका। आश्चर्य इसलिए हुआ कि जो समाज अज्ञानके गहरे कीचड़में फँसा हुआ है—जिसमें इधर उधर हिलनेकी भी शक्ति नहीं, उसमें आचरण कैसा? और सो भी उत्कृष्ट! जहाँ तक मैं जानता हूँ, जैनधर्ममें ज्ञानपूर्वक चारित्रको चारित्र कहा है। अर्थात् जब तक मनुष्यको यह मालम नहीं है कि मैं यह आचरण क्यों करता हूँ—अथवा मुझे क्यों करना चाहिये, इसके करनेसे क्या लाभ है, और वह लाभ क्योंकर होता है, तब तक उसके आचरणको सम्यक्चारित्र नहीं कह सकते। तब मेरे हृदयमें प्रश्न उठा कि क्या इस प्रकारका सम्यक्चारित्र जैनियोंमें है?

मैं इस विषयकी छानबीन करने लगा। कई वर्षोंके अनुभवके बाद अब मैंने यह स्थिर किया है कि जैनियोंका चारित्र एक प्रकारका यान्त्रिक-यन्त्र-संचालित-चारित्र है। चारित्रकेलिए मेरे इस नये विशेषणके सार्थप्रयोगको देखकर पाठक चौंके नहीं, मैं उन्हें इसकी सार्थकता भी बतलाये देता हूँ।

यन्त्रोंकी या कलोंकी क्रियाको हम रोज़ ही देखा करते हैं। किसी यन्त्रमें चाबी भर दीजिए, जब तक चाबीकी शक्ति भरी रहेगी, वह बराबर अपना काम करता रहेगा। उसे यदि बीचमें कहें कि तू काम करना बन्द कर दे, या यह छोड़ कर दूसरा काम करने लगजा, या इसे इतनी तेजी मन्दीसे कर, तो वह कभी न सुनेगा। क्योंकि उसमें न सुननेकी शक्ति है और न विचारनेकी। फोनोग्राफ़ यंत्र इसलिए है कि वह अपने मालिकको अच्छे अच्छे गाने सुनाकर उसके चित्तको प्रसन्न करे; परन्तु यदि कभी कोई आदमी उसके एक रेकार्डमें बुरी बुरी गालियाँ भर कर उसमें लगा दे, तो वह उन्हींको बकने लगेगा—उसे इस बातका ज्ञान नहीं कि इसे सुन कर मेरा मालिक दुखी होगा या सुखी। ठीक यही दशा हमारे जैनियोंकी है। उनके जितने आचरण हैं, प्रायः वे सब ही एक प्रकारकी यंत्रशक्तिसे परिचालित हो रहे हैं। अभ्यास, देखादेखी, पुण्यपापका परम्परागत लोभ और भय आदि शक्तियाँ उन्हें चला रही हैं। उनकी कोई स्वाधीनशक्ति नहीं—विचार और विवेकसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। इसी कारण वे अपने अभ्यासके वश चले जा रहे हैं। किसीके कहने सुननेसे वे रुक नहीं सकते, अपनी गतिमें किसी प्रकारकी तीव्रता मन्दता नहीं ला सकते, उसमें कुछ परिवर्तन नहीं कर सकते और उनकी इस चालका क्या फल होगा, इसको वे सोच नहीं सकते।

यह उक्त यन्त्रशक्तिका ही काम है, जो हम छोटेसे छोटे पापोंको और बड़ेसे बड़े पापोंको एक ही

आसन पर विराजमान करने लगे हैं और इसका फल यह हुआ है कि हममें वास्तविक पापोंकी घृणा स्वभावसे ही कम हो गई है और उसके अनुसार हमारे लोकाचारने तथा जातीय नियमोंने भी एक अद्भुत रूप धारण कर लिया है। बुन्देलखंडके यदि किसी परवार जैनीका भूलसे एक चिड़ियाके अण्डे पर पैर पड़ जाय तो उसे जातिसे च्युत होना पड़ेगा; परन्तु यदि वही पुरुष एक मनुष्यका खून कर डाले और किसी तरह राज्यदण्डसे बच जावे, तो उसका कुछ न होगा! एक सेतवाल यदि किसी हूमड़ जैनके यहाँ भोजन कर आता है, तो उसे जाति दण्ड देती है; परन्तु यदि दूसरा सेतवाल सैकड़ों बड़े बड़े दुराचार करता है, तो भी जाति कानोंमें तेल डाले बैठी रहती है। हमारे खण्डेलवाल भाइयोंमें ऐसे बीसों कुँवारे पुरुष हैं, जिनके विषयमें जातिको अच्छी तरहसे मालूम है कि अमुक अमुक विधवायें इनके यहाँ रहती हैं, इनकी रसोई बनाती हैं और इनकी स्त्री-सम्बन्धी सारी जरूरतोंको मिटाती हैं, तो भी कोई चूँ नहीं करता; परंतु यदि कोई देशभक्त खण्डेलवाल सेठ जमनालालजी बजाजके उस कुएँका पानी ब्राह्मणसे भी भरवा कर पी लेता है, जो अस्पृश्योंके लिए मुक्त कर दिया गया हो, तो उसकी शामत आ जाती है। उसकी इस हरकतसे खंडेलवाल महासभा तकका सिंहासन काँपने लगता है। गोलालारे भाइयोंको यह बरदाश्त नहीं कि उनकी खरौआ शाखाका पुरुष किसी मिठौआ शाखाकी लड़कीसे शादी कर ले। वे तत्काल ही उसे जातिसे बाहर करनेको तैयार हैं; परन्तु और सब बड़े बड़े पापोंके विषयमें उनके कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती। मैंने एक परवार जैनीको देखा है कि उसने आटेमें विष मिला कर और उसे जगह जगह रख कर अपने घरके सैकड़ों चूहे पटापट मार डाले और बरोंके छत्तेमें आग लगा कर लाखों जीवोंकी हत्या कर डाली; परंतु उसे जातिने जरा भी दण्ड नहीं दिया। इसके कुछही दिन पीछे एक दिन उसीका लड़का एक बिल्लीके साथ खेल रहा था। बिल्ली भागी और उसका लड़का पीछे हो लिया। दैवयोगसे वह बिल्ली भागते समय एक कुएँमें गिर कर मर गई। बस, इससे उसको 'हत्या' लगाई गई और पंचायतने तब तक चैन न ली, जब तक कि उसका मुँह मीठा न हो गया और हत्यारे (!!) की नाकों दम न आ गई। एक अग्रवाल मंदिरोंके अथवा दूसरी संस्थाओंके लाखों रुपये हजम करके भी जातिका मुखिया कहलाता है; परंतु दूसरा अग्रवाल किसी धार्मिक संस्था या मंदिरकी नौकरी कर लेनेसे निर्माल्यभक्षी कहलाता है! दक्षिणके बहुतसे जैनी मालगुजार अभी कुछ ही वर्ष पहले तक दशहरे पर पशुवध करानेमें भी अपनेको पापी नहीं समझते थे; परंतु दूसरी जातिका पानी पीनेमें भी उनका धर्म चला जाता है! जैनियोंकी प्रत्येक जातिमें ऐसे एक नहीं, अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसका क्या कारण है? यही कि न तो लोगोंमें वास्तिक पुण्य-पापोंके समझनेकी शक्ति है और न छोटे तथा बड़े पापोंको एक ही तराजू पर एक ही बटखरेसे तौलते रहनेके कारण उनके हृदयमें उनके प्रति घृणा ही रह गई है। जो कुछ करते हैं, सब पूर्वके अभ्यासवश किये जा रहे हैं।

मैं यह नहीं कहता कि छोटे पापोंका कुछ विचार न होना चाहिए। नहीं, मैं तो चाहता हूँ और मैं ही क्यों प्रत्येक जैनधर्मके उपासककी यह भावना रहती है कि सभी लोग सब प्रकारके पापोंसे दूर रहते हुए आदर्श गृहस्थके रूपमें अपनी संसारयात्रा चलाते रहें; परन्तु इस बातको तो कोई भी पसन्द न करेगा कि

हिसाब करते समय तो कौड़ी और पाई तकके लिए माथापच्ची की जावे और रुपयोंकी रक़में पूरीकी पूरी हड़प कर ली जायँ ! वास्तवमें देखा जाय, तो इस कौड़ी-पाईकी माथापच्चीके कारण ही बड़ी बड़ी रक़मों की ओर किसीकी दृष्टि नहीं जाती है। अँगरेज़ीमें एक कहावत है, जिसका अभिप्राय यह है कि "कौड़ोकी ओर अधिक दृष्टि रखनेसे रुपयोंकी ओरसे ला-परवाह होना पड़ता है।" हमारे उपर्युक्त आचरणोंके विषयमें यह कहावत अच्छी तरहसे चरितार्थ होती है।

जैनियोंमें त्याग-मर्यादाका भी बड़ा ज़ोरशोर है। जिससे पूछिए वही कहता है कि मैं पृथिवीकी दश लाख वनस्पतियों (हरियों) मेंसे केवल १०—२०—२५ या पचास खाता हूँ, आलू बैंगनका कभी स्पर्श भी नहीं करता, बारहों महीना या चौमासेमें रातको जल नहीं पीता, रातको पान-सुपारी तकका भी मुझे त्याग है, कन्दोंमेंसे और तो क्या मैं सूखी हल्दी और सोंठ भी नहीं खाता हूँ, अष्टमी चतुर्दशीको भोजन नहीं करता, जैनोंके सिवा किसी दूसरेके हाथका पानी भी नहीं पीता, घरका दूध घी खाता हूँ, इत्यादि इत्यादि। यह सुनकर यदि कोई विदेशी पुरुष हो, तो आश्चर्य नहीं कि जैनजातिको एक तपस्वि-सम्प्रदाय समझ बैठे; परन्तु उपर्युक्त बातोंके त्यागियोंके असली चारित्रकी यदि जाँच की जाय, तो सारी ढोलकी पोल खुल जाय। ये लोग मन्दिरोंमें और शास्त्रसभाओंमें बैठ कर तो जैनशास्त्रोंके बतलाये हुए अतिक्रम-व्यतिक्रमादि छोटेसे भी छोटे पापोंके विषयमें बालकी खाल निकालेंगे और किसीने यदि कह दिया कि हरी वनस्पतिको पका कर खानेमें सातवीं प्रतिमा तकके धारण करनेवाले श्रावकको दोष नहीं है, तो उसके सिर हो जायँगे और उसे नरक-निगोदमें भेजे बिना न रहेंगे; परन्तु यदि इनका व्यवहार देखा जाय, तो उसमें आपको बड़े बड़े पर्वताकार पापोंके सिवाय ऐसे छोटे छोटे पाप तो नज़र ही नहीं आयँगे। उस समय ये कहेंगे—भाई साहब, क्या किया जाय ? लेन देन, व्यापार, मुकद्दमे मामले, गवाही साखी, आदि कामोंमें झूठ बोले बिना इस पंचमकालमें गुजर कहाँ ? रेलवे कम्पनियोंके साथ, चुंगीवालोंके साथ और माप-तोल आदिमें कुछ-न-कुछ चोरी करनी ही पड़ती है। इत्यादि कहने योग्य बातें तो त्यागी भाई स्वयं कह देंगे, शेष बातें आप उनके पास दश दिन रह कर और अड़ोसी-पड़ोसियोंसे दरयाफ्त करके जान लेंगे। हिंसाके विषयमें आपको यह मालूम होगा कि मनुष्य जाति पर इनके हृदयमें दयाका लेश नहीं—सैकड़ोंको दाने दानेके लिए कर दिया है, रुपयोंके लोभसे अपनी सुकुमार लड़कियोंको यमके यजमानोंके गले बाँधकर उनके जीवनके सुखको सदाके लिए छीन लिया है और उन्हें पापमय जीवन बितानेके लिए लाचार किया है। गर्भपात और भ्रूणहत्यायें तक कर डाली हैं; मूक घोड़ा, बैल आदि जानवरोंको मरते मरते तक जोता है, उनकी घायल पीठों और कन्धों पर ज़रा भी रहम नहीं किया है, अपने घरकी स्त्रियोंको जूँ और खटमलोंके संहारका प्रायः ठेका दे रक्खा है, और व्यभिचारका तो कुछ ठिकाना ही नहीं। जिसके घरमें जितना अधिक धन है, उसके यहाँ प्रायः उतना ही अधिक व्यभिचार है। बच्चोंसे ले कर बूढ़ों तकके सिरों पर इसका सेहरा बंधा हुआ मिलेगा। बाप यह तो चाहता है कि मेरी १४ वर्षकी विधवा बेटी ब्रह्मचर्यसे रहे, परंतु आप स्वयं पचासके पार हो जाने पर भी पाप-पंकसे पार नहीं होना चाहता, और जवान बेटों तथा बहुओंके होने पर भी दुलहा बननेके लिए तैयार रहता है। तृष्णाके विषयमें तो कुछ पूछिए

ही नहीं। लोग कौड़ी कौड़ीके लिए मरने-मारनेको तैयार रहते हैं और सारी दुनियाकी दौलत हमारे ही घरमें आ जाय, इसी भावनामें दत्तचित्त रहते हैं। इसी तरह माया, छल, कपट, ईर्षा, द्वेष, चापलूसी, स्वार्थपरता आदि दोषोंके आप इन्हें भण्डार पायँगे। इन्होंने जो छोटे छोटे पापोंका त्याग कर रक्खा है, सो इसलिए नहीं कि इन्हें पापोंसे घृणा है। नहीं, एकतो इनकी आड़में बड़े बड़े पाप ढके रहते हैं और दूसरे उक्त चीजोंके छोड़नेका इनके यहाँ परम्परासे रिवाज चला आ रहा है। अर्थात् पहलेकी भरी हुई चाबी अपना काम कर रही है, इसके सिवा इसका और कोई कारण नहीं।

हमारे जैनी भाई 'चुल्लिकाधर्म' (चूल्हा-धर्म) के भी बड़े उपासक हैं और इसे भी वे अपने उच्चाचरणका सार्टिफिकेट समझते हैं। मैं यह तो नहीं कह सकता कि इस धर्मसे उनकी आत्मायें कितनी उन्नत हुई हैं; परन्तु यह अवश्य कहूँगा कि यह उनकी गिरी हुई आत्माओंको ढके रहनेके लिए—उनका अंतःस्वरूप बाहर प्रकट न हो जाय, इसकी सावधानी रखनेके लिए—बड़ा काम देताहै और इससे वकचर्या या बगुलावृत्तिकी बहुत ही वृद्धि हुई है। यह 'चुल्लिका-धर्म' जुदा जुदा देशों और जुदा जुदा जातियोंमें जुदा-जुदा प्रकारका है और उसी पुरानी मशीनसे चल रहा है। चौका इसका मुख्य निवासस्थान है। इसकी रक्षा करनेके लिए चौकेके चारों ओर एक कोट खिंचा रहता है। कोट भले ही चाकमिट्टी या कोयलेकी लकीरमात्र ही हो, तो भी उसके भीतर पैर रखनेका हर एकको साहस नहीं हो सकता। पक्की रसोईमें यद्यपि इसका द्वार अबाधित रहता है; परन्तु कच्ची रसोईमें तो यह बहुत ही दुर्गम हो जाता है। सर्वांग पवित्र हुए विना उसके भीतर जानेकी आज्ञा नहीं मिल सकती। घीमें कुछ ऐसी विलक्षण शक्ति है कि उसमें अवगाहन हो जानेसे प्रत्येक भोज्य वस्तुको दूर दूर तक सफ़र करनेकी स्वाधीनता मिल जाती है। पंजाबी और दिल्ली आगरेकी तरफ़के लाला लोग तो उसे जूते पहने हुए भी खा सकते हैं। पक्की रसोईको दूसरी जातियोंके साथ बैठ कर और बाजारसे खरीद कर खानेका भी कहीं कहीं रिवाज है; परन्तु कच्ची रसोईका इस तरह दुर्व्यवहार करनेमें धर्म एक घड़ी भर भी खड़ा नहीं रह सकता। इस धर्मके तत्व बहुत ही गूढ हैं। उनका समझना बहुत ही कठिन है। इस विषयमें एक जुदा लेख ही लिखा जा सकता है। यहाँ इतना ही कह देना काफ़ी है कि इस धर्ममें जो जितनी बारीकी रखता है—जो जितना मग्न रहता है, वह उतना ही बड़ा धर्मात्मा समझा जाता है। उसके धर्मको देखकर ही उसके उच्च-नीचाचरणकी जाँच करली जाती है—दूसरे चरित्रोंको देखनेकी जरूरत नहीं। दिनमें दो चार बार नहाना, हाथ पैर धोनेमें दो चार सेर मिट्टी खर्च करना, अपने हाथसे पानी भरना, बर्तन मलना, रसोई बनाना, गेहूँको धुलवाकर फिर उसका आटा काममें लाना, जलानेकी लकड़ियों तकको धुलवाना, गीली धोती पहिनना, बाँयें हाथको चौकेसे बाहर रखना, मिट्टीके बर्तनोंको रसोईके काममें नहीं लाना, बिना न्हाये या गीला कपड़ा पहिने पानीके घड़े न छूना, कुँवारी कन्याके हाथका भोजन नहीं करना, किसीके स्पर्शसे बचे रहना, आदि सब बातें इसी धर्मके अंतर्गत हैं। श्रावकोंके सिवा त्यागियोंमें भी इसके बड़े बड़े उपासक हैं। एक दो त्यागियोंने तो इसमें बड़ा नाम कमाया था। एक त्यागी अपने हाथसे चक्की पीसते थे। एक बाबाजी जिस भैंसका दूध दही खाते थे, उसे प्रासुक जलसे

नहलाते थे, सूखा घास खिलाते थे, छना पानी पिलाते थे, दुहने वालेके नाखूनोंको पत्थर पर रगड़वाकर लाल लाल करा डालते थे, और न जाने क्या क्या अलौकिक शुद्धतायें कराते थे। उनकी भक्ति भी निःसीम होती थी; पर सुनते हैं, वे पढ़े लिखे कुछ भी न थे।

इस समयके बहुतसे मुनि महाराज भी इसके अनुयायी और प्रचारक हैं। शूद्रके हाथके जलका त्याग कराना तो उनका सबसे मुख्य काम है।

जैनसमाजके पुण्य कार्योंमें भी इसी प्रकारकी विषमता देखी जाती है। सम्मेदशिखर, गिरनारजी आदि तीर्थोंकी वन्दना करनेमें पुण्य बतलाया है। प्रति वर्ष हज़ारों जैनी लाखों रुपया खर्च करके तीर्थयात्रा करते हैं; परन्तु इनमें ऐसे लोग सौ-पचास भी कठिनाईसे मिलेंगे जो यह जानते होंगे कि तीर्थोंके दर्शन करने में पुण्य क्यों होता है और निवासस्थानके जिनमंदिरोंमें दर्शन करनेकी अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है। अधिकाँश लोग उन्हीं भेड़ोंका अनुकरण करनेवाले मिलेंगे, जो एक भेड़को पड़ती देख कर सबकी सब कुएमें गिर पड़ती हैं। बम्बईमें गिरनारजी के यात्री अकसर आया करते हैं। उनमें यदि कुछ परिचित लोग मिल जाते हैं, तो कभी कभी मुझे उन्हें रेल आदिमें बिठानेके लिए जाना पड़ता है। मैं बराबर देखता हूँ कि रेलवे कंपनीकी चोरी करनेमें तो उन्हें कुछ पाप ही नहीं मालूम होता। आधे टिकटके बच्चोंको छुपा कर मुफ्तमें ले जाना, नियमसे अधिक वज़नको वैसे ही या रिशवत देकर साथ ले जाना, थोड़ी दूरका टिकट लेकर लम्बा सफ़र करना और उतरनेके स्टेशनसे पहले फिर टिकट ले लेना, इत्यादि कामोंमें तो वे खूब अभ्यस्त होते हैं। इन यात्रियोंके दूसरे दुराचारोंके विषयमें तो कुछ न कहना ही अच्छा है। उनके वर्षोंके मनोरथ और वादे इसी शुभ प्रसंग पर पूर्ण होते हैं—बिछुड़े हुए मिलते हैं और विधवायें अपने पुराने पापोंसे मुक्त होती हैं। कुछ वर्ष पहले एक श्रीमती सेठानीने, जो कि विधवा थीं, यहाँ के एक कुएको अपना तत्कालका पैदा हुआ बच्चा समर्पण करके असीम पुण्यसम्पादन किया था। उनके हृदयमें जो यह चाबी भरी हुई है कि एक बार तीर्थके दर्शन करनेसे नरक और पशुगति नहीं होती है, वह उन्हें बराबर तीर्थयात्रा करा रही है; परंतु उस जड़ चाबीमें यह शक्ति नहीं कि उन्हें उक्त बड़े बड़े पापोंके करनेमे रोके, अथवा यह समझा देवे कि यदि तुम अपने भावोंको और चरित्रको उज्ज्वल नहीं रख सकते हो, तो घर ही बैठे रहो —इतना खर्च और मेहनत उठानेकी क्या आवश्यकता है?

हमारे बहुतसे पाठकोंने वे मशीनें देखी होंगी, जो कितने ही बड़े बड़े स्टेशनों पर रक्खी गई हैं और जिनमें एकन्नी डालते ही प्लेटफार्म टिकट बाहर निकल आता है। एकन्नी डालने वाला कोई हो, कैसा ही हो और उसका कुछ भी मतलब हो—इन बातोंकी मशीनको परवाह नहीं। यहाँ अन्नी डाली कि वहाँ टिकट तैयार है। जैनियोंमें जो दान होता है और जिसके कारण लोग उन्हें सबसे अधिक दानशील कहते हैं, वह भी इसी ढँगसे होता है। दृष्टान्तको ठीक ठीक घटानेके लिए आप टिकट देनेको दान करना समझ लीजिये और एकन्नीको वह 'मान' समझ लीजिए, जो उस दानके बदलेमें लोग उन्हें देते हैं। मशीनोंमें इतनी विशेषता है कि एकन्नी पाये बिना वे टिकट नहीं निकालतीं, पर हमारे दानी भाई आगेकी उम्मेद पर भी दान करते हैं और इसमें कभी कभी बेचारोंको पछताना भी पड़ता है। हमारी समझमें उन्हें इस ग़लतीको सुधार लेना चाहिए और पहले मानकी पुष्टि करके पीछे दान

करनेकी आदत डालनी चाहिए।

हमको विश्वास है कि थोड़ेसे अपवादोंको छोड़ कर जैनियोंमें जितना दान होता है, वह सब मानके लिए ही होता है। यदि इनमें इतनी विवेक बुद्धि होती, यदि ये इतना विचार सकते कि वास्तविक मान किसे कहते हैं और वह कौन कौन कामोंके करनेसे मिलता है, तो उनके इस मानपूर्वक दानसे भी समाजकी कोई हानि न थी। वे वास्तविक पुण्यबन्धसे अवश्य ही वंचित रहते, पर समाजका तो उनके दानसे उपकार ही होता। परन्तु दुर्भाग्यसे वे 'मान' की परिभाषासे भी अपरिचित हैं और इसलिए गतानुगतिकतासे, अभ्याससे और देखा देखीसे वे जिसे मान समझते हैं, उसीकी आशासे बराबर चाहे जिस काममें रुपया खर्च किया करते हैं। इसका फल यह होता है कि प्रति वर्ष लाखों रुपया खर्च होने पर भी जैनसमाज या जैनधर्मको कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता है। इन मशीनोंको इससे कुछ मतलब नहीं कि हमारे दिये हुए टिकटका क्या उपयोग होगा और जिन्हें हम देते हैं, वे वास्तवमें उसके लेनेके पात्र हैं या नहीं।

एक परवार या गोलापूरब धनिक इस बातके विचारनेकी जरूरत नहीं समझता कि जहाँ मैं रहता हूँ, वहाँ नये मन्दिरकी आवश्यकता है या नहीं; पुराने मंदिरोंकी पूजा और मरम्मतका इन्तज़ाम है या नहीं; बस्तीमें दस बीस लड़के ऐसे भी हैं या नहीं जो पढ़ना लिखना जानते हों, या धर्मका रहस्य समझते हों; बस्तीके गरीब भाइयोंकी क्या दशा है और कमसे कम मेरे कुटुम्बी सुखी हैं या नहीं। वह यह सोचता है कि मेरी प्रतिष्ठा कैसे बढ़े, मुझे लोग बड़ा कैसे समझें और एकाध पण्डितजीकी सम्मति लेकर मन्दिर बनवाने और रथ चलाकर सिंघई, सवाई सिंवई, सेठ या श्रीमंत सेठ बननेके लिए तय्यार हो जाता है। दूसरी जातिके जैनियोंकी भी यही दशा है। कोई मन्दिर बनवाता है, कोई प्रतिष्ठा करवाता है, कोई रथ बनवाता है, कोई तीर्थों पर पहली दश धर्मशालाओंके रहने पर भी एक और नई धर्मशाला बनवाता है, कोई संडों मुसंडोंको लड्डू खिलाता है, कोई बड़ी बड़ी ज्योनारें करता है, कोई पिताके श्राद्धमें ब्राह्मणोंको रुपया या मोहरोंका दान करता है, और कोई रायसाहबी रायबहादुरी पानेके लिए सर्कारी अफसरोंके हाथोंमें भी दानकी रकम दे देनेमें कुंठित नहीं होता।

इस समय जैनधर्म और जैनसमाजकी उन्नति करनेके लिये जो संस्थायें खुल रही हैं और जिन सैकड़ों संस्थाओंके खोलनेकी ज़रूरत है, यद्यपि उनमें द्रव्य देनेसे रथप्रतिष्ठादि कार्यों से भी अधिक मान मिलता है—भारतके एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक उसका नाम हो जाता है; पर ये पुरानी मशीनें तो अपने ग्राम-नगर या उसके आसपासके लोगोंके अथवा अपने चापलूसोंके दिये हुए मानको ही मान समझती हैं। वह देशव्यापी मान जिन कानोंसे सुन पड़ता है, वे कान तो इन्हें विधाताने दिये ही नहीं। इन मशीनोंके यदि कान होते, तो आज जैनसमाजका आश्चर्यजनक कायापलट हो जाता।

जैनधर्म और जैनसमाजकी वर्तमान अवस्था बड़ी ही शोचनीय है। उसे देखकर सहृदय पुरुषोंके हृदयपर बड़ी चोट लगती है। भगवान् महावीर जैसे ज्ञानसूर्योंके उपासक और महात्मा सिद्धसेन, समन्तभद्र जैसे विद्वानोंके अनुयायी आज घोर अन्धकारमें डूबे हुए हैं। धर्म-कर्मका ज्ञान तो बहुत बड़ी बात है, सौमें ९० तो अक्षरशत्रु बने हुए हैं; जो पढ़ते लिखते हैं, उनकी अच्छी शिक्षाका प्रबन्ध नहीं; जो उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें कोई सहायता देने वाला नहीं, विदेशी विद्याओंके पढ़नेमें पाप समझा जाता है; स्त्रियोंकी दुर्दशाका तो कुछ ठिकाना ही नहीं; मूर्खतापूर्ण लोकरूढियोंने और सैकड़ों कुरीतियोंने उन्हें जर्जर कर दिया है; उनका नैतिक चरित्र अधोदशाको पहुँच चुका है; बल, साहस, अध्यवसायका उनमें नाम नहीं; उनके धर्मग्रंथ भंडारोंमें पड़े पड़े सड़ रहे हैं, पुरानी

कीर्तियाँ लुप्त हो रही हैं, दया उनमें रही नहीं, स्वार्थ-त्याग करना वे जानते नहीं और एकता उनसे कोसों दूर है। जैनसमाजके उक्त दानी या प्रभावनांगके प्रेमी महाशय यदि इन बातोंको सोच सकते—उनके हृदय होता, वे सचमुच ही दान करना चाहते, तो अवश्य ही उनका धन उच्च श्रेणीके विद्यालयों, हाईस्कूलों, कालेजों, पुस्तकालयों, पुरातत्त्वमंदिरों, विज्ञानशालाओं, पुस्तकप्रचारकसंस्थाओं, छात्रवृत्तियों, उपदेशकभंडारों, औषधालयों और औद्योगिक शालाओं, जैसी उपयोगी संस्थाओंके खोलनेमें लगता। परन्तु जड़ मशीनोंमें हृदय हो तब न?

मैंने कई रथप्रतिष्ठा करानेवाले ऐसे देखे हैं जिन्होंने अपने जीवनमें अपने किसी जैनी भाईको अथवा दूसरे किसी अनाथको एक पैसेकी सहायता नहीं दी, अपने दुखी कुटुम्बियोंको भी जिन्होंने रोजगारसे लगा देने तककी उदारता न दिखलाई, और तो क्या जिन्होंने कभी अपने खाने पहरने और आराममें भी खर्च न किया, परन्तु सिंघई बननेके लिए थैलियोंके मुँह खोलनेमें जरा भी देर न लगाई। मैं पूछता हूँ कि क्या यही उच्च श्रेणीका आचरण है और इसीको धर्मबुद्धि कहते हैं?

कोई १६-१७ वर्ष पहलेकी बात है, एक बूढ़े धनिकने इधर तो एक दश वर्षकी लड़कीके साथ विवाह किया और उधर लगे हाथों इस पापसे मुक्त होनेके लिए रथप्रतिष्ठा करा डाली! परन्तु उधर ज्योंही लोगोंने आपको सिंघईजी बनाया, त्यों ही इधर यमका परवाना आ पहुँचा। बेचारी बालिका विधवा हो गई। सिंघईजीके कुटुम्बी इतने दयालु निकले कि उन्होंने उसकी परवरिश करनेकी भी आवश्यकता नहीं समझी और विधवाके पिताको उन पर नालिश करनी पड़ी।

एक और परवार धनिकने रथप्रतिष्ठा कराई और उसमें लगभग दस हजार रुपये खर्च किये। उसी समय मालूम हुआ कि आपकी विधवा काकीको जो युवती थी पाँच महीनेका गर्भ है और वह आपकी ही कृपाका प्रसाद है! बहुतसे यत्न किये गये, परंतु गर्भपात न हो सका। आखिर आपने काकीकी इच्छा न रहते हुए भी, उसके हजार रोने चिल्लाने और गिड़गिड़ाने पर भी उसे एक गरीब बनिएके गले मढ़ दिया और दो चार सौ रुपया देकर उसे कहीं अन्यत्र भेज दिया। यह कहनेकी तो आवश्यकता ही नहीं है कि काकीके जाते ही वर्तमान क़ानूनकी कृपासे आप उसकी कई हज़ारकी सम्पत्तिके अधिकारी बन गये और 'सिंघईजी' तो इसके पहले ही बन गये थे! दुःख है कि बेचारे सिंघईजी विगत वर्ष अभिनव मुनिसंघके दर्शन करनेके लिए सम्मेदशिखर गये और वहीं बीमार होकर घर लौटते लौटते पंचत्वको प्राप्त हो गये। ये हैं, हमारे समाजके रथप्रतिष्ठाकारोंके चरित्र!

प्यारे भाइयो, इस तरह मैंने निश्चय किया है कि जैनियोंका वर्तमान आचरण केवल एक यान्त्रिक चारित्र है—जड़ मशीनों-जैसा आचरण है—और वास्तविक चारित्रसे वह कोसों दूर है। यह ठीक है कि बहुतसे सज्जन इसके अपवादस्वरूप भी होंगे—उनमें वास्तविक चारित्र पालने वाले भी होंगे; परन्तु मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, वह सब बहुत्वकी अपेक्षासे कहा है। मैं समझता हूँ कि बहुतोंको मेरे ये विचार कड़वे मालूम होंगे; परंतु इसके लिए मैं उनसे क्षमा माँगता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वे इस शोचनीय अधःपतनसे अपने भाइयोंको ऊपर उठावें और उनके वास्तविक चारित्रको उन्नत करें। पहले उन्हें चारित्रका अभिप्राय समझाया जाना चाहिए और फिर उन्हें उनकी शक्ति और परिस्थितियोंके अनुकूल क्रमागत चरित्र पालन करनेमें अग्रसर करना चाहिए। जब तक उनका हृदय विशाल न होगा, उसमें ज्ञान और विश्वव्यापी प्रेमका दीपक प्रकाशित न होगा, स्वाधीनतापूर्वक भला बुरा समझनेकी शक्ति न होगी, क्षमा-दया-मैत्री आदि कोमल भावोंका उत्थान न होगा, तब तक कहनेके लिए धर्मात्मा, पंडितजी, भाईजी, त्यागी, संयमी आदि भले ही बन जावें, परन्तु मनुष्य न बनसकेंगे। *

* कुछ वर्ष पहले लिखे हुए लेखकी संशोधित, परिवर्तित और परिवर्द्धित नई आवृत्ति, जो 'अनेकान्त'के लिये तय्यार की गई।

—लेखक

योगमार्ग

[लेखक—श्रीयुत बा० हेमचन्दजी मोदी]

> इस लेखके लेखक समाजके सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमीके सुपुत्र बाबू हेमचंदजी मोदी हैं। आप कई भाषाएँ जानते हैं और एक अच्छे होनहार उत्साही नवयुवक हैं। कुछ वर्षसे आप योगाभ्यास कर रहे हैं और इस विषयका कितना ही जैन-अजैन साहित्य देख गये हैं। उसीके फलस्वरूप आपने यह योगमार्ग-शीर्षक एक विस्तृत लेख 'अनेकान्त' को भेजनेकी कृपा की है, जिसकी मात्र भूमिका इस समय पाठकोंके सामने उपस्थित है। लेखका शेष भाग क्रमशः पाठकोंके सामने आएगा। लेख अच्छा उपयोगी और पढ़ने तथा मनन करने योग्य है। इससे पाठकोंको कितनी ही नई नई बातें मालूम होंगी। योगका विषय गृहस्थी और मुनि सबके लिये समान उपयोगी है। समाजमें इसकी चर्चा चलानेकी खास जरूरत है। अतः दूसरे विद्वानोंको भी इसमें यथाशक्ति हाथ बटाना चाहिये।
>
> —सम्पादक

जैनधर्ममें योगविद्याका बड़ा माहात्म्य है, आत्माका सारा उत्कर्ष-साधन और विकास योगकी सामर्थ्य पर अवलम्बित है, योगबलसे ही केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है और योगबलसे ही अनादि कर्म मलको आत्मासे दूर करके उसे परम निर्मल, शुद्ध तथा मुक्त किया जा सकता है। फिर साधारण रिद्धि-सिद्धियों की तो कोई बात ही नहीं है, वे तो सहज ही में प्राप्त हो जाती हैं। जिन्हें भी इस लोकमें कभी कोई खास रिद्धि-सिद्धियोंकी प्राप्ति हुई है वह सब योग-मार्गका अवलम्बन लेकर ही हुई है। इसीसे जैन शास्त्रोंमें योगियोंकी महिमाका बहुत कुछ कीर्तन पाया जाता है, योगिभक्तिके संस्कृत प्राकृतमें कई पृथक् पाठ भी मिलते हैं। योगियोंमें प्रधान श्रीजिनेंद्रदेव—जैन-तीर्थंकर—हुए हैं, और इसलिये योगीरूपसे उनका कीर्तन सबसे अधिक पाया जाता है। एक नमूना इस प्रकार है:—

> योगीश्वरान्जिनान्सर्वान्, योगनिर्धूतकल्मषान्।
> योगैस्त्रिभिरहं वन्दे योगस्कन्धप्रतिष्ठितान् ॥
>
> —दशभक्ति।

इस युगकी आदिमें, जैनधर्मानुसार, योगविद्याके आदि प्रचारक और प्रतिष्ठापक (आदियोगाचार्य) श्री-आदिनाथ भगवान् हुए हैं, जिन्हें 'ऋषभ' या 'वृषभ'देव भी कहते हैं और जो वृषचिन्हाङ्कित ध्वजाके कारण 'वृषध्वज' भी कहलाते हैं। योगी शुभचंद्राचार्य ने अपने 'ज्ञानार्णव' नामक योगशास्त्र के शुरू में, 'योगिकल्पतरु' रूपसे आपका स्मरण किया है—

> भुवनाम्भोजमार्तण्डं धर्मामृतपयोधरम्।
> योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ॥

इन्हीं आदिनाथकी कायोत्सर्गरूपसे उत्कृष्ट योगारूढअवस्थाका वर्णन करते हुए श्रीपद्मनन्दि आचार्य

अपने ग्रन्थ की आदिमें लिखते हैं:—

> कायोत्सार्गायतांगो-
> जयतिजिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा,
> मध्यान्हे यस्य भास्वा-
> नुपरिपरिगतो राजते स्मोग्रमूर्तिः ।
> चक्रं कर्मेन्धना
> मतिबहुदहतो दूरमौदास्यवात—
> स्फूर्जत्सद्ध्यान वन्हे-
> रिवरुचिरतरःप्रोद्गतो विस्फुलिंगः ॥ १ ॥

—पद्मनंन्दिपंचविंशतिका ।

अर्थात्—कायोत्सर्गरूपसे योगारूढ वे श्रीनाभि-राजाके पुत्र महात्मा आदिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त हों, जिनके ऊपर मध्यान्हके समय ग्रीष्मकालका अत्यंत तप्तायमान प्रचण्ड सूर्य ऐसी शोभाको धारण करता था मानो वह कोई सूर्य नहीं किन्तु वैराग्यरूपी पवनसे दहकती हुई और कर्मेन्धनके समूहको अतीव भस्मसात् करती हुई भगवान्की शुक्लध्यान रूपी योगाग्निसे निकला हुआ एक देदीप्यमान स्फुलिंगा है, जो कि उड़ कर आकाशमें गया है ।

इसी योगाग्निसे श्रीआदिनाथने अपने राग, द्वेष, और अज्ञानादि दोषोंके मूल कारण घातिकर्मचतुष्टयको भस्मीभूत किया था और आप पूर्णज्ञानी, विश्वचक्षु, सत्पुरुषोंसे पूजित तथा निरंजन होते हुए परम ब्रह्मपदको प्राप्त हुए थे । साथ ही, आपने जगज्जीवोंको यथार्थ तत्वोंका उपदेश दिया था—उन्हें जीवादिकोंकी स्थितिका, उनकी विकृति-अविकृतिका और योगादिविद्याओंका सारा रहस्य समझाया था; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्योंसे भी प्रकट है—

> स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा,
> निनाय यो निर्दयभस्मसात् क्रियाम् ।
> जगाद तत्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा,
> बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ॥ ४ ॥
> स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां,
> समग्रविद्यात्मवपुर्निरंजनः ।
> पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो,
> जिनोऽजित क्षुल्लकवादिशासनः ॥ ५ ॥

—स्वयम्भू स्तोत्र ।

श्रीआदिनाथ भगवान्ने युगकी आदिमें जिस योगविद्याका आविष्कार और प्रकाश किया था उसका उपदेश सभीने उस समय अपने अपने मतिविभवानुरूप ग्रहण किया था और वह उपदेश फिर उनके वंशजोंको उत्तराधिकारमें मिलता रहा । इस तरह योगकी परिपाटी चली और उसका उपदेश अनेक वंशपरम्पराओंमें आश्रयभेदसे कुछ विकृताविकृत अवस्थाको धारण किये हुए सुरक्षित रहा । बादको जब अनेक मत-मतान्तर तथा सम्प्रदायभेद खड़े हुए तब भी योगके आदिगुरु आदियोगाचार्यके रूपमें श्रीआदिनाथ ही माने जाते रहे हैं और आज भी वे माने जाते हैं । यही वजह है जो योग-विषयक अजैन ग्रंथोंमें भी आदिनाथ की स्तुति पाई जाती है, उन्हें आदियोगीश्वर माना जाता है और योगके कितने ही विषयोंका उनके नामके साथ स्पष्ट उल्लेख तक किया जाता है । प्रसिद्ध योगशास्त्र 'हठयोगप्रदीपिका' में सबसे पहले मंगलाचरणके तौरपर आदिनाथकी स्तुति की गई है जो इस प्रकार है:—

> **श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै,**
> **येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।**

'ऋषभः स्यादादिजिने' । 'वृषभः स्यादादिजिने' ।
—इति हेमचंद्रः ।

विभ्राजते प्रोन्नतराजयोग-
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ १ ॥

अर्थात्—श्री आदिनाथको नमस्कार हो, जिन्होंने उस हठयोग विद्याका सर्व प्रथम उपदेश दिया जो कि बहुत ऊँचे राजयोग पर आरोहण करनेके लिये नसैनी (सीढी) के समान है।

इस योगशास्त्रमें बहुतसे सिद्ध योगियोंके नाम देते हुए जिनमें एक नाम*पूज्यपादका भी है। 'श्रीआदिनाथ' यह नाम सबसे पहले दिया है (श्लो० ५) और विषयका वर्णन करते हुए एक जगह 'मुद्रादशक' को आदिनाथ द्वारा उपदेशित बतलाया है और दूसरी जगह लिखा है कि आदिनाथने लययोगके सवा करोड़ भेद वर्णन किये हैं जिनमें से हम नादानुसन्धानको ही मुख्यतम मानते हैं। यथा:—

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्य प्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ३-८
श्रीआदिनाथेन सपादकोटि-
लय प्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसंधानकमेकमेव-
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् । ४-६६

इस प्रकार अन्यत्र भी आदिनाथका कीर्तन और उनके योगका उल्लेख पाया जाता है और इससे यह प्रतीत होता है कि योगविद्याका मूल स्रोत एक है। यह योग-गंगा आदिनाथरूपी हिमाचलसे प्रवाहित हुई है और उसका प्रवाह एक ओर अन्यान्य जैन तीर्थंकरोंका समाश्रय प्राप्त करताहुआ प्रधानतः जैनियोंकी ओर बहा है तो दूसरी ओर हिन्दू ऋषियों तथा बौद्धादि भिक्षुओंका आश्रय लेता हुआ वह अजैन जनतामें प्रसारको प्राप्त हुआ है और इस तरह उस एक योगधारा की उत्तरोत्तर कितनी ही शाखा-प्रतिशाखाएँ होती चली गई हैं। नदीजलकी तरह योगकी इन शाखा-प्रतिशाखाओंमें आश्रयादि भेदसे कुछ कुछ विभिन्नता होते हुए भी मुख्य योगजल प्रायः एक ही—प्रकार का—रहा है। इसीसे हिन्दुओंके वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदोंमें और बौद्धके ग्रन्थोंमें भी योग-विषयक जो कथन पाया जाता है वह बहुत कुछ उस कथनके साथ मिलता जुलता है जो कि जैन ग्रंथोंमें उपलब्ध होता है।

योगका सबसे प्रधान ग्रन्थ पातंजलि ऋषिका 'योगदर्शन' समझा जाता है। यह दर्शन जैनदर्शन अथवा जैनधर्मके साथ जितनी अधिक समानता रखता है उतनी दूसरा कोई भी और दर्शन नहीं रखता। इस समानताके कारण पढ़ने वाला कभी कभी योगदर्शन को एक जैनग्रन्थ समझने लगता है। दोनों दर्शनोंमें कितने ही विषयों तथा प्रक्रियाकी समानताके अतिरिक्त शब्दोंका बहुत कुछ सादृश्य पाया जाता है। मूलयोग सूत्रमें ही नहीं किन्तु उसके भाष्य तकमें ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जो अन्य दर्शनोंमें प्रचलित नहीं, या बहुत ही कम प्रचलित हैं, परंतु जैन ग्रन्थोंके लिये वे बहुत ही साधारण हैं और उनमें खास तौरसे प्रसिद्ध हैं। जैसे भवप्रत्यय, सवितर्क सविचार निर्विचार, महाव्रत, कृत-कारित-अनुमोदित, प्रकाशावरण, सोपक्रम निरुपक्रम, वज्रसंहनन, केवली, कुशल, ज्ञानावरणीय कर्म, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सर्वज्ञ, क्षीणक्लेश,

* दिगम्बर जैन समाजमें पूज्यपाद नामके एक बहुत बड़े योगी हुए हैं, श्रवणबेल्गोलके शिलालेखों आदिमें आपका उल्लेख है। एक शिलालेख (नं० १०८) में आपको औषध ऋद्धिका धारक लिखा है, और यह भी प्रकट किया है कि आपके पादप्रक्षालित जलसे लोहा भी सोना हो जाता था। संभव है यह नामोल्लेख उन्हीं पूज्यपादका हो।

चरम देह, इत्यादि। दोनों दर्शनोंकी इस समानताका विशेष परिचय पानेके लिये विद्वद्वर पं० सुखलालजी-द्वारा संपादित 'योगदर्शन तथा योगविंशिका' और उनकी 'तत्त्वार्थसूत्र-टीका' देखने योग्य है *। इस समानताके कारण ही जैनाचार्योंने टीका आदिके द्वारा योगदर्शनके प्रति अपना आदरभाव प्रकट किया है और हरिभद्र जैसे प्रकाण्ड पंडित आचार्योंने तो योग-दर्शनके वाक्योंको उद्धृत करते हुए पतंजलि ऋषिका स्मरण निर्धूतकल्मष, अध्यात्मविद् और महामति जैसे बहुमान-सूचक शब्दोंद्वारा किया है; क्योंकि वे पतंजलि ऋषिको, उनकी दृष्टिविशालता और प्रायः सर्व दर्शनोंका समन्वय योगमें करते हुए योगविद्या-का एक अच्छा संग्रह प्रस्तुत करनेके कारण, एक विशिष्ट योगानुभवी तथा आत्मानुभवी विद्वान् समझते थे और उनमें जैनत्वका बहुत कुछ विकास मानते थे।

अजैन शास्त्रोंमें जहाँ कहीं श्रीऋषभदेव—आदि-नाथका वर्णन आया है वहाँ उनको परमहंस-मार्गका प्रवर्तक बतलाया है, और यह परमहंसमार्ग उत्कृष्ट योगमार्ग है, इसीसे 'नारदपरिव्राजकोपनिषद्' में 'योगी परमहंसाख्यः साक्षान्मोक्षकसाधनम्' इस वाक्यके द्वारा परमहंस योगीको साक्षात् मोक्षका एक मात्र साधन बतलाया है। उपनिषदोंमें परमहंस योगीकी चर्याका जो वर्णन है उसका कुछ नमूना इस प्रकार है :—

"तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः।
एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे पंचरात्रकम्।
वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत्॥ -१४
द्विरात्रं न वसेद् ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा।
रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत्॥ १५
ग्रामान्ते निर्जने देशे नियतात्माऽनिकेतनः।
पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलं॥ १६॥
न रात्रौ न च मध्यान्हे संध्ययोर्नैव पर्यटन्।
परमहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः॥
अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत्॥ ५।
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा चरति यो मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥५-१६
पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत्॥"

—नारदपरिव्राजकोपनिषद्।

"तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वमप्सु विसृज्याथ जात-रूपधरश्चरेदात्मानमन्विच्छेद्यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले पंच-गृहेषु करपात्रेणायाचिताहारमाहरन् लाभालाभे समो भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्म-निष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः परमहंसः पूर्णा-नन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माऽहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्म-रन् भ्रमरकीटकन्यायेन शरीरत्रयमुत्सृज्य देह-त्यागं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषद्।"

—परमहंसोपनिषद्।

अर्थात्—'चौथा परमहंस यति साक्षात् नारायण होता है। वह ग्राममें एक रात बसे और नगरमें पाँच रात तक, तथा वर्षा ऋतुमें अन्यत्र चार महीने निवास करे। ग्राममें दो रात्रि नहीं रहना चाहिये। यदि भिक्षु ग्राममें दो रात रहता है तो उसके रागादिक दोष उत्पन्न होते हैं, जिससे वह नारकी होता है। संयतात्मा योगी

* पं० सुखलालजीका एक विस्तृत लेख अनेकान्तकी गत किरण (६, ७) में प्रकाशित हुआ है और दूसरा इसी संयुक्त किरणमें अन्यत्र प्रकाशित है। इन दोनों में भी योगदर्शन-विषयक बहुत कुछ सादृश्यका उल्लेख है। —सम्पादक

ग्रामके बाहर निर्जन प्रदेशमें विना घरके ठहरे और पृथिवीतलको देखता हुआ विहार करे। परंतु रात्रिको मध्यान्हके समय तथा दोनों संध्याकालोंमें (सुबह शामके वक्त) विहार नहीं करे। परमहंसाश्रमी योगी-के लिये चूँकि स्नानादिकका विधान नहीं है इसलिये वह केवल अपनी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका त्याग करे। जो मुनि सब जीवोंको अभयदान देता हुआ विचरता है उसे किसी भी जीवसे कहीं भय उत्पन्न नहीं होता। करपात्र में आहार करने वाला यह (परमहंस) योगी एक बारसे अधिक भिक्षाभोजन नहीं करे।'

'ऐसा जान कर ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) पात्र, कमण्डलु, कटिसूत्र और लंगोटी इन सब चीजोंको पानी-में विसर्जन कर जन्मसमयके वेषको धारण कर— अर्थात् बिलकुल नग्न होकर—विचरण करे और आत्मान्वेषण करे। जो यथाजात रूपधारी(नग्न दिगंबर), निर्द्वंद, निष्परिग्रह, तत्वब्रह्ममार्गमें भले प्रकार सम्पन्न, शुद्धहृदय, प्राणधारणके निमित्त यथोक्त समय पर अधिकसे अधिक पाँच घरोमें विहार कर करपात्रमें अयाचित*भोजन लेनेवाला तथा लाभालाभ-में समचित्त होकर निर्ममत्व रहने वाला, शुक्ल ध्यान-परायण, अध्यात्मनिष्ठ, शुभाशुभ कर्मोंके निर्मूलन कर-नेमें तत्पर परमहंस योगी, पूर्णानन्दका अद्वितीय अनुभव करने वाला वह ब्रह्म मैं हूँ ऐसे ब्रह्मप्रणवका स्मरण करता हुआ, भ्रमरकीटकन्यायसे ('कीटको भ्रमरीं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते'— कीड़ा भ्रमरीका ध्यान करता हुआ स्वयं भ्रमर बन जाता है, इस नीति से) तीनों शरीरोंको छोड़ कर देहत्याग करता है वह कृतकृत्य होता है, ऐसा उपनिषदोंमें कहा है।'

उपनिषदोंका यह सब वर्णन दिगम्बरजैन मुनियों अथवा जिनकल्पी साधुओंकी चर्यासे बहुत कुछ मिलता जुलता है—इसमें नग्न रहना, स्नानादिक न करना पृथिवीतलको शोध कर चलना, रात्रि आदिके समय विहार न करना, करपात्रमें एक बार प्राणसंधारणार्थ अयाचित भोजन करना, शुभाशुभ कर्मोंका निर्मूलन करना और शुक्लध्यानपरायण होना आदि कितनी ही बातें तो दिगम्बर जैन मुनियोंकी खास चर्यायें है। और इससे यह मालूम होता है कि भगवान् आदिनाथने जिस परमहंसमार्गका प्रवर्तन किया था अथवा जिस उत्कृष्ट योगमार्गका उपदेश दिया था उसे दूसरोंने भी अपनाया है और उसकी कितनी ही छाया पुरातन अजैन ग्रंथोंमें अभी तक भी पाई जाती है, अथवा यों कहिये कि भगवान आदिनाथकी कितनीही योगविद्या अजैन ग्रंथोमें सुरक्षित है।

हाँ, एकबात यहाँ और बतला देनेकी है, और वह यह कि पुराणोंमें आदिनाथको महादेव जीका (शिवशंभुका) अवतार माना है और इसलिये योगशास्त्रोंमें जहाँ 'आदिनाथ' नाम आता है वहाँ टीकाओंमें उसका अर्थ 'महादेव' (शिव-शंभु) किया जाता है ×, परन्तु यह पीछेकी कल्पना जान पड़ती है; क्योंकि अमरकोषादि किसी भी कोषमें महादेवका नाम 'आदिनाथ' नहीं मिलता और ऊपरके संपूर्ण

* भोजन 'अयाचित' आदि रूपसे होना चाहिये, यह बात 'पितामह' के निम्न वाक्यसे भी पाई जाती है:—

'अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया।
जोषयेत सदा भोज्यं ग्रासमागतमस्पृहः॥

—यतिधर्मसंग्रहः।

× यथाः—

आदिनाथः शिवः। सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः। ततो नाथसम्प्रदायः प्रवृत्त इति नाथसम्प्रदायिनो वदन्ति।

—हठयोगप्रदीपिका-टीका।

कथनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि युगकी आदिमें जैनियोंके आदि तीर्थंकर (आदिजिन) श्रीआदिनाथ—ऋषभदेव—द्वारा योगविद्याका आविष्कार तथा प्रचार हुआ है और वे ही परमहंसमार्गके आदिप्रवर्त्तक थे, जिसमें अन्य बातोंके अतिरिक्त, शुक्लध्यानपरायणः यह परमहंसका विशेषण जैनधर्मकी एक खास चीज़ है—जैनके सिवाय और किसी भी योगग्रन्थमें 'शुक्लध्यान' का प्रतिपादन नहीं मिलता, पतंजलि ऋषिने भी ध्यानके शुक्लध्यान आदि भेद नहीं बतलाये—और इसलिये योग ग्रन्थोंमें आदि-योगाचार्यके रूपमें जिन आदिनाथका उल्लेख मिलता है वे जैनियोंके आदितीर्थंकर श्रीआदिनाथसे भिन्न और कोई नहीं जान पड़ते।

श्री आदिनाथके द्वारा प्रतिपादित योगकी अंतिम पुनरावृत्ति जैनियोंके अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके द्वारा हुई—उनकी दिव्यध्वनिद्वारा वह अपने पूर्णरूपमें फिरसे प्रकाशित हुआ और पर्वश्रुतरूपसे उनके आगममें निबद्ध हुआ। भगवान् महावीर—जिनकी देशनाकी बाबत कहा गया है कि वह आदिनाथकी देशनाके साथ सबसे अधिक साम्य रखती है—योगकी साक्षात् मूर्त्ति थे, उन्होंने बारह वर्ष तपश्चरण कर असाधारण सिद्धिकी प्राप्ति की थी, वे इस युगके असाधारण योगिराट् ही नहीं किन्तु एक त्रिकालदर्शी विश्वचक्षु और केवलज्ञानी महात्मा थे; और इसलिये उनके द्वारा योगविद्या फिरसे अपने असली रूपमें उदयको प्राप्त हुई थी, और उनके योगागमने लोकमें खास ख्याति प्राप्त की थी, इसीसे श्री सिद्धसेन जैसे महान् आचार्योंने आपके योगागमके विषयमें लिखा है कि, उसके सामने बड़े बड़े देवता और इन्द्रादिक मुग्धशक्ति हो जाते हैं और सुरलोकमें जन्म लेनेका अपना अभिमान छोड़ देते हैं:—

> शताध्वरास्या लवसप्तमोत्तमाः
> सुरर्षभा दृष्टपरापरास्त्वया (?)।
> त्वदीय-योगागम-मुग्धशक्तय-
> स्त्यजन्ति मानं सुरलोकजन्मजम् ॥२१॥
>
> —प्रथमा द्वात्रिंशिका।

आपके इस योगागमसे, जिसमें श्रीआदिनाथकी वह सारी योगविद्या—योगप्ररूपणा—शामिल है, परमहंसकी उक्त चर्या-जैसी बहुत सी अच्छी अच्छी बातें दूसरे सम्प्रदायोंमें पहुँची हैं और वे फिर उनके ग्रन्थोंमें निबद्ध हुई हैं। जान पड़ता है इसीसे श्रीसिद्धसेनाचार्यने निम्न वाक्यके द्वारा, जिसे अकलंकदेवने भी अपने 'राजवार्तिक' में उद्धृत किया है, सुनिश्चित रूपसे यह प्रकट किया है कि 'अन्यमतके शास्त्रोंकी योजनाओंमें जो कुछ सदुक्तियाँ—अच्छी अच्छी बातें—पाई जाती हैं वे सब आपके पूर्व-महार्णवसे (१४ पूर्वरूपी महासमुद्रसे) उछली हुई आपके ही वचनोंकी बूँदें हैं':—

> सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु,
> स्फुरन्ति याः काश्चनसूक्तसम्पदः।
> तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता,
> जगत्प्रमाणं जिन वाक्यविप्रुषः ॥३०॥
>
> —प्रथमा द्वात्रिंशिका।

इस तरह जैनधर्ममें जिस योगका इतना माहात्म्य है,—जिस योगपर जैनोंका सारा अभ्युदय निर्भर है,—जो योग विद्या जैनियोंके आदितीर्थंकर श्रीआदिनाथके द्वारा इस युगकी आदिमें अवतरित हुई तथा दूसरे तीर्थंकरोंके द्वारा प्रचारमें आई और जिसे दूसरे धर्मों अथवा धर्मसमाजोंने भी अपनाया, उसकी जैनसमाजमें आज प्रायः कुछ भी चर्चा नहीं है, यह देख कर

निःसन्देह, बड़ा ही खेद होता है ! जैनी अपनी इस उपेक्षा तथा प्रमादसे योगके असीम साहित्यको खो चुके हैं !! उनके वे 'पूर्वमहार्णव' और इन्द्रादिकोंके गर्वको चूर चूर करने वाले 'योगागम' आज विद्यमान नहीं हैं !!! फिर भी योग-विषयक जो कुछ साहित्य अवशिष्ट है वह भी कुछ कम नहीं है। परन्तु वह सब इधर उधर बिखरा हुआ है—कोई बात किसी ग्रंथमें है तो कोई किसीमें,—उसका कोई एक सुव्यवस्थित रूप नहीं है ; कितनी ही कड़ियाँ उसकी बीचमें टूटी हुई जान पड़ती हैं; उसमें अधिकतर राजयोगका दर्शन होता है; परन्तु राजयोग रूपी अति उत्तुंग महल पर चढ़नेके लिये नीचेकी सीढ़ियाँ खंडित प्रतीत होती हैं—कितनी ही बीचकी सीढियोंका तो दर्शन तक भी नहीं होता। इसीसे इस सुन्दर महल पर चढ़नेकी इच्छा होते हुए भी, चढ़नेकी आम तौर पर कोई प्रेरणा नहीं होती; जो लोग चढ़ते हैं वे आगे जाकर भटक जाते हैं और राजयोगका ढौंग करने लगते हैं। यही वजह है जो आज जैनसमाजमें बहुतसे मुनियोंके मौजूद होते हुए भी कोई अच्छा योगी अथवा योगविद्याका अच्छा जानकार नहीं मिलता—प्रायः योगका ढौंग करने वाले ही देखे जाते हैं। और यह स्थिति देश तथा समाजके लिये अच्छी नहीं है। साथ ही, यह गलतफ़हमी भी फैली हुई है कि योगका अनुष्ठान एक मात्र मुनि ही कर सकते हैं, दूसरे नहीं—उन्हींके लिये इसका उपदेश है, गृहस्थोंके लिये नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है। योगका प्रारंभ गृहस्थाश्रमसे भी पहलेसे होता है और उसका बहुतसा भाग गृहस्थोंके लिये बहुत ही उपयोगी है।

यदि योगविषयक सारा जैनसाहित्य खोज करके उसका एक अच्छा संकलन तय्यार किया जाय तो ये सब त्रुटियाँ बहुत कुछ दूर हो सकती हैं, योगसाहित्यकी टूटी हुई कड़ियाँ भी जुड़ सकती हैं और जो कड़ियाँ अपने यहाँ उपलब्ध न हों उनका परस्पराविरोधमार्गसे, विकृतावस्थामें भी प्राप्त होनेवाले अन्य साहित्यपरसे, पुनः निर्माण किया जा सकता है। अन्य साहित्यमें, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, योगविषयक बहुतसा मूल कथन इधरसे ही गया हुआ है, और इसलिये प्रयत्न करने पर उसकी संगति भले प्रकार मिलाई जा सकती है। वास्तवमें देखा जाय तो शुद्ध योगमें कहीं भी कुछ भेद नहीं है। शायद इसीसे जैनाचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने कहा है—

> मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न ततः क्वचित्।
> साध्याभेदात्तथाभावे तूक्तिभेदो न कारणम् ॥
> —योगविन्दु।

अर्थात्— 'योग चूँकि मोक्षका हेतु है इसलिये साध्याभेदके कारण—साध्यका अभेद होते हुए—उसमें कहीं भी कुछ भेद नहीं है। महज उक्तियोंका भेद उस भेदभावके लिये कोई कारण नहीं हो सकता—उससे कोई वास्तविक भेद नहीं बनता।

उक्तिभेदमें दृष्टिभेद भी शामिल है। जैनधर्मकी दृष्टि अनेकान्तमय, वस्तुतत्त्वको सब ओरसे देखने वाली एवं उदार तथा विशाल होनेसे उसका योग भी तद्रूप अनेकान्तदृष्टिको लिये हुए है। जब कि दूसरे धर्मोंकी दृष्टि प्रायः एकान्तमय, वस्तुतत्त्वको एक ओरसे देखने वाली एवं संकुचित तथा अनुदार होनेसे उनके योगप्ररूपणमें भी प्रायः एकान्तता पाई जाती है। परन्तु यह दृष्टिभेद एक अनेकान्तवादी अथवा स्याद्वादीका सम्पर्क पाते ही सहज हीमें दूर हो जाता है। ऐसी हालतमें योगविषयका जो अविरुद्ध कथन है उसको अन्यत्रसे ग्रहण करनेमें कुछ भी आपत्ति नहीं

है; बल्कि वैसा करना परम कर्तव्य है। परन्तु योग-साहित्यका यह सब संकलन तभी हो सकता है जब कि जैनसमाजमें इसके कुछ रसिक पैदा हों और उनके द्वारा योगसाहित्यका पूरा शोधन—अन्वेषण—होकर उसमेंसे योग विद्याका अच्छा दोहन किया जाय। ऐसे रसिकोंको उत्पन्न करने अथवा जैनियोंमें योग-विषयक जिज्ञासा पैदा करनेके लिये ही, सम्पादक 'अनेकान्त'की प्रेरणा पर, आज 'अनेकान्त' द्वारा, इस योगचर्चाका प्रारंभ किया जाता है। पिछले कुछ वर्षोंमें योगमार्गके जानने वाले योगि-विद्वानोंकी सेवा कर और योगविषयक जैन-अजैन ग्रंथोंका अध्ययन कर मैंने जो कुछ ज्ञान सम्पादन किया है और खुद योगका अभ्यास कर जो थोड़ा-बहुत अनुभव प्राप्त किया है, उसीके आधार पर मेरा यह सब प्रयत्न है। और यह प्रयत्न जहाँ तक हो सकेगा सरल शब्दोंमें ही किया जायगा और उसके द्वारा सरल योगमार्ग ही पाठकोंके सामने रक्खा जायगा।

हाँ, अपने इस अनुभव तथा अध्ययनके आधार-पर मैं सबसे पहले इतना जरूर कहूँगा कि—जो लोग गृहस्थावस्थासे पहले और गृहस्थावस्थामें भी ठीक योगाभ्यास करते हैं उनके शरीर सदा नीरोग रहते हैं, रोगों का उन पर सहसा कोई आक्रमण नहीं होता, उनकी आँखोंकी ज्योति तथा अन्य इन्द्रियों की शक्ति अबाधित बनी रहती है, जठराग्नि प्रदीप्त रहती है, कब्जकी शिकायत होने नहीं पाती, हकीम-डाक्टरों अथवा दवाइयोंके पीछे उन्हें भटकना नहीं पड़ता; उनका शरीर हलका, तेजस्वी, कान्तिमान्, सुडौल, काम करनेमें समर्थ गठीला और फुर्तीला बना रहता है और मनमें सदा उत्साह, साहस, धैर्य और प्रसन्नताका निवास रहता है। वे वृद्ध होने पर भी युवा बने रहते हैं। यदि गृहस्थजन शुरूसे ही अपने बच्चोंको योगके मार्ग पर डालें तो वे उनके जीवनको बहुत कुछ सार्थक, सफल तथा सानन्द बना सकते हैं और संसारसे वैद्यों, हकीमों तथा डाक्टरोंकी आवश्यकताको एक दम कम कर सकते हैं। समाजके गौरवरूप ऐसे सद् गृहस्थोंमेंसे फिर यदि कोई मुनि बनें तो वे मुनिधर्मका ठीक पालन कर सकते हैं और सच्चे मुनि बनकर अपना तथा जगतका हित साधन कर सकते हैं। साथ ही, जैनशासनका संसारमें अच्छा उद्योत कर सकते हैं। अस्तु।

इस प्राथमिक निवेदनके बाद अब मैं प्रकृत विषयको लेता हूँ। (क्रमशः)

'शान्ति' का नोट

'शान्ति' नामकी जो कविता पृ० ५०४ पर मुद्रित हुई है उसके विषयका एक नोट छपनेसे रह गया है, वह इस प्रकार है:—

"यह कविता एक अजैन बन्धुकी लिखी हुई है, और इसलिये इसमें जिन दो घटनाओंका उल्लेख है वे हिन्दू पुराणोंसे सम्बंध रखती हैं। श्रीगुणभद्राचार्य-विरचित जैनमहापुराणके अनुसार राजा सगरके पुत्र किसी मुनिकी दृष्टिसे भस्म नहीं हुए थे, बल्कि एक देवने क्रूर सर्पका रूप धारण कर उन्हें मूर्छित करके भस्म राशि-रूपमें परिणत किया था—'कुमारान् भस्मराशिं वा व्यधात् क्रूराहिराकृतिः'—, जो बादको मायाभस्मके दूर होने पर सचेत हो गये थे। परंतु जैनपुराणोंमें द्वीपायन आदि ऐसे अनेकों शान्त मुनियोंके उदाहरण मौजूद हैं जिन्हें यदि क्रोध आया है तो फिर नगरके नगर भस्म हो गये हैं, और इसलिये 'मुनि-नयन-पावककी एक चिनगारीसे भस्म होना' कोई अनोखी बात नहीं है।"

—सम्पादक

योगीन्द्रदेवका एक और अपभ्रंश ग्रन्थ

[लेखक—श्री० ए० एन० उपाध्यायजी, एम. ए.]

उत्तर-भारतीय भाषाओंके अभ्यासी अपभ्रंश ग्रन्थोंके अध्ययनकी उपेक्षा नहीं कर सकते, जो कि हिन्दी और गुजरातीकी भाषा-विषयक पूर्वावस्थाओंके अध्ययनके लिये बहुत उपयोगी साधन-सामग्रीको लिये हुए हैं।

इस लेखके लेखक उपाध्यायजी सदलगा जि० बेलगामके रहने वाले एक बड़े ही सज्जन तथा विनम्र प्रकृतिके जैन विद्वान् हैं। इस वर्ष आपने जैनसाहित्यमें एम. ए. पास किया है। शायद दिगम्बर जैनसमाजमें आप ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने जैनसाहित्यमें एम.ए. किया है। आजकल आप कोल्हापुरके कालिजमें अर्धमागधी भाषाके प्रोफेसर एवं लैक्चरार नियत हैं। आप संस्कृत, प्राकृत, कनडी, मराठी तथा अंग्रेजीके अच्छे विद्वान् हैं और हिन्दी आदि और भी कई भाषाएँ जानते हैं। ऐतिहासिक खोज अथवा रिसर्चके आप खास प्रेमी हैं—दिन रात उसीमें लगे रहते हैं—और इसलिये आपके द्वारा इस दिशामें बहुत कुछ काम होनेकी आशा है। 'अनेकान्त'के पाठकोंको अब आपके लेख भी मिला करेंगे। आप कुछ दिन समन्तभद्राश्रममें भी रह गये हैं, तभीसे आपके साथ विशेष परिचय चलता है। आप अपभ्रंश भाषाके ग्रंथोंको संस्कृत छायाके साथ पढ़नेके विरोधी हैं, इसीसे जानबूझकर आपने योगीन्द्रदेवके दोहोंकी छाया नहीं दी। आपका कहना है कि छायाकी इस पद्धतिने हमारे बहुतसे शास्त्रियोंका नाश किया है, जो बिना छायाके कोई भी प्राकृत ग्रंथ पढ़ नहीं सकते, उनकी यह स्थिति बड़ी ही दयनीय है। अस्तु; दोहे बहुत कुछ सुगम हैं, पुरानी हिन्दीमें समझिये, थोड़ासा बुद्धि पर जोर देनेसे पाठक उनका अर्थ सहज हीमें मालूम कर सकेंगे।

—सम्पादक

जैनसाहित्यके अभ्यासी श्रीयोगींद्रदेवके नामसे अच्छी तरहसे परिचित हैं। वे **परमात्मप्रकाश**[1] के, जो कि भट्टप्रभाकरको सम्बोधन करके लिखा गया है, और **योगसार**[2] के कर्त्ता हैं। ये दोनों गहरे आध्यात्मिक महत्वके ग्रंथ हैं और अपभ्रंशमें लिखे गये हैं जो कि प्राकृतभाषाका एक उपभेद है। इन दोनों ग्रन्थोंकी गाढ़ तुलना करने पर एक मनुष्य सहज हीमें यह मालूम कर सकता है कि ग्रन्थकार महाशय कैसे उन्हीं शब्दों अथवा पदोंको दोनों ग्रंथोंमें दुहरानेके अभ्यासको लिये हुए थे, कभी कभी तो ऐसी पुनरुक्तियाँ उसी एक ग्रन्थमें भी पाई जाती जाती हैं। योगीन्द्रदेवकी लेखनी—लेखनपद्धति—का यह रूप **ब्रह्मदेव** के नोटिसमें भी आनेसे बच नहीं सका, जो कि **परमात्मप्रकाश** पर टीका लिखते हुए यह नोट देते हैं:— **अत्रभावनाग्रंथे समाधिशतकादिवत् पुनरुक्तदूषणं नास्ति इति। तदपि कस्मादिति चेत् अर्थं पुनः पुनश्चिन्तनलक्षणमिति वचनादिति मत्वा**[3] इत्यादि। और क्या? खुद श्रीयोगीन्द्रदेव भी पुनरु-

१ यह रायचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित हुआ है।

२ यह माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित हुआ है, जिल्द २१। ३ परमात्मप्रकाश पृ० ३४८

क्तियोंसे अनभिज्ञ नहीं हैं जब कि वे कहते हैं:—

इत्थु न लिव्वउ[४] पंडियहि, गुणदोसु वि पुणरुत्तु।
भट्टपभायरकारणइं, मइ पुणु पुणु वि पउत्तु ॥३४२

कुछ समय हुआ दैवयोगसे मुझे देवनागरी लिपिमें एक हस्तलिखित गुटिकाकी प्राप्ति हुई, जिसमें निम्न ग्रंथ हैं:—

भक्तामर स्तोत्र; श्रीदेवनन्दिकृत लघु स्वयंभूस्तोत्र; भावना बत्तिसी (अमितिगति-द्वात्रिंशतिका); बलिभद्रस्वामी रउवी (?) (हिन्दी); श्रुतभक्ति; तत्त्वार्थसूत्र (मूलमात्र); मार्गणा स्थानकी गणनात्मक-सूचियाँ; गोम्मटसारसे कुछ चुने हुए नोट; श्रीयोगीन्द्रदेवविरचित दोहापाहुड (मूलमात्र); परमात्मप्रकाश (मूलमात्र); पडिक्कम्मामि इत्यादि; शान्तिभक्ति; सामायिक; दशभक्तिमेंसे कुछ भक्तियाँ; देवसेनका आराधनासार (मूल मात्र); आशाधरविरचित जिनसहस्रनाम।

जहाँ तक मैं जाँच सका हूँ, यह हस्तलेख (गुटिका) दो सौ वर्षसे अधिक पुराना है। यह काली और लाल रोशनाईसे लिखा हुआ है। इधर उधरकी थोड़ीसी लिपिकर्ताकी अशुद्धियोंको छोड़ कर यह अच्छा शुद्ध है। मैंने 'परमात्मप्रकाश' और 'आराधनासार' (मा० ग्रंथमाला) के मुद्रित संस्करणोंको जो इस गुटिकासे मिलान किया तो मुझे इस गुटिकाके बहुतसे पाठ नोट किये जानेके योग्य मालूम हुए।

इस गुटिकामेंसे इस समय हमारे सामने सिर्फ 'दोहापाहुड' का विचार प्रस्तुत है, जो कि एक महत्वका ग्रंथ है। यह अपभ्रंश भाषामें है और इसकी पुष्पिका स्पष्ट बतलाती है कि यह योगीन्द्रदेव-द्वारा रचा गया है :—

"इति श्रीयोगीन्द्रदेवविरचित दोहापाहुडं नाम ग्रंथं समाप्त।"

इस ग्रंथमें कुल २२० दोहे हैं। मौजूदा गुटिकाकी करुण कथा यह है कि उसके बहुतसे अक्षर तथा पंक्तियाँ रगड़ खा गई हैं और खास कर उन अंशोंका स्पष्टीकरण होना बहुत ही कठिन हो गया है जो कि लाल रोशनाईसे लिखे हुए हैं। इससे इस पूरे ग्रंथ (दोहापाहुड) की कापी करनेके मेरे प्रयत्न असफल हुए हैं और मैं एक अच्छी हस्तलिखित प्रतिकी तलाशमें हूँ। लेखक 'अनेकान्त' के उन कृपालु पाठकोंका बहुत आभारी होगा जो उसे इस बातकी सूचना देंगे कि क्या यह ग्रंथ किसी दूसरी जगह मौजूद है *।

इस ग्रन्थके विषय समाधिपरक प्रकृतिको लिये हुए हैं जहाँ कि ग्रंथकार देह और जीवमें, पौद्गलिक सामग्री और चैतन्य-विशिष्ट-आत्मामें भेद करता है और अन्तमें आत्माके सारभूत स्वाभाविक गुणों पर निश्चयनयकी दृष्टिसे विचार करता है।

बड़े कष्टसे मैंने कोई सत्तर पद्योंकी कापी की है—जिनमेंसे भी कुछ खण्डिताङ्ग हैं। इस ग्रन्थमें बहुतसी पंक्तियाँ तथा वाक्य ऐसे हैं जो कि इन्हीं ग्रन्थकारके दूसरे दो ग्रन्थों परमात्मप्रकाश और योगसार के साथ समानता रखते हैं। इन ग्रंथोंमें लेखनपद्धति और वाक्यरचनाका गाढ सादृश्य है। मैं इन तीनों ग्रन्थोंके समान वाक्योंका तुलनात्मक नक़शा देना नहीं चाहता हूँ—वह उस समय भले प्रकार दिया जा सकेगा जब कि दोहापाहुडकी एक और अच्छी तरहसे पढ़ी

[४] 'लेवउ' यह पाठान्तर एक हस्तलिखित प्रतिमें पाया जाता है।

* इस ग्रन्थ की एक प्रति देहलीके नये मंदिरके भण्डारमें मौजूद है, जिसका पता इस लेखको प्रेसमें देते समय चला और इसलिये उसका जानने योग्य विशेष परिचय लेखके अन्तमें एक नोटद्वारा दे दिया गया है; उसे ज़रूर देखिये। —सम्पादक

जाने योग्य हस्तलिखित प्रति मिल जायगी।

अपने पाठकोंके लिये मैंने यहाँ पर कुछ दोहे दे दिये हैं—हस्तलिखित प्रतिमें विरामचिन्ह ठीक तौरसे लगे हुए नहीं हैं—अथवा पदोंका विभक्तीकरण ठीक नहीं हो रहा है—और मेरा सविनय निवेदन है कि यदि इनके देनेमें कोई अशुद्धियाँ हों तो मुझे उनका संशोधन करा दिया जाय। निम्न पद्योंमेंसे कुछ पद्यों-के सदृश-पद्योंको भी मैंने फुटनोटों द्वारा नोट कर दिया है जो कि 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' में पाये जाते हैं।

गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पहं परहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ॥ १॥
[1]जं सुहु विसयपरंमुहउ नियअप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु वि न उ लहइ देविहि कोडि रमंतु॥२
नवि भुंजंता विसयसुह हियडइ भाउ धरंति।
[2]सालिसित्थु जिम वापुडा नरनरयह निवडंति॥५
[3]धंधइ पडियउ सयलु जगु कम्मइं करइ अयाणु।
मोक्खह कारणि एकु खिणु न वि चिंतइ अप्पाणु।६
मोहु विलिज्जइ मणु गलइ तुट्टइ सासु निसासु[4]।
[5]केवलनाणु विपरिणवह अंबरि जाह निवासु॥१४
जो मुणि छंडिवि विसयसुह पुणु अहिलासु करेइ।
लुंचणु सोसणु सो सहइ पुणु संसारु भमेइ॥१५॥
उम्मूलिवि ते मूलगुण उत्तरगुणहि विलग्ग।
वन्नर जेम पलंबचुय बहुय पडेविणु भग्ग॥ ०॥
अप्पा बुज्झइ निच्चु जइ केवलनाण सहाउ।
ता पर किज्जइ काइं बढ तणुउप्परि अणुराउ॥२३
जसु मणि नाणु न विप्फुरइ कम्मह हेउ करंतु।
सो मुणि पावइ सुक्खु न वि सयलइं सत्थ मुणंतु॥ ४
[1]नवि तुहुं पंडिउ मुक्खु न वि न वि ईसरु न न नीसु।
न वि गुरु कोइ वि सीसु न वि सव्वु इ कम्म विसेसु॥२७
[2]पुण्णु वि पाउ वि कालु न वि धंमु अहंमु न काउ।
एक्कु वि जीव न होहि तुहुं मिल्लिअ चेअण भाउ॥ ९
कम्मह केरउ भावडउ जइ अप्पणा भणेहि।
तो वि न पावहि परमपउ पुणु संसारु भमेहि॥३६
वन्न विहूणउ नाणमउ जो भावइ सब्भाउ।
बंभु निरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ३७
[3]देहा देउलि जो वसइ सतिहि सहिं...देउ।
तित्थहि जोइय लहि सिद्ध ....उ॥५३॥
अप्पा केवल णाणमउ हियडइ निवसइ जासु।
तिहुयणि अच्छइ मोक्कलउं पाउ न लग्गइ तासु॥५९
चिंतइ जंपइ कुणइं ण वि जो मुणि बंधण हेउ।

१ प्रथम पादको छोड़कर यह पद्य वही है जैसा कि **परमात्मप्रकाश** का पद्य नं० ११८,

२ इस दोहेमें शालिसिक्थके उल्लेखके लिये देखो **भावपाहुड** की गाथा ८६ और उस पर श्रुतसागरकी टीका (मा० ग्रंथमाला)

३ प्रथम पादके लिये तुलना करो **योगसार** पद्य ५१।

४ भाषासम्बन्धी संशोधनोंको बीचमें डाले बिना ही ज्योंकी त्यों कापी की गई है, मूल प्रतिमें यह पाठ इसी रूपमें है।

५ तीसरे पादके लिये तुलना करो **योगसार** पद्य ६१।

१ तुलना करो **परमात्मप्रकाश** का पद्य नं० ९२ जो कि प्रायः समान है।

[देहलीकी प्रतिमें इस पद्यसे पहले "हउ गोरउ हउ सामलाउ" इत्यादि पद्य दिया है, वह बिलकुल परमात्मप्रकाशका पद्य नं०८१ है।

—**सम्पादक**]

२ **परमात्मप्रकाश** पद्य ९३ और यह एक ही है।

३ यह पद्य पूरी तौरसे नहीं पढ़ा गया, अक्षर मिट गये हैं और भी स्पष्ट नहीं हैं। फिर भी **परमात्मप्रकाश** के पद्य नं३३ और **योगसार** के पद्य नं० ४१, ४२ के साथ तुलना कीजिये।

[यह पूरा दोहा देहलीकी प्रतिमें इस प्रकार दिया है—

देहादेवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ।
को तहि जोइय सत्तिसिउ सिग्घु गवेसहिं भेउ।

—**सम्पादक**]

केवलणाणफुरंततणु सो परमप्पउ देउ ॥६०॥
जसु मणि णाणु न विप्फुरइ सव्ववियप्प हणंतु ।
सो किउ पावइ णिच्चसुहु सयलइं धम्म कहंतु ॥६४॥
[1]अप्पा दंसणु केवलउ अण्णु सयलु ववहारु ।
एक्कु सुजोइय झाइयइ जइ तइलोयहं सारु ॥६७
अप्पा दंसणणाणमउ सयलु वि अण्णु पयालु ।
[2]इम जाणेविणु जोइयहो छंडहु मायाजालु ॥६८

मुझे विश्वास है कि इन यूथच्युत उद्धरणों—चुने हुए पद्यों—परसे पाठक दोहापाहुड के विषयका अच्छी तरहसे अनुभव कर सकेंगे। श्री योगीन्द्रदेवकी भाषा बिल्कुल सादा—घरेलू बोलचाल जैसी—है और उनकी लेखनपद्धति श्रमसाध्य समासोंसे रहित सुकोमल और अस्खलित है। यह बहुत संभव है कि उन्होंने अपभ्रंशमें और भी ग्रंथ लिखे हो ❀।

१ **परमात्मप्रकाश** पद्य नं० ९७ और यह प्रायः एक ही है कुछ वाक्य **योगसारके** पद्य नं० ३३ के साथ समानता रखते हैं।

२ **योगसारके** २१वें पद्यके उत्तरार्धके साथ तुलना करो।

❀ एक ग्रन्थ श्रावक 'श्रावकाचार दोहक' भी है, जिसमें सब मिला कर २२४ दोहे हैं। इसकी एक प्रति आगरा-मोती कटराके जैनमन्दिरमें और दूसरी देहलीके पञ्चायती मन्दिरमें है। आगराकी प्रतिमें ग्रंथकर्ताका नाम **'जोगेंद्रदेव'** दिया है जब कि देहलीकी प्रतिमें नामका कुछ उल्लेख ही नहीं। ये दोनों प्रतियाँ मैंने देखी हैं—पहली बहुत अशुद्ध और दूसरी अपेक्षाकृत अच्छी शुद्ध है। दूसरी प्रति परसे उतारी हुई मेरे पास भी इसकी एक प्रति है। अपभ्रंश भाषाकी दृष्टिसे इस ग्रंथका जो महत्व है वह तो है ही परन्तु पद पद पर कितनी ही उपमाएँ और उपदेश इसमें बड़े अच्छे सुन्दर जान पड़ते हैं। प्रकाशमें लानेके योग्य है। इसका मङ्गलाचरण इस प्रकार है:—

णवकारेप्पिणु पंचगुरु, दूरिदलियदुहकम्मु ।
संखेवें पयडक्खरहिं, अक्खिय (क्खमि)सावयधम्मु॥

— सम्पादक

नोट

इस ग्रन्थकी एक प्रति देहलीके नये मंदिरमें भी है, जो कि "पौष शुक्ल ६ शुक्रवार संवत् १७९४" की लिखी हुई है। ग्रन्थका नाम आदि-अन्तमें "पाहुड-दोहा" दिया है। इसकी पत्रसंख्या १२ और पद्यसंख्या वही २२० है। तथा वे सब पद्य भी इसमें मौजूद हैं जो लेखक महोदयने अपने लेखमें उद्धृत किये हैं—किसी किसी पद्यमे नम्बरका कुछ भेद है और कहीं कहीं साधारण-सा पाठभेद भी पाया जाता है। परंतु पद्योंकी इस संख्यामें सब दोहे ही नहीं, किन्तु कुछ गाथा आदि दूसरे छंदोंके पद्य भी पाये जाते हैं और अंतिम भागमें संस्कृतके तीन पद्य भी उपलब्ध होते हैं। ऐसे पद्योंकी संख्या यद्यपि बहुत थोड़ी है फिर भी वह २० से कम नहीं है, ऐसा सरसरी तौर पर नजर डाल कर मार्क करनेसे मालूम हुआ है। इन पद्योंमेंसे कुछ पद्य नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

सो णत्थि इह पएसो, चोरासीलक्खजोणिमज्झम्मि
जिणवयणं अलहंतो, जत्थ ण डुरडुल्लिओ जीवो ॥२३
आराहिज्जइ काइं, दिउ परमेसरु कहिगयउ ।
वीसारिज्जइ काइं, तासु जो सिउ सव्वगउ ॥५०॥

हलिसहि काइं करइ सो दप्पणु,
जहि पडिबिंबि ण दीसइ अप्पणु ।
धंधइ वालमो जगु पडिहासइ,
घरि अत्थं तु ण घरवइ दीसइ ॥ १२१॥

कायास्तित्वार्थमाहारं कायाज्ज्ञानं समीहते ।
ज्ञानं कर्म्मणि(वि)नाशाय तन्नाशे परमं पदं ॥२१६
आपदा मूर्च्छितो वारि चुलुकेनापि जीवति ।
अम्भः कुम्भसहस्राणां गतजीवः करोति किं॥२२०

हाँ, एक बात इस प्रतिमें सबसे अधिक नोट करने-की पाई जाती है, और वह यह कि इसमें ग्रन्थकर्ताका नाम 'योगीन्द्रदेव' नहीं दिया किन्तु रामसिंह मुनि दिया है। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है: —

"इति श्रीमुनि रामसीह विरचता पाहुडदोहा समाप्तं।"

यह देखकर मैंने पद्योंमें ग्रन्थकर्ताके नामका अन्वेषण किया तो मुझे 'योगीन्द्रदेव' नाम कहीं नहीं मिला बल्कि दो पद्योंमें 'रामसिंह' मुनिका ही नाम उपलब्ध हुआ है। और वे पद्य इस प्रकार हैं:—

मंतु ण तंतु ण धेउ ण धारणु
णवि उच्छासह किज्जइ कारणु।
रामइ परमसुक्खमुणि सुवइ
एही गल गल कासु ण रुच्चइ ॥ २०४॥
अणुपेहा वारह वि जिया भाविवि एक्कमरणेण।
रामसीह मुणि इम भणई सिवपुरि पावहि जेण २०८

इन पद्यों और उक्त पुष्पिकासे यह ग्रंथ साफ़ तौर पर रामसिंह मुनिका रचा हुआ जान पड़ता है।

'दिगम्बर जैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रन्थ' नामक सूचीमें भी रामसिंह मुनिके नामके साथ इस ग्रन्थका उल्लेख है, जब कि योगीन्द्रदेवके साथ नहीं— योगीन्द्रदेवके नामके साथ श्रावकाचारका नाम ज़रूर है। और ग्रंथका साहित्य योगीन्द्रदेवके साहित्यमें मिलता जुलता ही नहीं बल्कि परमात्मप्रकाश जैसे योगीन्द्रदेवके प्रसिद्ध ग्रंथोंके कितने ही पद्यों तथा वाक्यों को ज्यों का त्यों लिये हुए है। इससे इस ग्रंथके कर्तृत्व-सम्बंधमें एक बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो गई है। या तो इसमें योगीन्द्रदेवके पद्य प्रक्षिप्त हैं या रामसिंह नामादि वाले कुछ पद्य पीछेसे शामिल हुए हैं और या कोई दूसरी ही घटना घटी है।

आशा है लेखक महोदय इस विषयका विशेष अनुसंधान करेंगे और अपनी उस अस्पष्ट प्रतिमें देखेंगे कि ऊपरके ये पद्य भी उसमें पाये जाते हैं या कि नहीं। दूसरे विद्वानोंको भी चाहिये कि वे अपने यहाँके भंडारोंमें इस ग्रन्थकी खोज करें और वहाँ की प्रतिकी विशेषताओंसे सूचित करें। —सम्पादक

महावीर हैं

[लेखक—श्री० पं० मुन्नालालजी जैन विशारद]

पराधीन-क्षणिक-विभवधारी वे अमीर नहीं,
ज्ञान-विभवधारी ही साँचे अमीर हैं;
होकर निःसंग जो निर्ग्रन्थ भये निजानन्द,
वे ही साधु, अन्य नंग मँगता फ़क़ीर हैं;
घोर कष्ट आए जो न त्यागें कभी न्यायमार्ग,
वे ही धीरवीर अन्य स्वार्थी अधीर हैं;
कायबलधारी भारी सुभट "मणि" वीर नहीं,
मोह सुभट जीतो जिन वेही महावीर हैं।

'अनेकान्त' पर लोकमत

६८ संपादक 'अग्रवाल-सुधारक' आगरा—

"यह (अनेकान्त) जैनसंप्रदायका पत्र है और इस पत्रका उद्देश्य जैनधर्मके गूढ तत्त्वोंको खोजना और प्रचार करना मालूम होता है। इसके लेखोंकी गम्भीरता, उपयोगिता और हितोपदेशता सराहनीय है। जो लोग कि वास्तवमें जैनधर्म पर कुछ गम्भीरता और विचारपूर्ण लेख पढ़ना चाहते हैं वे इसे अवश्य पढ़ें। जैन-सम्प्रदायके जितने पत्र निकलते हैं उनमें इसका स्थान उच्च है। हमारी हार्दिक इच्छा है कि पत्र दिनोंदिन उन्नति करता रहे और अपने उद्देश्यमें सफल हो।"

६९ श्री० बाबा भागीरथजी वर्णी, बरुआसागर (झाँसी)—

"मेरा मन लगा वास्तव रूपसे तो 'अनेकान्त' में। जैनियोंमें तो इसके समान कोई भी पत्र नजरमें नहीं आता है।...हमारी तो अन्तरंगसे ऐसी भावना है कि ऐसा महान् पत्र हमेशाके वास्ते चिरायु होवे, जैनियोंको ऐसी समझ आवे"

७० सेठ परमानन्दजी एम. ए., इनकमटैक्स ऑफीसर, देहली—

"I have read nearly all numbers of your valuable Magazine You have all along maintained a high literary level. Every number contains a lot of substantial food for thought: only I wonder if you could make its language simpler and easier, so that a larger number of people might benefit by the illuminating dissertations contained in it. I am glad to see that up to the present time you have scrupulously kept above all party recriminations found in so many other papers. It is as it should be, for Ahinsa is the soul of Jainism. If you continue to preach the truth as you have done so far, you will have set up a unique standard in the world of public journals. I wish you a long life of service in the cause of your religion and of your community.

"मैं आपके बहुमूल्य पत्र (अनेकान्त) के करीब करीब सब अंक पढ़ गया हूँ। आपने बराबर ऊँची साहित्यिक समवृत्तिको स्थिर रक्खा है। हर एक अंक विचारके लिये वास्तविक खाद्य लिये हुए है; मात्र मुझे आश्चर्य होता यदि आप इसकी भाषाको और भी अधिक सादा तथा सुगम बना सकते, जिससे इसके दीप्तिमान निबंधोंसे जनता अधिक लाभ उठा सकती। मैं यह देख कर प्रसन्न हूँ कि आपने इस वक्त तक संपूर्ण

पक्षपाती प्रत्यभियोगों (प्रतिदोषारोपों) से, जो कि दूसरे इतने अधिक पत्रोंमें पाये जाते हैं, अपने पत्रको सावधानीके साथ सुरक्षित रक्खा है। यह बात ऐसी ही है जैसी कि होनी चाहिये, क्योंकि अहिंसा जैनधर्मकी आत्मा है। यदि आप सत्यका प्रकाशन इसी प्रकारसे जारी रक्खें जैसा कि आप अब तक करते रहे हैं, तो आप पबलिक पत्रोंकी दुनियामें एक अपूर्व स्टैन्डर्ड (आदर्श) स्थापित करेंगे। मैं धर्म और समाजके लिये आपके सेवामय दीर्घजीवनकी अभिलाषा करता हूँ।"

७१ मुनि श्रीहिमांशुविजयजी 'अनेकान्ती', शिवपुरी (ग्वालियर)—

"चैत तकके पढ़े हुए 'अनेकान्त' के अंकोंसे आपकी विद्वत्ता और उदार नीति बहुत पसन्द आई है, इस पत्रके द्वारा अनेक विद्वानोंको अपने अपने विचार प्रकट करनेका सुअवसर प्राप्त होगा, सैकड़ों ग्रामों और शहरोंका मन्दिरों और महलोंका प्राचीन इतिहास प्रसिद्धिमें आवेगा, हजारों जैन और जैनेतरोंको जैनतत्त्वज्ञान, जैनइतिहास, जैनसाहित्य एवं जैनी अहिंसाका सत्य परिचय होगा, जब कि इस पत्र (अनेकान्त) की वर्तमान नीति विपरीत न हो। परन्तु उदार नीतिसे पुराने विचार वाले लोगोंके आक्षेपास्त्र भी बहुत सहने पड़ेंगे जैसे कि जैनहितैषी को सहने पड़े थे। परन्तु जैनहितैषीकी तरह आप ऐसे अस्त्रोंसे डर कर पीठ नहीं बताना—'अनेकान्त' को बन्द नहीं करना। साहित्यके क्षेत्रमें आपके जैसे उदार विचार प्रतीत होते हैं वैसे जैनसमाज और जैनधर्मके विषयमें भी उदार विचार हैं यह "जैनी कौन हो सकता है?" लेखसे जान कर मुझे निहायत खुशी हुई है; क्योंकि मेरे भी ऐसे ही विचार हैं जैसे कि श्वे० जैनमें छपे हैं। लेखके नीचे उचित भाषामें सम्पादकीय नोट लिखनेकी शैली निष्पक्ष समालोचकताको प्रकट करने वाली है, बहुत जैन विद्वान्-युवक सरस्वती-माधुरी-जैसे जैन पत्रकी प्रतीक्षा और याचना करते थे, और करते हैं। 'अनेकान्त' को ही जैनसरस्वती या माधुरी बनाने की सर्वतोमुखी शुभ प्रवृत्ति करनेमें तत्पर रहना।

आप हमेशा इस उदात्त-निष्पक्ष एवं सुधारक-नीतिसे कार्य करते रहेंगे तो शासन देव शासन-सेवाके उच्च ध्येयकी पूर्तिके लिये आपका मार्ग निष्कण्टक करेंगे।"

७२ मुनि श्रीविद्याविजयजी, अधिष्ठाता 'वीर-तत्त्वप्रकाशकमंडल' शिवपुरी—

"'अनेकान्त' को प्रारंभसे देखता आया हूँ। आज तकके सभी अंक, जैसी मैं उम्मीद रखता था, वैसे ही निकले हैं, यह अत्यन्त प्रसन्नताकी बात है। प्रारंभका उत्साह और लेखोंकी उत्तमताका प्रवाह मंद नहीं हुआ है, इसको मैं जैनसमाजका सौभाग्य समझता हूँ। सचमुच जैनसमाजमें ऐसे पत्रकी अत्यंत ही आवश्यकता थी। शासनदेव आपको इस शुभ प्रवृत्तिको चिरकाल तक निभाये रखनेका सामर्थ्य समर्पित करे।"

७३ प्रो० बनारसीदासजी जैन, एम. ए., पी. एच.डी., ओरियंटल कालेज, लाहौर—

"'अनेकान्त' के संपादक महोदयकी कृपासे मुझे इसके कई अङ्क देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। वैसे तो जैनसमाजमें बहुतसे पत्र और

पत्रिकाएँ (साप्ताहिक, मासिक आदि) निकलते हैं और वे जैनसमाजको उन्नतिके शिखर पर ले जानेकी चेष्टा कर रहे हैं परन्तु उनका कार्यक्षेत्र बहुधा सामाजिक सुधार तक ही परिमित है। इनमें साहित्य, इतिहास और सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखने वाला पत्र कोई नहीं। यद्यपि समय समय पर ऐसे पत्र निकलते रहे हैं यथा "जैन सिद्धान्तभास्कर", "वीरशासन", "जैनहितैषी", "जैनसाहित्यसंशोधक" आदि परन्तु वे चिरकाल जीवित न रह सके और इस प्रकारके पत्रका अभाव वैसेका वैसा बना रहा। अब इस अभावको दूर करनेके लिये "अनेकान्त" ने मासिक रूपमें जन्म लिया है। इसका मुख्य उद्देश्य जैनसिद्धान्त, साहित्य और इतिहासके विषयमें खोज करना है। इसके लेख प्रायः अपने लेखकोंके मौलिक अनुसंधानका परिणाम है। यह पत्र जैनधर्मके अभ्यासियोंके लिये अति उपयोगी है।

मेरी सम्मतिमें यदि सामाजिक विषय इससे पृथक् रक्खे जायँ तो अच्छा हो। फिर चाहे इसको छै मासिक या त्रैमासिक ही कर दिया जाय। सामाजिक विषयोंके लिये पृथक् पत्रकी आयोजना की जाय। मै समझता हूँ कि एक तो उच्च कोटिके लेख इकट्ठा करके मासिक पत्र चलाना कठिन होगा। दूसरे जो अजैन सज्जन जैन धर्मके अभ्यासी हैं उनको सामाजिक विषयके लेख कुछ अधिक रुचिकर न होंगे। इसी प्रकार सामाजिकसुधार वालोंको साहित्यिक विषय कुछ रुचिकर न होंगे।

अंतमें मेरी भावना है कि जैन धर्मको देदीप्यमान करता हुआ "अनेकान्त" उत्तरोत्तर उन्नतिको प्राप्त होता हुआ सदा जीवित रहे।"

७२ श्री० प्राक्तनविमर्श-विचक्षण रावबहादुर आर० नरसिंहाचार्यजी एम.ए. मल्लेश्वरम् (बैंगलौर)—

"I have to express my thanks to you for your courtesy in sending me two issues of your valuable monthly journal, the "Anekanta" The journal contains information on a variety of subjects and will be useful not only to the jains but also others. The Jain Gazette, which is in english, can be appreciated only by a small circle of english knowing jains, but your journal appeals to a wider circle of readers. I wish your journal every success.

I am glad to see in both the issues articles on jain kanarese poets. These contributions are important as they bring to the notice of nonkanarese knowing jains the literary work done by their coreligionists in the Kanarese country."

"I am glad that you are supplying a real want by the publications of this useful Journal"

'आपने अपने बहुमूल्य मासिक पत्र 'अनेकान्त'-की दो किरणें मेरे पास भेजीं इस सौजन्यके लिये मैं आपका धन्यवाद करता हूँ। पत्र नाना प्रकारके विषयोंकी विज्ञापनाको लिये हुए हैं और वह केवल जैनियोंके लिये ही नहीं बल्कि दूसरोंके लिये भी उपयोगी होगा। जैनगजट जो कि अंग्रेजीमें है, सिर्फ अंग्रेजी जानने वाले जैनियोंके एक छोटेसे मंडल के द्वारा ही समझा जा सकता है, परंतु आपका पत्र पाठकोंके एक

विस्तृत मंडलको अपील करता है। मैं आपके पत्रके लिये सब प्रकारकी सफलता चाहता हूँ।

मैं यह देख कर प्रसन्न हूँ कि दोनों किरणोंमें कर्णाटकी जैनकवियों पर लेख हैं। ये अंश इस लिये महत्वके हैं कि वे कनडी न जाननेवाले जैनियोंको उस साहित्यिक कार्यका परिचय कराते हैं जो कि उनके सहधर्मियोंने कर्णाटक देशमें किया है।"

"(हालके पत्रमें) मैं यह देख कर प्रसन्न हूँ कि आप इस उपयोगी पत्रके प्रकाशन-द्वारा असली जरूरतको पूरा कर रहे हैं।"

७५ पं० नलिनजी, न्यायतीर्थ, कुचामन (मारवाड़)—

"आपके 'अनेकान्त' के तीन चार अंक देखे। लेखों और कविताओंका चुनाव मनोहर है। जैनसमाजमें चिरकालसे एक मासिक पत्रकी आवश्यकता थी आपने उसकी पूर्ति कर जो पुनीत और आदर्श कार्य किया है उसके लिए आप धन्यवादके पात्र हैं।

आप जैन समाजके गंभीर अध्ययनशील विद्वान हैं। जिन्होंने आपकी अनुशीलनीय कृतियोंका मनन किया है वह आपके आदरणीय व्यक्तित्वसे अच्छी तरह परिचित हैं। पत्रके प्रत्येक अंकमें आपके व्यक्तित्वका स्पष्ट दर्शन होता है। जैनोंके अलभ्य और अमूल्य साहित्यका इसके हर अंकमें कुछ-न-कुछ परिचय मिलता रहेगा यह बड़े आनन्दकी बात है। हमें आशा और विश्वास है कि जैनोंके म्रियमाण अपार साहित्यके लिए आपका यह विशाल आयोजन 'मृत्युञ्जय' महौषधिसे कम फलोत्पादक न होगा। हम इसके चिरजीवि होनेके अत्यन्त अभिलाषी हैं।"

७६ श्री० दशरथलालजी, ऑन० सुपरिंटेंडेंट जैन होस्टल, जबलपुर—

"सांप्रतिमें किसी समाजकी मानसिक प्रगतिको देखनेके लिये उस समाजकी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ ही एक अच्छे साधन समझे जाते है। इधर कुछ वर्षों से 'जैनहितैषी' जैसे गंभीर नीतिवान् पत्रके अभावमें जो अंधकार छा गया था, 'अनेकान्त' से अब यह गतप्राय होता प्रतीत होता है। वास्तवमें आप जैसे सुयोग्य लब्धख्यात विद्वानसे हमें ऐसे ही अपूर्व और दृढ कार्यके सम्पादनकी आशा थी। आपके सम्पादकत्वमें 'अनेकान्त' के उदयसे अनेक हताश और क्षुब्ध हृदय-कमल विकसित हो उठे हैं और यह निस्संदेह है कि पत्र होनहार ही नहीं बल्कि तिमिराच्छन्न जैन संसारके मुखको समुज्वल प्रकाशित करनेमें साहित्य-गगनका एक चमकता हुआ तारा सिद्ध होगा। पत्र समाजका गौरव होगा, यह उसको मिले हुए अनेक साधुवाद, आशीर्वाद व हार्दिक धन्यवादोंसे सिद्ध है। पत्रकी नीति उसकी गंभीरताकी यथेष्ट परिचायक है। मैं पत्रके चिरंजीव होनेकी हार्दिक मनोकामना करता हूँ। साथ ही योग्य सेवाका अभिवचन देता हूँ।"

७७ संपादक 'दृढोमर वैश्य', लखनऊ—

"इसमें जैन दर्शनके उच्चकोटिके लेख रहते हैं। दर्शन जैसे गंभीर विषयका यह महत्वशाली पत्र है।"



अहिंसा-प्रतिष्ठा

श्री बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता के

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

—अमृतचन्द्रसूरिः ।

वर्ष १ | समन्तभद्राश्रम, क़रौलबाग़, देहली । | किरण ११, १२
आश्विन, कार्तिक, सं० १९८७ वि०, वीर-निर्वाण सं० २४५६

ईश-विनय

(१)

पतितउधारक शिवसुखकारक, स्वामी करुणा लीजे ।
हम भ्रमत चतुर्गति हारे,
नहिं तुम बिन कोउ दुख टारे ।
करुणासागर सबगुणआगर, भवदधि पार करीजे ॥
पतितउधारक शिवसुखकारक, स्वामी करुणा लीजे ॥

(२)

मरी अरु क़हतसाली सब, हमींको आ सताती हैं ।
बलायें जो कि हैं सारी, हमींको आ दबाती हैं ॥
कषायें फूट नादारी, सदा हमको जलाती हैं ।
गई भारतकी वह हालत, जो इतिहासें जताती हैं ॥
यह भारत वर्ष हमारा,
सहे दुःख अनेक प्रकारा ।
यह भारत नैया पार लगैया, करुणाकर सुख दीजे ॥
पतितउधारक शिवसुखकारक, स्वामी करुणा लीजे ॥

(३)

कला-कौशल हमारा सब, गये हैं भूल अरसेसे ।
उठी तत्त्वोंकी चर्चा शोक ! भारतके मदरसेसे ॥
जो था दुनियाका शिक्षक, वह अविद्यावश सहे ख्वारी ।
निकलते हैं सहस्रों दास, बन बनके मदरसेसे ॥
हम ज्ञान-बुद्धि कर हीना,
पर-बन्धन फँस भये दीना ।
यह कुमति हमारी नशो दुखारी, सुमति ज्ञान अब दीजे ॥ प०

(४)

गँवाके व्यर्थव्ययमें सब, रुपा हो बैठे हैं खाली ।
मिटाया धर्म सब अपना, विदेशी चीनी खा डाली ॥
स्वदेशी को घृणासे देख, अपनी खाक कर डाली ॥
प्रभो ! करुणा करो हम पै, कियेकी हम सज़ा पाली ॥
हम वैर-विरोध मिटावें,
निज भारत देश जगावें ।
यह 'चमन' हमारा करे पुकारा, भारतकी सुधि लीजे ॥ प०

* प० अर्जुनलालजी सेठीके 'धर्मपाल' नाटकका एक अंश ।

जैन-सम्बोधन

जैनियों ! किस धुनमें हो तुम, क्या खबर कुछ भी नहीं?
हो रहा संसारमें क्या, ध्यान कुछ इस पर नहीं !
म्लेच्छ और अनार्य जिनको, तुम बताते थे कभी ;
देख लो, किस रंगमें हैं, आज वे मानव सभी ॥ १ ॥

और अपनी भी अवस्थाका मिलान करो जरा ।
पूर्व थी वह क्या ? हुई अब क्या ? विचार करो जरा॥
है कहाँ वह ज्ञान-गौरव, राज्य-वैभव आपका ?
वह कहाँ बहुऋद्धयलंकृत तप, विनाशक पापका ? २

वृष अहिंसा आपका वह, उठ गया किस लोकमें ?
प्रेम पावन आपका सब, जा बसा किस थोकमें ?
है कहाँ वह सत्यता, मृदुता, सरलता आपकी ?
वह दयामय-दृष्टि और परार्थपरता सात्विकी ? ३ ॥

पूर्वजों के धैर्य-शौर्यौदार्य-गुण, तुम में कहाँ ?
है कहाँ वह वीरता, निर्भीकता, साहस महा ?
बाहु-बलको क्या हुआ ? रण-रंग-कौशल है कहाँ ?
हो कहाँ स्वाधीनता, दौर्बल्यशासन हो जहाँ ? ४॥

वे विमान कहाँ गये ? कुछ याद है उनकी कथा ?
बैठ जिनमें पूर्वजोंको, गगनपथ भी सुगम था ?
है कहाँ निर्वाह प्रणका ? और वह दृढ़ता कहाँ ?
शीलता जाती रही, दुःशीलता फैली यहाँ !! ५॥

उठ गई सब तत्त्वचर्चा, क्या प्रकृति बदली सभी !
स्वप्न भी, निज अभ्युदयका, जो नहीं आता कभी !
खो गया गुण-ग्राम सारा, धर्म-धन सब लुट गया !
आँख तो खोलो जरा,—देखो सवेरा हो गया !! ६ ॥

धर्म-विष्टर पर विराजीं, रूढ़ियाँ आकर यहाँ,
धर्म हीके वेषमें, जो कर रहीं शासन महा ।
थीं बनाई तुम्हींने ये, निज सुभीतेके लिए,
बन गये पर अब तुम्हीं, इनकी गुलामीके लिए !!७

देखिए, मैदाने उन्नतिमें कुलाँचे भर रहे,
कौन हैं, निज तेजसे विस्मित सबोंको कर रहे ?
नव-नवाविष्कार प्रतिदिन, कौन कर दिखला रहे ?
देव-दुष्कर कार्य विद्युत्-शक्तिसे करवा रहे ? ॥८॥

हो रहा गुण-गान किनके, यह कला-कौशल्यका ?
बज रहा है दुन्दुभी, विज्ञान-साहस-शौर्यका ?
कौन हैं ये बन रहे, विद्या-विशारद आजकल ?
नीति-विद्, सत्कर्म-शिक्षक, पथ-प्रदर्शक आजकल? ९॥

सोचिये, ये हैं वही, कहते जिन्हें तुम नीच थे,
धर्मशून्य असभ्य कह कर, आप बनते ऊँच थे ।
सद्विचाराचारके जो, पात्र भी न गिने गये,
नहा डाला उसी दम यदि, कभी इनसे छू गये ॥ १० ॥

अनवरत उद्योगसे औ, आत्म-बल-विस्तारसे,
अभ्युदय इनका हुआ है, प्रबल ऐक्य-विचारसे ।
स्वावलम्बनसे इन्हें जो, सफलता अनुपम मिली;
शोक ! उसको देख करके, सीख तुमने कुछ न ली॥११॥

आत्म-बल गौरव गँवाया, भूल शिथिलाचार में ;
फँस गये हो बेतरह तुम, जाति-भेद-विचार में !
साथ ही, अपरीतियोंका जाल है भारी पड़ा ;
हो रहा है कर्म-बन्धन-से भी यह बन्धन कड़ा !! १२॥

तोड़ यह बधन सकल, स्वातंत्र्य-बल दिखलाइए ;
लुप्त गौरव जो हुआ, उसको पुनः प्रकटाइए ।
पूर्वजोंकी कीर्तिको बट्टा लगाना क्या भला ?
सच तो यों है, डूब मरना ऐसे जीवनसे भला ॥ १३॥

जातियाँ, अपनी समुन्नति-हेतु, सब चंचल हुई ;
पर न आया जोश तुममें, क्या रगें ठिठरा गई ?
पुरुष हो, पुरुषार्थ करना, क्या तुम्हें आता नहीं ?
पुरुष-मन पुरुषार्थसे, हरगिज़ न घबराता कहीं ॥ १४ ॥

जो न आता हो तुम्हें वह, दूसरोंसे सीख लो ;
अनुकरण कहते किसे, जापानियोंसे सीख लो ।
देखकर इतिहास जगके, कुछ करो शिक्षा ग्रहण ;
हो न जिससे व्यर्थ ही संसारमें जीवन मरण ॥ १५॥

छोड़ दो संकीर्णता, समुदारता धारण करो,
पूर्वजोंका स्मरण कर, कर्तव्यका पालन करो ।
आत्म-बल पर जैन-वीरो ! हो खड़े बढ़ते रहो;
हो न ले उद्धार जब तक, 'युग-प्रताप' बने रहो ॥ १६ ॥

—'युगवीर'

जैन-मंत्रशास्त्र और 'ज्वालिनीमत'

(२)

इन्द्रनन्दि योगीन्द्रकृत 'ज्वालिनीमत' अथवा 'ज्वालिनीकल्प' नामका जैन मन्त्रशास्त्र, जिसकी मूलोत्पत्ति आदिकी रोचक कथा 'अनेकान्त'की पिछली किरणमें दी जा चुकी है, देहलीमें भी मौजूद है और उसके साथमें पं० चंद्रशेखर शास्त्रीका नया हिन्दी अनुवाद भी लगा हुआ है, जो बहुत कुछ साधारण तथा त्रुटिपूर्ण जान पड़ता है। इसकी एक प्रति हाल ही में चंद-रोजके लिये मुझे ला० मनोहरलालजी जौहरी के पाससे देखने को मिली थी।

इस मंत्रशास्त्रमें, मंत्रसाधन करने वाले 'मंत्री'का स्वरूप बतलाते हुए अथवा यह प्रतिपादन करते हुए कि किसको मंत्रसिद्धि होती है—कौन उसका पात्र है, लिखा है:—

मौनी नियमितचित्तो मेधावी बीजधारणसमर्थः ।
माया-मदन-मदोनः सिद्ध्यति मंत्री न संदेहः ॥३०॥
सम्यग्दर्शनशुद्धो देव्यर्चनतत्परो व्रतसमेतः ।
मंत्रजपहोमनिरतोऽनालस्यो जायते मंत्री ॥३१॥
देव-गुरु समयभक्तः सविकल्पः सत्यवाग्विदग्धश्च ।
वाक्पटुरपगतशंकः शुचिरार्द्रमना भवेन्मंत्री ॥३२॥
देव्याः पदयुगभक्तो हेलाचार्यक्रमाब्जभक्तियुतः ।
स्वगुरूपदेशमार्गेण वर्तते यः समंत्री स्यात् ॥३ ॥

अर्थात्—'जो मौनी (साधनावस्थामें मौन से रहने वाला) हो, नियमित चित्त हो, मेधावी हो, मंत्रबीजाक्षरोंके धारणमें—अवगाहनमें*—समर्थ हो, माया-मदन और मदसे हीन हो वह मंत्री निःसंदेह सिद्धविद्य होता है॥ जो शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक हो, देवी (ज्वालामालिनी) के पूजनमें तत्पर हो, व्रत-सहित हो, मंत्र-जप-होममें लीन हो और निरालस्य हो वह मंत्री होनेके योग्य है॥ जो देव-गुरु-धर्मका भक्त हो, सविकल्प (सविचार) हो, सच बोलने वाला हो, चतुर हो, वाक्पटु हो, भयरहित हो, पवित्र हो, आर्द्रचित्त हो, वह मंत्री होनेका पात्र है॥ जो देवी के चरण युगलका भक्त हो, हेलाचार्यके चरण कमलोंमें भक्तिको लिये हुए हो और अपने गुरुके उपदेशानुसार वर्तता हो वह मन्त्री होता है।'

साथ ही, यह भी लिखा है कि 'विद्या और गुरुकी भक्तिमें जो युक्त है उसे देवी (ज्वालामालिनी) तुष्टि-पुष्टि प्रदान करती है और जिसका चित्त इनकी भक्तिसे रहित है उस पर वह देवी सदा दुष्भाव रखती है—कोप करती है।' और इसके बाद जो शास्त्रसे मन्त्रसाधन का पात्र नहीं—जिसे इस शास्त्रमें वर्णित मंत्रों के सिद्ध करनेका अधिकार नहीं—उसका स्वरूप इस प्रकार दिया है—

सम्यग्दर्शनदूरो वाक्कुण्ठश्छान्दसो भयसमेतः ।
शून्यहृदयः सलज्जः शास्त्रेऽस्मिन नो भवेन्मंत्री ॥३४

* प्रतियोंमें 'मंत्रबीजाक्षरावगाहनशक्तः' ऐसा लिखा है।

अर्थात्—जो सम्यग्दर्शनसे रहित हो, कुण्ठित वाक्य हो (जिसका वचन स्पष्ट उच्चारित न होता हो) वेदपाठी हो, भयसहित हो, शून्यहृदय हो और लज्जावान हो वह इस शास्त्रमें मंत्री होनेका अधिकारी नहीं है।

इस स्वरूप कथनमें दो विशेषण खास हैं—एक तो 'छान्दस' और दूसरा 'सलज्ज' और उनमें यह स्पष्ट है कि इस मंत्रसाधनामें एक तो लज्जाको स्थान नहीं—उसे उठा कर रख देना होगा—और दूसरे वेदपाठीको अथवा वेदानुयायी हिन्दूको इसकी साधना का अधिकार नहीं। अन्यत्र भी, साधनविधिका वर्णन करते हुए, ग्रंथके अंतमें परसमयीको यह विद्या देनेका निषेध किया है और यहाँ तक लिखा है कि स्वधर्मीको यह कह कर विद्या देना चाहिये कि 'यदि तुम परधर्मीको दोगे तो तुम्हें ऋषि, गौ और स्त्रीहत्यादिकमें जो पाप लगता है वह पाप लगेगा।' यथा:—

परसमयिने न देया त्वया प्रदेया स्वसमयभक्ताय।
गुरुविनययुताय सदार्द्रचेतसे धार्मिकनराय॥१४॥
ऋषिगोस्त्रीहत्यादिषु यत्पापं तद्भविष्यति ततोऽपि।
यदि दास्यसि परसमयायेत्युक्त्वा नः प्रदातव्या।१५

ग्रहलक्षण नामके दूसरे अधिकारमें सबसे पहले, एक ही पद्यमें, उस मनुष्यका वर्णन है जिसको ग्रह लगता है और उसके विषयमें स्पष्ट लिखा है कि— 'जो अति हर्षित हो, अति विषण्ण (विषादयुक्त) हो, डरपोक हो, अन्यमनस्क (चलचित्त या शून्यहृदय) हो, अथवा जिसके साथ भवान्तरके स्नेह या वैरका सम्बन्ध हो उसे ग्रह पकड़ते हैं।' यथा:—

अतिहृष्टमतिविषण्णं भवान्तरस्नेहवैरसम्बन्धम्।
भीतं चान्यमनस्कं ग्रहाः प्रगृह्णन्ति भुवि मनुजम्॥१

इसके बाद ग्रहोंके भेद-प्रभेद, उनके स्वरूप और वे चिह्न आदि बतलाये गये हैं जिन परसे उन्हें पहचाना जाता है। पाठकोंकी रुचि तथा परिचयके लिये इस सब कथनका सार नीचे दिया जाता है:—

'रतिकामा, बलिकामा और हन्तुकामा ऐसे तीन प्रकारके ग्रह होते हैं। वैर के कारण हन्तुकामा ग्रह पकड़ते हैं और शेष कारणोंसे दूसरे प्रकारके ग्रह पकड़ते हैं। इन ग्रहोंके भी फिर दो भेद हैं—एक दिव्यग्रह और दूसरे अदिव्यग्रह। दिव्य ग्रहोंके दो भेद हैं—पुरुषग्रह और स्त्रीग्रह। पुरुषग्रह पुरुषको और स्त्रीग्रह स्त्रीको नहीं पकड़ता किन्तु पुरुषग्रह स्त्रीको और स्त्रीग्रह पुरुषको पकड़ता है, ऐसा रतिकामग्रहोंका नियम है। परन्तु दूसरे ग्रहोंका ऐसा नियम नहीं है। उनमें पुरुषग्रह पुरुषको और स्त्रीग्रह स्त्रीको भी पकड़ लेता है।

पुरुषग्रह सात हैं, जिनके नाम हैं—१ देव, २ नाग, ३ यक्ष, ४ गन्धर्व, ५ ब्रह्मराक्षस, ६ भूत और ७ व्यंतर। इनमें '**देव**' सर्वत्र पवित्र रहता है; '**नाग**' सोता है; '**यक्ष**' सर्व अंग तोड़ता है, सदा दूध पीता है और अक्सर हँसता या रोता रहता है; '**गन्धर्व**' अच्छे स्वरसे गाता है; '**ब्रह्मराक्षस**' संध्याके समय जाप करता है, वेदोंको पढ़ता है, स्त्रियोंमें अनुरक्त रहता है और गर्वसहित वर्तता है; '**भूत**' आँखें फाड़ कर देखता है, नाचता है, जँभाई लेता है, काँपता है और हँसता है; '**व्यंतर**' मूर्छित होता है, रोता है, दौड़ता है और बहुत भोजन करता है। इस प्रकार यह दिव्यपुरुष ग्रहोंका लक्षण है—जो लोग इन ग्रहोंसे पीड़ित होते हैं वे उक्त प्रकारकी चेष्टाएँ किया करते हैं।

स्त्रीग्रह नव हैं, जिनके नाम हैं—१ काली, २ कराली, ३ कंकाली, ४ कालराक्षसी, ५ पी, ६ प्रेता-

शिनी, ७ यक्षी, ८ वैताली और ९ क्षेत्रवासिनी। **काली**-से पीडित मनुष्य अन्न नहीं खाता; **कंकाली** से गृहीत व्यक्तिका मुख पीला पड़ जाता और शरीर दुबला हो जाता है; **राक्षसी** से पीडित मनुष्य रात्रिको भ्रमण करता है, कौलिक भाषा * बोलता है और अट्टहास करता है; '**जंघी**' से गृहीत मनुष्य मूर्छित होता है, रोता है, और कृशशरीर हो जाता है; '**प्रेताशिनी**' से गृहीत मनुष्य भयंकर ध्वनिके साथ चकित हो जाता है और होंठ चबा कर उठता है। इसी ग्रहको विद्वानोंने 'वीरग्रह' भी कहा है, दो महीने के बाद संसारमें इसकी फिर कोई चिकित्सा नहीं है; **यक्षी** (वटयक्षी) जिस मनुष्यको पकड़ती है उसे भोग (अथवा भोजन) करने नहीं देती और न अपनी प्रियस्त्रीका संगम ही करने देती है, वह स्वयं गुप्तरूपसे उसके साथ जीती है—क्रीड़ा करती है ×; **वैतालिका** से गृहीत मनुष्यका मुख सूख जाता है और शरीर कृश हो जाता है; '**क्षेत्रवासिनी**' से पीडित मनुष्य नाचता है, हा-पूर्वक हँसता है, विद्युत के समान आवेश को ग्रहण करता है, कौलिकी भाषा बोलता है और तेजी से दौड़ता है। इस प्रकार ये दिव्य स्त्रीग्रहके लक्षण हैं।

इसके बाद एक पद्यमें यह लिख कर कि 'इसी प्रकार दूसरे मिथ्या ग्रह मौजूद हैं उन्हें भी विद्वान बुद्धिवैभवके बलसे सत्य ग्रह कर लेते हैं'।' दूसरे पद्यमें अ क ख ग घ ङ आदि कुछ अक्षरोंके संयोगविशेषको देवभूतोंका 'कौलिक' बतलाया है। और फिर अदिव्य ग्रहोंका नामादिक दिया है। जो इस प्रकार है:—

१ दंष्ट्राशृंखल, २ धनुर्ग्रह, ३ शाखिल, ४ शशनाग, ५ ग्रीवाभंग और ६ उच्चलित ये छह अदिव्य ग्रह हैं। इन्हें 'अपस्मार' ग्रह भी कहते हैं। ये बिना पुण्य के मनुष्यको जीता नहीं छोड़ते हैं। इस मंत्रशास्त्रमें ये भी साध्य हैं। बाकी इनका कोई विशेष स्वरूप नहीं दिया। और इसके साथ ही ग्रंथका दूसरा अधिकार समाप्त किया गया है, जो २२ पद्यों का है ※।

तीसरे 'मुद्रा' अधिकार में, जो वस्तुतः द्वादश पिण्डाक्षरों तथा यंत्रोंके भेदके साथ 'सकलीकरण' अधिकार है, सबसे पहले सकलीकरणकी जरूरत बतलाई गई है और लिखा है कि 'मंत्री बिना सकलीकरण-के स्तंभादि निग्रह-विधानमें समर्थ नहीं होता ×। तत्पश्चात् शरीरके जुदा जुदा अंगोंमें कुछ बीजाक्षरोंके न्यासका और दिशाबन्धनका कथन करके अपने और चौकोर 'वज्रपिंजर' नामके दुर्गकी कल्पना करने का विधान किया गया है, जिससे मंत्रजपादिके समय कोई मारनेका इच्छुक दुष्ट ग्रह उस दुर्गको न लंघ सके और उसमें बैठे हुए मंत्री को उपद्रव न कर सके। इस दुर्गकी रचनाका कुछ विस्तारके साथ वर्णन करते हुए उसीमें बारह पिंडाक्षरोंका उल्लेख है, रक्षक यंत्रका उल्लेख है और उसके मध्यमें फिर अष्टमातृका देवियोंसे घिरी हुई ज्वालामालिनी देवीके ध्यानका विधान है। जिसमें ज्वालामालिनीका स्वरूप पुनः दिया गया है। इसके बाद ग्रहोंके निग्रहके लिये उनके स्तंभन, स्तोभन

* टिप्पणीमें 'न निभद्रिका भाषा' दिया दिया है।

× 'जीवनि' का टिप्पणीमें 'क्रीडति' लिखा है।

मिथ्याग्रहास्तथान्ये विद्यन्ते तानपीह विद्वांसः।
सत्यग्रहान्प्रकुर्वन्ति शेमुषीवैभवबलेन ॥ १९ ॥

※ इसके बाद के अधिकारों का जो परिचय है वह सब ला० मन्नालालजी की देहलीकी प्रति परसे दिया जाता है क्योंकि उनका पूरा नोट बम्बई की प्रति परसे लिया नहीं गया था।

× सकलीकरणेन विना मंत्री स्तंभादिनिग्रहविधाने।
असमर्थस्ततोऽहं सकलीकरणं प्रवक्ष्यामि ॥ १ ॥

(आकर्षण), ताडन, अस्फिोटन, प्रेषण, दहन, भेदन, बंधन (मुष्टिग्रहण आदि), ग्रीवाभंजन, अंगछेदन हनन, मज्जन और आप्यायनका विधान करके उनके मंत्र दिये गये हैं तथा मुद्राएँ भी बतलाई गई हैं और उनमें ग्रहोंका निग्रह होना लिखा है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि जिस प्रकार शब्द, चाबुक, अंकुश और पैरों से घोड़े-हाथी हाँके जाते हैं उसी प्रकार बुधजनों के सम्बोधन पर दिव्य और अदिव्य सभी ग्रह नाचते हैं। बुद्धिमान पुरुष उत्तम मंत्रोंके तीक्ष्ण बाणोंसे दुष्ट ग्रहके हृदय और कानोंको भेद कर जो जो चिन्तवन करता है वह वह सब इस भूमंडल पर प्रस्तुत हो जाता है। इस पिछले कथनके दो पद्य इस प्रकार हैं :—

शब्दकशाङ्कुशचरणैर्हयनागाश्चोदिता यथा यान्ति बुधैः
दिव्यादिव्याः सर्वे नृत्यन्ति तथैव संबोधनतः ॥ ५५ ॥
वाक्तीक्ष्णैर्वरमंत्रैर्भित्वा दुष्टग्रहस्य हृदयं कर्णौ ।
यद्यच्चिन्तयति बुधस्तत्तत्सर्वं करोतु भुवि ॥ ५६ ॥

इसके बाद दस पद्योंमें जिनमेंसे प्रत्येक वाक्यका चौथा चरण "यद्ब्रूक्ति पदं तदेव मंत्रः स्यात्" है, मंत्रीका कुछ महत्व स्थापित किया गया है और अनेक रूपसे यह बतलाया गया है कि 'वह जो पद बोलता है वही मंत्र हो जाता है।' नमूनेके तौर पर इनमेंसे तीन पद्य इस प्रकार हैं :—

छेदनदहनप्रेषणभेदनताडनसुबंधमान्ध्यमन्यद्वा ।
पार्श्वजिनाय तदुक्त्वा य-द्ब्रूक्ति पदं तदेव मंत्रः स्यात् ॥ ५८
न पठतु मालामंत्रं देवीं साधयतु नैव विधिनेह ।
श्रीज्वालिनीमतज्ञो यद्ब्रूक्ति पदं तदेव मंत्रः स्यात् ॥ ६० ॥
देव्यर्चनजपनीयध्यानानुष्ठानहोमरहितोऽपि ।
श्रीज्वालिनीमतज्ञो यद्ब्रूक्ति पदं तदेव मंत्रःस्यात् ६५

पहले पद्यमें बतलाया है कि 'पार्श्वजिनाय' कह कर छेदन, दहन आदि सम्बंधी जो पद भी मंत्री बोलता है वही मंत्र हो जाता है। और शेष दो में कहा है कि ज्वालनीमतका जानने वाला भले ही मालामंत्रको न पढ़ो, विधिपूर्वक देवीकी साधना भी न करो और चाहे वह देवीके अर्चन, जाप्य, ध्यान, अनुष्ठान और होमसे भी रहित हो फिर भी वह जो पद बोलता है वही मंत्र हो जाता है!! अस्तु; इन दसों पद्यों और इन के बादके १८ पद्योंकी—जिनमें कुछ मंत्रबीजों आदि का वर्णन है—स्थिति ग्रंथप्रतिमें कुछ संदिग्ध जान पड़ती है; क्योंकि ग्रंथप्रतिके अंतमें, ग्रन्थकी ३६८ पद्य-संख्याकी गणना करते हुए, इस अधिकार (परिच्छेद) की पद्यसंख्या ६८ बतलाई गई है और अधिकार में ८३ दे रक्खी है। अतः ५६ के बाद ८३ तकके इन २८ पद्योंमें १२ पद्य ही मूल ग्रन्थके हैं, शेष सब क्षेपक हैं। वे मूल पद्य कौनसे हैं ? यह इस अनुवाद वाली देहली की ग्रन्थप्रति परसे पूरे तौर पर नहीं जाना जा सकता। इसके लिये दूसरी मूल प्राचीन प्रतिके देखनेकी जरूरत है।

चौथे मंडलाधिकारमें ग्रहोंका उच्चाटन, निग्रह तथा रोदनादिक करानेके लिये वृक्षके नीचे, प्रेतगृहमें, चतुष्पथमें, ग्रामके मध्यभागमें अथवा नगरके बहिर्भाग में मंडल बनानेका विधान किया गया है और 'नवखंड', 'सर्वतोभद्र' आदि अनेक मंडलोंके बनानेकी विधि आदिक दी गई है। इस अधिकारके ४४ पद्य हैं।

पाँचवें कटुतैलाधिकारमें बहुतसी दवाइयोंके संयोग से एक 'भूताकम्पन' तेल तय्यार करनेकी विधि दी है और फिर उसे 'खड्गरावण' विद्यामन्त्रसे हजार बार मंत्रित करनेको लिखा है। इस प्रकारसे सिद्ध हुए तेल को सुंघानेसे शाकिनी, अपस्मार, पिशाच और भूतग्रह नाशको प्राप्त हो जाते हैं तथा विष निर्विषतामें परिणत

हो जाता है, ऐसा अंतके निम्न पद्यद्वारा सूचित किया गया है :—

शाकिन्योऽपस्मारपिशाचभूतग्रहाश्च नश्यन्ति ।
निर्विषतां याति विषं तैलस्यास्युरव्यनस्येन ॥४०॥

छठे वश्ययंत्राधिकारमें अनेक यंत्रोंके निर्माणकी विधि उनके मंत्रों, चित्रों तथा फल-सहित दी हैं, यंत्रों के नाम इस प्रकार हैं—१ सर्वरक्षायंत्र, २ गृहरक्षक-पुत्रदायक यंत्र, ३ वश्ययंत्र, ४ मोहनवश्य यंत्र, ५ स्त्री-आकर्षण यंत्र, ६ सेना-जिह्वा-क्रोध-स्तंभन यंत्र, ७ स्तंभन यंत्र, ८ जिह्वास्तंभन यंत्र, ९ गति-जिह्वा-क्रोध-स्तंभन-यंत्र, १० पुरुषवश्य यंत्र, ११ कन्यावश्य यंत्र, १२ शाकिनीभयहरण यंत्र, १३, घटयंत्र, १४ सर्वविघ्नहरण यंत्र, १५ आकर्षणयंत्र, १६ परमदेवगृह यंत्र। अंतमें वश्यहवनका एक नुसखा (औषधिकल्प) देकर ४७ पद्योंमें इस अधिकारको पूरा किया है। नुसखेका वह पद्य इस प्रकार है :—

मधुरत्रयेण गुग्गुल-दशांग-पंचांगधूपमिश्रेण ।
जुहुयात् सहस्रदशकं वशंकरोतीन्द्रमपि कथान्येषु ॥

इसमें बतलाया है कि 'मधुरत्रय (मधु, शर्करा, घी) के साथ गुग्गुल और दशांग तथा पंचांग धूपको मिलाकर दस हजार बार हवन करनेसे इन्द्र भी वशमें हो जाता है! औरोंकी तो बात ही क्या? यह पद्य अगले तंत्राधिकारमें दिया जाना चाहिये था, इस अधिकारमें दिये जानेका कोई स्पष्ट कारण मालूम नहीं होता।

सातवें वश्यतंत्राधिकारमें अनेक प्रकारके वश्य तिलक, अंजन, नमक, तेल, चूर्ण, लेप तथा अन्य प्रयोगोंके नुसखे विधि और फल-सहित दिये हैं। एक एक विषयके कई कई नुसखे भी हैं। दो नमूने इस प्रकार हैं:—

कनकसहजातपुष्पैर्मलयजनृपलोचनामृगमदैश्च ।
समभागेन गृहीतैस्तिलकं त्रैलोक्यजनवशकृत् ॥७

इसमें कनकपुष्प, सहजातपुष्प, मलयगिरिचंदन, नृपलोचना और कस्तूरी इन पाचोंको सम भागमें लेकर जो तिलक किया जाता है उसे तीन लोकके मनुष्योंको वशमें करने वाला लिखा है।

एरण्डकभक्तकरसेन दिवसत्रयेण पृथक्कृष्णतिलाः
भाव्याः शुनीपयोनिजमूत्रेणानगजयवाणाः ॥२६

इसमें लिखा है कि काले तिलोंको एरण्डक और भक्तकके रसमें तथा कुत्तीके दूध और अपने मूत्रमें पृथक् तीन दिन तक भावित करे तो वे कामदेवकी विजयके वाण बन जावें।

इसी तरह कुछ दवाइयोंसे बहुतसी गोलियाँ बना कर उन्हें लवण तथा अपने मूत्रके साथ एक अच्छे वर्तनमें रख कर भावित करने और फिर पका कर नमक तय्यार करनेकी बात लिखी है और उस नमक को "भुवनवशकारी" बतलाया है। इस अधिकार का पद्यसंख्या ५१ है।

आठवें स्नपनाधिकारमें 'वसुधाराम्नान'का विधान दिया है। इसमें भूमिको शुद्ध तथा संस्कारित करने, चौकोर मंडल बनाने, मंडलके कोनों पर घड़े रखने, और ऊपर मंडप तानने तथा उसके मध्यमें नवछिद्रका घड़ा लटकाने और घड़ेमें मृत्युंजय यंत्रको लिख कर डालने, कुछ दवाइयों से उद्वर्तन (उबटना) तय्यार करके उसे मंत्रोंसे मन्त्रित करने और जिसके लिए तय्यार किया गया, उसको मलने पर जो मैल नीचे गिरे उसकी एक मूर्ति बनाने, और फिर सिद्धमृत्तिकासे आठ दिक्पालोंकी मूर्तियाँ बनाने, उन्हें तथा मलमूर्तिको नव पटड़ियों पर बिठलाने, उनका पूजन

करने और नैवेद्य चढ़ा कर उस नैवेद्यको नदीमें डालने आदि स्नान पर्यंत कितने ही विधि-विधानोंका उल्लेख है। और 'वसुधारा' मंत्र दिया है जिससे स्नान कराया जाता है। साथ ही, उस मध्यमें लटकते हुए घड़ेमें, जिसके जलादिकसे स्नान कराया जाता है, गोमूत्रादिके डालनेका भी विधान दिया है और अंतमें लिखा है कि इस विधिसे स्नान करने वाले मनुष्यको ज्वालामालिनी देवी श्री, सौभाग्य, आरोग्य, तुष्टि, पुष्टि देती है, उसकी आयु बढ़ाती है, महपीडा दूर करती है, शत्रुभय मिटाती है, करोड़ों विघ्नोंका नाश करती है और बहुत प्रकारके रोगोंको शान्त करती है।

इस अधिकारमें, जिसके कुल ३५ पद्य हैं, 'सिद्ध-मृत्तिका' का जो स्वरूप दिया है वह इस प्रकार है:—

राजद्वार-चतुष्पथ-कुलाल-करुवामलूरसरिदुभयतट-द्विरदरदवृषभशृंगक्षेत्रगता मृत्तिका सिद्धा ॥ १०॥

अर्थात्—राजद्वार, चतुष्पथ, कुम्हार... नदीके दोनों तट, हाथीके दान्त और बैलके सींग इन क्षेत्रोंकी मिट्टी सिद्धमिट्टी कहलाती है।

नवमें नीराजनाधिकारमें अष्ट मातृकाओं तथा काली, महाकाली आदि अनेक देवी-देवताओंके (जिनमें वीरेश्वर, महाकाल, वागेश्वरी, योगिनी महायोगिनी शाकिनी आदि भी शामिल हैं) और प्रहोंके मुख पिट्टी तथा सिद्धमिट्टी आदिसे सालंकार तथा सलक्षण बनाने, प्रत्येक मुखको नैवेद्य-दीप-धूपादिकी जलमें बलि देने अथवा बलिको जलमें विसर्जित करने आदिका विधान है, और साथ ही उसका फल भी दिया है। अंतमें कहा है कि 'ज्वालामालिनी देवीकी बतलाई हुई यह नीराजन-विधि गृह, भूत, शाकिनी और अपमृत्युके भयको शीघ्र ही दूर करती है।' इस अधिकारमें २५ पद्य हैं।

दसवें 'साधनविधि' अधिकारमें शिष्यको विद्या देनेकी विधिका वर्णन है। उसके लिये एक चौकोर 'सत्य' नामक मंडलकी रचना करके उसमें शिष्य को बिठलाने और फिर उसे मंत्र देने आदिका संक्षिप्त विधान है। अंतमें हेलाचार्यका स्मरण किया गया है और उनके कहे हुए अर्थरूप 'ज्वालिनीकल्प' को आशीर्वाद दिया गया है, और वह इस प्रकार है:—

द्रविडगणसमयमुख्यो[1] जिनपतिमार्गोचितक्रियापूर्णः व्रतसमितिगुप्तिगुप्तो हेलाचार्यो मुनिर्जयति ॥१९॥
यावत्क्षितिजलधिशशांकाम्बरतारकाकुलाचलास्तावत् हेलाचार्योक्तार्थःस्थेयाच्छ्रीज्वालिनीकल्पः॥२०

इसके बाद ग्रंथकारकी प्रशस्ति—उनकी गुरुपरंपराका उल्लेख—और ग्रन्थ रचनेके समयका जो वर्णन है वह देहलीकी उक्त प्रतिमें नहीं है—इसी प्रकार से अनेक प्रतियोंमें प्रशस्तियाँ छूट जाती हैं। अस्तु; उसका कुछ परिचय इस लेखके पहले भागमें कराया जा चुका है।

इस प्रकार यह 'ज्वालिनीमत' नामके मंत्रशास्त्रका संक्षिप्त परिचय है। इसमें पहले दो अधिकारोंका प्रायः पूरा परिचय आ गया है और शेषका सूचनामात्र है।

जुगलकिशोर मुख्तार

---

१ देहलीकी उक्त प्रतिमें इस पद्यके स्थान पर '**कविकरणसमयमुख्ये**' लिखा है (अनुवाद भी 'कवियोंको बनानेके शास्त्रमें चतुर' दिया है), जो अशुद्ध है। इस प्रकारकी बहुतसी अशुद्धियां देहलीकी प्रतिके मूलपाठमें भी पाई जाती हैं। बम्बईकी वह प्रति प्रायः शुद्ध है, जिस परसे मैंने नोट लिया था।

अनेकान्त-दृष्टि

[लेखक—श्री० पं० देवकीनन्दनजी, सिद्धान्तशास्त्री]

ज्ञानकी गति दृष्टि के अनुकूल ही होती है ; जैसे परमार्थ-दृष्टि वालेके ज्ञानकी गति परमार्थकी साधनाके अनुकूल होती है और स्वार्थ-दृष्टि वालेके ज्ञान की गति स्वार्थोकी साधनप्राप्तिके अनुकूल होती है। "मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना" की जो कहावत लोकमें प्रचलित है वह सब भिन्न भिन्न दृष्टियोंके ऊपर ही निर्भर है। इसी लिए ज्ञान सम्यग्ज्ञान कब होता है और कैसे होता है, इस पर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दृष्टिमें समीचीनताके आने पर ही ज्ञानमें समीचीनता आती है, अन्यथा नहीं। और दृष्टिमें समीचीनता वस्तुके यथार्थ स्वरूपके समझनेसे ही आती है। प्रत्येक वस्तु अनेकधर्मात्मक है। वे अनेक धर्म जिन जिन स्वरूपोंमें स्थित होते हैं, जिन जिन परिस्थितियों में अथवा जिन जिन समयों तथा जिन जिन क्षेत्रोंमें जिन जिन परिणामोंको लिये रहते हैं, उनको उन उन ही स्वरूप, उन उन ही परिस्थितियोंमें अथवा उन उन ही समयों तथा उन उन ही क्षेत्रोंमें उन उन ही परिणाम स्वरूपदेखना इसीका नाम अनेकान्त-दृष्टि है। देश-काल परिस्थितिके अनुकूल अवस्थित वस्तुको यथार्थरूपमें न देखनेमें मनुष्यके ज्ञानकी मंदता कारण नहीं है किन्तु उसकी निकृष्ट-आसक्तिवश-स्वार्थपरम्परा अथवा तज्जन्य जो ज्ञानका भ्रम है वही बाधक कारण है।

जब मनुष्यकी दृष्टि किसी स्वार्थवश अथवा भ्रमवश किसी एक विषयकी तरफ निरपेक्षरूपसे झुक जाती है तब अपने भ्रम और स्वार्थके कारण वह एक प्रकारके कदाग्रहसे ग्रस्त हो जाता है और उसको ही जैसे तैसे सत्य सिद्ध करने तथा प्रचार करनेमें तत्पर हो जाता है। इस प्रकार उसके दृष्टिकोणमें विकार आ जानेसे उसका ज्ञान भी अज्ञानरूपमें परिणत हो जाता है। यदि ज्ञानमें भ्रम न हो, किसी तरहकी स्वार्थवासना न हो और मनुष्य अपनी सदसद्विवेकबुद्धिको यथार्थ अथवा निर्विकार दृष्टि-कोणकी तरफ झुकनेके लिए खुला रास्ता रहने दें, तो उनकी ज्ञानशक्ति वस्तुओंके अंतःस्थलको स्पर्श करके अवश्य ही वस्तुगत अनंत धर्मोंको प्राप्त कर लेती है। और उनकी ऐसी दृष्टिके होनेसे ज्ञानकी तदनुकूल वृत्ति विकसित होकर अज्ञान-निवृत्तिजन्य ऐसे आल्हादका अनुभव करती है कि जिसके सामने बड़ेसे बड़े वैषयिक सुख, अवांछनीय ही नहीं किन्तु अत्यंत हेय और पापमूलक अनुभवमें आने लगते हैं। इसीसे कुछ पहुँचे हुए अनुभवी विद्वानोंने इस प्रकारके उद्गार निकाले हैं कि—

कोटिजन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते॥

इन शब्दोंके द्वारा ज्ञानका जो माहात्म्य वर्णन किया गया है वह सब अनेकान्तदृष्टिसे होने वाले ज्ञानका ही है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें सम्यक्दर्शनको उच्चस्थान

प्राप्त होनेका कारण भी यही है; क्योंकि जीवात्माके ज्ञानकी गति सदैव श्रद्धाके—दृष्टिके—अनुकूल होती है और सद्दृष्टि *, सम्यग्दृष्टि अथवा अनेकान्तदृष्टि का नाम ही सम्यग्दर्शन है। यदि श्रद्धा विपरीत हो तो ज्ञानकी गति, वस्तुके स्वरूप, भेदाभेद और कार्यकारण-भावके विषयमें पक्षपातग्रस्त हो जाती है। और उसे ही विपर्यासयुक्त बुद्धि कहते हैं। अथवा शास्त्रीय परिभाषा में कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास और भेदाभेद-विपर्यासमे युक्त भी कहते हैं। किंतु जिस समय व्या-मोहके दूर होनेसे आत्मविशुद्धिवश अनेकान्तदृष्टिका उदय होता है उस समय आत्माका ज्ञान स्वभावसे ही अनेकान्तात्मक (निःपक्षपाती) होनेसे वस्तुके स्वरूप का यथार्थ बोधक होता है तथा रागद्वेष-रहित होनेके कारण अतीन्द्रिय आनन्दका उपभोग करने वाला भी हो जाता है। अतः ज्ञानके विषयमें यह कहना अनुप-युक्त नहीं होगा कि वह अनेकान्तदृष्टि के विना ही मिथ्याज्ञान और अकल्याणकारी कहलाता है।

यहाँ पर यदि यह प्रश्न किया जाय कि दृष्टिके अनेकान्तात्मक होनेमें कारण क्या है? तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार ज्ञानका स्वभाव वस्तुके स्वरूपको जानने का है उसी प्रकार उस ज्ञेयभूत वस्तु-का स्वभाव भी अनंतधर्मात्मक और अपने सम्पूर्ण धर्मोसहित ज्ञानका विषय होने का है। अत एव जब आत्मा विशुद्धिवशात् सर्वज्ञता प्राप्त करता है तब वह उसके वस्तुगत संपूर्ण धर्मोंको युगपत् जानता है। परंतु अल्पज्ञ अवस्थामें वह (आत्मा) ज्ञानके अपूर्ण होनेसे वस्तुगत अनन्त स्वरूपोंको युगपत् नहीं जान सकता है किंतु गुणमुख्य-विवक्षावश नयात्मक ज्ञानके द्वारा थोड़े-से वस्तुगत स्वरूपोंको (धर्मोंको) जानता है। और जिस समय वह अल्पज्ञ अपने उस नयज्ञानके चित्रको शब्दोंमें अंकित करके दूसरोंको समझाना चाहता है अथवा दूसरोंके द्वारा स्वतः समझना चाहता है उस समय वह नयज्ञान के समान ही शब्दोंमें एक साथ वस्तुगत नाना धर्मों के प्रतिपादनकी शक्तिका अभाव पाता है। इसी लिये एक ही वाच्यके नानावाचक माने गये हैं और नाना अपेक्षाओंके द्वारा एक ही अर्थका नानारूपसे प्रतिपादन किया जाता है। जैसे:—इन्द्रके वाचक इन्द्र, शक्र, पुरंदर ये तीन शब्द हैं। जब इन्द्र की आत्मामें ऐश्वर्यके उपभोगकी, प्रत्येक कार्यको कर सकनेकी, और राक्षसोंको विदारण करनेकी शक्ति विवक्षित की जाती है तब उसके इंदनसे इन्द्र, शकनसे शक्र, और पूः नामक राक्षसके विदारणसे पुरंदर ऐसे नाम पड़ते हैं। यद्यपि उसमें तीनों ही शक्तियाँ प्रत्येक समयमें मौजूद हैं परन्तु एक व्यक्तिके द्वारा एक समय में एक ही शब्द प्रतिपादित किया जा सकता है तथा तीनों ही शब्दोंके द्वारा इन्द्रका वाच्य जाना जाता है। इसी प्रकार जीव, जल आदि प्रत्येक शब्द वाच्यके नाना वाचकोंमें भी यही युक्ति लगा लेनी चाहिये।

इस प्रकारके एक ही अर्थके नाना वाचकोंका विचार करनेसे यह सिद्धान्त सहज ही निकाला जा सकता है कि वस्तुओंमें अनेक धर्म हैं और शब्द उन धर्मोंको युगपत् (एक साथ) कहनेके लिये असमर्थ है। अतएव क्रमपूर्वक भिन्न भिन्न अर्थकी अपेक्षासे एक वाचकके नाना वाचक हो जाते हैं। इसीलिये जैनधर्म निसर्गको ही धर्मका स्वरूप बतलानेवाला होनेसे वस्तु-को अनेक धर्मात्मक अर्थात् अनेकान्तात्मक मानता है; क्योंकि **'अनेकान्त'** शब्दमें 'अन्त' शब्दका अर्थ 'धर्म' है। और उन सब धर्मोंका ज्ञान मुख्य-गौण-विवक्षाके

* स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी, 'सद्दृष्टि-ज्ञानवृत्तानि' पदके द्वारा सम्यग्दर्शनके लिये 'सद्दृष्टि' शब्दका प्रयोग किया है।

द्वारा ही किया जा सकता है अन्यथा नहीं। उदाहरण के तौर पर—जिस समय आप शकन गुणके योगसे इन्द्रको 'शक्र' कहते हैं उस समय यद्यपि उसमें इंदनादिक गुण भी मौजूद हैं परन्तु वे गौण हैं मुख्य नहीं। यदि उन सबको ही मुख्य किया जायगा तो किसी समय भी आप शक्रादिक शब्दोंका उच्चारण कर ही नहीं सकते। अतः गुण-मुख्य-विवक्षासे ही शब्द वस्तुगत अनेक धर्मोंका प्रतिपादन कर सकते हैं। यही कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

सारांश यह है कि पदार्थमें अनेक धर्म होने से, शब्दोंमें एक एक ही धर्म प्रतिपादन करनेकी सामर्थ्य होनेसे और गुणमुख्यविवक्षाकी प्रवृत्तिके विना काम न चलनेसे, **अनेकान्तवाद** 'अन्वर्थवाद'की पदवीको प्राप्त हो जाता है। इसके आश्रयके विना किसीका भी काम नहीं चल सकता है। जैसे भाषा छह कारकमय होती है अर्थात् कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान तथा अधिकरण-मय होती है और कारकोंके विना भाषाशैली कभी भी व्यवहारयोग्य नहीं गिनी जा सकती वैसे ही वस्तुको अनेक धर्मात्मक न माननेसे, शब्दमें एक काल में एक ही अर्थकी सामर्थ्य न माननेसे तथा प्रतिपादनमें गुणमुख्य-शैलीका आश्रय न माननेसे किसी प्रकार का वाच्यवाचक व्यवहार भी नहीं बन सकता है।

जिस प्रकार जो लोग व्याकरणको समझते हैं अथवा जो लोग नहीं समझते हैं वे सब भाषा छह कारकमय ही बोलते हैं उसी प्रकार अनेकान्तका स्वरूप समझने वाले और न समझने वाले दोनोंको ही अनेकान्तका आश्रय लेना पड़ता है। अनेकान्तवादका ही दूसरा नाम **'अपेक्षावाद'** है। अपेक्षावादका आश्रय लिये विना कोई वक्ता वा श्रोता वस्तुके स्वरूपको न तो कह ही सकता है और न समझ ही सकता है।

एक बात और भी बतला देनेकी है और वह यह कि जिस प्रकार व्याकरणमें नाना प्रत्ययोंके लगानेसे धातुओंके नाना अर्थ हो जाते हैं—अर्थात् 'धातूनामनेकार्थत्वात्' इस सूत्रानुसार धातुगत प्रकृतिके अनेक अर्थ हैं और वे सब अर्थ भिन्न भिन्न प्रत्ययों व भिन्न भिन्न उपसर्गों के लगनेसे भिन्न भिन्न रूपमें प्रगट होते हैं। जैसे—प्रहार, विहार, आहार इत्यादि रूपोंमें 'हृ(हर)' धातु है, प्र, वि, और आ, ये तीन भिन्न भिन्न उपसर्ग हैं। और इन तीनों ही उपसर्गोंकी अपेक्षासे प्रहार, विहार और आहार शब्दोंमें भिन्न भिन्न अर्थोंका बोध हो जाता है। तथा हृत, हरण, हारण इत्यादि नाना रूपोंमें भी 'हृ' धातु एक है परन्तु प्रत्ययोंकी भिन्नतासे हरा जाना, हरना, हरवा लेना, ये तीन भिन्न भिन्न अर्थ प्रतीत हो जाते हैं उसी प्रकार सामान्य और विशेष रूपसे वस्तुमें अनन्त धर्म हैं। परन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी अपेक्षासे जिस समय जिस धर्मकी विवक्षा होती है उस समय उस धर्मकी मुख्यता रहने के कारण अन्य शेष धर्मोंकी गौणता हो जाती है। जैसे उपर्युक्त दृष्टान्तमें 'हृ' धातुके साथ प्रत्यय वा उपसर्ग लगानेसे धातुगत मूल अर्थ गौण पड़ जाता है और प्रत्ययगत तथा उपसर्गगत अर्थ प्रत्येक समय प्रमुख होता जाता है, वैसे ही वस्तुगत विवक्षित धर्म मुख्य और अविवक्षित धर्मोंको गौण हो जानेसे शब्दों के द्वारा भिन्न भिन्न अर्थोंका वाच्य-वाचक-व्यवहार होता जाता है। जब तक वस्तुमें द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी अपेक्षासे गुणमुख्य-व्यवस्थाकी विवक्षा नहीं की जाती है तब तक अनेकान्तवादकी शैलीका परिचय ही नहीं हो सकता है। सामान्यको मुख्य और विशेषको गौण मान कर विधिका द्योतक **'अस्ति'** और निषेधका द्योतक 'नास्ति' शब्दका प्रयोग करके

उपरिनिर्दिष्ट गुण-मुख्य-व्यवस्था-द्योतक (अपेक्षावाद-द्योतक) 'स्यात्' यह अव्यय उक्त 'अस्ति' और 'नास्ति' के साथ जोड़ा जाता है। अर्थात् जिस समय आप किसी वस्तुको सामान्यरूपसे विवक्षित करके प्रतिपादित करना चाहते हैं और विशेषरूपसे प्रतिपादन नहीं करना चाहते हैं, उस समय वह सामान्य रूपसे है, इस लिए विधिवाचक शब्दके साथ 'स्यात् अस्ति' ऐसा प्रयोग करते हैं और विशेष रूपसे नहीं है इस लिए निषेधवाचक शब्दके साथ 'स्यान्नास्ति' ऐसा प्रयोग करते हैं। क्योंकि जिस समय सामान्यसे किसी वस्तुका प्रतिपादन किया जाता है उस समय स्वयमेव यही सिद्ध हो जाता है कि उस समय उस वस्तुका विशेषरूपसे प्रतिपादन इष्ट नहीं है। इस ही प्रकार जिस जिस समय जिस जिस अपेक्षासे जो जो विधिस्वरूप वाक्य बोला जायगा उस उस समय उस उस अपेक्षासे प्रत्येक विधात्मक वाक्यका स्वयमेव यह अर्थ निकाला जायगा कि विवक्षित विधिके अनुसार ही यह विधिरूप है, इतर अविवक्षित अपेक्षाओंसे नहीं है। इसी प्रकार जब जब आप किसी चीजका निषेध करना चाहेंगे उस उस समय उस उस निषेधात्मक वाक्यके प्रयोग करते समय यही अर्थ समझना चाहिए कि यह वस्तु अमुक अपेक्षासे नहीं है इस लिए ऐसे निषेधात्मक प्रयोगमें भी यह स्वयमेव सिद्ध होता है कि अमुक विवक्षावश उसका निषेध है, अन्य सर्व विवक्षाओंसे निषेध नहीं है। सारांश यह है कि विवक्षित विधिमें ही अविवक्षित निषेधोंका सहयोग है—अविनाभाव है—और विवक्षित निषेधमें अविवक्षित अंशोंकी विधि गर्भित है, इसीको शास्त्रीय भाषामें यों कहा है कि विधिनिषेधसापेक्ष, तथा निषेधविधिसापेक्ष होता है। विधि व निषेध निरपेक्ष सिद्ध नहीं हो सकते हैं। जैसे एक ही व्यक्ति भिन्न भिन्न विवक्षाओंसे एक ही कालमें परस्पर सापेक्ष रीतिसे पिता, पुत्रत्वादि विरोधी धर्मोंका आधार कहा जाता है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेष रूपसे विधिनिषेधोंके द्वारा अर्थात् अस्ति-नास्ति-रूप परस्पर विरोधी धर्मोंके द्वारा एक ही कालमें प्रतिपादित किया जाता है।

सामान्य विशेषके ऊपर अस्ति-नास्ति-रूपसे जैसे विचार किया उसी प्रकार नित्यानित्यत्व, एकानेकत्व, तथा दैवपुरुषार्थवाद आदिके ऊपर भी अनेकान्तवाद का प्रयोग करनेसे वास्तविक दार्शनिक पद्धतिका बोध हो जाता है।

आचार्यों ने जब संभव भंगोंकी अपेक्षा इसी नयवादका निरूपण किया है तब सात भंगोंके स्वरूपका उल्लेख किया है। उस शैलीका भी किसी समय पाठकों को परिचय करानेका प्रयत्न करूँगा। इस लेखमें अनेकान्तदृष्टिके साथ सिर्फ विधि-निषेधात्मक भंगका ही खुलासा किया गया है।

उपसंहार

'अनेकान्त' के विषयमें पूज्य आचार्योंने बड़े मनोहर भावोंके चित्र खींचे हैं। वास्तवमें उनके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षोंद्वारा जैसा अशेष दर्शनोंका रसास्वाद हो कर आनंद मिलता है वैसा विशेष विशेष दर्शनोंके पठनपाठनसे भी वह प्राप्त नहीं होता। इसकी महिमाका भी आचार्योंने बड़ी खूबीसे वर्णन किया है जिसका कितना ही परिचय पाठक 'अनेकान्त' की पिछली कुछ किरणोंमें प्राप्त कर चुके हैं। 'अनेकान्त' की पहली किरणमें -'जैनीनीति' नामक सम्पादकीय नोटमें—श्रीअमृतचन्द्रसूरिका यह वाक्य भी सुन्दर व्याख्यासहित प्रकट किया गया है, जो अनेकान्तनीति अथवा

अनेकान्तदृष्टिके अच्छे प्रदर्शनको लिये हुए है—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्र मिव गोपी ।

इसमें बतलाया है कि जैसे गोपी मक्खन निकालनेके लिए एक डोरीको खींचतीहै और दूसरीको ढीली करती है तब ही मंथन-क्रिया का ठीक संपादन करके मक्खन निकाल सकतीहै वैसेही बुद्धि जब एक धर्मको मुख्य रूपसे खींचतीहै और शेष धर्मोंके पक्षको गौणरूपसे ढीला कर देती है तब ही वह वास्तविक वस्तुगत स्वरूपको मंथन करके, सारभूत हेयोपादेयरूप नवनीत निकाल सकती है। यही जैननयवादकी नीति है।

पाठकगण! यदि इस नीतिका सम्यक् प्रयोग हम सब अपने जीवनमें करें तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि जीवनमें एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है, जिसके फलस्वरूप हम अपनी सब अधोगतियोंसे मुक्त होकर उन्नत-गतिगामी बन सकते हैं; क्योंकि जिस प्रकार अहिंसावादका असली प्रयोग करनेवाला जगतमें उत्तमसे उत्तम, सहृदय, कोमलान्तःकरण, दयालु और जगत्पूज्य व्यक्ति बनता है उसी प्रकार अनेकान्तदृष्टिसे मनुष्य सच्चा समालोचक, न्यायवादी, उदारबुद्धि, सर्वांगका ज्ञाता और विश्वकी विभूति बन सकता है। जगतमें जितने अन्याय-अत्याचार होते हैं वे सब उन्हीं लोगोंके द्वारा होते हैं जिनकी कि बुद्धि मिथ्या-एकान्तवादसे (कोरे पक्षपातसे) दूषित होकर कठोर हो जाती है। और उस कठोरताके कारण ही यथेच्छ वृत्तिकी परितृप्ति के लिए संपूर्ण शक्तियोंका उपयोग कराती है तथा न्याय-अन्यायके विवेकसे शून्य हो जाती है। अतः यदि यह कहा जाय कि अनेकांतवादके बिना समझे अहिंसावादकीभी कुछ क़ीमत नहीं है तो कुछ अत्युक्त नहीं होगा। जगतमें इतिहास साक्षी देता है कि जितने कठोर और भयंकर पाप न्याय व धर्मके नाम पर हुए हैं उतने दूसरे किसी चीजके नाम पर नहीं हुए। और जिन शक्तिशाली अथवा मायाचारी लोगोंने न्याय और धर्मके नाम पर अज्ञ लोकोंको फुसला कर सरल-सीधे व्यक्ति पर अत्याचार किये हैं वे सब इस अनेकान्तवादके न समझने के कारण ही किये हैं। अनेकान्तवादसे युक्तिपूर्ण निर्वैरवृत्तिपूर्वक एक प्रकारकी विशाल बुद्धिका आत्मा में अवतार होता है और उसके कारण यह आत्मा सच्चा अहिंसक बन कर स्वपरका कल्याण करता हुआ संसारके पाप कर्मोंसे रहित होकर अपनी पूर्ण आत्म-सिद्धियोंको प्राप्त करता है। अतः भगवान महावीरके इस विशाल तत्त्वको जो लोग स्वतः धारण करके जगतको समझाते हैं उन लोगोंका ही जन्म सफल होता है।

भक्ति-भाव भरदे

[लेखक—पं० मुन्नालालजी "मणि"]

दुःखमय जगतके विभवकी चाह नहीं
　　चाह नहीं ईश! मुझे पदाधीश करदे।
पराधीन रोगसम भोगोंकी न चाह मुझे
　　चाह नहीं बड़े बड़े महलों में घरदे।
मोहकारी पुत्र, पौत्र, मित्रकी न चाह मुझे
　　चाह नहीं स्वर्णमयी जेवर औ ज़र दे।
छोड़ जग-राह चाह नाथ! एक चाहना है
　　भक्त-'मणि'-मानसमें भक्तिभाव भरदे॥

सुभाषित मणियां

प्राकृत—

णाणुज्जोएण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलयो अंधयारम्मि ॥

—शिवार्य।

'जो मनुष्य ज्ञानके उद्योत बिना चारित्र-तपरूपी मोक्षमार्गमें गमन करना चाहता है वह अंधा अंधेरेमें दुर्गम स्थानको जानेकी इच्छा करता है।'

[दुर्गम स्थानको अंधेरे में जाना जैसे अति दुःखकर होता है—उसमें व्यर्थ ठोकरें ही खानी पड़ती हैं—उसी प्रकार बिना ज्ञानोद्योतके चारित्र और तपके मार्ग पर चलनेमें व्यर्थकी ठोकरें खाने के सिवाय और कुछ नतीजा नहीं निकलता।]

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥

—कुन्दकुन्दाचार्य।

'जिनकी इन्द्रियविषयोंमें आसक्ति है उनके दुःख स्वाभाविक समझना चाहिये, क्योंकि यदि वह स्वभावसे न हो तो विषयोंके लिये इन्द्रियव्यापार ही नहीं बनता। भावार्थ—इन्द्रियोंका विषयव्यापार रोगोपचारके सदृश है और इसलिये उनके दुःखरूप होने को सूचित करता है।

[रोगके दूर होने पर जैसे औषधोपचारकी ज़रूरत नहीं रहती उसी प्रकार यदि इन्द्रियां दुःख से निवृत्त होती तो विषयग्रहण की इच्छा भी न होती। इच्छा जब पाई जाती है तो वह रोगका सूचक है और इस लिये इन्द्रियोंको दुःखरूप सूचित करती है।]

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥

—कुन्दकुन्दाचार्य।

'(पुण्यजन्य भी) इन्द्रियसुख वास्तवमें दुःखरूप ही है; क्योंकि वह पराधीन है—दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए है, बाधा सहित है—क्षुधा तृष्णादिककी अनेक बाधाओं अथवा आकुलताओंसे युक्त है, विच्छिन्न है—प्रतिपक्षभूत असाताके उदयसे विनष्ट अथवा सान्तरित हो जाने वाला है, बन्धका कारण है—भोगानुलग्न रागादि दोषोंके कारण कर्मबन्धनका हेतु है, और विषम है—हानिवृद्धिको लिये हुए तथा अतृप्तिकर है।

[इन्द्रियसुखको दुःखरूप कहनेके लिये ये ही पांच कारण मुख्य हैं। अतीन्द्रियसुखमें इनका सद्भाव नहीं इसी लिये वह सच्चा सुख है।]

जावइ णाणिउ उवसमइ, तामइ संजदु होइ।
होइ कसायहं वसिगयउ, जीउ असंजदु सोइ ॥

—योगीन्द्रदेव।

'जिस समय ज्ञानी जीव उपशमभावको धारण करता है—उसकी कषायें शान्त होती हैं—उस समय वह संयमी होता है और जिस समय (क्रोधादि) कषायोंके अधीन प्रवर्तता है उस समय वह असंयमी होता है।

[इससे स्पष्ट है कि संयमीपना तथा असंयमीपना किसी बाह्य वेषादि क्रियाकाण्ड पर ही अवलम्बित नहीं है बल्कि उसका आधार कषायोंका अभाव तथा सद्भाव है। और इस लिये कषायरूप परिणत हुआ एक महाव्रती मुनि भी असंयमी है और कषायोंकी उपशान्तता को लिये हुए एक व्रती गृहस्थ भी संयमी है।]

णाणं किरियारहियं किरियामेत्तं च दो वि एगंता।
असमत्था दाएउ 'जम्ममरणदुक्खमा भाइ' ॥

—सिद्धसेनाचार्य।

'क्रियारहित ज्ञान और ज्ञानरहित मात्र क्रिया ये दोनों ही एकान्त हैं और 'जन्म मरणादि दुःखोंसे भय मत कर' इस प्रकारका आश्वासन जीवको देनेके लिए असमर्थ हैं।' भावार्थ—कोरा ज्ञान या कोरा चारित्र अभयपदकी प्राप्ति नहीं करा सकता—संसारके दुःखों से छुटकारा नहीं दिला सकता। दोनों मिलकर ही उस कामको कर सकते हैं।

संस्कृत—

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥

—स्वामी समन्तभद्र ।

'यदि पापका निरोध है—पापास्रव नहीं होता है और इस लिये किसीके पास धर्मसम्पत्ति तथा पुण्य विभूति मौजूद है—तो फिर उसके लिये दूसरी—कुलैश्वर्यादिरूप—सम्पत्तिका क्या प्रयोजन है ? वह उसके आगे कोई चीज नहीं। और यदि आत्मामें पापास्रव बना हुआ है तो फिर दूसरी—कुलैश्वर्यादिरूप—सम्पत्ति किस कामकी है ? वह उस पापास्रवके कारण शीघ्र नष्ट हो जायगी और उसके दुर्गतिगमनादिको रोक नहीं सकेगी। (अतः ऐसी सम्पत्तिको पाकर मद करना और इस सम्पत्तिसे रहित दूसरे धर्मात्माओंका तिरस्कार करना मूर्खता है)'

रागादिदोषसंयुक्तः प्राणिनां नैव तारकः ।
पतन्तः स्वयमन्येषां न हि हस्तावलम्बनम् ॥

—वादीभसिंहसूरि ।

'जो रागादि (राग-द्वेष-काम-क्रोधादि) दोषोंसे युक्त है वह जीवोंका तारक नहीं हो सकता; क्योंकि जो खुद ही पतित हो रहा है—डूब रहा है—उसके दूसरोंका उद्धार करनेके लिये हस्तावलम्बन देना नहीं बनता—दूसरोंका उद्धार वही कर सकता है जो खुद पहले अपना उद्धार किये हुए हो।'

आग्रही बत! निनीषति युक्तिं यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

'खेद है कि हठग्राही मनुष्य युक्तिको खींचखाँच कर वहाँ लाता है जहाँ पहलेसे उसकी मति ठहरी हुई होती है। परन्तु एक पक्षपातरहित मनुष्यकी ऐसी नीति नहीं होती, वह अपनी मतिको वहाँ ठहराता है जहाँ तक युक्ति पहुँचती है—अर्थात् उसकी मति प्रायः युक्त्यनुगामिकी होती है।

असतां हि विनम्रत्वं धनुषामिव भीषणं ।

—वादीभसिंहसूरिः ।

'असत् पुरुषोंकी—दुर्जनोंकी—विनम्रता धनुषोंकी तरह भयंकर होती है।'

"हे दारिद्र्य! नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादतः ।
पश्याम्यहं जगत्सर्वं न मां पश्यति कश्चन ॥"

'हे दारिद्र्य ! तुझे नमस्कार हो, तेरे प्रसादसे मैं सिद्धपदको प्राप्त हो गया हूँ; क्योंकि मैं सब जगतको देखता हूँ परन्तु मुझे कोई नहीं देखता।'

[यह पद्य बड़ा ही मार्मिक है। सिद्ध भगवान सबको देखते हैं उन्हें कोई नहीं देखता, इतनीसी बातको लेकर इसमें एक दरिद्र मनुष्य की करुण दशाका अच्छा चित्र खींचा गया है और यह सूचित किया गया है कि दरिद्र मनुष्य सबकी ओर आशा भरी उत्कण्ठित दृष्टिसे देखता रहता है परन्तु उसकी ओर कोई आंख भर कर लखाता भी नहीं।]

"देहीति वचनं श्रुत्वा देहस्थाः पंचदेवताः ।
मुखान्निर्गत्य गच्छन्ति श्री-ह्री-धी-धृति-कीर्तयः ॥"

'दे, इस वचनको सुनकर देहमें स्थित श्री (लक्ष्मी), ह्री (लज्जा), धी (बुद्धि), धृति (धैर्य) और कीर्ति नामके पाँच देवता मुखके मार्गसे निकल कर बाहर चले जाते हैं।'

[इसमें एक युक्तिसे अपने लिये याचना करने अथवा भीख मांगनेका दोष बतलाया गया है और यह सूचित किया गया है कि उससे पांच बातोंको क्षति पहुँचती है।]

हिन्दी—

राग उदै भोगभाव लागत सुहावनेसे,
विना राग ऐसे लागैं जैसे नाग कारे हैं।
राग ही सौं पाग रहे तनमें सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं॥
रागसौं जगतरीति झूठी सब साँची जानै,
राग मिटै सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी-विन रागीके विचारमें बड़ो ई भेद,
जैसे 'भटा पच काहू काहूको बयारे है'॥

× × —भूधरदास।

देख कुसंगति पायके होंहि सुजन सविकार।
अगिनिजोग जिमि जल गरम चंदन होत अँगार।

× × —वृन्दावन।

जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग॥

× × —रहीम।

सेवन कीजे धूप का प्रातः खुले शरीर।
बेध डालते रोग को रवि-किरणोंके तीर॥

× × —'अशंक'।

परिश्रमी लोग दुखी न होते, परिश्रमी हो जगदुख खोते।
सुदैव भी सेवक है उन्हींका, मनुष्य तो है श्रमहीन फीका॥

× × —दरबारीलाल।

जो घुसता है पिकवृन्द बीच, तो त्याग रे काककटूक्ति नीच।
किंवा यहाँ है तुझको बताना 'विभूषणं मौनमपंडितानां'॥

× × ×

ज्यों समुद्रमें पवन तैं, चहुँदिशि उठत तरंग।
त्यौं आकुलतासों दुखित, लहैं न समरस रंग॥

× × —वृन्दावन।

"मरजाऊँ माँगूँ नहीं अपने तनके काज।
पर उपकारके कारने तनिक न आवे लाज॥"

× × ×

सुखी रहैं सब जीव जगतके, कोई कभी न घबरावे,
वैर-पाप-अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मंगल गावे।
घर-घर चर्चा रहे धर्मकी, दुष्कृत दुष्कर हो जावें,
ज्ञान-चरित उन्नतकर अपना, मनुज-जन्म-फल सब पावें॥

× × —'युगवीर'।

उर्दू—

बद[1] न बोले ज़ेरे गर्दूं[2] गर कोई मेरी सुने।
है यह गुम्बदकी सदा[3] जैसी कहे वैसी सुने॥

× × —'ज़ौक़'

"कमीना[4] काम करनेमें जो डर जाए बहादुर है।
[5]बनी-आदमकी ख़ातिर जान दे वह बेबहा[6]दुर[7] है॥"

× × ×

हम करते हैं आदत की गुलमाना-अताअत[8]।
इसलाहपज़ीर[9] इसलिये आदत नहीं होती॥

× × —'हाली'

"यही है इबादत[10] यही दीनो-ईमाँ[11]।
कि काम आए दुनियामें इन्साँ[12]के इन्साँ॥"

× × ×

जो कहे तेरी ज़बाँ नक़्श[13] दिलों पै हो जाय।
क़ौल[14] में अपने अमल से वह असर पैदा कर॥

× × —'अर्शार'

इन्साँ की शराफ़त[15] मुतअल्लिक़[16] है अमल से।
मीरास[17] में तक़सीम शराफ़त नहीं होती॥

× × —'हाली'

आईना[18] देखा अगर पीरी[19]में याद आया शबाब[20]।
आगे सूरत और थी अब और ही सूरत हुई॥

× × —'असीर'

इल्मो-तवाज़ो-हुनरो-दादो यादेहक़[21]।
जिस शख़्समें ये वस्फ़[22] नहीं वह बशर[23] नहीं॥

× × —'शेर'

राहत[24] जिसे कहते हैं वह मेहनतका सिला[25] है।
आरामतलबी[26] मूजिबे-राहत[27] नहीं होती॥

× × —'हाली'

१ बुरा. २ आसमानके नीचे. ३ आवाज़. ४ नीच. ५ मानव-समाजके लिए. ६ अमूल्य. ७ मोती. ८ दासत्वके रूपमें आज्ञा-पालन. ९ सुधारको स्वीकार करने वाली. १० उपासना. ११ धर्म व श्रद्धान. १२ मनुष्यके. १३ अंकित. १४ वचन. १५ सज्जनता. १६ सम्बद्ध. १७ दाय-विरासत. १८ दर्पण. १९ वृद्धावस्था. २० यौवन २१ विद्या, विनय, कला, न्याय और ईश्वरस्मरण. २२ गुण. २३ मनुष्य. २४ सुख. २५ उपहार-पारितोषिक. २६ आलस्यमें पड़े सुखकी इच्छा. २७ सुखका कारण।

इतिहास

[लेखक—श्रीमान पं० नाथूरामजी प्रेमी]

कुछ समयसे जैनसमाज में भी इतिहासकी चर्चा होने लगी है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायके विद्वानोंका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है और वे इस विषय के छोटे मोटे लेख तथा ग्रन्थ लिखने लगे हैं। पत्रों में अक्सर इस विषय के लेख भी प्रकाशित होते रहते हैं; परन्तु हम देखते हैं कि अधिकांश जैन लेखक इतिहासके असली उद्देश्यको न समझ कर उसे बलपूर्वक धार्मिक या साम्प्रदायिक कक्षामें घसीट ले जाने का प्रयत्न करते हैं, जो कि सर्वथा अनुचित है। इतिहास सत्य घटनाओंका प्रकाशक है। किसी मत या सम्प्रदाय के कारण वह सत्य का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिए इतिहास लेखकको—चाहे वह स्वयं किसी मत या सम्प्रदायपर विश्वास करने वाला हो—यह कर्तव्य है कि वह जो घटना जिस समय और जिस रूपमें घटित हुई हो उसे उसी समय और उसी रूप में प्रकाशित करे। सत्यका पोषण करना ही उसका सबसे बड़ा कर्तव्य है। किसी मत या सम्प्रदायकी अपेक्षा उसे सत्यका सबसे अधिक एकनिष्ठ उपासक होना चाहिए। उसे जानना चाहिए कि किसी प्रकार के पक्षपातसे किसी घटनाको अयथार्थ रूपसे प्रकाशित करना इतिहास की हत्या करना है। उसे विश्वास होना चाहिए कि सत्य ही इतिहासका जीव है और सजीव इतिहास ही मनुष्य को सुमार्ग बतला सकता है, जो कि इतिहास पढ़ने का सबसे प्रधान लाभ है। वास्तवमें देखा जाय तो जिस मत या सम्प्रदायके मोहमें पड़ कर कोई छोटीसी घटना बढ़ाकर प्रकट की जाती है और बड़ी भारी घटना बिलकुल सामान्य बना दी जाती है, उसी मत या सम्प्रदायकी उससे सबसे अधिक हानि होती है। क्योंकि एक सत्य घटनासे मनुष्य जो शिक्षा ग्रहण कर सकता है, वह शिक्षा उसके अनुयायियोंको नहीं मिलने पाती। जिन कारण-कलापोंके मिलनेका परिणाम बुरा होना चाहिए, यदि इतिहासमें उनका परिणाम अच्छा चित्रित होता है और तब उस पर विश्वास करने वाले 'बबूल' बोकर 'आम' खाने की आशा करने लगते हैं। इसके सिवाय इतिहास लेखक जानता है कि 'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'—समय अनन्त है और पृथ्वी बहुत विस्तृत है, इसलिए मेरे छिपानेपर भी कोई ऐतिहासिक सत्य छिपा न रहेगा—एक न एक दिन वह सब पर प्रकट हुए बिना न रहेगा और तब मेरी गणना सत्यकी हत्या करने वालोंमें की जायगी, इस लिए कभी भूल कर भी वह किसी सत्य घटनाको अयथार्थरूपसे प्रकाशित करनेका प्रयत्न नहीं करता।

कल्पना कीजिए कि आजसे पाँचसौ वर्ष पहले एक ऐसा जैनाचार्य हुआ था जो बड़ा विद्वान था और उसके पाण्डित्यके प्रकाशित करनेवाले इस समय भी कई ग्रंथ मिलते हैं। अपने हृदयकी दुर्बलता के वश उसने किसी समय कोई दुष्प्रवृत्ति की थी, यति पद धारण कर लिया था, और जैनधर्मके अन्तर्गत जो कई संघ हैं उनमें शत्रुता बढ़ानेकी कोशिश की थी। एक अपरिणामदर्शी धर्मात्मा धर्ममोहके कारण उस

की इन दुष्प्रवृत्तियोंको ढकनेका प्रयत्न कर सकता है। उसे यह शङ्का हो सकती है कि इस घटनाके प्रकाशित होनेसे जैनधर्मके गौरवकी हानि होगी; परन्तु एक ऐतिहासिक लेखक इस घटनाको यथातथ्य प्रकट करनेमें जरा भी कुण्ठित न होगा। क्योंकि वह जानता है कि व्यक्तिविशेषके चरितकी हीनता और उच्चतासे किसी समूचे समाज या सम्प्रदायके चरितको माप नहीं हो सकती और इस घटनाके छिपानेसे ऐतिहासिक सत्योंसे लोगोंको जो शिक्षा मिलती है उससे वे वञ्चित हो जायँगे। लोग इससे जान सकते हैं कि विद्वान् होनेसे ही कोई चारित्रवान नहीं हो सकता है। ज्ञान दूसरी बात है और चारित्र दूसरी। मानव-चरित की जो दुर्बलता आजकलके भट्टारकोंमें पाई जाती है उसका पाँचसौ वर्ष पहले भी अस्तित्व था। उस समय भट्टारकोंके आचरण का सूत्रपात हो चुका था। संघ-मोह या सम्प्रदाय-मोहने उस समयके विद्वानो पर भी अपना अधिकार जमा लिया था और इससे उक्त विद्वानके ग्रंथोंमें यदि उसके चरितकी दुर्बलताका कुछ प्रभाव पड़ा हो, तो उसका सावधानतासे विचार करना चाहिए—उन्हें सर्वज्ञवचनोंके समान बिना तर्क-वितर्क किये माननेके लिए तैयार न हो जाना चाहिए। इत्यादि अनेक बातें ऐसी हैं जिनसे हम बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। इसके सिवाय जिन प्रमाणों से उक्त विद्वान्के चरितकी दुर्बलता प्रकट होती है वे यदि आज किसी तरहसे छिपा भी दिये जायँ, तो भी यह निश्चय है कि कभी न कभी उनका वास्तविक रूप प्रकाशित हुए बिना न रहेगा।

हाँ, इस बातका खयाल अवश्य रखना चाहिए कि जिन लेखों या प्रमाणोंसे उक्त दुर्बलताका अंश प्रकट होता है वे अविश्वस्त तो नहीं हैं। अर्थात् वे किसी ऐसे मनुष्यके लिखे हुए तो नहीं हैं, जो स्वयं किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक मोहसे अंधा था—अर्थात् दूसरे सम्प्रदायका गौरव घटानेके लिए तो उसने उक्त प्रयत्न नहीं किया है। परन्तु ऐसे मौकोंपर भी इतिहास-लेखकको धैर्य और सत्यका आग्रह न छोड़ देना चाहिए। हृदयमें किसी प्रकारका विकार या क्रोधादि न लाकर इस बातकी खूब जाँच कर लेनी चाहिए कि वास्तवमें ही उक्त प्रमाण विश्वस्त नहीं है। यदि थोड़ी भी शंका रह जाय, तो उस शंकाको छिपा न रखना चाहिए—अपने लेखमें उसका भी उल्लेख कर देना चाहिए।

जैनधर्मके ग्रंथोंमें, शिलालेखोंमें, स्थविरावलियोंमें, पट्टावलियोंमें भारतवर्षके इतिहासकी बहुमूल्य सामग्री छिपी हुई है। भारतवर्षका जो इतिहास तैयार हो रहा है, उसको सम्पूर्ण और सुस्पष्ट बनानेके लिए जैनियों को चाहिए कि वे अपने साहित्यका अच्छी तरहसे अन्वेषण, आलोडन और पर्यवेक्षण करके उसमेंसे महत्वपूर्ण तथ्योंका प्रकटीकरण करें। इससे न केवल जैनसाहित्यका ही महत्त्व प्रकट होगा किन्तु भारतवर्ष-का इतिहास भी अधूरा न रहेगा। परन्तु इस कार्यमें सफलता तब ही प्राप्त हो सकेगी जब कि हम इतिहास को इतिहासकी ही दृष्टि से देखेंगे। ऐसा न करके यदि हम धार्मिक पक्षपातमें पड़ जावेंगे, अपने इतिहासको यदि हम भारतके इतिहासका ही एक अंश न समझेंगे —केवल अपना ही महत्त्व प्रकट करनेवाला समझेंगे, तो हमारा विश्वास उठ जायगा और जो काम हम करना चाहते हैं वह हमसे यथेष्ट रूपमें न हो सकेगा।

हमारा कुछ आधुनिक कथासाहित्य ऐसा है जिसमें बहुतसे सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुषोंके चरित निबद्ध हैं और जहाँ तक हमने इस विषयमें विचार किया है

वे सर्वथा भ्रमशून्य नहीं हैं। इतिहासकी दृष्टिसे वे लिखे भी नहीं गये, केवल धर्मप्रभावनाको प्रकट करने के खयालसे लिखे गये हैं। उदाहरणके तौर पर कुछ नमूने नीचे देखिये :—

'भक्तामर' स्तोत्रके कर्ता मानतुङ्ग सूरिके विषयमें हमारे यहाँ कई कथायें हैं जो एक दूसरीसे नहीं मिलती हैं। एक भट्टारक सकलचंद्रके शिष्य ब्रह्मचारी 'रायमल्लजी' कृत भक्तामरवृत्ति है, जो संवत् १६६७ को समाप्त हुई है *। उसमें धाराधीश भोजकी राजसभा में कालिदास, भारवि, माघ आदि भिन्न समयवर्ती अनेक कवि एकत्र बतलाये गये हैं और लिखा है कि उसी समय मानतुङ्ग ने ४८ सांकलोंको तोड़ कर जैन-धर्मकी प्रभावना की तथा राजा भोजको जैनधर्मका उपासक बना लिया। दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषण-कृत 'भक्तामरचरित' में है जिसका पद्यबद्ध अनुवाद पं० विनोदीलालका किया हुआ मिलता है ×। इसमें भोज, भर्तृहरि, शुभचंद्र, कालिदास, धनंजय, वररुचि, मानतुङ्ग आदि सबको सम-सामयिक बतलाया है और अन्तमें लिखा है कि न केवल भोजने ही किन्तु कालि-दासने भी जैनधर्म स्वीकार कर लिया। इन दोनों ही कथाओंमें जब यह लिखा है कि राजा भोज के द्वारा ४८ कोठड़ियोंमें साँकलोंसे बाँधे जाने पर मानतुङ्गसूरि ने भक्तामरस्तोत्रकी रचना की, तब आचार्य प्रभाचंद्र ने 'क्रियाकलाप-टीका' के अंतर्गत भक्तामरस्तोत्रटीका की उत्थानिकामें लिखा है— " मानतुङ्गनामा सिताम्बरो महाकविः निर्ग्रन्थाचार्यवर्यैरपनीत-महाव्याधिः प्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवता परमात्मनो गुण-गणस्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्टः भक्तामरेत्यादि।"

अर्थात् मानतुंग नामक श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्यने उनको महाव्याधिसे मुक्त कर दिया, इससे उन्होंने दिगम्बर मार्ग धारण कर लिया और पूछा कि भगवन्, अब मैं क्या करूँ? तब दिग-म्बराचार्यने आज्ञा दी कि परमात्माके गुणोंका स्तोत्र बनाओ, इस पर उन्होंने भक्तामरादि स्तोत्रकी रचना की। प्रभाचंद्राचार्यकी इसी टीकाकी एक और प्रति हमने देखी है जिसकी उत्थानिकामें 'मानतुङ्गनामा सिताम्बरो महाकविः' की जगह 'मानतुङ्गनामा बौद्धमहाकविः' लिखा हुआ है †।

इसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदायमें, एक कथा श्वेता-म्बराचार्य श्रीप्रभाचंद्रसूरिकृत 'प्रभावकचरित' में दी हुई है, जो विक्रम संवत् १३३४ का बना हुआ है। इसके अनु-सार मानतुंग काशीके धनदेव श्रेष्ठीके पुत्र थे। पहले उन्होंने एक दिगम्बर मुनिसे दीक्षा ली और उनका नाम 'चारुकीर्ति महाकीर्ति' रक्खा गया, पीछे एक श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अनुयायिनी श्राविकाने उनके कमण्डलुके जलमें त्रसजीव बतलाये जिससे उन्हें दिगम्बरचर्यासे विरक्ति हो गई और आखिर वे 'जिनसिंह' नामक श्वे-ताम्बराचार्यके निकट दीक्षित हो कर श्वेताम्बर साधु हो गये, और उसी अवस्थामें उन्होंने भक्तामरकी रचना की। दूसरी कथा श्वेताम्बराचार्य 'मेरुतुंग'-कृत 'प्रबंध-चिंतामणि' में लिखी है। यह ग्रंथ विक्रम संवत् १३६१ का बना हुआ है। इसमें लिखा है कि महाकवि बाण

* इसका अनुवाद पं० उदयलालजी काशलीवाल-कृत प्रकाशित हो चुका है।

× यह कथा मेरे सटीक और सानुवाद भक्तामरस्तोत्रके पहले संस्करणकी भूमिकामें प्रकाशित की गई है।

† भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटकी नं० १०४१, आफ १८८४-८७ की प्रति।

और मयूर माले बहनोई थे। मयूर कविकी स्त्री ने अपने गुप्त प्रणयकलहको सुन लेनेके कारण अपने भाईको शाप दिया जिससे बाणको कोढ़ हो गया। इस कोढ़को उन्होंने 'सूर्यशतक' के प्रभावसे अच्छा कर लिया, फिर मयूरने अपनी शक्ति दिखलाने के लिए अपने हाथ पैर काट लिये और 'चण्डिकास्तोत्र' रच कर उसके प्रभावसे फिर ज्योंका त्यों शरीर कर लिया। राजसभाके प्रधान पुरुषोंने यह सब देख कर राजासे कहा कि जैनमतमें कोई ऐसा प्रभाव हो, तो जैनोंको इस देशमें रहने देना चाहिए, नहीं तो निकाल देना चाहिए। तब मानतुंगाचार्य बुलाये गये। आखिर उन्होंने अपने शरीरको ४८ बेड़ियोंसे जकड़वा लिया और मंत्रगर्भ भक्तामरस्तोत्रकी रचना करके एक एक पद्य पढ़ कर प्रत्येक बेड़ीसे अपनेको मुक्त कर लिया। तीसरी कथा श्वेताम्बराचार्य 'गुणाकर' की 'भक्तामरस्तोत्रवृत्ति' में दी है जो वि० सं० १४२६ की बनी हुई है। यह कथा प्रबंधचिंतामणिकी अपेक्षा कुछ विस्तृत है, और इसमें 'मयूर' को श्वसुर और 'बाण' को जामाता बतलाया है तथा मयूरने 'सूर्यशतक' को और बाणने 'चण्डिशतक' की रचना करके अपना प्रभाव दिखलाया है। राजाका नाम 'वृद्धभोज' बतलाया है जिसकी सभामें बाण और मयूर थे।

अच्छी तरह विचार करनेसे इन सब कथाओंका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह समझमें आये बिना नहीं रहता। भोज, कालिदास, भारवि, बाण, मयूर, माघ, भर्तृहरि, वररुचि आदि प्रायः सभी का समय निश्चित हो चुका है और इसलिए इन सबको कोई इतिहासज्ञ विद्वान् तो सम सामयिक माननेको तैयार न होगा। एक इन्हें श्वेताम्बर बतलाता है तो दूसरा दिगम्बर और मजा यह कि एक सम्प्रदाय का ही एक विद्वान् कुछ कहता है और दूसरा कुछ।

योगिराट् पण्डिताचार्यने 'पार्श्वाभ्युदयटीका' में मेघदूतके कर्त्ता कालिदासके जिनसेनस्वामी द्वारा अपमानित होनेकी कथा लिखी है, परन्तु भगवज्जिनसेन कालिदाससे बहुत पीछे हुए हैं और इसके लिए 'आयहोली' के जैनमन्दिरका कविवर रविकीर्त्ति-कृत शिलालेख बहुत ही पुष्ट प्रमाण है जिसमें कालिदासके उल्लेख वाला वाक्य इस प्रकार दिया है—

येनायोजि नवेऽश्म
स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म् ।
स विजयतां रविकीर्तिः
कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥

यह शक संवत ५५६ का लिखा हुआ है, जब कि जिनसेनाचार्यने जयधवलाटीकाकी समाप्ति शक संवत ७५९ में की है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास जिनसेन स्वामीसे लगभग २०० वर्ष पहले खूब प्रसिद्ध हो चुके थे, इस लिए उनको अपमानित करनेकी कथा कपोलकल्पित ही कही जा सकती है।

'दर्शनसार'के कर्त्ता देवसेनसूरिने काष्ठासंघकी उत्पत्ति शक संवत् ७५३ में बतलाई है और जिनसेनके सतीर्थ विनयसेनके शिष्य कुमारसेनको उसका उत्पादक बतलाया है; परन्तु बुलाकीदासने अपने वचनकोशमें काष्ठासंघके उत्पादक लोहाचार्यको बतला कर काठकी प्रतिमा पूजने आदिके सम्बन्धमें एक कथा ही गढ़ डाली है।

आराधनाकथाकोशमें लिखा है कि अकलङ्कभट्ट पुरुषोत्तम नामक ब्राह्मणके पुत्र थे; परन्तु भट्टाकलंक के ही बनाये हुए राजवार्तिकमें एक श्लोक है, उससे मालूम होता है कि वे लघु 'हव्व' नामक नृपतिके ज्येष्ठ पुत्र थे। वह श्लोक यह है:—

**जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः॥**

बहुतसी कथायें ऐसी हैं जिनमें दो महापुरुषोंके चरित इस तरह लिखे गये हैं कि उनमें एक दूसरेका अनुकरण करके लिखे जानेका भ्रम होता है। जैसे श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनसूरिकी और दिगम्बराचार्य समन्तभद्रस्वामीकी कथा। इनमेंसे एकने अपने प्रभावसे उज्जैनके महाकालेश्वरका लिंग फाड़ कर उसमेंसे जिन भगवानकी प्रतिमा प्रगट की और दूसरेने काशी या कांचीमें महादेवका लिंग फाड़कर चन्द्रप्रभकी प्रतिमा प्रगट की। इसी तरह भट्टाकलंकदेवकी और श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरिकी कथा है। एकमें जो हंस परमहंस हैं दूसरीमें वे ही अकलंक और निकलंक हैं। बौद्धोंका अत्याचार दोनोंमें ही दिखलाया गया है।

अनेक कथायें ऐसी भी हैं जिनमें वैदिक और बौद्धधर्मके प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजाओं और विद्वानोंके विषयमें यह कहा गया है कि वे पीछेसे जैनधर्मानुयायी हो गये थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायके ग्रंथोंमें बहुतसी कथायें ऐसी भी हैं जिनमें मयूर बाण सिद्धसेन, मानतुङ्ग, भूपाल आदि आचार्योंको अपना अपना बतलानेका प्रयत्न किया गया है। अर्थात् इन विद्वानोंको एक कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायका बतलाती है और दूसरी दिगम्बर सम्प्रदायका।

हम यह नहीं कहते कि इन कथाओंमें कुछ भी तथ्य नहीं है अथवा ये बिलकुल ही मिथ्या हैं; परन्तु जो लोग इतिहासकी खोज करना चाहते हैं और सत्यान्वेषी हैं उनसे यह प्रार्थना अवश्य कर देना चाहते हैं कि वे इन कथाओं पर एकाएक पूर्ण विश्वास न कर बैठें और न इन कथाओंके तथ्योंको ही अपना उद्देश्य मानकर उनके पुष्ट करनेके लिए जमीन आसमान एक कर डालें। जब कोई इतिहासज्ञ विद्वान् किसी व्यक्तिके समयका पता लगाना चाहता है, तब वह पहलेसे किसी ऊँटपटाँग समयकी कल्पना करके फिर उसके सिद्ध करनेवाले प्रमाण नहीं ढूँढता; किन्तु इस विषयके जितने प्रमाण मिल सकते हैं उनका संग्रह करके फिर उनका तारतम्य मिलाकर समय निश्चित करता है। इसी तरहसे इन कथाओंमें कही हुई बातोंको सिद्ध करनेका निश्चय करके फिर उनकी पुष्टिके लिए अस्त-व्यस्त प्रमाण ढूंढना ठीक नहीं। चाहिए यह कि पहले प्रमाण ढूंढे जावें और फिर उन परसे कथाओंकी सत्यता सिद्ध की जावे। भक्तामरकी इस कथाको स्वयंसिद्ध मानकर कि बाण, मयूर, भोज और कालिदास एक समयमें थे--जो महाशय ढूंढ खोज करेंगे, संभव है कि उन्हें दो चार इतिहासानभिज्ञ एतद्देशीय विद्वानोंके और चार छह पक्षप्रवेशकारी यूरोपियन विद्वानोंके ऐसे प्रमाण मिल जावें, जिनसे यह समकालीनता सिद्ध हो जावे, और इससे वे आपको कृतकृत्य समझ बैठें, परन्तु इस प्रकारकी सिद्धि करना एक बात है और ऐतिहासिक सत्यका खोज करना दूसरी बात है। विक्रमकी सातवीं शताब्दीके कान्यकुब्जाधिपति महाराज श्रीहर्षके सभाकवि बाण-मयूर को, महाराज विक्रमादित्यके समयवर्ती महाकवि कालिदासको और ग्यारहवीं शताब्दीके परमारवंशीय महाराज भोजको एक जगह बिठलानेका साहस कोई इतिहासमर्मज्ञ तो नहीं कर सकता। इसके सिवाय हमें यह भी तो सोचना चाहिए कि हमारे ही जुदा जुदा कथा-ग्रंथोंमें जब एकवाक्यता नहीं है, तब इन कथाओंको—केवल इसलिए कि ये हमारी हैं—प्रमाणभूत कैसे मान लिया जाय? पहले इनकी एकवाक्यता कीजिए, अथवा रचयिताओंकी योग्यता पर विचार करके किसी एकको विशेष

प्रामाणिक मानिए और फिर दूसरे शिलालेखादि बाहरी प्रमाणोंसे उसकी पुष्टि कीजिए और तब उनका ऐतिहासिक सत्यके रूपमें प्रचार कीजिए।

उक्त कथाओंके समान हमारी पट्टावलियाँ और गुर्वावलियाँ भी भ्रमसे खाली नहीं हैं। जहाँ से इन पट्टावलियों आदिका प्रारंभ होता है, वहींसे आचार्यों का समय ठीक ठीक नहीं मिलता। मूलसंघके जिन जिन आचार्योंके ग्रंथादि मिलते हैं अथवा शिलालेखादिसे उनका समय निश्चित होता है, पट्टावलीसे उस समयको मिलाइए, तो नहीं मिलता। ऐसी दशामें लेखक लोग कभी तो पट्टावलियोंके सम्वत्को विक्रम संवत मान लेते हैं और कभी शक संवत मान लेते हैं और जब इससे भी पूरा नहीं पड़ता, तो विक्रम और शकके जन्म और मृत्युके दो दो जुदा जुदा संवत मान कर अपना काम निकालते हैं। इस भ्रमका कारण यह मालूम होता है कि या तो असली पट्टावलियाँ नष्ट भ्रष्ट हो गई हैं या वे हमारे प्राचीन भण्डारोंमें कहीं छिपी हुई पड़ी हैं और उनके स्थानमें दो सौ चार सौ वर्ष पहलेके भट्टारकों आदिकी बनाई हुई पट्टावलियाँ तथा गुर्वावलियाँ प्रचलित हो गई हैं और रचयिताओंकी इतिहासानभिज्ञताके कारण उनमें भूलें हो गई हैं। एक बात और है। इन पट्टावलियोंके रचने वालों को यह भ्रम हो गया था कि जिस तरह एक भट्टारकके बाद दूसरा गद्दी पर बैठता है, गद्दी कभी खाली नहीं रहती उसी तरह पूर्वकालमें भी कुन्दकुन्द समन्तभद्र आदि आचार्योंके बाद उनके शिष्य और उनके बाद उनके शिष्य गद्दी पर बैठे होंगे; परन्तु वास्तवमें ऐसा है नहीं। कुन्दकुन्दादि गद्दीधर नहीं थे। ऐसा भी नहीं मालूम होता कि वे सभी किसी न किसी मुनिसंघके नेता या प्रवर्तक ही थे। इसके बिना भी विद्वत्ता, ग्रंथकर्तृत्वादिके नाते सूरि या आचार्यकी उपाधि लगाई जा सकती है। ऐसी दशामें इतिहासशोधकोंको चाहिए कि वे प्रयत्न करके इनका संशोधन करें, इनके यथार्थत्वका पता लगावें और जब तक इस विषयमें सफलता न हो, तब तक किसी आचार्यके समयादिका निर्णय करते समय केवल इन्हीं पर अवलम्बित न रहें।

यदि सत्य कहना कोई अपराध न हो, तो हमें कहना पड़ेगा कि हमारा आधुनिक साहित्य—वह साहित्य जिसे कि बहुत करके पिछले पाँच सौ-छह सौ वर्षके भट्टारकोंने या दूसरे विद्वानोंने लिखा है और जिसका बहुभाग कथाओंसे परिपूर्ण है प्रायः दुर्बल, भ्रमपूर्ण, संकीर्ण और निम्न श्रेणीका है और आश्चर्य की बात यह है कि इस समय इसीका सबसे अधिक प्रचार है। कुछ पुराणग्रंथोंको छोड़कर दूसरे कथाग्रंथोंमें नौवीं दशवीं शताब्दीसे पहलेके प्राचीन ग्रन्थोंके तो कहीं दर्शन भी नहीं होते हैं। ऐसी दशामें इतिहास-शोधकों को चाहिए कि वे इस पिछले कथासाहित्यसे जो प्रमाण संग्रह करें उन्हें बहुत विचारके साथ उपयोगमें लावें—उनके विषयमें सर्वथा निःशङ्क न हो जावें।

जो लोग जैनधर्मका इतिहास लिखना चाहते हैं, उन्हें सारी दुनियाका नहीं, तो कमसे कम भारतवर्षके समग्र ऐतिहासिक ग्रन्थोंका अध्ययन अवश्य करना चाहिए। केवल जैनसाहित्यकी खोजसे ही जैनियोंका इतिहास बन जावेगा, ऐसा खयाल करना ग़लत है। क्योंकि भारतवर्षसे—भारतवर्षके दूसरे धर्मोंसे—और जनसाधारणसे जैनधर्म कभी जुदा नहीं रहा। जिस तरह जैनसाहित्यकी सहायताके बिना समग्र भारतका इतिहास संपूर्ण नहीं होता, उसी तरह भारतके इतिहासकी सहायताके बिना जैनधर्मका इतिहास भी नहीं बन सकता।

इतिहासकी भाषामें और साहित्यकी भाषामें भेद होता है। जहाँ साहित्यकी भाषा अलङ्कार और आडम्बरपूर्ण होती है, वहाँ इतिहासकी भाषा सीधीसादी, मर्यादित और तुली हुई होती है। हमारे इतिहासलेखकोंका ध्यान इस ओर बहुत कम है। वे जब किसी जैनाचार्य या जैनराजाका इतिहास लिखते हैं, तब इतिहास लिखना छोड़कर अत्युक्ति और आडम्बरपूर्ण काव्य लिखने लगते हैं! यह न होना चाहिए। इतिहासका प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक शब्द जँचा-तुला मर्यादित होना चाहिये।

इतिहासमें अनुमानसे बहुत काम लेना पड़ता है; परन्तु उस अनुमानकी भी कुछ सीमा होनी चाहिए। हमने बहुतसे लेखोंमें पढ़ा है कि उनके लेखकोंने यदि कहीं पर कोई प्राचीन प्रतिमा पा ली और उसमें कोई सन्-संवत् लिखा न पाया, तो बस उन्होंने उसी समय लिख मारा कि 'यह प्रतिमा अनुमानसे चौथे कालकी मालूम होती है'! भला, यह भी कोई अनुमान है? ऐसे अनुमानोंसे इतिहासलेखकोंको बचना चाहिए।

किसी व्यक्तिका समय, उसकी रचना और उसका पाण्डित्य आदि लिख देना ही इतिहास नहीं है इतिहासमें इन बातोंका विशेष महत्त्व नहीं। बल्कि उस समयके धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जगतकी क्या अवस्था थी, लोगोंके विश्वास कैसे थे, कौनसे धर्मकी प्रधानता और प्रचारबहुलता थी, उनके रीति-रिवाज, आहारविहार, वेषभूषा आदि कैसे थे, धार्मिक स्थिति कैसी थी, नगरों और ग्रामोंकी क्या अवस्था, थी विदेशियोंसे कहाँ तक सम्बन्ध था, उस समय जो युद्धादि हुए उनके वास्तविक कारण क्या थे, युद्धादि के कारण प्रजाकी शान्ति कहाँ तक भंग होती थी, संघशक्ति कैसी थी, विद्याचर्चा कितनी थी और वह किस तरह चलती थी, लोगोंमें स्वार्थत्याग, परार्थपरता, देशभक्ति आदिके भाव कैसे थे, इत्यादि बातोंका इतिहासमें विशेषताके साथ विचार होना चाहिए। इतिहासका यही भाग लोगोंके लिए विशेष पथप्रदर्शक होता है, परन्तु हम लोगोंका ध्यान इसी ओर बहुत कम जाता है।*

---

* लगभग १५ वर्ष पहले लिखे हुए लेखको संशोधित, परिवर्तित और परिवर्धित करके आज 'अनेकान्त' के लिए तय्यार किया गया। —लेखक

दलित-कलिका

[लेखक—पं० मूलचन्दजी जैन 'वत्सल']

(१)

हाय विधि! कैसा दृश्य दिखाया!
प्राची में रवि उदित हुआ था,
हृदय-सरोरुह मुदित हुआ था,—
खिलनेको थी—किन्तु—कालने कैसा पलटा खाया!
हाय विधि! कैसा दृश्य दिखाया!!

(२)

निर्दय, हृदय-शून्य-मानवने,
मेरे जीवन के दानव ने,—
तोड़ मुझे, कर धूलधूसरित, पदतलसे ठुकराया!
हाय विधि! कैसा दृश्य दिखाया!!

(३)

प्रभा-हीन पद-दलित पड़ी हूँ,
मृत्यु-द्वार पर आज खड़ी हूँ,—
हा दुर्दैव! कालचक्कर में तूने खूब घुमाया!
हाय विधि! कैसा दृश्य दिखाया!!

वाचक वंश

[लेखक—श्री० मुनि दर्शनविजयजी]

'अनेकान्त' की किरण नं० ६, ७ में प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीका "तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति" नामका निबन्ध छपा है। लेख विद्वत्तापूर्ण है, किन्तु इसकी कितनी ही आलोचना अपने मनःस्थित विचारों के असरको लिये हुए है, जिसके विषयमें सत्य स्वरूप जाँचनेके लिये उपलब्ध प्रमाणोंको जनताके सम्मुख रख देना उचित और जरूरी जान पड़ता है। अतः प्रस्तुत लेखमें इसी विषयका यत्किंचित प्रयास किया जाता है।

पण्डितजी लिखते हैं कि— "उमास्वाति अपनेको 'वाचक' कहते हैं, इसका अर्थ 'पूर्ववित' करके पहले से ही श्वेताम्बराचार्य उमास्वातिको 'पूर्ववित्' रूपसे पहिचानते आए हैं; परंतु यह बात खास विचारने योग्य मालूम होती है; क्योंकि उमास्वाति खुद ही अपने दीक्षागुरुको वाचक * रूपमें उल्लेखित करनेके साथ ही ग्यारह अंगके धारक कहते हैं। अब यदि वाचक का अर्थ भाष्यके टीकाकारोंके कथनानुसार 'पूर्ववित' होता तो उमास्वाति अपने गुरु को 'पूर्ववित्' कहते, मात्र एकादशांगधारक न कहते।" (पृष्ठ ३९४)

पंडितजीने यह पैरेग्राफ लिख तो दिया है किन्तु उमास्वातिकी प्रशस्ति पर पूर्ण लक्ष दिया मालूम नहीं होता, क्योंकि खुद उमास्वातिजी ने अपने गुरुको 'वाचक'* पदवीसे न तो उल्लेखित किया है और न उसका इशारा ही किया है। सिर्फ अपने गुरुके गुरुका, वाचनाके प्रगुरुका, वाचनागुरुका व अपना 'वाचक' पदवीसे परिचय दिया है। देखिये प्रशस्तिका वह पाठ (पृष्ठ ३८७) इस प्रकार है:—

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशांगविदः ॥१॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः॥२॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥

इस पाठमें साफ साफ लिखा है कि—जो महान् यशस्वी वाचकमुख्य 'शिवश्री'का प्रशिष्य है, ग्यारह अंगके धारक 'घोषनन्दि' का शिष्य है, विद्याग्रहणकी दृष्टिसे महावाचक 'मुंडपाद' का प्रशिष्य है, वाचकाचार्य 'मूल' का शिष्य है व उच्चानागर शाखाका 'वाचक' है, उसी उमास्वातिने जीवोंकी अनुकम्पासे यह तत्त्वार्थाधिगम नामका शास्त्र संग्रह किया है।

इस प्रशस्तिसे स्पष्ट होता है कि जो पूर्ववित् थे उन्हींका 'वाचक' शब्दसे परिचय दिया है, ग्यारह अंगके धारकका 'वाचक' रूपसे उल्लेख नहीं किया है।

और भी मालूम होता है कि यदि उमास्वाति महाराजके दीक्षागुरु 'वाचक' होते—पूर्ववित् होते—तो उमास्वातिको दूसरे वाचककी वाचना लेने की आवश्यकता नहीं थी। उमास्वाति महाराजके दादा-

* नहीं मालूम इस स्थानके 'वाचक' शब्द पर सम्पादकजी-ने फुटनोट क्यों नहीं दिया, सम्भव है कि यह बात उनकी आंखसे छूट गई हो।

गुरु 'वाचक' हो गये थे, परंतु उनके गुरु ग्यारह अंगके धारक ही थे, इसी कारण दादागुरुके अभावमें उन्होंने वाचक 'मूल' के पास पूर्वका अध्ययन किया और वाचनागुरुके रूपमें उन्हींका नाम जाहिर किया। विचार करने से यह संबंध ठीक मालूम पड़ता है।

पंडितजीने उमास्वातिजीका सत्तासमय विक्रमकी १ली से ४थी शताब्दी तकका मध्यवर्ती काल अनुमान किया है और जैन ग्रंथोंमें विक्रमकी ६ठी शताब्दी तक पूर्वविद होनेका उल्लेख है *। समयसम्बंधी इस आलोचनासे भी उमास्वाति वाचकके 'पूर्वविद' होनेका कोई विरोध नहीं आता। पूर्वज्ञानका विच्छेद होनेके बाद 'वाचकवंश' या 'वाचक' शब्दका कोई पता लगता नहीं है, इससे भी 'वाचक' और 'पूर्वविद'का सम्बन्ध ठीक मालूम होता है।

एपिग्राफिआ कर्णाटिकाकी ८वीं जिल्द में प्रकाशित 'नगर' ताल्लुके शिलालेखमें भी लिखा है कि :—

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारमुमास्वातिमुनीश्वरं।
श्रुतकेवलि-देशीयं वन्देऽहं गुणमंदिरम् ॥

—अनेकान्त पृष्ठ ५७०, ३९५।

इस लेखमें वाचकजीको श्रुतकेवली समानका विशेषण दिया है जो 'पूर्वविद्'स्वरूपको ही व्यक्त करता है।

इसलिये इस निश्चयपर आना ठीक है कि वाचक उमास्वाति 'वाचक' थे इसी कारणसे 'पूर्वविद्' थे, उनके दीक्षागुरु 'पूर्वविद्' नहीं थे और वे वाचकवंशके नहीं थे किन्तु उच्चानागरी शाखाके वाचनानायक थे, जिसका प्रादुर्भाव नंदीसूत्रोक्त कोटिक गणके आर्य 'शांतिश्रेणिक' से हुआ था। वाचक वंश भिन्न था और उच्चानागरी शाखा भिन्न थी।

पंडितजी लिखते हैं कि "ऐसे वाचकवंशमें, जिसे दिगंबरपनेकी कोई पक्ष न थी अथवा श्वेताम्बर कहलानेका कुछ भी मोह न था, उमास्वाति हुए हों, ऐसा ज्ञान पड़ता है।" (पृष्ठ ३९५)। लेकिन पंडितजीकी यह मान्यता किसी भी प्रमाणसे साबित नहीं हो सकती। नंदी सूत्रमें लिखा हुवा वाचकवंश श्वेताम्बर आम्नायसे अभिन्न है।

पंडितजीने 'आवश्यकनिर्युक्ति' की गाथा और चूर्णिका पाठ देकर गणधर और वाचकका वंश अलग अलग दिखाया है; यहाँ गणधरका अर्थ गच्छनायक और वाचकका अर्थ वाचनानायक—उपाध्याय है। सम्भव है कि एक वाचनानायकके पास दूसरे आचार्यों के शिष्य भी आकर अध्ययन करते हों, जो वाचनानायकको भी अपने गुरु के तौर पर मानते होंगे। वाचकके स्थान पर उन्हींमेंसे कोई योग्य शिष्य नियत किये जाते होंगे। क्योंकि नंदीसूत्रकी पट्टावलीमें सिंह वाचकके साथ ब्रह्मद्वीपिक शाखाका उल्लेख है। यह शाखा कल्पसूत्रोक्त ब्रह्मद्वीपि शाखा होना संभवित है। अर्थात् यह कल्पना सच्ची हो तो कहना चाहिये कि एक वाचकके स्थानपर दूसरी शाखाका योग्य मुनि भी नियुक्त होता था। मुझे तो यह कल्पना ठीक ज्ञात पड़ती है।

पंडितजी वाचकवंशके स्वरूपमें कल्पना करते हैं कि—"कालक्रमसे जब पूर्वज्ञान नष्ट हो गया तब भी इस वंशमें होने वाले 'वाचक' ही कहलाते रहे।" (पृष्ठ ३९५) "उसी प्रकार यह तटस्थ वर्ग जैनश्रुतको कंठस्थ रख कर उसकी व्याख्याओंको समझना, उसके पाठ भेदों तथा उनसे संबंध रखने वाली कल्पनाओंको सँभालना और शब्द तथा अर्थसे पठन-पाठन-द्वारा अपने श्रुतका विस्तार करता था। यही वर्ग वाचकरूपसे प्रसिद्ध हुआ।" (पृष्ठ ३९८, ३९९) "इस वाचकवंशके विद्वान् साधुओंको ... बिलकुल तुच्छ-जैसी कर्मकांड विषयक बातोंमें रस नहीं था।" (पृ० ३९९) इत्यादि। पंडितजीके इन उल्लेखोंके लिये उलटा सुलटा खुलासा देखना जरूरी है। वाचकवंश साधुरी-वाचनाका सूत्रधार अर्थात् आगम-संग्राहक संप्रदाय है, इसकी पट्टावली

* उल्लेखका यह कथन श्वेताम्बर ग्रंथोंकी दृष्टिसे ज्ञान पड़ता है, क्योंकि दिगम्बर ग्रंथोंमें आमतौर पर पूर्वके पाठियोंका समय वीर निर्वाणसे ३४५ वर्ष बाद तक माना गया है—भले ही बाद के कुछ आचार्योंको 'पूर्वपदांशवेदी' भी कहा गया हो, परन्तु वे १४में से किसी एक पूर्वके भी पूरे पाठी नहीं थे। और इससे पूर्व विदोंका समय विक्रम संवत से एक शताब्दीसे भी अधिक पहलेका ठहरता है।

—सम्पादक

नंदीसूत्रमें है, आर्य नागहस्तिसे आर्य नागार्जुन वाचक तक 'वाचकवंश' होना संभव है। खास करके आर्य नागार्जुन और आर्य रेवतीनक्षत्र के वाचकवंश का उल्लेख है (गाथा ३०–३१) नागार्जुन वाचकके शिष्यको आचार्यपदसे और परंपरागत अंतिम मुनिको गणि-पदसे विभूषित किया है। इन सब विषयोंका यथार्थ स्वरूप जाननेके लिये नंदीसूत्रकी थोड़ीसी गाथाएँ यहाँ दे देनी आवश्यक हैं, उन्हीं का उल्लेख करके मैं अपना लेख समाप्त करूँगा:—

भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं॥ २८॥

'जो पढ़नेमें लीन हैं, क्रियाकारक हैं, ध्यानी है, ज्ञानदर्शनके प्रभावक हैं, श्रुतसागरके पारगामी हैं और धैर्ययुक्त हैं उन्हीं आर्य मंगुको नमस्कार करता हूँ।'

नाणम्मि दंसणंमि अ तवविणए णिच्चकालमुज्जुत्तं।

'आर्य मंगुके शिष्य आर्य नंदिलक्षमण, जो निरंतर ज्ञान, दर्शन और विनयमें उद्यमवंत थे।'

वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जनागहत्थीणं।
वड्ढउ वायगवंसो रेवइनक्खत्तनामाणं॥३०-३१

'आर्य नंदिलक्ष्मणके शिष्य आर्य नागहस्ति का यशस्वी वाचकवंश वृद्धिको प्राप्त करो। उन्हींके शिष्य रेवतीनक्षत्रका वाचकवंश वृद्धिको प्राप्त हो।

अयलपुरा णिक्खंते कालिअसुयआणुओगिए धीरे
बंभद्दीवगसींहे वायगपयमुत्तमं पत्ते॥ ३२॥

'अचलपुरमें जिनकी दीक्षा हुई है, जो कालिक श्रुतके अनुयोग वाले हैं, धीर हैं, उत्तम वाचक पदमें स्थित हैं और ब्रह्मद्वीपिक शाखा वाले हैं वे आर्य सिंह (जो आर्य रेवतीनक्षत्रके वाचना-शिष्य थे)।'

जेसिं इमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढभरहंमि।
बहुनगरनिग्गयजसे ते वंदे खंदिलायरिए॥३३॥

'जिनका अनुयोग (श्रुतसंग्रहादि) आज भी अर्द्ध भरतक्षेत्रमें विद्यमान है और जिनका यश बहुतसे नगरोंमें व्याप्त है उन स्कंदिलाचार्यको मैं नमस्कार करता हूँ। (प्रभावकचरितमें इन आचार्यका परिचय पादलिप्तसूरिका कुल और विद्याधर शाखासे दिया है।'

कालिअसुयअणुओगस्स धारए धारए अ पुव्वाणं
हिमवंतखमासमणे वंदे णागज्जुणायरिए॥३५॥
मिउमद्दवसंपन्ने आणुपुव्विवायगत्तणं पत्ते।
ओहसुयसमायारे नागज्जुणवायए वंदे॥३६॥

'कालिक श्रुत अणुयोगके धारक 'पूर्ववित्' हिमवंत क्षमाश्रमणको और नागार्जुन आचार्यको वंदन करता हूँ, मनको तुष्टिकारक कोमल स्वभाववाले योग्यताके अनुसार वाचक पदमें प्रतिष्ठित और उत्सर्ग श्रुतके धारक 'नागार्जुन' वाचकको नमस्कार करता हूँ।

नागार्जुन ऋषिके पीछे अनुक्रमसे आर्य भूतदिन्न आर्य लौहित्य और दूष्य गणि हुए हैं। (गाथा ३७-४१)

इन पाठोंसे स्पष्ट है कि—ये आचार्य ज्ञान, क्रिया, ध्यान, अध्ययन, अध्यापन, दर्शनकी प्रभावना, कालिक श्रुत अनुयोगकी विधि, वगैरह ज्ञान और कर्मकाण्ड में लीन रहते थे। आर्य 'नागहस्ति' और आर्य 'रेवतीनक्षत्र' का वाचकवंश विद्यमान था। आर्य 'स्कंदिल' और आर्य 'भूतदिन्न' आचार्य हुए थे। आर्य 'सिंह' व आर्य 'नागार्जुन' वाचक थे, आर्य 'दूष्य' गणि थे। वर्तमान कालमें उपलब्ध आगमसंग्रह श्रीस्कंदिलाचार्य और नागार्जुन वाचकके श्रुतसंरक्षक प्रयासकी प्रासादी है। विद्यमान कालमें जो कालिक श्रुत है वे उस कालमें भी वाचकवंशसंमत थे। और आर्य 'नागार्जुन' योग्यतासे ही 'वाचक' हुए थे।

पंडितजीके कथनानुसार यह वाचकवंश श्वेताम्बर-दिगंबरके भेदसे रहित मध्यस्थ था (पृष्ठ ३९९)। इसके आगमसंग्रहको जब श्वेताम्बर-सम्प्रदायने अपनाया है तब दिगंबर सम्प्रदायने उसे अपना क्यों नहीं माना, यह एक जटिल प्रश्न है। इसका उत्तर प्राप्त करनेके लिये तत्त्वविदोंको अति प्रयास करने की आवश्यकता है।

यहाँ इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वाचक उमास्वातिजी 'वाचक' थे किन्तु उपर्युक्त 'वाचकवंश' के नहीं थे।

तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकार और व्याख्याएँ

[लेखक—श्रीमान पं० सुखलालजी]

वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रमें अपनी दृष्टि-प्रमाण जैन दार्शनिक विद्याका जो स्वरूप स्थापित किया है वही ज्योंका त्यों स्वरूप कुछ आगे चल कर क़ायम नहीं रहा। उस सूत्रके अभ्यासियों और उसके व्याख्याकारों (टीकाकारों) ने अपनी शक्तिके अनुसार अपने अपने समयमें प्रचलित विचार धाराओंमेंसे कितना ही अंश लेकर इस विद्यामें सुधार, वृद्धि, पूर्ति और विकास किया है; इससे, पिछले दो लेखोंमें 'तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति' और 'तत्त्वार्थसूत्र' का परिचय दिये जानेके बाद, इस लेखद्वारा तत्त्वार्थशास्त्रकी वंशवेलरूपसे फैली हुई व्याख्याओं (टीकाओं) और उन व्याख्याओंके कर्ताओंका भी कुछ परिचय कराया जाना उचित जान पड़ता है। उसी का यहाँ पर प्रयत्न किया जाता है।

(क) व्याख्याकार

तत्त्वार्थके व्याख्याकार श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें हुए हैं; परन्तु इसमें भेद यह है कि मूल सूत्र पर सीधी व्याख्या सूत्रकार उमास्वाति के सिवाय दूसरे किसी भी श्वेताम्बर विद्वानने लिखी हो ऐसा मालूम नहीं होता; जब कि दिगंबरीय सभी लेखकोंने सूत्रोंके ऊपर ही अपनी अपनी व्याख्या लिखी है। श्वेताम्बरीय अनेक विद्वानोंने सूत्रों परके भाष्यकी व्याख्याएँ की हैं, जब कि दिगंबरीय किसी भी प्रसिद्ध विद्वानने सूत्रों पर की व्याख्या (भाष्य के ऊपर लिखी हो ऐसा मालूम नहीं होता। दोनों सम्प्रदायोंके इन व्याख्याकारोंमें कितने ही ऐसे विशिष्ट विद्वान हैं कि जिनका स्थान भारतीय दार्शनिकोंमें भी आ सकता है, इससे प्रायः वैसे कुछ विशिष्ट व्याख्याकारोंका ही यहाँ संक्षेपमें परिचय देनेका विचार है।

उमास्वाति

तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्य रूपसे व्याख्या लिखनेवाले खुद सूत्रकार उमास्वाति ही हैं, जिनका परिचय 'तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति' शीर्षक प्रथम लेखमें दिया जा चुका है (देखो, अनेकान्त कि० ६, ७ पृष्ठ २८५), इससे इनके विषयमें यहाँ जुदा लिखना कुछ रहता नहीं।

गन्धहस्ती

'गंधहस्ती' विशेषणको लिए हुए दो व्याख्याकार जैन परम्परामें प्रसिद्ध हैं एक दिगंबराचार्य समन्तभद्र और दूसरे श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन दिवाकर। इनके विषयमें 'गन्धहस्ती' शीर्षक जो लेख अनेकान्तकी ४थी किरण में प्रकट हुआ है उसे यहाँ पर पढ़ना चाहिये।

सिद्धसेन

तत्त्वार्थभाष्यके ऊपर श्वेताम्बराचार्यों की रची हुई दो पूर्ण वृत्तियाँ इस समय मिलती हैं। इनमें एक बड़ी और दूसरी उससे छोटी है। बड़ी वृत्तिके रचने वाले सिद्धसेन ही यहाँ पर प्रस्तुत हैं। ये सिद्धसेन दिन्नगणिके शिष्य सिंहसूरिके शिष्य भास्वामिके शिष्य थे, यह बात इनकी भाष्यवृत्तिके अन्तमें दी हुई प्रशस्ति

परसे सिद्ध है । गंधहस्तीके विचारप्रसंगमें दी हुई युक्तियोंसे यह भी जाना जाता है कि गंधहस्ती प्रस्तुत सिद्धसेन ही हैं । अर्थात् जब तक दूसरा कोई खास प्रमाण न मिले तब तक उनकी दो कृतियाँ मानने में शङ्का नहीं रहती—एक तो आचारांगविवरण जो अनुपलब्ध है और दूसरी तत्त्वार्थभाष्यकी उपलब्ध बड़ी वृत्ति। इनका 'गंधहस्ती' नाम किसने और क्यों रक्खा, इस विषयमें सिर्फ कल्पना ही कर सकते हैं। इन्होंने स्वयं तो अपनी प्रशस्तिमें गंधहस्तिपद जोड़ा नहीं, जिससे यह मालूम होता है कि जैसा सामान्य तौर पर बहुतोंके लिये घटित होता है वैसा इनके लिये भी घटित हुआ है—अर्थात् इनके किसी शिष्य या भक्त अनुगामी ने इनको गंधहस्तीके तौर पर प्रसिद्ध किया है। ऐसा करनेका कारण यह जान पड़ता है कि प्रस्तुत सिद्धसेन सैद्धान्तिक थे और आगमशास्त्रोंका विशाल ज्ञान धरनेके अतिरिक्त वे आगमविरुद्ध मालूम पड़ने वाली चाहे जैसी तर्कसिद्ध बातोंका भी बहुत ही आवेशपूर्वक खंडन करते थे और सिद्धान्तपक्षका स्थापन करते थे । यह बात उनकी तार्किक-विरुद्धकी कटुक चर्चा देखनेसे अधिक संभवित जान पड़ती है। इसके सिवाय, उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य पर जो वृत्ति लिखी है वह अठारह-हजार श्लोक प्रमाण होकर उस वक्त तक की रची हुई तत्त्वार्थभाष्य परकी सभी व्याख्याओं में कदाचित् बड़ी होगी, और यदि राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिकके पहले ही इनकी वृत्ति रची हुई होगी तो ऐसा भी कहना उचित होगा कि तत्त्वार्थसूत्र पर उस वक्त तक अस्तित्व रखनेवाली सभी श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय व्याख्याओंमें यह सिद्धसेनकी ही वृत्ति बड़ी होगी *। इस बड़ी वृत्ति और उसमें किये गये आगमके समर्थनको देख कर उनके किसी शिष्य या भक्त अनुगामीने उनके जीवनमें अथवा उनके पीछे उनके लिये 'गंधहस्ती' विशेषण प्रयुक्त किया हो, ऐसा जान पड़ता है । उनके समयसम्बंधमें निश्चयरूपसे कहना अभी शक्य नहीं, तो भी वे सातवीं शताब्दी और नवमी शताब्दीके मध्यमें होने चाहियें, यह निःसन्देह है । क्योंकि उन्होंने अपनी भाष्यवृत्तिमें वसुबंधु[1] आदि अनेक बौद्ध विद्वानोंका उल्लेख किया है । उसमें एक सातवीं शताब्दीके धर्मकीर्ति[2] भी हैं अर्थात् सातवीं शताब्दीके पहिले वे नहीं हुए, इतना तो निश्चित होता है । दूसरी तरफ नवमी शताब्दीके विद्वान शीलाङ्कने गंधहस्ती नामसे उनका उल्लेख[3] किया है, इससे वे नवमी शताब्दीके पहले किसी समय होने चाहियें । आठवीं-नवमी शताब्दीके विद्वान् याकिनीसूनु हरिभद्र के ग्रन्थोंमें प्रस्तुत सिद्धसेनके सम्बन्धमें कोई उल्लेख

*समन्तभद्रका गन्धहस्ति महाभाष्य यदि इस तत्त्वार्थसूत्रकी ही व्याख्या हो तब ऐसा कहना उचित नहीं होगा; क्योंकि उसकी संख्या ८४ हजार बतलाई जाती है । —सम्पादक

१ प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान 'वसुबंधु' का वे "आमिषगृद्ध" कह कर निर्देश करते हैं —

"तस्मादेनः पदमेतत् वसुबन्धोरामिषगृद्धस्य गृद्धस्येवाऽप्रेक्ष्यकारिणः"।"जातिरूपन्यस्ता वसुबन्धुवैधेयेन।"

— ७, ७ की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ०६८, प०१ तथा २६ । नागार्जुन-रचित धर्मसंग्रह पृ०१३ पर जो आनन्तर्य पांच पाप आते हैं और जिनका वर्णन शीलांकने सूत्रकृतांगकी (पृ० २१५) टीकामें भी किया है, उनका उल्लेख भी सिद्धसेन करते हैं । — देखो, ७, ८ की भाष्य-वृत्ति पृ० ६७ ।

२ "भिक्षुवरधर्मकीर्त्तिनाऽपि विरोध उक्तः प्रमाणविनिश्चयादौ ।"

—अ०५ तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ३६७ प० ४ ।

३ "शास्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्"
"शास्त्रपरिज्ञाविवरणमतिगहनमितीव किल वृतं पूज्यैः।
श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम् ॥"

—आचारांग टीका पृ०१ तथा ८२ की शुरुआत ।

देखनेमें नहीं आया। प्रस्तुत सिद्धसेनकी भाष्यवृत्तिमें इन हरिभद्रका अथवा उनकी कृतियोंका उल्लेख भी अभी तक देखनेमें नहीं आया। इससे अधिक सम्भावना ऐसी जान पड़ती है कि याकिनीसूनु 'हरिभद्र' और प्रस्तुत 'सिद्धसेन' ये दोनों या तो समकालीन हों और या इनके बीचमें बहुत ही थोड़ा अन्तर होना चाहिये। प्रशस्तिमें लिखे मुताबिक प्रस्तुत सिद्धसेनके प्रगुरु सिंहसूर[4] (सूरि) यदि मल्लवादि-कृत 'नयचक्र'के टीकाकार 'सिंहसूरि' ही हों तो ऐसा कह सकते हैं कि नयचक्रकी उपलब्ध सिंहसूरि-कृत टीका सातवीं शताब्दी लगभग की कृति होनी चाहिये।

हरिभद्र

ऊपर बतलाई हुई तत्त्वार्थभाष्यकी छोटी वृत्ति जो अभी तक मुद्रित नहीं हुई वह हरिभद्रद्वारा प्रारम्भित होने पर भी किसी भी कारणवश उनसे अधूरी ही रह गई है। यह हरिभद्र कौन ? यह एक प्रश्न है। वृत्ति का अवलोकन करते हुए ऐसा निःसन्देह जान पड़ता है कि इस वृत्तिका रचयिता याकिनीसूनु हरिभद्र न होना चाहिये। इस सम्भावनाकी पुष्टिमें इस समय दो युक्तियाँ दी जा सकती हैं। पहली युक्ति यह है कि उनकी वृत्तिमें अध्यायके अंतमें 'हरिभद्रोद्धृतायां' ऐसा लिखा हुआ है, यदि प्रस्तुत वृत्तिकार याकिनीसूनु हरिभद्र हों तो वे इतने योग्य तथा स्वतन्त्र ग्रंथकारके तौर पर प्रसिद्ध हैं कि उनके विषयमें ऐसी धारणा करना ज़रा अधिक जान पड़ता है कि उन्होंने किसी दूसरी व्याख्यामेंसे अपनी व्याख्या उद्धृत की है। और दूसरी युक्ति यह है कि यदि दूसरी टीकामेंसे हरिभद्रने अपनी वृत्ति उद्धृत की हो अर्थात् संक्षेप करके लिखी हो तो वह दूसरी टीका 'सिद्धसेन'की बड़ी वृत्ति ही होना सम्भव है। और यह बात हम ऊपर देख चुके हैं कि सिद्धसेन और हरिभद्र इन दोनोंके समयके बीच कोई खास अन्तर न होना चाहिये। इससे लगभग अपने समकालीन अथवा सहज पूर्वकालीन सिद्धसेनकी बड़ी वृत्तिमेंसे सैकड़ों ग्रन्थोंके स्वतन्त्र रचयिता याकिनीसूनु हरिभद्र अपनी वृत्ति बनावें। अर्थात् उसमेंसे उद्धृत करें, यह बात असंभव ही मानी जा सकती है।

'हरिभद्र'[5] नामके अनेक आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत हरिभद्र कदाचित् वि० सं० ११८५ में 'प्रशमरति'की टीका रचने वाले हरिभद्र ही हों, ऐसी कल्पना होती है। क्योंकि 'प्रशमरति' वाचक उमास्वातिकी कृति है, इससे ऐसी कल्पना की जा सकती है कि इन्हीं हरिभद्रने उमास्वातिकी दूसरी कृति तत्त्वार्थभाष्य पर टीका लिखी होगी। यदि यह कल्पना सत्य हो तो प्रस्तुत हरिभद्र बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीके विद्वान हैं ऐसा कह सकते हैं। परन्तु इसके सहज विरुद्ध जाने वाली ऐसी भी एक युक्ति है और वह यह कि विक्रम सं० १२४८ में रचित प्रवचनसारोद्धारकी वृत्तिमें उसके कर्ता "तथा च तत्त्वार्थमूलटीकायां हरिभद्रसूरिः" (पृ० २२६) ऐसा कह कर एक उल्लेख करते हैं। यहाँ दो बातें देखनी हैं, एक तो मूलटीका इस कथनसे मूलपदसे सम्बन्ध रखने वाली, और दूसरी यह है कि समीपके ही हरिभद्रका उल्लेख कैसे किया होगा। उस

[4] "तस्याभून् परवादिनिर्जयपटुः सैंहीं दधच्छूरतां। नाम्ना व्यश्नुत सिंहसूर इति च ज्ञाताखिलार्थागमः।" — तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति प्रशस्तिश्लोक ३।

[5] विस्तृत परिचयके लिये देखो, आगमक विद्वान मुनि श्री कल्याणविजयजी की लिखी हुई धर्मसंग्रहणीकी प्रस्तावना पृ० ५-१२।

प्रवचनसारोद्धारकी टीकाके कर्त्ताने हरिभद्रकी तत्त्वार्थ-टीकाको 'मूलटीका' कैसे कहा होगा? क्या वे भास्वामिशिष्य सिद्धसेनकी तत्त्वार्थीय भाष्यवृत्तिकी अपेक्षा हरिभद्रकी वृत्तिको प्राचीन मानते होंगे? यदि प्राचीन न मानते हों तो मूलपदका किसलिये प्रयोग करते? इसी रीतिसे यदि भाष्यवृत्तिकार हरिभद्र प्रशमरति-टीकाकार हरिभद्र ही हों तो वे प्रवचनसारोद्धार की वृत्तिके रचयितासे बहुत ही क़रीबके समयमें हुए हैं, ऐसा मानना चाहिये। अपनेसे बिलकुल नज़दीक में होने वाले हरिभद्रको प्रवचनसारोद्धारकी वृत्तिका कर्ता मूल टीकाकार माने और उससे प्राचीन तत्त्वार्थकी वृत्तिके कर्त्ता भास्वामिशिष्य सिद्धसेनको मूल टीकाकार न माने, यह कैसे संभव हो सकता है? इस से प्रवचनसारोद्धारकी वृत्तिका रचयिता यदि भ्रान्त न हो तो ऐसी कल्पना होती है कि तत्त्वार्थकी लघुवृत्तिका कर्त्ता हरिभद्र प्रशमरतिकी टीकाके कर्त्ता हरिभद्रसे भिन्न ही होना चाहिये। पीछे भले ही वह याकिनीसुनु हरिभद्रसे भी भिन्न हो।

देवगुप्त और यशोभद्र

देवगुप्त द्वारा की हुई भाष्यकी कारिकाओंकी व्याख्या मिलती है। उन्होंने भाष्यके ऊपर लिखनेके लिये निर्धारित की हुई व्याख्या लिखी होगी कि नहीं, यह अज्ञात है। उनकी दूसरी कृतियाँ तथा समय-सम्बन्धमें किसी प्रकारका परिचय नहीं मिला। उक्त हरिभद्रद्वारा लिखी हुई साढ़े पाँच अध्यायकी टीकाके अनन्तरका शेष सब भाग यशोभद्रने पूर्ण किया ऐसी प्रसिद्धि है, और वह हरिभद्र सूरिका शिष्य ही था, ऐसा माना जाता है; परंतु ये सब बातें नितान्त परीक्षणीय हैं। क्योंकि इस विषयमें हरिभद्रकी वृत्ति वाली लिखित पुस्तकमें आठवें और नवमें अध्यायके अंतमें "हरिभद्रोद्धृतायां तत्रैव अन्य कर्तृकायां" ऐसा उल्लेख है और दशवें अध्यायके अन्तमें 'इत्याचार्यश्रीहरिभद्रप्रारब्धायां यशोभद्रसूरिशिष्य-निर्वाहितायां तत्त्वार्थटीकायां दशमोऽध्यायः समाप्तः" ऐसा उल्लेख है। यदि यह उल्लेख वृत्तिकार का अपना ही हो तो इतना निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि किसी हरिभद्र नामके आचार्यने प्रथम वृत्ति आरम्भ की और उसे दूसरे किसी आचार्यने पूर्ण की। दूसरे आचार्य यशोभद्र कहे जाते हैं परन्तु नामसूचक उल्लेखमें तो 'यशोभद्रसूरि-शिष्य' ऐसा पद है, इससे प्रश्न होता है कि क्या अधूरी वृत्ति पूर्ण करने वाले खुद यशोभद्रसूरि ही है या यशोभद्रसूरिके शिष्य हैं? क्योंकि 'सूरि-शिष्य' यह यदि 'कर्मधारय' समास हो तो यशोभद्र ही पूर्ण करने वाले हैं ऐसा अर्थ निकलता है। और यदि 'तत्पुरुष' समास हो तो उनका शिष्य वृत्तिका पूर्ण करने वाला है ऐसा अर्थ निकलता है। उनका शिष्य हो तो वह कौन? यह विचारना बाकी ही रह जाता है, और जो वे स्वयं वृत्ति पूर्ण करने वाले हों तो वे किसके शिष्य थे? यह विचारना बाकी रहता है। क्या उनकी वृत्तिका प्रारम्भक हरिभद्रका ही शिष्य होगा या अन्य किसीका? यहाँ पर एक बात नोट करने योग्य है और वह यह कि याकिनीसूनु हरिभद्रकी कृति 'षोडशक' के ऊपर यशोभद्रनामक सूरिने टीका लिखी है। क्या यही यशोभद्र प्रस्तुत यशोभद्र होंगे या कोई दूसरे?

मलयगिरि

मलयगिरि[६] की लिखी तत्त्वार्थभाष्य परकी व्या-

६ मलयगिरिने तत्त्वार्थटीका लिखी थी ऐसी मान्यता उनकी प्रज्ञापनावृत्तिमें उपलब्ध होने वाले निम्न उल्लेख तथा इसी प्रकारके

ख्या नहीं मिलती। ये विक्रमकी १२वीं, १३वीं शताब्दीमें होने वाले विश्रुत श्वेताम्बर विद्वानोंमेंसे एक है। ये आचार्य हेमचंद्रके समकालीन और सर्वश्रेष्ठ टीकाकारके तौर पर प्रसिद्ध है। इनकी कोड़ियों महत्त्वपूर्ण कृतियाँ[७] उपलब्ध हैं।

चिरंतनमुनि

चिरंतनमुनि एक अज्ञात नामके श्वेताम्बर साधु है। इन्होंने तत्त्वार्थके ऊपर साधारण टिप्पण लिखा है, ये विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके बाद किसी समय हुए हैं; क्योंकि इन्होंने अध्याय ५, सूत्र ३१ के टिप्पणमें चौदहवीं शताब्दीमें होने वाले मल्लिषेणकी 'स्याद्वादमंजरी' का उल्लेख किया है।

वाचक यशोविजय

वाचक यशोविजयकी लिखी भाष्य परकी वृत्ति का अपूर्ण प्रथम अध्याय-जितना भाग मिलता है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण जैन संप्रदायमें सबसे अन्तमें होने वाले सर्वोत्तम प्रामाणिक विद्वानके तौर पर प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्याबंध कृतियाँ[८] उपलब्ध हैं। *सत्रहवीं, अठारवीं शताब्दी तक होने* वाले न्यायशास्त्रके विकासको अपनाकर इन्होंने जैन श्रुतको तर्कबद्ध किया है और भिन्न भिन्न विषयों पर अनेक प्रकरण लिखकर जैनतत्त्वज्ञानके सूक्ष्म अभ्यास का मार्ग तैयार किया है।

गणी यशोविजय

गणी यशोविजय ऊपरके वाचक यशोविजयसे भिन्न हैं। ये कब हुए? यह मालूम नहीं। इनके विषयमें दूसरा भी ऐतिहासिक परिचय इस समय कुछ नहीं है; इनकी कृतिके तौर पर अभी तक सिर्फ तत्त्वार्थसूत्र परकी गुजराती टिप्पणी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य कुछ रचना की होगी या नहीं, वह ज्ञात नहीं। टिप्पणीकी भाषा और शैलीको देखते हुए ये सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दीमें हुए जान पड़ते हैं। इनकी नोट करने योग्य दो विशेषतायें हैं।

(१) जैसे वाचक यशोविजयजी वगैरह श्वेताम्बर विद्वानोंने 'अष्टसहस्री' जैसे दिगम्बरीय ग्रन्थों पर टीकाएँ रची हैं, वैसे ही गणी यशोविजयजीने भी तत्त्वार्थसूत्रके दिगम्बरीय सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठको लेकर उस पर मात्र सूत्रोंकी अर्थपरक टिप्पणी लिखी है, और टिप्पणी लिखते हुए इन्होंने जहाँ जहाँ श्वेताम्बरों और दिगम्बरोंका मतभेद या मतविरोध आता है वहाँ सर्वत्र श्वेताम्बर परम्पराका अनुसरण करके ही अर्थ किया है। इस प्रकार सूत्रपाठ दिगम्बरीय होते हुए भी अर्थ श्वेताम्बरीय है।

(२) आज तक तत्त्वार्थसूत्र पर गुजरातीमें टिप्पणी लिखने वाले प्रस्तुत यशोविजय गणी ही प्रथम गिने जाते हैं, क्योंकि उनके सिवाय तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती में किसीका कुछ लिखा हुआ अभी तक भी जाननेमें नहीं आया।

गणी यशोविजयजी श्वेताम्बर हैं, यह बात तो निश्चित है; क्योंकि टिप्पणीके अन्तमें ऐसा उल्लेख[९] है,

दूसरे उल्लेखों परसे स्पष्ट हुई है —

"तथाप्राप्तकारित्वं तत्त्वार्थटीकादौ सविस्तरेण प्रमाधितमिति ततोऽवधारणीयम्।"

—पृ०, १० पृ० २६८

७ देखो, उक्त मुनिलिखित धर्मसंग्रहणीकी प्रस्तावना पृ० ३६।

८ देखो, प्रतापविजय जी-सम्पादित प्रतिमाशतककी प्रस्तावना।

९. "इति श्वेताम्बराचार्यश्रीउमास्वामिगण (णि) कृततत्त्वार्थसूत्रं तस्य बालावबोधः श्रीयशोविजयगणि-

और दूसरा सबल प्रमाण तो उनकी टिप्पणी ही है। सूत्रका पाठभेद[१०] और सूत्रोंकी संख्या दिगम्बरीय स्वीकार करने पर भी उसका अर्थ किसी जगह उन्होंने दिगंबर परम्पराके अनुकूल नहीं किया। हाँ यहाँ एक प्रश्न होता है, और वह यह कि यशोविजयजी श्वेताम्बर होते हुए भी उन्होंने दिगम्बर सूत्रपाठ कैसे लिया होगा ? क्या वे श्वेताम्बरीय सूत्रपाठसे परिचित नहीं थे ? या परिचित होने पर भी उन्हें दिगम्बरीय सूत्र पाठमें ही श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ की अपेक्षा अधिक महत्व दिखाई दिया होगा ? इसका उत्तर यही उचित जान पड़ता है कि वे श्वेताम्बर सूत्रपाठसे परिचित तो अवश्य होंगे ही और उनकी दृष्टिमें उसी पाठका महत्व भी होगा ही; क्योंकि वैसा न होता तो वे श्वेताम्बर-परम्पराके अनुसार टिप्पणी रचते ही नहीं; ऐसा होने पर भी उन्होंने दिगम्बरीय सूत्रपाठ ग्रहण किया इस का कारण यह होना चाहिये कि जिस सूत्रपाठके आधार पर दिगम्बरीय सभी विद्वान हजार वर्ष हुए दिगम्बर परम्पराके अनुसार[११] ही श्वेताम्बर आगमों से विरुद्ध अर्थ करते आए हैं, उसी सूत्रपाठमेंसे श्वेताम्बर परम्पराको ठीक अनुकूल पड़े, ऐसा अर्थ निकालना और करना बिलकुल शक्य तथा संगत है, ऐसी छाप दिगम्बरीय पक्ष पर डालनी और साथ ही श्वेताम्बरीय अभ्यासियोंको बतलाना कि दिगम्बरीय सूत्रपाठ या श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ चाहे जो लो इन दोनोंमें पाठभेद होते हुए भी अर्थ तो एक ही प्रकार का निकलता है और वह श्वेताम्बर परम्पराको ठीक बैठे वैसा ही है। इससे दिगम्बरीय सूत्रपाठसे भड़कने की या उसे विरोधी पक्षका सूत्रपाठ समझ कर फेंक देनेकी कोई जरूरत नहीं। तुम चाहो तो भाष्यमान्य सूत्रपाठ सीखो या सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ याद करो। तत्व दोनोंमें एक ही है। इस रीतिसे एक तरफ दिगम्बरीय विद्वानोंको उनके सूत्रपाठमेंसे सरल रीतिसे सत्य अर्थ क्या निकल सकता है यह बतलानेके लिये और दूसरी तरफ श्वेताम्बर अभ्यासियोंको पक्षभेदके कारण दिगम्बरीय सूत्रपाठसे न भड़कें ऐसा समझाने के उद्देश्यसे ही, इन यशोविजयजीने श्वेताम्बरीय सूत्र-पाठ छोड़ कर दिगम्बरीय सूत्रपाठ पर टिप्पणी लिखी हो, ऐसा जान पड़ता है।

पूज्यपाद

पूज्यपादका असली नाम देवनन्दी है। ये विक्रम की पाँचवीं, छठी शताब्दीमें हुए हैं। इन्होंने व्याकरण आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमेंसे कुछ तो उपलब्ध[१२] हैं और कुछ अभी तक मिले नहीं। दिगम्बर व्याख्याकारोंमें पूज्यपादसे पहले सिर्फ शिवकोटि[१३]

कृत समाप्तः।"—प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजीके शास्त्रसंग्रहमेंकी लिखित टिप्पणीकी पुस्तक।

१० इसे स्वीकार करनेमें अपवाद भी है जो कि बहुत ही थोड़ा है। उदाहरणके तौर पर अध्याय ४ का १९ वां सूत्र उन्होंने दिगम्बरीय सूत्रपाठमेंसे नहीं लिया। दिगम्बर सोलह स्वर्ग मानते हैं इस लिये उनका पाठ लेनेमें श्वेताम्बरीयता नहीं रह सकती, इससे इन्होंने इस स्थल पर श्वेताम्बर सूत्रपाठोंमेंसे ही बारह स्वर्गोंका नाम-वाला सूत्र लिया है।

११ देखो, सर्वार्थसिद्धि २, ५३ की; ६, १३ की; ८, ११ की और १०, ९ की।

१२ देखो, जैनसाहित्यसंशोधक प्रथम भाग पृ० ८३।

१३ शिवकोटिकृत तत्त्वार्थव्याख्या या उसके अवतरण वगैरह आज उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने तत्त्वार्थ पर कुछ लिखा था ऐसी सूचना कुछ अर्वाचीन शिलालेखोंमेंकी प्रशस्ति परसे होती है +। शिवकोटि समन्तभद्रके शिष्य थे, ऐसी मान्यता है। देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ ९६।

+ श्रवणबेल्गोलका शिलालेख नं० १०५ शक संवत १३२०

के ही होनेकी सूचना मिलती है*। इन्हींकी दिगम्बरीयत्व समर्थक 'सर्वार्थसिद्धि' नामकी तत्वार्थव्याख्या पीछे सम्पूर्ण दिगम्बरीय विद्वानोंको आधारभूत हुई है।

भट्ट अकलङ्क

भट्ट अकलङ्क, नवमीं× शताब्दीके विद्वान हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' के बाद तत्वार्थ पर इनकी ही व्याख्या मिलती है, जो 'राजवार्तिक' के नामसे प्रसिद्ध है। ये जैन न्यायप्रस्थापक विशिष्ट गण्यमान्य विद्वानोंमें से एक हैं। इनकी कितनी ही कृतियाँ[१४] उपलब्ध हैं, जो हरेक जैन न्यायके अभ्यासीके लिये महत्वकी है।

विद्यानन्द

विद्यानन्दका दूसरा नाम 'पात्रकेसरी' प्रसिद्ध है। परन्तु पात्रकेसरी विद्यानंदसे भिन्न थे यह विचार हालमें ही पं० जुगलकिशोरजीने प्रस्तुत किया है.

जिसके स्पष्टीकरणके लिये उनके 'अनेकान्त' मासिक पत्रकी दूसरी किरण देखनी चाहिए। ये विद्यानन्द भी विक्रमकी नवमी शताब्दीमें हुए हैं। इनकी कितनी ही कृतियाँ उपलब्ध हैं[१५]। ये भारतीय दर्शनोंके विशिष्ट अभ्यासी हैं और इन्होंने तत्वार्थ पर 'श्लोकवार्तिक' नामकी पद्यबंध विस्तृत व्याख्या लिख कर कुमारिल जैसे प्रसिद्ध मीमांसक ग्रन्थकारोंकी स्पर्धा की है और जैनदर्शन पर किये गये मीमांसकोंके प्रचण्ड आक्रमण का सबल उत्तर दिया है।

श्रुतसागर

'श्रुतसागर' नामके दो दिगम्बर पण्डितोंने तत्वार्थ पर दो जुदी जुदी टीकाएँ लिखी हैं×।

विबुधसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव और अभयनन्दिसूरि।

ये सभी दिगम्बर विद्वान हैं और इन्होंने तत्वार्थ पर साधारण व्याख्यायें लिखी हैं+। इनके विषयमें खास परिचय नहीं मिला। इनने संस्कृत व्याख्याकारोंके अतिरिक्त तत्वार्थ पर भाषामें लिखने वाले अनेक दिगम्बर विद्वान हो गये हैं, जिनमेंसे एकने

का लिखा हुआ है, उसमें तत्वार्थसूत्रके टीकाकाररूपसे शिवकोटिके उल्लेखका जो वाक्य है वह उनकी उस टीका परसे ही उद्धृत किया गया है, ऐसा उसके **एतत् तत्त्वार्थसूत्रं सद्‌लंचकार** इस अंशमें प्रयुक्त हुए '**एतत्**' शब्द परसे जान पड़ता है।

—**सम्पादक**

* ऐसा कहना कुछ ठीक मालूम नहीं होता: क्योंकि सूचना तो शिवकोटिसे पहले समन्तभद्रकी भी मिलती है और ९वीं शताब्दी की बनी हुई 'धवला' टीका तकमें उनके गंधहस्तिमहाभाष्यका उल्लेख है। देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' तथा 'अनेकान्त' की चौथी किरण पृ० २१६ से।

—**सम्पादक**

× नवमी नहीं, किन्तु ७ वीं ८ वीं शताब्दीके विद्वान हैं। (देखो, स्वामी समन्तभद्र पृ० १२०) ९ वीं शताब्दीमें या उससे भी पहले तो जिनसेनद्वारा स्तुत अकलङ्ककृत 'लघीयस्त्रय'के टीकाकार 'प्रभाचन्द्र' हुए हैं जो अकलङ्कदेवसे बहुत पीछेके—प्रायः एक शताब्दीसे भी अधिक पीछेके-विद्वान हैं। देखो,'अनेकान्त' किरण ३ पृ० १३० से।

—**सम्पादक**

१४ देखो, लघीयस्त्रयकी प्रस्तावना।

१५ देखो, अष्टसहस्री और तत्वार्थश्लोकवार्तिककी प्रस्तावना।

× नहीं मालूम यह उल्लेख किस आधार पर किया गया है। जहाँ तक मुझे दिगम्बर साहित्यका परिचय है तत्वार्थसूत्र पर एक ही श्रुतसागर की 'श्रुतसागरी' नामकी टीका है और उसके रचयिता विक्रमकी १६वीं शताब्दीके विद्वान् तथा विद्यानन्दि भट्टारकके शिष्य हैं।

सम्पादक

\+ इनके सिवाय भास्करनन्दी, पद्मकीर्ति, धनकीर्ति, राजेन्द्रमौलि और प्रभाचन्द्र आदि और भी कितने ही दिगम्बर विद्वानोंने तत्वार्थ सूत्र पर संस्कृत व्याख्याएँ लिखी हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें जैसे तत्वार्थसूत्रका अधिक प्रचार है वैसे ही उसकी व्याख्याओंकी भी संख्या अधिक है।

सम्पादक

ने तो कर्णाटक भाषामें भी टीका लिखी है‡, और बाकी सबने हिन्दी भाषा[१६]में टीका लिखी है।

(ख) व्याख्याएँ

अपने ऊपर रची हुई साम्प्रदायिक व्याख्याओंके विषयमें 'तत्वार्थाधिगम' सूत्रकी तुलना 'ब्रह्मसूत्र' के साथ हो सकती है। जिस प्रकार बहुतसे विषयों में परस्पर बिलकुल भिन्न मत रखने वाले अनेक आचार्योंने[१७] ब्रह्मसूत्र पर व्याख्याएँ लिखी हैं और उसमेंसे ही अपने वक्तव्यको उपनिषदोंके आधार पर सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। उसी प्रकार दिगम्बर श्वेताम्बर इन दोनों सम्प्रदायोंके विद्वानोंने तत्त्वार्थ पर व्याख्याएँ लिखी हैं और इसमेंसे ही अपने परस्पर विरोधी मन्तव्योंको भी आगमके आधार पर फलित करनेका प्रयत्न किया है। इस परसे सामान्य बात इतनी ही सिद्ध होती है कि जैसे ब्रह्मसूत्रकी वेदान्तसाहित्यमें प्रतिष्ठा होनेके कारण भिन्न भिन्न मत रखने वाले प्रतिभाशाली आचार्योंने उस ब्रह्मसूत्रका आश्रय लेकर उसके द्वारा ही अपने विशिष्ट वक्तव्यको दर्शाने की आवश्यकता अनुभव की वैसे ही जैन वाङ्मयमें जमी हुई तत्त्वार्थाधिगमकी प्रतिष्ठाके कारण ही उसका आश्रय लेकर दोनों सम्प्रदायोंके विद्वानोंने अपने अपने मन्तव्योंको प्रकट करनेकी जरूरत मालूम की है। इतना स्थूल साम्य होने हुए भी ब्रह्मसूत्र और तत्वार्थ की साम्प्रदायिक व्याख्याओंमें एक खास महत्वका भेद है और वह यह कि जगत्, जीव, ईश्वर आदि जैसे तत्वज्ञानके मौलिक विषयोंमे ब्रह्मसूत्रके प्रसिद्ध व्याख्याकार एक दूसरेसे बहुत ही भिन्न पड़ते हैं और बहुत वार तो उनके विचारोंमें पूर्व-पश्चिम-जितना अंतर दिखलाई देता है; तब दिगम्बर, श्वेताम्बर संप्रदायका अनुसरण करने वाले तत्वार्थके व्याख्याकारों मे वैसा नहीं है। उनके बीचमें तत्वज्ञानके मौलिक विषयों पर कुछ भी भेद नहीं है और जो कुछ थोड़ा बहुत भेद है भी वह बिलकुल साधारण जैसी बातोंमें है और वह भी ऐसा नहीं कि जिसमें समन्वयको अवकाश ही न हो अथवा वह पूर्व-पश्चिम-जितना अंतर हो। वस्तुतः तो जैनतत्वज्ञानके मूल सिद्धान्तों के सम्बंधमें दिगम्बर, श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमे खास मतभेद पड़ा ही नहीं; इससे उनकी तत्वार्थव्याख्याओं में दिखाई देने वाला मतभेद बहुत गम्भीर नहीं गिना जाता।

तत्वार्थाधिगम सूत्रके ही ऊपर लिखी हुई प्राचीन, अर्वाचीन, छोटी, बड़ी, संस्कृत तथा लौकिक भाषामय अनेक व्याख्याएँ हैं; परन्तु उनमेंसे जिनका ऐतिहासिक महत्व हो, जिनने जैनतत्वज्ञानको व्यवस्थित करनेमें तथा विकसित करनेमें प्रधान भाग लिया हो और जिनका खास दार्शनिक महत्व हो ऐसी चार ही व्याख्याएँ इस समय मौजूद हैं। उनमेंसे तीन तो दिगंबर संप्रदायकी हैं, जो मात्र साम्प्रदायिक भेदकी ही नहीं बल्कि विरोध की तीव्रता होनेके बाद प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं; और एक खुद सूत्रकार वाचक उमास्वाति की स्वोपज्ञ ही है। साम्प्रदायिक विरोधके जम जानेके बाद किसी भी श्वेताम्बर आचार्यके द्वारा मूल सूत्रों पर लिखी हुई दूसरी वैसी महत्वकी व्याख्या अभी तक जाननेमें नहीं आई। इससे इन चार व्याख्याओंके

‡ एकने ही नहीं किन्तु दिवाकरनन्दी, बालचन्द्र आदि कई दिगम्बरविद्वानोंने कर्णाटक भाषामें टीकाएँ लिखी हैं। —सम्पादक

१६ इसके लिये देखो, तत्त्वार्थभाष्य हिन्दी अनुवादकी प्रस्तावना, पं० श्री नाथूरामजी प्रेमीलिखित।

१७ शंकर, निम्बार्क, मध्व, रामानुज, वल्लभ, आदिने।

विषयमें ही प्रथम यहाँ पर कुछ चर्चा करना उचित जान पड़ता है।

भाष्य और सर्वार्थसिद्धि

'भाष्य' और 'सर्वार्थसिद्धि' इन दोनों टीकाओंके विषयमें कुछ विचार करनेके पहले इन दोनोंके सूत्र-पाठोंके विषयमें विचार करना ज़रूरी है। यथार्थमें एक ही होते हुए भी पीछेसे साम्प्रदायिक भेदके कारण सूत्रपाठ दो हो गये हैं, जिनमें एक श्वेताम्बरीय और दूसरा दिगम्बरीय तौर पर प्रसिद्ध है। श्वेताम्बरीय माना जानेवाले सूत्रपाठका स्वरूप भाष्यके साथ ठीक बैठता होनेसे, उसे 'भाष्यमान्य' कह सकते हैं, और दिगंबरीय माना जानेवाले सूत्रपाठका स्वरूप सर्वार्थ-सिद्धिके साथ ठीक बैठता होनेसे उसे 'सर्वार्थसिद्धि-मान्य' कह सकते हैं। सभी श्वेताम्बरीय आचार्य भाष्यमान्य सूत्रपाठका ही अनुसरण करते हैं, और सभी दिगम्बरीय आचार्य सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ का अनुसरण करते हैं। सूत्रपाठ सम्बंधमें नीचेकी चार बातें यहाँ जाननी ज़रूरी हैं :—

१. **सूत्रसंख्या**—भाष्यमान्य सूत्रपाठकी संख्या ३४४* और सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठकी संख्या ३५७ है।

२. **अर्थफेर**—सूत्रोंकी संख्या और कहीं कहीं शाब्दिक रचनामें फेर होते हुए भी मात्र मूलसूत्रों परसे ही अर्थमें महत्वपूर्ण फेरफार दिखाई दे ऐसे तीन स्थल हैं, बाकी सब मूलसूत्रों परसे खास अर्थमें फेर नहीं पड़ता। इन तीन स्थलोंमें स्वर्गकी बारह और सोलह संख्याविषयक पहला (४, १९), कालका स्वतन्त्र अस्तित्व-नास्तित्व मानने विषयक दूसरा (५, ३८) और तीसरा स्थल पुण्य प्रकृतियोंमें हास्य आदि चार प्रकृतियोंके होने न होने का (८, २६)।

३. **पाठान्तरविषयक फेर**—दोनों सूत्रपाठोंके पार-स्परिक फेरके अतिरिक्त फिर इस प्रत्येक सूत्रपाठमें भी फेर आता है। सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठमें ऐसा फेर खास नहीं है, एकाध स्थल पर सर्वार्थसिद्धिके कर्त्ताने जो पाठान्तर नोट किया है[18] उसको यदि अलग कर दिया जाय तो सामान्य तौर पर यही कहा जा सकता है कि सब ही दिगम्बरीय टीकाकार सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठमें कुछ भी पाठभेद सूचित नहीं करते। इससे ऐसा कहना चाहिये कि पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि रचते समय जो सूत्रपाठ प्राप्त किया तथा सुधारा बढ़ाया उसी को निर्विवाद रूपमें पीछेके सभी दिगम्बरीय टीकाकारोंने मान्य रक्खा। जब कि भाष्यमान्य सूत्रपाठके विषयमें ऐसा नहीं, यह सूत्र पाठ श्वेताम्बरीय तौर पर एक होने पर भी उसमें कितने ही स्थानों पर भाष्यके वाक्य सूत्ररूपमें दाखिल हो जानेका, कितने ही स्थानों पर सूत्ररूपमें माने जाने वाले वाक्योंका भाष्यरूपमें भी गिने जानेका, कहीं कहीं असलके एक ही सूत्रके दो भागोंमें बट जानेका और कहीं असलके दो सूत्र मिल कर वर्तमानमें एक ही सूत्र हो जानेका सूचन भाष्यकी लभ्य दोनों टीकाओंमें सूत्रोंकी पाठान्तरविषयक चर्चा परसे स्पष्ट होता है[19]।

* जब भाष्यमान्य सूत्रपाठ विवादग्रस्त और अनिश्चित है, जैसा कि इन्हीं पंक्तियोंमें आगे लेखक महोदयके कथनसे स्पष्ट है, तब सूत्रोंकी इस निश्चित संख्याका आधार क्या है, यह कुछ समझमें नहीं आया। मेरे देखनेमें एक ऐसा श्वेताम्बर सूत्रपाठ आया है जिसमें सूत्रोंकी संख्या ३४६ है और इसी पर 'अर्मसिंह' का टिप्पण है। यह प्रति भेलसाके सेठ राजमलजी बड़जात्याके पास है।

—सम्पादक

18 देखो, २, ५३।

19 देखो, २, १९। २, ३७। ३, ११। ५, ४२। ७, ३ और ५ इत्यादि।

४ **असलीपना**—उक्त दोनों सूत्रपाठोंमें असली कौन और फेरफार-प्राप्त कौन? यह प्रश्न सहज उत्पन्न होता है; इस वक्त तकके किये हुए विचार परसे मुझे निश्चय हुआ है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ ही असली है अथवा वह सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठकी अपेक्षा असली सूत्रपाठ के बहुत ही नजदीक (निकट) है।

सूत्रपाठ-विषयमें इतनी चर्चा करनेके पश्चात् अब उनके ऊपर सर्व प्रथम रचे हुए भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि इन दो टीकाओंके विषयमें कुछ विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। भाष्यमान्य सूत्रपाठका असलीपना अथवा असली पाठके विशेष निकट होना तथा पूर्व कथनानुसार भाष्यका वा० उमास्वाति कर्तृकपना दिगम्बर परंपरा कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती, यह स्पष्ट है; क्योंकि दिगम्बर परंपरामान्य सभी तत्वार्थ परकी टीकाओंका मूल आधार सर्वार्थसिद्धि और उसका मान्य सूत्रपाठ ही है। इससे भाष्य या भाष्यमान्य सूत्र पाठको ही उमास्वातिकर्तृक मानते हुए उनके माने हुये सूत्रपाठ और टीकाग्रंथोंका प्रामाण्य पूरा पूरा नहीं रहता। इससे किसी भी स्थल पर लिखित प्रमाण न होते हुए भी दिगम्बर परंपराका भाष्य और भाष्यमान्य सूत्रपाठके विषयमें क्या कहना हो सकता है, उसे साम्प्रदायिकत्वका हरेक अभ्यासी कल्पना कर सकता है। दिगम्बर परम्परा सर्वार्थसिद्धि और उसके मान्य सूत्रपाठको प्रमाण-सर्वस्व मानती है और ऐसा मानकर यह स्पष्ट सूचित करती है कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है और उसका मान्य सूत्रपाठभी असली नहीं। ऐसा होनेसे भाष्य और सर्वार्थसिद्धि दोनोंका प्रामाण्य-विषयक बलाबल जाँचनेके बिना प्रस्तुत परिचय अधूराही रहता है। भाष्य की स्वोपज्ञताके विषयमें कोई सन्देह न होते हुए भी थोड़ी देर युक्ति के लिये यदि ऐसा मान लिया जाय कि यह स्वोपज्ञ नहीं तो भी इतना निर्विवादरूपसे कहा जा सकता है कि भाष्य सर्वार्थसिद्धिकी अपेक्षा प्राचीन तथा कोई रूढ़ श्वेताम्बरीय नहीं ऐसे तटस्थ विद्वान्-द्वारा लिखी गई तत्वार्थसूत्र परकी पहली ही टीका है; क्योंकि वह सर्वार्थसिद्धि जैसी साम्प्रदायिक नहीं। इस तत्वको समझनेके लिये यहाँ तीन बातोंकी पर्यालोचना की जाती है—१ शैलीभेद २ अर्थविकास और ३ साम्प्रदायिकता।

शैलीभेद—किसी भी एकही सूत्र परके भाष्य और उसकी सर्वार्थसिद्धि सामने रख कर तुलना की दृष्टिसे देखने वाले अभ्यासीको ऐसा मालूम पड़े बिना कभी नहीं रहता कि सर्वार्थसिद्धिसे भाष्य की शैली प्राचीन है तथा पद पद पर सर्वार्थसिद्धिमें भाष्यका प्रतिबिम्ब है। इन दोनों टीकाओं से भिन्न और दोनों से प्राचीन ऐसी तीसरी कोई टीका तत्त्वार्थसूत्र पर होनेका यथेष्ट प्रमाण जब तक न मिले तब तक भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की तुलना करने वाले ऐसा कहे बिना कभी नहीं रहेंगे कि भाष्य को सामने रख कर सर्वार्थसिद्धि की रचना की गई है। भाष्य की शैली प्रसन्न और गंभीर होते हुए भी दार्शनिकत्व की दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि की शैली भाष्य की शैली की अपेक्षा विशेष विकसित और विशेष परिशीलित है ऐसा निःसन्देह जान पड़ता है। संस्कृत भाषाके लेखन और जैनसाहित्यमें दार्शनिक शैलीके जिस विकासके पश्चात् सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है वह विकास भाष्यमें दिखाई नहीं देता; ऐसा होने पर भी इन दोनों की भाषामें जो बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है वह स्पष्ट सूचित करता है कि दोनोंमें भाष्य ही प्राचीन है।

उदाहरणके तौर पर पहले अध्यायके पहले सूत्रके

भाष्यमें 'सम्यक्' शब्दके विषयमें लिखा है कि 'सम्यक्' निपात है अथवा 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अञ्च' धातुका रूप है; इसी विषयमें सर्वार्थसिद्धिकार लिखते हैं कि 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् व्युत्पत्ति-रहित अखंड है अथवा व्युत्पन्न है—धातु और प्रत्यय दोनों मिल कर व्युत्पत्तिपूर्वक सिद्ध हुआ है। 'अञ्च' धातु को 'क्विप्' प्रत्यय लगाया जाय तब 'सम् + अञ्चति' इस रीति से 'सम्यक्' शब्द बनता है। 'सम्यक्' शब्द-विषयक निरूपणकी उक्त दो शैलियोंमें भाष्यकी अपेक्षा सर्वार्थसिद्धिकी स्पष्टता विशेष है। इसी प्रकार भाष्य में '**दर्शन**' शब्दकी व्युत्पत्तिविषयमें सिर्फ इतना ही लिखा है कि 'दर्शन' 'दृशि' धातुका रूप है, जब कि सर्वार्थसिद्धिमें 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकारसे स्पष्ट बतलाई गई है। भाष्यमें 'ज्ञान' और 'चारित्र' शब्दोंकी व्युत्पत्ति स्पष्ट बतलाई नहीं; जब कि सर्वार्थसिद्धिमें इन दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारसे स्पष्ट बतलाई है और बादको उसका जैनदृष्टिसे समर्थन किया गया है। इसी तरहसे समासमें दर्शन और ज्ञान शब्दोंमेंसे पहले कौन आवे और पीछे कौन आवे यह सामासिक चर्चा भाष्यमें नहीं; जब कि सर्वार्थसिद्धिमें वह स्पष्ट है। इसी तरह पहले अध्याय के दूसरे सूत्रके भाष्यमें 'तत्त्व' शब्दके सिर्फ दो अर्थ सूचित किये गये हैं; जब कि सर्वार्थसिद्धिमें इन दोनों अर्थोंकी उपपत्ति कीगई है और 'दृशि' धातुका श्रद्धा अर्थ कैसे लेना, यह बात भी दर्शाई गई है, जो भाष्य में नहीं है।

अर्थविकास[20] —अर्थकी दृष्टिसे देखिये तो भी भाष्यकी अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि अर्वाचीन है ऐसा ही मालूम पड़ता है। जो एक बात भाष्यमें होती है उसको विस्तृत करके—उसके ऊपर अधिक चर्चा कर के—सर्वार्थसिद्धिमें निरूपण किया गया है। व्याकरणशास्त्र और जैनेतर दर्शनोंकी जितनी चर्चा सर्वार्थसिद्धिमें है उतनी भाष्यमें नहीं। जैन परिभाषाका, संक्षिप्त होते हुए भी, जो स्थिर विशदीकरण और वक्तव्य जो पृथक्करण सर्वार्थसिद्धिमें है वह भाष्यमें कमतीसे कमती है। भाष्यकी अपेक्षा सर्वार्थसिद्धिकी तार्किकता बढ़ जाती है, और भाष्यमें नहीं ऐसे विज्ञानवादी बौद्ध आदिकोंके मन्तव्य उसमें जोड़े जाते हैं और दर्शनान्तरका खंडन जोर पकड़ता है। ये सब बातें सर्वार्थसिद्धिकी अपेक्षा भाष्यकी प्राचीनताको सिद्ध करती हैं।

साम्प्रदायिकता[21] उक्त दो बातोंकी अपेक्षा साम्प्रदायिकताकी बात अधिक महत्व की है। कालतत्व, केवलीकवलाहार, अचेलकत्व और स्त्रीमोक्ष जैसे विषयोंने तीव्र मतभेदका रूप धारण करनेके बाद और इन बातों पर साम्प्रदायिक आग्रह बँध जाने के बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है, जब कि भाष्यमें यह साम्प्रदायिक अभिनिवेशका तत्व दिखाई नहीं देता। जिन जिन बातोंमें रूढ़ श्वेताम्बर सम्प्रदायके साथमें दिगम्बर सम्प्रदायका विरोध है उन सभी बातों को सर्वार्थसिद्धिके प्रणेताने सूत्रोंमें फेर-फार करके अ

२० उदाहरणके तौर पर तुलना करो १, २, १, १२, १, ३२ और २, १ इत्यादि सूत्रोंका भाष्य और सर्वार्थसिद्धि।

२१ उदा० [illegible] २८, [illegible] १३ [illegible] १ [illegible] ११ [illegible] इत्यादि सूत्रोंकी सर्वार्थसिद्धिके साथ [illegible] सूत्रोंका भाष्य।

[illegible] इस [illegible] में [illegible] कहना [illegible] तक [illegible] होगा [illegible] तक यह भले प्रकारसे सिद्ध न कर दिया जाय कि सर्वार्थसिद्धिका सूत्रपाठ खुद सर्वार्थसिद्धिकारके द्वारा ही निर्णीत किया गया है। लेखक महोदय यदि इस विषयमें अभी सन्दिग्ध हैं और [illegible] तो [illegible]

या उनके अर्थमें खींचतान करके या असंगत अध्याहार आदि करके चाहे जिस रीतिसे दिगम्बरसम्प्रदाय के अनुकूल पड़े उस प्रकार सूत्रोंमेंसे उत्पन्न करके निकालनेका साम्प्रदायिक प्रयत्न किया है, वैसा प्रयत्न भाष्यमें कहीं दिखाई नहीं देता; इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि सर्वार्थसिद्धि साम्प्रदायिक विरोधका वातावरण जम जानेके बाद पीछेसे लिखी गई है और भाष्य इस विरोधके वातावरणसे मुक्त है।

तब यहाँ प्रश्न होता है कि यदि इस प्रकार भाष्य तटस्थ और प्राचीन हो तो उसे दिगम्बर परम्पराने छोड़ा क्यों? इसका उत्तर यही है कि सर्वार्थसिद्धिके कर्त्ताको जिन बातोंमें श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यताओंका जो खंडन करना था उनका वह खंडन भाष्य में नहीं था, इतना ही नहीं किन्तु भाष्य अधिकांशमें रूढ़ दिगम्बर परम्पराका पोषक हो सके ऐसा भी नहीं था, और बहुतसे स्थानों पर तो वह उलटा दिगम्बर परम्परासे बहुत विरुद्ध जाता था। इससे पूज्यपादने भाष्यको एक तरफ़ रख सूत्रों पर स्वतन्त्र टीका लिखी और ऐसा करते हुए सूत्रपाठमें इष्ट सुधार तथा वृद्धि की [२२] और उनकी व्याख्यामें जहाँ मतभेदवाली बात आई वहाँ स्पष्ट रीतिसे दिगम्बर मन्तव्योंका ही स्थापन किया, ऐसा करनेमें पूज्यपादको कुन्दकुन्दके ग्रंथ मुख्य आधारभूत हुए जान पड़ते हैं। ऐसा होनेसे दिगम्बर परंपराने सर्वार्थसिद्धिको मुख्य प्रमाणरूपसे स्वीकार कर लिया और भाष्य स्वाभाविक रीतिसे ही श्वेताम्बर परंपरामें मान्य रह गया। भाष्य पर किसी भी दिगम्बर आचार्यने टीका नहीं लिखी, उसका उल्लेख भी नहीं किया, इससे वह दिगम्बर परम्परासे भिन्न ही रह गया; और श्वेताम्बरीय अनेक आचार्यों ने भाष्य पर टीकाएँ लिखी हैं और कहीं कहीं पर भाष्यके मन्तव्योंका विरोध किये जाने पर भी समष्टि रूपमें उसका प्रामाण्य स्वीकार किया है, इसीसे किसी तटस्थ परम्पराके प्राचीन विद्वान्द्वारा रचा होने पर भी वह श्वेताम्बर सम्प्रदायका प्रमाणभूत ग्रन्थ हो गया है।

दो वार्तिक

ग्रन्थोंका नामकरण भी आकस्मिक नहीं होता; मिल सके तो उसका भी विशिष्ट इतिहास है ही। पूर्वकालीन और समकालीन विद्वानोंकी भावनामेंसे तथा साहित्यके नामकरण प्रवाहमेंसे प्रेरणा पाकर ही ग्रन्थकार अपनी कृतियोंका नामकरण करते हैं। पतंजलि के व्याकरण परके महाभाष्यकी प्रतिष्ठाका असर पिछले अनेक ग्रन्थोंकारों पर हुआ, यह बात हम उनकी कृतिके 'भाष्य' नामसे जान सकते हैं। इसी असरने वा०उमास्वातिको भाष्य नामकरण करनेके लिये प्रेरित किया हो, ऐसा सम्भव है। बौद्ध साहित्यमें एक ग्रन्थका नाम 'सर्वार्थसिद्धि' होनेका स्मरण है, जिसका

२१वें फुटनोटमें ऐसी व्याख्याकी सम्भावनाको स्वीकार किया है जो पूज्यपादसे भी पहले लिखी गई हो और जिसका सूत्रपाठ भी वही हो जो सर्वार्थसिद्धिमें स्वीकृत हुआ है। इस लिये उनका यहां पर ऐसा निश्चितरूपसे लिखना उचित मालूम नहीं होता।—सम्पादक

२२ जहां जहां अर्थकी खींचतान की है अथवा पुलाक आदि जैसे स्थलों पर ठीक बैठता विवरण नहीं हो सका उन सूत्रोंको क्यों न निकाल डाला? इस प्रश्नका उत्तर सूत्रपाठकी अति प्रसिद्धि और निकाल डालने पर अप्रामाण्यका आक्षेप आनेका डर हो ऐसा जान पड़ता है।

[२३ यदि ऐसे ही डरका यह परिणाम माना जाय तो फिर कितने ही भाष्यमान्य सूत्र सर्वार्थसिद्धिमें जो नहीं हैं उनके विषयमें वह डर कहाँ गया? यह एक प्रश्न खड़ा होता है। इस लिये यहां भी पूज्यपादद्वारा सूत्रोंमें सुधार आदिकी जो बात उक्त निश्चित रूप से कही गई है वह आपत्तिके योग्य जान पड़ती है।—सम्पादक

और प्रस्तुत सर्वार्थसिद्धिके नामका पौर्वापर्य सम्बन्ध अज्ञात है, परन्तु वार्तिकोंके विषयमें इतना निश्चित है कि एक बार भारतीय वाङ्मयमें वार्तिकयुग आया और भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंमें भिन्न भिन्न विषयोंके ऊपर वार्तिक नामके अनेक ग्रन्थ लिखे गये। उसीका असर तत्त्वार्थ परके प्रस्तुत वार्तिकोंके नामकरण पर है। अकलंकने अपनी टीकाका नाम 'राजवार्तिक' रक्खा है, इस नामका दूसरा कोई ग्रंथ पूर्वकालीन अन्य विद्वानका अभी तक मेरे जाननेमें नहीं आया; परन्तु विद्यानन्दका '**श्लोकवार्तिक**' नाम कुमारिलके 'श्लोकवार्तिक' नामके असरका आभारी है इसमें कुछ भी शङ्का नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र पर अकलङ्कने जो 'राजवार्तिक' लिखा है और विद्यानन्दने जो 'श्लोकवार्तिक' लिखा है, उन दोनोंका मूल आधार सर्वार्थसिद्धि ही है। यदि अकलङ्कको सर्वार्थसिद्धि न मिली होती तो राजवार्तिकका वर्तमान स्वरूप ऐसा विशिष्ट नहीं होता, और यदि राजवार्तिकका आश्रय न होता तो विद्यानन्दके श्लोकवार्तिकमें जो विशिष्टता दिखलाई देती है वह भी न होती, यह निश्चित है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक ये दोनों साक्षात् और परम्परासे सर्वार्थसिद्धिके ऋणी होने पर भी इन दोनोंमें सर्वार्थसिद्धिकी अपेक्षा विशेष विकास हुआ है। उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' और धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' की तरह 'राजवार्तिक' गद्यमें है, जब कि 'श्लोकवार्तिक' कुमारिल के श्लोकवार्तिक' की तरह पद्यमें है। कुमारिलकी अपेक्षा विद्यानन्दकी विशेषता यह है कि उन्होंने स्वयं ही अपने पद्यवार्तिककी टीका लिखी है। राजवार्तिकमें लगभग समस्त सर्वार्थसिद्धि आ जाती है फिर भी उसमें नवीनता और प्रतिभा इतनी अधिक है कि सर्वार्थसिद्धिको साथ रखकर राजवार्तिकको बाँचते हुए भी उसमें कुछ भी पौनरुक्त्य दिखाई नहीं देता। लक्षणनिष्णात पूज्यपादके सर्वार्थसिद्धिगत सभी विशेष वाक्योंको अकलङ्कने पृथक्करण और वर्गीकरणपूर्वक वार्तिकोंमें परिवर्तित कर डाला है और स्वयंको वृद्धि करने योग्य जो बातें नज़र आती थीं उनके अथवा वैसे प्रश्नोंके विषयमें नवीन वार्तिक भी रचे हैं? और सब गद्य वार्तिकों पर स्वयं ही स्फुट विवरण लिखा है। इससे समष्टि रूपसे देखते हुए, 'राजवार्तिक' सर्वार्थसिद्धि का विवरण होने पर भी वस्तुतः एक स्वतन्त्र ही ग्रन्थ है। सर्वार्थसिद्धिमें जो दार्शनिक अभ्यास नज़र पड़ता है उसकी अपेक्षा राजवार्तिकका दार्शनिक अभ्यास बहुत ही ऊँचा चढ़ जाता है। राजवार्तिकका एक ध्रुव मन्त्र यह है कि उसे जिस बात पर जो कुछ कहना होता है उसे वह 'अनेकान्त' का आश्रय लेकर ही कहता है। '**अनेकान्त' राजवार्तिककी प्रत्येक चर्चाकी चाबी है**। अपने समय पर्यन्त भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंके विद्वानोंने 'अनेकान्त' पर जो आक्षेप किये और अनेकान्तवादकी जो त्रुटियाँ बतलाईं उन सबका निरसन करने और अनेकान्तका वास्तविक स्वरूप बतलानेके लिये ही अकलंक ने प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्रके पाये (आधार) पर सिद्ध लक्षण वाली सर्वार्थसिद्धि का आश्रय लेकर अपने राजवार्तिककी भव्य इमारत खड़ी की है। सर्वार्थसिद्धिमें जो आगमिक विषयोंका अति विस्तार है उसे राजवार्तिककारने घटा कर कम कर दिया है[२३] और दार्शनिक विषयोंको ही प्राधान्य दिया है।

दक्षिण हिन्दुस्तानमें निवास करते विद्यानन्दने देखा कि पूर्वकालीन और समकालीन अनेक जैनेतर

२३ तुलना करो १, ७ ८ की सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक।

विद्वानोंने जैनदर्शन पर जो हमले किये हैं उनका उत्तर देना बहुत कुछ बाक़ी है; और खास कर मीमांसक कुमारिल आदि द्वारा किये गये जैनदर्शनके खंडनका उत्तर दिये बिना उनसे किसी तरह भी रहा नहीं जा सकता तभी उन्होंने श्लोकवार्त्तिककी रचना की। हम देखते हैं कि इन्होंने अपना यह उद्देश्य सिद्ध किया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें जितना और जैसा सबल मीमांसक दर्शनका खंडन है वैसा तत्त्वार्थसूत्रकी दूसरी किसी भी टीकामें नहीं। तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्त्तिकमें चर्चित हुए कोई भी मुख्य विषय छूटे नहीं; उलटा बहुतसे स्थानों पर तो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिककी अपेक्षा श्लोकवार्त्तिककी चर्चा बढ़ जाती है। कितनी ही बातोंकी चर्चा तो श्लोकवार्तिकमें बिलकुल अपूर्व ही है। राजवार्तिकमें दार्शनिक अभ्यासकी विशालता है तो श्लोकवार्तिकमें इस विशालताके साथ सूक्ष्मताका तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। समग्र जैन वाङ्मयमें जो थोड़ी बहुत कृतियाँ महत्व रखती हैं उनमें की दो कृतियाँ 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' भी हैं। तत्वार्थसूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बरीय साहित्यमेंसे एक भी ग्रंथ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिककी तुलना कर सके ऐसा दिखलाई नहीं देता। भाष्य में दृष्ट पड़ता अच्छा दार्शनिक अभ्यास सर्वार्थसिद्धि में कुछ गहरा बन जाता है और राजवार्तिकमें वह विशेष गाढ़ा हो कर अंतको श्लोकवार्तिकमें खूब जम जाता है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकके इतिहासज्ञ अभ्यासीको ऐसा मालूम ही पड़ेगा कि दक्षिण हिन्दुस्तानमें जो दार्शनिक विद्या और स्पर्धाका समय आया और अनेकमुखी पांडित्य विकसित हुआ उसीका प्रतिबिम्ब इन दो ग्रंथोंमें है। प्रस्तुत दोनों वार्तिक जैनदर्शका प्रामाणिक अभ्यास करनेके लिये हरेकको साधन की पूर्ति करते हैं; परन्तु इनमेंसे 'राजवार्तिक' गद्य, सरल और विस्तृत होनेसे तत्त्वार्थके संपूर्ण टीकाग्रंथों की गरज़ अकेला ही पूरी करता है। ये दो वार्तिक यदि नहीं होते तो दसवीं शताब्दीसे पहलेके दिगम्बरीय साहित्यमें जो विशिष्टता आई है और इसकी जो प्रतिष्ठा बँधी है वह निश्चयसे अधूरी ही रहती। ये दो वार्तिक साम्प्रदायिक होने पर भी अनेक दृष्टियोंसे भारतीय दार्शनिक साहित्यमें विशिष्ट स्थान प्राप्त करें ऐसी योग्यता रखते हैं। इनका अवलोकन बौद्ध और वैदिकपरंपराके अनेक विषयों पर तथा अनेक ग्रन्थों पर ऐतिहासिक प्रकाश डालता है।

दो वृत्तियाँ

मूलसूत्र पर रची गई व्याख्याओंका संक्षिप्त परिचय प्राप्त करनेके बाद अब व्याख्या पर रची हुई व्याख्याओंका परिचय प्राप्त करनेका अवसर आता है। ऐसी दो व्याख्याएँ इस समय पूरी पूरी उपलब्ध हैं, जो दोनों ही श्वेताम्बरीय हैं। इन दोनोंका मुख्य साम्य संक्षेपमें इतना ही है कि ये दोनों व्याख्याएँ उमास्वाति के स्वोपज्ञ भाष्यको शब्दशः स्पर्श करती हैं और उसका विवरण करती हैं। भाष्यका विवरण करते भाष्यका आश्रय लेकर सर्वत्र आगमिक वस्तुका ही प्रतिपादन करना और जहाँ भाष्य आगमसे विरुद्ध जाता दिखाई देता हो वहाँ भी अन्तको आगमिक परम्परा का ही समर्थन करना, यह इन दोनों वृत्तियोंका समान ध्येय है। इतना साम्य होते हुए भी इन दो वृत्तियोंमें परस्पर भेद भी है। एक वृत्ति जो प्रमाणमें बड़ी है वह एक ही आचार्यकी कृति है, जब कि दूसरी छोटी वृत्ति दो आचार्योंकी मिश्र कृति है। लगभग बाईस

हज़ार * श्लोक प्रमाण बड़ी वृत्तिमें अध्यायोंके अंतमें तो बहुत करके 'भाष्यानुसारिणी' इतना ही उल्लेख मिलता है; जब कि ११ हज़ार श्लोक प्रमाण छोटी वृत्तिमें प्रारम्भके कितने ही अध्यायोंके अंतमें तो "हरिभद्रोद्धृतायां दुपदुपिकाभिधानायां" ऐसा उल्लेख और पिछले कितने ही अध्यायोंके अन्तमें "हरिभद्राचार्यप्रारब्धायां दुपदुपिकाभिधानायां तस्यामेवान्यकर्तृकायां" ऐसा उल्लेख मिलता है। ये उल्लेख ऐसा सूचित करते हैं कि बड़ी वृत्तिका कोई खास नाम नहीं जब कि छोटीवृत्तिका 'दुपदुपिका' ऐसा नाम है। दुपदुपिका[२४] ऐसा अभी तक बाँचनेमें आता हुआ पाठ यदि सत्य हो तो उसका अर्थ क्या विवक्षित होगा वह कुछ भी समझमें नहीं आता, फिर भी इन उल्लेखों पर से होने वाली दूसरी खास सूचना उद्धार-विषयकी है। छोटी वृत्ति किसी दूसरी वृत्तिमेंसे संक्षिप्त करके उद्धृत की गई है। यही अर्थ उद्धारकी सूचनामेंसे फलित होता है। जिस वृत्तिसे प्रस्तुत छोटी वृत्ति उद्धृत की गई होगी वह वृत्ति उद्धृत वृत्तिकी अपेक्षा प्रमाणमें बड़ी होगी यह तो स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत दो वृत्तियोंमेंकी सिद्धसेनीय बड़ी वृत्तिसे भिन्न दूसरी किसी बड़ी वृत्तिके होनेका सबूत जब तक न मिले तब तक तो ऐसा ही मानना उचित है कि सिद्धसेनीय बड़ी वृत्तिमेंसे ही हरिभद्रीय छोटी वृत्तिका उद्धार हुआ है। इस मान्यताकी पुष्टिमें दोनों वृत्तियोंके शब्दसादृश्यको प्रमाणके तौर पर रख सकते हैं। छोटी वृत्तिमें बड़ीवृत्तिका ही शब्दशः प्रतिबिम्ब है। बड़ी वृत्तिमें जो सूत्रपाठ-विषयक और मन्तव्यों-विषयक अनेक मतभेद नोट किये गये हैं, जो लम्बे लम्बे प्रतिपादन हैं, भाष्यके समर्थनमें अथवा उसके विरोधमें जो लम्बी लम्बी चर्चाएँ हैं, दार्शनिक मन्तव्योंकी जो विस्तारपूर्वक समालोचना तथा खंडन-मंडन है और जो दूसरे प्रासंगिक ऊहापोह हैं वे सब छोटी वृत्तिमें नहीं अथवा हैं भी तो बिलकुल ही संक्षिप्त कर दिये गये हैं। दोनों वृत्तियोंको अवलोकन करते हुए ऐसा मालूम होता है कि संक्षेपरुचि-अभ्यासियोंकी सरलताके लिए बड़ीकी जटिलता घटा कर ही छोटी वृत्ति बनाई गई है। इस के सिवाय छोटी वृत्तिके रचयिताका कोई खास कौशल मन पर अंकित नहीं होता। छोटी वृत्तिमें जो जो बातें हैं वे सब बड़ी वृत्तिमें तो हैं ही; इस परसे यहाँ ऐसा कहा जाता है कि छोटी वृत्ति प्रस्तुत बड़ी वृत्तिका उद्धार है। इस कथनसे यह स्वाभाविक तौर पर ही फलित होता है कि छोटी और बड़ी प्रस्तुत दोनों वृत्तियोंमें स्वीकृत मूल भाष्यपाठ एक ही है और होना

* पहले इसी वृत्तिकी संख्या अठारह हज़ार बतलाई गई है, तब दोनोंमें किसको ठीक समझा जाय? यह एक प्रश्न होता है।

—सम्पादक

[२४] हमारे पास जो प्रवर्तक कान्तिविजयजीके शास्त्र संग्रह की लिखी हुई पुस्तक है, उसमें सिर्फ नवें अध्यायके अन्तमें ही 'दुपदुपिका' ऐसा नाम स्पष्ट है दूसरे अध्यायोंके अन्तमें जहाँ यह नाम है वहाँ चार अक्षर छोड़ कर 'काभिधानायां' इतना ही लिखा है। ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन लिखी हुई पुस्तकों में चार अक्षर नहीं बँचनेसे लेखकने इतनी जगह छोड़ दी होगी। ऐसा खण्डित नाम होने पर भी नवें अध्यायके अन्तमें 'दुपदुपि' इन चार अक्षरोंकी प्रतिके साथ 'दुपदुपिकाभिधानायां' ऐसा पाठ स्पष्ट लिखा है। इससे उसकी मौलिकता विषयमें शंका होती है।

यदि 'दुपदुपिका' शब्द देशीय प्राकृत या संस्कृतका सत्य हो हो और उसका अर्थ एक छोटी नौका ऐसा हो तो ऐसा कह सकते हैं कि यह छोटी वृत्ति बड़ी वृत्तिरूप समुद्रमें प्रवेश करनेके लिये डोंगीकी गरज़ सिद्धि करनेके लिये रची गई है।

जैमिनीय सूत्र परकी कुमारिलकृत वृत्तिके अन्तिम भागका ऐसा नाम है। इसमें भी टुप शब्द अल्पार्थक जान पड़ता है।

चाहिए। परन्तु इस विषयमें यहाँ एक अपवादभूत स्थल नोट करने योग्य है, जो एकका दूसरेमेंसे उद्धार होनेके विषयमें शङ्का उत्पन्न करता है। पाँचवें अध्यायका २९ वाँ सूत्र "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" है। इस सूत्रका जो भाष्यपाठ अवलम्बन कर सिद्धसेनने वृत्ति रची है वह भाष्यपाठ हरिभद्रकी उद्धृत वृत्तिमें नहीं और हरिभद्रद्वारा अवलम्बित इस सूत्रका भाष्यपाठ सिद्धसेनकी वृत्तिमें नहीं। जैन तत्त्वज्ञानके मर्मभूत उक्त सूत्रकी दोनों वृत्तियोंमें भाष्यपाठ-विषयक इतना गोलमाल कैसे हुआ होगा? इस पहेलीका हल अभी तक नहीं हो सका है। यदि सिद्धसेनीय वृत्तिको सामने रख कर ही हरिभद्रने अपनी वृत्ति संक्षेपमें लिखी हो तो उसमें सिद्धसेनद्वारा अवलम्बित भाष्यपाठ होना चाहिये और यदि किसी कारणवशात् हरिभद्रने इस भाष्यपाठको छोड़ दिया हो और अपनेको सुलभ ऐसा ही दूसरा भाष्यपाठ स्वीकृत किया हो तो भी उनके द्वारा अपनी वृत्तिमें पाठान्तरके तौर पर सिद्धसेनद्वारा अवलंबित भाष्यपाठका नोट होना चाहिये, ऐसी सम्भावना रक्खी जाय तो यह कुछ अधिक मालूम नहीं होती। परन्तु हम हरिभद्रकी वृत्तिमें वैसा नहीं देखते। इससे पुनः प्रश्न होता है कि क्यों हरिभद्रने सिद्धसेनीय वृत्तिसे भिन्न दूसरी ही किसी वृत्तिका आश्रय न लिया हो कि जिसमें उनके द्वारा स्वीकृत उक्त सूत्रका भाष्य पाठ होगा? दूसरी तरफ ऐसी भी कल्पना होती है कि कदाचित् उक्त सूत्रके सिद्धसेन सम्मत भाष्यपाठको पाठान्तरके तौर पर नोट किये बिना ही हरिभद्रने उसे छोड़ दिया हो और सर्वत्र सिद्धसेनीय वृत्तिका ही आधार लेते हुए भी उक्त सूत्रमें दूसरी किसी व्याख्याको आधारभूत मान कर उसमें स्वीकृत भाष्य पाठको ही अथवा उस व्याख्याके अंशको ही अवलम्बन कर हरिभद्रने अपनी वृत्ति क्यों न रची हो? हरिभद्रद्वारा अपनी वृत्तिके आधार पर स्वीकृत उक्त सूत्रके व्याख्यापाठकी परीक्षा करते हुए इतना तो मालूम होता है कि यह व्याख्या-पाठ उमास्वातिके भाष्यका अंश न होकर किसी दूसरी ही व्याख्याका अंश होना चाहिये, क्योंकि इसमें भाष्यकी तरह सरल प्रतिपादन न होकर तार्किक लेखकको शोभा देनेवाला ऐसा सहेतुक प्रतिपादन है। चाहे जैसा हो परन्तु इस एक अपवादभूत स्थलको छोड़ कर विचार किया जाय तो यह छोटी वृत्ति प्रस्तुत बड़ी वृत्तिका उद्धार है, ऐसा इस समय मानना उचित जान पड़ता है।

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकके साथ सिद्धसेनीय वृत्तिकी तुलना करिये तो स्पष्ट जाना जाता है कि **जो भाषाका प्रसाद, रचनाकी विशदता और अर्थका पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिकमें है, वह सिद्धसेनीय वृत्तिमें नहीं।** इसके दो कारण हैं। एक तो ग्रन्थकारका प्रकृतिभेद और दूसरा कारण पराश्रित रचना है। सर्वार्थसिद्धिकार और राजवार्त्तिककार सूत्रों पर अपना अपना वक्तव्य स्वतन्त्र रूपसे ही कहते हैं जब कि सिद्धसेनको भाष्यका शब्दशः अनुसरण करते हुए पराश्रितरूपसे चलना है। इतना भेद होने पर भी समग्र रीतिसे सिद्धसेनीय वृत्तिका अवलोकन करते मन पर दो बातें तो अंकित होती ही हैं। उनमें पहली यह कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिककी अपेक्षा सिद्धसेनीय वृत्तिकी दार्शनिक योग्यता कम नहीं। पद्धति भेद होने पर भी समष्टि रूपसे इस वृत्तिमें भी उक्त दो ग्रन्थों-जितनी ही न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और बौद्धदर्शन-चर्चाकी विरासत है। और दूसरी बात यह है कि सिद्धसेन

अपनी वृत्तिमें दार्शनिक और तार्किक चर्चा करके भी अन्तमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी तरह आगमिक परम्पराका प्रबल रूपसे स्थापन करते हैं और इस स्थापनमें उनका आगमिक अभ्यास प्रचुर रूपसे दिखाई देता है। सिद्धसेनकी वृत्तिको देखते हुए मालूम पड़ता है कि उनके समय पर्यंत तत्त्वार्थ पर अनेक व्याख्याएँ रची गई थीं। किसी किसी स्थल पर एक ही सूत्रके भाष्यका विवरण करते हुए वे पाँच, छह मतान्तर[२५] नोट करते हैं, इससे ऐसा अनुमान करनेका कारण मिलता है कि सिद्धसेनने वृत्ति रची तब उनके सामने कमसे कम तत्वार्थ पर रची हुई पाँच टीकायें होनी चाहियें। जो सर्वार्थसिद्धि आदि प्रसिद्ध दिगम्बरीय तीन व्याख्याओंसे जुदी होंगी, ऐसा मालूम पड़ता है; क्योंकि राजवार्त्तिक और श्लोकवार्तिक की रचनाके पहले ही सिद्धसेनीय वृत्तिका रचा जाना बहुत सम्भव है; कदाचित् उनसे पहले यह न रची गई हो तो भी इसकी रचनाके बीचमें इतना तो कम अंतर है ही कि सिद्धसेनको राजवार्त्तिक और श्लोकवार्त्तिकका परिचय मिलनेका प्रसंग ही नहीं आया। सर्वार्थसिद्धिकी रचना पूर्वकालीन हो कर सिद्धसेनके समयमें वह निश्चयरूपसे विद्यमान थी यह ठीक परन्तु दूरवर्ती देशभेदके कारण या दूसरे किसी कारणवश सिद्धसेनको सर्वार्थसिद्धि देखनेका अवसर मिला हो ऐसा मालूम नहीं पड़ता। सिद्धसेन, पूज्यपाद आदि दिगम्बरीय आचार्यों की तरह, साम्प्रदायाभिनिवेशी हैं ऐसा उनकी वृत्ति ही कहती है। अब यदि इन्होंने सर्वार्थसिद्धि या अन्य कोई दिगंबरीयत्वाभिनिवेशी ग्रन्थ देखा होता तो उसके प्रत्याघातरूप ये भी उस उस स्थल पर दिगम्बरीयत्व का अथवा सर्वार्थसिद्धिके वचनोंका निर्देशपूर्वक खंडन किये बिना संतोष धारण नहीं कर सकते, फिर भी किसी स्थल पर उन्होंने दिगम्बरीय साम्प्रदायिक व्याख्याओं की समालोचना की ही नहीं। जो अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारोंके सूत्र या भाष्य-विषयक मतभेदोंका तथा भाष्य-विवरण-सम्बंधी छोटी बड़ी मान्यताओंका थोड़ा भी नोट लिये बिना न रहे, और स्वयं मान्य रक्खी हुई श्वेताम्बर परम्पराकी अपेक्षा तर्कबलसे सहज भी विरुद्ध कहने वाले श्वेताम्बरीय महान् आचार्यों की कटुक समालोचना किये बिना सन्तोष न पकड़े वह सिद्धसेन व्याख्याविषयमें प्रबल विरोध रखने वाले दिगम्बरीय आचार्योंकी पूरी पूरी खबर लिये बिना रह सके यह कल्पना ही अशक्य है। इससे ऐसी कल्पना होती है कि उत्तर या पश्चिम हिन्दुस्तानमें होने वाले तथा रहने वाले इन श्वेताम्बरीय आचार्यको दक्षिण हिन्दुस्तानमें रची हुई तथा पुष्टि को प्राप्त हुई तत्त्वार्थपरकी प्रसिद्ध दिगम्बर व्याख्याएँ देखनेका शायद अवसर ही न मिला हो। इसीप्रकार दक्षिण भारतमें होने वाले अकलंक आदि दिगम्बरीय टीकाकारोंको उत्तर भारतमें होनेवाले तत्कालीन श्वेताम्बरीय टीकाग्रंथोंको देखनेका अवसर मिलना मालूम नहीं पड़ता; ऐसा होने पर भी सिद्धसेनकी वृत्ति और राजवार्तिकमें जो कहीं कहींपर ध्यान खींचनेवाला शब्दसादृश्य दिखाई देता है वह बहुत करके तो इतना ही सूचित करता है कि यह किसी तीसरे ही समान ग्रंथके[२६] अभ्यासकी विरासतका परिणाम है। सिद्धसेनकी वृत्तिमें तत्त्वार्थगत

२५. देखो ५, ३ की सिद्धसेनीय वृत्ति पृ० ३२१।

२६. एक तरफ सिद्धसेनीय वृत्तिमें दिगम्बरीय सूत्रपाठ-विरुद्ध समालोचना कहीं कहीं दिखाई देती है। उदाहरणके तौर पर—"अपरे पुनर्विद्वांसोऽतिबहूनि स्वयं विरचय्यास्मिन् प्रस्तावे सूत्राण्यधीयते" इत्यादि ३, ११ की वृत्ति पृ० २६१ तथा "अपरे सूत्रद्वयमेतदधीयते—द्रव्याणि-जीवाश्च"

विषय-संबंधी जो विचार और भाषाकी पुष्ट विरासत दिखलाई देती है उसे देखते हुए ऐसा भले प्रकार मालूम होता है कि इस वृत्तिके पहले श्वेताम्बर संप्रदायमें पुष्कल साहित्य रचा हुआ तथा वृद्धिको प्राप्त हुआ होना चाहिये।

खंडित वृत्ति

भाष्य पर तीसरी वृत्ति उपाध्याय यशोविजयकी है; यदि यह पूर्ण मिलती होती तो यह सतरहवीं, अठारहवीं शताब्दी तक को प्राप्त होने वाले भारतीयदर्शनशास्त्रके विकासका एक नमूना पूर्ण करती, ऐसा वर्तमानमें उपलब्ध इस वृत्तिके एक छोटे खंड परसे ही कहनेका मन हो जाता है। यह खंड पूरा प्रथम अध्याय के ऊपर भी नहीं, और इसमें ऊपरकी दो वृत्तियोंके समान ही शब्दशः भाष्यका अनुसरण कर विवरण किया गया है; ऐसा होने पर भी इसमें जो गहरी तर्कानुगामी चर्चा, जो बहुश्रुतता और जो भावस्फोटन दिखाई देता है वह यशोविजयजीकी न्यायविशारदताका निश्चय कराता है। यदि यह वृत्ति इन्होंने संपूर्ण रची होगी तो ढाईसौ ही वर्षोंमें उसका सर्वनाश हो गया हो ऐसा मानने जी हिचकता है, इससे इसकी शोधके लिये किये जाने वाले प्रयत्नका निष्फल जाना संभव नहीं।

इत्यादि ५, २की वृत्ति पृ०३२० तथा "अन्ये पठन्ति सूत्रम्" ५, २३ पृ०१०१ ५०८ तथा कोई कोई सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में दृष्टिगोचर होती व्याख्याओंका खण्डन भी है। उदाहरणके तौर पर—"ये त्वेद् भाष्यं गमनप्रतिषेधद्वारेण चारणविद्याधरर्द्धिप्राप्तानामाचक्षते तेषामागमविरोध" इत्यादि ३, १३ की वृत्ति पृ०२६३ तथा कोई कोई वर्णिकके साथ शब्द-सादृश्य है "नित्यप्रजल्पितवन" इत्यादि ५, ३की वृत्ति पृ० ३२१

दूसरी तरफ श्वेताम्बरपक्षका खंडन करनेवाली सर्वार्थसिद्धि आदि की खास व्याख्याओंका सिद्धसेनीय वृत्तिमें निरसन नहीं, इनसे ऐसी सम्भावना होती है कि सर्वार्थसिद्धिमें स्वीकृत सूत्रपाठको अवलम्बन कर रची कोई दिगम्बराचार्य या अन्य तटस्थ आचार्यकी भाष्यव्याख्या जिसमें श्वेताम्बरीय विशिष्ट मान्यताओंका खंडन नहीं होगा और जो पूज्यपाद या अकलङ्कको भी अपनी टीकाओंके लिखनेमें आधारभूत हुई होगी वह सिद्धसेनके सामने होगी।

ऊपर जो तत्त्वार्थ पर महत्त्वपूर्ण तथा अभ्यास-योग्य थोड़ेसे ग्रन्थोंका परिचय दिया गया है वह सिर्फ अभ्यासियोंकी जिज्ञासा जागृत करने और इस दिशामें विशेष प्रयत्न करनेकी सूचनाकी पूर्तिमात्र है। वस्तुतः तो प्रत्येक ग्रन्थका परिचय एक एक स्वतन्त्र निबंधकी अपेक्षा रखता है और इन सबका सम्मिलित परिचय तो एक मोटी दलदार पुस्तककी अपेक्षा रखता है, जो काम इस स्थलकी मर्यादाके बाहर है; इस लिये इतने ही परिचयमें संतोष धारण कर विराम लेना उचित समझता हूँ।

नोट—

'उमास्वाति और उनका तत्त्वार्थसूत्र' इस विषय को लेकर लिखी गई लेखमालाका यह तीसरा लेख है और इसके साथ ही उक्त लेखमालाकी समाप्ति होती है। इसमें लेखक महोदयने तत्त्वार्थसूत्रकी खास खास टीकाओंके सम्बन्धमें जो अपना तुलनात्मक विचार प्रकट किया है वह उनके विशाल अध्ययनको सूचित करता हुआ, पाठकोंके सामने विचारकी कितनी ही नई सामग्री प्रस्तुत करता है और उन्हें सविशेष रूपमें इन टीका ग्रंथोंके अध्ययनकी तथा दूसरे प्राचीन टीका साहित्यके अनुसंधानकी प्रेरणा करता है; और इस लिये अभिनन्दनीय है। इस लेखकी कितनी ही बातें निःसन्देह विचारणीय हैं—खास कर 'भाष्य' और 'सर्वार्थसिद्धि' के सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है वह अभी गहरे अनुसंधान तथा प्रकाशकी अपेक्षा रखता है। आशा है दूसरे अध्ययनशील विद्वान् भी—खास कर वे प्रधान अध्यापक गण जो वर्षों से विद्यालयोंमें मूल तत्त्वार्थसूत्र और इन टीका ग्रन्थोंको पढ़ा रहे हैं—अब इस विषयमें अपनी खोजोंको सामने रक्खेंगे और इस बातको प्रमाणित करेंगे कि उन्होंने किस अध्यवसायके साथ इन ग्रन्थोंका कितना परिशीलन और कितना गहरा अभ्यास किया है। और इस तरह इस लेखमालाके द्वारा जहाँ कहीं कोई गलत फहमियाँ पैदा हुई हों उन्हें दूर करनेका सातिशय पुण्य-प्रयत्न करेंगे।

—सम्पादक

भारतमें देहात और उनके सुधारकी आवश्यकता

[लेखक—बाबू माईदयालजी, बी० ए० आनर्स]

सन् १९२१ की मनुष्यगणनाके अनुसार हमारे देश की ३२ करोड़ आबादीमेंसे २८ करोडसे अधिक आदमी देहातमें—ग्रामोंमें—रहते हैं[१]। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें यूँ कहा जा सकता है कि यहाँ सौ पीछे नव्वे आदमी देहातमें रहते हैं। जर्मनी और इङ्गलैण्डमें क्रमशः ५४ और २२ प्रतिशत आदमी देहातमें रहते हैं[२]। इसलिए यह कहनेमें कोई अतिशयोक्ति न होगी कि भारतवर्ष प्रधानतः एक देहाती देश है और यहाँकी जनताका अधिकांश भाग देहातमें ही रहता है, शहरों और कस्बोंमें केवल दश प्रतिशत आदमी रहते हैं।

हमारे देशमें ६८५६६२२ गाँव हैं और २३१३ शहर हैं[३]। एक लाखसे अधिक आबादीके शहरोंकी तो कुल संख्या तेतीस ही है। अधिकतर संख्या ऐसे शहरों की है जिनकी आबादी १० और २० हजारके बीचमें है। अच्छा तो यह है कि इनको शहर कहनेके स्थान पर कस्बे ही कहा जाय। रही गाँवोंकी बात। देहाती आबादीका कोई तीन चौथाई भाग ऐसे गाँवोंमें रहता है जिनकी आबादी दो हजार और पाँच हजारके बीच होती है। बाकी एक चौथाई आबादी इनसे छोटे छोटे गाँवोंमें रहती है।

१ Census of India 1921 Vol. I Part I Page 95

२ Census of India 1921 Vol I. Part I Page 40

३ Census of India 1921 Vol. I Part I Page 65

देहातका नाम सुनते ही हमारी आँखोंके सामने विचित्र दृश्योंका चक्र बँध जाता है। वे दृश्य गाँवके सादा, प्राकृतिक तथा भोलेभाले जीवनके कारण जितने चित्ताकर्षक और रोचक मालूम होते हैं उतने ही वहाँकी गन्दगी, अज्ञान, प्रचलित कुरीतियों और जीवनकी आवश्यक सामग्रीके अभावके कारण अरुचिकर और भद्दे मालूम होते हैं। दुनियाकी झँझटों और वर्तमान सभ्यताके सँघर्षसे उकताए हुए आदमीको जहाँ ग्रामीण जीवन शान्ति देता है वहाँ वही जीवन कुछ आवश्यक वस्तुओंके न मिलनेके कारण दुखका कारण बन जाता है। जिस प्रकार शहरी जीवनके अच्छे और बुरे दो पहलू हैं, उसी प्रकार देहाती जीवनके भी अच्छे और बुरे दो पहलू हैं। वर्तमान अवस्थाको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि न तो बहुत बड़े बड़े शहरोंका जीवन और न छोटे छोटे गाँवोंका ही जीवन अधिक सुखकर है; बल्कि दरमियानी कस्बोंमें ही आराम है।

पुराने जमाने और वर्तमान कालमें आकाश-पातालकासा अंतर हो गया है। यद्यपि पहले भारतके संपूर्ण ग्राम एक देशके ही अंग थे, तो भी प्रत्येक गाँव अथवा आस पासके गाँवोंका कुछ समूह—चौबीस परगना, आदि—अपने लिये हर एक वस्तु तैयार कर लेता था और बाकी देशसे उसका बहुत कम सम्बन्ध रहता था। उन लोगोंकी आवश्यकताएँ भी कम थीं और वे प्रायः गाँवोंमें ही पूरी हो जाती थीं। राज्य-सम्बंधी व्यवस्था, अच्छे मार्गोंका अभाव तथा उनकी

कठिनाइयोंके कारण एक गाँवका बहुत दूरके किसी प्रान्त अथवा गाँवसे कोई विशेष सम्बंध न था; और इसी लिये एक स्थानकी अवस्थाका दूसरे स्थानकी अवस्था पर कोई बहुत गहरा प्रभाव नहीं पड़ता था। किन्तु अब जमाना पलट गया है, गाँवकी वह एकता तथा स्वाभिमानता (Self sufficiency) प्रायः नष्ट हो गई है। अंग्रेजी राज्यके मशीनके समान काम करने वाले प्रबंधों, रेलों, तारों, सड़कों, समाचार-पत्रों और समयके प्रभावके कारण अब देशके एक कोनेमें होने वाली घटनाओंका कुछ न कुछ प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूपसे दूसरे गाँवों पर अवश्य होता है। अब गाँवोंके आदमियों को भी जीवनकी छोटी छोटी अवश्यकताओं रंग, सुई, दियासलाई और कपड़े आदिके वास्ते बाहर वालोंका मुँह ताकना पड़ता है। इतना ही क्यों? आज यदि बाहर प्रदेशमें कुछ परिवर्तन अथवा कोई विशेष घटना होती है तो गाँवों के आदमियों के जीवन पर भी किसी न किसी रूपमें उसका कुछ प्रभाव जरूर पड़ता है। अपने देशके किसी भी प्रान्तमें होने वाले दुर्भिक्षोंका, तेजी-मन्दीका और अन्य घटनाओंका तो कहना ही क्या, यदि परदेश में भी कोई दुर्भिक्ष, सुकाल या और कोई विशेष घटना घटती है तो उसका भी कुछ-न-कुछ प्रभाव गाँवों पर अवश्य पड़ता है।

ऐसी हालतमें तथा राष्ट्रीय उन्नतिके इस युगमें गाँवोंकी अवस्था पर हमें अवश्य ध्यान देना होगा। अब गाँवोंको तथा ग्रामवासियोंको उनके भाग्य पर नहीं छोड़ा जा सकता। यदि भारतवर्ष संसारके समुन्नत देशोंके साथ चलना चाहता है, यदि वह कुछ कर के दिखाना चाहता है और यदि वह चाहता है अपनी सर्वांग उन्नति, तो भारतवासियोंको, देशके नेताओंको और सरकारको देहातसुधारकी तरफ पूरा ध्यान देना होगा। हमें अपनी समस्त शक्तियोंको देहातसुधारके काममें लगा देना चाहिये—देहातकी उन्नति तथा सुधार के लिये कटिबद्ध हो कर तन-मन-धनसे प्रयत्न करना चाहिये। याद रखिये भारतका उद्धार उसके २८ करोड़ आदमियोंकी अवहेलना करके नहीं हो सकता। बिना देहातसुधारके देशोन्नतिकी बातें व्यर्थ हैं।

अब देखना यह है कि देहातके सम्बन्धमें किन किन बातों अथवा समस्याओं पर ध्यान देनेकी आवश्यकता है। क्या आपने आज तक कभी देहात-सबंधी समस्याओं पर सोचनेका कष्ट उठाया है? देहातकी समस्याएँ भारतवर्षकी समस्याओंसे भिन्न नहीं है। देहातकी भी वे ही समस्याएँ हैं जो प्रायः समस्त देशकी हैं और जिनकी चर्चा आजकल सभी स्थानों पर कुछ-न-कुछ चल रही है। परन्तु भेद केवल इतना है कि उन समस्याओंके सम्बन्धमें अब तक जो कुछ भी आन्दोलन हुआ है वह प्रायः समाचारपत्रों और बड़े बड़े शहरों तक ही सीमित रहा है, उससे बाहर देहात में उसकी बहुत कम, नहीं के बराबर चर्चा है। देशकी समस्याओंके विषयमें अभी गाँवोंमें कोई प्रचार-कार्य नहीं हुआ है। प्रचारके अभावका कारण यह मालूम होता है कि देहातमें देशके कार्यकर्ताओंको शहर-वाला आराम तथा नाम कम प्राप्त होता है। आजकल काम के लिये कार्य बहुत कम होता है बाक़ी सब नामके लिये ही किया जाता है। देहातमें काम करनेके लिये बड़े ही धैर्य तथा संलग्नताकी जरूरत है और इन गुणों की बहुत हद तक हमारे कार्यकर्ताओंमें कमी है। देहातमें व्याख्यान-दाताओंके वास्ते मोटर, मेज, कुर्सी आदिका अभाव है। सरकारी अफ़सरोंका ध्यान भी उधर कम ही जाता है। देहातमें जानेके लिये न नेता-

ओंके पास समय है और न अफ़सरोंको फ़ुरसत। परंतु यह हर्षका विषय है कि अब देशमे जागृतिकी लहर चारों तरफ़ उठ रही है और समस्त देश उन्नतिके लिए व्याकुल हो रहा है। इस लिये ऐसे समयमें यह बात बहुत आवश्यक है कि देहातकी समस्याएँ सोची जायँ—उन पर गहरा विचार किया जाय—और फिर उनको हल करनेका समुचित प्रयत्न किया जाय।

देहात-सम्बंधी समस्याएँ निम्न लिखित हैं:—

१ देहातकी सफाई
२ रोगोंकी रोक थाम तथा स्वास्थ्यरक्षा
३ कृषि सुधार
४ आर्थिक सुधार
५ सामाजिक सुधार
६ मादक वस्तुओंका प्रतिबन्ध

अगले पृष्ठोंमें इन्हीं समस्याओं पर अच्छी तरह प्रकाश डाला जायगा ❀।

❀ लेखककी 'देहात-सुधार' नामक अप्रकाशित पुस्तकका प्रथम परिच्छेद।

प्रार्थना

[लेखक—श्री०चौ० वसन्तलालजी]

हृदय हो प्रभु, ऐसा बलवान।
विपदाएँ घनघोर घटासीं, उमडें चहुँ दिशि आन।
पर्वत-ऊपर-पतित बिन्दु-सी, झेलूँ मन सुख मान ॥ १ ॥
असफल होकर सहस बार भी, मनको करूँ न म्लान।
लक्षगुणित उत्साह धार कर, करूँ कार्य प्रण ठान ॥ २ ॥
पूर्ण आत्मकर्तव्य करूँ या, खुद होऊँ बलिदान।
सन्मुख ज्वलित अग्नि भी लख कर, हटूँ न शंका ठान ॥ ३ ॥
करो स्तवन परिहास करो या, यह संसार अजान।
सत्य मार्ग को रंच न छोड़ूँ, भय नहीं लाऊँ ध्यान ॥ ४ ॥
विकसित आत्मस्वरूप करूँ निज, बलका अतुल निधान।
तनबल, धनबल तृणवत समझूँ, धरूँ नहीं अभिमान ॥ ५ ॥

धर्म और राजनीतिका सम्बन्ध

[लेखक—श्री० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री]

धर्म और राजनीतिका सम्बन्ध स्थापित करनेसे पहले राजनीति तथा राज्यकी उत्पत्ति पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। प्राचीन शास्त्रोंके आधार पर प्रत्येक युग दो विभागोंमें विभाजित हैं—एक भोगभूमि और दूसरा कर्मभूमि। इस वर्तमान युगका प्रारम्भ भोगभूमिमें होता है। उस समय मनुष्योंको आजीविका कमानेकी चिन्ता न थी, एक प्रकारके कल्पवृक्ष * होते थे जिनसे भोजन-वस्त्र-आभूषण आदि जिस वस्तुको प्राप्त करनेकी हृदयमें आकांक्षा उत्पन्न होती थी वह यथेष्ट परिमाणमें प्राप्त की जा सकती थी, सबकी आर्थिक अवस्था समान थी, किसी मनुष्यको दूसरे मनुष्यसे कोई वस्तु माँगने या उधार लेनेकी आवश्यकता ही न पड़ती थी। आधुनिक शब्दोंमें उस वक्त प्राकृतिक आदर्श साम्यवाद था—न कोई राजा था और न कोई प्रजा, जनतामें पाप प्रायः उत्पन्न ही नहीं हुए थे, सब लोग सन्तोषपूर्वक सुखके साथ जीवन व्यतीत करते थे।

किन्तु समयके फेरसे वह स्वर्णयुग देर तक स्थिर न रह सका—धीरे धीरे अनेक समस्याएँ उपस्थित होने लगीं। कल्पवृक्ष थोड़ा फल देने लगे, जिससे मनुष्यों में परस्पर झगड़ा होने लगा। सृष्टिके नियमानुसार इस ह्रासके समय एकके पश्चात् दूसरा ऐसे क्रमसे चौदह नेता उत्पन्न हुए जिन्हें 'कुलकर' या 'मनु' कहते हैं। इनमेंसे पाँचवें मनुके समयमें कल्पवृक्ष सम्बन्धी उक्त समस्या उपस्थित हुई और इस लिये उसने इस पारस्परिक कलहको मिटानेके लिये कल्पवृक्षोंकी सीमा नियत करदी। छठे कुलकरके समयमें जब कल्पवृक्ष बहुत कम फल देने लगे और प्रजामें कल्पवृक्षोंकी सीमाके ऊपर भी झगड़ा होने लगा तब उस कुलकरने प्रत्येक व्यक्तिकी सीमा पर चिन्ह लगा दिये जिस से नियत की हुई सीमामें झगड़ा उपस्थित न होने पाये। इस तरह धीरे धीरे कल्पवृक्ष नष्ट हो गये और मनुष्यों के सामने आजीविकाका प्रश्न उपस्थित हुआ। तब अन्तिम कुलकरने पृथ्वी पर उगने वाली वनस्पतिसे निर्वाह करनेकी शिक्षा दी। इन्हीं अन्तिम कुलकर 'नाभिराय' के पुत्र '**ऋषभदेव**' हुए, जिन्होंने मनुष्यों में वर्ण-व्यवस्था स्थापित की, सारी जनताको अनेक पेशों (वृत्तियों) तथा श्रेणियोंमें विभाजित किया

* तूरंगपत्तभूसणपाणाहारंगपुप्फजोइतरू।
गेहंगा वत्थंगा दीवंगेहि दुमा दसहा ॥ ७८७ ॥
—त्रिलोकसार।

'वाद्यके दाता तूर्यांग, भाजनके दाता पात्रांग, आभूषणोंके दाता भूषणांग, पीने के योग्य वस्तुओंके दाता पानांग, भोजन के दाता आहारांग, पुष्पों के दाता पुष्पांग, प्रकाश करने वाले ज्योतिरंग, गृहोंके दाता गृहांग, वस्त्रों के दाता वस्त्रांग, और दीपकों के दाता दीपांग, इस प्रकार कल्पवृक्ष दस प्रकारके होते हैं।

और उनकी देखभाल तथा नियंत्रण करनेके लिये शासक नियुक्त किये।

भोगभूमि-कालमें मनुष्य संतोषी होते थे और उन की सम्पूर्ण आवश्यकताएँ कल्पवृक्षोंके द्वारा पूर्ण हो जाती थीं, अतः उन्हें दूसरोंकी वस्तुओं पर दृष्टि दौड़ानेकी ज़रूरत ही न पड़ती थी। धीरे धीरे आवश्यकता पूर्तिमें कमी पड़नेके कारण उनमें अपराध करनेकी भी नवीन आदत आविर्भूत हुई। और ज्यों ज्यों आवश्यकताओं की पूर्तिमें कमी होती गई तथा नई आवश्यकताएँ बढ़ती गई त्यों त्यों अपराधों की संख्या भी बढ़ती गई, जिसके रोकनेके लिये दण्डविधानकी आवश्यकता हुई। प्रथम पाँच कुलकरों के समयमें अपराधीको केवल "हा" ऐसा कह कर दण्ड दिया जाता था, जिसका आशय है—'हाय! बुरा किया।' इसके पश्चात् पाँच कुलकरोंके समयमें "हा—मा" इन दो शब्दोंमें दण्डव्यवस्था रही, जिसका आशय है—'हाय! बुरा किया, अब ऐसा न करना।' अवशेष कुलकरोंके समयमें "हा-मा-धिक्" इन तीन शब्दोंसे दण्डव्यवस्था होती थी, जिसका आशय है—'हाय! बुरा किया—फिरसे ऐसा न करना—तुझे धिक्कार है।' इस तरह ज्यों ज्यों मनुष्योंका नैतिक पतन होता गया त्यों त्यों दण्डकी कठोरता भी बढ़ती गई। भगवान् श्रीऋषभदेव के दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती सिंहासन पर बैठे। उस समय मनुष्य अधिक अपराध तथा अन्याय करने लगे थे, इस लिये महाराज भरतने अपराधियोंको कारागारमें रखने तथा उनका वध करने आदिरूप शारीरिक दंड देनेकी प्रणाली प्रचलित की*।

* शारीरं दण्डनं चैव वधबंधादिलक्षणम्।
नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम्॥२१६॥
—आदिपुराण पर्व ३।

हिन्दुओंके मान्य ग्रंथ महाभारतके अनुसार भी सृष्टिके आदिमें मनुष्य विशेष सुखी और सन्तोषी थे और इसका कारण आवश्यकताओंकी कमी तथा आवश्यक वस्तुओंका प्रभूत परिमाणमें उत्पन्न होना था—लोगोंको वस्तुओंसे मोह नहीं था, इसी लिये उन्हें संचय करनेकी चिन्ता भी नहीं थी। धीरे धीरे पैदावार कम हो जानेसे मनुष्योंमें वस्तुओंका मोह उत्पन्न हुआ और वे संचय करनेमें तत्पर हो गये। जिससे प्राकृतिक नियमोंकी शृंखला छिन्न-भिन्न हो गई। और तब व्यवस्था करनेके लिए दण्डविधान तथा राजसंस्था की आवश्यकता पड़ी।

बौद्धग्रंथ 'दीघनिकाय' में तो इसका बड़ा ही मनोरंजक वर्णन मिलता है, जिस का संक्षिप्त आशय इस प्रकार है:—

सृष्टिके आदि में मनुष्य सुखी और सन्तोषी थे, जिसे जब भोजन की आवश्यकता होती थी घर से बाहिर जाता था और अपने कुटुम्बके एक बार भोजन करने के योग्य चावल ले आता था; क्योंकि चावल यथेष्ट परिमाणमें उत्पन्न होता था। पर यह व्यवस्था देर तक क़ायम न रही—कुछ आलसी मनुष्योंने सोचा कि हम प्रातःकालके लिये प्रातःकाल और सायंकालके लिये सायंकाय चावल लेने जाते हैं इसमें दो बार कष्ट उठाना पड़ता है। यदि दोनों समयके लिये एक बार ही चावल ले आया करें तो बहुत सहूलियत (सुगमता) होगी। उन्होंने यही किया। जब दूसरे मनुष्योंको यह बात मालूम हुई तो उन्होंने कहा—यह तो बहुत ठीक है और वे तब दो दिन के योग्य चावल उठा लाये। इस प्रकार जिन जिन मनुष्योंको यह बात मालूम होती गई उन सबने चावल जमा करना प्रारम्भ कर दिया। सारांश यह है कि मनुष्योंमें सन्तोष न रहा, उनका

स्थान मोह ने ले लिया। इन बुराईयों को देख कर सब लोग एक स्थान पर एकत्र हुए और उन्होंने चावलोंके खेतों को आपसमें बाँट लेने तथा उनकी रक्षाके लिये चारों ओर बाड़ा बनाने की स्कीम उपस्थित की, जो समय को देखते हुए स्वीकार करनी पड़ी और उसके अनुसार चावलोंके खेतोंका बटवारा हो गया तथा उनके चारों ओर बाड़ भी बना दी गई। इतने पर भी कुछ लालची मनुष्योंने दूसरोंके खेतों पर हाथ मारना प्रारम्भ कर दिया। अपराधियोंको यथोचित दण्ड दिया जानेपर भी उक्त घटनायें बढ़ती ही गईं। तब फिर सब लोग एक जगह एकत्र हुए और उन्होंने विचार किया कि हममें अनेक बुराईयाँ उत्पन्न हो गई हैं—चोरी और असत्य भाषणका प्रादुर्भाव हो गया है—अच्छा हो यदि हम एक मनुष्यको अपना मुखिया बनालें जो अपराधके अनुसार अपराधीकी दण्डव्यवस्था किया करे। हम लोग इसके बदलेमें उसे अपने अपने चावलोंका एक भाग दिया करेंगे। इस विचारके अनुसार वे एक ऐसे मनुष्यके पास गये जिसे सब लोग मानते थे और जो सब में योग्य था। उसके सामने जनताने अपना विचार उपस्थित किया और वह राजी हो गया, तब सब लोगोंने उसे चावलों का एक भाग प्रदान किया और वह महासम्मत कहलाया।

ऊपर उद्धृत जैन, हिन्दू तथा बौद्धधर्मके सृष्टि-सम्बंधी इतिहासका परिशीलन करनेसे यही सारांश निकलता है कि, सृष्टिके आदिमें मनुष्य पूर्ण सुखके साथ निवास करते थे, समस्त आवश्यक वस्तुएँ उन्हें यथेष्ट परिमाणमें उपलब्ध होती थीं और इस लिये झगड़ेकी कोई समस्या उपस्थित ही न होती थी। इन्हीं कारणोंसे उस समय वैयक्तिक संपत्तिवादका प्रचार न था, मनुष्य संतोषी और सरल परिणामी होते थे। अतः दण्डविधान और राजसंस्थाकी भी कोई आवश्यकता प्रतीत न होती थी। किन्तु पीछेसे वस्तुओंके यथेष्ट परिमाणमें न मिलनेके कारण मनुष्योंमें असन्तोषकी लहर उत्पन्न हुई, जिसने वैयक्तिक संपत्तिवादको जन्म दिया और साम्यवादका स्थान वैयक्तिक संपत्तिवादने ले लिया। चूँकि मनुष्योंका आन्तरिक ह्रास प्रारम्भ हो चुका था, अतः ज्यो ज्यों असन्तोषकी अग्नि प्रबल होती गई त्यों त्यों मनुष्योंमें लोभ और मोहकी मात्रा बढ़ती गई। इस पतनकी दशामें जो होना चाहिये था वही हुआ—जनतामें अनेक प्रकार की बुराईयाँ उत्पन्न हो गईं और मनुष्य चोरी तथा असत्यभाषण आदि निन्दनीय अपराध करनेमें तत्पर हो गये। जनताके द्वारा अपराधियोंकी भर्त्सना होने पर भी "मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की" की कहावत चरितार्थ होने लगी। देशमें अव्यवस्था और अशान्तिकी लहरें ज़ोर पकड़ने लगीं। उपायान्तर न होनेसे उसका दमन करनेकेलिये दण्डविधान और राजसंस्थाका प्रादुर्भाव हुआ। और इन्हीं राजसंस्थाओंकी कार्य-पद्धति 'राजनीति' के नामसे विख्यात हुई।

यह तो हुई 'राजनीति' या 'राज्य' की उत्पत्तिकी करुण कहानी, अब धर्मके प्रादुर्भाव पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि धर्म एक अनादिनिधन सत्य है—न उसकी उत्पत्ति होती है और न सर्वथा विनाश ही। किन्तु समयका प्रभाव उस पर भी पड़ता है जिससे वह कभी लुप्त हो जाता है और कभी आविर्भूत। भोगभूमिकालमें मनुष्य सुखी, संतोषी और विलासी होते हैं और निर्विघ्न भोग-विलास मनुष्यको अकर्मण्य बना देता है; इसीसे भोगभूमिया मनुष्य भी अपनी अपनी सहचरी के साथ आमोद-प्रमोदमें ही विशाल आयु बिता डालते

हैं—उन्हें कभी धर्माचरण करनेकी सुध ही नहीं होती।

यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि, जब भोग-भूमिमें धर्माचरण नहीं है और वहाँके स्त्री-पुरुष विलासी होते हैं तब तो वहाँ अवश्य अधर्माचरण होगा। किंतु वहाँ ऐसी दशा भी नहीं पाई जाती; क्योंकि केवल विलास अधर्मका जन्मदाता नहीं है। जब विलासमें विघ्नबाधायें आने लगतीं हैं या विलासकी इच्छित सामग्री नहीं प्राप्त होती और मनुष्य संतोषको ठुकरा कर विलासीसे लम्पटी बन जाता है—शरीरमें सामर्थ्य न रहने पर भी केवल हृदयकी प्यास बुझाने के लिये घरका शीतल जल छोड़ कर मृगमरीचिकाकी ओर दौड़ता है—तब विलास अन्याय और अत्याचार का रूप धारण कर लेता है।

वैसे तो संसारमें बहुतसे अपराध हैं किन्तु उनमें दो मुख्य हैं, चोरी और व्यभिचार। क्योंकि ये सामाजिक शान्तिके विशेष घातक हैं। और इन दोनों अपराधोंकी उत्पत्तिका मूल कारण है असंतोष और विषमता। जब एक दरिद्र मनुष्य यह देखता है कि उसका पड़ौसी बहुत धनाढ्य है—रहनेके लिये विशाल भवन है और सोनेके लिये दुग्धफेनके सदृश उज्ज्वल शय्या—, भर पेट खाता है और भर मूँठ नाच-रंगमें उड़ाता है—सेवाके लिए सैकड़ों दास-दासी हैं और घूमनेके लिये फिटन और मोटर—और......वह देखो...उधर खिड़कीमें कैसी सजीली शरत चाँदनीसी उसकी गृहलक्ष्मी है। और एक मैं हूँ...खानेको दाना नहीं—दिन भर कड़ी धूपमें कठोर परिश्रम करने पर भी जानके लाले पड़े रहते हैं, टूटी फूटी झोंपड़ी वर्षा-ऋतुमें जयपुरके 'सावन भादों' की स्मृति उत्पन्न कराती है और श्रीमती जी—बस कुछ न पूछो—ताड़का राक्षसीकी सहोदरा हैं।" तब उसके हृदयमें सामाजिक विद्रोहकी आग भड़क उठती है और वह चोर तथा व्यभिचारी बन जाता है। किन्तु जहाँ साम्यवाद है—प्रकृतिप्रदत्त भोग-उपभोगको सब स्वेच्छापूर्वक भोग सकते हैं—न कोई स्वामी है और न कोई सेवक, बाह्य सौंदर्य भी एक ही साँचेमें ढला हुआ है, वहाँ अशान्ति या अराजकता हो तो कैसे हो? और लोग पापाचरण में प्रवृत्त हों तो क्यों कर हों?

जब भोगभूमि कर्मभूमिका रूप धारण कर लेती है और प्रजा षट्कर्म * से—असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्पसे—अपनी आजीविका करने के सन्मुख हो जाती है तब आदि ब्रह्मा (इस युगके भ० ऋषभदेव) के आदेशसे इन्द्र ग्राम-नगरादिकी रचना करता है। सबसे प्रथम अयोध्याकी रचना होती है और इन्द्र उसके मध्यमें एक तथा चारों दिशाओंमें चार इस प्रकार पाँच जिनालय × स्थापित करता है। श्रीत्रिलोकसार में कर्मभूमिके प्रारंभका वर्णन करते हुए लिखा है—

पुरगामपट्टणादी लोयियसत्थं च लोयववहारो।
धम्मो वि दयामूलो विणिम्मियो आदिबम्हेण ॥८०२

अर्थात्—आदि ब्रह्मा (श्री ऋषभदेव) ने नगर-

* तत्रासिकर्म सेवायां मषिर्लिपिविधौ स्मृता।
कृषि र्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने ॥१८१॥
वाणिज्यं वणिजां कर्म शिल्पं स्यात्करकौशलम्।
तच्च चित्रकला पत्रच्छेदादि बहुधा स्मृतम् ॥१८२॥
—आदि पु० पर्व १६।

× शुभे दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्ते शुभोदये।
स्वोच्चस्थेषु गृहेषूच्चै रानुकूल्ये जगद्गुरोः ॥ १४९ ॥
कृतप्रथममाङ्गल्ये सुरेन्द्रो जिनमन्दिरम्।
न्यवेशयत्पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमात् ॥१५०॥
— आदि पु० पर्व १६।

ग्राम-देश आदिकी रचना, लौकिक कार्यसम्बन्धी शास्त्र, लौकिक व्यवहार और दयामयी-अहिंसाधर्मकी स्थापना की।

उक्त विवरण से पता चलता है कि धर्म और राजनीतिका प्रादुर्भाव समकालीन है या यह कह सकते हैं कि धर्माचरण की रक्षाके लिये ही राज्य-संस्था की स्थापना की जाती है। यद्यपि गृहस्थाश्रममें, जिसका राज्यसंस्थाके साथ घनिष्ठ सम्बंध है, धर्मके अतिरिक्त अर्थ और कामका भी सेवन होता है और गार्हस्थ्य जीवनके लिये ये (अर्थ और काम) भी उतने ही उपयोगी तथा आवश्यक हैं जितना कि धर्म है तथापि तीनोंमें धर्म पुरुषार्थ ही मुख्य है। यहाँ पर हम धर्म पुरुषार्थको मुख्य केवल इस लिये ही नहीं बतला रहे हैं कि उसका परलोकके साथ सम्बन्ध है। यदि हम नास्तिक विचारोंके आधार पर परलोकको कपोल-कल्पित भी मान लें, तब भी लौकिक व्यवस्था तथा सामाजिक [1]शान्तिके लिये धर्मका अवलम्बन करना ही पड़ेगा। उसके बिना अर्थ और कामका साधन अशक्य है। दृष्टान्तके लिये—चोरी तथा व्यभिचार सेवन अ-धर्म है और न्यायपूर्वक धन उपार्जन करना तथा स्वस्त्री में सन्तोष रखना धर्म है। राज्यसंस्था नियम-उपनियम बना कर इस अधर्मका उच्छेद तथा धर्मका संरक्षण करती है। यदि इस धर्मतथा अधर्मकी व्यवस्थाको ठुकरा दिया जाय तो संसारमें अशान्ति तथा अव्यवस्थाका बोलबाला हो जाय और ऐसी दशामें मनुष्योंके सन्मुख अर्थ और कामकी चिन्ताके स्थान पर "आत्मानं सततं रक्षेत्" की जटिल समस्या उपस्थित हो जाय। इसी लिये प्राचीन शास्त्रकारोंनें राजा तथा राज्यके बहुत गुण गान किये हैं। जैन आचार्य सोमदेवने तो राज्यसंस्थाके सद्गुणों पर मुग्ध हो कर अपने 'नीतिवाक्यामृत' ग्रंथके प्रारम्भमें "अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः" इस सूत्रद्वारा धर्म, अर्थ और कामरूपी फलको देने वाले राज्यको नमस्कार तक कर डाला है। इसीसे राज्यसंस्थाकी महत्ता तथा उस का धर्मके साथ अबाध सम्बन्ध होनेका पूर्ण परिचय मिलता है।

[1] यह लेख भी समाजशास्त्रके दृष्टिकोणसे लिखा गया है। ले०

आजकल बहुतसे धर्मभीरु केवल धर्मका आँचल पकड़ कर राजनैतिक संग्रामसे मुँह छिपाते हैं और धर्म तथा धर्मात्मा प्रजा पर दिन रात होने वाले अत्याचारोंको धर्म (?) में पगी हुई दृष्टिसे टुकुर टुकुर देखा करते हैं। उन्हें यह न भूलना चाहिये कि राजनैतिक प्रचंड आन्धीमें धूलिके सदृश धर्म टिक नहीं सकता है। जो राजशक्ति धर्मका संरक्षण करती है वही संहार भी कर सकती है। राजनैतिक प्रगतिके वातावरण पर ही धर्मका प्रसार या संहार अवलम्बित है। अतः जो सच्चे धर्मात्मा गृहस्थ होते हैं वे सर्वदा अधार्मिक तथा अत्याचारी राजसंस्थाके विरुद्ध अपना सर्वस्व न्यौछावर करनेको तैय्यार रहते हैं और संसारमें अधर्म-मूलक राजनीतिका संहार करके धर्म तथा न्यायमूलक राजशक्तिको स्थापित कर धर्म और राजनीतिके पुरातन सम्बन्धका पुनरुद्धार करते हैं। ऐसे ही परोपकारी पुत्रोंसे जननी-जन्मभूमिका मुख उज्ज्वल होता है और मानवसंसार हर्षसे उन्मत्त हो कर चिल्ला उठता है—

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"

जेसलमेरके भण्डारोंके

प्राचीन ग्रंथोंके फोटू

[लेखक—श्री०मुनि हिमांशुविजयजी, न्यायतीर्थ; अनुवादक—पं० ईश्वरलाल जैन विशारद]

साहित्यकी वृद्धि और रक्षणके लिये मध्यकालमें 'मारवाड़' ने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की है। उसमें भी 'जेसलमेर'का नाम इस कार्यमें सबसे बढ़गया है—अनेक विषयके संस्कृत, प्राकृत, मागधी, अपभ्रंश शौरसेनी, पाली, गुजराती, मारवाड़ी और हिन्दी भाषाके प्राचीन ग्रंथ जेसलमेरके पवित्र भण्डारोंमें उपलब्ध हैं। जेसलमेरके इन भण्डारोंमें ऐसे अजैन ग्रन्थ भी उपस्थित हैं, जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। पहले तो जेसलमेरके भण्डाराधिकारी भी औरोंकी तरह अत्यंत संकुचित चित्त वाले थे, जिस कारणसे साहित्यसेवियोंको उन पवित्र ग्रंथोंका दर्शन भी बहुत दुर्लभ था; परन्तु ज़मानेकी हवासे वह संकुचितता कम होती जा रही है, जिससे हज़ारों माइल दूरसे यूरोपियन और भारतीय विद्वान् मारवाड़ जैसे शुष्क प्रदेशमें मुसाफरीकी विडम्बना सह कर भी उत्कण्ठा और नम्रतापूर्ण हृदयसे जेसलमेर आकर ग्रन्थोंके दर्शन करते हैं, प्रशस्ति, ग्रन्थ, ग्रन्थकर्ताका नाम आदि लिख कर ले जाते हैं, और उस पर साहित्यके सुन्दर सुन्दर लेख लिखते हैं। साहित्यसेवी 'ओरियन्टल गायकवाड़ सिरीज़' को भी यह कार्य अत्यावश्यक लगा और इसी लिये इस संस्थाने साहित्यके महान् विद्वान् श्रीयुत् श्रावक चिमनलालजी दलाल एम. ए. को जेसलमेर भेज कर कई एक सुन्दर ग्रंथोंकी टिप्पणी कराई थी, और बादमें उनकी अकाल मृत्यु हो जाने पर सेन्ट्रल लायब्रेरीके जैन पण्डित श्रावक लालचंद भगवानदास जी गान्धीने उन टिप्पणियोंको व्यवस्थित कर उन पर संस्कृत भाषामें इतिहासोपयोगी एक टिप्पण लिखा था। उस टिप्पणको 'जेसलमेर-भाण्डागारीय-ग्रन्थानां सूची' नामसे उपर्युक्त सिरीज़ने अपने २१ वें ग्रन्थके तौर पर सन १९२३ में प्रकट किया है। जेसलमेरके ताड़पत्र पर लिखे हुए ग्रन्थोंमेंसे ११ ग्रंथोंके (जो अत्यन्त जीर्ण हो गये हैं) केमेरा द्वारा फोटू लिये गये हैं। फोटोग्राफर भाई भगवानदास हरजीवनदास भावनगरी हैं। उन सभी ग्रंथोंके फोटुओंका दर्शन मुझे बम्बईके चातुर्मास में (ई० सन १९२७ में) 'श्री मोहनलाल जैन सेन्ट्रल लायब्रेरी' में हुआ। सब मिला कर फोटुओंकी २५४ प्लेटें हैं और उनका मूल्य २००) रु० है। अक्षर साफ नज़र आते हैं। उनमें नीचे लिखे हुए ११ ग्रन्थ हैं।

१ द्रव्यालङ्कारवृत्ति

प्रस्तुत कृति श्रीहेमचन्द्राचार्यके शिष्य प्रबन्धशतकारक महाकवि रामचन्द्र सूरि और गुणचन्द्र-रचित न्याय तथा सिद्धान्तविषयकी है। 'स्याद्वादमञ्जरी' आदि ग्रन्थोंमें 'तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ' इत्यादि, वाक्योंमें इन ग्रन्थकारों और ग्रंथका उल्लेख आया है। प्रमेयके विषयमें इस ग्रंथसे अच्छा प्रकाश पड़ता है; परन्तु दुःखकी बात है कि इस ग्रंथके तीन प्रकाशोंमेंसे पहला प्रकाश जेसलमेरके भण्डारोंमें भी उपलब्ध नहीं, अन्तिम दो ही प्रकाश वहाँ हैं। साहित्यसेवियोंसे मेरी

तो नम्र प्रार्थना है कि वे कमसे कम इस अमूल्य ग्रंथ के उपलब्ध भागको ही छपवा कर महा पुण्य प्राप्त करें । इस ग्रन्थके दूसरे प्रकाशका अंतिम भाग इस प्रकार है :—

रूपं च सत्व (स्व) मथवादिविटैर्विलुप्तमित्थं यदा[1] स्थितिमनीयत पुद्गलानाम् । तन्मा कदाचिदपि पुद्गल[2]तार्थमीनौ (?) संदीदृशन्यदि भवन्तितमाम् (मां) कृतज्ञाः ॥

इति श्रीरामचन्द्रगुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञद्रव्यालङ्कार-टीकायां द्वितीयपुद्गलप्रकाशः समाप्तः।

तीसरे प्रकाशके अंतमें निम्न लिखित उल्लेख है—

नोत्सेकाबहुमानतो न च परस्पर्द्धासमुल्लासतो- नापीन्दुद्युतिनिर्मलाय यशसे नो वा कृते संपदः। आवाभ्यामयमादृतः किमु बुधा(?) द्रव्यप्रपंचश्रमः संदर्भान्तरनिर्मितावनवमप्रज्ञाप्रकर्षश्रिये ॥

इति श्रीरामचन्द्रगुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञद्रव्यालङ्कारटीकायां तृतीयोऽकंपप्रकाश इति संवत् १२०२ सहजिगेन (ना) लिखि ।

२ प्रमाणमीमांसा

सर्वविद्यानिष्णात आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीरचित यह ग्रन्थ गौतमकृत 'न्यायसूत्र' (गौतमसूत्र) पद्धतिका है । पाँच अध्यायोंमें यह ग्रन्थ पूरा किया हुआ होना चाहिये, ऐसा प्रमाणमीमांसाके आरम्भके उल्लेख[3] से पता चलता है, यह ग्रन्थ अभी पूरा उपलब्ध नहीं हुआ । जेसलमेरकी प्रतिके अन्तमें 'समासपरीक्षानामप्रकरण' है, 'आर्हतमत-प्रभाकर-मंडल पूना'में १।। अध्याय 'न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम्' (२, १, ३४) सूत्र तक मूल और 'न चाविज्ञातस्वरूपं परपत्रं भेत्तुं शक्यमित्याहुः' (पृष्ठ १०८) टीका तक छपा है । अर्थात् मुद्रित भागकी अपेक्षा जेसलमेरमें कुछ अधिक भाग है । सम्पूर्ण ग्रन्थ (पाँच अध्यायका) यदि उपलब्ध हो जाय तो विद्वानोंको न्यायके सम्बन्धमें बहुत कुछ नवीनबातें मिलेंगी । अनुमानतः सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग ५००० श्लोकका होना चाहिये, जिसमें प्रमाण और जीवादि प्रमेय * का

१ 'जेसलमेर-भाण्डागारीय-ग्रंथानां सूची' में यथा' पाठ उतारा है ।

२ 'जेसलमेर-भाण्डागारीय-ग्रंथानां सूची' में 'पुद्गलकतामभीनौ' पाठ लिखा है ।

३ 'आन्हिकसमूहात्मकैः पञ्चभिरध्यायैः शास्त्रमेतदरचयदाचार्यः (वयं श्रीहेमचन्द्रसूरिः)।'

—प्रमाणमीमांसा पृष्ठ २ ।

* यद्यपि उपलब्ध तीन आन्हिकों (१।। अध्याय) में प्रमेयका वर्णन नहीं आया परन्तु ग्रन्थकारने स्वयं ही प्रारम्भमें कहा है कि— 'तेन न प्रमाणमात्रस्यैव विचारोऽत्राधिकृतः। किन्तु तदेकदेशभूतानां दुर्नयनिराकरणद्वारेण परिशोधितमार्गाणां नयानामपि । "प्रमाणनयैरधिगमः" इति हि वाचकमुख्यः, सकलपुरुषार्थेषु मूर्द्धाभिषिक्तस्य सोपायस्य सप्रतिपक्षस्य मोक्षस्य च । (विचारोऽत्राधिकृतः) एवं हि पूजितो विचारो भवति प्रमाणमात्रविचारस्तु प्रतिपक्षनिराकरणपर्यवसायी वाक्कलहमात्रं स्यात् ।

(प्रमाणमीमांसा सूत्र १ पृ०४ आर्हतमतप्रभाकरकी आवृत्ति)

इससे मालूम होता है कि इस प्रमाणमीमांसामें नय, दुर्नय, आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्षादिका भी वर्णन 'तत्त्वार्थ' की तरह होगा, तथा पृथ्वी काय आदिमें जीवसिद्धि भी विस्तारसे होगी । यह भी पृष्ठ२८ सूत्र १, १, २२ के 'पृथ्व्यादीनां च प्रत्येकं जीवत्वसिद्धिरग्रे वक्ष्यते" उल्लेखसे अनुमान होता है। "प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु' (१, १, ३१)सूत्रसे तो सामान्य प्रमेय का ही लक्षण कहा है और यह प्रमाणलक्षण पहले आन्हिकमें ही आ गया है ।

विस्तारसे वर्णन होगा।

साहित्यप्रेमी संस्था अथवा गृहस्थोंको, **समन्तभद्राश्रम** की तरह इस ग्रंथके लिये अच्छा पारितोषिक निश्चित करके अथवा अन्य जो भी उपाय हो सके उस उपायसे, यह ग्रन्थ जहाँ हो वहाँ से इसका पता लगाना अत्यावश्यक है।

पूज्य मुनिराजोंको भी यह ग्रन्थ हर एक भण्डार में ढूँढना चाहिये, और यदि अधिक भाग न मिले, तो जेसलमेरसे उपलब्ध भागको अच्छी तरह शुद्धतापूर्वक छपवाना आवश्यक है। 'आर्हतमतप्रभाकर' की ओरसे प्रकाशित आवृत्ति बहुत अशुद्ध छपी है। यह ग्रंथ कलकत्ता यूनिवर्सिटीकी जैन. श्वे. न्यायतीर्थकी परीक्षामें नियत है।

३ कुवलयमाला

मुख्यतया प्राकृत और अपभ्रंशभाषामें रचित यह कथा भाषाके इतिहासमें अच्छा प्रकाश डालने वाली है। थोड़े ही भण्डारोंमें इस ग्रन्थकी प्रतियाँ उपलब्ध हैं। यूरोपियन स्कॉलर इसकी बहुत प्रतीक्षा कर रहे थे। 'पुरातत्त्व-मंदिर-अहमदाबाद' इसे प्रकाशित करने का विचार कर रहा है। इसका रचनाकाल १२०० **वर्षसे प्राचीन है**। अपभ्रंश भाषामें कथाके विषय का इतना पुराना ग्रंथ मेरे खयालसे अभी तक कहीं पर उपलब्ध नहीं हुआ है *।

४-सावगधम्म (श्रावकधर्म-प्राकृतमें)

५-कर्मप्रकृतिचूर्णि-टिप्पण (संस्कृतमें)

६-हरिवंश

७-विलासवईकहा (विलासवतीकथा-प्राकृतमें)

प्रसिद्ध आचार्यरत्न श्रीहरिभद्रसूरि-विरचित 'समराइच्चकहा (समरादित्य कथा)' के भावको ले कर ११ संधियों (विभागों) में अपभ्रंश भाषाकी यह कथा आज तक कहीं भी नहीं छपी। ग्रन्थकर्ताने अपना नाम **'साधारण'** लिखा है, परंतु मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि, उनका उपनाम 'साधारण' होगा, जैसे कि सन्मित्र, वीरपुत्र, भिक्षु आदि। उनका मूलनाम तो **सिद्धसेनसूरि** था, वह 'कोटिक' गणके 'बप्पभट्ट' सूरिके समुदायमें हुए हैं, ऐसा उल्लेख करते हैं। उसका अन्तिम भाग इस प्रकार है:—

कह विलासवइ एह सम्माणिय
नियबुद्धिहिं मं जारिस जाणिय।
एह कह निसुणेविणु सारु
मुंचेविणु सयलपमायइं परहरहु ॥
असहहुं मणु खंचहु जिणयरु
अंचहु साहरणु विरमणु वरहु।
इइ (अ) विलासवइकहाए एगारसमासंधी
समत्ता। संमत्ता विलासवइ कहा ॥

८ धर्मोत्तर-टिप्पण

बौद्धाचार्य 'धर्मपाल' के शिष्य धर्मकीर्ति ईसाकी सातवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए हैं। उनके द्वारा रचित **न्यायबिन्दु** पर बौद्ध **धर्मोत्तराचार्य** ने संस्कृतमें टीका* रची है, उस टीका पर **श्रीमल्लवादि जैनाचार्य**का यह टिप्पण रहस्योपेत है। धर्मोत्तरका समय आज कलके कई शोधक ईसाकी आठवीं शताब्दीका पूर्वार्ध और कई ९ वीं शताब्दि का पूर्वार्ध मानते हैं। अतः प्रस्तुत टिप्पणके कर्ता श्रीमल्लवादिका समय कमसे कम आठवीं या नवमी शताब्दि होना चाहिये। 'नयचक्र-

* दिगम्बर साहित्यमें इससे प्राचीन कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं।—सम्पादक

* प्रस्तुत टीकासहित 'न्यायबिन्दु' ग्रंथ हरिदास गुप्तद्वारा बनारसमें छपा है।

वाल' के कर्ता प्रचण्ड तार्किक मल्लवादि से प्रस्तुत टिप्पणकार मल्लवादि भिन्न होने चाहियें, क्योंकि जैन-परम्परानुसार 'नयचक्रवाल' के कर्ताका समय चौथी शताब्दि है×। इस टिप्पणको 'गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज़' छपवाये तो अच्छा है।

९ सर्वसिद्धान्तप्रवेश

माधवाचार्य कृत **'सर्वदर्शनसंग्रह'** की पद्धतिका यह ग्रंथ जैनाचार्यकृत होना चाहिये; क्योंकि ग्रंथकारने इसके मंगलाचरणमें जिनेश्वर* को नमस्कार किया है। इसमें नैयायिक आदि सात दर्शनोंका मुख्यतया वर्णन है। इस ग्रन्थका अन्तिम भाग इस प्रकार है:—

"लोकायतिकानां संक्षेपतः प्रमेयस्वरूपम् इति लोकायतराद्धान्तःसमाप्तः सर्वसिद्धान्तप्रवेशकःसमाप्तः। नैयायिक-वैशेषिक-जैन-सांख्य-बौद्ध-मीमांसक-लोकायतिकमतानि संक्षेपतः समाख्यातानि।"

१०-संयमाख्यानकम्

११-प्रकीर्ण

उपर्युक्त ११ ग्रंथोंमेंसे **द्रव्यालङ्कारवृत्ति, कुवलयमाला, विलासवइकहा, धर्मोत्तरटिप्पण** और **सर्वसिद्धान्तप्रवेश,** इन पाँच ग्रंथोंको हमारी जैन साहित्यप्रचारक संस्थायें और विद्वान् शीघ्र ही प्रकाशित करनेका यथाशक्य प्रयत्न करेंगे ऐसी आशा रखता हुआ मैं इस लेखको समाप्त करता हूँ। श्री-मोहनलाल जैन सेन्ट्रल लायब्रेरी की हस्तलिखित उपयोगी ग्रन्थ प्रतियोंकी सूची मैंने देखी है, और नोट भी किये हैं, उसके सम्बन्धमें समय मिलने पर विवेचन सहित लिखनेका विचार है।

× जैनपरम्पराका यह समय-सम्बन्धी कथन क्या जांचके द्वारा ठीक पाया गया है? यदि नहीं तो फिर दोनोंको एक माननेमें क्या बाधा है? —सम्पादक

* सर्वभावप्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरं।
वक्ष्ये सर्वविगमेकं यदिष्टं तत्त्वलक्षणम्॥

मिथ्या धारणा

आजकल भारतवर्षमें बहुतसे हिंसक, तीव्र कषायी और रौद्र परिणामी मनुष्य भिरड़, ततैये, बिच्छू, कानखजूरे, तथा खटमल, पिस्सू, मच्छर आदि छोटे छोटे दीन जन्तुओंको मारकर अपनी बहादुरी जतलाया करते हैं और भिरड़ ततैयोंके छत्तोंमें आग लगा कर तीसमारखाँ बना करते हैं। जब उनसे कोई करुणा-हृदय व्यक्ति पूछता है कि आप ऐसा निर्दयताको लिये हुए हिंसक कार्य क्यों करते हैं? तो वे बड़े हर्षके साथ, मुसलमान न होते हुए भी, उत्तरमें यह मुसलमानी सिद्धान्त सुना देते हैं कि—

"क़तलल मूज़ी क़बलुल् ईज़ा"

अर्थात्—'ईज़ा (दुख) पहुँचानेसे पहले ही मूज़ी (दुख देने वाले) को मार डालना चाहिये।' परन्तु वे कभी इस बातका विचार भी नहीं करते हैं कि जब भिरड़, ततैये आदि थोड़ी सी पीड़ा पहुँचाने हीके कारण मूज़ी और वधयोग्य हैं तो फिर हम, जो कि उनको जानसे ही मार डालते हैं और उन जन्तुओंका गाँवका गाँव (छत्ता) भस्म कर देते हैं, उनसे कितने दर्जे अधिक मूज़ी और वधयोग्य ठहरते हैं।

वास्तवमें विचार किया जाय तो यह सब उनकी

मिथ्या धारणा है, वे उक्त सिद्धान्तका बिलकुल दुरुपयोग कर रहे हैं और उन्होंने उसके वास्तविक आशय को जरा भी नहीं समझा है—न तो उन्हें मूज़ीकी खबर है और न ईज़ा की। यदि इस सिद्धान्तका वही आशय लिया जाय जैसा कि वे समझ रहे हैं और तदनुकूल प्रवर्त रहे हैं—अर्थात् यह कि, जो कोई प्राणी किसी दूसरे प्राणीको थोड़ासा भी दुख देने वाला हो वह मूज़ी है उसको मार डालना चाहिये, तो ऐसी हालतमें मनुष्य सबसे पहले मूज़ी और वधयोग्य ठहरते हैं; क्योंकि ये बहुतसे निरपराधी जीवोंको सताते और उनको प्राणदण्ड देते हैं। परन्तु यह किसीको भी इष्ट नहीं है। अतएव ऐसा आशय कदापि नहीं है। इस सिद्धान्तका साफ़ आशय और असली प्रयोजन यह है कि मनुष्योंको अपने नफ़्सको मारना चाहिये। अपनी इन्द्रियों (हवास खमसा) को वशमें करना चाहिये। ये ही मूज़ी हैं। इन्हींके कारणसे इस आत्माको नाना प्रकारके जन्म-मरण तथा नरक-निगोदादिकके दुःख और कष्ट उठाने पड़ते हैं। इन्हीं के प्रसादसे आत्माके साथ कर्म-बन्धन होकर उसके गुणों का घात होता है, जिससे अधिक आत्माके लिये और कोई ईजा नहीं हो सकती है और न इनसे अधिक आत्माके लिये और कोई मूज़ी ही हो सकता है। इन इन्द्रियोंका निग्रह करने और इनकी विषय-वासनाको रोकने तथा राग-द्वेषरूप परिणतिको हटानेसे ही इस आत्माके दुखकी निवृत्ति होकर उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है। नीतिकारोंने बहुत ठीक कहा है:—

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणाम संयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

अर्थात्—मुसीबतों तथा दुःखोंके आनेका एकमात्र मार्ग इन्द्रियोंका असंयम—उनका वशमें न करना—है, और उनको जीतकर अपने वश में करना ही सुखों का एक मात्र मार्ग है। अतः जो मार्ग इष्ट हो उस पर चलना चाहिये—सुख चाहते हो तो इन्द्रियोंको अपने अधीन करो और दुःख चाहते हो तो इंद्रियोंके अधीन हो जाओ, उनके गुलाम बन जाओ।

कवि 'ज़ौक़' ने भी नफ़्सको बड़ा मूज़ी करार देते हुए उसीको मारनेकी प्रेरणा की है। वे कहते हैं—

"किसी बेकसको ऐ बेदादगर! मारा तो क्या मारा?
जो खुदही मर रहा हो उसको गर मारा तो क्या मारा?
बड़े मूज़ीको मारा नफ़्से अम्माराको गर मारा।
नहंगो अजदहाओ शेरे नर मारा तो क्या मारा?"

दूसरा आशय इस सिद्धांतका यह भी निकाला जा सकता है कि, जब तक ज्ञानावरण आदिक कर्म, जो आत्माके परम शत्रु हैं और इस आत्मा को संसारमें परिभ्रमण कराकर नाना प्रकारके कष्ट देते हैं, उदयमें आकर इस आत्मा को दुःख और कष्ट देवें अथवा ईज़ा पहुँचावें उससे पहले ही हमको तप-संयमादिरूप धर्माचरणके द्वारा उनको मार डालना चाहिये—उनकी निर्जरा कर देनी चाहिये—जिससे वे हमको ईज़ा (दुख) न पहुँचा सकें।

इन दोनों आशयों के अतिरिक्त उपर्युक्त सिद्धांत का यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि किसी प्राणधारीका वध किया जावे। ऐसा आशय करने से दयाधर्मके सिद्धांतमें विरोध आता है। वह सिद्धांत तब अधर्ममयी हो जानेसे सर्वथा हेय ठहरता है और किसी भी दयाधर्म के मानने वाले को उस पर आचरण नहीं करना चाहिये। यह कैसी खुदग़र्ज़ी और अन्याय है कि जिस बातको हम अपने प्रतिकूल समझें या जिस वधादिको हम अपने लिये पसन्द न करें उसका आचरण दूसरों के प्रति करें।

माताके आँसुओंकी नदी

[लेखक—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी]

(१)

आओ आओ यहाँ, मेरे प्यारे सुत सारे !
निर्धनके धन अहो ! दुखी नैनों के तारे !
अपनी बीती कथा, व्यथा की सर्व सुनाऊँ;
जी-भर रोऊँ और तुम्हें भी साथ रुलाऊँ !!

(२)

बहुत दिनों से शोक-सिन्धु यह उमड़ रहा था;
रुकता था नहिं किसी तरह से, घुमड़ रहा था !
आज तुम्हें सम्मुख लख, मेरे रहा न वश का;
आँसुअनके मिस बढ़ा वेग, देखो यह उसका !!

(३)

दो हजार वर्षों का भूला हुआ पुरावृत;
स्मृति पट पर लिख गया, दीखने लगा यथावत।
छाती दरकी जाती है, उसका विचार कर;
ऊँचे से नीचे गिरना नहिं किसे कष्टकर ?

(४)

एक समय वह था, जब यह भारत सुखकारी;
मम पुत्रोंसे ही था, अतुलित महिमाधारी।
विद्या-बल-धन-मान-दानकी प्रथम बड़ाई,
मेरे ही बेटों के थी हिस्से में आई ॥

(५)

बड़े बड़े राजा, महाराजा, सचिव, वीरवर;
धनकुबेर, व्यापारी, कवि, विद्वान, धुरंधर।
थे अगनित मम पुत्र वंशमुख उज्वलकारी;
तन-मन-धनसे करने वाले सेवा प्यारी ॥

(६)

मेरा प्रखर प्रकाश जगत में फैलाते थे;
जिसे देख प्रतिपक्षी चकचौंधा जाते थे।
स्यादवाद की दिव्य ध्वजा, जब लहराती थी;
वादीन्द्रों की भी छाती तब, थहराती थी ॥

(७)

किन्तु रही यह नहीं अवस्था चिर दिन मेरी;
सौख्य-गगन पर घिर आई दुखघटा घनेरी !
सुखसामग्री हाय ! न जाने कहाँ विलानी !
विपदाओं पर विपदायें, आईं अनजानी !!

(८)

अंग हुए विच्छेद और प्रत्यंग गये गल,
अतिशय कृश हो गई, देहलतिका मेरी ढल !
रक्षक भी विद्वानपुत्र नहिं रहे लोकमें;
मन्दज्योति आँखों की हुई असह्य शोकमें !!

(९)

अभिमानी बहिरात्मबुद्धि पाखंडपरायण-
कई कुपूतोंने पाकर, थोड़ासा कारण।
सत्यानाशी कलह उठाई घरकी घर में;
किये एकके कई, न सोचा कुछ भी उरमें !!

(१०)

आपस में लड़ मरे किया हित यों औरोंका,
अपनी ओर न देख, बढ़ाया बल गैरोंका !
लीला फूट महारानी की बड़ी विलक्षण,
अपने-परका ज्ञान भुला देती जो तत्क्षण !!

(११)

फिर कुछ दिवसोंमें अशान्तिकी आग भयङ्कर—
लगी देशमें जहाँ तहाँ, थहराने सब नर !
म्लेच्छोंने आक्रमण किये एकाइक आकर;
हाय ! मरों को भी मारै, यह विधि निर्दयतर !!

(१२)

रहती थी मैं जहाँ, वहाँ ही आग लगाकर,
जला दिया साहित्यकुंज मेरा मंजुलतर !
खोज खोज कर ग्रंथ डुबाये गहरे जलमें,
जलविहीन अतिदीन मीनसम हुई विकल मैं !!

(१३)

देख दशा वह, दया दयाको भी आती थी;
पापपङ्कसे प्लावित पृथ्वी थहराती थी !
तौ भी जीती रही, प्राण पापी न सिधारे !
माँगे भी नहिं मिलै मौत दुखियों को प्यारे !!

(१४)

भूमिगर्भके गुप्त घरोंमें रहा सहा जो,
दुष्टों की नजरों से छिपकर पड़ा रहा जो;
जीर्ण-शीर्ण अति मेरा जो साहित्य अधूरा,
उसको ही उरसे लगाय, माना सुख पूरा !!

(१५)

इसके पीछे कई शतक बीते दुखदाई,
जीवनरक्षा कठिन हुई, सब शान्ति पलाई !
रही न विद्याकी चर्चा, नहिं रहे विपुलमति;
फैला चारों ओर घोर अज्ञानतिमिर अति !!

(१६)

लगे भूलने मुझको, सब ही मेरे प्यारे;
सच है 'दुखका कोइ न साथी सुख के सारे' !
"उपकारिनि अपनी जननी यह इसे बचाना-
है कर्तव्य हमारा" यह भी ज्ञान रहा ना !!

(१७)

अन्धकूप-सम भंडारों में मुझको डाली,
अथवा घरके कोनोंमें दी जगह निराली !
पवन न पहुँचे जहाँ, घामका नाम न आवै,
दीमकका परिवार रोज ही भोज बनावै !!

(१८)

बहुत समय यों रही, यातना दुस्सह सहती;
जीते जी ही मृत्युदशाका अनुभव करती !
किन्तु न किया विषाद, दृष्टि रखके भावी पर;
आशा-नौका बिना कौन तारै दुखसागर ?

(१९)

होती है सीमा परन्तु सबकी हे प्यारे !
तुमही कहो रहूँ कब तक मैं धीरज धारे !
जब देखा कि समय आने पर भी अब कोई—
सुधि नहिं लेता है, तब धीरज खो कर रोई !!

(२०)

सुखकारी विज्ञान-सूर्यका उदय हुआ है;
जहाँ तहाँ अज्ञान-तिमिरका विलय हुआ है।
सारा देश सचेत हुआ है नींद छोड़के;
कार्यक्षेत्रमें उतर पड़ा है चित्त जोड़के ॥

(२१)

शान्तिराज्य की छाया में सब राज़ रहे हैं;
सब प्रकार विद्या-सेवामें साज रहे हैं।
ग्रन्थोंका उद्धार उदार कराय रहे हैं,
घर-घरमें विस्तार, प्रचार कराय रहे हैं ॥

(२२)

मेरी थी जितनी सहयोगिनि और पड़ौसिन—
वे सब सुखयुत दिखती हैं, अब बीते दुर्दिन।
उनका पुष्ट शरीर ओजमय मन भाता है;
न्योछावर जग उन पर ही होता जाता है ॥

(२३)

दूर विदेशोंमें उनके सुत जाय रहे हैं,
अपनी माताओं का यश फैलाय रहे हैं।
जो कुछ उनसे बन सकता है करें न कमती;
धन्य धन्य वे कूख पूत जो ऐसे जनती ॥

(२४)

विद्यामें जिसको सब जगसे मिली बड़ाई,
उस अमेरिका में भी उनने ध्वजा उड़ाई।
कहते हैं सब सुधी भविष्यत धर्म वहाँका–
होगा अब वेदान्त न इसमें कुछ भी शंका ॥

(२५)

बुद्धदेव की वाणी भी अब मुदित हुई है,
पालीके लाखों ग्रन्थोंमें उदित हुई है।
जिसकी पुत्र पचासकोटि करते हैं पूजा,
कहो सुखी है और कौन उसके सम दूजा ?

(२६)

वह देखो सारे जगमें ईसा की वाणी-
कैसी विस्तृत हुई, स्वर्गसीढ़ी कहलानी।
कई शतक भाषाओंमें समुदित हो करके,
घर-घर पहुँची कर-करमें वितरित हो करके ॥

(२७)

इस प्रकार घर-घरमें सुखरवि उदय हुआ है;
किन्तु न मुझ दुर्भागनिका विधि सदय हुआ है!
जिसमें सब ही वृक्ष डहडहे हो जाते हैं,
उस वर्षामें आक ठूँठ-से रह जाते हैं !!

(२८)

सुख पाना यदि कहीं लिखा होता कपालमें,
तो तुम सब क्या कर न डालते अल्प कालमें !
धन-वैभव की कमी न तुममें दिख पड़ती है,
संख्या भी कई लाख तुम्हारी सुन पड़ती है ॥

(२९)

है उदारता भी तुम में सब से बढ़ चढ़कर,
एक एक लाखों दे देता आगे बढ़कर।
रथ-यात्रादि धर्म कामोंमें पानी जैसा–
द्रव्य बहाते हो, चाहे फिर रहे न पैसा !!

(३०)

भक्ति-भावकी भी तुममें नहिं कमी निहारी,
मुझे देखते ही तनुलतिका झुके तुम्हारी !
मेरा अविनय तुम्हें जरा भी सहन न होता,
विनय विनय रटते रहते हो जैसे तोता !!

(३१)

चाहो तो तुम सब कुछ अच्छा कर सकते हो,
मेरे सारे दुःख शीघ्र ही हर सकते हो।
किन्तु न मेरा रोग देख औषध करते हो,
भूखे को रसकथा सुनाय सुखी करते हो !!

(३२)

बस बेटो ! है यही कहानी इस दुखिनी की;
पक्की छाती करके, तुम्हें सुना दी जीकी !
पर न खेद करना, विस्मृत हो जाना इसको,
सह नहिं सकती है माता पुत्रोंके दुखको !!*

---

* यह लेखक महोदय की कई २१ वर्ष पहले की रचना है, जो जैनसमाजको उसके कर्तव्यका बोध कराने के लिये आज भी उतनी ही उपयोगी है; क्योंकि जिनवाणी माताका रुदन ज्यों का त्यों बना हुआ है और वह जैनियोंकी भारी अकर्मण्यता तथा कर्तव्य-विमुखताको सूचित करता है, जिसके फलस्वरूप आज सैकड़ों महत्व-पूर्ण ग्रंथ दुष्प्राप्य हो रहे हैं। कोई उनकी खोज तथा उद्धारकी ओर ध्यान तक भी नहीं देता ! और न जैनसाहित्यके प्रचारका ही कोई समुचित प्रयत्न जारी है। —सम्पादक

श्वेताम्बर-सम्मत सात निह्नव

[लेखक—श्री० पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ]

प्रवचनकी यथार्थ बातको छिपाकर, अन्यथा प्ररूपणा करनेको 'निह्नव' कहते हैं और जो इस प्रकार सत्यका अपलाप करता है वह भी 'निह्नव' कहलाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ऐसे सात निन्हव माने गये हैं, जिनमेंसे दोका प्रादुर्भाव तो भगवान् महावीर की मौजदगीमें ही हो गया था और शेष उनके बाद उद्भूत हुए हैं। 'स्थानाङ्ग' सूत्रमें सातोंके नाम, स्थान और मान्यताका निर्देशमात्र किया गया है परन्तु टीकामें और विशेषावश्यक भाष्यमें पूरा विवरण है। हम यहाँ पाठकोंको उनका वह विवरण संक्षेपमें देना चाहते हैं। विवरण यद्यपि मनोरंजक है और कुछ ज्ञातव्य बातों को भी लिये हुए है तथापि यह निश्चय है कि उसमें कल्पनाका भी बहुतसा भाग शामिल है। अस्तु; निन्हवोंके नामादिकके साथ भाष्यमें उनकी उत्पत्तिका जो समय बतलाया गया है वह इस प्रकार है:—

निह्नव	आचार्यनाम	उत्पत्तिस्थान	समय*
१ बहुरत	जमालि	श्रावस्ती	१४ वर्ष बाद
२ जीवप्रदेश	तिष्यगुप्त	ऋषभपुर (राजगृह)	१६ ,,
३ अव्यक्त	आषाढ	श्वेतविका	२१४ ,,*
४ समुच्छेद	अश्वमित्र	मिथिला	२२० ,,
५ द्वैक्रिय	गंग	उल्लुकातीर	२२८ ,,
६ त्रिराशि	षडुलूक	पुनरन्तरंजिका	५४४ ,,
७ अबद्धता	गोष्ठामाहिल	दशपुर	५८४ ,,

ऊपर निन्हवोंका जो समय विशेषावश्यक भाष्यके अनुसार बतलाया गया है उसे ठीक माननेमें अनेक अड़चनें हैं। यदि इस समयको ठीक मान लिया जाय तो 'ठाणांग' (स्थानाङ्ग) सूत्रमें इनका नाम आना असंभव था। क्योंकि ठाणांग तीसरा अंग है और वह निह्नवोंसे पहले ही बन चुका होना चाहिए। इस लिए या तो यह समय गलत है या फिर स्थानाङ्ग सूत्रको वीरनिर्वाणके ५८४ वर्षसे भी बाद का बना हुआ मानना पड़ेगा। यदि यह कहा जाय कि भगवानने केवलज्ञान-द्वारा भविष्यमें होने वाले निह्नवों का जिक्र कर दिया होगा, तो यह तर्क भी ठीक नहीं है। क्योंकि स्थानाङ्गमें 'भविस्सइ' या इस प्रकार का अन्य भविष्यकालीन क्रियापद नहीं है वरन् स्पष्ट शब्दोंमें 'हुत्था' होत्था पद * दिये हैं, जो भूतकालीन हैं और लिखनेसे पहले ही हो चुकने की निःसन्देह घोषणा करते हैं।

अब हम सातों निह्नवोंका संक्षिप्त विवरण क्रमशः उपस्थित करते हैं:—

* आदिके दो निह्नवों का समय महावीर को केवलज्ञान होने के बादका और अन्तके पांचका समय मुक्ति होने के बाद का है।

* स्थानाङ्ग का मूल पाठ—"समणस्स णं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयणनिण्हगा पं०(पण्णत्ता) तं (तं जहा) बहुरता जीवपएसिया अवत्तिया सामुच्छेइया दोकिरिया तेरासिया अबद्धिया एएसि णं सत्तण्हं पवयणनिण्हगाणं सत्त धम्मायरिया हुत्था, तं—जमालि तीसगुत्ते आसाढे आसमित्ते गंगे छलुए गोट्ठामाहिले, एतेसि णं सत्तण्हं पवयणनिण्हगाणं सत्तुप्पत्तिनगरा होत्था, तं०—सावत्थी उसभपुरं सेतविया मिहिलमुल्लगातीरं पुरिमंतरंजि दसपुर णिण्हगउप्पत्तिनगराइं" (सूत्र ५८७)।

पहला निन्हव

कुण्डपुर नगरमें भगवान् महावीरके भागिनेय और दामाद जमालि नामक राजपुत्र थे । उसकी स्त्रीका नाम ज्येष्ठा, सुदर्शना अथवा अनवद्यांगी था । जमालि ने पांचसौ पुरुषों के साथ और सुदर्शना ने एक हजार स्त्रियों के साथ भगवान् के पास दीक्षा ली । जमालि ग्यारह अंग सीख चुके तो उन्होंने भगवान् से विहार करने की आज्ञा माँगी । भगवान् ने हाँ, ना, कुछ न कहा—मौन रह गये। तब वह पांचसौ साधुओं को साथ लेकर चल दिया और पर्यटन करता हुआ 'श्रावस्ती' पहुँचा । रूखा-सूखा आहार करने से उसे भीषण बीमारी हो गई । वह बैठा नहीं रह सकता था, अतः उसने शिष्यों से बिछौना बिछाने के लिए कहा । शिष्य बिछौना बिछा ही रहे थे कि जमालि ने पूछा—"बिछौना बिछ गया या नहीं"। शिष्योंने अधबिछे बिछौने को बिछा हुआ कह दिया । वह उठकर आया और अधबिछा बिछौना देख आग-बबूला होगया । बोला—"सिद्धान्त में 'किये जारहे' कार्य को 'किया हुआ' कहना बताया है, वह एकदम ही मिथ्या है ।" बस यही पहले निह्नव का उत्पाद है और उसका प्रवर्तक जमालि भी निह्नव कहलाया । वृद्ध साधुओं ने उसे बहुतेरा समझाया, पर जब उसने एक न मानी तो कुछ साधु उसे छोड़ कर भगवान के पास चले गये और कुछ उसी के पास रह गये ।

जमालि की स्त्री सुदर्शना, उस समय श्रावस्ती में ही 'ढंक' नामक कुंभकार के घर ठहरीथी । जमालिके स्नेह के कारण उसने भी जमालि का मत अंगीकार कर लिया और 'ढंक' को भी अंगीकार कराने की चेष्टा की । ढंक विद्वान् था, वह ताड़ गया कि सुदर्शना मिथ्यात्विनी हो गई है ।

एक बार कुम्भकार ढंक आपाक (अवा) में मिट्टी के बर्तनों को उलट पलट रहा था । पास ही सुदर्शना बैठी स्वाध्याय कर रही थी । कुम्भकार ने एक अंगार सुदर्शनाकी संघाटी पर गिरा दिया । संघाटी का छोर जलने लगा तो वह बोली—"अरे श्रावक ! तुमने मेरी संघाटी क्यों जलादी ?" मौक़ा पाकर ढंक बोला "आपका सिद्धांत तो यह है कि जो कार्य हो रहा है उसे 'हो गया' कहना मिथ्या है । संघाटी अभी जल रही है, फिर आप 'जलादी' ऐसा क्यों कहती हैं ?"

कुम्भकार ढंक की इस युक्ति से सुदर्शना का मिथ्यात्व दूर हो गया । वह प्रतिबुद्ध होकर जमालिको प्रतिबोध देने गई, किन्तु जब न माना तो वह और जमालि के साथी साधु, उसे अकेला छोड़ भगवान् के समीप चले गये । अंत में जमालि मर कर किल्विष देव हुआ ।

जमालि की मुख्य मान्यता यह थी कि कार्य के एक ही समय में कोई वस्तु नहीं उत्पन्न हो सकती, किन्तु उसके लिए बहुत समय की आवश्यकता है । वह कहता है कि जो कार्य किया जा रहा है उसे किया हुआ या किया जा चुका, कहना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है । यदि अधूरे काम को पूरा कह दिया जावे तो फिर उस कार्य की निष्पत्ति के लिए किये जाने वाले व्यापार वृथा हो जावेंगे । मान लीजिए, कुंभकारने मिट्टी गूंथकर घड़ा बनाना प्रारम्भ किया । यदि प्रारम्भ करते ही, एक ही समय में, घट बन गया मान लें, तो फिर चाक घुमाना आदि क्रियायें व्यर्थ हो जाती हैं । इसके सिवा-य, जब कि क्रियाके प्रथम ही समयमें घट बन चुका तब उसे बनानेका अर्थ हुआ बने हुए घटको बनाना । यदि बने हुए घट को फिर भी बनाने की आवश्यकता है तो जीवन भर में यहाँ तक कि तीन काल में भी

वह आवश्यकता नहीं मिट सकती। अतः एक समयमें कार्य की उत्पत्ति न मानना ही युक्ति और व्यवहार के अनुकूल है।

लेकिन जमालि घट को एक ही कार्य मान कर यह व्याख्या करता है। वास्तव में घट बनाने के विचार से, मिट्टी लाने से लगाकर घट बन जाने तक अनेक कार्य अनेक समयों में करने पड़ते हैं। घटरूप एक महान् कार्य की ये सब कोटियाँ हैं। पूरा घट बनने में जितने समय लगते हैं, उतने ही वे अवान्तर कार्य हैं, जो सम्मिलित होकर एक महान कार्य कहलाते हैं। उन कामों की अपेक्षा एक-एक कार्य की उत्पत्ति मानना बेजा नहीं है। इस अपेक्षा को भुला देने से जमालि निह्नव कहलाया।

दूसरा निन्हव

भगवान् महावीर को केवल ज्ञान होने के १६ वर्ष बाद की बात है। राजगृह उर्फ ऋषभपुर में 'वसु' नामक आचार्य आये। उनके एक शिष्य 'तिष्यगुप्त' थे। वे एक बार 'आत्मप्रवाद' नामक पूर्व पढ़ रहे थे। उसमें एक जगह आया—" एक, दो, तीन आदि प्रदेशों को जीव नहीं कह सकते, यहाँ तक कि लोकाकाशके प्रदेशों के बराबर असंख्यात आत्मप्रदेशों में से एक प्रदेश भी कम को जीव नहीं कह सकते।" तिष्यगुप्त उस समय यह बात भूल गया था कि यह मत किसी एक नय की अपेक्षा से है। इसलिए उसने मिथ्यात्व के उदय से यह सिद्धांत कायम कर लिया कि जिस एक अन्तिम प्रदेश से जीवत्व आता है, वही एक प्रदेश जीव कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जीव एक प्रदेशी है। आचार्य ने उसे अनेक गंभीर युक्ति-प्रमाणों से समझाया, पर वह किसी प्रकार न माना तो उन्होंने उसे संघ से बाहर कर दिया। तिष्यगुप्त घूमता-घूमता आमलकल्पा नगरीमें आया। वहाँ मित्रश्री नामक एक श्रावक थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि यह निह्नव है, तो उसे उन्होंने निमन्त्रित किया। जब तिष्यगुप्त मित्रश्रीके घर पहुँचा तो उन्होंने बड़ा आदर-सत्कार दिखाकर बहुत-सी खानेकी चीजें उसके सामने रख दीं और उनमें से एक-एक सीथ-(सिक्थ-चावल) भर उसे दिया। यह हाल देख तिष्यगुप्त ने कहा "हे श्रावक ! यह क्या करते हो ? जरा-जरा सा अंश देकर क्या मेरा अपमान करते हो ?" मौक़ा देखकर श्रावक बोला—"यदि एक अवयव समस्त अवयवोंका काम नहीं दे सकता तो आप जीवके एक अंतिम प्रदेश को समस्त जीव मानने का आग्रह क्यों करते हैं ? वस्त्र का अन्तिम तंतु, वस्त्र-साध्य शीतत्राण आदि कार्य नहीं कर सकता, इस लिए उसे वस्त्र कहना उचित नहीं है। इसी प्रकार आत्मा के विषय में समझ लीजिए।"

जो तिष्यगुप्त आचार्यद्वारा अनेक तर्क वितर्क और शास्त्र प्रमाणों द्वारा समझाने पर भी न समझा था वही मित्रश्री की युक्ति से प्रतिबुद्ध हो गया। उसने अपनी भूल मान ली और आचार्य के समीप जाकर प्रतिक्रमण किया।

तिष्यगुप्त की मान्यता का आधार यह है, कि अन्य प्रदेशों के विद्यमान रहते हुए भी केवल एक प्रदेश की न्यूनता से जीवत्व नहीं आता। और जब वह एक प्रदेश सम्मिलित हो जाता है तब जीवत्व आता है। अतः उस एक प्रदेश के साथ ही जीवत्व का संबन्ध है, इसलिए एक प्रदेशको ही जीव मानना चाहिए।

यह एवंभूत नयका मत है। उसने विवक्षा-भेदको ध्यान में नहीं रक्खा। इसलिए वह निह्नव कहलाया।

तीसरा निन्हव

श्वेतविका नगरीमें आर्याषाढ़ नामक आचार्य थे। वही वाचनाचार्य भी थे। वे जिस दिन वाचनाचार्य नियुक्त हुए, उसी दिन रात्रिमें उन्हें हृदयशूल हो गया, और उसीसे उनका देहान्त हो गया। वे मर कर सौधर्म स्वर्गमें देव उत्पन्न हुए। उनकी मृत्यु का हाल किसी को मालूम न हुआ।

देव (आचार्य) ने अवधिज्ञानके द्वारा सारा पूर्व वृत्तांत जान लिया और उनके जो शिष्य 'आगाढ़योग' कर रहे थे उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए, वे फिर अपने पूर्व शरीर में आ घुसे। जब शिष्यों का आगाढ योगसमाप्त हुआ तो उन्होंने इस बातकी क्षमा माँगी कि मैंने असंयमी होते हुए भी साधुओं से वंदना कराई है। इसके सिवाय उन्होंने अपना सब हाल कह सुनाया।

आचार्य के वेषमें देव को इतने दिनों से वन्दना आदि करते रहने से साधुओं को विचार आया कि संयमी-असंयमी का तो कुछ पता नहीं चलता, बेहतर है कि किसी की वन्दना की ही न जाय। इस प्रकार उन साधुओंने आपसमें वन्दना करना बन्द कर दिया। स्थविर साधुओं ने उन्हें बहुतेरा समझाया कि यदि तुम्हें सर्वत्र संदेह ही संदेह है तो फिर उस देव की बात पर क्यों विश्वास करते हो? संभव है वह देव हो, संभव है न हो। उसके कहने से यदि उसे तुम लोग देव मानते हो तो अपने आपको साधु कहने वालों को साधु भी समझो। देव की अपेक्षा साधु का कथन अधिक विश्वासयोग्य होता है। युक्तियों से समझाने पर भी जब वे साधु कुछ न समझे तो उन्हें संघ से अलग कर दिया गया।

बहिष्कृत साधु पर्यटन करते करते राजगृह नगरमें पहुँचे। वहाँ उस समय मौर्यवंशीय 'बलभद्र'[1] नामक राजा राज्य करता था। वह श्रावक था। उसे मालूम हुआ कि अव्यक्तवादी निह्नव यहाँ आये हैं और 'गुणशिलक' चैत्य में ठहरे हैं। राजा ने उनको अपने पास बुला भेजा और सेना से कुचलवा कर मार डालने की आज्ञा दे दी। जब सेना और हाथी उन्हें कुचलने के लिए आए तो वे बोले—"राजन् हम जानते हैं, तुम श्रावक हो, फिर श्रमणों के प्राण क्यों लेते हो?"

राजा ने कहा—"मैं श्रावक हूँ या नहीं, यह किसे मालूम है? और आप लोग भी चोर हैं, लुटेरे हैं, या साधु हैं, यह भी कौन जान सकता है?"

साधु—"हम लोग साधु हैं।"

राजा—"तो अव्यक्तवादी बनकर परस्पर वंदना व्यवहार क्यों नहीं करते?"

इस तरह बहुत समझाने बुझाने से वे सब प्रतिबुद्ध होगये और लज्जित होकर सन्मार्ग पर आ गये। अन्त मे राजा ने कहा—"आप लोगों को प्रतिबोध देने ही के लिए मैंने ये सब उपाय किये थे।"

इस पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। जो प्रत्येक के साधुत्व में ही संदेह करते हैं वे जिनोक्त सूक्ष्म पदार्थों पर कैसे विश्वास कर सकते हैं? इसी से वे निह्नव कहलाए।

चौथा निन्हव

वीर-निर्वाण के २२० वर्ष बाद मिथिलापुरी में 'सामुच्छेदिक' निह्नव उत्पन्न हुआ था। महागिरिसूरि के कौण्डिन्य नामक शिष्यका शिष्य 'अश्वमित्र' था।

१ यह निह्नव महावीर-निर्वाण के २१४ वर्ष बाद हुआ बतलाया गया है। परन्तु इस समय में किसी 'बलभद्र' नामक मौर्यवंशीय श्रावक राजा का पता मुझे नहीं लगा। —लेखक

वह एक दिन अनुप्रवाद नामक पूर्व पढ़ रहा था। पढ़ते पढ़ते उसे ऐसा खयाल हो गया कि प्रत्येक पदार्थ एक क्षण-स्थायी है, दूसरे समय में सबका नाश हो जाता है। वह प्ररूपणा भी ऐसी ही करने लगा। उसे भी उन्हीं युक्तियों से समझाया गया, जो बौद्धमत के खण्डन के लिए काम में लाई जाती है। परन्तु जब अश्वमित्र न समझा तो उसे भी संघ बाहर निकाल दिया गया। वह भी घूमता घूमता राजगृह उर्फ काम्पिल्य नगर में पहुँचा। वहाँ खण्डरक्ष नाम के एक श्रावक थे। वे शुल्कपाल (जकात के ऑफिसर) थे। ज्योंही उन्हें निह्नवों का आना मालूम हुआ त्योंही उन्होंने उनको मारना पीटना प्रारम्भ कर दिया। निह्नव बेचारे डर के मारे कांपने लगे और मार के मारे हाँफने लगे। बोले—"हम कुछ नहीं जानते, तुम श्रावक होकर हम साधुओं को भी मारते हो?" खण्डरक्षने कहा—"जो साधु थे वे तो उसी समय नष्ट होगये,तुम लोग चोर लुच्चोंमेंसे न जाने कौन हो?"

खण्डरक्ष के इतना कहने ही से उन साधुओं ने अपना दुराग्रह त्याग दिया और "मिच्छामि दुक्कडं" (मेरा दुष्कृत मिथ्या हो) कह कर गुरु महाराज के पादमूलमें जा पहुँचे।

'अनुप्रवाद' पूर्वके जिस कथनको मान कर अश्वमित्रने क्षण-नश्वरता की स्थापना की थी, वह बौद्धों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है और जैनोंके 'ऋजुसूत्र' नयक दृष्टिमें संगत है। अश्वमित्र ने एकान्ततः ऋजुसूत्रकी ही प्रतिष्ठा करके अन्यान्य नयोंको सर्वथा भुला दिया था। इसी भूलके कारण वह निह्नव कहलाया।

पाचवाँ निन्हव

उल्लुका नदीके एक किनारे पर एक खेड़ा था और दूसरे किनारे उल्लुकातीर नामक नगर था। एक किनारे महागिरि का शिष्य धनगुप्त था और दूसरे किनारे आर्यगंग नामक आचार्य। शरद् ऋतुमें एक बार आर्यगंग आचार्य-वन्दनाके लिए नदी पार कर रहा था। गंग गँजा था। धूपके मारे ऊपरसे उसकी खोपड़ी जलने लगी और नीचेसे नदीके ठंडे पानीमें ठण्ड लगने लगी। इसी समय उसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्मने आ घेरा। वह सोचने लगा—

"शास्त्रोंमें लिखा है एक समयमें दो क्रियाएँ अनुभूत नहीं होतीं, किन्तु मैं एक ही समयमें दो क्रियाओं का वेदन कर रहा हूँ। आगमका यह कथन अनुभव-विरुद्ध है,अतः माननीय नहीं है।" उसने अपने विचार गुरुजीको कह सुनाये। गुरुजीने युक्तियाँ दे-देकर उसे समझाया पर उसने एक न मानी। अन्तमें गुरुजीने उसे संघ-बाह्य कर दिया और वह भी 'अश्वमित्र' आदि की तरह राजगृह नगर पहुँचा। वहाँ एक 'मणिनाग' चैत्य (?) था। उसीके समीप आर्यगंग अपना नया सिद्धान्त सभाको समझा रहा था। सुनकर मणिनागको बड़ा गुस्सा आया और गंगसे बोला—अरे दुष्ट शिक्षक! उल्टा-सीधा क्यों समझा रहा है? एक बार भगवान महावीर स्वामी इसी जगह आये थे और उन्होंने एक समयमें एक ही क्रियाका वेदन बताया था। मैं उस वक्त यहीं था—मैंने भगवानकी प्ररूपणा सुनी थी, तुम क्या उनसे भी ज्यादा जबर्दस्त उपदेशक हो, जो ऐसा उपदेश कर रहे हो? यह झूठी प्ररूपणा बन्द करो वर्ना अभी तुम्हारे प्राण लेता हूँ।"

मणिनागकी बात सुनते ही गंगके हाथोंके तोते उड़ने लगे और उसकी युक्तियोंसे उसे प्रतिबोध हो गया। इस प्रकार समझ कर वह गुरुके पादमूलमें चला गया।

गंग कहता था—स्वानुभव-विरुद्ध एक कालमें एक ही क्रिया वेदका नियम कैसे माना जा सकता है।

परन्तु उसका अनुभव ही ठीक न था। उपयोगमय आत्मा जब किसी एक इन्द्रियके सहारे एक विषयका अनुभव करता है, तब वह तन्मय हो जाता है। ऐसी अवस्थामें दूसरे विषयका नहीं हो सकता। हां, यह बात अवश्य है कि मन अत्यन्त शीघ्र संचार करता है इसी लिए वह दूसरे विषयकी ओर इतनी तेजीसे दौड़ जाता है कि हम कालभेदकी सहसा कल्पना भी नहीं कर पाते। किंतु सूक्ष्म-बुद्धिसे विचार करने पर समय, आवलिका आदि कालका भेद समझमें आ जाता है। एक दूसरेके ऊपर सौ कमलके पत्ते रखिए, फिर पूरा जोर लगाकर एक भाला उनमें घुसेड़ दीजिए। साधारण तौर पर यही समझ पड़ेगा कि सौकेसौ पत्ते एकसाथ छिद गये हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है। भाला क्रमशः उन पत्तोंमें घुसा है। और जब उसने पहले पत्तेको छेदा तब दूसरा नहीं छिदा था। इस प्रकार उनमें काल-भेद तो है पर वह साधारण तौर पर समझमें नहीं आता। गंग ने भी विशेष ध्यान न दिया और विपरीत प्ररूपणा आरम्भ करदी, इसीसे वह निह्नव कहलाया। यह वीर निर्वाण से २२८ वर्षबाद हुआ।

छठा निन्हव

अन्तरंजिका नगरीमें बहिर्भूतगृह नामक चैत्यमें श्रीगुप्त आचार्य ठहरे हुए थे। उनका शिष्य रोहगुप्त किसी दूसरे गाँवमें था। वह एक बार वन्दनाके लिए अन्तरंजिका आया। अन्तरंजिकामें एक परिव्राजक लोहेके पट्टेसे पेट बाँधकर और जम्बू वृक्षकी एक डाली हाथमें लेकर घूम रहा था। लोग जब उससे पूछते—'यह क्या स्वाँग बना रक्खा है?' तो वह उत्तर देता—'मेरा पेट ज्ञानसे इतना अधिक भर गया है कि फूटने का डर है, अतः इसे लोह-पट्टसे बाँध रक्खा है। और 'जम्बूद्वीप' में मेरा कोई प्रतिवादी नहीं है, इस बातकी सूचनाके लिए जम्बू वृक्ष की शाखा हाथमें रख छोड़ी है। लोगों ने उसका नाम 'पोट्टशाल' रख लिया था।

रोहगुप्तने उसके साथ शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया। और आचार्यसे सब वृत्तान्त कहा। आचार्य बोले—"तुमने यह उचित नहीं किया। तुम वादमें उसे हरा दोगे तो भी वह अपनी विद्याओंके बल पर डटा रहेगा। उसे ये सात विद्यायें खूब सिद्ध हैं—

१ वृश्चिकविद्या, २ सर्पविद्या, ३ मूषकविद्या, ४ मृगीविद्या, ५ वाराहीविद्या, ७ पोताकीविद्या।

अन्तमें आचार्यने इनकी प्रतिपक्षभूत सात विद्याएँ रोहगुप्तको सिखलाईं—१ मयूरीविद्या, २ नकुलीविद्या ३ बिडालीविद्या, ४ व्याघ्रीविद्या, ५ सिंहीविद्या, ६ उलूकीविद्या, ७ उलावकविद्या। आचार्यने रोहगुप्तका रजोहरण मंत्रित करके वह भी उसे दिया, जिसे मस्तक पर घुमाते ही अन्य विद्याएँ अपना प्रभाव न दिखा सकें।

रोहगुप्त राजा बलश्रीकी सभा में पहुँचे। परिव्राजक बड़ा धूर्त्त था। उसने रोहगुप्तके पक्षको ही अपना पूर्वपक्ष बनाया, जिससे कि रोहगुप्त उसका खण्डन न कर सके। वह बोला—"संसारमें दो ही राशियाँ हैं—एक जीवराशि और दूसरी अजीवराशि। इनके अतिरिक्त और कुछ भी संसारमें उपलब्ध नहीं होता।"

यह बात रोहगुप्तके अनुकूल थी, तथापि उसे नीचा दिखाने के लिए उन्होंने इसका भी खण्डन किया। वे बोले— "तीसरी राशि भी उपलब्ध होती है और वह है नोजीवराशि।"

इत्यादि युक्तियोंके द्वारा परिव्राजक पराजित हो कर अपनी वृश्चिकविद्या के द्वारा रोहगुप्त पर बिच्छू बरसाने लगा। रोहगुप्त ने मयूरीविद्यासे मयूर उड़ाना आरम्भ कर दिया। मयूरोंने बिच्छुओं को मार डाला। परिव्राजकने सर्प छोड़ना शुरू किया, रोहगुप्तने नौले

छोड़ दिये। इसीप्रकार मूषिकके लिए बिलाव, मृगीके लिए व्याघ्र, शूकरोंके लिए सिंह, काकोंके लिए उल्लू और पोतकीके लिए उलावक छोड़े जाने लगे।

परिव्राजक जब इनसे पार न पासका तो अन्तमें उसने एक गधैया छोड़ी। गधैया आती देख रोहगुप्तने अपने मस्तक पर रजोहरण घुमाकर वहीं गधैयाको जमा दिया। रोहगुप्तका जमाना था कि गधैया परिव्राजकके ऊपर मल-मूत्र त्याग कर चलती बनी। रोहगुप्तकी अब पूरी विजय हुई। सब लोगों ने परिव्राजक को खूब थूका और नगरसे निकाल बाहर किया।

रोहगुप्त गुरुके पास गये और सब वृत्तान्त कह सुनाया। गुरुजी बोले—परिव्राजकको जीत लिया, यह तो अच्छा किया; किन्तु वादके बाद सभाके समक्ष तुम्हें स्पष्ट कर देना चाहिए था कि यह हमारा सिद्धांत नहीं है। रोहगुप्त इस समय मिथ्यात्वी हो गया था। वह बोला—इस सिद्धांतमें कोई दोष ही दिखाई नहीं देता, तब मैं यह कैसे स्वीकार कर सकता हूँ। अन्तमें गुरु शिष्य मिलकर राजा बलश्री के पास फ़ैसला कराने गये। वहाँ निश्चय हुआ कि 'कुत्रिक आपण[१]' में चल कर 'नोजीव' माँगना चाहिए। यदि देवता नोजीव दे सका तो रोहगुप्तकी बात ठीक समझी जाय, न दे सका तो श्रीगुप्त की विजय मानी जाय। सब मिलकर 'कुत्रिक आपण' गये, पर देव 'नोजीव' न दे सका। श्रीगुप्तकी जीत हो गई और रोहगुप्त नगर बाहर कर दिया गया। यद्यपि रोहगुप्त पराजित हो चुका था, तथापि उसके गुरु उससे ऐसे चिढ़े कि जाते जाते विचारे के सर पर उन्होंने थूक ही दिया।

रोहगुप्तने शरीर में भस्म रमाई और वैशेषिक मत की स्थापना की। रोहगुप्त 'उलूक' गोत्र का था और उसने छह पदार्थ माने थे, इसीसे वह 'षडुलूक' भी कहलाया। इस प्रकार वैशेषिक मत वीरनिर्वाण संवत ५४४ में स्थापित हुआ!! *

रोहगुप्तने 'नोजीव' राशि एक पृथक मानी थी, किन्तु बाद में उसने छह पदार्थ क्योंकर मान लिये? इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है।

सातवाँ निन्हव

दशपुर नगरमें 'सोमदेव' ब्राह्मणका चौदह विद्याओं का पारदर्शी रक्षित नामक एक पुत्र था। वह तोसलीपुत्र आचार्य के समीप दीक्षित हो गया। उसने गुरुसे ग्यारह अंग और कुछ दृष्टिवाद सीख लिया था। शेष दृष्टिवाद उसने आर्यवैर स्वामी से पढ़ लिया था। कुछ दिन बाद उसके भाई और माता-पिता आदि भी दीक्षित हो गये। इस प्रकार उसका बड़ा गच्छ हो गया। गच्छ में चार साधु प्रधान थे—१ दुर्बलिका-पुष्पमित्र, २ विन्ध्य, ३ फल्गुरक्षित, गोष्ठामाहिल। दुर्बलिकापुष्पमित्र विन्ध्य को वाचना देता था। पर वह नववाँ पूर्व भूल गया था। आचार्य ने सोचा कि जब ऐसा बुद्धिमान भी पूर्वको भूल गया तो समस्त सूत्रोंको याद रखना बहुत कठिन है। यह विचार उन्होंने अनुयोगोंका विभाग कर दिया और नय निगाहित विभाग कर दिये। यहाँ आचार्य विहार करते करते मथुरा आये और मथुरासे दशपुर पहुँचे।

दशपुर आनेके बाद नास्तिकोंके साथ शास्त्रार्थ करनेके लिए आचार्य आर्यरक्षितने अपने शिष्य गोष्ठामाहिलको भेजा और अपने पद पर 'दुर्बलिका-

१ 'कुत्रिक आपण' एक ऐसा बाज़ार था, जहां तीन लोक के प्रत्येक पदार्थ मिल सकता था। वह देवता से अधिष्ठित था।

* यह वृत्तान्त ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय है।

पुष्पमित्र' को बिठा दिया। आचार्य स्वर्गवासी हो गये। जब गोष्ठामाहिलको यह वृत्तान्त विदित हुआ तो उसे बड़ी ईर्षा हुई।

एक बार विन्ध्य 'कर्मप्रवाद' नामक पूर्व पढ़ रहा था। उसमें यह प्रकरण आया कि कर्म आत्माके साथ इस प्रकार बद्ध हो जाते हैं जैसे अग्नि लोहेके गोलेके साथ। गोष्ठामाहिल छिद्र ढूँढ ही रहा था। यह अच्छा मौक़ा मिला। वह बोला—जब कि कर्म आत्माके साथ एकमेक हो जाते हैं तो छूट नहीं सकते। जैसे जीवके प्रदेश परस्पर एकमेक होनेके कारण जुदे नहीं हो सकते। अतः यह मानना चाहिए कि जैसे साँप और उसकी काँचलीका स्पर्श मात्र होता है, वैसे ही कर्म आत्माके साथ सिर्फ स्पृष्ट होते हैं,—बद्ध नहीं होते।

कुछ दिन बाद उसने दूसरी विप्रतिपत्ति पैदा की। साधु जीवन-पर्यन्त सावद्य-योगका प्रत्याख्यान करते हैं। गोष्ठामाहिलने इसे अनुचित ठहराया। वह कहने लगा—प्रत्याख्यानके विषयमें कालकी अवधि न होनी चाहिए। मर्यादा—भले ही वह जीवन भरकी हो—जोड़नेसे, मर्यादाके बाद भोगकी आकाँक्षा बनी रहती है। अर्थात् जीवनके बाद स्वर्गमें जाकर देवांगनाओंके भोग आदिकी इच्छा रह जाती है। इस इच्छाके कारण वह प्रत्याख्यान निर्दोष नहीं हो सकता।

आचार्य दुर्बलिकापुष्पमित्रने तरह-तरहके तर्कोंसे उसे समझाया पर वह अन्त तक न माना। पहलेके छह निह्नव तो अन्तमें रास्ते पर आ गये थे* परन्तु गोष्ठामाहिल निह्नव ही रहा।

इस प्रकार यह सातों निह्नवोंका संक्षिप्त परिचय है। विशेषावश्यक-भाष्यमें इनके सिद्धान्तोंका निराकरण भी दिया है। अस्तु; इनके समयसम्बंधमें कुछ विचार ऊपर प्रकट किया जा चुका है। और भी बहुत सी बातें ऐसी हैं जो विचारणीय तथा परीक्षणीय हैं।

* पहले निह्नवके परिचयमें तो उसका रास्ते पर आना प्रकट नहीं किया गया, तब क्या उसके प्रतिबोधकी बात छूट गई या पांच ही निह्नव रास्ते पर आए? —सम्पादक

हृदयोद्गार

कब आयगा वह दिन कि बनूं साधु विहारी ॥ टेक ॥

दुनियामें कोई चीज़ मुझे थिर नहीं पाती,
और आयु मेरी यों ही तो है बीतती जाती।
मस्तक पै खड़ी मौत, वह सब ही को है आती;
राजा हो, चाहे राणा हो, हो रंक भिखारी ॥१॥

संपत्ति है दुनियाकी, वह दुनियामें रहेगी;
काया न चले साथ, वह पावकमें दहेगी।
इक ईंट भी फिर हाथसे हर्गिज़ न उठेगी;
बंगला हो, चाहे कोठी हो, हो महल अटारी ॥२॥

बैठा है कोई मस्त हो, मसनदको लगाये;
मांगे है कोई भीख, फटा वस्त्र बिछाये।
अंधा है कोई, कोई बधिर हाथ कटाये;
व्यसनी है कोई मग्न, कोई भक्त पुजारी ॥कब०॥ ३

खेले हैं कई खेल, धरे रूप घनेरे;
स्थावरमें त्रसोंमें भी किये जाय बसेरे।
होते ही रहे हैं यों सदा शाम-सवेरे;
चक्करमें घुमाता है सदा कर्म-मदारी ॥कब०॥४

सब हीमें मैं रक्खूंगा सदा दिलकी सफाई;
हिन्दू हो, मुसलमान हो, हो जैन-ईसाई।
मिल-मिलके गले बाँटेंगे हम प्रीति-मिठाई;
आपसमें चलेगी न कभी द्वेष-कटारी ॥कब०॥५

सर्वस्व लगाके मैं करूं देशकी सेवा,
घर-घर पै मैं जा-जाके रखूं ज्ञानका मेवा।
दुःखोंका सभी जीवोंके हो जायगा छेवा,
भारतमें न देखूंगा कोई मूर्ख-अनारी ॥कब०॥ ६

जीवोंको प्रमादोसे कभी मैं न सताऊँ,
करनोंके विषय हेय हैं, अब मैं न लुभाऊँ।
ज्ञानी हूं सदा ज्ञानकी मैं ज्योति जगाऊँ;
समता में रहूंगा मैं सदा शुद्ध-विचारी ॥कब०॥७

* श्री०पं० अर्जुनलाल जी सेठीके 'महेन्द्रकुमार' नाटकका एक अंश।

राजा खारवेल और हिमवन्त-थेरावली

[लेखक—श्री० बाबू कामताप्रसादजी, सम्पादक 'वीर']

'अनेकान्त'की पाँचवीं किरणमें प्रकट हुए हमारे उपर्युक्त विषयके लेखका उत्तर श्रीमुनि कल्याणविजयजीने 'अनेकान्त'की ६-७ संयुक्त किरणमें देनेकी कृपा की है। इसके लिये हम उनके आभारी हैं; किन्तु उन्होंने अपने पूर्व-लेखसे हमें आघात पहुँचा बताया है, वह ग़लत है। हम साम्प्रदायिकताके पक्षपाती नहीं हैं*; किन्तु तो भी जो सिद्धांत हमें ठीक और उचित जँचता है, उसका समर्थन और पुष्टि करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। हमारी इस मान्यताको कोई साम्प्रदायिकता और पक्षपात-मूलक समझे, तो यह एक भारी नासमझी होगी। बस, इस सम्बन्धमें इतना कह देना ही पर्याप्त है कि हमें जब जब अवसर मिला है साम्प्रदायिकताके अनिष्ट प्रभावको मेटनेका उद्योग हमने अवश्य किया है और इसीका परिणाम है कि हमें कई एक श्वेतांबर विद्वानों और नेताओंकी मित्रता पानेका सौभाग्य प्राप्त है। इतने पर भी हमें 'हिमवन्त-थेरावली'को जाली कहना पड़ा है और श्वेताम्बर वृत्तिको वैसी (जाल बनाने वाली ?) प्रगट करना पड़ा है, उसका एकमात्र उद्देश्य सत्य-अनुसंधान है—आक्षेपक नियत उसमें कारगर नहीं है। जब अनुसन्धानसे हमें यह विश्वास हो गया कि थेरावलीका वह अंश जो प्रकट हुआ है मिथ्या सिद्ध होता है, तब हमने उसे जाली घोषित किया और श्वेताम्बर समाजमें ऐसी (जाल बनानेकी ?) क्रिया होतीहै, यह प्रकट किया, केवल इस मान्यताको पुष्टि देनेके लिये। उक्त मुनिजी भले ही हमारे पर्वोक्त लेखको 'साम्प्रदायिक कीचड़ उछालना समझें और भले ही उसे एक अतिसाहसी और बे-सिर-पैरका लेख क़रार दें; किन्तु 'अनेकान्त'में प्रकट हुए इस विषयके अन्य लेखोंको × और अपने प्रमाणोंको देखते हुए हम अपने लेखको समुचित और ठीक माननेको बाध्य हैं। हम ही नहीं; अब तो श्वे० मुनिश्री जिनविजयजी और अजैन विद्वान् श्रीजायसवालजी भी हिमवन्त-थेरावली के उल्लिखित वर्णनको जाली, बनावटी, प्रक्षिप्त और आधुनिक घोषित करते हैं*। और इसप्रकारकी क्रियाके विषयमें श्रीजिनविजयजी कहते हैं कि "ऐसी रीति हमारे यहाँ बहुत प्राचीन कालसे चली आ रही है इससे इस में हमें कोई आश्चर्य पानेकी बात नहीं।" अतः विद्वान पाठक स्वयं विचार लें कि हमने जो अपनेपूर्वोक्त लेखमें ऐसी घोषणा की थी, वह ठीक या बेजा कैसे और कहाँ

* भले ही वह कभी कभी बिना हमारी इजाज़तके ही लेखनी से टपकी पड़ती हो, इतना साथमें और भी कह दिया जाता तो अच्छा होता। —सम्पादक

× अन्य लेख मुनि जिनविजयजीका पत्र और जायसवालजीका एक छोटा सा नोट है। इन दोनोंमें से कोई भी प्रकृत विषयका निर्णायक नहीं, किन्तु सूचकमात्र हैं। जायसवालजी की तो सूचना भी मुनिजीके कथनाधार पर अवलम्बित है। —सम्पादक

* महज़ किसी की घोषणामात्रसे विचारकों को कोई सन्तोष नहीं हो सकता, जब तक कि वे युक्तियां सामने न आजाएँ और उन की यथार्थता की जांच न हो जाए, जिनके आधार पर वैसी घोषणा की गई है। यह दूसरी बात है कि कुछ दूसरे लोग अथवा साम्प्रदायिकताके रंगमें रंगे हुए व्यक्ति उसे अपने अनुकूल पा कर सन्तोष धारण करलें। —सम्पादक

तक थी ? अस्तु ।

अब हमारी दलीलों पर की हुई मुनिजी की आलोचनाके औचित्य-अनौचित्य पर विचार कर लेना, हम उचति समझते हैं ।

(१) पहले ही वे हमारे इस कथन पर आक्षेप करते हैं कि "चेटकके वंशका जो परिचय थेरावलीमें दिया है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता ।" वे कहते हैं कि "यह कैसे मान लिया जाय कि कोई भी बात एकसे अधिक ग्रंथोंमें न मिलनेसे ही अप्रामाणिक या जाली है ?" बेशक, इतनेसे ही न मानिये; किन्तु जब वही बात अन्यथा बाधित हो*, तब उसका मात्र एक ग्रंथमें ही मिलना संदिग्ध और अप्रामाणिक मानना क्या ठीक न होगा ? इसी दृष्टिसे एक बातका एक ग्रन्थमें ही मिलना प्रमाणकी कोटिमें नहीं आता; पर यदि वही बात किसी अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ अथवा स्रोतसे पुष्ट हो जाय, तो उसमें शंका करनेके लिये बहुत कम स्थान रह जाताहै। इतिहास-क्षेत्रमें इस प्रकारकी पुष्टि विशेष महत्व रखती है । हाँ, यह दूसरी बात है कि एक ग्रन्थकी कोई खास बात अन्यथा बाधित न हो, तो वह तब तक प्रमाण-कोटिमें मान ली जाय जब तक कि उसके विरुद्ध कोई प्रमाण न मिले । अस्तु; चूँकि मुझे थेरावलीके प्रकट हुए अंशके विरुद्ध पुष्ट प्रमाण मिले थे, इसलिये मैंने मात्र उसमें मिली हुई बातको विश्वसनीय न माननेके लिए जो उक्त वक्तव्य प्रकट किया, वह ठीक है ।

रही बात 'मूलाचार' अथवा 'भगवती आराधना' ग्रंथों की, सो पहले तो यह बात है कि वे आचारग्रंथ हैं—इसलिये वे इतिहासकी कोटिमें नहीं आते । उनकी अनोखी बातें तब तक अवश्य मान्य होंगी जब तक कि वे दिगम्बराम्नायकी मान्यताके विरुद्ध प्रमाणित न कर दी जायँ । इसके अतिरिक्त मैं उनके विषयमें कुछ भी नहीं कह सकता, क्योंकि मैंने उनका अध्ययन नहीं किया है । 'मूलाचार'के एक अंशको देखनेका अवसर मुझे अवश्य प्राप्त हुआ है और उस अंशकी पुष्टि प्राचीन बौद्ध साहित्यसे भी हुई है । किन्तु दूसरे ग्रन्थ 'भगवती आराधना' के तो मुझे आज तक दर्शन ही प्राप्त नहीं हुए हैं ।

(२) दूसरे नं० की आलोचनामें कोई बात विचारणीय नहीं है । सिवाय इसके कि मैं अपनी इस नं० की पहले प्रकट हुई दलील को दुहरा दूँ; क्योंकि मेरी दलीलें थेरावली के प्रकट हुए अंश को जाली प्रकट करनेके लिए ज्यों की त्यों अब भी पुष्ट है; जैसे कि पाठकगण आगे देखेंगे ।

(३) मेरी तीसरी दलील की आलोचनामें मुनिजी लिखते हैं कि "यह ठीक है कि चेटकके नामसे किसी वंशका अस्तित्व कहीं उल्लिखित नहीं देखा गया, पर इस खारवेलके लेख और थेरावलीके संवादसे यह मानने में क्या आपत्ति है कि इस उल्लेखसे ही चेटक-वंशका अस्तित्व हो रहा है ?" आपत्ति यही है कि वह अन्यथा बाधित है और खारवेलके लेखमें वह यूँ अभी तक नहीं पढ़ा गया है ! थेरावलीमें वह मात्र प्रक्षिप्त और काल्पनिक है, यह बात अब स्वयं श्वेताम्बर विद्वान् ही प्रगट कर रहे हैं । आगे मुनिजीने लिखा है कि "चेटक की युद्धनिमित्तक मृत्यु हुई, उसकी राजधानी वैशालीका नाश हुआ और चेटकके वंशजोंका अधिकार विदेह राज्य परसे उठ जानेके बाद वहाँ गण-

* अन्यथा बाधित होने की यह बात लेखक की पहले नम्बरकी दलील का कोई अंश नहीं थी, और इसलिये वह दलील जिन शब्दों में सीमित है उन्हें देखते हुए मुनिजी का उत्तर उसके सम्बन्धमें पर्याप्त जान पड़ता है । फिर भी प्रत्युत्तर की जो यह चेष्टा की गई वह चिन्तनीय है ! —सम्पादक

राज्य हो गया; इन कारणोंसे पिछले समयमें चेटक और उसके वंशकी अधिक प्रसिद्धि न रहनेसे उसकी चर्चा ग्रन्थों में न मिलती हो तो इससे सशंक होने की क्या ज़रूरत है ?" ज़रूरत इसलिये है कि आपका उक्त वक्तव्य किसी भी प्रमाणाधार पर अवलम्बित नहीं है। आपने अपने वक्तव्यकी पुष्टि में एक भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। इसलिये जब तक आप अपने वक्तव्यको पुष्ट प्रमाणों से समुचित सिद्ध न करदें तब तक वह विचार करनेकी कोटिमें ही नहीं आता *।

मुनिजी जिस समय इस विषय पर सप्रमाण लिखेंगे, उस समय विचार किया ही जायगा। किन्तु अब भी मुनिजी के उक्त वक्तव्यके औचित्य को देख लेना अनुचित नहीं है। यह बात ठीक है कि चेटककी युद्ध-निमित्तक मृत्यु हुई; किन्तु इसके साथ ही वैशाली का नाश हुआ बताना बिल्कुल मिथ्या है ! क्योंकि यह मानी हुई बात है कि भगवान महावीरका निर्वाण और महात्मा बुद्धकी मृत्यु होनेके बाद अजातशत्रुने वैशाली को विजय किया था। ये घटनाएँ क्रमशः ई० पू० ५४५, ई० पू० ५४४ और ई०पू० ५४० की हैं, ऐसा मि० काशीप्रसादजी जायसवालने[१] प्रमाणित किया है ×। किन्तु उक्त अंतिम घटनाबाद भी वैशालीका अस्तित्वके बड़े अच्छे ढंग पर मिलता है। म० बुद्धके बाद वैशालीका भिक्षुसंघ बहु प्रसिद्ध हुआ था। आनन्दने गंगाके मध्य जिस एक टापूको बसाया था, उसका आधा भाग तब के अर्थात् बुद्ध निर्वाणसे लगभग सौ वर्ष बादके वैशालीके लिच्छवियोंको मिला था[२]। लगभग इसी समय वैशालीमें ही बौद्ध संघकी दूसरी सभा भी हुई थी[३]। प्राचीन बौद्ध साहित्यका यह कथन अमान्य नहीं ठहराया जा सकता; जब कि हम इसके कई शताब्दियों बाद तक वैशालीका अस्तित्व पाते हैं। चीनी यात्री फ़ाहियान और ह्युनत्सांगने भी वैशालीके दर्शन किये थे[४]। यह यात्री क्रमशः ईसाकी पाँचवीं और सातवीं शताब्दिमें भारत आये थे। इसके अतिरिक्त बसाढ़ ग्राममें खोदने पर ईसाकी पाँचवीं शताब्दिका जो पुरातत्व मिला है, उसमें कई मुद्राएँ ऐसी हैं जिन पर निम्न लेख लिखा हुआ है[५] :—

* मुनिजी ने एक संभावना उपस्थित की थी—और यह भी नहीं कि वह यों ही निराधार कोरी कल्पना ही हो—उनकी उस संभावना को असंभव सिद्ध न करके इस प्रकार का उत्तर देना कुछ समुचित प्रतीत नहीं होता। कोई संभावनारूप कथन विचारकोटिमें आ ही नहीं सकता, यह तो लेखकका विलक्षण तर्क जान पड़ता है ! यदि कोई बात पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध हो तो फिर वह संभावना ही क्यों कहलाए ? इसपर लेखक महाशयने कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

—सम्पादक

१. जनरल ऑफ़ दी बिहार एण्ड ओड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी, भा० १ पृष्ठ ११५-११६

× जायसवालजीका ऐसा लिखना जिसे, लेखक प्रमाणित करना बतलाते हैं, क्या कोई ब्रह्म वाक्य है और मुनिजीने उसे मान्य किया है ? यदि ऐसा नहीं तो फिर इस बात को 'मानी हुई बात" कैसे कहा जा सकता है विवादमें 'मानी हुई बात' वह होती है जिसे वादी और प्रतिवादी दोनों स्वीकार करते हों। मुनिजीको इन घटनाओंका उक्त समय मान्य नहीं है। और अब तो जायसवालजी भी प्रचलित वीर नि० सवत् को अपने पत्रादिकोंमें लिखने लगे हैं, जिससे ऐसा जान पड़ता है कि इन घटनाओंके समयसम्बंधमें उनका पूर्व विचार अब स्थिर नहीं रहा है। लेखक महाशय भले ही उन्हें प्रमाणोंमें पेश करते रहें।

—सम्पादक

२. इन्डियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली, भा० ३ पृ० ५०६।

३. भारतके प्राचीन राजवंश, भा० २, पृ० ३५।

४. लेगी फ़ाहियान पृ० ७२ और बाटर्स ह्युन्त्सांग, भा० २ पृ० ६३।

५. आर्के० सर्वे ऑफ इन्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, १९०३-०४ पृष्ठ ११०

" वैशाल्यामरपकुनिकुटुम्बिनां । "

अर्थात्—'वैशालीमें के कुटुम्बियोंकी मुद्रा।' अतः इससे वैशालीका अस्तित्व निस्सन्देह ईसाकी पाँचवीं शताब्दि तक प्रमाणित होता है और इस दशामें मुनिजीका चेटककी मृत्युके साथ ही वैशालीका नाश हुआ बताना गलत साबित होता है ※।

अब गणराज्यकी स्थापनाको लीजिये, मुनिजी वैशालीमें गणराज्यको स्थापित हुआ चेटककी मृत्युके बहुत दिनों बाद बताते हैं; किन्तु जैन और बौद्ध साहित्यसे यह बाधित है। इसके पहले कि हम इस विषय में कुछ लिखें, यह बता देना जरूरी है कि 'विदेह' और 'वृजि' नाम उस समय एक ही देशके लिये लागू थे। बौद्ध साहित्यमें वैशालीको वृजिदेशकी राजधानी कहा गया है और जैन साहित्यमें उसीको विदेहदेशकी राजधानी बताया है। किन्तु यह बात भी नहीं है कि बौद्ध साहित्यमें वृजि देशके स्थान पर विदेहका प्रयोग न हुआ हो और श्वेताम्बरोंने विदेह के साथ साथ उसका प्रयोग न किया हो। बौद्ध अजातशत्रुकी माताको वैदेही बताकर[६] वैशालीको विदेहदेशमें स्थित प्रकट करते हैं और श्वेताम्बर 'वज्जी-विदेहपुत्ते' पदका प्रयोग करके[७] उनकी समान वाचकताको घोषित करते हैं। अतः वृजि और विदेह देश एक अर्थकेही वाचक हैं। अस्तु।

इस वृजि या विदेह देशके ही राजा चेटक थे। यह राजा चेटक परम्परीण सर्वसत्तासम्पन्न राजा नहीं थे, बल्कि वज्जियन गणराज्यके गणपति या राष्ट्रपति थे। क्योंकि किसी भी जैनशास्त्रमें इन्हें स्पष्टतः मगध सम्राट्की तरह सर्वसत्तासम्पन्न अधिनायक प्रकट नहीं किया गया है ※। इनके साथमें जो 'राजा' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह एक उपाधिमात्र है; ऐसा कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे स्पष्ट है[१]। और कल्पसूत्रसे यद्यपि यह प्रकट है कि नौ लिच्छवि गणराजाओंमें ये प्रमुख थे[२] तथापि बौद्ध साहित्यसे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वृजि देश पर गण या संघ-प्रकारकी सरकार थी। 'मज्झिमनिकाय' में यह बात स्पष्टतः कही गई है[३]। 'ललितविस्तार' में म० बुद्धके समयकी वैशाली के वर्णनमें कहा गया है कि 'वहाँ आयु व सामाजिक स्थितिके अनुसार प्रतिष्ठा नहीं थी। प्रत्येक अपनेको 'राजा' कहता था[४]। 'महावस्तु' में वहाँ चौ-

※ युद्धमें चेटक की मृत्यु होने पर "उसकी राजधानी वैशाली का नाश हुआ" इस वाक्यमें 'नाश' का अर्थ राजधानीके तबाह या बर्बाद होने का न लेकर वैशाली नगर की सत्ता का ही मिट जाना ग्रहण करना और फिर उसका खंडन करने बैठना कोई विलक्षण ही समझ का परिणाम जान पड़ता है! —सम्पादक

६. संयुत्तनिकाय भा० २, पृ० २१८।

७. भगवती सूत्र ७, ९ वज्जी और विदेह एक ही जाति का द्योतक था, यही कारण प्रतीत होता है कि टीकामें 'वज्जी' शब्दका अर्थ 'इन्द्र' किया गया है। वैसे भी श्रीमहावीर स्वामी को एक 'विदेह' या 'विदेहके एक राजपुत्र' (कल्पसूत्र ११०—जैनसूत्र भा० १ पृ० २५६) तथा 'वेसालिए' (सूत्रकृताङ्ग १, २, ३, २२) प्रकट करके श्वेताम्बर साहित्य उक्त एकताका समर्थन करता है; क्योंकि बौद्ध एवं चीनी साहित्यमें वैशालीका वृजि देशमें होना प्रमाणित है। (सम क्षत्री क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० ३५--५६।)

※ उत्तर पुराणमें इन्हें 'महाराजा' तो लिखा है, जैसा कि अगले एक नं० फुटनोटमें प्रकट किया गया है; मालूम नहीं 'महाराजा' हो कर भी वे सत्तासम्पन्न और अधिनायक थे या कि नहीं! —सम्पादक

१ "लिच्छविक-वृज्जिक-मल्लक-मद्रक-कुकुर-कुरु-पाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः संघाः।"

२. कल्पसूत्र १२८ S. B. E., Vol. XXII. p. 266 note I.

३. P. T. S. Vol. I, p. 231

४. लेफमैन, ललितविस्तार, भा० १ पृ० २१।

रासी हजार राजा बताये गये हैं [१]। इन उल्लेखोंसे वैशाली या वृजि में गणराज्य होना ही प्रमाणित होता है। इस अवस्थामें राजा चेटक परम्परीण राजा नहीं कहे जा सकते। कौटिल्यके '**राजशब्दोपजीविनः**' पदसे उन का नाम मात्रका राजा होना सिद्ध है—राजसत्ता का वास्तविक अधिकार तो उनके संघको प्राप्त था।[२]

श्वेताम्बर शास्त्र हमारे पास मौजूद नहीं हैं। इस कारण हम उनके सम्बन्धमें अपने नोटोंसे अथवा अन्यस्रोतोंसे ही लिख सकते हैं। अस्तु; अन्य स्रोतोंमें जहाँ भी श्वेताम्बर शास्त्रानुसार चेटकका उल्लेख किया गया है, वहाँ वह अनेक राजाओंमें से एक ही लिखे गये हैं। देखिये जैकोबी सा० ऐसे ही उल्लेख करते हैं:—

"...Ksatriyani Trisala, the mother of Mahavira, was a sister of Cetaka, one <u>of the Kings of Vaisali</u>, and belonged to the Vasistha gotra, (S. B. E., Vol. XXII, p XII).

"The Licchavi lady, according to the Niryavali Sutra, was Cellana, the daughter of Cetaka, <u>one of the rajas of Vaisali</u>." (Ibid P. XIII)

इन उद्धरणोंमें जिन शब्दोंके नीचे लकीर खींच दी गई है, उनसे वैशालीमें अनेक राजाओंका होना सिद्ध(?) है। उधर 'कल्पसूत्र'[३] और 'भगवतीसूत्र' में काशी-कौशलके १८ गण-राजाओंके साथ साथ नौ लिच्छवि गणराजाओंका भी उल्लेख है[४]। यह नौ लिच्छवि गणराजा साधारण राजाओंसे भिन्न प्रकारके अर्थात् 'राजशब्दोपजीविनः'— राष्ट्र-संघके सदस्यरूप 'राजा' उपाधिधारी क्षत्रियथे; क्योंकि यदि ये ऐसे न होते तो इन्हें गणराजा न कहा जाता। इसके साथ ही यह बात भी स्पष्ट है कि ये लिच्छिविराजा सिवाय वैशालीके अन्यत्र कहीं नहीं रहते थे। उस समय वैशाली ही लिच्छिवियोंका राजनगर था [१]। इस दशामें लिच्छिवियों को वृजि अथवा विदेह देश और वैशाली नगरसे कहीं अलग मानना समुचित नहीं है। अतः यह कहना बेजा नहीं है कि श्वेताम्बरशास्त्र भी चेटकको एक गणराजा प्रकट करते हैं।

दिगम्बर शास्त्र भी वैशाली और उसके आसपास के क्षत्रिय कुलोंमें गणराज्यके होनेकी साक्षी देते हैं। 'महावीरपुराण[२]', 'उत्तरपुराण'[३] आदि ग्रन्थोंमें कहा गया है कि भगवान् महावीरने दिगम्बर मुनि होकर खण्डवन से उठकर कुल नगरके कुल नृपके यहाँ आहार लिया था। यहां राजा और नगरका नाम एक ही होना विशेष अर्थसे खाली नहीं है। इसमें प्रयुक्त हुआ 'कुल' शब्द हमारी समझसे 'Clan' 'Family' अर्थका द्योतक है; क्योंकि राजा और नगरका एक ही नाम होना साधारणतः ठीक नहीं जंचता। उधर श्वेताम्बर शास्त्रोंसे यह स्पष्ट ही है कि दिगंबर शास्त्रोंका 'खण्डवन' या 'नायखंडवन' उनके शास्त्रोंका 'दुइपलाश उज्जान' है, जिसपर नाथवंशी (ज्ञात्रिक) क्षत्रियों

१. महा वस्तु, भा० १, पृ० २७१।

२. डॉ० लॉ ने यह बात अपनी 'क्षत्री क्लैन्स इन एन्शियेन्ट इन्डिया' नामक पुस्तकमें अच्छी तरह प्रमाणित करदी है।

३. कल्पसूत्र १२८।

४. भगवती सूत्र ७, ६। हमारी समझसे यह नौ लिच्छिवि वज्जियन संघके नौ कुलोंके प्रतिनिधियोंके द्योतक हों तो कोई आश्चर्य नहीं। लिच्छवि और वज्जियन शब्द समान अर्थमें भी प्रयुक्त हुए मिलते हैं।

१. सम क्षत्री क्लैन्स इन एन्शियेन्ट इण्डिया, पृ० ३०४, ५।

२. महावीरपुराण पृ० २५६।

३. उ०पु० पृ० ३१७-३१८।

का आधिपत्य था [१]। 'उवासगदशासूत्र' (२,४) में उसे 'नायषण्डवन उज्जान' लिखा है और वह नाथवंशी-ज्ञातृक क्षत्रियोंके निवासस्थान 'कोल्लग-सन्निवेश' के निकट था। अतएव दिगंबर शास्त्रमें प्रयुक्त हुए 'कुल' शब्दको (Clan) या गोत्रके अर्थमें लेनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीरके कुल ज्ञातृ या नाथका निवासस्थान अर्थात् कोल्लग उनके प्रथम पारणाका स्थान और उनके कुलका नृप उनका आहारदाता था। यहाँ कुलनृप—गणराजाके रूपमें ही व्यवहृत हुआ प्रतीत होता है। अतः इससे यही मानना ठीक जँचता है कि कोल्लगके ज्ञातृवंशीय क्षत्रियों में भी संघ या गणराज्य था और उनका प्रत्येक सदस्य राजा कहलाता था। निस्सन्देह बौद्ध साहित्य यही प्रकट करता है। वह वज्जियन राष्ट्रसंघमें लिच्छिवि आदि आठ कुलोंको सम्मिलित प्रकट करता है और श्वेताम्बर शास्त्र भी भ० महावीरको 'वैशालीय' और वैशालीको 'महावीरजननी' बता कर इस मान्यताका समर्थन करते हैं; क्योंकि यदि भ० महावीर और उनका कुल वैशालीके राष्ट्रसंघमें शामिल न होता तो उनको ऐसा न कहा जाता। अतः वैशाली में संघ या गणसरकार मानना ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

अब हमें इस आलोचनामें पहले ही उपस्थित किये हुए प्रश्नका उत्तर पा लेना सुगम है अर्थात् वैशालीमें गणराज्यकी स्थापना क्या चेटक की मृत्युके बाद हुई थी? उपर्युक्त विवेचनमें कई एक उल्लेख भ० बुद्धके जीवनकालके और कितने ही भगवान महावीर के प्रारंभिक जीवनसे लेकर निर्वाण तकके हैं। इस लिये गणराज्यका अस्तित्व चेटकके जीवनमें ही वैशालीमें मानना ठीक है। अतः मुनिजीका यह कथन भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

इसी सिलसिलेमें मुनिजी कहते हैं कि "इस कथन में कुछ भी प्रमाण नहीं है कि चेटक 'लिच्छिवि' वंशका पुरुष था। मुझे ठीक स्मरण तो नहीं है पर जहाँ तक खयाल है, श्वेताम्बर सम्प्रदायके पुराने साहित्यमें चेटकका "हैहय" अथवा इससे मिलता जुलता कोई वंश बताया गया है।" बेशक यह ठीक है कि जैन शास्त्रोंमें स्पष्टतः चेटकको लिच्छिवि-वंश या कुलका नहीं लिखा गया है; किन्तु जब वह वैशालीके गणराजा रूपमें राजा सिद्ध होते हैं, तब उन्हें लिच्छिवि वंशका मानना बेजा नहीं है। दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें हमारे देखने में उनके वंशका कोई उल्लेख नहीं आया है। यदि श्वेताम्बर ग्रन्थ उन्हें 'हैहय' वंशका प्रकट करते हैं, तो उसमें यह आपत्ति है कि 'हैहय' क्षत्रिय चद्रवंशी हैं[१] और वैशालीके लिच्छिवि क्षत्रिय सूर्यवंशी वाशिष्ठगोत्री हैं;[२] जिनमेंसे चेटकको अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी बहन क्षत्रियाणी त्रिशलाका लिच्छिवि-रमणी वाशिष्टगोत्री प्रकट किया गया है; जैसा कि डॉ० जैकोबीके पूर्व उद्धरणमे स्पष्ट है, और वैशालीमें लिच्छिवि गण-राज्यका अधिकार था।

आगे मुनिजी लिच्छिवि क्षत्रियोंको वंश रूपमें लिखने पर आपत्ति करते हैं; किन्तु वंशका प्रयोग हमने कुल रूपमें किया है और लिच्छिवि एक कुल (Clan) था, यह मानना ठीक है; क्योंकि वज्जियन संघके 'अट्ठ

१. विपाकसुत्तमें 'दुइपलाश उज्जान' लिखा है और कल्पसूत्र (११५) व आचारांगसूत्र (२, १५-२२) में ज्ञातृक क्षत्रियोंका अधिकार स्पष्ट है।

१. भारतके प्राचीन राजवन्श, भाग १ पृ० ३७।

२. पूर्व पुस्तक, भा० २, पृ० ३७७ व क्षत्री क्लेन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० १४।

कूलक' बेंचमें वह भी सम्मिलित थे।[१]

इसके सिवाय, फिर मुनिजी लिच्छिवि गणको राजा चेटकके मातहत बताते हैं और कहते हैं कि विदेहमें तब गणराज्य नहीं था, इसीसे उसका उल्लेख नहीं हुआ है। उसके नायकों पर चेटक महाराजा की हैसियतसे हुक्म करता था। किन्तु मुनिजी का यह सब कथन निराधार है*। उन्होंने अपने कथन की पुष्टिमें एक भी प्रमाण पेश नहीं किया है। और ऊपर के विवेचनसे उनका यह कथन बाधित है। यदि चेटक महाराजा की हैसियतसे नौ लिच्छिवियों पर हुकूमत करता था, तो उन्हें गणराजा कहना ही फ़िज़ूल था—उन्हें सामन्त या करद कहना ही इस हालतमें उपयुक्त होता। विदेह-वैशालीमें गणराज्य राजा चेटकके समयमें ही था, यह मानना बिलकुल ठीक है। अजातशत्रु इस गणराज्यसे भयभीत था और उसने म० बुद्ध से इस संघको विजय कर लेनेका उपाय पूछा था। बुद्धने कह दिया था कि जब तक उसमें ऐक्य है, उस को कोई जीत नहीं सकता। फलतः कुणिक अजातशत्रुने अपने मंत्रीको भेज कर उनमें फूटका बीज बुआ दिया था और फिर कालान्तरमें अवसर पाते ही वह उन पर आक्रमण कर बैठा था[२]। अतः इस बौद्ध साक्षीसे वज्जियन राजसंघमें फूट पड़नेका असली कारण प्रकट हो जाता है और इससे यह भी स्पष्ट है कि चेटकके समयमें वह गणराज्य मौजूद था; क्योंकि इस समय तक वह युद्ध नहीं लड़ा गया था जिसमें चेटककी मृत्यु हुई थी। बौद्ध साहित्य की यह प्राचीन साक्षी यूँ ही नहीं टाली जा सकती। अस्तु; मुनिजीकी इस विषय की निराधार मान्यता मान्य नहीं हो सकती!

लिच्छवि वंशके क्षत्रिय उस समय बड़ी प्रतिष्ठाकी दृष्टिसे देखे जाते थे और बड़े बड़े राजा-महाराजा उन के साथ विवाहसम्बन्ध करना, गौरवकी बात समझते थे[१]। अतः इससे यह नहीं कहा जा सकता कि चेटक भी मगध आदिके सत्ताधारी राजाओंकी तरह ही एक राजा था।

उपर्युक्त विवेचनको देखते हुए, चेटकका कुणिक अजातशत्रु-द्वारा हारा जाना, वैशालीके गणराज्यके नाश का द्योतक नहीं हो सकता; बल्कि इस घटनाके बाद भी उसके गणराजा मगधसम्राटके आधीन रह कर अपनी आन्तरिक व्यवस्था पूर्ववत् ही करते रहे थे[२] और सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य्यके समयमें वह फिर शक्तिशाली हो गये मालूम होते हैं; क्योंकि कौटिल्य उनसे मैत्री करके मौर्य्य शक्तिको बढ़ानेका उपदेश देता है[३]। इस हालतमें इस बातके लिए यहाँ स्थान ही प्राप्त नहीं है कि चेटकका पुत्र वैशालीको छोड़कर सुदूर देश कलिंगको भाग गया होगा और वहाँ जाकर एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर सका होगा। अपनी जन्मभूमि और बन्धु-बान्धवों तथा गणराज्यमें अपने स्थानको

१. पूर्व० पृ०१२१—साहित्याचार्य प० विश्वेश्वरनाथ रेउ सा० ने भी अपने 'भारत के प्राचीन राजवंश, (भा० २, पृ० ३५५)' नामक ग्रंथमें लिच्छिविको 'वंश' ही लिखा है।

* निराधार हो या साधार, परन्तु उत्तरपुराणके ७५ वें पर्वमें तो चेटकको "अतिविख्यात भूभृत्" और "महीश" ही नहीं किन्तु "महाराजा" भी लिखा है। यथाः— "**स चेटकमहाराजः स्नेहात्** "(श्लो० १५)। **—सम्पादक**

२. संयुत्तनिकाय (P.T.S.) भा०२, पृ०२६७-२६८।

१. क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इन्डिया, पृ० १-१३८।

२. पूर्व० पृ० १३६।

३. पूर्व० पृ० १३६-१३७ —"**संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः।**"

यूँही छोड़कर भला वह क्यों कलिंग जाता ? अतः थेरावलीका इस सम्बन्धका कथन विश्वास करने योग्य नहीं कहा जा सकता।

(४) चौथी दलीलके उत्तरका समावेश मुनिजीने तीसरी आलोचना में किया है; अतः हमारे उपर्युक्त उत्तरमें ही उसका उत्तर गर्भित है।

(५) पाँचवीं आलोचनामें मुनिजी 'उत्तरपुराण'को प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ नहीं मानते और इसलिये उसमें शोभनराजका नाम न मिलना कुछ भी आपत्तिजनक नहीं समझते। यदि उत्तरपुराणकी अधिकांश बातोंको आप सप्रमाण मिथ्या सिद्ध कर देते तो आपका यह कथन कोई मान्य भी करता! किन्तु मात्र आपके कहनेमे कमसे कम मैं तो उसे अप्रामाणिक ग्रंथ माननेके लिए तैयार नहीं हूं। मुझे तो उसकी खास खास बातें इतिहासकी दृष्टिसे तथ्यपूर्ण प्रतीत हुई हैं। मुनिजी उसके उदायनको कच्छ देशका राजा बताने पर आपत्ति करते हैं; किन्तु इसमें आपत्ति करने को कोई स्थान ही शेष नहीं है; क्योंकि श्वेताम्बर शास्त्र उन्हें सिन्धु-सौवीर का राजा घोषित करते हैं जिसमें सोलह देश गर्भित थे[१] और अन्यथा यह प्रमाणित है कि कच्छ देश सिन्धुके ही अंतर्गत उसी तरह था जिस तरह सौवीर[२]। तिस पर कच्छके अर्थ समुद्र-तटवाले देशके भी हैं। इस दशामें उत्तरपुराणमें सिन्धु-सौवीर को कच्छ देश लिखा गया तो वह कुछ भी बेजा नहीं है। सातवीं शताब्दीमें जब ह्वेनत्सांग यहाँ आया था तो उसने कच्छ देशको एक विस्तृत देश करांची तक फैला पाया था और वह सिन्धु देशके साथ ही गिना जाता था। करांची आज सिन्धुदेशका मुख्य नगर है; किन्तु ७वीं शताब्दिमें वह कच्छ में गिना जाता था। अतः इस विषयमें कोई शङ्का करना फिजूल है।

'उत्तरपुराण' मूलमें कौशाम्बीके राजाका नाम 'शतानीक' ही है। मालूम होता है, मुनिजी ने उक्त पुराण देखने की तकलीफ़ नहीं उठाई है और उसको बिना देखे ही अप्रामाणिक ग्रंथघोषित कर दिया है। शायद मुनिजी इस क्रियाको अनुत्तर-दायित्व पूर्ण और बेजा नहीं समझते हैं। खैर, कुछ हो; हम पाठकों को बताये देते हैं कि उत्तरपुराण भी कौशाम्बीके राजाको 'शतानीक' ही बताता है[१]। हमने जिस समय "भगवान महावीर" लिखा था उस समय कवि खुशालचंद-कृत उत्तरपुराणका हिन्दी अनुवाद ही हमने देखा था[२]। उसमें "सार" नाम संभवतः छन्द की पूर्तिके लिये लिख दिया गया होगा। इस अवस्थामें जब कि एक दिगम्बर शास्त्र अन्य भारतीय साहित्य की तरह कौशाम्बीके राजा का नाम शतानीक लिखता है; तब यदि उसके किसी अन्य ग्रन्थमें उसी राजाके लिये कोई अन्य नाम हो तो उसे उस राजाका दूसरा नाम मान लेना क्यों बेजा होगा? थेरावलीके शोभनरायका नाम भी यदि किसी अन्य श्वेताम्बरीय प्राचीन ग्रंथमें होता और उसका समर्थन संस्कृत साहित्यमे उपर्युक्त प्रकार हो जाता, तो हमें उसे स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति न होती। उत्तरपुराण-वर्णित राजा चेटकके पुत्रोंमेंसे यह किसीका दूसरा नाम है; यदि यह बात उक्त प्रकार

१. उत्तराध्ययनसूत्रटीका—हिन्द टत्स पृ० ६८।

२. कनिंघम, एन्शियेन्ट जॉगरफी आव इन्डिया पृ० ३४६-३४७ व ५।

१ 'विषये वत्सवासाख्ये कौशांबीनगराधिपः सोमवंशे शतानीको देव्यस्यासीन्मृगावती ॥ ६ ॥, पर्व ७५।

२. "भगवान महावीर" को अब हम संशोधित रूपमें पुनः प्रगट करने की आवश्यकता महसूस करते हैं।

प्रमाणित हो जाय, तो हमें उसके माननेमें भी कोई आपत्ति न होगी।

(६) छठी आलोचनामें मुनिजी 'हरिवंशपुराण' में वर्णित कलिङ्ग के राजाका 'जितशत्रु' नाम कोई विशेष नाम नहीं मानते। किन्तु यह उनकी भूल है। हरिवंश-पुराणमें यह नाम साधारण रूपमें व्यवहृत हुआ नहीं मिलता। श्वेताम्बरोंके शास्त्रोंमें ऐसा नियम भले ही हो, परन्तु वह दिगम्बर ग्रंथोंसे लागू नहीं हो सकता ×, जब तक कि दिगम्बर साहित्यमें उस नियम की मान्यता सिद्ध न कर दी जाय। अतः हमारी यह दलील भी ज्यों की त्यों वज़नदार रहती है।

(७) सातवीं आलोचनामें मुनिजी हम पर साम्प्रदायिकताका लाञ्छन लगाते हैं, किन्तु वह कितना निस्सार है यह हम इस लेखके प्रारम्भमें ही प्रगट कर चुके हैं। थेरावलीके जाली बताने पर आप हमें साम्प्रदायिकताके पोषक बताते हैं; किन्तु आपका यह लिखना तब ही शोभा देता जब आप ऐसे अपवादसे वञ्चित होते! मैंने तो थेरावलीके एक अंशको मिथ्या प्रमाणित करके ही उसे जाली घोषित किया था, किंतु आप तो 'उत्तरपुराण'को बिना देखे-भाले ही उसे अप्रामाणिक प्रगट करते हुए मालूम होते हैं। अब भला बताइये, आप जैसे साधु पुरुषोंके लिये मैं क्या कहूँ?

थेरावलीका प्रगट हुआ अंश तो पूर्णतः जाली क़रार दे ही दिया गया है *। इस हालतमें 'जिनकल्पी 'मुनियोंका उसमें जो उल्लेख हुआ है, उससे उस की प्राचीनता और सत्यता सिद्ध नहीं होती। वह तो उसके लेखकके माया-कौशल को प्रगट करता है। किसी जाली नई चीज़को प्राचीन और मौलिक सिद्ध करनेके लिये उसमें ऐसे उल्लेखोंका मिलना स्वाभाविक है। अतः इस सम्बंधमें कुछ अधिक लिखना फ़िज़ूल है।

(८) आठवीं आलोचनामें मुनिजी आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्धके वीरनिर्वाणसे ३७२ वर्ष बादके समयको, जो 'जैनसाहित्य-संशोधक' भाग १ परिशिष्ट पृ०५ पर की 'वृद्ध पट्टावली' के अनुसार प्रगट किया गया है, अशुद्ध बताते हैं। यदि यह ऐसे ही मान लिया जाय तो भी उपर्युक्त विवेचनको देखते हुए थेरावलीका जाली होना बाधित नहीं होता है ×। अञ्चलगच्छकी मेरुतुंग-कृत पट्टावलीकी जब तक अच्छी तरह जाँच न हो जाय, तब तक उसके विषयमें कुछ कहना फ़िज़ूल है *।

(९) नवीं आलोचनामें एक श्वेताम्बर पट्टावलीमें दिगम्बर आचार्योंके नामोंका मिलना मुनिजी ठीक समझते हैं। यदि यही बात है तो श्वेताम्बरोंकी अन्य प्राचीन पट्टावलियोंमें जैसे कल्पसूत्र की स्थविरावलीमें ये नाम क्यों नहीं मिलते हैं? साथ ही यह स्पष्ट है कि खारवेलने अपनी सभा अपनी मृत्युसे पहले बुलाई थी और वी०नि०सं० ३३०में थेरावली उनकी मृत्यु हुई बताती है। तब इस दशामें न धर्मसेनाचार्य और न

× यह दावा लेखक महाशयके अतिसाहसको व्यक्त करता है; क्योंकि दिगम्बर साहित्यमें 'अमोघवर्ष', 'वीरमार्तण्डी' जैसे विशेषणों अथवा उपनामोंके द्वारा भी राजादिकोंके नामोंका उल्लेख मिलता है और साधुसम्प्रदायके ऐसे नामोंकी तो कुछ पूछिये ही नहीं, उनमेंसे कितनों होके असली नामोंका तो अभी तक कोई पता भी नहीं है। —सम्पादक

* यह बात ऐसी है जिसे कोई साम्प्रदायिकताभिनिवेशी ही मान कर प्रसन्न हो सकता है: क्योंकि अभी तक न तो वह थेरावली ही प्रकट हुई है और न जिनविजयजीका यह युक्तिवाद ही सामने आया है जिसके आधार पर उन्होंने उसका जाली-बनावटी होना सूचित किया है। —सम्पादक

× आठवें युक्तिवादके बाधित होनेमें तब कोई सन्देह नहीं रहता। —सम्पादक

* क्या उक्त 'वृद्ध पट्टावली' की अच्छी तरहसे जांच हो गई थी, जिसको अपनी युक्ति का आधार बनाया गया था? यदि नहीं तो फिर क्या लेखक के उसे प्रमाणमें पेश करनेको भी फ़िज़ूल ही समझा जाय? —सम्पादक

नक्षत्राचार्य अंगके धारक होने रूपमें उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। और चूँकि वह सभा अंगज्ञानके उद्धारके लिए एकत्र की गई थी, इसलिए उसमें अंगज्ञानियोंका पहुँचना विशेष कर उचित जान कर ही श्वेताम्बर थेरावलीकारने उनका उल्लेख किया कहना ठीक है। तब साधारण रूपमें उनका पहुँचना न पहुँचना बराबर है *। इसके सिवाय उमास्वाति और श्यामाचार्यके विषयमें जो कुछ कहा गया है, वह शङ्कासे खाली नहीं है। अतः उससे हमारी दलीलमें कुछ भी बाधा नहीं पहुँचती!

इस प्रकार हम देखते हैं कि जो दलीलें हमने उक्त थेरावलीके प्रगट हुए अंशको मिथ्या साबित करनेके लिये उपस्थित की थीं, वे ऐसी ही वज़नदार अब भी हैं और वे इस बात को माननेके लिये काफ़ी हैं कि थेरावलीका यह अंश अवश्य ही जाली है। हमारी यह मान्यता आज श्वे० मुनि श्रीजिनविजयजीके कथनसे भी पुष्ट हो रही है, जिन्होंने स्वयं उस थेरावलीको देख कर उसके उल्लिखित अंश को प्रक्षिप्त और जाली घोषित किया है। इस अवस्थामें अब अधिक लिखना व्यर्थ है *।

अब रही बात 'हरिवंशपुराण' के उल्लेखानुसार खारवेलका सम्बंध गैलेयसे बतानेकी, सो **इस विषयमें किसी भी विद्वान्की आपत्ति करना कुछ महत्व नहीं रखता** ×। यह ग्यारह लाख वर्षकी पुरानी बात

* इस प्रत्युत्तरसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि लेखक महाशयने जो 'देवाचार्य' तथा 'बुद्धिलिंगाचार्य' का सभामें सम्मिलित होना ही असंभव क़रार दिया था वह अब उन्हें अपनी भूल जान पड़ा है—भले ही वे स्पष्ट शब्दोंमें उसे स्वीकार नहीं कर सके। साथ ही, यह भी उन्हें मालूम हो गया है कि 'धर्मसेनाचार्य' और 'नक्षत्रआचार्य'का क्रमशः दशपूर्व तथा एकादशांगके पाठी होनेसे पहले—आचार्यादिके रूपमें—उक्त सभामें सम्मिलित होना भी कोई बाधित नहीं है। परन्तु अब आपका कहना—कहनेका आशय—यह है कि 'ये दोनों आचार्य अङ्गज्ञानके धारक होनेके रूपमें उस सभा में शामिल नहीं हो सकते थे, बिना अंगज्ञानके शामिल होना-न होना बराबर था, थेरावलीकार तब उनका उल्लेख न करता; क्योंकि वह सभा अंगज्ञानके उद्धारके लिये एकत्र की गई थी।'

इस युक्तिवादके सम्बन्धमें मैं अपने पाठकोंको इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि प्रथम तो वह सभा मात्र अंगज्ञानके उद्धारके लिये नहीं की गई थी, उसके दो मुख्य उद्देश्य बतलाये गये हैं—१ जैनसिद्धान्तों का संग्रह और २ जैनधर्मके विस्तारका विचार (अनेकान्त पृ० २२८)। दूसरे, किसी अंगके पूर्णज्ञानी यदि मौजूद हों तो उस अंगके उद्धारके लिये सभा जोड़नेका कोई अर्थ ही नहीं रहता—वह निरर्थक हो जाती है। तीसरे, थेरावलीमें उस सभाकी योजनानुसार जिस 'दृष्टिवाद' के अवशिष्ट भागको संग्रह करनेका उल्लेख है वह बारहवां अंग है और उस का पूर्णज्ञानी उस वक्त कोई भी नहीं था—धर्मसेन और नक्षत्राचार्य किसी समय भी उसके पूर्णज्ञानी नहीं हुए—उस अंगका जो कुछ बचा-खुचा अंश जितना जिस जिस साधुको स्मरण था वही उनके पाससे लिख कर संग्रह किया गया है; और यह संग्रह भी स्थविरोंके द्वारा हुआ है—जिन कल्पियोंके द्वारा नहीं। धर्मसेन और नक्षत्राचार्यके पाससे भी कुछ अंशोंका संग्रह किया जाना संभव है। ऐसी हालतमें लेखक महाशयके उक्त युक्तिवादका कुछ भी मूल्य नहीं रहता—न उक्त दोनों आचार्योंका दशपूर्वादिके पाठी होने से पहले सभामें सम्मिलित होना बाधित ठहरता है और न थेरावलीकारके उल्लेखमें ही वैसी कोई बाधा आती है।

इसके सिवाय, समयनिर्देशानुसार, धर्मसेनको तो दशपूर्व का ज्ञान भी खारवेलके जीवनकालमें हो गया था और लेखक महाशयने अपने पहले लेखमें यह स्वीकार भी किया था कि "धर्मसेनाचार्य ही केवल उस सभामें उपस्थित कहे जा सकते हैं" (अनेकान्त पृ० ३००); तब नहीं मालूम अपने पूर्व कथनके भी विरुद्ध यह आपका उनकी उपस्थितिसे भी इनकार करना क्या अर्थ रखता है!!

—सम्पादक

* यह भी वही प्रसन्नता तथा आत्मसन्तुष्टि है जिसका पिछले कुछ फुटनोटोंमें उल्लेख किया गया है। —सम्पादक

× इस प्रकारका लिखना लेखकके कोरे अहंकार, कदाग्रह तथा

है तो कुछ हर्ज नहीं। आजकलके कितनेही राजवंशों के विषयमें एवं अन्यथा भी, इससे भी ज्यादा पुरानी बातोंका उल्लेख मिलता है। स्वयं भगवान् ऋषभदेवके वंशसे सम्बन्ध बताने वाले क्षत्रिय आज मौजूद हैं और इतिहासज्ञ विद्वान् भी इस बातको प्रकट करते हैं। अतः यह उल्लेख बहुत प्राचीन होनेके कारण ही अमान्य नहीं ठहराया जा सकता है ×।

मुख्तार सा०'हरिवंशपुराण'में 'ऐलवंश' का उल्लेख न होने मात्र* से हमारे कथनको शब्दछल ठहराते हैं; परन्तु खारवेल तो उनके लेखानुसार 'ऐल' प्रकट हो किये गये हैं ?। और हमने अपने लेखमें किसी 'ऐलवंश' का उल्लेख नहीं किया है। खारवेलको 'ऐल-वंशज' जो लिखा है, उसका भाव मात्र इतना ही है कि वह ऐलेयवंशमें अथवा सन्ततिमें था। हरिवंशपुराणमें 'हरिवंश' का वर्णन करनेकी प्रधानता है। उसमें अन्य वंशोंका परिचय मिलना प्राकृत दुर्लभ होना चाहिये। तो भी उसमें सामान्यतया ऐलेयके वंशज अभिचन्द्र-द्वारा चेदिवंश या राष्ट्र की स्थापनाका उल्लेख मिलता ही है और खारवेल अपनेको चेदिवंशका लिखते ही हैं—फिर उन्हें ऐलेयकी सन्तानमें न मानना कैसे ठीक है ? भले ही किसी 'ऐलवंश' का नाम न मिले—वह मिले भी कैसे ? जब कि उसके उत्तराधिकारियोंने **एक दूसरे वंश चेदिकी स्थापना कर ली थी,** जिसका उल्लेख हरिवंशपुराण करता ही है। तिसपर ऐलेयकी सन्तान उस हरिवंशका उल्लेख अपने लिये क्यों करती, जिसमें उसके पूर्वज ऐलेयके पिता 'दक्ष'ने अपनी कन्याको पत्नी बनानेका दुष्कर्म किया था और ऐलेयको उनसे अलग होकर अपने बाहुबलसे स्वाधीन राज्य स्थापित करना पड़ा था ? इस दशामें हरिवंशसे अपनेको अलग बतानेके लिए एवं अपने बहादुर पूर्वज ऐलेयका नाम क़ायम रखनेके लिये चेदिवंशजोंका अपने नाम के साथ 'ऐल' शब्द विरुद या वंश के विशेषणरूपमें धारण करना ठीक है और इस दृष्टिसे उन्हें 'ऐलवंशज' कहना समुचित है। अतः खारवेलको राजा ऐलेयसे सम्बन्धित बताना कोरा शब्दछल नहीं है—बल्कि यथार्थ बात है।

अतः जो बातें हमने अपने इस विषयके पूर्वलेख में प्रकट की थीं, वे अब भी ठीक प्रतीत होती हैं और उन्हें सत्य घोषित करनेमें हमें ज़रा भी संकोच नहीं है ❀।

हठधर्मीको सूचित करता है और साथ ही इस विषयमें अपने विचार-द्वारको बन्द करनेकी घोषणा करता है। —सम्पादक

× उल्लेख कौनसा अधिक प्राचीन है और अमान्य किसको ठहराया जाता है ? दोनोंके सम्बन्धादिकको व्यक्त किये बिना इस प्रकारका लिखना यह भी एक प्रकारका शब्दछल है और इसका आशय पाठकोंको गुमराह करनेके सिवाय और कुछ मालूम नहीं होता। क्योंकि 'ऐलेय' राजा की ११ लाख वर्ष पुरानी कथा पर कोई आपत्ति नहीं की गई थी; किन्तु इस राजासे 'ऐल' वंशकी स्थापनाको और राजा खारवेलके उसी 'ऐल' वंशमें होनेकी जो कल्पना की जाती है उसे असिद्ध होनेसे निर्मूल—एवं अमान्य—बतलाया गया था। क्या लेखक महाशयको यह खबर नहीं कि जिन अधिक पुराने राजवंशोंका उल्लेख मिलता है उनके उल्लेखका कुछ सिलसिला अथवा पूर्व सम्बन्ध भी मिलता है ? —सम्पादक

* इस 'मात्र' शब्दके द्वारा मेरे युक्तिवादको जो सीमित किया गया है और आगे "उनके लेखानुसार" इन शब्दों द्वारा जायसवाल जीके लेखको जो मेरा लेख प्रतिपादन किया गया है वह बड़ी ही विचित्र घटना है और उससे लेखककी मनोवृत्ति पर खासा प्रकाश पड़ता है। इस सम्बन्धमें लेखके अन्तमें दिया हुआ सम्पादकीय **'विशेष नोट'** देखिये। —सम्पादक

१. 'अनेकान्त' वर्ष १ किरण ४ पृ०२४२ पर मि० जायसवालजीने स्पष्ट लिखा है कि "खारवेलके पूर्वपुरुषका नाम महामेघवाहन और वंशका नाम ऐल चेदिवंश था।"

❀ इसे कदाग्रह और हठधर्मीकी पराकाष्ठा कहना चाहिये; क्योंकि कितनी ही बातोंके स्पष्टतया बाधित अथवा अन्यथा सिद्ध होने और प्रकारान्तर से तद्रूप स्वीकार किये जाने पर भी ऐसा लिखनेका साहस किया जाता है। —सम्पादक

विशेष नोट

बा० कामताप्रशादजी के इस लेखकी विचारसरणी भी प्राय: वैसी ही स्खलित है जैसी कि पहले उत्तर-लेखकी थी, साथही कुछ क्षोभको भी लिये हुए मालूम होती है और उसका ध्येय अधिकतर उत्तरका भुगतान मात्र जान पड़ता है—शान्तचित्त अथवा खुले दिलसे किसी विषयका निर्णय या वस्तुतत्वका कोई गहरा विचार नहीं। और इसका कितना ही आभास पाठकोंको पिछले कुछ सम्पादकीय फ़ुटनोटोंसे भी मिल सकेगा। इस लेखमेंभी कितनी ही विवादस्थ-अनिर्णीत बातों अथवा दूसरे विद्वानोंके कथनोंको, जिन्हें अपने अनुकूल समझा, योंही—बिना उनकी खुली जाँच किये—एक अटल सत्यके तौरपर मान लियागया अथवा प्रमाणमें पेश किया गया है और जिन्हें प्रतिकूल समझा उन्हें या तो पूर्णतया छोड़ दिया गया और या उनके उतने अंशसे ही अपेक्षा धारण की गई है जो अपने विरुद्ध पड़ता था, जिसका एक उदहारण जायसवालजी का निर्वाणसमयादिसम्बन्धी पुराना कथन है, जिस पर पीछे नोट भी दिया गया है, अथवा मुनि जिनविजय जीका सूचनामात्र कथन है, जिसके विषयको यों ही निर्भ्रान्त सत्यके तौर पर स्वीकार कर लिया गया है और उसके आधार पर एक ऐसी थेरावलीको "पूर्णत: जाली" क़रार देनेकी हिम्मत की गई है, जिसके अभी तक लेखक महाशयको दर्शन भी नहीं हुए और जिसका विषय अभी बहुत कुछ विवादापन्न है !! इस प्रकार जो बातें खुद असिद्ध, संदिग्ध तथा विवादापन्न हैं अथवा प्रतिवादीको मान्य नहीं हैं उनके आधार पर अपने युक्तिवाद को खड़ा करके अनेक विषयोंका निर्णय देने अथवा उन्हें निर्णीत रूपसे घोषित करने का लेखमें साहस किया गया है !! समुचित विचारकी यह कोई पद्धति नहीं है—भले ही कुछ बालक इससे सन्तुष्ट हो जायँ परन्तु विचारकों को वह ज़रा भी सन्तोष नहीं दे सकती। उनकी दृष्टिमें वह एक भ्रामक तथा घातक रीति है।

इसके सिवाय, लेखक महाशय अपनी मतलब-सिद्धिके लिये—अथवा भोले पाठकों पर यह छाप डालनेके लिये कि हमने उत्तरका ठीक भुगतान कर दिया है—दूसरे की बातों को ग़लत रूपमें प्रस्तुत करते हुए भी मालूम होते हैं, जिसका एक उदाहरण मुख्तार सा० (सम्पादक) के कथन (युक्तिवाद) को 'मात्र' शब्दके द्वारा सीमित करके रखना है और दूसरा उदाहरण जायसवालजीके लेखका "उनके लेखानुसार" इन शब्दों द्वारा मुख्तार सा० का लेख प्रकट करना है ! क्या 'अनेकान्त' में प्रकट होने मात्र-से ही कोई लेख उसके सम्पादकका लेख हो जाता है? अथवा जिन बातों पर सम्पादकको कोई नोट देनेका अवसर न मिल सका हो या यथेष्ट साधन-सामग्रीके सामने मौजूद न होने पर नोट देना उचित न समझा गया हो, वे सब बातें सम्पादकद्वारा मान्य कही जा सकती हैं? कदापि नहीं। अत: दूसरोंकी बातोंको इस प्रकार ग़लत रूपमें प्रस्तुत करनेकी इस वृत्तिसे लेखकके दूसरे उल्लेख—खास करके वे उल्लेख जिनमें दूसरे विद्वानोंके वाक्योंको उद्धृत न करके महज़ फुटनोटों द्वारा पुस्तकके नामादिका हवाला दे दिया गया है और जिस परसे उन विद्वानोंके निर्धार आदिकी कोई स्थिति

अथवा मर्यादा भी मालूम नहीं होती—कहाँ तक विश्वसनीय हो सकते हैं, इसकी कल्पना पाठक-स्वयं ही कर सकते हैं। अस्तु।

इस तर्ज अमलके द्वारा साम्प्रदायिकताके जिस कलंकको पोंछनेकी लेखमें चेष्टा की गई है वह उलटा कुछ और भी गहरा हो गया है। अच्छा हो यदि लेखक महाशय भविष्यमें अपनी इस प्रवृत्तिके सुधारकी ओर विशेष ध्यान देवें और अपनी लेखनीको अधिक संयत, सावधान तथा गौरवपूर्ण बनाएँ।

इस लेखमें यद्यपि बहुतसी बातें आपत्तिके योग्य हैं, फिर भी कुछ थोड़ी-सी बातों पर ही यहाँ नोट दिये गये हैं और वे भी प्रायः इस लिये कि जिससे पाठकों पर इस उत्तर-लेखकी स्थिति स्पष्ट हो जाय और इस संबंधमें कोई खास ग़लत फ़हमी फैलने न पाए। अतः जिन आपत्तियोग्य बातों पर नोट नहीं दिये गये हैं—मात्र इस विशेष नोट-द्वारा इशारा किया गया है—उनके विषयमें किसीको यह समझनेकी भूल न करनी चाहिये कि वे सम्पादकको मान्य हैं। बाकी सब बातोंके विशेष उत्तरके लिये मुनि श्री कल्याणविजयजीका स्थान सुरक्षित है ही, जिनके उत्तर-लेखको लक्ष्य करके ही यह प्रत्युत्तर-लेख प्रधानतया लिखा गया है।

हाँ, इस लेखका अन्तिम भाग मेरे खास नोटसे सम्बंध रखता है, मुनिजीने भी उसको स्वीकार किया था। बाक़ी उन्होंने भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे,'एल'का 'ऐर' न हो सकने आदि रूपसे जो कुछ विशेष कथन किया था उसका कोई उत्तर लेखकने दिया ही नहीं। अतः लेखके इस अंश पर मेरे लिखने और प्रकाश डालनेकी खास जरूरत जान पड़ती है।

सबसे पहले मैं अपने पाठकोंको यह बतला देना चाहता हूँ कि हरिवंशपुराणमें 'ऐलवंश' का उल्लेख न होने मात्रसे ही लेखकके कथनको शब्दछल नहीं ठहराया गया था; बल्कि लेखकने हरिवंशपुराणमें वर्णित कोई ११ लाख वर्ष पुरानी कथाके अन्तर्गत 'ऐलेय' राजा के नामोल्लेख को लेकर और इधर शिलालेखमें 'ऐरेन' पदका प्रयोग देखकर जो बिना किसी विशेष आधार-प्रमाणके खारवेलके वंशकी कल्पना कर डाली है और उसे उक्त 'ऐलेय' का वंशज बतला दिया है उस कल्पनाको महज शब्दछलको लिये हुए निर्मूल बतलाया गया था। और जिन कारणोंके आधार पर ऐसा प्रतिपादन किया गया था उनका खुलासा इस प्रकार है :—

१ 'ऐलेय' राजा मुनिसुव्रत भगवानका प्रपौत्र था और इसलिये हरिवंशी था (खुद हरिवंशपुराणमें उसे 'हरिवंशतिलक' लिखा है)।

२ 'ऐलेय'की वंशपरम्परामें जितने भी राजाओंका उल्लेख मिलता है उन सबको 'हरिवंशी' लिखा है—'ऐलवंशी' या 'ऐलेयवंशी' किसीको भी नहीं लिखा।

३ हरिवंशपुराणमें ही नहीं, किन्तु दूसरे शास्त्रोंमें भी 'ऐल' नामके किसी स्वतन्त्र वंशका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

४ लेखककी इस कल्पनाका और कहींसे भी कोई समर्थन नहीं होता।

५ जब तक प्राचीन साहित्य परसे स्पष्टरूपमें यह सिद्ध न कर दिया जाय कि 'ऐल' वंश भी कोई वंश-विशेष था और राजा खारवेल उसी वंशमें हुआ है तब तक इस कल्पनाका कुछ भी मूल्य मालूम नहीं होता।

६ खारवेल यदि ऐलेयकी वंशपरम्परामें होने वाला हरिवंशी होता तो वह अपनेको 'ऐलवंशी' कहने की अपेक्षा 'हरिवंशी' कहनेमें ही अधिक गौरव मानता,

जिस वंशमें मुनिसुव्रत और नेमिनाथ जैसे तीर्थंकरोंका होना प्रसिद्ध है।

७ यदि 'ऐलेय' राजाके बाद वंशका नाम बिलकुल 'ऐल'के रूपमें बदल गया होता तो नेमिनाथ भी 'ऐल-वंशी' कहलाते; परन्तु ऐसा नहीं है—स्वामी समन्त-भद्र जैसे प्राचीन आचार्य भी '**हरिवंशकेतुः**' जैसे विशेषणोंके द्वारा उन्हें 'हरिवंशी' ही प्रकट कर रहे हैं।

इतने युक्तिवादके साथमें मौजूद होते हुए भी लेखकका उसे '**मात्र**' शब्दके द्वारा "**हरिवंशपुराण में 'ऐलवंश' का उल्लेख न होने**" तक ही सीमित कर देना कितने दुःसाहसको लिये हुए अन्यथा कथन है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। और साथ ही इस बातको भले प्रकार अनुभव कर सकते हैं कि लेखक महाशय अपनी इष्टसिद्धिके लिये जरूरत पड़ने पर दूसरोंके कथनको कितने ग़लतरूपमें प्रस्तुत करने के लिये उतारू हो जाते हैं। अस्तु।

लेखकने अपने इस लेखमें भी दूसरे प्राचीन ग्रंथों या अन्य शिलालेखादि पुरातन साहित्य परसे कोई भी प्रमाण ऐसे उपस्थित नहीं किये जो उनकी उक्त कल्प-नाको पुष्टि प्रदान कर सकें—'ऐलेय'के बाद और खा-रवेलसे पहले होने वाले हजारों राजाओंमेंसे एक भी ऐसे राजाका नाम पेश नहीं किया जिसने अपने को 'ऐलवंशी' लिखा हो या जिसके 'ऐल' विरुद धारण करनेका किसीने उल्लेख किया हो।

अब लेखक महाशय हरिवंशपुराणमें [illegible] उल्लेख न मिलनेके दो कारण बतलाते हैं—(१) एक तो यह कि 'हरिवंशपुराणमें हरिवंश के वर्णनकी प्रधा-नता होनेसे उसमें अन्य वंशोंका परिचय मिलना प्राकृत दुर्लभ है' और (२) दूसरे यह कि 'ऐल के उत्तराधि-कारियोंने राजा अभिचंद्रके द्वारा जब एक दूसरे वंश 'चेदि' की स्थापना करली थी, जिसका उल्लेख हरिवंश-पुराण करता ही है, तब 'ऐलवंश' का नामोल्लेख मिले भी तो कैसे मिले?'

पहले कारणके सम्बंधमें मैं सिर्फ इतना ही बत-लाना चाहता हूँ कि हरिवंशपुराणमें दूसरे वंशोंका वर्णन न पाया जाता हो ऐसा नहीं; किन्तु इक्ष्वाकुवंश, सूर्यवंश, सोम(चंद्र) वंश, उग्रवंश और कौरववंश आदि दूसरे वंशोंका भी उसमें वर्णन है (सर्ग १३ आदि); जिस अभिचंद्रके द्वारा चेदिवंशकी स्थापना बतलाई जाती है उसकी रानी वसुमतीको भी 'उग्र' वंश की लिखा है और इस रानी वसुमतीसे उत्पन्न होनेवाले 'वसु' राजाकी सन्ततिमें आगे चल कर राजा 'यदु' से 'यादववंश' की उत्पत्तिका विस्तारके साथ वर्णन किया है। और 'यदु' का हरिवंश रूपी उदयाचल पर सूर्य की समान उदित होना लिखा है *। इस तरह दूसरे वंशोंके उल्लेखके साथ जब हरिवंशकी एक शाखारूप 'यदुवंश' अथवा 'यादववंश' का भी इस पुराणमें वर्णन है तब 'ऐल' वंशकी स्थापना यदि हुई होती तो उसका वर्णन न दिया जानेकी कोई वजह नहीं थी। अतः यह कारण सदोष है और इस युक्तिमें कुछ भी दम नहीं जान पड़ता।

दूसरा कारण बड़ा ही विचित्र मालूम होता है! उसमें प्रथम तो राजा अभिचंद्रके द्वारा 'चेदिवंश' की स्थापनाका जो उल्लेख है वही मिथ्या है—हरिवंशपुरा-णमें चेदिवंशकी स्थापनाका कोई उल्लेख नहीं है। राजा अभिचंद्रने जिस प्रकार शुक्तिमती नदीके किनारे एक नगरी बसाई थी उसी प्रकार विन्ध्याचलके पृष्ठ भाग पर एक चेदि राष्ट्रकी—'चेदि' नामके जनपदकी—

* उदियाय यदुस्तत्र हरिवंशोदयाचले।
यादवप्रभवो व्यापी भूमौ भूपतिभास्करः ॥६॥
—सर्ग १८ वां।

स्थापना की थी—'चेदिवंश' की नहीं, जैसा कि हरिवंशपुराणके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

विन्ध्यपृष्ठेऽभिचन्द्रेण चेदिराष्ट्रमधिष्ठितम् ।
शुक्तिमत्यास्तटेऽथापि नाम्ना शुक्तिमती पुरी ॥३॥

'राष्ट्र' को 'वंश' प्रतिपादन करना और इस तरह जान बूझ कर पाठकोंको भुलावेमें डालना, यह लेखकके अतिसाहस, कलुषित मनोवृत्ति अथवा किसी विलक्षण समझका ही परिणाम जान पड़ता है । दूसरे यदि किसी तरह थोड़ी देरके लिये चेदिवंशकी इस स्थापनाको मान भी लिया जाय तो भी कुछ बात बनती हुई मालूम नहीं होती; क्योंकि एक तो तब अभिचन्द्रके उत्तराधिकारियोंके नामोंके साथ चेदिवंशका अधिक उल्लेख मिलना चाहिये था परन्तु वह बिलकुल भी नहीं मिलता । दूसरे इस स्थापनासे 'ऐलवंश' के नामोल्लेखमें क्या बाधा आती है वह कुछ समझ नहीं पड़ता ! एक वंशमेंसे दूसरे वंशके उदय होने पर ज्यादा से ज्यादा यदि हो तो इतना ही हो सकता है कि पहले का प्रभाव कुछ कम हो जाय परंतु उसका लोप होना तो नहीं कहा जा सकता । यदि लोप होनेका ही आग्रह किया जाय तो फिर इक्ष्वाकुवंश मेंसे सूर्यवंश और चंद्रवंशका उदय होने पर इक्ष्वाकु वंशका लोप क्यों नहीं हुआ ? हरिवंशमेंसे यदुवंशका उदय होने पर हरिवंशका लोप क्यों नहीं हुआ ? और यदि लोप हो ही जाता है ऐसा भी मान लिया जाय तब अभिचंद्रके उत्तराधिकारियों द्वारा यदुवन्शकी स्थापना होने पर चेदिवंशका भी लोप हो गया ऐसा मानना होगा ; फिर लेखक महाशय उसकी सत्ता और सिलसिलेको खारवेल तक कैसे ले जा सकेंगे ? अतः यह युक्तिवाद आपका बिलकुल थोथा, निःसार, किसी तरह भी पैरों न चलने वाला और खुद अपनेको ही बाधा पहुँचाने वाला सिद्ध होता है ।

जब इन दो कारणोंके विधान-द्वारा लेखक महाशय यह प्रकट कर रहे हैं कि 'ऐलवंश' भी कोई वंश था—भले ही उसका नामोल्लेख न मिले; तब फिर आपका यह कहना कि "हम ने अपने लेख में किसी 'ऐलवंश' का उल्लेख नहीं किया है, खारवेलको 'ऐलवंशज' जो लिखा है उसका भाव मात्र इतना ही है कि वह ऐलेय वंशमें अथवा सन्ततिमें था" और इस तरह 'ऐलवंश' के बिना ही 'ऐलवंशज' का प्रतिपादन करना क्या अर्थ रखता है ? उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं । यह तो मात्र डूबते हुए तिनके को पकड़ने जैसी चेष्टा है । स्थापित वंशके बिना संततिका स्मरण और उसका व्यवहार कहीं लाखों वर्ष तक चलता है ?

बाकी मेरे उस युक्तिवादको ले कर जिसे ऊपर नं०६ दिया गया है, लेखक महाशयने जो यह लिखा है कि— "ऐलेयकी सन्तान उस हरिवंशका उल्लेख अपने लिये क्यों करती, जिसमें उसके पूर्वज ऐलेयके पिता दक्षने अपनी कन्याको पत्नी बनानेका दुष्कर्म किया था और ऐलेयको उनसे अलग होकर अपने बाहुबलसे स्वाधीन राज्य स्थापित करना पड़ा था ?" वह कोई बड़े ही विलक्षण मस्तिष्ककी उपज मालूम होती है ! उन्हें यह भी सूझ नहीं पड़ा कि वंशमें किसी एक व्यक्तिके कोई दुष्कर्म कर लेनेसे ही वह वंश त्याज्य कैसे हो जाता है ? सूर्य, चंद्र और इक्ष्वाकु आदि प्रसिद्ध वंशोंमें भी कितने ही दुष्कर्म करने वाले हुए हैं और आज भी अनेक दुष्कर्म करने वाले मौजूद हैं परन्तु उनकी वजहसे किसने इन वंशोंको त्याज्य ठहराया? अथवा किस किसने इनसे अपना नाम कटाया है ? ऐलेयको यदि अपने पिताके उक्त दुष्कर्म पर रोष आया था तो वे भले ही अपनेको दक्षकी सन्ततिमें गा

'दक्षवंशी' न कहते परन्तु हरिवंशी कहनेमें कौनसे अपमानकी बात थी, जिस हरिवंशमें भगवान मुनिसुव्रतका अवतार हुआ था ? हरिवंशके संस्थापक राजा 'हरि' ने तो कोई अपराध नहीं किया था, फिर उनके नामके वंशसे इनकार करनेकी अथवा उसका बाईकाट करने की क्या वजह हो सकती थी ? और न लेखकको यही सूझ पड़ा है कि भगवान् नेमिनाथ तथा दूसरे कितने ही शलाका पुरुष भी तो राजा दक्ष तथा ऐलेय की सन्ततिमें ही हुए हैं, यदि उनके पूर्वज ऐलेयने हरिवंश से घृणा धारण करके उसका एकदम बाईकाट कर दिया होता तो ये लोग अपनेको हरिवंशी क्यों कहते? अथवा भगवान् महावीर और उनके वचनानुसार दूसरे आचार्य उन्हें 'हरिवंशी' क्यों प्रकट करते ? क्या सर्वज्ञ हो कर भी भ० महावीरको इतनी खबर नहीं पड़ी थी कि ऐलेयने हरिवंशका पूरा बाईकाट कर दिया था उसका कोई वंशधर अपनेको हरिवंशी नहीं कहता था तब हमें उसके वंशजोंको 'हरिवंशी' नहीं कहना चाहिये बल्कि 'ऐलवंशी' कहना चाहिये ? अथवा प्राचीन आचार्यों ने ही भ० महावीरके वचनोंके विरुद्ध 'ऐलवंश' की जगह फिरसे 'हरिवंश' की घोषणा कर दी है ? कुछ समझमें नहीं आता कि लेखक महाशयने इन सब बातोंका क्या निर्णय करके विरोधमें उक्त वाक्य कहनेका साहस किया है !!

अब मैं शिलालेखकी बातको लेता हूँ । खारवेलने उक्त शिलालेखमें स्पष्ट रूपसे न तो अपनेको 'ऐलवंशज' लिखा है और न 'चेदिवंशज' । इन दोनों वंशों की कल्पना शिलालेखकी जिस पहली पंक्तिके आधार पर की जाती है उसका वर्तमान रीडिंग इस प्रकार है:-

"नमो अरहंतानं [।] नमो सवसिधानं [।] ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतिराजवसवधनेन पसथ-सुभलखनेन चतुरंतलुठितगुनोपहितेन कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन"

इस पंक्तिमें अर्हन्तों तथा सर्व सिद्धोंको नमस्काररूप मंगलाचरणके बाद 'ऐरेन' से प्रारम्भ करके जो पद दिये गये हैं वे सब खारवेलके विशेषणपद हैं । उनमेंसे **'ऐरेन'** और **'चेतिराजवसवधनेन'** ये दो पद ही यहाँ विचारणीय हैं—इन्हीं परसे दोनों वंशों की कल्पना की जाती है । पहले पदका संस्कृत रूप **'ऐलेन'** और दूसरेका **'चेदिराजवंशवर्धनेन'** बतलाया जाता है । कोई कोई पहले पदका संस्कृतानुवाद **'आर्येण'** करते हैं, जिसका उल्लेख खुद लेखकने अपने पहले लेखमें किया था (अनेकान्त पृ० ३००) और कोई कोई 'ऐरेन' की जगह 'वेरेन' पाठ ठीक बतलाकर उसका अनुवाद **'वीरेण'** करते हैं और अपने इस पाठके विषयमें लिखते हैं कि यद्यपि 'वे' के स्थान पर बहुतसे विद्वान 'ऐ' बाँचते हैं परन्तु एक तो प्राकृतमें 'ऐ' अक्षर आज तक देखनेमें नहीं आया, दूसरे इसी वंशके एक दूसरे राजाके लिये शिलालेख नं० ३ (प्रिंसेपके लेखोंमें नं० ६) में * **वेरस** विशेषणका प्रयोग हुआ मिलता है, जिसका संस्कृत रूप **'वीरस्य'** होता है । इस लिये यह पद 'वेरेन' (वीरेण) होना चाहिये । इसमें 'वे' का 'व' मेघवाहनके 'वा' का 'व' जैसा है । फेर केवल इतना है कि उसका गला कुछ तंग किया गया है जिससे वह 'ऐ' जैसा मालूम पड़ता है ×।

* वह शिलालेख इस प्रकार है:—

"वेरस महाराजस कलिंगाधिपतिनो महामेघवाहनवकदेपसिरिनो लेणं ।"

× देखो, मुनि जिनविजयद्वारा संपादित 'प्राचीन जैन लेखसंग्रह' प्रथम भाग' पृ० २० ।

ये 'आर्येण' और 'वीरेण' अर्थ वाली पिछली दो कल्पनाएँ उक्त लेखपंक्तिकी प्रकृतिको देखते हुए ज्यादा संगत मालूम होती हैं। इनमें भी यदि लेख नं० ३ में प्रयुक्त हुआ 'वेरस' पद निर्भ्रान्त हो तो 'वेरेन' पाठकी कल्पना अधिक समुचित जान पड़ती है। इनके सिवाय एक और भी कल्पना की जा सकती है और वह यह कि खारवेलकी माताका नाम 'इरा' हो और इसी से आप 'ऐर' कहलाते हों, जैसे 'इला' का अपत्य (पुत्र) होनेसे राजा 'ऐल' कहलाया; अन्यथा उसका असली नाम हिन्दूशास्त्रानुसार 'पुरूरवा:' था।

रही दूसरे पदके पाठकी बात, उसे जहाँ तक मुझे मालूम है पहलेसे सभी विद्वान् **'चेतराजवसवधनेन'** रूपमें पढ़ते आए हैं और उसका अर्थ **'चैत्रराजवंशवर्धनेन'** किया जाता रहा है *। खुद बाबू काशीप्रसादजी जायसवालने भी, जिनका रीडिंग ऊपर दिया गया है, सन् १९१८ में उसे इसी रूपमें पढ़ा था और अर्थ भी **'चैत्रराजवंशवर्धनेन'** ही किया था ×। परन्तु सन् १९२७ के आपके उक्त रीडिंगसे मालूम होता है कि अब आपने **'त'** की जगह **'ति'** का आविर्भाव किया है और अर्थ भी 'चैत्रराज' की जगह 'चेदिराज' के रूपमें बदल दिया है †। पाठादिकी यह तबदीली, जहाँ तक मैं समझता हूँ चेदिवंशकी कल्पना के हृदयमें आनेके बाद की गई है। संभव है लेखक-जैसी धारणाके किसी व्यक्तिने जायसवालजीको चेदिवंशकी उक्त बात सुझाई हो और उसके फलस्वरूप तकारमें इकारका आविर्भाव हो गया हो। पर्वत पर शिलालेखकी स्थिति इतनी जीर्ण-शीर्ण तथा अनेक गढ्ढों और स्फोटादिको लिये हुए है कि उसमें 'त' को 'ति' कल्पना कर लेना कोई विशेष कठिन बात नहीं है। कुछ भी हो, पहला पाठ अधिक संगत मालूम होता है, जिससे उस पदका यह आशय होता है कि खारवेल चेतराजके वंशको—कुलको—वर्द्धिंगत करने वाला था। और इस तरह 'चेतराज' प्राय: खारवेलके पिता का नाम जान पड़ता है। इस प्रकार वंशवर्धन या कुलवर्धनादि शब्दोंके साथ पिता गुरु आदिके नामका उल्लेख करनेकी परिपाटी अन्यत्र भी पाई जाती है। 'ऐरेन' पदमें माताके नाम-समावेशकी कल्पना यदि ठीक हो तो इस पदमें पिताके नामोल्लेखकी बात और भी दृढ हो जाती है—माता पिताका नाम शिलालेखमें अन्यत्र कहीं है भी नहीं, जिसकी ऐसे शिलालेखोंमें बहुत कुछ आवश्यकता जान पड़ती है। परन्तु मुनि कल्याणविजयजी, उक्त थेरावलीके आधार पर इसी पर्व पाठको ठीक स्वीकार करते हुए 'चेतराज' का अर्थ 'चेटराज' करके उसे खारवेलकी ११वीं पीढ़ी पहलेका पूर्व पुरुष सूचित करते हैं।

इस प्रकार यह इस शिलालेख-पंक्तिकी तथा इसके उक्त दोनों पदोंके अर्थकी परिस्थिति है। इस परिस्थिति परसे इतना तो स्पष्ट है कि मूल लेखमें 'ऐल' तथा 'चेदिवंश' रूपसे कोई उल्लेख नहीं है और जिन शब्दों परसे यह अर्थ निकाला जाता है वे तथा उनका वह अर्थ अभी विवादापन्न हैं और इस लिये लेखकी इस परिस्थितमें बिना किसी भारी स्पष्टीकरण तथा समर्थनादिके यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें खारवेलने अपने को उक्त हरिवंशी ऐलेय का वंशज अथवा चेदि नामके किसी प्रसिद्ध वंशका वंशधर प्रकट कि-

* देखो, उक्त प्राचीन जैन लेख संग्रह, प्रथम भाग।

× देखो, जर्नल आफ़ दि बिहार ऍंड ओडीसा रिसर्च सोसायटी दिसम्बर १९१८।

† देखो, जैनसाहित्यसंशोधक भाग ३, अङ्क ४ अथवा उक्त बिहार उड़ीसा जर्नलकी सन १९२७ की जिल्द।

या है। तब लेखकका शिलालेखके आधार पर खारवेलको निश्चितरूपसे 'ऐलवंशज' प्रकट करना और गर्वके साथ दृढतापूर्वक यह कहना कि **"खारवेल अपनेको चेदिवंशका लिखते ही हैं"** एक अति साहसके सिवाय और कुछ मालूम नहीं होता, जो कि ऐतिहासिक क्षेत्रमें काम करने वालोंको शोभा नहीं देता। उन्हें खूब समझ लेना चाहिये कि यदि 'चेतिराज' पाठही ठीक हो और उसका अर्थ भी 'चेदिराज' ही मान लिया जाय तो भी इस उल्लेखका सम्बंध ऐलेयके वंशज उस राजा 'अभिचन्द्रके' साथ नहीं जोड़ा जा सकता जिसका न तो 'चेदिराज' नाम ही था और न जिसके द्वारा 'चेदि' नामके किसी स्वतंत्र वंशकी स्थापना ही की गई है, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है; तब 'चेतिराज' चेतराजकी जगह खारवेलके पितादिकका ही नाम हो सकता है।

इस प्रकार यह लेखक महाशयके युक्तिवादका विवेचन और स्पष्टीकरण है। इसीके आधारपर आप यह कहने बैठे हैं कि "खारवेलको राजा ऐलेयसे सम्बन्धित बताना कोरा शब्दछल नहीं है—**बल्कि यथार्थ बात है**" और इसीके आधार पर आप बड़े दर्पके साथ यहाँतक कहने के लिये उतारू हो गये हैं कि—**"इस विषयमें किसी भी विद्वानकी आपत्ति करना कुछ महत्व नहीं रखता।"** सहृदय पाठक ऊपरके संपूर्ण विवेचन तथा स्पष्टीकरण परसे भले प्रकार समझ सकते हैं कि यह सब लेखक महाशय का कितना अधिक प्रलाप है और वह कितने निःसार कथन तथा थोथे अहंकारको लिये हुए है। इस प्रकारका लिखना लेखकके साम्प्रदायिक अभिनिवेशको पुकार पुकार कर प्रकट करता है।

अन्तमें मैं अपने पाठकों पर इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझता हूँ कि मुझे थेरावली-विषयक कथनका कोई पक्ष नहीं है। यदि उक्त थेरावली मेरे सामने आए और मुझे वह भले प्रकार जाली प्रतीत हो जाय तो मैं यथाशक्ति उसकी अच्छी क़लई खोले विना और उसका पूरा भण्डाफोड़ किये विना न रहूँ। परन्तु यह मुझसे नहीं हो सकता कि विना देखे-भाले ही लेखककी तरह उसे पूर्णतः जाली करार देनेका दुःसाहस कर बैठूँ। ऐसा काम उन्हींके द्वारा बन सकता है जो साम्प्रदायिक अभिनिवेशके वशीभूत हों। मुझे इस प्रकारकी धींगा-धींगी की विचारपद्धति पसन्द नहीं है और न मेरी अनेकान्त-नीति मुझे इस बातकी इजाजत देती है कि मैं किसी सम्प्रदायविशेषका अनुचित पक्ष लूँ। मैं तो अपनी मतिको वहाँ तक स्थिर करता हूँ जहाँ तक युक्ति पहुँचती हैं, मतिके स्थान पर युक्तिको यों ही खींच-खाँच कर अथवा तोड़ मरोड़ कर लाना नहीं चाहता। मेरी इस प्रवृत्तिसे भले ही कोई महाशय रुष्ट हों या अन्य प्रकारसे किसीकी तरफ़दारी वगैरहका मुझ पर कोई आरोप लगानेके लिये उतारू हो जायँ, सत्यके सामने मुझे उसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं है।

—सम्पादक

शास्त्र-मर्यादा

[लेखक—श्रीमान् पं० सुखलालजी]

शास्त्र क्या? जो शिक्षण दे अर्थात् किसी विषयका परिचय तथा अनुभव प्रदान करे, वह उस विषयका शास्त्र। परिचय और अनुभव जितने जितने प्रमाणमें गहरा तथा विशाल उतने उतने प्रमाणमें वह शास्त्र उस विषयमें अधिक महत्व का। इस प्रकार महत्वका आधार गहराई और विशालता होने पर भी उस शास्त्रकी प्रतिष्ठाका आधार तो उसकी यथार्थता पर ही है। अमुक शास्त्रमें परिचय विशेष हो, गहनता हो, अनुभव विशाल हो, तो भी उसमें यदि दृष्टि-दोष या दूसरी भ्रान्ति हो तो उस शास्त्रकी अपेक्षा उसी विषयका थोड़ा भी यथार्थ परिचय देने वाला और सत्य अनुभव प्रकट करने वाला दूसरा शास्त्र विशेष महत्वका है और उसीकी सच्ची प्रतिष्ठा होती है। शास्त्र शब्दमें 'शास्' और 'त्र' ये दो शब्द हैं। शब्दोंमेंसे अर्थ घटित करनेकी अति प्राचीन रीतिका आग्रह यदि नहीं छोड़ना हो तो ऐसा कहना चाहिये कि 'शास्' शब्द परिचय और अनुभव पूरा पाडनेका भाव सूचित करता है और 'त्र' शब्द त्राणशक्तिका भाव सूचित करता है। शास्त्रकी त्राणशक्ति वह जो कुमार्गमें जाते हुए मानवको रोक कर रक्षा करे और उसकी शक्तिको सच्चे मार्गमें लगा देवे। ऐसी त्राणशक्ति परिचय या अनुभवकी विशालता पर अथवा गंभीरता पर अवलम्बित नहीं, किन्तु यह मात्र सत्य पर अवलम्बित है। इससे समुच्चय रूपसे विचार करने पर यही भले प्रकार फलित होता है कि जो किसी भी विषयके सच्चे परिचय और सच्चे अनुभवको पूरा करे, वही 'शास्त्र' कहा जाना चाहिये।

ऐसा शास्त्र कौन? उपर्युक्त व्याख्यानुसार तो किसीको शास्त्र कहना ही कठिन है। क्योंकि कोई भी एक शास्त्र आज तककी दुनियामें ऐसा नहीं जन्मा जिसका परिचय और अनुभव किसी भी प्रकार फेरफार पाने योग्य न हो या जिसके विरुद्ध किसीको कभी कुछ कहनेका प्रसंग ही न आवे; तब ऊपरकी व्याख्यानुसार जिसे शास्त्र कह सकें ऐसा कोई भी शास्त्र है या नहीं? यह प्रश्न होता है। इसका उत्तर सरल भी है और कठिन भी है। यदि उत्तरके पीछे रहे हुए विचारमें बंधन, भय या लालच न हो तो उत्तर सरल है, और यदि वे हो तो उत्तर कठिन भी है। बात ऐसी है कि मनुष्यका स्वभाव जिज्ञासु भी है और श्रद्धालु भी है। जिज्ञासा मनुष्यको विशालतामें ले जाती है और श्रद्धा उसे दृढ़ता प्रदान करती है। जिज्ञासा और श्रद्धाके साथ यदि दूसरी कोई आसुरी वृत्ति मिल जाय तो वह मनुष्यको मर्यादित क्षेत्रमें बाँधे रख कर उसीमें सत्य (नहीं नहीं, पूर्ण सत्य) देखनेको बाधित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य किसी एक ही वाक्यको, या किसी एक ही ग्रंथको अथवा किसी एक ही परम्पराके ग्रन्थसमूहको अंतिम शास्त्र मान लेता

है और उसीमें पूर्ण सत्य है ऐसी मान्यता रखने वाला हो जाता है। ऐसा होनेसे मनुष्य मनुष्यमें, समूह समूहमें और सम्प्रदाय सम्प्रदायमें शास्त्रकी सत्यता-असत्यताके विषयमें अथवा शास्त्रकी श्रेष्ठताके तरतम भावके विषयमें भारी झगड़ा शुरू हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य स्वयं माने हुए शास्त्रके अतिरिक्त दूसरे शास्त्रोंको मिथ्या या अपूर्ण सत्य प्रकट करने वाले कहने लग जाता है और ऐसा करके सामनेके प्रतिस्पर्द्धीको अपने शास्त्र-विषयमें वैसा कहनेके लिये जाने अनजाने निमन्त्रण देता है। इस तूफ़ानी वातावरणमें और संकीर्ण मनोवृत्तिमें यह तो विचारना रह ही जाता है कि तब क्या सभी शास्त्र मिथ्या या सभी शास्त्र सत्य या सभी कुछ नहीं?

यह तो हुई उत्तर देनेकी कठिनाई की बात। परंतु जब हम भय, लालच और संकुचितताके बन्धनकारक वातावरणमेंसे छूट कर विचारते हैं तब उक्त प्रश्नका निबटारा सुगमतासे ही हो जाता है और वह यह है कि सत्य एक तथा अखंड होते हुए भी उसका आविर्भाव (उसका भान) कालक्रमसे और प्रकारभेदसे होता है। सत्यका भान यदि कालक्रम विना और प्रकारभेद विना हो सकता होता तो आजसे पहले कभी का यह सत्यशोधका काम पूर्ण हो गया होता और इस दिशामें किसीको कुछ कहना या करना भाग्यसे ही रहा होता। जो जो महान् पुरुष सत्यका आविर्भाव करने वाले पृथ्वी तल पर हो गये हैं उन्हें भी उनके पहले होने वाले अमुक सत्यशोधकोंकी शोधकी विरासत मिली ही थी। ऐसा कोईभी महान् पुरुष क्या तुम बता सकोगे कि जिसको अपनी सत्यकी शोधमें और सत्यके आविर्भावमें अपने पूर्ववर्त्ती और समसमयवर्त्ती दूसरे वैसे शोधककी शोधकी थोड़ी भी विरासत न मिली हो और मात्र उसने ही एकाएक अपूर्वरूपसे वह सत्य प्रकट किया हो? हम जरा भी विचार करेंगे तो मालूम पड़ेगा कि कोई भी सत्य शोधक अथवा शास्त्र-प्रणेता अपनेको मिली हुई विरासतकी भूमिका पर ही खड़ा हो कर अपनी दृष्टिप्रमाण या अपनी परिस्थिति को अनुकूल पड़े उस रीतिसे सत्यका आविर्भाव करने को प्रवृत्त होता है और वैसा करके सत्यके आविर्भाव को विकसित करता है। यह विचारसरणी यदि फेंक देने योग्य न हो तो ऐसा कहना चाहिये कि कोई भी एक विषयका शास्त्र उस विषयमें जिन्होंने शोध चलाई, जो शोध चला रहे हैं या जो शोध चलाने वाले हैं उन व्यक्तियोंकी क्रमिक तथाप्रकार भेद वाली प्रतीतियोंका संयोजन है। प्रतीतियाँ जिन संयोगोंमें क्रमसे उत्पन्न हुई हों उन्हें संयोगोंके अनुसार उसी क्रमसे संकलित कर लिया जाय तो उस विषयका पूर्ण—अखण्ड—शास्त्र बने। और इन सभी त्रैकालिक प्रतीतियों या आविर्भावोंमेंसे अलग अलग मणके ले लिये जाय तो वह अखंड शास्त्र न कहलाए। तो भी उसे शास्त्र कहना हो तो इतने अर्थ में कहना चाहिये कि वह प्रतीतिका मणका भी एक अखंड शास्त्रका अंश है। परन्तु ऐसे किसी अंशको यदि सम्पूर्णताका नाम देनेमें आवे तो यह ही मिथ्या है। यदि इस बातमें बाधा देने योग्य कुछ न हो (मैं तो कोई बाधा नहीं देता) तो हमें शुद्ध हृदयसे स्वीकार करना चाहियेकि मात्र वेद, मात्र उपनिषद्, मात्र जैनागम, मात्र बौद्ध पिटक, मात्र अवेस्ता, मात्र बाइबिल मात्र, पुराण, मात्र कुरान, या मात्र वे वे स्मृतियाँ, ये अपने अपने विषयसम्बन्धमें अकेले ही सम्पूर्ण और अन्तिम शास्त्र नहीं। परन्तु ये सब ही आध्यात्मिक विषयसम्बन्धमें, भौतिक विषयसम्बन्धमें अथवा सामाजिक विषयसम्बन्धमें एक अखण्ड त्रैकालिकशास्त्र के क्रमिक तथा प्रकार भेद वाले सत्यके

आविर्भावके सूचक, अथवा उस अखंड सत्यके देशकाल तथा प्रकृतिभेदानुसार भिन्न भिन्न पक्षोंको प्रस्तुत करते हुए मणका-शास्त्र हैं। यह बात किसी भी विषयके ऐतिहासिक और तुलनात्मक अभ्यासीके लिए समझनी बिलकुल सरल है। यदि यह समझ हमारे हृदयमें उतर जाय (और उतारनेकी जरूरत तो है ही) तो अपनी बातको पकड़े रहते हुए भी दूसरेके प्रति अन्याय करते बच जाना चाहिये और ऐसा करके दूसरेको भी अन्यायमें उतारनेकी परिस्थितिसे बचा लेना चाहिये। अपने माने हुए सत्यके प्रति बराबर वफादार रहने के लिये यह बात जरूरी है कि उसकी जितनी क़ीमत हो उससे अधिक आँक करके अंधश्रद्धा विकसित नहीं करनी तथा कमती आँककर नास्तिकता नहीं दिखलानी। ऐसा किया जाय तो यह मालूम हुए विना न रहे कि अमुक विषयसंबंधी सत्यशोधकोंके मंथन क्यों तो सभी शास्त्र हैं, क्यों सभी अशास्त्र है और क्यो सभी कुछ नहीं।

देश, काल और संयोगसे परिमित सत्यके आविर्भावकी दृष्टिसे ये सब ही शास्त्र है, सत्यके सम्पूर्ण और निरपेक्ष आविर्भावकी दृष्टिसे ये सब ही अशास्त्र हैं और शास्त्रयोगके पार पहुँचे हुए समर्थ योगीकी दृष्टिसे ये सब शास्त्र या अशास्त्र कुछ भी नहीं। माने हुए साम्प्रदायिक शास्त्रविषयके मिथ्या अभिमानको गलानेके लिये इतनी ही समझ काफ़ी है। यदि यह मिथ्या अभिमान गल जाय तो मोहका बन्धन दूर होते ही संपूर्ण महान् पुरुषोंके खंड सत्योंमे अखंड सत्यका दर्शन हो जाय और सभी विचारसरणियोंकी नदियाँ अपने अपने ढंगसे एक ही महासत्यके समुद्रमें मिलती हैं, ऐसी स्पष्ट प्रतीति हो जाय। यह प्रतीति करानी ही शास्त्ररचनाका प्रधान उद्देश्य है।

सर्जक और रक्षक

शास्त्र कुछके हाथों रचे जाते हैं, तथा कुछके हाथों सँभाल किये जाते हैं—रक्षा किये जाते है—और दूसरे कुछ मनुष्योंके हाथों सँभाल के अतिरिक्त उनमें वृद्धि की जाती है। रक्षको, सुधारको और परिशिष्टकारों (पूर्तिकारों) की अपेक्षा सर्जक (रचयिता) हमेशा कम होते हैं। सर्जकोंमे भी सब समान हो कोटिके होते हैं ऐसा समझना मनुष्यप्रकृतिका अज्ञान है। रक्षकों के मुख्य दो भाग होते है। पहला भाग सर्जककी कृति का आजन्म वफादार रह कर उसका आशय समझने की, उसे स्पष्ट करनेकी और उसका प्रचार करनेकी कोशिश करता है। वह इतना अधिक भक्तिसम्पन्न होता है कि उसके मनको अपने पूज्य स्रष्टाके अनुभवमें कुछ भी सुधारने योग्य या फेरफार करने योग्य नहीं लगता। इससे वह अपने पूज्य स्रष्टाके वाक्योंको अक्षरशः पकड़े रह कर उनमेंसे ही सब कुछ फलित करनेका प्रयत्न करता है और संसारकी तरफ देखनेकी दूसरी आँख बन्द कर लेता है। जब कि रक्षकोंका दूसरा भाग भक्तिसम्पन्न होनेके अतिरिक्त दृष्टिसम्पन्न भी होता है। इससे वह अपने पूज्य स्रष्टाकी कृतिका अनुसरण करते हुए भी उसे अक्षरशः नहीं पकड़े रहता, उलटा वह उसमें जो जो त्रुटियाँ देखता है अथवा परिपूर्तिकी आवश्यकता समझता है उसे अपनी शक्त्यनुसार दूर करके या पूर्ण करके ही वह उस शास्त्रका प्रचार करता है। इस रीतिसे ही रक्षकोंके पहले भागद्वारा शास्त्र प्रमार्जन तथा पूर्ति न पाते हुए एक देशीय गहराईको लिये रहते हैं और रक्षकोंके द्वितीय भागद्वारा शास्त्र प्रमार्जन तथा पूर्ति मिलनेके कारण विशालताको प्राप्त होते हैं। किसी भी स्रष्टाके शास्त्रसाहित्य

का इतिहास तलाश किया जायगा तो ऊपरकी बात पर विश्वास हुए बिना नहीं रहेगा। यहाँ उदाहरणके तौर पर आर्य ऋषियोंके अमुक वेदभागको मूल रचना मान कर प्रस्तुत वस्तु समझानी हो तो ऐसा कहा जा सकता है कि मंत्रवेदका ब्राह्मण भाग और जैमिनीयकी मीमांसा ये प्रथम प्रकारके रक्षक हैं। और उपनिषद्, जैन आगम, बौद्ध पिटक, गीता, स्मृति और अन्य वैसे ग्रन्थ ये द्वितीय प्रकारके रक्षक हैं; क्योंकि ब्राह्मण ग्रंथोंका और पूर्वमीमांसाका मंत्रवेदमें चली आने वाली भावनाओंकी व्यवस्था ही करनी है—उस के प्रामाण्यको अधिक मज़बूत कर उस पर श्रद्धाको दृढ़ ही करना है। किसी भी तरह मंत्रवेदका प्रामाण्य दृढ़ रहे यही एक चिन्ता ब्राह्मणकारों और मीमांसकों की है। उन कट्टर रक्षकोंको मंत्रवेदमें वृद्धि करने योग्य कुछ भी नज़र नहीं आता, उलटा वृद्धि करनेका विचार ही उन्हें घबरा देता है। जब कि उपनिषदकार, आगमकार, पिटककार वगैरह मंत्रवेदमेंसे मिली हुई विरासतको प्रमार्जन करने योग्य, वृद्धि करने योग्य और विकास करने योग्य समझते हैं। ऐसी स्थितिमें एक ही विरासतको प्राप्त होने वाले भिन्न भिन्न समयोंके और समानसमयके प्रकृतिभेद वाले मनुष्योंमें पक्षापक्षी पड़ जाती है और क़िले बन्दी खड़ी हो जाती है।

नवीन और प्राचीनमें द्वंद्व

ऊपरकी क़िलेबन्दीमेंसे सम्प्रदायका जन्म होता है और एक दूसरेके बीच विचारका संघर्ष खूब जम जाता है। देखनेमें यह संघर्ष अनर्थकारी लगता है। परन्तु इस संघर्षके परिणामस्वरूप ही सत्यका आविर्भाव आगे बढ़ता है। कोई पुष्ट विचारक या समर्थ स्रष्टा इसी संघर्षमेंसे जन्म लेता है और वह चले आते शास्त्रीय सत्योंमें और शास्त्रीय भावनाओंमें नया क़दम बढ़ाता है। यह नया क़दम पहले तो लोगोंको चमका देता है और सभी लोग या लोगोंका बहुभाग रूढ और श्रद्धास्पद शब्दों तथा भावनाओंके हथियारद्वारा इस नये विचारक या सर्जकका मस्तक फोड़नेको तैयार हो जाते हैं। एक तरफ़ विरोधियोंकी पलटन (सेना) और दूसरी तरफ़ अकेला यह नया आगन्तुक। विरोधी इसको कहते हैं कि 'तू जो कहना चाहता है, जो विचार दर्शाता है वे इन प्राचीन ईश्वरीय शास्त्रोंमें कहाँ है?' पुनः वे विचारे कहते हैं कि 'प्राचीन ईश्वरीय शास्त्रोंके शब्द तो उलटे तुम्हारे नये विचारके विरुद्ध हो जाते हैं।' यह विचारा श्रद्धालु होते हुए एक आँख वाले विरोधियोंका उस (पहले) आगन्तुक या विचारक स्रष्टा जैसे के ही संकुचित शब्दोंमेंसे अपनी विचारणा और भावना निकालकर बतलाता है। इस प्रकार इस नये विचारक और स्रष्टाद्वारा एक समयके प्राचीन शब्द अर्थदृष्टिसे विकसित होते हैं और नये विचारों तथा भावनाओंका नया पटल (कोट) आता है और फिर यह नया पटल समय बीतने पर पुराना हो कर जब कि बहुत उपयोगी नहीं रहता अथवा उलटा बाधक हो जाता है तब फिर नये ही स्रष्टा तथा विचारक पहलेके पटल पर चढ़ी हुई एक बार नई और हालमें पुरानी हो गई विचारणाओं तथा भावनाओं पर नया पटल चढ़ाते हैं। इस प्रकार बाप दादाओंसे अनेक बार एक ही शब्दके खोलमें अनेक विचारणाओं और भावनाओंके पटल हमारे शास्त्रमार्गमें देखे जा सकते हैं। नवीन पटलके प्रवाहको प्राचीन पटलकी जगह लेनेके लिये यदि स्वतन्त्र शब्द निर्माण करने पड़े होते और अनुयायियोंका क्षेत्र भी अलग मिला होता तो उस प्राचीन और नवीनके मध्यमें द्वंद्व का—विरोधका

—कभी अवकाश ही न रहता। परन्तु क़ुदरत (प्रकृति) का आभार मानना चाहिये कि उसने शब्दों और अनुयायियोंका क्षेत्र बिलकुल ही जुदा नहीं रक्खा, जिससे पुराने लोगोंकी स्थिरता और नये आगन्तुककी दृढता के बीच विरोध उत्पन्न होता है और कालक्रमसे यह विरोध विकासका ही रूप पकड़ता है। जैन या बौद्ध मूल शास्त्रोंको लेकर विचार कीजिये या वेद शास्त्रको मान कर चलिये तो भी यही वस्तु हमको दिखलाई पड़ेगी। मंत्रवेदमेंके ब्रह्म, इन्द्र, वरुण ऋत, तप, सत्, असत्, यज वगैरह शब्द तथा उनके पीछेके भावना और उपासना लो और उपनिषदोंमें नज़र पड़ती हुई इन्हीं शब्दोंमें आरोपित की हुई भावना तथा उपासना लो। इतना ही नहीं किन्तु भगवान् महावीर और बुद्ध के उपदेशमें स्पष्टरूपसे तैरती ब्राह्मण, तप, कर्म, वर्ण वगैरह शब्दोंके पीछेकी भावना और इन्हीं शब्दोंके पीछे रही हुई वेदकालीन भावनाओंको लेकर दोनोंकी तुलना करो; फिर गीतामें स्पष्ट रूपसे दिखाई देती हुई यज्ञ, कर्म, संन्यास, प्रवृत्ति, निवृत्ति, योग, भोग वगैरह शब्दोंके पीछे रही हुई भावनाओंको वेदकालीन और उपनिषद्कालीन इन्हीं शब्दोंके पीछे रही हुई भावनाओंके साथ तथा इस युगमें दिखाई पड़ती इन शब्दों पर आरोपित भावनाओंके साथ तुलना करो तो पिछले पाँच हज़ार वर्षों में आर्य लोगोंके मानसमें कितना फेर पड़ा है यह स्पष्ट मालूम पड़ेगा। यह फेर कुछ एकाएक नहीं पड़ा, या विना बाधा और विना विरोध के विकासक्रममें स्थानको प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि इस फेरके पड़नेमें जैसे समय लगा है वैसे इन फेरवाले पटलोंको स्थान प्राप्त करनेमें बहुत टक्कर भी सहनी पड़ी है। नये विचारक और सर्जक अपनी भावनाके हथोड़ेसे प्राचीन शब्दोंकी एरण (निहाई) पर प्राचीन लोगोंके मानसको नया रूप देते हैं। हथौड़ा और एरण के बीचमें मानसकी धातु देशकालानुसार फेरफार वाली भावनाओंके और विचारणाओंके नये नये रूप धारण करती है; और नवीन-प्राचीनकी काल-चक्कीके पाट नवीन नवीन दलते ही जाते हैं और मनुष्यजातिको जीवित रखते हैं।

वर्तमान युग

इस युगमें बहुतसी भावनाएँ और विचारणाएँ नये ही रूपमें हमारे सामने आती जाती हैं। राजकीय या सामाजिक क्षेत्रमें ही नहीं किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र तकमें त्वराबन्ध नवीन भावनाएँ प्रकाशमें आती जाती हैं। एक तरफ भावनाओंको विचारकी कसौटी पर चढ़ाये विना स्वीकार करने वाला मन्द बुद्धि वर्ग होता है, तब दूसरी तरफ इन भावनाओंको विना विचारे फेंक देने या खोटी कहने जैसी जरठ बुद्धि वाला वर्ग भी कोई छोटा या अनस्तित्वरूप नहीं। इन संयोगोंमें क्या होना चाहिये और क्या हुआ है, यह समझानेके लिये ऊपरकी चार बातें चर्चित की गई हैं। सर्जक और रक्षक मनुष्य जातिके नैसर्गिक फल हैं। इनके अस्तित्वको प्रकृति भी नहीं मिटा सकती। नवीन-प्राचीनका द्वंद्व सत्यके आविर्भाव और उसे टिकाने (स्थिर रखने) का अनिवार्य अंग है। अतः इससे भी सत्यप्रिय घबराता नहीं। शास्त्र क्या? और ऐसा शास्त्र कौन? ये दो विशेष बातें दृष्टिके विकासके लिए अथवा ऐसा कहो कि नवीन प्राचीनकी टक्करके दधि-मंथनमेंसे अपने आप तिर आने वाले मक्खनको पहचाननेकी शक्ति विकसित करनेके लिये चर्चित की गई हैं। ये चार खास बातें तो वर्तमान युगकी विचारणाओं और भावनाओंको समझनेके लिये मात्र प्रस्ता-

बना है। तब अब थोड़ेमें देखिये और वह भी जैन समाजको लेकर विचार कीजिये कि उसके सामने आज कौन कौन राजकीय, सामाजिक और आध्यात्मिक समस्याएँ खड़ी हुई हैं—और उनका हल (समाधान) शक्य है कि नहीं? और शक्य हो तो किस प्रकार शक्य है ?

१ मात्र कुलपरम्परासे कहे जाने वाले जैनके लिये नहीं किन्तु जिसमें जैनपना गुणसे थोड़ा बहुत आया हो उसके लिये सीधा प्रश्न यह है कि वह मनुष्य राष्ट्रीय क्षेत्र और राजकीय प्रकरणमें भाग ले या नहीं और ले तो किस रीतिसे ले ? क्योंकि उस मनुष्यको फिर राष्ट्र क्या ? और राजकीय प्रकरण क्या ? राष्ट्र और राजप्रकरण तो स्वार्थ तथा संकुचित भावनाका फल है और सच्चा जैनत्व इसके पारकी वस्तु है। अर्थात् जो गुणसे जैन हो वह राष्ट्रीय कार्य और राजकीय आन्दोलनमें पड़े या नहीं? यह इस समयके जैनसमाजका पेचीदा सवाल है—गूढ़ प्रश्न है।

२ विवाहप्रथासे सम्बन्ध रखने वाली रूढियों, जातपाँतसे सम्बन्ध रखने वाली प्रथाओं और धंधे-उद्योगके पीछे रही हुई मान्यताओं तथा स्त्री-पुरुषजाति के बीचके सम्बन्धोंके विषयमें आज कल जो विचार बलपूर्वक उदयको प्राप्त हो रहे हैं और चारों तरफ घर कर रहे हैं उनको जैन शास्त्रमें आश्रय है कि नहीं, अथवा सच्चे जैनत्वके साथ उन नये विचारोंका मेल है कि नहीं या प्राचीन विचारोंके साथ ही सच्चे जैनत्वका सम्बन्ध है ? यदि नये विचारोंको शास्त्रका आश्रय न हो और उन विचारोंके बिना जीना समाजके लिये अशक्य दिखलाई देता हो तो अब क्या करना ? क्या इन विचारोंको प्राचीन शास्त्र रूपी बूढ़ी गायके स्तनों मेंसे जैसे तैसे दुहना ? या इन विचारोंका नया शास्त्र रचकर जैनशास्त्रमें विकास करना ? अथवा इन विचारोंको स्वीकार करनेकी अपेक्षा जैनसमाजके अस्तित्वका नाश क़ीमती गिनना ?

३ मोक्षके पन्थ पर पड़ी हुई गुरुसंस्था सम्यक् प्रकार गुरु अर्थात् मार्गदर्शक होनेके बदले यदि अनुगामियोंको गुरु—बोझ—रूप होती हो, और यह गुरुसंस्था सुभमचक्रवर्त्तीकी पालकीके साथ उसको उठाने वाले श्रावकरूप देवोंको भी डुबानेकी दशाको पहुँच गई हो तो क्या इन देवोंको पालकी फेंककर खिसक जाना या पालकीके साथ डूब जाना अथवा पालकी और अपनेको तारे ऐसा कोई मार्ग शोधकर ग्रहण करना? यदि ऐसा मार्ग सूझे ही नहीं तो क्या करना ? और सूझे तो वह प्राचीन जैन शास्त्रमें है कि नहीं अथवा आज तक किसीके द्वारा वह अवलम्बित हुआ है कि नहीं ? यह देखना।

४ धंधा सम्बंधी प्रश्न यह होता है कि कौन कौन धंधे जैनत्वके साथ ठीक सम्बंध रखते हैं और कौन कौन जैनत्वके घातक बनते हैं ? क्या खेतीवाड़ी, लुहारी, सुतारी (बढईगिरी) और चमड़े सम्बंधी काम, अनाजका व्यापार, जहाजरानी, सिपाहीगिरी साँचेका काम वगैरह जैनत्वके बाधक हैं ? और जवाहिरात, कपड़ा, दलाली, सट्टा, मिलमालिकी, व्याजबट्टा आदि धंधे जैनत्वके बाधक नहीं या कम बाधक हैं ?

ऊपर दिये हुए चार प्रश्न तो ऐसे अनेक प्रश्नोंकी बानगी (नमूना) मात्र हैं। इससे इन प्रश्नोंका जो उत्तर यहाँ विचार किया जाता है वह यदि तर्क और विचारशुद्ध हो तो दूसरे प्रश्नोंको भी सुगमतासे लागू हो सकेगा। ऐसे प्रश्न खड़े होते हैं वे कुछ आज ही होते हैं ऐसा कोई न समझे। कमती बढती प्रमाणमें और एक अथवा दूसरी रीतिसे ऐसे प्रश्न खड़े हुए

हमारे जैन शास्त्रके इतिहासमें में अवश्य मिल सकते है। जहाँ तक मैं समझता हूँ वहाँ तक ऐसे प्रश्न उत्पन्न होनेका और उनका समाधान न मिलने । मुख्य कारण जैनत्व और उसके विकासक्रमके इतिहासविषयक हमारे अज्ञानमें रहा हुआ है।

जीवनमें सच्चे जैनत्वका तेज कुछ भी न हो, मात्र परम्परागत वेश, भाषा और टीका-टप्पणका जैनत्व जाने अनजाने जीवन पर लदा हुआ हो और अधिकांशमें वस्तुस्थिति समझने जितनी बुद्धिशक्ति भी न हो तब ऊपर दिये हुए प्रश्नोका समाधान नहीं बनता। इसी तरह जीवनमें थोड़ा बहुत सच्चा जैनत्व उद्भूत हुआ हो तो भी विरासतमें मिले चालू क्षेत्रके अतिरिक्त दूसरे विशाल तथा नये नये क्षेत्रोमें खड़ी होती पहेलियोको बूझने की तथा वास्तविक जैनत्वकी चाबी लगा कर उलझनें के तालोको खोलने जितनी प्रज्ञा न हो तबभी इन प्रश्नोका समाधान नहीं बनता। इससे जरूरत इस बातकी है कि सच्चा जैनत्व क्या है? इसे समझ कर जीवनमें उतारना और सभी क्षेत्रोमें खड़ी होने वाली मुश्किल (कठिनाई) को हल करनेके लिये जैनत्वका किस किस रीतिसे उपयोग करना इसकी प्रज्ञा बढ़ानी।

अब हमें देखना चाहिये कि सच्चा जैनत्व क्या? और उसके ज्ञान तथा प्रयोगद्वारा ऊपरके प्रश्नोका अविरोधी समाधान किस रीतिसे हो सकता है? सच्चा जैनत्व है समभाव और सत्यदृष्टि जिनका जैनशास्त्र क्रमशः अहिंसा तथा अनेकान्तदृष्टि के नामसे परिचय कराता है। अहिंसा और अनेकान्तदृष्टि ये दोनो आध्यात्मिक जीवनके दो पंख (पर) हैं अथवा दो प्राणप्रद फेफड़े हैं। एक आचारको उज्वल करता है तब दूसरा दृष्टिको शुद्ध और विशाल बनाता है। इसी बातको दूसरी रीतिसे कहिये तो ऐसा कहना चाहिये कि जीवनकी तृष्णाका अभाव और एकदेशीय दृष्टिका अभाव यही सच्चा जैनत्व है। सच्चा जैनत्व और जैनसमाज इन दोके बीच जमीन आसमानका अन्तर है। जिसने सच्चा जैनत्व पूर्णरूपसे अथवा थोड़े-बहुत प्रमाणमें साधा हो वैसी व्यक्तियोंका समाज बँधता ही नहीं और बँधे भी तो उसका मार्ग ऐसा निराला होता है कि उसमें झंझटें खड़ी होती ही नहीं और हों भी तो शीघ्र ही उनका निराकरण हो जाता है।

जैनत्वको साधने वाले और सच्चे हो जैनत्वकी उम्मीदवारी करने वाले जो गिनेगिनाये हर एक कालमें होते हैं वे तो जैन हैं ही। और ऐसे जैनोंके शिष्य या पुत्र जिनमें सच्चे जैनत्वकी उम्मीदवारी भले प्रकार होती ही नहीं बल्कि मात्र सच्चे जैनत्वके साधकों और उम्मीदवारोंके धारण किये हुए रीतिरिवाज या पाली हुई स्थूलमर्यादाएँ जिनमें होती हैं वे सब जैनसमाजके अंग हैं। गुण-जैनोंका व्यवहार आन्तरिक विकासके अनुसार घड़ा जाता है और उनके व्यवहार तथा आन्तरिक विकासके बीच विसंवाद नहीं होता; जबकि सामाजिक जैनोंका इससे उलटा होता है। उनका बाह्य व्यवहार तो गुण-जैनोंकी व्यवहारविरासतमेंसे ही उतर कर आया हुआ होता है परन्तु आन्तरिक विकासका छींटा भी नहीं होता—वे तो जगतके दूसरे मनुष्यो जैसे ही भोगतृष्णा वाले तथा संकीर्ण दृष्टि वाले होते हैं। एक तरफ आन्तरिक जीवनका विकास जरा भी न हो और दूसरी तरफ वैसी विकासवाली व्यक्तियोंमें पाये जाने वाले आचारणोंकी नकल हो तब यह नकल विसंवादका रूप धारण करती है तथा पद पद पर कठिनाइयाँ खड़ी करती है। गुण-जैनत्वकी साधनाके लिये

भगवान महावीर या उनके सच्चे शिष्योंने वनवास स्वीकार किया हो, नग्नत्व धारण किया हो, गुफा पसंद की हो, घर तथा परिवारका त्याग किया हो, धन-सम्पत्तिकी तरफ़ बेपर्वाही दिखलाई हो, ये सब आन्तरिक विकासमेंसे उत्पन्न होकर ज़रा भी विरुद्ध मालूम नहीं होते। परन्तु गले तक भोगतृष्णामें डूबे हुए तथा सच्चे जैनत्वकी साधनाके लिये ज़रा भी सहनशीलता न रखनेवाले तथा उदारदृष्टि-रहित मनुष्य जब घरबार छोड़ जंगलमें दौड़ें, गुफावास स्वीकार करें, मा-बाप या आश्रितोंकी जवाबदारी फेंक दें तब तो उनका जीवन विसंवादी होवे ही और पीछे बदलते हुए नये संयोगोंके साथ नया जीवन घड़नेकी अशक्तिके (लोकवृत्तिके) कारण उनके जीवनमें विरोध मालूम पड़े, यह स्पष्ट है।

राष्ट्रीय क्षेत्र और राजप्रकरणमें जैनोंके भाग लेने या न लेने विषयक पहले प्रश्नके सम्बन्धमें जानना चाहिये कि जैनत्व त्यागी और गृहस्थ ऐसे दो वर्गों में विभाजित है। गृहस्थ जैनत्व यदि राजकर्ताओं तथा राज्यके मन्त्री, सेनाधिपति वगैरह अमलदारोंमें खुद भगवान महावीरके समयमें ही उत्पन्न हुआ था और उसके बादके २३०० वर्ष तक राजाओं तथा राज्यके मुख्य अमलदारों (कर्मचारियों) में जैनत्व लानेका अथवा चले आते जैनत्वको स्थिर रखनेका भगीरथ प्रयत्न जैनाचार्यों ने किया था तो फिर आज राष्ट्रीयता और जैनत्वके मध्यमें विरोध किस लिये दिखाई देता है? क्या ये पुराने ज़मानेके राजा, राजकर्मचारी और उनका राजप्रकरण यह सब कुछ मनुष्यातीत या लोकोत्तर भूमि का था? क्या उसमें राजखटपट, प्रपंच, या वासनाओंको ज़रा भी स्थान नहीं था या उस वक्त के राजप्रकरणमें उस वक्तकी भावना और परिस्थितिके अनुसार राष्ट्रीय अस्मिता (अहंकृति)-जैसी कोई वस्तु ही न थी? क्या उस वक्त के राज्यकर्ता मात्र वीतराग दृष्टिसे और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनासे राज्य करते थे? यदि इन सब प्रश्नोंका उत्तर यही हो कि जैसे साधारण कुटुम्बी गृहस्थ जैनत्व धारण करनेके साथ अपने साधारण गृहव्यवहार चला सकता है तो प्रतिष्ठित तथा वैभवशाली गृहस्थ भी इसी प्रकार जैनत्वके साथ अपनी प्रतिष्ठाको सँभाल सकता है और इसी न्यायसे राजा तथा राजकर्मचारी भी अपने कार्यक्षेत्रमें रहते हुए सच्चा जैनत्व पाल सकते हैं, तब आजकी राजप्रकरणी समस्या का उत्तर भी यही है। अर्थात् राष्ट्रीयता और राजप्रकरणके साथ सच्चे जैनत्व का (यदि हृदयमें प्रकटा हो तो) कुछ भी विरोध नहीं। निःसन्देह यहाँ त्यागी वर्गमें गिने जाने वाले जैनकी बात विचारनी बाक़ी रहती है। त्यागीवर्गका राष्ट्रीय क्षेत्र और राजप्रकरण के साथ सम्बंध घटित नहीं हो सकता ऐसी कल्पना उत्पन्न होनेका कारण यह है कि राष्ट्रीय प्रवृत्तिमें शुद्धत्व जैसा तत्त्व ही नहीं और राजप्रकरण भी समभाव-वाला हो नहीं सकता ऐसी मान्यता रूढ हो गई है। परन्तु अनुभव हमको बतलाता है कि सच्ची हक़ीक़त (यथार्थ वस्तुस्थिति) ऐसी नहीं। यदि प्रवृत्ति करनेवाला स्वयं शुद्ध है वह हरेक जगह शुद्धिको ला सकता तथा सुरक्षित रख सकता है और यदि वह खुद ही शुद्ध न हो तो त्यागीवर्गमें रहते हुए भी सदा मैल तथा भ्रमणामें पड़ा रहता है। हमारे त्यागी माने जानेवाले जैनोंकी खटपट, प्रपंच और अशुद्धिमें लिपटा हुआ क्या नहीं देखते? यदि तटस्थ जैसे बड़े त्यागी वर्गमें एकाध व्यक्ति सचमुच जैन मिलनेका संभव हो तो आधुनिक राष्ट्रीय प्रवृत्ति और राजकीय क्षेत्र में कूदने

वाले बड़े वर्गमें उससे अधिक श्रेष्ट गुणजैनत्वको धारण करने वाली अनेक व्यक्तियाँ क्या नहीं मिलतीं? जो जन्मसे भी जैन हैं। फिर त्यागी माने जानेवाले जैनवर्गमें भी राष्ट्रीयता और राजकीय क्षेत्रमें समयोचित भाग लेनेके उदाहरण जैन साधुसंघके इतिहासमें क्या कमती हैं? फेर हो तो वह इतना ही है कि उस वक्तकी भाग लेनेकी प्रवृत्तिमें साम्प्रदायिक भावना और नैतिक भावना साथ ही काम करती थीं; जब कि आज साम्प्रदायिक भावना जरा भी कार्यसाधक या उपयोगी हो सके ऐसा नहीं। इससे यदि नैतिक भावना और अर्पण वृत्ति हृदयमें हो (जिसका शुद्ध जैनत्वके साथ संपूर्ण मेल है) तो गृहस्थ या त्यागी किसी भी जैनको, जैनत्वको जरा भी बाधा न आए तथा उलटा अधिक पोषण मिले इस रीतिसे, काम करनेका राष्ट्रीय तथा राजकीय क्षेत्रमें पूर्ण अवकाश है। घर तथा व्यापारके क्षेत्रकी अपेक्षा राष्ट्र और राजकीयक्षेत्र बड़ा है, यह बात ठीक; परन्तु विश्वकी साथ अपना मेल होनेका दावा करनेवाले जैनधर्मके लिये तो राष्ट्र और राजकीय क्षेत्र यह भी एक घर-जैसा ही छोटासा क्षेत्र है। उलटा आज तो इस क्षेत्रमें ऐसे कार्य शामिल हो गये हैं जिनका अधिकसे अधिक मेल जैनत्व (समभाव और सत्यदृष्टि) के साथ ही है। मुख्य बात तो यह है कि किसी कार्य अथवा क्षेत्रके साथ जैनत्वका तादात्म्य संबंध नहीं। कार्य और क्षेत्र तो चाहे जो हो परंतु यदि जैनत्व की दृष्टि रखकर उसमें प्रवृत्ति हो तो वह सब शुद्ध ही होगा।

दूसरा प्रश्न विवाह-प्रथा और जातपाँत आदिके सम्बंध-विषयका है। इस विषयमें जानना चाहिये कि जैनत्वका प्रस्थान एकान्त त्यागवृत्तिमेंसे हुआ है। भगवान महावीरको जो कुछ अपनी साधनामेंसे देने योग्य जान पड़ा था वह तो एकान्तिक त्याग ही था; परन्तु ऐसे त्यागके इच्छुकों तक सब एकाएक ऐसी भूमिका पर पहुँच नहीं सकते। इस लोकमानससे भगवान अनभिज्ञ न थे, इसी लिये वे उम्मीदवारके कमती या बढ़ती त्यागमें सम्मत होकर "मा पडिबंधं कुणह"— 'विलम्ब मत कर' ऐसा कह कर सम्मत होते गये। और बाकी की भोगवृत्ति तथा सामाजिक मर्यादाओंका नियमन करने वाले शास्त्र उस वक्त भी थे और आगे भी रचे जायँगे। 'स्मृति' जैसे लौकिक शास्त्र लोग आज तक घड़ते आए हैं और आगे भी घड़ेंगे। देश-कालानुसार लोग अपनी भोगमर्यादाके लिये नये नियम-नये व्यवहार घड़ेंगे, पुरानोंमें फेरफार करेंगे और बहुतोंको फेंक भी देंगे। इन लौकिक स्मृतियोंमें भगवान पड़े ही नहीं। भगवान का ध्रुव सिद्धान्त त्यागका है। लौकिक नियमोंका चक्र उसके आस-पास उत्पाद व्ययकी तरह ध्रुव सिद्धान्तको बाधा न आए ऐसी रीतिसे फिरा करे, इतना ही देखना रहता है। इसी कारणसे जब कुल-धर्म पालनेवालेके तौरपर जैनसमाज व्यवस्थित हुआ और फैलता गया तब उसने लौकिक नियमोंवाले भोग और सामाजिक मर्यादाका प्रतिपादन करने वाले अनेक शास्त्र रचे। जिस न्यायने भगवानके पीछे हजार वर्षोंमें समाजको जीता रक्खा वही न्याय समाजको जीता रहनेके लिये हाथ ऊँचा करके कहता है कि 'तू सावधान हो, अपने निकट विस्तारको प्राप्त हुई परिस्थितिको देख और फिर समयानुसारिणी स्मृतियाँ रच। तू इतना ध्यानमें रखना कि त्याग ही सच्चा लक्ष्य है; परंतु साथमें यह भी ध्यानमें रखना कि त्याग-बिना त्यागका ढौंग तू करेगा तो जरूर मरेगा। और अपनी भोगमर्यादाको अनुकूल पड़े ऐसी रीतिसे

सामाजिक जीवनकी घटना करना; मात्र स्त्रीत्वके कारण या पुरुषत्वके कारण एककी भोगवृत्ति अधिक है और दूसरेकी भोगवृत्ति कम है अथवा एकको अपनी वृत्तियाँ तृप्त करनेका चाहे जिस रीतिसे हक़ है और दूसरेको वृत्तियों भोग बननेका जन्मसिद्ध हक़ है, ऐसा कभी न मानना।

समाजधर्म समाजको यह भी कहता है कि सामाजिक स्मृतियाँ सदा काल एक जैसी होती ही नहीं। त्यागके अनन्य पक्षपाती गुरुओंने भी जैनसमाजको बचानेके लिये अथवा उस वक्तकी परिस्थितिके वश होकर आश्चर्य प्रदान करें ऐसे भोगमर्यादा-वाले विधान किये हैं। वर्तमानकी नई जैन स्मृतियोंमें ६४ हज़ार या ९६ हज़ार तो क्या, बल्कि एक साथ दो स्त्रियां रखने वालेकी प्रतिष्ठाका प्रकरणभी नाशको प्राप्त होगा तब ही जैनसमाज सम्मानित धर्मसमाजोंमें मुँह दिखा सकेगा। आजकलकी नई स्मृतिके प्रकरणमें एक साथ पाँच पति रखने वाली द्रौपदीके सतीत्वकी प्रतिष्ठा नहीं होगी*; तो भी प्रामाणिकरूपसे पुनर्विवाह करने वाली स्त्रीके सतीत्वकी प्रतिष्ठाको दर्ज कियेही छुटकारा है। आजकलकी स्मृतिमें चालीस वर्षसे अधिकी उम्रवाले व्यक्तिका कुमारी कन्याके साथ विवाह बलात्कार या व्यभिचार ही दर्ज किया जायगा। एक स्त्रीकी मौजूदगीमें दूसरी स्त्री करने वाले आजकलकी जैनस्मृतिमें स्त्रीघातकी गिने जायँगे; क्योंकि आज नैतिक भावनाका बल जो चारों तरफ फैल रहा है उसकी अवगणना करके जैनसमाज सबके बीच मानपूर्वक रह ही नहीं सकता। जातपाँतके बन्धन कठोर करने या ढीले करने यह भी व्यवहारकी अनुकूलताका ही प्रश्न होनेसे उसके विधान नये सिरेसे ही करने पड़ेंगे। इस विषयमें प्राचीन शास्त्रोंका आधार शोधन ही हो तो जैनसाहित्यमेंसे मिल सके ऐसा है; परन्तु इस शोधकी मेहनत करनेकी अपेक्षा "ध्रुव जैनत्व" समभाव और सत्यदृष्टि क़ायम रखकर उसके ऊपर व्यवहारके अनुकूल पड़े ऐसी रीतिसे जैनसमाजको जीवन अर्पण करनेवाली लौकिक स्मृतियाँ रच लेनेमें ही अधिक श्रेय है।

गुरुसंस्थाको रखने या फेंक देनेके प्रश्न-विषयमें कहना यह है कि आज तक बहुत बार गुरुसंस्था फेंक दी गई है और तो भी वह खड़ी है। पार्श्वनाथ के पश्चात्‌मे विकृत होने वाली परम्पराको महावीरने फेंक दिया इससे कुछ गुरुसंस्थाका अन्त नहीं आया। चैत्यवासी गये परन्तु समाजने दूसरी संस्था माँग ही ली। जतियोंके दिन पूरे होते गये उधर संवेगी साधु खड़े ही रहे। गुरुसंस्थाको फेंक देना इसका अर्थ यह नहीं कि सच्चे ज्ञान और सच्चे त्यागको फेंक देना। सच्चा ज्ञान और सच्चा त्याग यह ऐसी वस्तु है कि उसको प्रलय भी नष्ट नहीं कर सकता, तब गुरुसंस्थाको फेंक देनेका अर्थ क्या? इसका अर्थ इतना ही है कि आजकल जो अज्ञान गुरुओंके कारण पुष्ट होता है, जिस विक्षेपसे समाज शोषित होता है उस अज्ञान तथा विक्षेपसे बचनेके लिये समाजको गुरुसंस्थाके साथ असहकार करना। इस असहकारके अग्नितापके समय सच्चे गुरु तो कुन्दन जैसे होकर आगे निकल आवेंगे, जो मैले होंगे वे या तो शुद्ध हो कर आगे आवेंगे और या जल कर भस्म हो जायंगे; परन्तु आजकल समाजको जिस प्रकारके ज्ञान और त्यागवाले गुरुओंकी जरूरत है (सेवा लेनेवाले नहीं किन्तु सेवा देनेवाले मार्गदर्शकोंकी जरूरत है) उस प्रकारके ज्ञान और त्यागवाले

* श्वेताम्बर समाजमें हिन्दुओंकी तरह द्रौपदीके पांच पति माने गये हैं, उसीको लक्ष्य करके यह कथन जान पड़ता है।

—सम्पादक

गुरु उत्पन्न करनेके लिये उनकी विकृत गुरुत्ववाली संस्थाके साथ आज नहीं तो कल समाजको असहकार किये ही छुटकारा है। हाँ, गुरुसंस्थामें यदि कोई एकाध माईका लाल सच्चा गुरु जीवित होगा तो ऐसे कठोर प्रयोगके पहले ही गुरुसंस्थाको बर्बादीसे बचा लेगा। जो व्यक्ति आन्तरराष्ट्रीय शान्तिपरिषद्-जैसी परिषदोंमें उपस्थित हो कर जगतका समाधान हो सके ऐसी रीतिसे अहिंसाका तत्व समझा सकेगा, अथवा अपने अहिंसाबल पर वैसी परिषदोंके हिमायतियोंको अपने उपाश्रयमें आकर्षित कर सकेगा वही इस समय पीछे सच्चा जैनगुरु बन सकेगा। इस समयका एक साधारण जगत प्रथमकी अल्पतामेंसे मुक्त हो कर विशालता में जाता है, वह कोई जातपाँत, सम्प्रदाय, परम्परा, वेष या भाषाकी खास पर्वाह किये विना ही मात्र शुद्धज्ञान और शुद्ध त्यागका मार्ग देखता हुआ खड़ा है। इससे यदि वर्तमानकी गुरुसंस्था हमारी शक्तिवर्धक होनेके बदले शक्तिबाधक ही होती हो तो उसकी और जैन समाजकी भलाईके लिये पहलेसे पहले अवसर पर समझदार मनुष्यको उसकी साथ असहकार करना यही एक मार्ग रहता है। यदि ऐसा मार्ग पकड़नेकी परवानगी जैनशास्त्रमेंसे ही प्राप्त करनी हो तो भी वह सुलभ है। गुलामीवृत्ति नवीन रचती नहीं और प्राचीन को सुधारती या फेंकती नहीं। इस वृत्तिके साथ भय और लालचकी सेना होती है। जिसे सद्गुणोंकी प्रतिष्ठा करनी होती है उसे गुलामी वृत्तिका बुरक़ा फेंक करके भी प्रेम तथा नम्रता क़ायम रखते हुए ही विचार करना उचित मालूम होता है।

धंधा-विषयक अन्तिम प्रश्नके सम्बंधमें जैनशास्त्र-की मर्यादा बहुत ही संक्षिप्त तथा स्पर्शरूप होते हुए भी सच्चा खुलासा करती है और वह यह कि जिस चीज का धंधा धर्मविरुद्ध या नीतिविरुद्ध हो तो उस चीज का उपभोग भी धर्म और नीतिविरुद्ध है। जैसे मांस और मद्य जैनपरम्पराके लिये वर्ज्य बतलाये गये हैं तो उनका व्यापार भी उतना ही निषेधपात्र है। अमुक वस्तुका व्यापार समाज न करे तो उसे उसका उपभोग भी छोड़ देना चाहिये। इसी कारणसे अन्न, वस्त्र और विविध वाहनोंकी मर्यादित भोगतृष्णा रखने वाले भगवान्के मुख्य उपासक अन्न, वस्त्र वगैरह सभी उत्पन्न करते और उनका व्यापार करते थे। जो मनुष्य दूसरेकी कन्याको विवाह कर घर रक्खे और अपनी कन्या दूसरेको विवाहने में धर्मनाश देखे वह मनुष्य या तो मूर्ख होना चाहिये और या चतुर हो तो जैन-समाजमें प्रतिष्ठित स्थान भोगने वाला नहीं होना चाहिये। जो मनुष्य कोयला, लकड़ी, चमड़ा और यंत्रोंका थोक उपयोग करे वह मनुष्य प्रकटरूपसे यदि वैसे व्यापारका त्याग करता होगा तो इसका अर्थ यही है कि वह दूसरोंके पास वैसे व्यापार कराता है। करनेमें ही अधिक दोष है और करानेमें तथा सम्मति देनेमें कम दोष है ऐसा कुछ एकान्तिक कथन जैन शास्त्रमें नहीं। अनेक बार करनेकी अपेक्षा कराने तथा सम्मति देनेमें अधिक दोष होनेका संभव जैनशास्त्र मानता है। जो बौद्ध मांसका धंधा करनेमें पाप मान कर वैसा धंधा खुद न करते हुए मांसके मात्र भोजनको निष्पाप मानते हैं उन बौद्धोंको यदि जैनशास्त्र ऐसा कहता हो कि "तुम भले ही धंधा न करो परन्तु तुम्हारे द्वारा उपयोगमें आते हुए मांसको तय्यार करने वाले लोगोंके पापमें तुम भागीदार हो ही," तो क्या वे ही निष्पक्ष जैनशास्त्र केवल कुलधर्म होनेके कारण जैनोंको यह बात कहते हुए हिचकेंगे? नहीं, कभी नहीं। वे तो खुल्लमखुल्ला कहेंगे कि या तो भोग्य चीजोंका त्याग करो और त्याग न करो तो जैसे उनके उत्पन्न करने और उनके व्यापार करनेमें पाप समझते हो वैसे दूसरों द्वारा तय्यार हुई और दूसरोंके द्वारा पूरी की जाती उन चीजोंके भोगमें भी उतना ही पाप समझो। जैनशास्त्र तुमको अपनी मर्यादा बतलाएगा कि दोष या पापका सम्बन्ध भोगवृत्तिके साथ है। मात्र चीजोंके सम्बंधके साथ नहीं। जिस ज़माने (काल) में मज़दूरी ही रोटी है ऐसा सूत्र जगद्व्यापी होता होगा उस ज़मानेमें समाज की अनिवार्य ज़रूरियात वाला मनुष्य अन्न, वस्त्र, रस, मकान, आदिको खुद उत्पन्न करनेमें और उनका खुद धंधा करनेमें दोष मानने वालेको या तो अविचारी मानेगा या धर्ममूढ़।

उपसंहार

धारणाकी अपेक्षा शास्त्रमर्यादाका लेख अधिक लम्बा हो गया है परन्तु मुझे जब स्पष्ट मालूम पड़ा कि इसके संक्षेपमें अस्पष्टता रहेगी इससे थोड़ा लम्बा करनेकी जरूरत पड़ी है । इस लेखमें मैंने शास्त्रोंके आधार जान कर ही उद्धृत नहीं किये; क्योंकि किसी भी विषयसम्बंधमें अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकारके शास्त्रवाक्य मिल सकते हैं। अथवा एक ही वाक्यमेंसे दो विरोधी अर्थ घटित किये जा सकते हैं। मैंने सामान्य तौर पर बुद्धिगम्य हो ऐसा ही प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है; तो भी मुझे जो कुछ अल्पस्वल्प जैनशास्त्रका परिचय हुआ है, और वर्तमान समयका अनुभव मिला है उन दोनोंकी एक वाक्यता मनमें रखकर ही ऊपर की चर्चा की है। फिर भी मेरे इस विचारको विचारनेकी और उसमेंसे निरर्थकको छोड़ देनेकी सबको छूट है। जो मुझे मेरे विचारमें भूल समझाएगा वह वयमें तथा जातिमें चाहे जो होते हुए भी मेरे आदरका पात्र अवश्य होगा।

सम्पादकीय नोट

यह लेख लेखक महोदयके कोई दो-चार-दस वर्ष के ही नहीं किन्तु जीवनभर के अध्ययन, मनन और अनुभवनका प्रतिफल जान पड़ता है; इससे आपके अध्ययनकी विशालता तथा गहराईका ही पता नहीं चलता बल्कि इस बातका भी बहुत कुछ पता चल जाता है कि आपकी दृष्टि कितनी विशाल है, विचार-स्वातंत्र्य तथा स्पष्टवादिताको लिये हुए निर्भीकताको आपने कहाँ तक अपनाया है और साम्प्रदायिक कट्टरता के आप कितने विरोधी हैं। यह लेख आपके शास्त्रीय तथा लौकिक दोनों प्रकारके अनुभवके साथ अनेकान्तके कितनेही रहस्यको लिये हुए है और इस लिये एक प्रकारका मार्मिक तथा विचारणीय लेख है। अभी तक इस प्रकारका लेख किसी दूसरे जैन विद्वानकी लेखनीसे प्रसूत हुआ हो, मुझे मालूम नहीं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इस लेखमें कुछ त्रुटियाँ न हों-कोई भ्रान्ति न हो, यह नहीं कहा जा सकता। इसे पढ़ कर कितने ही लोग भड़क सकते हैं, चिढ़ सकते हैं, अश्रद्धा तथा मिथ्यात्वादिका आरोप लगा सकते हैं और ऐसा होना बहुत कुछ स्वाभाविक है; क्योंकि चिरकालीन संस्कार किसी भी नई बातके सामने आनेपर उसे फेंका करते हैं—भले ही वह बात कितनी ही अच्छी क्यों न हो। जो लोग वर्तमान जैनशास्त्रोंको सर्वज्ञकी वाणीद्वारा भरे हुए रिकार्डों-जैसा समझते हैं और उनकी सभी बातोंको त्रिकालाबाधित अटल सत्य-जैसी मानते हैं उनके सामने यह लेख एक भिन्न ही प्रकार का विचार प्रस्तुत करता है और इस लिये इससे उस प्रकारके श्रद्धालु जगतमें हलचलका पैदा होना कोई अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। जिस साधुसंस्था पर, उसके सुधारकी दृष्टिसे, लेखमें भारी आक्रमण किया गया है उसके कुछ कर्णधार अथवा वे व्यक्ति तो, जिनके स्वार्थमें इस लेखके विचारोंसे बाधा पड़ती है, और भी अधिक रोष धारण कर सकते हैं और अपनी सत्ताको लेखकके विरुद्ध प्रयुक्त करनेका जघन्य प्रयत्न भी कर सकते हैं; परन्तु जो विचारक हैं उनकी ऐसी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वे धैर्यके साथ, शान्तिके साथ, संस्कारोंका पर्दा उठा कर और अच्छा समय निकाल कर इसकी प्रत्येक बातको तोलेंगे, जाँच करेंगे और गंभीरताके साथ विचार करने पर जो बात उन्हें अनुचित अथवा बाधित मालूम पड़ेगी उसके विरोधमें, हो सकेगा तो, कुछ युक्तिपुरस्सर लिखेंगे भी। लेखक महोदयने, लेखके अन्तमें, खुद ही इस बातके लिये इच्छा व्यक्त की है कि विद्वान् लोग उन्हें उनकी भूल सुझाएँ—जो सुझाएँगे वे अवश्य उनके आदरके पात्र बनेंगे। वे विरोधसे डरने अथवा अप्रसन्न होने वाले नहीं हैं—उन्हें तो विरोधमें ही विकासका मार्ग नजर आता है। अतः विद्वानोंको चाहिये कि वे इस विषय पर अथवा लेखमें प्रस्तुत किये हुए सभी प्रश्नों पर गहरा विचार करनेका परिश्रम उठाएँ। 'अनेकान्त' ऐसे सभी युक्तिपुरस्सर लेखोंका अभिनन्दन करनेके लिये तय्यार है जो इस विषय पर कुछ नया तथा गहरा प्रकाश डालते हों। परन्तु उनमेंसे कोई भी लेख—अनुकूल हो या प्रतिकूल—क्षोभ, कोप या साम्प्रदायिक-कट्टरताके प्रदर्शनको लिये हुए न होना चाहिये।

यदि यूरोपमें ऐसा पत्र प्रकाशित होता

श्रीमान् बाबू छोटेलालजी कलकत्ते के एक प्रसिद्ध जैन रईस हैं, जिनकी फर्मका नाम है 'रामजीवन सरावगी ऐंड कम्पनी'। आप धनाढ्य होनेके साथ विद्वान् भी हैं और इतिहास-विषयमें अच्छी रुचि रखते हैं। जैनधर्म और जैनसमाजकी आपके हृदय पर चोट है, आप अपनी शक्तिभर प्रायः चुपचाप काम किया करते हैं, और 'अनेकान्त' के उन पाठकोंमेसे एक हैं जो उसे पूर्ण मनोयोगके साथ पढ़ते हैं। 'अनेकान्त' पर आपकी सम्मतिको पाठक ज्येष्ठ मासकी किरणमें पढ़ चुके हैं। हालमें आश्रम तथा 'अनेकान्त' पत्रकी सहायतार्थ जो कुछ प्रेरणात्मक पत्र समाजके प्रतिष्ठित पुरुषों और विद्वानोंको आश्रमसे भेजे गये थे उनमें एक पत्र आपके भी नाम था। उसके उत्तरमें आपने अपने ता०७ अक्तूबरके पत्रमें जो कुछ इस विषयमें लिखा है और जिस रूपमें अपना हार्दिक भाव व्यक्त किया है वह समाजके जानने योग्य है। अतः उसे नीचे प्रकट किया जाता है। आशा है समाज इसके महत्वको समझेगा और उसके अग्रगण्य अपनी उस कर्तव्यकी त्रुटि महसूस करेंगे जिसके कारण ऐसी उपयोगी संस्थाको भी अपने जीवनके लाले पड़ रहे हैं। आप लिखते हैं:-

"आपने लिखा कि मेरी ओरसे अभी तक आश्रमको कुछ भी सहायता प्राप्त न हुई सो ठीक है। मैंने आपको लिख दिया था कि मैं इसकी सहायताके लिए सदा तैयार हूँ। किन्तु एक मनुष्य जो पहलेसे ही लदा हुआ है वह एक एक संस्थाकी कितनी सहायता कर सकता है तो भी मैं, मेरेसे जहाँ तक हो सकेगा, शीघ्र कुछ सहायता आपकी सेवामें भेजूँगा।

जैनसमाजका क्या होना है यह आपके पत्रसे स्पष्ट हो जाता है। जो 'अनेकान्त' पत्र इतना उपयोगी है और जिसे पढ़ते ही हृदयमें पूर्व गौरव जागृत हो उठता है उसे भी सहायताके लिये मुँह खोलना पड़े—समाजके लिये इससे बढ़कर लज्जा की बात नहीं है। यदि यूरोपमें ऐसा पत्र प्रकाशित होता तो न जाने वह संस्था कितनी शताब्दियोंके लिये अमर हो जाती। पर जो हो, यह पत्र तो इसी समाजके लिये प्रकाशित करना है और इसे जीवित रखनेके लिये शक्तिभर उपाय करना होगा। अपने समाजमें यह एक चालसी हो गई है कि बिना किसीको कुछ कहे वह हाथ नहीं बढ़ाता है—यह रोग पढ़े लिखे लोगोंमें भी है। अस्तु; इसके लिये कुछ Propaganda (प्रचारकार्य) करना चाहिये। सबसे प्रथम 'पत्र' की जीवनरक्षा करनी चाहिये और उसके लिये आपका क्या estimate (तख़मीना) है सो लिखिये। पत्रके कुल ग्राहक कितने हैं, आमदनी कितनी है तथा वार्षिक व्यय-घाटा कितना है। यदि पत्रका जीवन २, ३ वर्षोंके लिये कंटकविहीन हो जाय तब फिर अन्य कार्योंके लिये शक्ति व्यय की जाय। कृपया पत्रोत्तर शीघ्र दीजियेगा तब मेरेसे जो कुछ हो सकेगा प्रयत्न करूँगा।"

क्या ही अच्छा हो यदि दूसरे सज्जनोंके हृदयमें भी इस प्रकारके भाव उत्पन्न हों और वे सहयोगके लिये अपना हाथ बढ़ाएँ। समाजका भविष्य यदि अच्छा होगा तो जरूर दूसरोंके हृदयमें भी इस प्रकार के भाव उत्पन्न होंगे और फिर इस संस्थाके अमर होनेमें कुछ भी देर नहीं लगेगी।

अधिष्ठाता 'समन्तभद्राश्रम'

वैद्य जी का वियोग !

मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा ही दुःख होता है कि मेरे मित्र देहलीके सुप्रसिद्ध राजवैद्य रसायनशास्त्री पं० शीतलप्रसादजी आज इस संसारमें नहीं हैं ! गत ता० ५ सितम्बर सन् १९३० को प्रातः कालके समय ६५ वर्षकी अवस्थामें आप अपने संपूर्ण कुटुम्ब तथा इष्ट मित्रादिकको शोकातुर छोड़ कर स्वर्गलोकको सिधार गये हैं !! आपके इस वियोगसे, निःसन्देह, जैनसमाजको ही नहीं किन्तु मानवसमाजको एक बहुत बड़ी हानि पहुँची है और देहलीने अपना एक कुशल चिकित्सक तथा सत्परामर्शक खो दिया है ! आपका अनुभव वैद्यकमें ही नहीं किन्तु यूनानी हिकमतमें भी बढ़ा चढ़ा था, अंग्रेज़ी चिकित्सा-प्रणालीसे भी आप अभिज्ञ थे, साथ ही आपके हाथको यश था, और इस लिये दूर दूरसे भी लोग आपके पास इलाजके लिये आते थे। कई केस आपके द्वारा ऐसे अच्छे किये गये हैं जिनमें डाक्टर लोग ऑपरेशनके लिये प्रस्तुत हो गये थे अथवा उन्होंने उसकी अनिवार्य आवश्यकता बतलाई थी परन्तु आपने उन्हें विना ऑपरेशनके ही अच्छा कर दिया। आतुरोंके प्रति आपका व्यवहार बड़ा ही सदय था, प्रकृति उदार थी और आप सदा हँसमुख तथा प्रसन्न चित्त रहते थे। आपका स्वास्थ्य इस अवस्थामें भी ईर्षायोग्य जान पड़ता था।

आपकी वृत्ति परोपकारमय थी, धर्मार्थ औषधि वितरण करनेका भी आपके औषधालयमें एक विभाग था। आप धर्मके कामोंमें बराबर भाग लेते थे और समय समय पर धार्मिक संस्थाओंको दान भी देते रहते थे। पिछले दिनों समन्तभद्राश्रमको भी आपने १०१) रु० की सहायता अपनी ओरसे और ५०) रु० अपनी पुत्रवधूकी ओरसे प्रदान की थी। आप आश्रमके आजीवन सदस्य थे, आश्रमकी स्थापनामें आपका हाथ था और इस लिये आपके इस वियोगसे आश्रमको भी भारी क्षति पहुँची है।

इसके सिवाय, आप विद्याव्यसनी तथा सुधारप्रिय थे, कई भाषाएँ जानते थे, विद्वानोंसे मिल कर प्रसन्न होते थे, नाना प्रकारकी पुस्तकोंको पढ़ने तथा संग्रह करनेका आपको शौक़ था, लेख भी आप कभी कभी लिखा करते थे—जिसका कुछ रसास्वादन 'अनेकान्त' के पाठक भी कर चुके हैं—और कविता करनेमें भी आपकी रुचि थी। कुछ महीनोंसे 'जीवन-सुधा' नाम का एक वैद्यविषयक मासिक पत्र भी आपने अपने औषधालयसे निकालना प्रारंभ किया था, जो अभी चल रहा है। जैनशास्त्रोंका आपने बहुत कुछ अध्ययन किया था और उनके आधार पर वर्षोंसे आप 'अर्हत्प्रवचनवस्तुकोश' नामका एक कोश तय्यार कर रहे थे। वस्तुओंके संग्रहकी दृष्टिसे आप उसे पूरा कर चुके थे; परंतु फिर आपका विचार हुआ कि प्रत्येक वस्तुका कुछ स्वरूप भी साथमें होवे तो यह कोश अधिक उपयोगी बन जावे। इससे आप पुनः उसको व्याख्यासहित लिख रहे थे कि दुर्दैवसे आपकी बाईं हथेलीमें एक फोड़ा निकल आया, जिसने क्रमशः भयंकर रूप धारण किया, करीब साढ़े तीन महीने तक तरह तरहके उपचार होते रहे, बड़े बड़े डाक्टरों तथा सिविल सर्जनोंके हाथमें उसका केस रहा परन्तु भावी के सामने किसीसे भी कुछ न हो सका, अंतमें बेहोशी के ऑपरेशन द्वारा हाथको काटनेकी नौबत आई और उसीमें एक सप्ताह बाद आपके प्राणपखेरू उड़ गये !!! इस दुःख तथा शोकमें मैं आपके सुयोग्य पुत्र वैद्य पं० महावीरप्रसादजी त्रिपाठी और दूसरे कुटुम्बी जनों के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति और समवेदना प्रकट करता हूँ और भावना करता हूँ कि वैद्यजीको परलोकमें शान्तिकी प्राप्ति होवे।

ऑपरेशनको जानेसे पहले वैद्यजी दो हज़ार रुपये अपने उक्त कोशको प्रकाशित करके वितरण करनेके लिये और पाँचसौ रुपये समाजकी धार्मिक संस्थाओं को देनेके लिये दान कर गये हैं।

—सम्पादक

स्वर्गीय



रसायन शास्त्री राजवैद्य श्री शीतलप्रसाद जैन रईस देहली

Murari Art Press Delhi.

आश्रमका स्थान-परिवर्तन

समन्तभद्राश्रमकी आर्थिक परिस्थिति, समाजके असहयोग और स्थानीय भाइयोंकी भारी उपेक्षाको देखते हुए, रायबहादुर साहू जगमंदरदासजी जैन रईस नजीबाबाद, कोषाध्यक्ष 'वीर-सेवकसंघ'ने आश्रम के स्थान परिवर्तनका एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। साहू श्रेयांसप्रसादजीने उसका अनुमोदन तथा बाबू भोलानाथजी मंत्री और ला० पन्नालालजी सहायक मंत्रीने उसका समर्थन किया। इस लिये प्रस्ताव छपाकर एक पत्रके साथ संघके सब सदस्योंके पास सम्मतिके वास्ते भेजा गया। २१ सदस्योंकी सम्मतियाँ और इसके अनुकूल प्राप्त हुई, जिनके नाम इस प्रकार है :—

१ पं०देवकीनन्दनजी कारंजा, २ बा० माईदयालजी बी. ए., ३ ब्र० कुँवर दिग्विजयसिंहजी, ४ बा० चेतनदासजी बी.ए., ५ ला० ज्योतिप्रसादजी देवबन्द, ६ मुनि कल्याणविजयजी, ६ पं० बेचरदासजी अहमदाबाद, ८ सेठ नेमिचन्द बालचन्दजी उस्मानाबाद, ९ पं० नाथूरामजी प्रेमी, १० ब्र० शीतलप्रसादजी, ११ बा० जयभगवानजी वकील पानीपत, १२ बाबा भागीरथजी वर्णी, १३ बा० अजितप्रसादजी एम. ए. १४ ला० कुन्थुदासजी बाराबंकी, १५ बा०रामकिशनदासजी अ० इंजिनियर अमरोहा, १६ ला० भूकनसरनजी अमरोहा, १७ बा० कन्हैयालालजी जैसवाल बाँदीकुई, १८ मुंशी भँवरलालजी नई सराय, १९ ला० दलीपसिंहजी कागजी देहली, २० पं० महावीरप्रसादजी देहली, २१ बा० उमरावसिंहजी देहली।

सिर्फ एक सम्मति भाई मूलचन्द किशनदासजी कापड़िया सूरतकी प्रतिकूल आई। और सदस्योंकी कोई सम्मति आई नहीं*। आगत सम्मतियां पर विचार करके प्रस्तावका निर्धार करनेके लिये २६ अक्तूबर सन् १९३० को प्रबंधकारिणी समितिकी एक मीटिंग बुलाई गई, जिसमें मंत्री, सहायक मंत्री और अधिष्ठाता आश्रमके अतिरिक्त ला० मक्खनलालजी ठेकेदार (प्रधान संघ) और ला० सरदारीमलजी देहली ऐसे पाँच सदस्य उपस्थित हुए। बाबू माईदयालजी बी.ए. सदस्य तथा ला० जौहरीमलजी सर्राफ़ देहली भी मीटिंगके समय उपस्थित थे। आश्रमकी परिस्थिति और आगत सम्मतियोंपर विचार करते हुए प्रबन्धकारिणी सम्मति ने अपनी सर्वसम्मतिसे उक्त प्रस्तावको ज्योंका त्यों पास किया। इस प्रकार यह प्रस्ताव संघके बहुमत और प्रबन्धकारिणी समितिकी सर्वसम्मतिसे पास किया गया, जो इस प्रकार है :—

प्रस्ताव

संस्थाके जिस विशेष लाभको लक्ष्यमें रख कर 'समन्तभद्राश्रम' के लिये देहलीका स्थान पसन्द किया गया था, वह देहलीके भाइयोंकी आम तौर पर इससे उदासीनता और उनके इतिहास, साहित्य तथा सिद्धान्त-सेवाके ऐसे कामोंमें कोई खास दिलचस्पी न लेने आदिके कारण पूरा नहीं हो सका और न इन हालों निकट-भविष्यमें उसके पूरा होने की कोई आशा ही जान पड़ती है।

आश्रमका मकान जो अभी तक - वस्तुतः तो एक सालके लिये—विना किसी किरायेके था, अब उसके लिये चालीस रुपये मासिक किरायेकी माँग है और खास देहली शहरमें आश्रमकी वर्तमान स्थितिके योग्य मकान पचास-साठ रुपये मासिकसे कम किराये पर नहीं मिल सकता। और इस अतिरिक्त खर्चको आश्रमकी वर्तमान आर्थिक स्थिति सहन नहीं कर सकती, जो पहलेसे ही चिन्तित-दशामें है।

जब कि बाहरसे भी ऐसी कोई खास सहायता आश्रमको नहीं मिल रही है—न कहींसे कोई प्रोत्साहन या अभिवचन ही है—जिसके आधार पर उसे

* मीटिंगके बाद और भी कुछ सदस्योंकी सम्मतियां प्रस्ताव के अनुकूल प्राप्त हुई हैं; जैसे वर्णी दीपचन्दजी, पं० छोटेलालजी महमदाबाद, बा०रामप्रसादजी सबओवरसियर, एटा।

देहलीमें स्थिर रक्खा जा सके, देशकी वर्तमान अशान्त परिस्थिति तथा व्यापारादिकके मंदेने भी लोगोंकी चित्तवृत्तिको ऐसे कामोंकी तरफ़से हटा रक्खा है और 'अनेकान्त' पत्रके प्रकाशनका जो महत्वपूर्ण कार्य इस समय आश्रमकी तरफ़से हो रहा है वह दूसरे कम खर्चके स्थान पर रहकर भी किया जा सकता है; तब समाजकी इस असहयोगदशामें आश्रमको देहली-जैसी खर्चीली जगहमें रखना मुनासिब मालूम नहीं होता। और इस लिए यह उचित जान कर तजवीज़ किया जाता है कि फ़िलहाल आश्रमका स्थान-परिवर्तन सरसावा ज़ि०सहारनपुरमें कर दिया जाय, जहाँ कि अधिष्ठाता आश्रमके पास घरके काफ़ी मकान हैं और दूसरे भी कितने ही खर्च वहाँ कम हो जायँगे। बादको देशमें शान्ति स्थापित होने पर जहाँ कहीं इस आश्रमकी अधिक उपयोगिता जान पड़ेगी और जहाँ जनताके सहयोगका यथेष्ट आश्वासन मिलेगा वहाँ पर इसका पुनः स्थानपरिवर्तन किया जा सकेगा।

प्रस्तावक—राय ब० साहू जगमन्दरदासजी, नजीबाबाद (कोषाध्यक्ष)

अनुमोदक—साहू श्रेयांसप्रसादजी, नजीबाबाद

समर्थक १ बा०भोलानाथजी मुख़्तार, बुलन्दशहर (मंत्री)

२ ला०पन्नालालजी, देहली (सहायक मंत्री)

× × ×

इस प्रस्तावके अनुसार अब आश्रम अपनी उस जन्मभूमिको जा रहा है जहाँ पर उसके विचारोंका जन्म हुआ था और उसकी स्कीम तय्यार की गई थी। नवम्बरके तीसरे या चौथे सप्ताहमें यह वहाँ ज़रूर पहुँच जायगा। अतः नवम्बरके बादसे आश्रम-सम्बंधी संपूर्ण पत्रव्यवहार करौल बाग़-देहली की जगह **सरसावा ज़ि० सहारनपुर** के पते से किया जाना चाहिये।

अधिष्ठाता 'समन्तभद्राश्रम'

शरद सुहाई है

[लेखक—श्री पं० मुन्नालाल जी 'मणि']

स्वच्छ वस्त्र पहिरें पै, हृदय न स्वच्छ धरें
वेष-भूषा माहिं भी, विदेशताई छाई है।
करत बुराई एक, दूसरे की भाई भाई
लड़त लड़ाई सर्व, आर्यता विहाई है।

पर-प्रभुताई देख, नेक न सुहात जिन्हें
हीनताई देख चित्त अति हर्षाई है।
ऐसी कीचताई अरु, छाई गरदाई जब
कहो मित्र ! कैसे तब, शरद सुहाई है।

एक विलक्षण आरोप

बाबू कामताप्रसादजीके लेख पर जो नोट 'अनेकान्त' की ५ वीं किरणमें लगाये गये थे उन परसे बाबू साहब रुष्ट हुए सो तो हुए ही, परन्तु उनके मित्र बैरिष्टर चम्पतरायजी भी रुष्ट हो गये हैं—उन्हें अपने खास मित्रके लेखकी शानमें ऐसे नोट असह्य हो उठे हैं और इसलिये आपने उन्हें तथा साथमें सहारेके लिये बाबू छोटेलालजीके लेखके नोटोंको भी लेकर, उक्त किरणकी समालोचनाके नाम पर, एक लेख लिख डाला है और उसके द्वारा 'अनेकान्त' तथा उसके सम्पादकके प्रति अपना भारी रोष व्यक्त किया है। यह लेख जून सन् १९३० के 'वीर' और २८ अगस्त १९३० के 'जैनमित्र'में प्रकट हुआ है। लेखमें सम्पादकको "मकतबके मौलवी साहब"—"परागंदहदिल मौलवी साहब"—उसके नोटोंको "कमचियाँ" और उन परसे होनेवाले अनुभवनको "तड़ाकेका मज़ा", "चटखारोंका आनन्द", "चटपटा चटखारा" और "मज़ेदार तड़ाकोंका लुत्फ़" इत्यादि बतला कर हिंसानन्दी रौद्र ध्यानका एक पार्ट खेला गया है।

इस लेख परसे बैरिष्टर साहबकी मनोवृत्ति और उनकी लेखनपद्धतिको मालूम करके मुझे खेद हुआ! यदि यह लेख मेरे नोटोंके विरोधमें किसी गहरे युक्तिवाद और गंभीर विचारको लिये होता, अथवा उसमें महज़ आवेश ही आवेश या एक विदूषककी कृति-जैसा कोरा बातूनी जमाखर्च ही रहता तो शायद मुझे उसके विरोधमें कुछ लिखनेकी भी ज़रूरत न होती; क्योंकि मैं अपना और अपने पाठकोंका समय व्यर्थ नष्ट करना नहीं चाहता। परन्तु लेखमें मेरे ऊपर एक विलक्षण आरोपके लगानेकी भी चेष्टा की गई है। अतः इस लेखकी असलियतका कुछ थोड़ासा परिचय 'अनेकान्त' के पाठकोंको करा देना और उनके सामने अपनी पोज़ीशनको स्पष्ट कर देना मैं अपना उचित कर्तव्य समझता हूँ। उसीका नीचे प्रयत्न किया जाता है। और वह पाठकोंको कुछ कम रुचिकर नहीं होगा; उससे उनकी कितनी ही गलत फ़हमियाँ दूर हो सकेंगी और वे बैरिष्टर साहबको पहलेसे कहीं अधिक अच्छे रूपमें पहचान सकेंगे।

सम्पादकके पिछले कामोंकी आलोचना करते हुए बैरिष्टर साहब लिखते हैं—"खण्डनका काम आपका दर असल खूब प्रसिद्ध है। मण्डनका काम अभी कोई क़ाबिल तारीफ़ आपकी क़लमका लिखा हुआ मेरे देखनेमें नहीं आया।" इत्यादि, और इसके द्वारा आपने यह प्रतिपादन किया है कि सम्पादकके द्वारा अभी तक कोई अच्छा विधायक कार्य नहीं हो सका है—अनेकान्तके द्वारा कुछ होगा तो वह आगे देखा जायगा, इस वक्त तो वह भी नहीं हो रहा है।

इस संबंधमें मैं सिर्फ़ दो बातें बतलाना चाहता हूँ। एक तो यह कि ऐसा लिखते हुए बैरिष्टर साहब जैन सिद्धान्तकी इस बातको भूल गये हैं कि खण्डनके साथ मण्डन लगा रहता है, एक बातका यदि खंडन किया जाता है तो दूसरी बातका उसके साथ ही मण्डन हो जाता है और खण्डन जितने ज़ोरका अथवा जितना अच्छा होता है मंडन भी उतने ही ज़ोरका तथा उतना ही अच्छा हुआ करता है। उदाहरणके तौर पर शरीरके दोषों अथवा विकारोंका जितना अधिक खण्डन किया जाता है शरीरके स्वास्थ्यका उतना ही अधिक मण्डन होता है—किसी अंगके गले सड़े भागको काट डालना उसके दूसरे स्वस्थ भागकी रक्षा करनेके बराबर है। इसी तरह शरीरके दोषोंका जिन कार्योंके द्वारा

मण्डन होता है उन्हींके द्वारा शरीरके स्वास्थ्यका साथ ही साथ खण्डन हो जाता है। अतः खण्डनके साथ मण्डन का और मण्डनके साथ खण्डनका अनिवार्य संबंध है, जिसको शास्त्रीय परिभाषामें अस्तित्वके साथ नास्तित्वका और नास्तित्वके साथ अस्तित्वका अविनाभाव सम्बंध बतलाया गया है और जो स्वामी समन्तभद्रके 'अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि' तथा 'नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि' जैसे वाक्योंसे स्पष्ट प्रकट है। अतः क़ाबिल तारीफ़ खण्डनके द्वारा क़ाबिल तारीफ़ मण्डनका कोई काम नहीं हुआ, यह कहना अथवा समझना ही भूल है और यह बात खुद बैरिष्टर साहबके एक पत्रके भी विरुद्ध पड़ती है जिसमें आपने सम्पादकके 'ग्रंथपरीक्षा-द्वितीय भाग' पर सम्मति देते हुए लिखा है—

"वाक़ई में आपने खूब छानबीन की है और सत्यका निर्णय कर दिया है। आपके इस मज़मूनसे मुझे बड़ी भारी मदद जैनलॉ के तय्यार करने में मिलेगी।...आपका परिश्रम सराहनीय है। मग़रिबके विद्वान भी शायद इतनी बारीकीसे छानबीन नहीं कर पाते जिस तरहसे इस ग्रंथ (भद्रबाहुसंहिता) की आपने की है। आप जैनधर्मके दुश्मन कुछ अशखासकी निगाहमें गिने जाते हैं, यह इसी कारणसे है कि आपकी समालोचना बहुत बेढब होती है और असलियत को प्रकट कर देती है। मगर मेरे ख़यालमें इस काममें कोई भी अंश जैनधर्मकी विरुद्धता का नहीं पाया जाता है; बल्कि यह तो जैनधर्मको अपवित्रताके मैलसे शुद्ध करनेका उपाय है।"

क्या सत्यका निर्णय कर देना, जैनलॉ की तय्यारी में बड़ी भारी मदद पहुँचाना, असलियतको प्रकट कर देना और जैनधर्मको अपवित्रताके मैलसे शुद्ध करने का उपाय करना, यह सब कोई मण्डनात्मक कार्य नहीं हैं? ज़रूर हैं। तब आपका उक्त लिखना क्रोधके आवेशमें असलियतको भुला देनेके सिवाय और कुछ भी समझमें नहीं आता।

दूसरे यह है कि सम्पादकके द्वारा लिखी हुई मेरी भावना, उपासनातत्त्व, विवाहसमुद्देश्य, स्वामी समन्तभद्र (इतिहास), जिनपूजाधिकारमीमांसा, शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण, जैनाचार्योंका शासनभेद, वीरपुष्पांजलि, महावीरसंदेश, मीनसंवाद, हम दुखी क्यों? और विवाहक्षेत्रप्रकाश जैसी पुस्तकों तथा जैनहितैषी जैसे पत्रको भी, जो प्रायः सभी आपको मिल चुके हैं, या तो आपने मण्डनात्मक नहीं समझा है और या उन्हें क़ाबिल तारीफ़ नहीं पाया है। मण्डनात्मक न समझना तो समझकी विलक्षणताको प्रकट करेगा और तब मंडनका कोई अलौकिक ही लक्षण बतलाना होगा, इस लिये यह कहना तो नहीं बनता; तब यही कहना होगा कि आपने उन्हें क़ाबिल तारीफ़ नहीं पाया है। अस्तु; इनमें से कुछ के ऊपर मुझे आपके प्रशंसात्मक विचार प्राप्त हुए हैं उनमेंसे तीन विचार जो इस वक्त मुझे सहज ही में मिल सके हैं, नमूनेके तौर पर नीचे दिये जाते हैं:—

१ "आज 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' प्राप्त हुआ। आपके लेख महत्त्वपूर्ण और सप्रमाण होते हैं। इस पुस्तकसे मुझे अपने विचारोंके स्थिर करनेमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी। आप दूरदर्शी हैं और गंभीर विचार रखते हैं।"

२ "'विवाहक्षेत्र प्रकाश' जो आपने देहलीमें मुझे दी थी वह आज ख़तम हो गई है। वास्तवमें इस पुस्तकको लिख कर बाबू जुगलकिशोरजी ने जैनधर्मका बहुत ही उपकार किया है। बाबू साहब मौसूफ़की तारीफ़ करनी ज़रूरी नहीं है। हर सतरसे तहरीरकी खूबी, बुद्धिमत्ता आलादर्जेकी कुशलता, लेखकके भावों की उदारताका परिचय मिलता है। हिम्मत और शान लेखक महाशयकी सराहनीय है। मेरे हृदयमें जितनी शंकाएँ पैदा हो गई थीं वे सब इस पुस्तकके पाठ करने से समाधान हो गई हैं। इसीका नाम पांडित्य है। वास्तवमें जैनधर्मके आलमगीरपन (सर्वव्यापी क्षेत्र) को जिस चीजने संकीर्ण बना रक्खा है वह कुछ गत नवीन समयके हिन्दू रिवाजोंकी गुलामी ही है। कुछ संकुचित ख़यालके व्यक्तियोंने जैनिज़्म (Jainism)

को एक प्रकारका जातिज़्म (jatism) बना रक्खा है। ये लोग हमेशा दूसरों पर जो इनसे मतभेद रखते हैं, धर्मविरुद्ध हुल्लड मचा कर आक्षेप किया करते हैं। मुझे खुशी है कि बाबू जुगलकिशोरजीने मुँह तोड़ जवाब लिखकर दर्शा दिया है कि वाक़ई धर्मविरुद्ध विचार किनके हैं।"

३ "'जैनहितैषी' के बारेमें मेरी राय यह है कि हिन्दुस्तान भरमें शायद ही कोई दूसरा पर्चा (पत्र) इस क़दर उम्दगी (उत्तमता) और क़ाबलियत (योग्यता) का निकलता हो। मेरे खयालमें तो योरोपके फर्स्ट क्लास जर्नल्स (gournals) के मुकाबलेका यह पर्चा रहा है।"

इनसे प्रकट है कि आपने सम्पादककी इन कृतियोंको वास्तवमें कितना अधिक क़ाबिल तारीफ़ पाया हैं। और 'मेरी भावना' को तो आपने इतना अधिक क़ाबिल तारीफ़ पाया और पसंद किया है कि उसे अपनी तीन पुस्तकोंमें लगाया, अंग्रेज़ीमें उसका अनुवाद किया और शायद जर्मनीमें खुद गाकर उसे फोनोग्राफ के रेकार्डमें भरवाया। इतने पर भी आप लिखते हैं कि "मण्डनका अभी कोई काबिल तारीफ़ काम आपकी क़लमका लिखा हुआ मेरे देखनेमें नहीं आया।" इससे पाठक समझ सकते हैं कि यह सब कितना दुःसाहस तथा सत्यका अपलाप है, बैरिस्टर साहब कोपके आवेशमें और एक मित्रका अनुचित पक्ष लेनेकी धुनमें कितने बदल गये हैं और आपकी स्मृति कहाँ तक विचलित हो गई है! सच है कोपके आवेशमें सत्यका कुछ भी भान नहीं रहता, यथार्थ निर्णय उससे दूर जा पड़ता है और इसीसे क्रोधको अनर्थोंका मूल बतलाया है। आपकी इस कोपदशा तथा स्मृतिभ्रमका सूचक एक अच्छा नमूना और भी नीचे दिया जाता है—

बैरिष्टर साहब लिखते हैं—"अब देखें बाबू छोटेलालजीके साथ कैसी गुज़री? सो उनके लेखके नीचे भी महापापोंकी संख्या पूरी कर दी गई है यानी पाँच फ़ुटनोट संपादकजीने लगा ही दिये हैं।"

यह है आपकी शिष्ट, सौम्य तथा गौरव भरी लेखनपद्धतिका एक नमूना! अस्तु; बाबू छोटेलालजीके लेख पर जो नोट लगाये गये हैं उनकी संख्या पाँच नहीं है और न बाबू कामताप्रसादजीके लेख पर लगाये गये नोटोंकी संख्या ही पाँच है, जिसे आप 'भी' शब्दके प्रयोगद्वारा सूचित करते हैं; बल्कि दोनों लेखों पर लगे हुए नोटोंकी संख्या आठ आठ है। फिर भी बैरिस्टर साहबके हृदयमें 'पाँच' की कल्पना उत्पन्न हुई—वह भी पाँच व्रतों, पाँच चारित्रों, पाँच समितियों अथवा पाँच इंद्रियोंकी नहीं किन्तु पाँच महापापोंकी; और इस लिये आपको पूर्ण संयत भाषामें लिखे हुए वे नोट आठकी जगह पाँच—नहीं, नहीं पाँच महापाप—दीखने लगे! और उसीके अनुसार आपने उनकी संख्या पाँच लिख मारी!! लिखते समय इस बात की सावधानी रखनेकी आपने कोई ज़रूरत ही नहीं समझी कि उनकी एक बार गणना तो कर ली जाय कि वे पाँच ही हैं या कमती बढ़ती! सो ठीक है क्रोध के आवेशमें प्रायः पापकी ही सूझती है और प्रमत्तदशा होनेसे स्मृति अपना ठीक काम नहीं करती, इसीसे बैरिष्टर साहबको पापोंकी ही संख्याका स्मरण रहा जान पड़ता है। खेद है अपनी ऐसी सावधान लेखनी के भरोसे पर ही आप जँचे तुले नोटोंके सम्बंधमें कुछ कहनेका साहस करने बैठे हैं!!

एक जगह तो बैरिष्टर साहबका कोपावेश धमकी की हद तक पहुँच गया है। आपका एक लेख 'अनेकान्त' में नहीं छापा गया था, जिसका कुछ परिचय पाठकोंको आगे चलकर कराया जायगा, उसका उल्लेख करनेके बाद यह घोषणा करते हुए कि "संपादकजी सब ही थोड़े बहुत नौकरशाही की भाँतिके होते हैं," आप लिखते हैं:—

"मुझे याद है कि एक मरतबा ब्र० शीतलप्रसादजीने भी, जब वह एडीटर 'वीर' के थे, और मैं सभापति परिषदका था, मेरे एक लेखको अर्थात् सभापति महाशयकी आज्ञाको टाल दिया था, यह कह कर कि वह म० गांधीके सिद्धान्तके विरोधमें है। मगर ब्र०जी तो अपने गेरुआ कपड़ों और उच्च चारित्रकी बदौलत सभापतिजीके ग़ज़बसे बच गये, मगर बाबू जुगलकिशोरजीके तो वस्त्र भी गेरुआ नहीं हैं?" (तब वह

कैसे बच सकेंगे ? ※)

इससे बैरिष्टर साहबकी स्पष्ट धमकी पाई जाती है और वे साफ़ तौर पर सम्पादकको यह कहना चाहते हैं कि वह उनके ग़ज़बसे—क्रोधसे—नहीं बच सकेगा। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि आपके क्रोधका एक कारण आपका लेख न छापना भी है। परन्तु बैरिष्टर साहब यह लिखते हुए इस बातको भूल गये कि जुगलकिशोरके वस्त्र भले ही गेरुआ न हों परन्तु वह स्वतन्त्र है—किसीके आश्रित नहीं, अपनी इच्छासे निःस्वार्थ सेवा करने वाला है। और साथ ही यह भी आपको स्मरण नहीं रहा कि जिस संस्थाका 'अनेकान्त' पत्र है उसके आप इस समय कोई सभापति भी नहीं हैं जो उस नातेसे अपनी किसी आज्ञाको बलात् मनवा सकते अथवा आज्ञोल्लंघनके अपराधमें सम्पादक पर कोई ग़ज़ब ढा सकते। सच है क्रोधके आवेशमें बुद्धि ठिकाने नहीं रहती और हेय।देयका विचार सब नष्ट हो जाता है, वही हालत बैरिष्टर साहबकी हुई जान पड़ती है।

खारवेलके शिलालेखमें आए हुए मूर्तिके उल्लेख आदिको ले कर बा० छोटेलालजीके लेखमें यह बात कही गई थी कि—"तब एक हद तक इसमें संदेह नहीं रहता कि मूर्तियों द्वारा मूर्तिमानकी उपासना-पूजाका आविष्कार करने वाले जैनी ही हैं।" जिस पर सम्पादकने यह नोट दिया था कि—"यह विषय अभी बहुत कुछ विवादग्रस्त है और इस लिये इस पर अधिक स्पष्ट रूपमें लिखे जानेकी ज़रूरत है।" और इसके द्वारा लेखक तथा उस विचारके दूसरे विद्वानोंको यह प्रेरणा की गई थी कि वे भविष्यमें किसी स्वतंत्र लेखद्वारा इस विषय पर अधिक प्रकाश डालनेकी कृपा करें। इस प्रेरणामें कौनसी आपत्तिकी बात है ? लेखककी इसमें कौनसी तौहीन की गई है अथवा कौनसी बातको "ऐबकी बात" लिखा गया है ? और किसीको अपनी राय जाहिर करनेके लिये इसमें कहाँ रोका गया है ? इन सब बातोंको सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। परन्तु फिर भी बैरिष्टर साहब उक्त नोटकी आलोचनामें लिखते हैं—

"सम्पादकजीने मुँह खोलना, जबान हिलाना, बोलना तक बन्द कर दिया। लेखकने कौन ऐबकी बात लिखी थी कि जिस पर भी आपसे न रहा गया और फुटनोट जोड़ ही दिया।······क्या हर शख्स अपनी राय भी अब जाहिर न कर सकेगा ?"

पाठकगण, देखा कितनी बढ़िया समालोचना है ! सम्पादकने तो लेखको छापदेनेके कारण लेखकका मुँह खोलना आदि कुछ भी बन्द नहीं किया परन्तु बैरिष्टर साहब तो सम्पादकीय नोटोंका विरोध करके सम्पादकको मुँह खोलने और अपनी राय जाहिर करनेसे रोकना चाहते हैं और फिर खुद ही यह प्रश्न करने बैठते हैं कि—"क्या हर शख्स अपनी राय भी अब जाहिर न कर सकेगा ? इससे अधिक आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है ? आपको कोपावेशमें यह भी सूझ नहीं पड़ा कि 'हर शख्स'में सम्पादक भी तो शामिल हैं फिर उसके राय जाहिर करनेके अधिकार पर आपत्ति क्यों ?

इसी सम्बन्धमें आप लिखते हैं कि "बाबू छोटेलालजीके शब्द तो निहायत गंभीर हैं।" बेशक गंभीर हैं; परन्तु नोट भी उन पर कुछ कम गंभीर नहीं है। बाक़ी उस गंभीरताका आधार आप जिन "एक हद तक" शब्दोंको मान रहे हैं उनके प्रयोग-रहस्यको आप स्वतः नहीं समझ सकते—उसे सम्पादक और लेखक महाशय ही जानते हैं। हाँ, इतना आपको ज़रूर बतला देना होगा कि यदि उक्त शब्द वाक्यके साथमें न होते तो फिर नोटका रूप भी कुछ दूसरा ही होता और वह शायद आपको कहीं अधिक अप्रिय जान पड़ता।

इसी फुटनोटकी चर्चा करते हुए बैरिष्टर साहब पूछते हैं—

"क्या संपादकजीने किसी लेख या पुस्तकमें जो हिन्दू ने छपवाई हो फुटनोट जैसा उन्होंने खुद जोड़ने का तरीका इख़्तयार किया है, कहीं पढ़ा है ?"

इस प्रश्न परसे बैरिष्टर साहबका हिन्दीपत्र-संसार-

※ प्रश्नांक ? से पहले यह पाठ छूट गया जान पड़ता है। यदि प्रश्नांक ही ग़लत हो तब भी आपके लिखनेका नतीजा वही निकलता है जो ब्रैकटमें दिया गया है।

विषयक भारी अज्ञान पाया जाता है; क्योंकि इससे मालूम होता है कि एक तो आप यह समझ रहे हैं कि सम्पादक 'अनेकान्त' ने ही लेखों पर फुटनोटोंके जोड़नेका यह नया तरीका ईजाद और इख्तियार किया है, इससे पहले उसका कहीं कोई अस्तित्व नहीं था; दूसरे यह कि हिन्दुओंके द्वारा प्रकाशित लेखादिकोंमें इस प्रकारके नोट लगानेके तरीक़ेका एकदम अभाव है। परन्तु ऐसा नहीं है, हिन्दी पत्रोंमें फुटनोटका यह तरीक़ा कमोबेश रूपमें वर्षोंसे जारी है। जैनहितैषी में भी फुटनोट लगते थे, जिसे आप एक बार हिन्दुस्तान भरके पत्रोंमें उत्तम तथा योरोपके फर्स्ट क्लास जनरल्स के मुक़ाबलेका पर्चा लिख चुके हैं, और वे पं०नाथूराम जी प्रेमीके सम्पादनकालमें भी लगते रहे हैं। यदि बैरिष्टर साहब उक्त प्रश्नसे पहले 'त्यागभूमि' आदि वर्तमानके कुछ प्रसिद्ध हिन्दू पत्रोंकी फाइलें ही उठाकर देख लेते तो आपको गर्वके साथ ऐसा प्रश्न पूछ कर व्यर्थ ही अपनी अज्ञताके प्रकाशद्वारा हास्यास्पद बननेकी नौबत न आती। अस्तु; पाठकोंके संतोषके लिये तीसरे वर्षकी 'त्यागभूमि' के अंक नं० ४ परसे संपादकीय फुटनोटका एक नमूना नीचे दिया जाता है इस अंकमें और भी कई लेखों पर नोट हैं, जो सब 'अनेकान्त' के नोटोंकी रीतिनीतिसे तुलना किये जा सकते हैं:—

"यह लेखककी भूल है। अत्याचारी राजाको, सपरिवार तक, नष्ट कर डालनेका स्पष्ट आदेश मनुस्मृति आदिमें है। —संपा०।"   पृ० ४२९

इससे पाठक समझ सकते हैं कि बैरिष्टर साहबके उक्त प्रश्नका क्या मूल्य है, उनकी लेखनी कितनी असावधान है और उनकी यह असावधानता भी उनकी कितनी परागंदहदिली—अव्यस्थितचित्तता—को साबित करती है, जिसका क्रोधके आवेशमें हो जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है। साथ ही, उन्हें यह बतलाने की भी जरूरत नहीं रहती कि इस प्रकारके फुटनोटों का यह कोई नया तरीक़ा इख्तियार नहीं किया गया है, जैसा कि बैरिष्टर साहब समझते हैं। और यदि किया भी जाता तो वह 'अनेकान्त' के लिये गौरवकी वस्तु होता—अब भी इस विषयमें 'अनेकान्त' की जो विशेषता है वह उसके नामको शोभा देने वाली है। क्या महज़ दूसरोंका अनुकरण करनेमें ही कोई बहादुरी है और अपनी तरफ़से किसी अच्छी नई बातके ईजाद करनेमें कुछ भी गुण नहीं है? यदि ऐसा नहीं तो फिर उक्त प्रकारके प्रश्नकी जरूरत ही क्यों पैदा हुई? नोटपद्धतिकी उपयोगिता-अनुपयोगिताके प्रश्न पर विचार करना था, जिसका लेखमें कहीं भी कुछ विचार नहीं है। मात्र यह कह देना कि नोट तो मकतबके परागंदहदिल मौलवी साहबकी कमचियाँ हैं, विलायतमें 'ऐसे लेखोंको सम्पादक लेते ही नहीं जिन के नीचे फुटनोट लगाये बग़ैर उनका काम न चले' अथवा अमुक 'फुटनोट भी कम वाहियात नहीं' यह सब क्या नोटपद्धतिकी उपयोगिता-अनुपयोगिताका कोई विचार है? कदापि नहीं। फिर क्या अनुपयोगी सिद्ध किये बिना ही आप संपादकसे ऐसी आशा रखना उचित समझते हैं कि वह अपनी इस नोटपद्धतिको छोड़ देवे? संपादकने अपनी इस-नोट-नीति की उपयोगिता और आवश्यकताका कितना ही स्पष्टीकरण उस लेखमें कर दिया है, जो **'एक आक्षेप'** नामसे ज्येष्ठ मासकी अनेकान्त किरण पृ० ३१९ पर प्रकाशित हुआ है। पाठक वहाँसे उसे जान सकते हैं। उसके विरोधमें यदि किसीको कुछ युक्तिपुरस्सर लिखना हो तो वे जरूर लिखें, उस पर विचार किया जायगा। अस्तु।

अब उस नोटकी बातको भी लीजिये, जिस पर लेखमें सबसे अधिक वावेला मचाया गया है और लोगोंको 'अनेकान्त' पत्र तथा उसके 'सम्पादक' के विरुद्ध भड़कानेका जघन्य प्रयत्न किया गया है। इस के लिये सबसे पहले हमें बाबू छोटेलालजीके लेखके प्रारंभिक अंशको ध्यानमें लेना होगा, और वह इस प्रकार है—

"यह बात सत्य है कि जिस जातिका इतिहास नहीं वह जाति प्रायः नहीं-के-तुल्य समझी जाती है, कुछ समय पूर्व जैनियोंकी गणना हिन्दुओंमें होती थी, किंतु जबसे जैनपुरातत्त्वका विकास हुआ तबसे संसार हमें

एक प्राचीन, स्वतंत्र और उच्च सिद्धान्तानुयायी समझने लगा है। साथ ही हमारा इतिहास कितना अधिक विस्तीर्ण और गौरवान्वित है यह बात भी दिन-पर-दिन लोकमान्य होती चली जाती है। वह समय अब दूर नहीं है जब यह स्वीकार करना होगा कि 'जैनियोंका इतिहास सारे संसारका इतिहास है।' गहरी विचार-दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आज जैन सिद्धान्त सारे विश्वमें अदृश्य रूपसे अपना कार्य कर रहे हैं। जैनसमाज अपने इतिहासके अनुसंधान तथा प्रकाशनमें यदि कुछ भी शक्ति व्यय करता तो आज हमारी दशा कुछ और ही होती। इतिहाससे यह सिद्ध हो चुका है कि **निर्ग्रंथ दिगम्बर मत ही मूल धर्म है।**"

लेखकी इस भूमिकामें 'जैनियोंकी, जैनपुरातत्त्वका, हमें, हमारा, जैनियोंका, जैनसिद्धान्त, जैनसमाज, हमारी,' ये शब्द एक वर्गके हैं और वे दिगम्बर-श्वेताम्बरका कोई सम्प्रदाय-भेद न करते हुए अविभक्त जैनसमाज, जैनसिद्धान्त तथा जैनपुरातत्त्वको लेकर लिखे गये हैं, जैसा कि उनकी प्रयोग-स्थिति अथवा लेखकी कथनशैली परसे प्रकट है। और 'हिन्दुओंमें, संसार, लोकमान्य, सारे संसारका, सारे विश्वमें' ये शब्द दूसरे वर्गके हैं, जो उस समूहको लक्ष्य करके लिखे गये हैं, जिसके साथ अपने इतिहास, अपने सिद्धान्त या अपनी प्राचीनता आदिके सम्बंधकी अथवा मुकाबलेकी कोई बात कही गई है? और इस पिछले वर्गके भी दो विभाग किये जा सकते हैं—एक मात्र हिन्दुओं अथवा वैदिक धर्मानुयायियोंका और दूसरा अखिल विश्वका। वैदिक धर्मानुयायियोंके मुकाबलेमें अपनी प्राचीनताके संस्थापनकी बात लेखके अन्त तक कही गई है, जहाँ एक पूजनविधानका उल्लेख करनेके बाद लिखा है—"यदि हम पाश्चात्य रीत्यानुसार गणना कर उसकी प्रारम्भिक अवस्था या उत्पत्तिकाल पर पहुँचनेका प्रयत्न करेंगे तो वैदिक कालसे पूर्व नहीं तो बराबर अवश्य पहुँच जावेंगे। मैं तो कहूँगा कि यह विधान वैदिक कालसे बहुत पूर्व समयका है।" बाकी दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों संप्रदायोंमें कौन पहलेका और कौन पीछेका? इस प्रश्नको लेखभरमें कहीं भी उठाया नहीं गया है और न सारे लेखको पढ़नेसे यही मालूम होता है कि लेखक महाशय उसमें दोनों संप्रदायोंकी उत्पत्ति पर कोई विचार करने बैठे हैं। ऐसी हालतमें उक्त भूमिकाके अंतिम वाक्यमें जब यह कहा गया कि "निर्ग्रंथ दिगम्बर मत ही मूल धर्म है" और उसे "इतिहाससे सिद्ध" हुआ बतलाया गया तब संपादकके हृदयमें स्वभावतः ही यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि इस वाक्यमें प्रयुक्त हुए '**मूल**' शब्दकी मर्यादा क्या है?—उसका क्षेत्र कहाँ तक सीमित है? अथवा वह किस दृष्टि, अपेक्षा या आशयको लेकर लिखा गया है? क्योंकि 'मूल' शब्दके आदि (आद्य) और प्रधान आदि कई अर्थ होते हैं और फिर दृष्टिभेदसे उनकी सीमामें भी अन्तर पड़ जाता है। तब दिगंबर-मत किस अर्थमें मूल धर्म है और किसका मूल धर्म है? अर्थात् आदिकी दृष्टिसे मूल धर्म है या प्रधानकी दृष्टिसे मूल धर्म है? और इस प्रत्येक दृष्टिके साथ, सर्वधर्मोंकी अपेक्षा मूलधर्म है या वैदिक आदि किसी धर्मविशेष अथवा जैनधर्मकी किसी शाखाविशेषकी अपेक्षा मूल धर्म है? संपूर्ण विश्वकी अपेक्षा मूलधर्म है या भारतवर्ष आदि किसी देशविशेषकी अपेक्षा मूल धर्म है? सर्व युगोंकी अपेक्षा मूल धर्म है या किसी युगविशेषकी अपेक्षा मूल धर्म है? सर्व समाजोंका मूल धर्म है या किसी समाजविशेषका मूल धर्म है? इस प्रकारकी प्रश्नमाला उत्पन्न होती है। लेख परसे इसका कोई ठीक समाधान न हो सकनेसे 'मूल' शब्द पर नीचे लिखा फुटनोट लगाना उचित समझा गया:—

"अच्छा होता यदि यहाँ 'मूल' की मर्यादा का भी कुछ उल्लेख कर दिया जाता, जिससे पाठकोंको उस पर ठीक विचार करनेका अवसर मिलता।"

पाठक देखें, यह नोट कितना सौम्य है, कितनी संयत भाषामें लिखा गया है और लेखकी उपर्युक्त स्थितिको ध्यानमें रखते हुए कितना आवश्यक जान

पड़ता है। परन्तु बैरिष्टर साहब इसे भी "क्रमची" बतलाते हैं! और इसे उद्धृत करते हुए लिखते हैं :—

"'मौलवी साहब' को 'मूल' का शब्द नापसंद हुआ। फिर क्या था! तड़से क्रमची पड़ी और चटसे निम्न लिखित फुटनोट जोड़ा गया।—"

यह है बैरिष्टर साहबकी सुसभ्य और गंभीर विचारभाषाका एक नमूना! ऐसी ही गंभीर विचारभाषासे सारा लेख भरा हुआ है, जिसके कुछ नमूने पहले भी दिये जा चुके हैं। एक अति संयत भाषामें लिखे हुए विचारपूर्ण सौम्य नोटको 'क्रमची' की उपमा देना हृदयकी कलुषताको व्यक्त करता है और साथही इस बातको सूचित करता है कि आप विचारके द्वारको बन्द करना चाहते हैं। अस्तु; बैरिष्टर साहबने इस नोटकी आलोचनामें व्यंगरूपमें छोटेलालजी की समझकी चर्चा करते हुए और यह बतलाते हुए कि उन्होंने भूलकी जो "यह न समझे कि 'मूल' में तनाजा दिगम्बरी-श्वेताम्बरी इख्तदाका ही नहीं आता है, बल्कि दुनिया भरके और सब किस्मके झगड़े भी शामिल हो सकेंगे," लिखा है—

"अगर छोटेलालजी वकील होते तो भी कुछ बात थी, क्योंकि फिर तो वह यह भी कह सकते कि साहब मेरा तो खयाल यह था कि मजमूनको सिलसिले ताल्लुक (relevency) की दृष्टिकोणसे ही पढ़ा जा सकेगा।"

और इसके द्वारा यह सुझाने की चेष्टा की है कि उक्त वाक्यमें लेखके सम्बंधक्रमसे अथवा प्रस्तावानुकूल या प्रकरणानुसार 'मूल' का अर्थ दिगम्बरमतके श्वेताम्बरमतसे पहले (प्राचीन) होनेका ही निकलता है दूसरे मतोंसे पहले होनेका या प्रधानता आदिका नहीं। परन्तु मूल लेखके सम्बन्धक्रम अथवा उसके किसी प्रस्ताव या प्रकरणसे ऐसा नहीं पाया जाता; जैसा कि ऊपर 'मूल' शब्दसे पूर्ववर्ती पूरे लेखांशको उद्धृत करके बतलाया जा चुका है। हाँ, यदि उस वाक्यका रूप यह होता कि "निर्ग्रंथ दिगम्बर मत ही जैनसमाजका मूल धर्म है" तो ऐसा आशय निकाला जा सकता था; और तब, मूलकी मर्यादाका एक उल्लेख हो जानेसे, उस पर इस प्रकारका कोई नोट भी न लगाया जाता। परन्तु उसमें 'मूल' से पहले 'जैनसमाजका' ये शब्द अथवा इसी आशयके कोई दूसरे शब्द नहीं हैं और बातें पहले हिन्दुओं, संसार तथा विश्वके साथ सम्बन्धकी की गई हैं और अंत तक वैदिक धर्मानुयायियोंके मुकाबलेमें अपनी प्राचीनताकी बात कही गई है, तब 'मूल' का वैसा अर्थ नहीं निकाला जा सकता। अतः बैरिष्टरसाहबने जो बात सुझानेकी चेष्टा की है वह उनकी कल्पनामात्र है—लेख परसे उसकी उपलब्धि नहीं होती। और सिलसिले ताल्लुक (relevency) की दुहाई उनकी अविचारित रम्य है।

इसके बाद बैरिष्टर साहब "मूलकी मर्यादा" का अर्थ समझनेमें अकुलाते हुए लिखते हैं—

"परेशान हूँ कि मूलकी मर्यादाका क्या अर्थ करूँ? क्या कुछ नियत समयके लिये दिगंबरी संप्रदाय मूल हो सकता है और फिर श्वेताम्बरी? या थोड़े दिनों श्वेताम्बरी मूल रहवें और फिर दिगंबरी हो जावें या कुछ अंशोंमें यह और कुछमें वह? आखिर मतलब क्या है? मेरे खयालमें मुझसे यह गंभीर प्रश्न हल नहीं हो सकेगा। स्वयं संपादकजी ही इस पर प्रकाश डालेंगे तो काम चलेगा। मगर एक बात और मेरे मनमें आती है और वह यह है कि शायद सम्पादकजी श्वेताम्बरी मतको ही मूल मानते होंगे; नहीं तो इस 'मूल' के शब्द के ऊपर फुटनोटकी क्या जरूरत थी? हाँ, और याद आई। बम्बईसे मैंने भी करीब तीन चार माहके हुए एक लेख श्वेताम्बरीमतके मूल दिगम्बरीमतकी शाखा होनेके बारेमें लिख कर 'अनेकान्त' में प्रगट होनेको भेजा था। वह अभी तक मेरे इल्ममें 'अनेकान्त' में नहीं छपा है। शायद इसी कारणसे न छापा गया होगा कि वह खुल्लमखुल्ला दिगम्बरी मतको सनातन जैनधर्म बतलाता था और श्वेताम्बरी सम्प्रदायके 'मूलत्व' के दावेको जड़ मूलसे उखाड़ फेंकता था।"

इससे स्पष्ट है कि उक्त नोटमें प्रयुक्त हुए 'मूलकी मर्यादा' शब्दोंका अर्थ ही बैरिष्टर साहब ठीक नहीं समझ सके हैं, वे चक्करमें पड़ गये हैं और वैसे ही बिना समझे अटकलपच्चू उनकी आलोचना करनेके लिये प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिये 'मर्यादा' का विचार करते हुए आप

मर्यादा से बाहर हो गये हैं और आपने सम्पादकके विषयमें एक विलक्षण आरोप (इल्ज़ाम) की सृष्टि कर डाली है, जिसका खुलासा इस प्रकार है:—

'सम्पादकजी श्वेताम्बरीमतको ही मूलधर्म मानते होंगे; यदि ऐसा न होता तो एक तो 'मूल' शब्द पर फुटनोट दिया ही न जाता—उसके देनेकी कोई ज़रूरतही नहीं थी, दूसरे श्वेताम्बरोंके मूलत्व (प्राचीनत्व) के विरोध में जो लेख उनके पास भेजागया था उसको 'अनेकान्त' में ज़रूर छाप देते, न छापनेकी कोई वजह नहीं थी।'

इस आरोप और उसके युक्तिवादके सम्बंधमें मैं यहाँ पर सिर्फ़ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि वह बिलकुल कल्पित और बे-बुनियाद (निर्मूल) है। नोट लेखकी जिस स्थितिमें दिया गया है और उसके देनेका जो कारण है उसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है और उस परसे पाठक उसकी ज़रूरतको स्वतः महसूस कर सकते हैं। हाँ, यदि सम्पादकमें साम्प्रदायिककट्टरता होती तो ज़रूरत होने पर भी वह उसे न देता, शायद इसी दृष्टिसे बैरिष्टर साहबने "क्या ज़रूरत थी" इन शब्दोंको लिखा हो। दूसरे यदि सम्पादककी ऐसी एकान्त मान्यता होती, तो फिर 'मूल' शब्दके मर्यादा-विषयक नोटसे क्या नतीजा था? तब तो दिगम्बरमतके मूल धर्म होने पर ही आपत्तिकी जाती; जैसा कि अन्य नोटोंमें भी किसी किसी विषय पर स्पष्ट आपत्ति की गई है। साथ ही, लेखके उस अंश पर भी आपत्ति की जाती जहाँ (पृ० २८६) खारवेलके शिलालेखमें उल्लेखित प्रतिमाको "अवश्य दिगम्बर थी" ऐसा लिखा गया है; क्योंकि शिलालेखमें उसके साथ 'दिगम्बर' शब्दका कोई प्रयोग नहीं है। इसके सिवाय, बाबू पूरणचंदजी नाहरका वह लेख भी 'अनेकान्त' में छापा जाता जो श्वेताम्बर मतकी प्राचीनता सिद्ध करनेके लिये प्रकट हुआ है। अतः आपकी इस युक्ति में कुछ भी दम मालूम नहीं होता।

रही लेखके न छापनेकी बात, वह ज़रूर नहीं छापा गया है। परन्तु उसके न छापनेका कारण यह नहीं है कि उसमें श्वेताम्बर मतकी अपेक्षा दिगम्बर मतकी प्राचीनता सिद्ध करनेका यत्न किया गया है बल्कि इस लिये नहीं छापा गया है कि वह गौरवहीन समझा गया, उसका युक्तिवाद प्रायः लचर और पोच पाया गया और इससे भी अधिक त्रुटि उसमें यह देखी गई कि वह शिष्टाचारसे गिरा हुआ है, अपने एक भ्रातृवर्गको घृणाकी दृष्टिसे ही नहीं देखता किंतु उसके पूज्य पुरुषोंके प्रति ओछे एवं तिरस्कारके शब्दोंका प्रयोग करता है और गंभीर विचारणासे एकदम रहित है। कई सज्जनोंको उसे पढ़ कर सुनाया गया तथा पढ़नेको दियागया परन्तु किसीने भी उसे 'अनेकान्त' के लिये पसन्द नहीं किया। 'अनेकान्त' जिस उदारनीति, साम्प्रदायिक-पक्षपात-रहितता, अनेकान्तात्मक विचार-पद्धति और भाषाके शिष्ट, सौम्य तथा गंभीर होनेके अभिवचनको लेकर अवतरित हुआ है उसके वह अनुकूल ही नहीं पाया गया, और इसलिये नहींछापा गया।

यहाँ पर उस लेख* के युक्तिवाद पर, विचारका कोई अवसर नहीं है—उसके लिये तो जुदा ही स्थान और काफ़ी समय होना चाहिये—सिर्फ़ दो नमूने लेखका कुछ आभास करानेके लिये नीचे दिये जाते हैं:—

१ "गौतम और केसीके वार्तालापका विषय 'चोर की दाढ़ीमें तिनका' के समान है। दिगम्बरियोंके यहाँ ऐसा कोई वार्तालाप नहीं दर्ज है। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि दिगम्बरियोंको अपने मतमें कमज़ोरी नहीं मालूम हुई और श्वेताम्बरियोंको हुई।" इत्यादि।

२ "श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति बिलकुल कुदरती तौरसे समझमें आ जाती है। सख्त क़हतके ज़माने में जब जैनियोंके यहाँ से पेट पालन न हो सका तो अजैनियोंसे भिक्षा लेनी पड़ी और इस वजहसे वस्त्र धारण करने पड़े; क्योंकि उनके यहाँ दिगम्बरी साधुओं की मान्यता न थी। इसी कारणसे स्त्रीमुक्ति और शूद्र-मुक्तिका सिद्धान्त भी आसानीसे समझमें आ जाता है। इन बातोंमें श्वेताम्बरी हिन्दुओंसे भी आगे बढ़ गए हैं। हिन्दू तो शूद्रोंको वेद भी नहीं पढ़ने देते हैं। मुक्ति कैसी? इस लिये हिन्दू स्त्रियों और शूद्रोंको मुक्तिका मुज़दह सुनानेका यही भाव हो सकता था कि इस बहानेसे भक्तोंकी संख्या बढ़ाई जावे, क्योंकि भक्तोंकी

*यह लेख 'वीर' के उसीअङ्कमें और 'जैनमित्र' के ४-६-३० में है।

संख्यासे ही भिक्षाका अधिक लाभ होना संभव है।"

पाठकगण देखिये, कितने तिरस्कारपूर्ण उद्गार हैं और कैसी विचित्र कल्पना है !! क्या दुर्भिक्षमें श्वेताम्बरोंके पूर्व पुरुषोंका जैनियोंके यहाँसे पेटपालन (!) नहीं हो सका और उन्होंने अजैनियोंके यहाँ से भिक्षा लेनेके लिये ही वस्त्र धारण किये ? और क्या स्त्रियों तथा शूद्रोंसे भोजन प्राप्त करनेके लिये ही उन्हें मुक्ति का संदेश सुनाया गया—उसका अधिकार दियागया? कितनी विलक्षण बुद्धिकी कल्पना है !! इस अद्भुत कल्पनाको करते हुए बैरिष्टर सा०अपने दिगम्बर शास्त्रों की मर्यादाका भी उल्लंघन कर गये हैं और जो जी में आया लिख मारा है। रत्ननन्दि आचार्यके 'भद्रबाहु-चरित्र' में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि दुर्भिक्ष के समय ऐसा हुआ अथवा उस अवशिष्ट मुनि संघको जैनियोंके घरसे भोजन नहीं मिला और उसने अजैनों के यहाँ से भोजन प्राप्त करनेके लिये ही वस्त्र धारण किये। बल्कि कुबेरमित्र, जिनदास, माधवदत्त और बन्धुदत्त आदि जिन जिन अतुल विभवधारी बड़े बड़े सेठोंका उल्लेख किया है उन सबको बड़े श्रद्धासम्पन्न श्रावक लिखा है जिन्होंने मुनिसंघकी पूरे तौरसे सेवा की है, दीन दुखियोंको बहुत कुछ दान दिया है और जिनकी प्रार्थना पर ही वह मुनिसंघ दक्षिणको जानेसे रुका था। अतः लेखकी ऐसी बेहूदी और निरर्गल स्थिति होते हुए उसे 'अनेकान्त'में स्थान देना कैसे उचित हो सकता था ? यदि किसी तरह स्थान दिया भी जाता तो उसके कलेवरसे फुटनोटोंका कलेवर कई गुना बढ़ जाता और तब बैरिष्टर साहबको वह औरभी नागवार मालूम होता और उस वक्त आपके क्रोधका पारा न मालूम कितनी डिगरी ऊपर चढ़ जाता; जब एक मित्र के लेख पर नोट देनेसे ही उसकी यह दशा हुई है ! उसे न छाप कर तो उस नीतिका भी अनुसरण किया गया है जिसे आपने विलायतके पत्रसंपादकोंकी नीति लिखा है और कहा है कि 'वे ऐसे लेखोंको लेते ही नहीं जिन पर फुटनोट लगाये बगैर उनका काम न चले।' फिर इस पर कोप क्यों ? राजबकी धमकी क्यों ? और ऐसे विलक्षण आरोपकी सृष्टि क्यों ? क्या क्रोधके आधार पर ही आप अपना सब काम निकालना चाहते हैं ? और प्रेम, सौजन्य तथा युक्तिवाद आदिसे कुछ काम लेना नहीं चाहते? बहुत संभव है कि आपका यह आरोप साम्प्रदायिकताके उस आरोपका महज़ जवाब हो जो कामताप्रसादजीकी लेखनी पर लगाया गया था; परन्तु कुछ भी हो ऊपरके कथन तथा विवेचन परसे यह स्पष्ट है कि इसमें कुछ भी सार नहीं है और यह जाने-अनजाने बाबू छोटेलालजी के शब्दों तथा नोटके शब्दोंको ठीक ध्यानमें न लेते हुए ही घटित किया गया है। आशा है बैरिष्टर साहब अब 'मूलकी मर्यादा' आदिके भावको ठीक समझ सकेंगे।

यहाँ पर मैं अपने पाठकोंको इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि इधर तो बाबू छोटेलालजी हैं जिन्होंने अपने लेख परके नोटोंके महत्वको समझा है और इस लिये उन्होंने उनका कोई प्रतिवाद नहीं किया और न उनके विषयमें किसी प्रकारकी अप्रसन्नताका ही भाव प्रकट किया है। वे बराबर गंभीर तथा उदार बने हुए हैं और 'अनेकान्त' पत्रको बड़ी ऊँची दृष्टिसे देखते हैं और यह बात हालके उनके उस पत्रसे प्रकटहै जिसका एक अंश 'यदि यूरोपमें ऐसा पत्र प्रकाशित होता' इस शीर्षकके नीचे पृ०६५१ पर दियागयाहै और जिसमें उन्होंने पत्रकी भारी उपयोगिताका उल्लेख करतेहुए उसके चिरजीवनके लिये प्रोपेगैंडा करनेका परामर्श दिया है और साथ ही अपनी सहायताका भी वचन दिया है।

और उधर बैरिष्टर साहब हैं जो अपनी तथा अपने मित्रकी शान एवं मानरक्षाके लिये व्यर्थ लिखना भी उचित समझते हैं और ज़रासी बातके ऊपर इतने रुष्ट हो गये हैं कि उन्होंने 'अनेकान्त' के गुणोंकी तरफसे अपनी दृष्टिको बिलकुल ही बन्द कर लिया है, उन्हें अब यह नज़र ही नहीं आता कि 'अनेकान्त' कोई महत्वका काम कर रहा है अथवा उसके द्वारा कोई क़ाबिल तारीफ़ काम हुआ है, अनेकान्तकी नीति भी उन्हें उम्दा (उत्तम) दिखलाई नहीं देती, अनेकान्तके नामको सार्थक बनानेका कोई प्रयत्न उसके सम्पादक ने अभी तक किया है यह भी उन्हें दीख नहीं पड़ता—सुन नहीं पड़ता, सहधर्मी वात्सल्यकी पत्रमें उन्हें कहीं

बू नहीं आती और जैनत्वकी भी कुछ गंध नहीं आती। और इस लिये इन सब बातोंका किसी-न-किसी रूपमें इज़हार करते हुए फिर आप यहाँ तक लिखते हैं—

"वह पत्र क्या काम कर सकेगा जो सच्चे जवाहरातमें ही ऐब निकाल निकाल कर दूसरोंको अपने सत्यवक्तापनेकी घोषणा दे ! और जो चाँद के ऊपर धूल फेंकनेको ही अपना कर्तव्य समझ बैठे।"

"यह याद रहे कि यह पत्र मात्र ऐतिहासिक या पुरातत्त्वका पत्र नहीं है। जैनियोंने जो हजारों रुपये का चन्दा किया है, वह इस लिये नहीं किया है, कि 'अनेकान्त' इच्छानुसार अन्ट-सन्ट लिखता रहे।"

"अगर 'अनेकान्त' इतिहासमें जैनत्वकी सुगंध पैदा नहीं कर सकताहै तो उसकी कोई जरूरत नहीं है।"

और इस तरह 'अनेकान्त' की तरफ़से लोगोंको भड़काने, उन्हें प्रकारान्तरसे उसकी सहायता न करने के लिये प्रेरित करने, और उसका जीवन तक समाप्त कर देनेकी आपने चेष्टा की है।

ये हैं सब आपकी समालोचनाके खास नमूने ! इसे कहते हैं गुणको छोड़ कर अवगुण ग्रहण करना, और वह अवगुण भी कैसा ? विभंगावधि-वाले जीव की बुद्धिमें स्थित-जैसा, जो माताके चमचेसे दूध पिलानेको भी मुँह फाड़ना समझता है ! और इसे कहते हैं एक सलूके लिये भैंसेका वध करनेके लिये उतारू हो जाना ! जिन संख्याबन्ध जैन-अजैन विद्वानों को 'अनेकान्त' में सब ओरसे गुणोंका दर्शन होता है, इतिहास, साहित्य एवं तत्त्वज्ञानका महत्व दिखलाई पड़ता है, जो सच्चे जैनत्वकी सुगंधसे इसे व्याप्त पाते हैं और जो इसकी प्रशंसामें मुक्तकण्ठ बने हुए हैं, तथा जिनके हृदयोद्‌गार 'अनेकान्त' की प्रत्येक किरण में निकलते रहे हैं, वे शायद बेरिष्टर साहबसे कह बैठें — 'महाशय जी ! क्रोध तथा पक्षपातके आवेशवश आपकी दृष्टिमें विकार आ गया है, इसीसे आपको 'अनेकान्त' में कुछ गुणकी बात दिखलाई नहीं पड़ती अथवा जो कुछ दिखलाई दे रहा है वह सब अन्यथा ही दिखलाई दे रहा है। और इसी तरह नासिका विकृत हो कर उसकी घ्राणशक्ति भी नष्टप्राय होगई है, इसीसे इसकी जो सुगंध चतुर्दिक फैल रही है वह आपको महसूस नहीं होती और आप उसमें जैनत्वकी कोई गंध नहीं पारहे हैं'

उपसंहार

हाँ, साम्प्रदायिकताको पुष्ट करना ही यदि सहधर्मी वात्सल्यका लक्षण हो तो उसकी बू जरूर 'अनेकान्त' में नहीं मिलेगी—साम्प्रदायिकता अनेकान्त-द्वारा पुष्ट नहीं होती किन्तु एकान्त-द्वारा पुष्ट होती है। 'अनेकान्त' को साम्प्रदायिकताके पंकसे अलिप्त रखनेकी पूरी कोशिश की जाती है, उसका उदय ही इस बातको लेकर हुआ है कि उसमें किसी सम्प्रदायविशेषके अनुचित पक्षपातको स्थान नहीं दिया जायगा। 'अनेकान्त' की दृष्टिमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समान हैं, दोनों ही इसके पाठक तथा ग्राहक हैं और दोनों ही सम्प्रदायों के महानुभाव उस वीर-सेवक-संघ नामक संस्थाके सदस्य हैं जिसके द्वारा समन्तभद्राश्रमकी स्थापना हुई और जिसका यह मुख पत्र है। श्वेताम्बर सदस्योंमें पं० सुखलालजी, पं० बेचरदासजी और मुनि कल्याणविजयजी जैसे प्रौढ विद्वानोंके नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं, जो इस संस्थाकी उदारनीति तथा कार्यपद्धतिको पसन्द करके ही सदस्य हुए हैं। जिस समय यह संस्था क़ायम की गई थी उसी समय यह निश्चित कर लिया गया था कि इसे स्वतन्त्र रक्खा जायगा, इसीसे यह पूर्व स्थापित किसी सभा सोसाइटीकी अधीनतामें नहीं खोली गई। दिगम्बर जैन परिषद्‌के मंत्री बा० रतनलालजी और खुद बैरिष्टर साहबने बहुतेरा चाहा और कोशिश की कि यह संस्था परिषद्‌के अंदर में—उसकी शाखारूपसे—खोली जाय; परन्तु उसके द्वारा संस्थाके क्षेत्रको सीमित और उसकी नीतिको कुछ संकुचित करना उचित नहीं समझा गया और इसलिए उनका वह प्रस्ताव मुख्य संस्थापकों-द्वारा अस्वीकृत किया गया। ऐसी हालतमें भले ही यह संस्था समाज के सहयोगके अभावमें टूट जाय और भले ही आगे चल कर बैरिष्टर साहब जैसोंकी कृपा दृष्टिसे इस पत्रका जीवन संकटमें पड़ जाय या यह बन्द हो जाय, परन्तु जब तक 'अनेकान्त' जारी है और मैं उसका संपादक

हूँ तब तक मैं अपनी शक्ति भर उसे उसके आदर्श से नहीं गिरने दूँगा और न साम्प्रदायिक कट्टरताका ही उसमें प्रवेश होने दूँगा। मैं इस साम्प्रदायिक कट्टरताको जैनधर्मके विकास और मानवसमाजके उत्थानके लिये बहुत ही घातक समझता हूँ। अस्तु।

बैरिष्टर साहबने मुझसे इस बातका खुलासा माँगा है कि मैं दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों सम्प्रदायोंमेंसे किसको प्राचीन, असली और मूल समझता हूँ। अतः इस सम्बंधमें भी दो शब्द लिख देना उचित जान पड़ता है।

जहाँ तक मैंने जैनशास्त्रोंका अध्ययन किया है मुझे यह मालूम हुआ है कि भगवान् महावीररूपी हिमाचलसे धर्मकी जो गंगधारा बही है वह आगे चल कर बीचमें एक चट्टानके आ जानेसे दो धाराओं में विभाजित हो गई है—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। अब इनमें किसको मूल कहा जाय? या तो दोनों ही मूल हैं और या दोनोंही मूल नहीं हैं। चूँकि मूल धारा ही दो भागोंमें विभाजित हो गई है और दोनों उसके अंश हैं इसलिये दोनों ही मूल हैं और परस्परकी अपेक्षासे चूँकि एक धारा दूसरीमेंसे नहीं निकली इस लिये दोनोंमें से कोई भी मूल नहीं है। हाँ, दिगम्बर धाराको अपनी बीसपंथ, तेरहपंथ, तारणपंथ अथवा मूलसंघ, काष्ठासंघ, द्राविड़संघ आदि उत्तर धाराओं एवं शाखाओंकी अपेक्षासे मूल कहा जा सकता है, और श्वेताम्बरधाराको अपनी स्थानकवासी, तेरहपंथ और अनेक गच्छादिके भेदवाली उत्तरधाराओं एवं शाखाओंकी अपेक्षासे मूल कहा जा सकता है। इसी तरह प्राचीनता और अप्राचीनताका हाल है। मूल धारा की प्राचीनताकी दृष्टिसे तथा अपनी उत्तरकालीन शाखाओंकी दृष्टिसे दोनों प्राचीन हैं और अपनी उत्पत्ति तथा नामकरण-समयकी अपेक्षासे दोनों अर्वाचीन हैं। रही असली और बेअसलीकी बात, असली मूल धाराके अधिकांश जलकी अपेक्षा दोनों असली हैं, और चूँकि दोनोंमें बादको इधर उधर से अनेक नदी-नाले शामिल हो गये हैं और उन्होंने उनके मूल जलको विकृत कर दिया है, इस लिये दोनों ही अपने वर्तमान रूपमें असली नहीं हैं। इस प्रकार अनेकान्तदृष्टिसे देखने पर दोनों सम्प्रदायोंकी मूलता—प्राचीनता आदिका रहस्य भले प्रकार समझमें आ सकता है। बाक़ी जिस सम्प्रदायको यह दावा हो कि वही एक अविकल मूल धारा है जो अब तक सीधी चली आई है और दूसरा संप्रदाय उसमेंसे एक नालेके तौर पर या ऐसे निकल गया है जैसे वट वृक्षमेंसे जटाएँ निकलती हैं, तो उसे बहुत प्राचीन साहित्य परसे यह स्पष्ट रूपमें दिखलाना होगा कि उसमें कहाँ पर उसके वर्तमान नामादिकका उल्लेख है। अर्थात् दिगम्बर श्वेताम्बरोंकी और श्वेताम्बर दिगम्बरोंकी उत्पत्ति विक्रमकी दूसरी शताब्दीके पूर्वार्धमें बतलाते हैं, तब कमसे कम विक्रमकी पहली शताब्दीसे पूर्वके रचे हुए ग्रंथादिकमें यह स्पष्ट दिखलाना होगा कि उनमें 'दिगम्बरमत-धर्म' या 'श्वेताम्बरमत-धर्म' ऐसा कुछ उल्लेख है और साथमें उसकी वे विशेषताएँ भी दी हुई हैं जो उसे दूसरे सम्प्रदायसे भिन्न करती हैं। दूसरे शब्दों परसे अनुमानादिक लगा कर बतलानेकी ज़रूरत नहीं। जहाँ तक मैंने प्राचीन साहित्यका अध्ययन किया है मुझे ऐसा कोई उल्लेख अभी तक नहीं मिला और इसलिये उपलब्ध साहित्य परसे मैं यही समझता हूँ कि मूल जैनधर्मकी धारा आगे चल कर दो भागोंमें विभाजित हो गई है—एक दिगम्बरमत और दूसरा श्वेताम्बरमत, जैसा कि ऊपरके कथनसे प्रकट है।

आशा है इस लेख परसे बैरिष्टर साहब और दूसरे सज्जन भी समाधानको प्राप्त होंगे। अन्त में बैरिष्टर साहब से निवेदन है कि वे भविष्यमें जो कुछ लिखें उसे बहुत सोच-समझ-कर अच्छे जँचे तुले शिष्ट, शान्त तथा गंभीर शब्दोंमें लिखें, इसीमें उनका गौरव है; यों ही किसी उत्तेजना या आवेशके वश होकर जैसे तैसे कोई बात सुपुर्द क़लम न करें और इस तरह व्यर्थ की अप्रिय चर्चाको अवसर न देवें। बाक़ी कर्तव्यानुरोधसे लिखे हुए मेरे इस लेखके किसी शब्द परसे यदि उन्हें कुछ चोट पहुँचे तो उसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। उन्हें खुदको ही इसके लिये जिम्मेदार समझ कर शान्ति धारण करनी चाहिये।

—सम्पादक 'अनेकान्त'

'अनेकान्त' पर लोकमत

७८ मुनि श्रीदर्शनविजयजी, कलकत्ता —

"आपके 'अनेकान्त' की १ से ७ तक किरणें श्रीमान पूर्णचन्द्रजी नाहरके पाससे वाँचनेके लिये मिलीं। आवश्यक और गहन विषयोंका संग्रह वाँचकर अतीव आनन्द हुआ।"

७९ मुनि श्रीशीलविजयजी, बड़ौदा—

"'अनेकान्त' को पढ़नेकी अभिलाषा बहुत होने से यह पत्र लिखता हूँ। आशा है कि आप शीघ्र भेज देंगे। वीर प्रभुके शासनमें 'अनेकान्त' जैसे मासिक-पत्रकी खास जरूरत थी वह आपने पूरी कर बतलाई है। मैं आशा रखता हूँ कि विद्वन्मंडल जरूर 'अनेकान्त' को अपनावेगा।"

८० मुनि श्रीफूलचन्दजी, गोपद (पंजाब)—

"आपकी कृति महती है। सुधा, माधुरी आदिके आकारकी एक पत्रिकाकी आवश्यकता की आपने ही पूर्ति की है, जिसकी जैनसमाजमें पूर्ण आवश्यकता थी। हार्दिक आशीःराशीः है कि आपकी कृति उन्नति के शिखर पर आरोपित हो।"

८१ पं० मूलचन्द्रजी 'वत्सल' बिजनौर—

"जैन श्रुतज्ञानके प्राचीन जैनसाहित्यको नवीन ढंगसे प्रकाशमें लाकर जैनधर्मके सत्य सिद्धान्तोंको अर्वाचीन पद्धतिसे विश्वके सामने रखनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। खेद है वर्तमानमें जितने सामाजिक और धार्मिक पत्र प्रकट हो रहे हैं वे जैनधर्मके वास्तविक उद्धारसे सर्वथा विमुक्त हैं। उनका ध्येय केवल परस्पर विरोध और अपने मान-सन्मानकी पूर्ति मात्र है। ऐसे समयमें 'अनेकान्त' ने जन्म लेकर एक बड़े अभावकी पूर्ति ही नहीं की है किन्तु वास्तविक उद्धारमार्ग पर पदार्पण करनेके लिए पथप्रदर्शकका पद ग्रहण किया है।

'अनेकान्त' के प्रत्येक लेखसे प्रखर पांडित्य प्रौढ विद्वत्ता और गहरे अध्ययनकी छटा प्रकट होती है। ऐसे लेखोंके पठन, मनन और अध्ययन करनेकी जैन समाजको बड़ी आवश्यकता है।

हम ज्यों ज्यों उसकी अगली किरणोंका दर्शन करते हैं त्यों त्यों उसमें परिश्रम और प्रतिभाका उज्वल आलोक अवलोकन करते हैं, उसके अङ्क इस बातके साक्षी हैं कि वह जैन सिद्धान्तसेवाके कितने महत भावोंको लेकर अवतीर्ण हुआ है और इतने अल्प समयमें वह अपने उद्देश्योंमें कितना सफल हुआ है।

इस अनुपम साहित्यसेवाका समस्त श्रेय प्रसिद्ध साहित्यसेवी पं० जुगलकिशोरजीको है जो अपने अनवरतश्रम, गंभीरतापूर्ण खोज और अदम्यकर्मठतासे इस महत् कार्यमें कटिबद्ध हो रहे हैं।

मेरी हार्दिक भावना है कि भगवान् मुख्तारजीको शक्ति और जैन समाजको सत्यभक्ति प्रदान करें जिस से इस विशाल यज्ञकी पुण्यसुरभिसे एक बार अखिल विश्व सुरभित हो जाय।"

८२ पं० लक्ष्मीनारायण क० चतुर्वेदी, हेडमास्टर 'श्रीगोडावत जैनस्कूल', छोटी सादडी—

"आपके 'अनेकान्त' के कुछ अङ्क अवलोकन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह पत्र अपने ढङ्गका एक ही है। सभी लेख गवेषणापूर्ण और पठनीय रहते हैं। ऐसा पत्र जैन जनता ही के लिये नहीं अपितु सब भारतीयोंके लिये आवश्यक था। सचमुच यह त्रुटि खटकती थी। आपने इस अभावकी पूर्ति कर जो आदर्श कार्य किया इसके लिये आप धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक पठित व्यक्तिको इसका ग्राहक बन अपनी ज्ञानवृद्धि कर आपका उत्साह बढ़ाना उचित है।"

८३ पं० सरोजचन्द्रजी 'कौशल', सिवनी—

"'अनेकान्त' यथा नाम तथा गुण निकला। 'जैनहितैषी' के अंत होनेके पश्चात कोई पत्र न रहा, जो जैनधर्मकी महत्ताको खोज तथा गवेषणापूर्ण लेखों द्वारा प्रकाशमें लाता। किसी भी जातिका साहित्य उसका जीवन है। साहित्यकी ओर विद्वानोंकी अभिरुचि तद्विषयक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा सहज ही उत्पन्न की जा सकती है। 'अनेकान्त' रूपी अरुणोदय एकान्तान्धकारको विनष्ट कर संसारके सन्मुख जैनधर्मके गौरव को स्थापित करेगा। ऐसी आशा इसकी आज तककी किरणें देख कर होती है।

आप जैसे विद्वान, अनुभवी तथा मननशील व्यक्तिके सम्पादकत्वमें इस पत्रका जन्म जैनसंसारको बड़ी आशाएँ बँधाता है, जो अपने अन्धकाराच्छादित तथा लुप्तप्राय साहित्यको प्रकाशमें देखनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हैं। सामाजिक खींचा-तानी और तू तू मैं मैं से यह पत्र बच कर जैनसाहित्यकी सुसेवा कर उसके सरस्वती भंडारकी श्रीवृद्धि करेगा ऐसी मेरी मनोभावना है। आज तक प्रकाशित लेख खोज पूर्ण, गंभीर तथा गवेषणायुक्त ही नहीं वरन जैनेतर विद्वानोंके लिए नई वस्तु तथा जैनधर्मके साहित्यामृतका पान करनेकी सुइच्छा उत्पन्न करनेवाले प्रतीत होते हैं। अन्तमें आपकी और 'अनेकान्त' की चिरायुकी भावना करता हुआ जैनधर्मावलम्बियोंसे इसको जीवित रखने तथा फलने फूलने देनेकी जोरदार अपील करता हूँ ताकि जैनधर्मके सच्चे और स्वाभाविक सिद्धान्तोंका प्रचार तथा स्वपर कल्याण हो।"

८४ श्री मूलचन्द्रजी जैन वैद्यशास्त्री, एम.बी. एम., कुचामन—

"आपके 'अनेकान्त' की ५ किरणें मैंने देखीं। इसके सभी लेख और कविताएँ सारपूर्ण एवं हृदयस्पर्शिनी होती हैं। आपके इस 'अनेकान्त' सूर्यका ठीक उस समय उदय हुआ है जब कि उसके उदयकी अत्यन्त आवश्यकता थी। मैं हृदयसे चाहता हूँ कि इसके विशाल और विश्वव्यापी प्रकाशमें जैनोंके अगाध साहित्य और दर्शनका प्रचार हो कर वह विश्वके प्राणियोंको पथ-प्रदर्शक बने।

जैनियोंमें यद्यपि पत्रोंकी कमी नहीं, किन्तु साहित्यिक पत्रका अभाव बहुत अर्सेसे खटक रहा था। 'अनेकान्त', आपके महान व्यक्तित्वसे सम्बद्ध होनेके कारण, अवश्य ही उस अभावकी पूर्ति करेगा जिसने जैनोंके अलभ्य साहित्यको प्रचारमें आनेसे रोक रक्खा है।"

८५ डाक्टर टी.डी.खोत, सूपनवाडी (बेलगाम)—

"I have read all of the issues of your noble magazine **अनेकान्त**, and am very much pleased to congratulate you There is hidden treasury of peace and happiness in your valuable magazine **अनेकान्त** It is the noblest duty of every jain to spread the **अनेकान्त** in each and every part of the world Long live **अनेकान्त** !"

'मैंने आपके उत्तम पत्र 'अनेकान्त' के सब अंक पढ़े हैं और मुझे आपको धन्यवाद देते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है। आपके बहुमूल्य पत्र 'अनेकान्त' में सुख और शान्तिका खजाना गुप्त है। प्रत्येक जैनका यह श्रेष्ठतम कर्तव्य है कि वह 'अनेकान्त' को संसार में सर्वत्र फैलाए। 'अनेकान्त' चिरजीवित हो।'

'अनेकान्त' का वार्षिक हिसाब और घाटा

इस संयुक्त किरणके साथ 'अनेकान्त' पत्रका प्रथम वर्ष पूरा होता है । अतः पाठकों तथा समाजके सामने इसका वर्ष भरका हिसाब भी रख देना उचित जान पड़ता है, जिससे सबको पत्रकी आर्थिक स्थिति का ठीक परिचय मिल सके और वे इस विषयमें अपने कर्तव्यका यथेष्ट पालन कर सकें ।

वैशाख-ज्येष्ठ मासकी संयुक्त किरणमें (पृ० ४१७ पर) वीर सेवक-संघ और समन्तभद्राश्रमका हिसाब देते हुए, 'अनेकान्त' का हिसाब ३१ मार्च सन् १९३० तकका दिया जा चुका है । ३१ मार्च तक 'अनेकान्त' खातेमें १०५१।।-)।।। की आमदनी हुई थी और खर्च १३६८) रु० का हुआ था, जिसकी तफ़सील उक्त किरण में दी हुई है । उसके बाद इस खातेमें ता० १० नवम्बर सन् १९३० तक कुल ५८६।।) की आमदनी हुई और खर्च ५९०=)।।। तो हो चुका, जिसकी तफ़सील आगे दर्ज है तथा २४२) रु० के करीब इस किरणकी छपाई बंधाई, पोष्टेज और कुछ कागज वगैरहकी बाबत खर्च करना बाकी है; अर्थात् बाद का खर्च १२३२=)।।। के करीब समझना चाहिये । इस तरह वर्ष भरकी कुल आमदनी १६७८-)।।। हुई और कुल खर्च २६००=)।।। के करीब हुआ । इससे 'अनेकान्त' को इस वर्ष ९२२=) के क़रीब घाटा रहा । घाटेका बजट एक हज़ार रुपये का रक्खा गया था । अतः यह घाटा बजटके भीतर ही रहा, इतनी तो सन्तोषकी बात है । और यह भी ठीक है कि समाजके प्रायः सभी पत्र घाटेसे चल रहे हैं और उनकी स्थिति आदिकी दृष्टिसे यह घाटा कुछ अधिक नहीं है । ऐसे पत्रोंको तो शुरू शुरूमें और भी अधिक घाटा उठाना पड़ता है; क्योंकि समाजमें ऐसे ऊँचे, गंभीर तथा ठोस साहित्यको पढ़नेवालोंकी संख्या बहुत कम होती है—जैनसमाजमें तो वह और भी कम है । ऐसे पाठक तो वास्तवमें पैदा किये जाते हैं और वे तभी पैदा हो सकते हैं जब कि इस प्रकारके साहित्यका जनतामें अनेक युक्तियोंसे अधिकाधिक प्रचार किया जाय—प्रचारकार्यमें बड़ी शक्ति है, वह लोकरुचिको बदल देता है । परन्तु वह प्रचारकार्य तभी बन सकता है जब कि कुछ उदार महानुभाव ऐसे कार्यकी पीठ पर हों और उसकी सहायतामें उनका खास हाथ हो । जितने हिन्दी पत्र आज उन्नत दीख पड़ते हैं उनकी उन्नतिके इतिहासमें यही रहस्य संनिहित है कि उन्होंने शुरू शुरूमें खूब घाटे उठाए हैं परन्तु उन्हें उन घाटोंको पूरा करने वाले मिलते रहे हैं और इस लिये वे उत्साहके साथ बराबर आगे बढ़ते रहे हैं । उदाहरणके लिये 'त्यागभूमि' को लीजिये, जिसे शुरूशुरू में आठ आठ नौ नौ हज़ारके करीब तक प्रतिवर्ष घाटा उठाना पड़ा है परन्तु उसके सिर पर बिड़लाजी तथा जमनालालजी बजाज जैसे समयानुकूल उत्तम दानी महानुभावोंका हाथ है जो उसके घाटेको पूरा करते रहते हैं, इस लिये वह बराबर उन्नति करती जाती है तथा अपने साहित्यके प्रचारद्वारा लोकरुचिको बदल कर नित्य नये पाठक उत्पन्न करती रहती है और वह दिन अब दूर नहीं है जब उसे घाटेका शब्द भी सुनाई नहीं पड़ेगा किन्तु लाभ ही लाभ रहेगा । 'अनेकान्त' को अभी तक ऐसे किसी सहायक महानुभावका सहयोग प्राप्त नहीं है । यदि किसी उदार महानुभावने इस की उपयोगिता और महत्ताको समझकर किसी समय इस को अपनाया और इसके सिर पर अपना हाथ रक्खा तो यह भी व्यवस्थित रूपसे अपना प्रचारकार्य कर सकेगा और अपनेको अधिकाधिक लोकप्रिय बनाता हुआ घाटेसे सदाके लिये मुक्त हो जायगा । जैनसमाज का यदि अच्छा होना है तो जरूर किसी-न-किसी महानुभावके हृदयमें इसकी ठोस सहायताका भाव उदित होगा, ऐसा मेरा अंतःकरण कहता है । देखता हूँ इस घाटेको पूरा करनेके लिये कौन कौन उदार महाशय अपना हाथ बढ़ाते हैं और मुझे उत्साहित करते हैं । यदि ९ सज्जन सौ सौ रुपये भी देवें तो यह घाटा सहज हीमें पूरा हो सकता है ।

गोशवारा वार्षिक हिसाब 'अनेकान्त'

आमद (जमा)

१०५१॥-)॥॥ ता० ३१ मार्च सन् १९३० तक जमा, जिसमें १०८५॥-)॥॥ ग्राहकोंसे मय वी. पी. पोंष्टेज आदि (३९=) के वसूल हुए और ६) रु० विज्ञापनकी छपाईके आए थे।

५८६॥) ता० १ अप्रेलसे १० नवम्बर सन १९३० तक प्राप्त हुए इस प्रकार :—

- २५२॥।) ग्राहकोंसे वसूल हुए मय वी.पी. तथा रजिष्टरी पोंष्टेज आदिके (इस रकम में १०=) वी. पी. पोष्टेज आदि के शामिल हैं)।
- २५२) वीर-सेवकसंघके ६३ सदस्यों की बाबत सदस्य खाते से 'अनेकान्त' खातेमें जमा किये गये।
- ७८) सहायतार्थ प्राप्त हुए।
- ३॥।) महावीर-दीक्षा-चित्रोंकी बिक्रीसे आए।

५८६॥)

१६[illegible]-)॥॥

५२२=) लगभग घटा

२६००≡)॥॥

खर्च (नाम)

१३६८) ता० ३१ मार्च सन् १९३० तक का खर्च, जिस की तफ़सील 'अनेकान्त' की किरण ६-७में पृष्ठ ४१७ पर दी जा चुकी है।

५५०≡)॥॥ ता० १ अप्रेल से १० नवम्बर १९३० तक खर्च हुए इस प्रकार :—

- २९३॥-)॥॥ कागज खर्च, जो धूमीमल धर्मदास, मथुरादास रामजीदास तथा झुन्नमल पन्नालाल कागजी और जौहरीमल सर्राफको दिये।
- ३९३॥) छपाई ५ से १० किरण तथा रैपर की बाबत गयादत्त प्रेस को दिये।
- २२॥-) रामा बाइंडरको किरण ५ से १० तककी बंधाई बाबत दिये।
- १८५॥।) वेतनमें दिये इस प्रकार :—
  - ११९) पं० दुर्गाप्रसादको ७ मास के।
  - ६६॥।) पं० सतीशचंद्रको ५१ दिन के।
- ७०) पोंष्टेज खर्च, मध्ये ७५॥≡) कुल पोंष्टेज खर्च आश्रमके।
- ॥=)॥॥ स्टेशनरी खर्च।
- १४)॥॥ सामयिक पत्रोंके मंगानेमें खर्च।
- ९।-)॥ मुतफर्रिक खाते खर्च—
  - ६॥≡)। ट्राम्बे व तांगे आदि में।
  - २॥=)। ब्लाकमरम्मत आदि फुटकर

५५०≡)॥॥

७४२) जो संयुक्त किरण ११, १२ की पूरी छपाई, बंधाई, पोंष्टेज और कुछ कागज आदिकी बाबत अंदाजन खर्च करना तथा देना बाकी है।

२६००≡)॥॥

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'समन्तभद्राश्रम'

चित्र-परिचय

इस किरणके प्रारंभमें जो सुन्दर तिरंगा चित्र लगा है उसका कोई विशेष परिचय देनेकी जरूरत नहीं है—वह दर्शकोंको अपना परिचय खुद ही दे रहा है; फिर भी इतना जरूर बतला देना होगा कि एक निर्जनस्थान में जलाशयके तट पर, जिसमें कमल फूल रहे हैं, वृक्ष के नीचे एक निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि पद्मासन लगाये ध्यानारूढ बैठे हैं, उनके रोम रोमसे शांति तथा वीतरागता टपक रही है और ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने अपनी आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा करली है—वे अहिंसाकी साक्षात् मूर्ति बने हुए हैं—इसीसे उनके पास एक हरिण और सामने सिंह निर्वैर हो कर बैठे हैं *। हरिणके चित्तमें कुछ उद्वेग नहीं, वह सिंह को सामने देखता हुआ भी प्रसन्न मनसे निर्भय बैठा है, और सिंहके मुखमण्डल पर कोई क्रूरता नहीं किंतु नम्रताका भाव है, उसका हृदय इस समय वैर तथा द्वेषसे शून्य मालूम होता है और वह टकटकी लगाये मुनि महाराजकी ओर देख रहा है, मानों उनके आत्म-प्रभाव और योगबलसे कीलित हुआ सब कुछ भूल गया है। और शायद कुछ फासलेसे इसी लिये बैठा है कि उससे किसीको भय मालूम न हो। चतुर चित्रकार ने चित्रमें, नि.सन्देह, इन सब बातोंको लेकर अच्छा भाव चित्रित किया है। इस प्रकारके चित्र बड़े ही शान्तिदायक तथा ऊँचे भावोंके उत्पादक होते हैं। यह चित्र श्रीमान् बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ताने अपनी लागतसे तय्यार कराया है और 'अनेकान्त'को इसकी कापियाँ भेट की हैं। अतः उनकी इस कृपाके लिये जितना भी आभार प्रदर्शित किया जाय वह थोड़ा है।

* जिसके आत्मामें अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है उसके सामने वैरका त्याग हो जाता है, यह बात पतञ्जलि ऋषिके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है :—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

मेरे मनका उद्गार

सज्जनों! आज मैंने 'अनेकान्त'की दसमी किरण समाप्त की है। मेरे मनमें जो श्रद्धा इस पत्रके संगमे पैदा हो गई है उसको मैं शब्दों द्वारा कहनेको असमर्थ ही नहीं हूँ किन्तु अयोग्य भी हूँ; परन्तु मेरे मनका उद्गार न रुक सका इस वास्ते आप सज्जनोंका कुछ अमूल्य समय लेता हूँ सो क्षमा करना।

जैनइतिहासकी खोजका जो काम 'अनेकान्त' कर रहा है वह जैनियोंके वास्ते एक अमूल्य ठोस वस्तु है। भारतका इतिहास भी इसके बिना अधूरा ही है, इसको शामिल करके ही भारतके इतिहासका गौरव बढ़ सकता है और यह उसके लिये सोनेमें सुगंधका काम करेगा। इस लिये इस पत्रका अवलोकन करना हर एक धर्मप्रेमीके लिये आवश्यकीय है। रहे जैनी भाई, उनको तो तन मन धनसे इसकी रक्षा करना चाहिये और परम प्रभावनाका काम समझ कर प्रत्येक मंदिर जीमें इसे मँगाना चाहिये। इसके सिवाय जो विद्वान् हैं—चाहे वे दिगम्बरी हों, श्वेताम्बरी हों, स्थानकवासी हों, बाईस टोलेके हों, तेरहपंथी हों या बीसपंथी हों—उन सबको अपने अच्छे अच्छे लेखोंसे इस पत्रको सुशोभित करना चाहिये और इसे समूचे जैनसमाज का एक आदर्श पत्र बनाना चाहिये। यह परम प्रभावनाका काम है।

सर्वसज्जनोंका हितैषी

भागीरथ जैन वर्णी अग्रवाल

विविध विषय

१ पारितोषिककी अवधि-वृद्धि

लगभग जैनग्रन्थोंकी खोजके आन्दोलनको उठाये हुए साल भर हो गया और ५ महीने उस विज्ञप्ति नं०४ को प्रकाशित हुए भी हो चुके, जिसमें खोज किये जाने योग्य २७ प्राचीन ग्रंथोंका कुछ विशेष परिचय दिया गया था, उनके लिये १५००) रु०पारितोषिक की योजना प्रकाशित की गई थी—यह प्रकट किया गया था कि किस किस ग्रन्थका खोजने वालेको किन शर्तोंके साथ क्या पारितोषिक दिया जायगा—और साथ ही खोजकर्ताओं तथा दूसरे सज्जनोंसे कुछ विशेष निवेदन भी किया गया था । परन्तु अभी तक समाज ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया । उसीका परिणाम है जो खोज-सम्बंधी कहीं से भी कोई समाचार नहीं मिल रहा है और इस कामके लिये ३१ अगस्त सन् १९३० तककी जो अवधि रक्खी गई थी उसको पूर्ण हुए भी ढाई महीने बीत चुके हैं । जैनसमाज और खासकर जिनवाणी माताकी भक्तिका दम भरनेवालों के लिये यह निःसन्देह एक बड़ी ही लज्जाका विषय है जो वे इस ओर कोई ठोस प्रयत्न न करें । ग्रन्थ सब प्राचीन तथा खास महत्वके हैं और उनके मिलने पर जैन साहित्यकी बहुत ही श्रीवृद्धि होगी । अतः विद्वानों तथा शास्त्रभंडारोंके संरक्षकोंको इस ओर खास योग देना चाहिये । उन्हें इस ओर प्रोत्साहित करनेके लिये पारितोषिककी अवधि ३१ मई सन् १९३१ तक बढ़ा दी गई है । इस अर्से तक जो भाई किसी भी ग्रन्थकी खोज लगाएँगे वे नियत पारितोषिक पानेके हक़दार होंगे । जिन्हें ग्रंथोंका परिचय तथा शर्तें आदि जानने के लिये उक्त विज्ञप्ति नं०४की आवश्यकता हो वे उसकी कापी आश्रमसे मँगा सकते हैं ।

२ श्रेणिकके पूर्वभवका वर्णन

उत्तरपुराणमें श्रेणिकके पूर्वभव-वर्णन-वाले पाठ पर आपत्ति करते हुए, प्रो०बनारसीदासजी एम.ए. ने अपने लेखमें, जो अनेकान्तकी ७वीं किरणमें पृ० ३६० पर मुद्रित हुआ है, एक बात यह भी लिखी थी कि श्वेताम्बर ग्रंथोंमें श्रेणिकके पूर्व भवोंका वर्णन नहीं मिलता। इसका प्रतिवाद करते हुए कलकत्तेसे मुनि दर्शनविजयजी लिखते हैं:—

"यह उल्लेख सत्यांशसे दूर है; क्योंकि श्रीहेमचन्द्र सूरिजीने त्रिषष्ठिशलाका चरित्रान्तर्गत महावीरचरित्र पर्व १० में श्रेणिकके पूर्वभवका वर्णन दिया है ।

३ तीर्थंकरोंके चिन्ह

'अनेकान्त'की दूसरी किरणमें प्रकाशित 'तीर्थंकरों के चिन्होंका रहस्य' नामक लेख पर जो सम्पादकीय नोट दिया गया था उसमें श्वेताम्बरोंकी मान्यताका कोई उल्लेख नहीं किया गया था । इस पर मुनि दर्शनविजयजी, उक्त नोटका अभिनन्दन करते और उसे पसन्द करते हुए, श्वेताम्बरीय मान्यता इस विषयमें क्या है उसको निम्न दो पद्यों द्वारा सूचित करते हैं, जो प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिके 'अभिधानचिन्तामणि' नामक कोशके पद्य हैं :—

वृषो गजोऽश्वः प्लवगः क्रौञ्चोऽब्जं स्वस्तिकः शशी ।
मकरः श्रीवत्सः खड्गी महिषः सूकरस्तथा ॥४७॥
श्येनो वज्रं मृगश्छागो नन्द्यावर्तो घटोऽपि च ।
कूर्मो नीलोत्पलं शंखः फणी सिंहोऽर्हतां ध्वजाः॥४८
—देवाधिदेवकाण्ड ।

इनसे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी इन चिन्होंको तीर्थंकरोंकी ध्वजाओंके चिन्ह माना गया है । हाँ, चिन्होंमें इतना विशेष है कि सुमतिनाथ, शीतलनाथ, अनन्तनाथ और अरनाथके जो चिन्ह पूज्यपादादि दिगम्बर ग्रन्थोंमें क्रमशः कोक, श्रीवृक्ष, शल्य-सेध, और मत्स्य-मेष दिये हैं उनके स्थान पर हेमचन्द्राचार्य ने क्रमशः क्रौञ्च (बगुला), श्रीवत्स, श्येन, (बाज) और नंद्यावर्तका विधान किया है । मालूम नहीं सभी श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें ये ही चिन्ह माने गये हैं या उनमें

भी दिगम्बर ग्रन्थोंकी तरह कुछ कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है। आशा है हमारे श्वेताम्बर विद्वान इस विषय का खुलासा भी प्रकट करेंगे।

४ कर्णाटक जैनकवि

कर्णाटक जैन कवियोंका जो पूरा परिचय उपयोगी अनुक्रमणिकाओंके साथ पुस्तकाकार निकालनेकी प्रेरणा गत किरणमें (पृ० ४८८ पर) की गई थी और उस के लिये २००) रु०के करीब लागतका तखमीना किया गया था, उस पर अभी तक किसी भी दानी महाशयने कोई लक्ष्य नहीं दिया। हाँ, बाबू माईदयालजी बी. ए. ने यह इच्छा जरूर व्यक्त की है कि वह पुस्तक अवश्य छपनी चाहिये और साथ ही उन्होंने उसके लिये दस रुपयेकी सहायताका भी वचन दियाहै। आशा है दूसरे सज्जन भी इस ओर ध्यान देंगे, जिससे उसके छपाने आदिकी योजना की जा सके। ऐसी पुस्तकोंके प्रकाशित करनेमें समाजका गौरव है और उनसे उसके इतिहासादिक पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

५ दोहा-पाहुड

श्री० ए.एन. उपाध्यायजीके भेजे हुए अंग्रेजी लेख का जो अनुवाद 'योगीन्द्रदेवका एक और अपभ्रंश ग्रंथ' नामसे अनेकान्तकी गत किरणमें प्रकाशित हुआ है उस पर नोट देते हुए देहलीकी 'दोहापाहुड'की प्रतिका कुछ परिचय कराया गया था और यह सूचित किया गया था कि उसमें उसके कर्ताका नाम 'रामसिंह' मुनि दिया है। साथ ही, उसके कुछ पद्योंको उद्धृत करके यह भी बतलाया गया था कि उसमें मात्र दोहे ही नहीं किन्तु दूसरे छन्द भी हैं और वह मात्र अपभ्रंश भाषा में ही नहीं किन्तु उसमें प्राकृत तथा संस्कृतके भी कुछ पद्य पाये जाते हैं और उन सबको अपनी प्रति परसे जाँचनेकी उक्त उपाध्यायजीको प्रेरणा की गई थी। उपाध्यायजीने अपनी प्रति परसे जो उनको जाँचा तो उसमें भी वे सब पद्य पाये गये हैं और इसलिये वे इस निश्चय पर आ गये हैं कि दोनों प्रतियाँ एक ही ग्रन्थ की हैं। ऐसी हालतमें यह ग्रन्थ योगीन्द्रदेवका रचा हुआ है या रामसिंहका, यह निःसन्देह एक कठिन समस्या उपस्थित हो गई है, क्योंकि एक प्रतिकी पुष्पिकामें योगीन्द्रदेवका नाम दिया है और दूसरेकी पुष्पिकामें रामसिंहका नाम पाया जाता है। इससे इस ग्रन्थकी अन्य प्रतियाँ भी खोजी जानी जरूरी हैं। विद्वानोंको अपने अपने यहाँ के भण्डारोंको देख कर उसकी सूचना देनी चाहिये। रही कुछ पद्योंमें रामसिंहका नाम होनेकी बात, उसके विषयमें उपाध्यायजीने एक कल्पना यह उपस्थित की है कि परमात्मप्रकाशके पद्य नं०१८८ में जैसे 'अउजउ संति भणेइ' के द्वारा 'शान्ति' नामका उल्लेख किया है। कहीं उसी प्रकारका यह रामसिंहका उल्लेख तो नहीं है। अतः इसकी भी जाँच होने की जरूरत है। यदि ऐसा हो तो रामसिंह योगीन्द्रदेवसे भी पहलेके कोई प्राचीन विद्वान ठहरते हैं।

६ योगमार्ग

यह किरण धारणासे बहुत बढ़ गई और पिछली तीन किरणों जितनी मोटी हो गई, फिर भी इसमें 'योगमार्ग' नामके लेखको देनेका अवसर नहीं मिल सका, जिसका निःसन्देह खेद है। आशा है इसके लिये पाठक तथा लेखक महाशय क्षमा करेंगे। नये वर्षसे इसका ठीक सिलसिला शुरू किया जायगा।

७ समालोचनार्थ प्राप्त पुस्तकें

कुछ पुस्तकें समालोचनाके लिये प्राप्त हुई रक्खी हैं। अनवकाशके कारण उनकी अभी तक कोई समालोचना नहीं की जा सकी और न कुछ परिचय ही दिया जा सका है। अगले वर्षमें 'समालोचनाङ्क' नाम से 'अनेकान्त' की एक जुदी ही खास किरण निकालनेका विचार है अतः उस समय सब पर यथेष्ट ध्यान दिया जायगा। प्रेषक महाशय धैर्य रक्खें।

समन्तभद्राश्रम-विज्ञप्ति नं० ३

लुप्तप्राय जैनग्रंथोंकी खोज

समन्तभद्राश्रममें 'साहित्यिक पारितोषिक फंड' नामका एक विभाग खोला गया है जिसका पहला कार्य होगा 'लुप्तप्राय जैनग्रन्थोंकी खोज'। बहुतसे महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके नामादिकका पता तो चलता है—कितनोंके वाक्य भी उद्धृत मिलते हैं—परंतु वे ग्रन्थ मिलते नहीं। मालूम नहीं कौनसे भण्डारकी कालकोठरीमें पड़े हुए अपना जीवन शेष कर रहे हैं अथवा कर चुके हैं। जिनवाणी माता के भक्तों अथवा जैनी कहलाने वालोंके लिये यह एक बड़े ही कलंक तथा लज्जा का विषय है जो अभी तक उनकी खोजके लिये कोई संगठित प्रयत्न नहीं किया गया है। यदि ऐसे ग्रंथोंकी खोजके लिये पारितोषिक निकाला जाय तो उससे बहुतोंको शास्त्र भंडारोंको अच्छी तरहसे टटोलनेकी प्रेरणा हो सकती है। और इस तरह कितने ही ग्रंथोंका पता चलकर उनका उद्धार होनेकी अभी पूरी सम्भावना है। यदि कुछ दिन और इसी लापर्वाहीमें बीत गये तो यह संभावना भी मिट जायगी और फिर किसी भी मूल्य अथवा व्यय पर उनका दर्शन नहीं हो सकेगा—केवल पछतावा ही पछतावा अवशिष्ट रह जायगा; क्योंकि अधिकांश भंडारों की हालत बड़ी ही शोचनीय है और उनमेंसे ग्रंथ दिन पर दिन नष्ट भ्रष्ट तथा लुप्त होते चले जाते हैं।

अतः इस विषयमें अब ज़रा भी लापर्वाही नहीं होनी चाहिए। इसी लिए आज समाजके सामने ऐसेही कुछ ग्रन्थरत्नोंके नाम रक्खे जाते हैं जिनकी खोजकी सख्त ज़रूरत है और जिनकी खोजके लिये पारितोषिक नियत किया जाना चाहिये। साथही, प्रत्येक ग्रन्थ पर जो पारितोषिक दिया जाना चाहिये उसे भी सूचित किया जाता है। और जिनवाणी माताके भक्तों, तथा पुरातन जैनाचार्योंकी कीर्तियोंसे प्रेम रखने वाले सज्जनोंसे प्रार्थना की जाती है कि वे जिस ग्रन्थके उद्धारार्थ अपनी ओरसे पारितोषिक देना स्वीकार करें उससे शीघ्र सूचित करें, जिससे खोज करने वालोंके लिये कुछ शर्तोंके साथ पारितोषिककी घोषणा निकाली जाय और खोजका काम शीघ्र प्रारंभ होजाय। एक साथ बहुतसे ग्रंथोंकी पारितोषिक घोषणा निकलने पर खोजके काममें लोगोंकी अधिक प्रवृत्ति होगी, वे समझेंगे कि इतने ग्रंथोंमेंसे कोई तो उस भंडारमें मिलेगा और इसीलिये उनका परिश्रम व्यर्थ नहीं जायगा।

अतः इन सभी ग्रन्थों पर शीघ्र ही पारितोषिक भरा जाना चाहिए। जो भाई जिस ग्रन्थ पर पारितोषिक देना स्वीकार करेंगे ग्रन्थकी प्राप्ति होनेपर वह उन्हींके नामसे दिया जायगा। आशा है इस महान पुन्यकार्यमें सभी धर्मप्रेमी सज्जन और खासकर वे महानुभाव ज़रूर भाग लेंगे जिनके हृदयमें प्राचीन कीर्तियोंके लोपको सुनकर एक प्रकारका दर्द पैदा होता है। जो भाई किसी एक ग्रन्थ पर पूरा पारितोषिक देनेके लिये समर्थ न हों वे वैसे ही अपनी शक्ति के अनुसार इस फंडको सहायता दे सकते हैं, जिससे आश्रम उनकी सहायतानुसार पारितोषिककी व्यवस्था कर सके। आश्रमको इस फंडके लिये रुपयेकी पूरी ज़रूरत है। यहां पर यह प्रकट कर देना भी उचित जान पड़ता है कि इन पंक्तियोंके लेखकने पहले दो ग्रन्थों पर १००) १००) रु० पारितोषिक देना स्वीकार किया है। दूसरे ग्रंथों पर पारितोषिककी स्वीकारता आने पर पारितोषिककी घोषणा वाली विज्ञप्ति शीघ्र ही प्रकट की जायगी। उदारहृदय व्यक्तियोंको अपनी स्वीकारता भेजकर इस विषयमें अपने कर्तव्यका शीघ्र पालन करना चाहिये—

लुप्तप्राय जैनग्रन्थ	ग्रंथकर्ता	कहाँ उल्लेख है ?	पारितोषिक
१ जीवसिद्धि, संस्कृत	स्वामिसमन्तभद्र	जिनसेनकृत हरिवंशपुराणमें	१००)
२ तत्त्वार्थसूत्र, टीका, सं०	शिवकोटि आचार्य	श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं० १०५में	१००)
३ नव स्तोत्र, सं०	वज्रनन्दी आचार्य	" " नं० ५४में	१००)
४ सुमतिसप्तक, सं०	सुमतिदेवाचार्य	" " "	५०)
५ शब्दवाच्य, सं०	वक्रग्रीव महामुनि	" " "	५०)
६ चूडामणि, सं०	श्रीवर्द्धदेवाचार्य	" " "	५०)
७ तत्त्वानुशासन, सं०	स्वामिसमन्तभद्र	उल्लेख-परिचयके लिये देखो, जैनहितैषी भाग १४ पृ० ३१०	१००)
८ जल्पनिर्णय, सं०	श्रीदत्ताचार्य	विद्यानंदकृत श्लोकवार्तिकमें	५०)
९ वादन्याय, सं०	कुमारनंद्याचार्य	" पत्रपरीक्षामें	५०)
१० प्रमाणसंग्रह-भाष्य, सं०	अनंतवीर्याचार्य	सिद्धिविनिश्चय टीकामें	५०)
११ प्रमाणसंग्रह,स्वोपज्ञभाष्य	अकलंकदेव	" अनन्तवीर्यके भाष्यमें	५०)
१२ सिद्धिविनिश्चय, मूल तथा स्वोपज्ञ भाष्य, सं०	"	"	५०)
१३ न्यायविनिश्चय, मूल तथा स्वोपज्ञ भाष्य, सं०	"	" तथा न्यायवि० टीकामें	५०)
१४ त्रिलक्षणकदर्थन, सं०	पात्रकेसरी स्वामी	" "	२५)
१५ स्याद्वादमहार्णव, सं०	?	न्यायविनिश्चयालंकारमें	२५)
१६ विद्यानंदमहोदय, सं०	विद्यानंदाचार्य	विद्यानंदादिकी अनेक कृतियोंमें	५०)
१७ कर्मप्राभृत, टीका, सं०	स्वामिसमन्तभद्र	इन्द्रनंदिकृत श्रुतावतारमें	१००)
१८ सन्मतितर्क, टीका, सं०	सन्मत्याचार्य	वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें	१००)
१९ जीवसिद्धि, सं०	अनन्तकीर्ति आचार्य	वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें	२५)
२० सिद्धिभूपद्धति टीका, सं०	वीरसेनाचार्य	गुणभद्रके उत्तर पुराणमें	२५)
२१ सुलोचना, सं०	महासेनाचार्य	जिनसेनके हरिवंशपुराणमें	२५)
२२ वरांगचरित, सं०	रविषेणाचार्य	"	२५)
२३ मार्गप्रकाश, सं०	?	नियमसारकी टीकामें	२५)
२४ श्रुतबन्धु, सं०	?	"	२५)
२५ गद्धान्तवाचार्य, सं०	आर्यदेवाचार्य	मल्लिषेणप्रशस्ति (श्र० शि० ५४) तथा वीरनंदिकृत आचारसारमें	५०)
२६ सिद्धान्तसार(तर्क ग्रंथ)सं०	?	जयशेखर के षड्दर्शनसमुच्चयमें	५०
२७ वागर्थसंग्रह पुराण	कविपरमेष्ठी	जिनसेनके आदिपुराणमें	१००)

संपूर्ण पत्रव्यवहारका पता :—

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता "समन्तभद्राश्रम," करौलबाग, देहली ।

मुद्रक और प्रकाशक, अयोध्याप्रसाद गोयलीय । गयादत्त प्रेस, क्लौथ मारकेट देहली में छपा ।